श्री राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य

पूज्य गोस्वामी
श्रीहित ललिताचरण जी महाराज

स्मृति-ग्रंथ

गोस्वामी श्रीहित ललिताचरण
स्मृति-ग्रन्थ

परमाराध्य श्रीराधावल्लभलालजी, वृन्दावन

॥ श्रीहित राधावल्लभो जयति ॥

॥ श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति ॥

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य

पूज्य गोस्वामी
श्रीहित ललिताचरण जी महाराज

प्रधान सम्पादक :

डा० विजयेन्द्र स्नातक

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—७

सम्पादक :

प्रो० गोविन्द शर्मा

गोस्वामी श्रीहित ललिताचरण- स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

वृन्दावन

□ प्रकाशक—

गोस्वामी श्रीहित ललिताचरण स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

बड़वाला—वृन्दावन-२८११२१

□ प्रकाशन तिथि—

हरियाली तीज : श्रीसेवक जयन्ती, सं० २०५१ वि०

१० अगस्त, १९९४

□ न्यौछावर—

३००) रुपये

□ प्राप्ति-स्थान—

वेणु प्रकाशन, बड़वाला, वृन्दावन—२८११२१

□ मुद्रक—

प्रीतमलाल गोस्वामी

रतन प्रेस,

अठखम्भा, वृन्दावन—२८११२१

फोन—442061
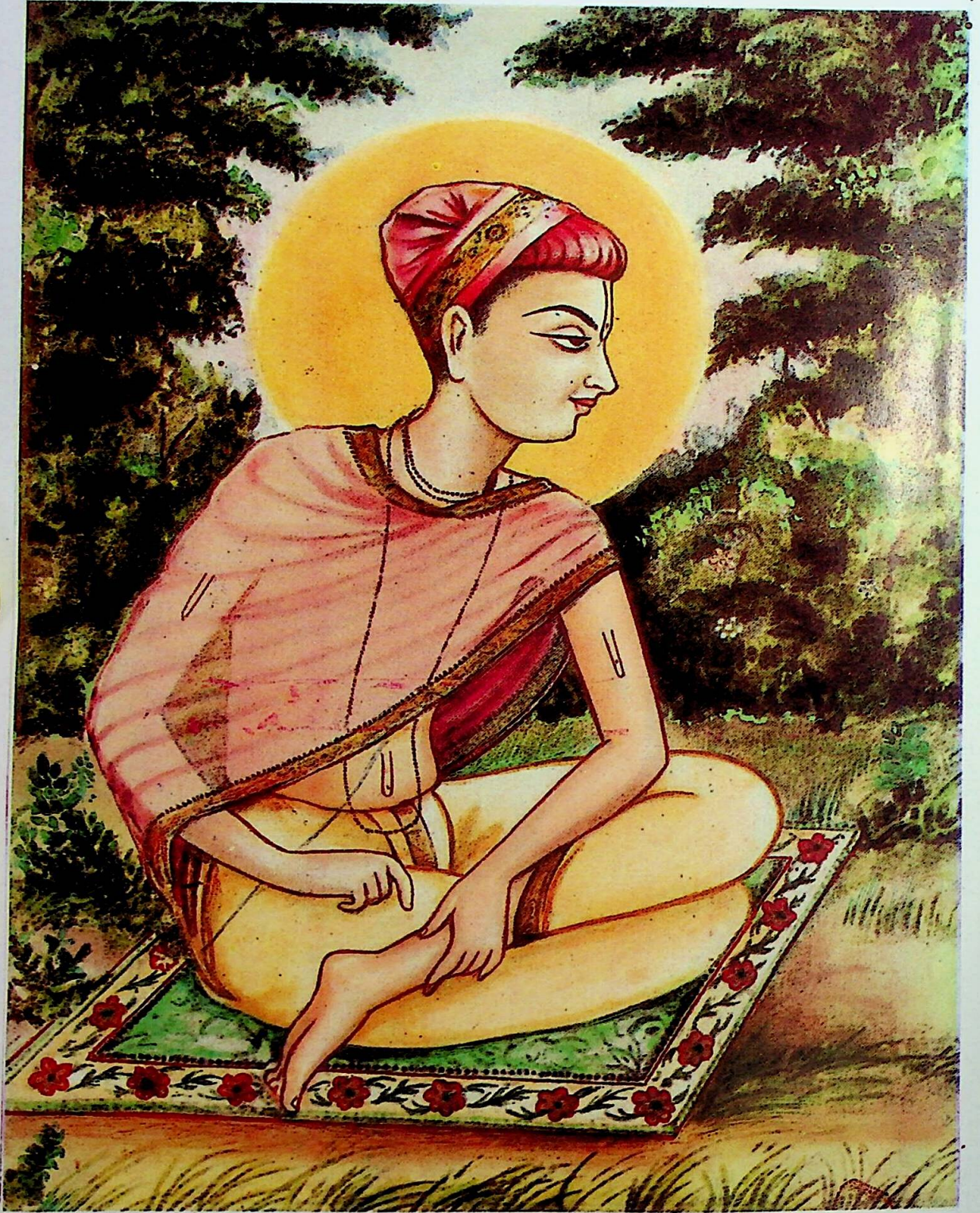
गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी महाप्रभु

समर्पण

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक
आद्याचार्य
रसिक अनन्य वेणुकुल भूषण
श्रीव्यासनन्दन
महाप्रभु श्रीहित हरिवंश गोस्वामी
के
चरणकमलों में
उनके ही वंशावतंस
गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी
'जै-जै महाराज'
का
यह स्मृति-ग्रंथ
श्रद्धा सहित समर्पित

–सुधारानी

सम्पादकीय

परम पूज्य श्रीहित ललिताचरण गोस्वामी जी के निकुंज प्रवेश के पश्चात् श्रीराधावल्लभलाल जी के प्राचीन मन्दिर में एक श्रद्धाञ्जलि-सभा का आयोजन हुआ जिसमें वृन्दावन नगर और बाहर से पधारे गण्यमान्य विद्वान, मनीषी, आचार्यगण तथा श्रद्धालु भावुक भक्त बड़ी संख्या में समवेत हुए। उसमें अनेक वक्ताओं ने निकुंज-वासी श्रद्धेय गोस्वामी जी की पुण्य स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशन के सुझाव दिये। सभी को यह बात जँच गई और स्मृतिग्रन्थ के प्रकाशन हेतु एक समिति का गठन किया गया जिसके पदाधिकारी एवं सदस्यजनों की शुभनामावलि इस प्रकार है—

श्रीमती सुधारानी शर्मा, 'श्रीलालीजी', वृन्दावन	संरक्षिका
श्रीश्रवणकुमार खेमका, दिल्ली	अध्यक्ष
बाबा श्रीप्रियाशरण, वृन्दावन	उपाध्यक्ष
श्रीदेशबन्धु कागजी, बम्बई	मुख्यमन्त्री
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली	प्रधान सम्पादक
प्रो० गोविन्द शर्मा, बृन्दावन	सम्पादक
श्रीराधामोहनदास गुप्त, कानपुर	संयोजक
श्रीसत्यनारायण सिंघानिया, बम्बई	कोषाध्यक्ष
श्रीबालकृष्ण पाण्डेय, वृन्दावन	मन्त्री
श्रीमदनमोहन जैमिनी, दिल्ली	मन्त्री
श्रीकुंजविहारी खेमका, दिल्ली	सदस्य
श्रीरासविहारी खेमका, दिल्ली	सदस्य
श्रीश्यामसुन्दर अग्रवाल, इन्दौर	सदस्य
श्रीराजेन्द्रप्रसाद शर्मा, वृन्दावन	सदस्य
श्रीसुरेशकुमार सर्राफ, अमृतसर	सदस्य

इन सभी महानुभावों के समर्पणमय पूर्ण सहयोग के बिना इस स्मृतिग्रन्थ का प्रकाशन अकल्पनीय ही था।

श्रद्धेय गोस्वामीजी की पुरानी रचनाओं के संकलन हेतु अनेक पुस्तकालयों और शोध संस्थानों ने समुचित सहायता प्रदान की। नागरी प्रचारिणी सभा काशी के प्रधानमन्त्री श्रीयुत् सुधाकर पाण्डेय ने सभा के ग्रन्थागार से सन् १९३६-३७ की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पूज्य गोस्वामी जी की कृतियाँ अनेक असुविधाओं के मध्य

श्रीबालकृष्ण पाण्डेय को प्रतिलिपि हेतु उपलब्ध कराई। इसी प्रकार बेलनगंज, आगरा श्री चिरंजीव पुस्तकालय के उपाध्यक्ष श्रीदेवदत्तजी पालीवाल ने सन् १९३८-३९ की रचनाएँ प्रतिलिपि के लिए श्रीराधामोहनदास गुप्त को प्रदान कीं। इस पुस्तकालय में प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों का सर्वाधिक संरक्षित एवं व्यवस्थित संग्रह है। उक्त दोनों महानुभावों को उनके द्वारा प्रदत्त सक्रिय सहयोग के लिए हम हार्दिक आभार तथा धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

हमारे श्रद्धाभाजन एवं गुरुतुल्य डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, सेवानिवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ने अस्वस्थ एवं अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी प्रधान सम्पादक का दायित्व स्वीकार कर इस स्मृतिग्रंथ का गौरव बढ़ाने की असलो कृपा की है। उनके बहुमूल्य तथा उपयोगी सुझाव और मार्ग निर्देश यथा समय प्राप्त होते रहे, जिनके फलस्वरूप ही ग्रन्थ का यह रूप बन सका। उनका विशद प्राक्कथन ही इस ग्रन्थ का 'की नोट' है।

पूज्य गोस्वामी जी की एकमात्र सुपुत्री, जिन्हें सब ब्रज की परम्परा के अनुसार प्रेम से 'लालीजी' कहते हैं, श्रीमती सुधारानी का संरक्षण सदैव समुपलब्ध रहा मानो उनके माध्यम से पूज्य महाराजश्री का आशीर्वाद ही मिलता रहा। अनेक बाधाओं के कारण प्रकाशन में विलम्ब होने से चिन्ता और तनाव ने उनको अवश्य खिन्न किया होगा। किन्तु वे सदा मुस्करातो और प्रेरित-प्रोत्साहित ही करती रहीं। अब हम उनसे क्षमायाचना ही कर सकते हैं।

इसी प्रकार प्रकाशन समिति के समस्त पदाधिकारियों तथा सदस्यों का सहयोग अनेक प्रकार से प्राप्त होता रहा। इनमें आदरणीय बाबा श्रीप्रियाशरणजी ने सामग्री के अवलोकन, आर्थिक पक्ष के संचालन-नियमन आदि में बड़ा श्रम किया गुरु-भक्ति से अनुप्राणित समिति के अध्यक्ष श्रीश्रवणकुमार जी के परामर्श और विचार विनिमय बड़े ही सार्थक सिद्ध हुए। संयोजक श्रीराधामोहनदास गुप्त के सम्बन्ध में तो कहा ही क्या जाय? सामग्री संकलन, प्रूफ संशोधन तथा ऐसे ही अन्य श्रमसाध्य कार्यों में उन्होंने जो अथक परिश्रम किया है उसे एक तपस्या ही कहना उचित होगा। इसका फल देने की सामर्थ्य तो केवल श्रीराधावल्लभलालजी में ही है। अँग्रेजी की सामग्री के प्रूफ रीडिंग में श्रीमदनमोहन जैमिनी ने और हिन्दी के संशोधन में श्रीराजेन्द्रप्रसाद शर्मा ने समय-समय पर सहायता देने की कृपा की।

रतन प्रेस, वृन्दावन के समस्त कार्यकर्ता विशेषकर उसके स्वामी गोस्वामी श्रीप्रीतमलाल जी की परमकृपा से ही यह स्मृतिग्रन्थ इस रूप में मुद्रित और प्रकाशित हो पाया है। यदि वे इतना सहयोग न करते तो इस मुद्रण में और भी विलम्ब सम्भव था। एतदर्थ उनको हार्दिक धन्यवाद।

जिन-जिन महानुभावों ने अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ, संस्मरण, पत्रांश समीक्षाएँ आदि प्रेषित कर ग्रन्थ को रूपाकार प्रदान किया सचमुच वे ही इसके सच्चे रचयिता

हैं। अपनी सामग्री को मुद्रित रूप में देखने की उनकी उत्कण्ठा को अपने विलम्ब से हमने चरमसीमा पर पहुँचा दिया। यही दशा श्रद्धालु भावुकभक्त पाठकों की हो गई। इस सबका दोष मैं अपना ही समझता हूँ—हे प्रभु मेरो ही सब दोषु! इसके लिए क्षमा याचना के अतिरिक्त मेरे पास और है ही क्या? सचमुच दो वर्ष की प्रतीक्षा सहिष्णुता एवं धैर्य की बड़ी परीक्षा है। अब आप सबकी इस धरोहर को आपको सौंपते हुए परम सन्तोष का अनुभव हो रहा है—

जातो ममायं विशदः प्रकामं।
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥

—गोविन्द शर्मा

नवसम्वत्सर, २०५१ विक्रमी,
श्यामवाटिका, अनाज मण्डी,
वृन्दावन-२८११२१

प्राक्कथन

भारतवर्ष के वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में विष्णु को अनेक रूपों में उपास्य मानकर उपासना, आराधना की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं। विष्णु भगवान् के अवतारी रूप मे भी उनके विग्रहों के आधार पर देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती है। भगवान् कृष्ण के विग्रह को वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। यों तो भगवान् के सभी रूप अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्ति के अनुसार आराध्य होते हैं और भक्तगण अपनी समर्पण भावना से उनकी सेवा-पूजा कर कृतार्थ होते हैं।

व्रज मण्डल के कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय अपनी श्रीराधा विषयक अनन्य निष्ठा तथा सेवा-पूजा पद्धति की विलक्षणता के कारण अन्य सम्प्रदायों से पृथक स्थान रखता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीहितहरिवंश गोस्वामी जी का जन्म विक्रम संवत १५५९ में वैशाख शुक्ला एकादशी सोमवार को प्रातः सूर्योदय काल में हुआ। श्रीहितहरिवंशजी के पूर्वज वर्तमान उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के देवबन्द (प्राचीन देववन) नामक कस्बे में यजुर्वेदीय माध्यन्दिनी, शाखावर्ती, काश्यप गोत्रीय, एक सम्भ्रान्त गौड़ ब्राह्मण परिवार से सम्बन्ध रखते थे। इस परिवार में व्यास मिश्र नाम के महानुभाव का वैभव सम्पन्न होने का वर्णन तथा तत्कालीन समाज में सम्मानपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख परवर्ती साम्प्रदायिक वाणी ग्रन्थों में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। इन्हीं व्यास मिश्र के पुत्र श्रीहरिवंश एक चमत्कारी अवतारी व्यक्ति थे। शैशव से ही इनकी बालक्रीड़ाओं में भगवदभक्ति के सिवाय और कोई खेल नहीं होता था। वे सदा अपने बाल सखाओं को एकत्र कर राधा-माधव की लीलाओं को अपनी क्रीड़ा में स्थान देते थे। उनके शैशव की अनेक घटनाओं का वर्णन परवर्ती वाणीग्रंथों में मिलता है। कहते हैं कि अपनी इष्टदेवी राधा से उन्होंने निज मन्त्र (साम्प्रदायिक द्वादशाक्षर दीक्षा मन्त्र) प्राप्त किया था। इसलिए हितहरिवंशजी के गुरु और इष्ट देवी के रूप में श्रीराधा को ही स्वीकार किया जाता है।

श्रीहितहरिवंशजी के सम्बन्ध में यह उल्लेख यहाँ एक विशेष संदर्भ में किया गया है। प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ स्वर्गीय श्रीललिताचरण जी गोस्वामी के साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन ओर सम्प्रदाय विशेष के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जा रहा है। श्रीहितहरिवंश गोस्वामी जी की वंशपरम्परा में जो विद्वान् एवं धार्मिक व्यक्ति पैदा हुए उनकी आधुनिक अद्यतन पीढ़ी में श्री गोस्वामी ललिताचरण का स्थान है। उनकी बाल लीलाएं, स्वाध्याय एवं अ यपन विधि, साम्प्रदायिक तत्त्व विश्लेषण, इष्ट देवी राधा का स्मरण और वृन्दावन का श्रीवन के रूप में आराधन उसी शैली में उपलब्ध होता है जिसमें श्रीहितहरिवंश जी महाराज का है। इस अद्भुत साम्य की ओर अभी तक राधावल्लभीय भक्तों का ध्यान नहीं गया है। मैंने इसीलिए इस बिन्दु को अपने प्राक्कथन में सबसे पहला स्थान दिया है।

श्रीललिताचरण गोस्वामी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा में बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रमुख आचार्य हैं। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण एक भावुक भक्त का है जो अपने सम्प्रदाय के गहन-गूढ़ मर्मों को आत्मसात् कर लम्बी आयु तक जीवन यापन करने में सक्षम रहा है। बिगत ४५ वर्षों से मेरा राधावल्लभीय-सम्प्रदाय के मूर्धन्य गोस्वामियों से परिचय रहा है। उन गोस्वामियों में दो-तीन ही ऐसे व्यक्ति हैं, जो हिन्दी-संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं तथा अँग्रेजी भाषा से भली भाँति परिचित हों। गोस्वामी श्रीललिताचरणजी ब्रजभाषा के तो प्रकाण्ड पंडित थे ही संस्कृत और अँग्रेजी के साथ कई अन्य भारतीय भाषाओं से भी अपने शिष्यों के माध्यम से उनका अच्छा परिचय रहा था।

आगरा विश्वविद्यालय से उन्होंने कानपुर में रहकर बी. ए, एल. एल. बी. की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। उनसे पहले उनके परिवार के किसी अन्य व्यक्ति ने अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। परिवार के लोग यह समझते रहे कि गोस्वामी श्रीललिताचरण बकालत के द्वारा धनोपार्जन में लगेंगे किन्तु अपनी आभ्यन्तर निष्ठा और प्रेरणा के कारण उन्होंने साहित्य सर्जन को ही अपने जीवन का प्रारम्भिक लक्ष्य बनाया। उन्होंने कानपुर से वापस आकर अपना ध्यान और मन साहित्य-सेवा में लगाया तथा १९३२ के आसपास साहित्य की विविध विधाओं में लेख, निबन्ध नाटक, एकांकी आदि में भक्ति और धर्म जैसे विषयों का प्रवेश कराया। यह उस समय एक नूतन प्रयोग था। यह देखकर आश्चर्य होता है कि आज से ६० वर्ष पहले गोस्वामी जी ने उन विषयों पर लेखनी चलाई थी, जिन पर तत्कालीन मासिक पत्र-पत्रिकाओं में कहानी या नाटक प्रकाशित नहीं होते थे। प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ में विविध विषयों पर लिखे उनके २८ लेख, २ कहानियाँ, १० एकांकी नाटक, रसिकों के चरित्र, हितभक्ति गाथा में ९१ भक्तों के चरित्र प्रकाशित हुए हैं। इतना विपुल साहित्य रचकर श्रीललिताचरणजी ने साहित्य के माध्यम से राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्ति तत्त्व को सर्वजन सुलभ बनाने में अमित योग प्रदान किया। उस समय वृन्दावन में ऐसा साहित्यिक वातावरण नहीं था किन्तु दो-तीन व्यक्ति ऐसे थे

जो कहानी, लेख आदि लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते थे। श्री रामकृष्ण देव गर्ग की कहानियाँ उस समय काफी प्रसिद्ध हुई थीं। गोस्वामी हितानन्द जी भी काव्य-प्रेमी व्यक्ति थे और यदाकदा कविताएं लिखा करते थे।

श्रीललिताचरण गोस्वामी से मेरा प्रथम परिचय सन् १६४६-५० में हुआ। मैंने उस समय राधावल्लभ सम्प्रदाय पर शोध करना प्रारम्भ ही किया था। श्रीवैद्य उमाशंकर जी मेरे साहित्य प्रेरक गुरु थे। वे स्वयं तो निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे किन्तु मुझे उन्होंने राधा वल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य पर अनुसंधान करने की प्रेरणा दी थी और वे स्वयं मुझे अपने साथ लेकर श्रीललिताचरण जी के आवास पर गए थे। गोस्वामी जी से उन्होंने मेरा परिचय कराया और यह भी बता दिया कि मैं आर्य समाज की संस्था गुरुकुल वृन्दावन में पढ़ा हूँ। किन्तु ब्रजभाषा से उत्कट प्रेम के कारण राधावल्लभीय सम्प्रदाय के साहित्य पर शोध करना चाहता हूँ। मेरे सामने ही उन्होने गोस्वामी जी से अनुरोध किया कि वे मेरी इस दिशा में सहायता करने की कृपा करें। गोस्वामी जी ने उस समय इतना ही आश्वासन दिया कि वे साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के विमर्श में मुझे सहायता कर सकेंगे किन्तु ग्रंथों के चयन संकलन आदि में स्वयं कुछ न करके अपने एक शिष्य से यह कार्य करवा सकेंगे। एक दिन बाद मैं पुनः उनके आवास पर गया जहाँ उनके एक शिष्य जो राधावल्लभ-सम्प्रदाय के साहित्य के ग्रंथों से परिचय रखते थे और उन्होंने एक विस्तृत तालिका भी बनाई हुई थी उपस्थित थे। उस तालिका में जिन ग्रंथों के नाम दर्ज थे वे सब उनके पास नहीं थे किन्तु उनकी मामूली सी जानकारी उन्हें अवश्य थी। गोस्वामी जी ने अपने शिष्य से कहा कि वह ग्रंथों के उपलब्ध कराने में मेरी सहायता करें। उनके शिष्य ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि "समस्त ग्रन्थ मेरे पास नहीं हैं और जो हैं उन्हें भी मैं किसी दूसरे को नहीं देता। अतः ग्रन्थों की प्राप्ति के लिए इन्हें स्वयं श्रम करना होगा।" गोस्वामी जी अपने शिष्य के इस उत्तर से क्षुब्ध और कुपित होकर स्तब्ध रह गए। उन्हें स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि उनका शिष्य उनके आदेश की इस प्रकार अवमानना करेगा। मेरे सामने ही उन्होंने उस शिष्य को घर से बाहर निकाल दिया। मेरे और गोस्वामी जी के लिए यह एक मर्मन्तुद घटना थी जो हम दोनों को सदैव पीड़ा पहुँचाती रही। मैं फिर कभी उस शिष्य के पास किसी प्रकार की भी सहायता के लिए नहीं गया और मैंने स्वयं अपने प्रयत्नों से ही शोध-प्रबन्ध तैयार किया। हाँ, गोस्वामी जी के पाच-सात बार सिद्धान्त चर्चा के लिए जाना पड़ा और मुझे प्रसन्नता है कि उन्होंने मेरा भरपूर पथ-प्रदर्शन किया।

मैं शोध-प्रबन्ध की सामग्री एकत्र करने और सैद्धान्तिक विषयों पर विद्वानों से चर्चा करने वृन्दावन आता रहा और आठ वर्षों के अध्ययन और कठोर अध्यवसाय से मैंने अपना शोध प्रबन्ध तैयार किया। गोस्वामी वर्ग में ललिता चरणजी के अतिरिक्त श्री मुकुट वल्लभाचार्य तथा श्रीहितानन्द गोस्वामी से समय-समय पर चर्चा होती रही। वास्तव में मुझे अपनी कार्यसिद्धि के लिए सबसे अधिक सहयोग दो साधुओं से प्राप्त

हुआ। श्रीहितदास तथा श्री बंशीदासजी ने मुझे अनेक प्रकार की सहायता दी। बंसीदास जी अब इस संसार में नहीं हैं। विरक्त होकर वे वृन्दावन आए थे और प्राचीन वाणी ग्रन्थों का स्वयं हस्तलेख में संरक्षण करना उनका नैष्ठिक कर्तव्य था। अपने जीवनकाल में उन्होंने शताधिक वाणी ग्रन्थों का स्वयं अपने हस्तलेख में संग्रह किया। श्रीस्वामी हितदासजी ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक सिद्धांतों एवं मन्तव्यों को समझने में अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से जो दृष्टि उपार्जित की थी उसका वे सदैव उपयोग करते रहे। उन्होंने हिताश्रम नाम का एक आश्रम सत्संग भूमि में स्थापित कर भक्तों के लिए सेवा-पूजा का अच्छा स्थान निर्मित कर दिया है। यों तो मैं राधावल्लभीय गोस्वामियों तथा साधु-सन्तों के सम्पर्क में आता किन्तु मैंने साम्प्रदायिक मन्तव्यों की ऐसी सुस्पष्ट व्याख्या हितदासजी को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं देखी। गोस्वामी श्रीललिताचरण जी को वे भी साम्प्रदायिक सिद्धांतों का सबसे अधिक विद्वान्, तथा मेधावी तथा सुलझा हुआ व्यक्ति मानते थे।

मैं अपने आठ वर्ष के शोधकाल की घटनाओं का इस प्राक्कथन में उल्लेख नहीं करना चाहता। कुछ ऐसी अप्रिय घटनाएं भी उस समय घटित हुई, जिनके लिखने से पाठकवृन्द के मन में ढोंगी और दम्भी व्यक्तियों के प्रति अमर्ष का भाव उत्पन्न होगा यदि राधावल्लभीय गोस्वामी वर्ग अपने सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार चाहता है तो उन्हें उदारतापूर्वक उन विषयों को सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत करना चाहिए। साम्प्रदायिक सिद्धांतों में रहस्यमयी गूढ़ता अवश्य रहती है। यदि उसे उद्घाटित न किया जाये तो वह प्रच्छन्न रहकर सामान्य भक्त के लिए कार्य साधक नहीं हो सकती। मैंने इस विषय में श्रीललिताचरण जी से विचार-विमर्श किया था और वे मेरे विचार से सहमत थे। किन्तु वे स्वयं एकान्त-प्रिय, साधनारत व्यक्ति थे अतः इन गूढ़ विषयों की सार्वजनिक रूप से चर्चा में रुचि नहीं रखते थे। इस प्रकार की चर्चा के लिए विद्वान् व्यक्ति ही सक्षम हो सकता है। चिरकाल तक साम्प्रदायिक सिद्धांतों की चर्चा राधावल्लभ-सम्प्रदाय के गोस्वामियों तथा भक्तजनों के बीच नहीं हुई थी अतः कृष्णभक्ति का यह प्रमुख सम्प्रदाय साहित्य चर्चा में भी पिछड़ गया। उच्चकोटि के कवियों की लम्बी शृंखला होने पर भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस सम्प्रदाय के कवियों के काव्य की प्रायः चर्चा नहीं हुई।

जब मैंने अपना शोध-कार्य पूरा करके दिल्ली विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर ली और सन् १९५६ में मेरा शोध-प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य' शीर्षक से प्रकाशित हुआ तब वृन्दावन के गोस्वामियों में कुछ वैचारिक उथल-पुथल हुई। जो विद्वान् व्यक्ति थे उन्होंने मेरे ग्रन्थ की प्रशंसा और सराहना ही नहीं की वरन् मुझे परम वैष्णव मानकर अखिल भारतवर्षीय वैष्णव महासभा की ओर से वृन्दावन में सम्मानित भी किया। मुझे अपने शोध-कार्य से तब अधिक प्रसन्नता हुई जब राधावल्लभ सम्प्रदाय के मध्य गम्भीर चर्चा का विषय बना। श्रीललिताचरण गोस्वामी ने मुझे लम्बा-पत्र लिखकर बधाई दी और उसमें लिखा

कि–'जो कार्य मैंने आज से दस वर्ष पूर्व करने का संकल्प किया था वह आपने कर दिया। मुझे अपना लिखा हुआ बहुत सा मैटर अब छोड़ना पड़ रहा है। मैंने अपना ग्रन्थ प्रैस में दे दिया है 'श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' शीर्षक आपके शोध प्रबंध से मिलता-जुलता है और इस शीर्षक का वरण भी मैंने आपके शोध प्रबन्ध को देखकर ही किया है। मुझे प्रसन्नता है कि आपने हमारे सम्प्रदाय को अपनी लेखनी द्वारा विद्वत समाज के समक्ष प्रस्तुत कर एक स्तुत्य कार्य किया है।"

श्रीललिताचरण गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ में जो रूपरेखा रखी है वह मेरे शोध प्रबन्ध से भिन्न है। मैंने राधावल्लभ सम्प्रदाय को प्रमुख स्थान देकर उसके सिद्धान्तों की चर्चा की है। साहित्य का विवेचन करते हुए मैंने केवल दस प्रमुख कवियों के योगदान पर ही विस्तार से विचार किया है। श्रीहरिवंश रचित साहित्य की चर्चा मुझ से पहले एक पृष्ठ में पण्डित वियोगी हरि ने 'ब्रजमाधुरी सार' में की थी। उसी समीक्षा ने हितहरिवंश जी की तरफ मेरा आकर्षण पैदा किया था। अन्य इतिहास लेखकों ने एक दो अनुच्छेद लिखकर उनके नाम की चर्चा तो कर दी है परन्तु, ग्रन्थों तक का परिचय नहीं दिया। इस सम्प्रदाय में श्रीहरिराम व्यास, श्रीध्रुवदास, श्रीनागरी दास, वृन्दावनदास (चाचाजी) जैसे भक्त कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ काव्य की कसौटी पर प्रथम श्रेणी की ठहरती हैं किन्तु इतिहास लेखकों ने इसका उल्लेख तक अपने ग्रन्थों में नहीं किया। मेरे शोध प्रबन्ध के प्रकाशित होते ही कृष्ण भक्ति साहित्य में एक विस्फोट जैसा हुआ और अनेक विद्वानों का ध्यान इस सम्प्रदाय के साहित्य की ओर गया। केवल आलोचक वर्ग ने ही नहीं अपितु साहित्यकार, कवि और मनीषी विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा लिखी। कविवर मैथीलीशरण गुप्त ने लिखा कि आपने सचमुच स्वर्ण पात्र में सिंघनी का दूध दुहा है। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने पत्र में लिखा कि आपका ग्रन्थ शोध का मानक उदाहरण है। मैं इसे वास्तविक शोध मानता हूँ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत में तीन श्लोक रचकर मेरे, ग्रन्थ की प्रशंसा और इसे शोध का दिशा-दर्शक ग्रन्थ माना। पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी ने मुझे बधाई देते हुए अपने आशीर्वाद में लिखा कि "मैं शोध के ग्रन्थ नहीं पढ़ता किन्तु आपका ग्रन्थ पढ़कर मैं चकित और अभिभूत हूँ।" पण्डित वियोगी हरि तो सदैव मेरे ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते रहे। डॉ० मुँशीराम शर्मा ने मुझे लिखा कि मैं कृष्ण भक्ति पर बीस वर्ष से काम कर रहा हूँ लेकिन आपने आठ वर्ष में ही चमत्कार कर दिखाया है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल सदा यह मानते रहे कि राधावल्लभ सम्प्रदाय विषयक मेरा ग्रंथ कृष्णभक्ति परक भक्ति का पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ है। कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे इस शोध ग्रन्थ ने भक्ति साहित्य के क्षेत्र में अध्ययन का एक नया मार्ग खोल दिया और उच्चकोटि के राधा-वल्लभीय साहित्य के प्रति मनीषी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने इस ग्रन्थ की लम्बी भूमिका में लिखा है कि "नित्य विहार विषयक विशद विवेचन पहली बार किसी ग्रन्थ में देखने को मिला। इस विषय का लेखक ने प्रस्तुत

ग्रन्थ में गम्भीर एवं प्रामाणिक विवेचन किया है।'' अपने प्रतिवेदन में इस ग्रन्थ को उन्होंने डी० लिट्० उपाधि के योग्य स्वीकार किया है।

अपने ग्रन्थ की चर्चा मैंने इसलिए की कि राधावल्लभीय साहित्य की समृद्धता की ओर किसी अन्य विद्वान् का ध्यान नहीं गया था और जब मैंने यह कार्य सम्पन्न किया तो सहसा हिन्दी के शीर्षस्थ साहित्यकारों का ध्यान इस साहित्य की ओर गया। श्रीललिताचरण गोस्वामी सदैव यह मानते रहे कि "मैंने बन्द साहित्य मन्दिर के स्वर्ण कपाट खोले हैं और उनके खुलने से हीरे-जवाहरात, मोती माणिक रूपी साहित्य प्रकाश में आया है।'' गोस्वामी जी के आशीर्वचनों से मुझे बहुत बल मिलता रहा और जब कभी मैं वृन्दावन जाता तो उनके दर्शन अवश्य करता। एक बार मैं पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी को लेकर, बिना पूर्व सूचना के, उनके आवास पर पहुँचा। पण्डित जी को देखकर गोस्वामी जी प्रणाम की मुद्रा में खड़े हो गए किन्तु पण्डित जी ने बड़े सहज भाव से कहा कि आप सम्प्रदाय-प्रवर्तक के वंशज गोस्वामी हैं इसलिए आप पहले मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए। इसके बाद दोनों महानुभाव बड़े विनय भाव से आलिंगपाश में बद्ध हो गए। मुझे याद है कि गोस्वामी जी ने पण्डित जी के बैठने के लिए स्वयं आसन बिछाया और अपने हाथ से शीतल पेय तैयार कर पंडित जी को दिया। मैं तो वर्षों से गोस्वामी जी के निकट था ही किन्तु द्विवेदी जी को वहाँ तक लाकर मैंने दोनों महानुभावों के मनोरथ की पूर्ति की थी। दोनों ही मेरा आभार व्यक्त कर रहे थे। पंडित जी ने गोस्वामी जी से कहा था कि 'राधावल्लभ सम्प्रदाय से मुझे जोड़ने का श्रेय डॉ० स्नातक को है। उन्होंने ही मुझे हित जी का साहित्य भेजा था। राधासुधा-निधि की काव्यमयी भाषा को पढ़कर मुझे जयदेव के गीत-गोविन्द का स्मरण हो आता है। ऐसी परिष्कृत प्रांजल भाषा कोई दिव्यात्मा ही लिख सकता है।'' पण्डितजी ने मेरे शोध प्रबन्ध की प्रशंसा करते हुए जो श्लोक संस्कृत में लिखे थे उनमें भी इसी भाव का संकेत है।
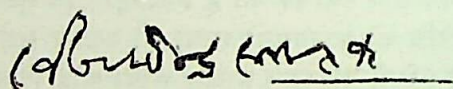
श्रीललिताचरण गोस्वामी के साहित्य के सम्बन्ध में मैं यहाँ विस्तृत समीक्षा लिखना नहीं चाहता। इस स्मृति ग्रन्थ में उनका समस्त उपलब्ध साहित्य संकलित किया गया है। मेरी यह मान्यता है कि यदि किसी विद्वान का स्मृति ग्रन्थ तैयार किया जाए तो उसके कालजयी प्रदेय को उसमें समाहित करना चाहिए। यदि वह नहीं है तो केवल श्रद्धांजलि और संस्मरण से दिवंगत आत्मा से हमारा साक्षात्कार नहीं होता। इस ग्रन्थ के तैयार करने में हमें जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है हम उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हें धन्यवाद देना चाहते हैं। यदि उन्होंने अपने लेख, श्रद्धांजलि, संस्मरण आदि प्रकाशनार्थ न भेजे होते तो यह स्मृति ग्रन्थ अपना वास्तविक आकार ग्रहण न कर पाता। गोस्वामी जी के शिष्य भारतवर्ष के दूरस्थ प्रदेशों तक फैले हुए हैं। सभी भक्तों और सेवकों के संस्मरण आदि प्रकाशित करना तो सम्भव नहीं था अतः उन समस्त भक्तों सेवकों और शिष्यों की ओर से मैं विनम्र भाव से निकुंज लीला लीन श्रीललिताचरण गोस्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित

करता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका स्नेहसिक्त आशीर्वाद सदैव हमारे ऊपर बना रहे।

इस ग्रन्थ के लिए सामग्री जुटाने, मुद्रण और प्रकाशन का प्रबन्ध करने तथा इसे नयनाभिराम सुरुचिपूर्ण स्मृति ग्रन्थ बनाने में जिन्होंने योग दिया है उनमें श्रीगोविन्द शर्मा, श्रीराधामोहनदास गुप्त और श्रीबालकृष्ण पाण्डेय को केवल धन्यवाद देकर या आभार प्रकट कर उनके प्रदेय से मुक्त नहीं होना चाहता। श्रीगोविन्द शर्मा भक्तितत्त्व के ज्ञाता और अध्येता हैं उन्होंने इस ग्रन्थ की सामग्री को पठनीय बनाने में जो योग दिया है वह शाब्दिक धन्यवाद से प्रकट नहीं किया जा सकता। श्रीराधामोहनदास गुप्त ने इस स्मृति ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने तथा विद्वान लेखकों से जो लम्बा पत्राचार किया वही ग्रन्थ को आकार ग्रहण करने में कारण बना। श्रीबालकृष्ण पांडेयजी तो विद्वानों से मिलने तथा सामग्री जुटाने में रेलयात्रा करके जो श्रम करते रहे वह उनकी गुरुभक्ति का श्रेष्ठ निदर्शन है। परम गुरुभक्त श्रीकुंजविहारी खेमका के आर्थिक सहयोग बिना तो इस ग्रन्थ का प्रकाशन दुष्कर ही था। मैं इन महानुभावों के प्रति पुनः कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में मैं श्रद्धा और सम्मानपूर्वक इस पावन स्मृति ग्रन्थ को सहृदय जन की सेवा में समर्पित करता हूँ। श्रीराधावल्लभ लाल जी से मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ के पाठकों के मन में भी उज्ज्वल भक्ति रस का वैसे ही संचार करें जैसा स्मृति शेष परमपूज्य श्रीललिताचरण गोस्वामी के जीवन में सदा बना रहा।

(विजयेन्द्र स्नातक)

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७

अनुक्रमणिका

श्रद्धाञ्जलि खण्ड

विषय	लेखक	पृ० सं०
५४–मेरी जीवन ज्योति	श्रीमती संतोष बंका	७७
५५–श्रीगुरुदेवो जयति	श्रीकुञ्जविहारी खेमका	७८
५६–बसंत कुंज के फूल	श्रीमंशाराम नागर	७९
५७–श्रद्धाञ्जलि	श्रीअनन्तराम गुप्त	८०
५८–श्रद्धाञ्जलि	बाबा श्रीगोपालदास 'लघुसखी'	८१
५९–जय श्रीराधारानीजी	श्रीगोपाल अग्रवाल	८२
६०–सहज कृपालु को श्रद्धाञ्जलि	श्रीहनुमान केजरीवाल	८३
६१–केवल तुम !	श्रीदीपिका कुमारी	८४
६२–पुण्य-स्मरण	डॉ० रक्षा शर्मा	८५
६३–सहस्त्रों भक्त-शिष्योंके प्रेरणा-स्रोत	श्रीओंकारानन्द सरस्वती	८६
६४–श्रद्धाञ्जलि	डॉ० महेश शर्मा, आई०एफ०एस०	८७
६५–भावाञ्जलि	श्रीराधाचरण	८८
६६–सच्चे अर्थोंमें धर्मनिष्ठ विद्वान संत	श्रीमोहनस्वरूप भाटिया	८९
६७–चिरस्मरणीय	डा० उमा भास्कर	९०
६८–हमारे बांट परी मुसक्यान	डॉ० बुद्धिप्रकाश एन० डी०	९१
६९–श्रीगुरु की कृपापात्र बड़भागी	पं० ब्रजनारायण ब्रजेश'	९२
७०–पद	श्रीमती देवकीबाई भरतिया 'बावरी गोपी'	९३
७१–गजल	श्रीमती प्रेमलता गोहाटी	९४
७२–श्रवण सुमनांजलि	श्रीश्रवणकुमार खेमका	९५
७३–श्रीप्रियारससुधा-सिंधुमें निमग्न	स्वामी श्रीसीताराम शरण, अयोध्या	९६

अँग्रेजी भाषा—

संस्मरण–खण्ड

व्यक्तित्व और कृतित्व खण्ड

विषय		पृ० सं०

विषय	पृ० सं०

ग्रन्थ-समीक्षा खण्ड

॥ श्रीहित राधावल्लभो जयति ॥
॥ श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति ॥

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य

पूज्य गोस्वामी
श्रीहित ललिताचरण जी महाराज

स्मृति-ग्रन्थ

प्रशस्ति

वाणी-ग्रन्थ प्रकाश मार्ग हित की रस प्रीति ।
करि-करि के व्याख्यान कही हितधार्मिक नीति ॥
राधावल्लभलाल-लाड़िली नाम रसामृत ।
प्रकावत बहु-भाँति लखे सत्यं जय नानृत ॥
सेवक कीने लीनरस व्रत अनन्य-प्यारी शरण ।
ललित आचरण देखते मानस श्रीललिताचरण ॥

— श्रीयमुनावल्लभ गोस्वामी
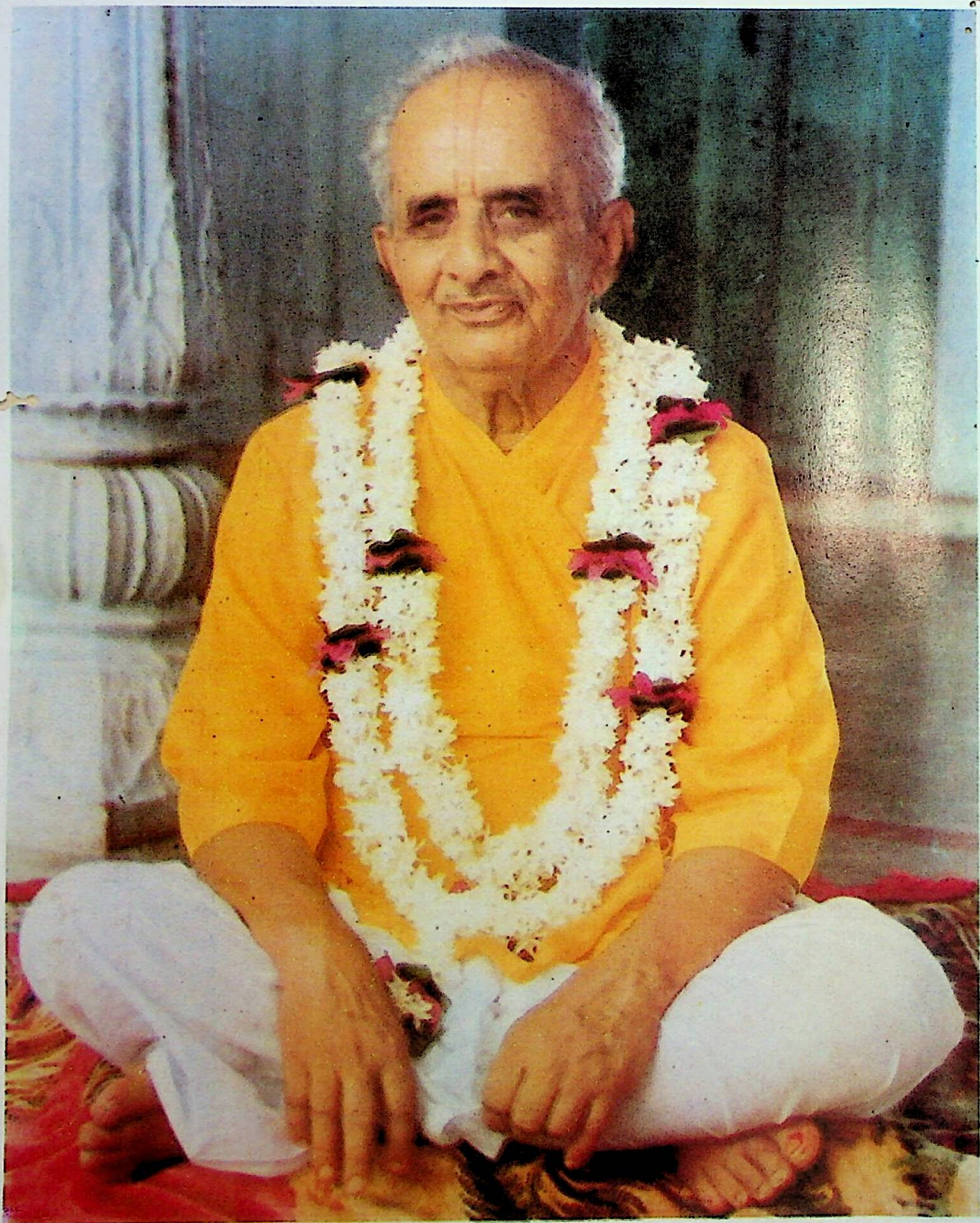
गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज

आचार्य मंगल

—श्रीराधाचरण 'लल्लूजी'
दतिया (म० प्र०)

(१)

जै-जै (श्री) ललिताचरण रसिक चूड़ामनी ।
परम मनोहर रूप परम रस के धनी ।।
सकल गुनन की खान प्रसंसा योग हैं ।
शरणागत जो होंय करत निस्सोग हैं ।।
निस्सोग कीने दास्य दीने लाड़िली पद-कंज के ।
विवि रूप गुन गावत गवावत प्रणतजन मन-रंज के ।।
गुन गोप्य गहर गंभीर अति आसक्तता प्रभु-पद सनी ।
जै-जै (श्री) ललिताचरण रसिक चूड़ामनी ।।

(२)

जै-जै (श्री) ललिताचरण रसिक पद्धति गही ।
निरवाही रस रीति जु हित जू ने कही ।।
युगल ध्यान लवलीन परम दृढ़ता लही ।
जानि परत सब भाँति प्रिया सहचरि सही ।
सहचरी सब भाँति जिनके गुण कहत नहीं आवहीं ।
सोई प्रगट कलि माँहि जाकों निगम आगम गावहीं ।।
अति निरखिविमल चरित्र सब मन प्रेमकी सरिता बही ।
जै-जै (श्री) ललिताचरण रसिक पद्धति गही ।।

(३)

जै-जै (श्री) ललिताचरण सफल पावस करी।
भादों शुक्ला चौथ जनम दिन शुभ घरी॥
उत गाजत हैं मेघ इतं बाजे बजैं।
गावत मंगल नारि द्वार साँथिये सजैं॥
सजैं सँथिये द्वार तने वितान नौबत बज रही।
उत झरी वर्षा लागि इत झरी दानन लग रही॥
लिये जननी गोद इनकों चूमि मुख मुद सौं भरी।
जै-जै (श्री) ललिताचरण सफल पावस करी॥

(४)

जै-जै (श्री) ललिताचरण विमल बानी कहैं।
सतचित आनन्द रूप तासु कौ सुख लहैं॥
जै श्रीबसन्तलाल जनक हित रूप हैं।
तिन गृह प्रगटे आय जो गुननि अनूप हैं॥
अनूप अद्भुत रस भरे को कहि सकै पूरी कथा।
जिन किये दर्शन आपकैं मिट गई तिनकी सब बिथा॥
राधाचरण मंगल सु गायौ नाद कुल पद्धति गहैं।
जै-जै (श्री) ललिताचरण विमल वानी कहैं॥

श्रीगुरु मंगल

—श्रीहित चतुर्भुजदास पाठक

(१)

जय-जय श्री हरिवंश अमित करुणा भरे ।
जग अपनावन हेत कृपामय वपु धरे ।।
महाविष्णु कौं दुर्लभ सो रस गाइयौ ।
नारायण ते नरहिं यों अधिक बनाइयौ ।।
बनाइयौ नर सहचरी लखि देव कुसुमन बरसहीं ।
किंकिरी पद पाइवे शिव शेष आदिक तरसहीं ।।
बिंदुकुल करि प्रगट जग में यौं जु कलि कल्मष हरे ।
जय-जय श्री हरिवंश अमित करुणा भरे ।।

(२)

जय-जय श्री हरिवंश गोप्य गुण गाइहौं ।
महल मध्य जु विधान रच्यौ दुलराइहौं ।।
ललित- विशाखा तारा -व्यास स्वरूप ह्वै ।
हित पितु-मातु बनें ये अकथ अनूप ह्वै ।।
अनूप श्री रुक्मिणि मनोहर कृष्णदासी सखि भईं ।
पुत्र तीनों सखा शिष्य रु सखी प्रगटीं लख लईं ।।
लाल मोहनचन्द्र ह्वै हैं संग जिन हित ध्यायहौं ।
जय-जय श्री हरिवंश गोप्य गुण गायहौं ।।

(३)

जय-जय श्रीहरिवंश प्रिया हित रस मई ।
जो सरसै सो सेवक यों सेवक भई ।।
हित जन्मत जो दशा महल की ह्वै रही ।
हित स्वरूप दरसाय दशा महली कही ।।
कही महली दशा हितकुल में सखी जन आवहीं ।
कलि नियम अनुसार आवैं द्रुत महल में जावहीं ।।
ज्यौं विधानहिं रच्यौ त्यों ही मम गुरुहिं अज्ञा दई ।
जय-जय श्रीहरिवंश प्रिया हित रस मई ।।

(४)

जय-जय श्रीहरिवंश वंश कौं गायहौं ।
प्रगटत सहचरि जहाँ सु ताहि लड़ायहौं ।।
श्रीहित कुल में जन्म सखीजन लै रहीं ।
(श्री) राधावल्लभलालहिं सब सुख दै रहीं ।।
दै रहीं सुख लाल-ललना जगत जन अपनाय कैं ।
याहि तें हौं जीय ज्याई इनहिं के गुण गाय कैं ।।
गायकैं श्रीगुरु मंगल इनहिं पद रज पायहौं ।
जय-जय श्रीहरिवंश वंश कौं गायहौं ।।

(५)

जय-जय श्रीहरिवंश वंश में अवतरे ।
गोस्वामी श्रीबसन्तलाल आनँद भरे ।
रास वंश अधिकार स्वयं ही ना लियौ ।
दया दीनता गही सबन कौं सुख दियौ ।
दियौ सुक्ख अनंत जो हित नाम कौं फल हैं कहे ।
जयति गुरु ललिताचरण जस नाम है तस गुन गहे ।।
शरण आये अभय कीन्हैं यौं जगत पर हित ढरे ।
जय-जय श्रीहरिवंश वंश में अवतरे ।।

(६)

जय-जय श्री गुरुराज सरस प्रावृट करी ।
जय श्रीललिताचरण जु प्रगटे शुभ घरी ।।
संवत् उन्नीस सौ चौंसठ जानिये ।
शुक्ल चतुर्थी मास भाद्रपद मानिये ।।
मानिये श्रीव्यास नंदन भजन प्रेम प्रकाश ये ।
किरण हित हरिवंश विधु की करत अघ-तम नास ये ।।
हित चतुर्भुजदास आशा बेलि फल फूलन भरी ।
जय जय श्रीगुरु राज सरस प्रावृट करी ।।

मंगल-बधाई

ताल रूपक—

उदयौ उमगि रसिकन भाग ।
भाद्रपद सित चतुर्थी दिन हित कृपा फल लाग ।।
श्रवत रस कों सतत वन में प्रणत जन के हेत ।
एक रसना गुण कहा कहौं जुगल दरशन देत ।।
जनक जननी पाय यह फल सफल कीन्हों वंश ।
नाद कुल अब वृद्धि ह्वै है भजन हित हरिवंश ।।
कियौ ललिताचरण करि जिन सत्य रसमय नाम ।
यथा नाम सु गुण दिखाये गोप्य हित रस धाम ।।
जिन चरन बल पाय गाजत सदा प्रणत समाज ।
कृपा जाकी दृगन बरसत रस भजन के ब्याज ।।
गुण गरभ मो मन धरे अजु कहा बरनौं बैन ।
हित चतुर्भुजदास पोष्यौ जिन कृपा भरि नैन ।।

श्रद्धाञ्जलि खंड

।। श्रीराधारमणो जयति ।।

।। श्रीगौरकृष्णशरणम् ।।

दूरभाष : ८२-४०२

आचार्य डॉ॰ गौरकृष्ण गोस्वामी शास्त्री

आयुर्वेद शिरोमणि, काव्य पुराण दर्शनतीर्थ

पञ्जीकृत संख्या २२३८ (प्रथम)

सेवानिवृत्त राजपत्रित चिकित्साधिकारी

अभिनव चैतन्य आयुर्वेदिक औषधालय

श्रीराधारमण मार्ग, वृन्दावन

पिन—२८११२१

श्रद्धा-सुमनाञ्जलि

आराध्या श्रीवृषरविसुताह्लादिनीशक्तिरूपा,
वासः वृन्दाविपिनसदनानन्दसेवानिकुञ्जः ।
सेवा साध्या व्रजनववधू वर्ग प्रोक्ता प्रशक्ता
आप्तं वाक्यं हितवरप्रभोरादिदेश स्वयं यः ।।१।।

चामीकरद्युतिततिश्चतुराननाभः,
विद्याविलासव्रतबन्धनिबन्धबन्धः ।
संसारसारसरसः सहजस्वभावः,
जीयात् व्रजस्थललिताचरणार्यवर्यः ।।२।।

र्यतिततिस्तुतं, योगयाज्ञिकं,
मतिमतांमत्तमानमन्दिरम् ।
ललितवल्लभं लोकमङ्गलम्,
व्रजवनस्थितं रूपमाश्रये ।।३।।

श्रीराधावरबल्लभाङ्घ्रि युगल ध्यानैकतानोन्नतः
सेवाकुञ्जनिकुञ्ज मञ्जुपटलो शाश्वद्विभाभावितम् ।
विद्वद्वृन्दविवन्दितं परतरं प्रज्ञाप्रभाभास्करः,
श्रीललिताचरणः भवाब्धितरणः जीयात् निकुञ्जस्थितः ।।४।।

हितानुगं हितास्पदं हितानुगानुगामिनम् ।
हिमांशुहीरहारकं हिरण्यवासमाश्रये ॥५॥

ततं विस्तृतं सत्तमं शाश्वतं, कविं कोविदं काञ्चनाराद्युतिम् ।
परमप्रेम रूपास्पदं पावनं, वरं व्यापकं विश्ववन्द्यंश्रये ॥६॥

ललितोज्ज्वलभावभावितं, व्रजवृन्दावन मौलिमण्डनम् ।
करुणावरुणोज्वलालयं कविताकाननकोकिलं श्रये ॥७॥

लिखामि गुणवर्णनां तव व्रजस्थभास्करमणेः ।
वदामि तव नाटकाश्रितविलास-भवोज्ज्वलाम्,
पठामि व्रजवीथिषु विततविश्व रागावलिम्
स्मरामि सततं तव प्रकृततत्वंसजीवनीम् ॥८॥

ता[illegible]तं [illegible]नर्भ्रन्तसिद्धा[illegible] विद्यावाद विचक्षणम् ।
ललिताचरणं वन्दे वृन्दावनविभूषणम् ॥९॥

चराचराधिराधितं मुनीन्द्रवृन्दवन्दितम् ।
सदासदामिमधितं नमामि लोकमङ्गलम् ॥१०॥

रसिकशेखरमण्डलमण्डनं
कलितकीर्त्तिकलापकलाधरम् ।
गुणिगणार्जितगायनगौरवं
ललित मञ्जुलवल्लभमाश्रये ॥११॥

नमामि प्रख्यातं मुनिजन समाराधिततरं
सुराणामासारं सुकृतिततिनीराजिततरम् ।
गुणानामागारं गुणित संराधिततरं
व्रजाधीश प्रेष्ठं ललितपदकंजद्वयधरम् ॥१२॥

गोस्वामिनां गुणमणिं करुणावतारं
संसारसारसरसं सुखदस्वरूपम् ।
लावण्यलोकललितं परमप्रसिद्धं
वृन्दावनस्थित विभुं सततं स्मरामि ॥१३॥

स्वामिनीरूपसेवास्वरूपस्थितं
व्यास नन्दाश्रयं नित्यसेवारतम् ।
मञ्जुकुञ्जप्रतोली स्थलाराधितं
श्रीवसन्तात्मजं सत्तमं संश्रये ॥१४॥

मीमांसकानां मणिमौलिमण्डनं
नैयायिकानां नवमञ्जुमालिनम् ।
प्रज्ञाप्रसारप्रथमं परमं पवित्रं
आचार्य वर्यात्मक रूप माश्रये ॥१५॥

जीयात् ललिताचरणः करुणावरुणःभवाब्धिसन्तरणः ।
कविकुलकण्ठाभरणः वृन्दारण्याश्रितः श्रेष्ठः ॥१६॥

卐

—आचार्य गौरकृष्ण गोस्वामी

कविरत्न अमीरचन्द्र शास्त्री
(राष्ट्रपति सम्मानित आचार्य)

ब्रह्म निवास, विद्यापीठ चौराहा,
वृन्दावन

राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्यवर्य
गोस्वामि श्रीललिताचरण स्तुति
(अष्टकम्)

१

यल्लेखनी वनविहाररसं वहन्ती सर्वं रसान्तरमिहारसतां नयन्ती ।
चर्कर्ति तस्य रसराजपदेऽभिषेकं वन्दामहेऽत्र ललिताचरणं तमीडचम् ।।

जिनकी लेखनी वनविहार रस को बहाती हुई, अन्य सभी रसों को नीरसता प्राप्त कराती हुई उस वनविहार रस का रसराज पद पर अभिषेक करती है, उन परम पूजनीय गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की हम यहाँ वन्दना करते हैं ।

२

बद्ध्वा निबन्धशतकं हितधर्ममर्माण्याविष्करोति परमाणि पुरेह यस्तैः ।
व्यस्तैः समस्तविषयैश्च यथाधिकारं वन्दामहेऽत्र ललिताचरणं तमार्यम् ।।

जो एक-एक विषय पर या समस्त विषयों पर पाठकों के अधिकार के अनुसार अनेकों निबन्धों की रचना करके श्रीहित धर्म के परम मर्मों को प्रकाशित करते रहे, उन आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की हम यहाँ वन्दना करते हैं ।

३

क्लृप्त्वा च नाटकचयं हरिवंश दृष्टिं दृश्यैः प्रदर्शयति यावदनन्यधीर्यः ।
श्रव्यात्प्रभावमधिकं समवेक्ष्य दृश्ये वन्दामहेऽत्र ललिताचरणं गुरुं तम् ।।

श्रव्य की अपेक्षा दृश्य के प्रभाव में अधिकता देखकर जिन अनन्य रसिक गोस्वामीजी ने अनेक नाटकों की रचना करके श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की हितदृष्टि का लोक में प्रचार-प्रसार किया, हम यहाँ उन गुरुवर गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की वन्दना करते हैं ।

४

ग्रन्थान् प्रणीतवति मौलिक भावनाढ्यान् व्याख्यातवत्यथ सुबोधयतीह यस्मिन् ।
नूलं चिरन्तनमुमयं म्रियमाणमासीद् वन्दामहेऽत्र ललिताचरणं बुधं तम् ।।

जिनके द्वारा मौलिक और व्याख्यात्मक ग्रन्थों की रचना किये जाने पर और उन्हें अनुवाद तथा टिप्पणी आदि द्वारा सुबोध बनाये जाने पर नवीन और प्राचीन वाणी साहित्य जीवित किया जाता रहा, उन महामनीषी गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की हम यहाँ वन्दना करते हैं ।

५

यस्मिन् समाजमधितिष्ठति तन्मयेन भावेन गायति च शृण्वति चारुवाणीः ।
ते सात्त्विकाः स्फुटमलक्षिषताभ्युदीर्णा वन्दामहेऽत्र ललिताचरणं कविं तम् ।।

समाज में बैठकर तन्मय भाव से प्रिया-प्रियतम के रास-विलास के वर्णन से सरस सुभग वाणियों का गान और श्रवण करते समय जिनके शरीर में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प और वैवर्ण्य आदि सात्त्विक भाव स्पष्ट दिखाई देते थे, उन भावयित्री प्रतिभा के धनी, रसिक और कारयित्री प्रतिभा के धनी कवि श्रीगोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की हम यहाँ वन्दना करते हैं ।

६

वाचा च लेखनिकया निजसम्प्रदायं सम्पोषयन्मनसि तोषमवाप नोयः ।
बादादि वर्तिषु पदेष्वतिसावधानं बन्दामहेऽत्र ललिताचरणं तमर्च्यम् ।।

मन के साथ वाणी और लेखनी से निज (श्रीराधावल्लभीय) सम्प्रदाय का पालन पोषण करते हुए जो कभी तृप्त या सन्तुष्ट नहीं हुए, इसके अतिरिक्त वृन्दावनस्थ साम्प्रदायिक स्थलों के साथ-साथ बादग्राम आदि स्थलों के प्रति भी अत्यन्त सावधान रहे, हम यहाँ उन अभ्यर्चनीयचरण गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की वन्दना करते हैं ।

७

वृन्दावनेऽवसदयं रसिकावतंसो लोकान्निवासविधिमादिशदत्र साक्षात् ।
सर्वात्मना वनविहाररसे निमग्नं वन्दामहेऽत्र ललिताचरणं रसज्ञम् ।।

जो रसिक-शिरोमणि श्रीवृन्दावन में निवास करते थे और जनसाधारण को अपने आचरण द्वारा साक्षात् वृन्दावन-वास की विधि पद्धति सिखाते थे, हम यहाँ उन सर्वभाव से वनविहार रस में निमग्न रहने वाले रसमर्मज्ञ गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की वन्दना करते हैं ।

८

विद्वानपि प्रविशामानमिहाल्पबुद्धिं प्रोत्साहयन् प्रवदितुं निदिदेश यो माम् ।
प्रेष्ठद्वयोज्ज्वलयशः श्रवणोत्सुकं तं वन्दामहेऽत्र ललिताचरणं महान्तम् ।।

जो स्वयं सर्वज्ञ होते हुए भी श्रीवृन्दावन में प्रवेश करते हुए मुझ अल्प बुद्धि (अमीरचन्द्र) को प्रोत्साहित करने के लिये प्रिया-प्रियतम का सुयश वर्णन करने का आदेश देते थे और इस प्रकार प्रिया-प्रियतम युगल का उज्ज्वल (शृङ्गार प्रधान, निर्मल) यश सुनने के लिये सदा उत्सुक रहते थे, उन महान् (विद्यावयोवृद्ध, रसोपासना सिद्ध, मेरे पूज्य गुरुदेव गोस्वामी श्रीहितानन्दजी महाराज के अग्रज) गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज की हम यहाँ वन्दना करते हैं ।

—अमीरचन्द्र शास्त्री

श्रद्धाञ्जलि-समर्पणम्

श्रीराधावल्लभं वन्दे प्रभुं परमसुन्दरम् ।
भक्तेष्वनुग्रहपरं श्रीवृन्दावनवासिनम् ॥१॥

साहित्य - संगीत - कला - प्रवीणं
गायन्तमिष्टं क्वच हस्त - वीणम् ॥
वंशी - स्वरूपं हरिवंश - रूपं
गोस्वामिनं प्रीतिपरं नमामि ॥२॥

तद्वंशजाताः जगति प्रसिद्धाः
गोस्वामिनो पावन - कीर्तिमन्तः ॥
श्रीराधिकावल्लभ पाद - सेवा-
परायणाः नित्य निकुञ्ज - लीनाः ॥३॥

तेषां पवित्रकुलपंक्ति - परम्परायां
प्रादुर्बभुवुरतिपावन भक्तिनिष्ठाः ॥
पूज्या उदार चरिता अथ कीर्तिमन्तः
गोस्वामिनोऽपि ललिताचरणाः प्रसिद्धाः ॥४॥

तेषां सदैव परमार्थ परायणानां
श्रीराधिका - हृदय - वल्लभसेवकानाम् ॥
गोस्वामिनां चरण - पङ्कज - सम्पुटेषु
श्रद्धाञ्जलीममनसिजां सुसमर्पयामि ॥५॥

फाल्गुने कृष्णसप्तम्यां वैक्रमेऽब्देन च तारणे ॥
गोस्वामिनोऽविशन्नित्य निकुञ्जे चन्द्रवासरे ॥६॥

तेषामयं "स्मृति ग्रन्थः" प्रियः सम्पादितोऽभवत् ।।
करोमि श्रद्धया तेभ्यः श्रद्धाञ्जलि-समर्पणम् ।।७।।

श्रीराधिकावल्लभ - सम्प्रदाये
श्रीराधिका-कृष्ण विहार-कुञ्जे ।।
नित्योत्सवं नित्य सुमङ्गलञ्च
सौख्यं प्रमोदं शुभमस्तु नित्यम् ।।८।।

श्रीमद्वृन्दावनस्थ श्रीसेवाकुञ्ज समीपगे ।।
श्रीकृष्ण प्रेम संस्थाने वर्तते यस्य सुस्थितिः ।।९।।

सोऽहं रामानुजाचार्य पाद - पङ्कज - किङ्करः ।।
रामानुज प्रपन्नोऽस्मि श्रद्धाञ्जलि समर्पकः ।।१०।।

(श्री) राधामोहनदासोऽयं वैश्यवंश विभूषणः ।
यश्चास्य स्मृतिग्रन्थस्य सम्पादक महोदयः ।।
भृशं परिश्रमं कृत्वा लेखाश्च संगृहीतवान् ।
भूमौ सुकीर्तिमान् भूयात् दीर्घायुष्टं तथा लभेत् ।।११।।

—आचार्य रामानुज प्रपन्न

डॉ0 प्रेमदत्त मिश्र 'मैथिल'
श्रीकृष्ण चैतन्य इण्टर कालेज,
नन्दगाँव (मथुरा)

गोस्वामि श्रीललिताचरण महाराजाष्टकम्

श्लोक— गोस्वामी ललितापादो हरिवंशस्य दीपकः ।
पञ्चाशीतिसमा यावत्सभूचक्रमशोभयत् ।।१।।

हिन्दी व्याख्या—गोस्वामी महाप्रभु श्रीहित हरिवंश के दीपक गोस्वामी श्री-ललिताचरण महाराज ने पिच्चासी वर्ष पर्यन्त भूमण्डल अर्थात् धराधाम को अलंकृत कया ।

श्लोक— ललित ललिताचरणाब्जसेवी,
गोस्वामी ललिताचरणो महात्मा ।
समाज—साहित्य—सेवा—परायणः,
सुधार्मिकोऽभून्निजवंशकेतुः ।।२।।

हिन्दी व्याख्या—सुरम्य ललिता अर्थात् राधा के चरणकमलोपासक सुधार्मिक महात्मा गोस्वामी श्रीललिताचरण महाराज साहित्य और समाज की सेवा में निरत (होते हुए) अपने अर्थात् श्रीहित हरिवंश वंश के केतन हुए ।

श्लोक— वृन्दावनस्थः सुदीर्घकालं,
साधुः स पुण्यावहैः सुकर्मभिः ।
चन्द्रावदातं यशो धरित्र्यां,
लोकारञ्जकं योऽतनोन्महात्मा ।।३।।

हिन्दी व्याख्या—जिन साधुशील महात्मा श्रीललिताचरण गोस्वामी महाराज ने वृन्दावन में वास करते हुए अपने अनर्घ पुण्य कर्मों से जनमतोरञ्जक अर्थात् लोकानन्दकर चन्द्रिकाधवल कीर्ति को पृथ्वी पर फैलाया ।

श्लोक— बहव्रः प्रतोलीः स वृन्दावनस्य,
पाषाणमयीश्चेष्टिका प्रधाना ः।
बादाभिधाने ग्रामे तथैव
प्राकार मण्डलं सगोपुरञ्च ।।४।।

जीर्णं प्रभग्नमुपेक्षितं किल,

स्वपूर्वजनानां देवालय सः ।

अकारयद् वै परमार्थदृष्ट्या,

देववनाख्ये स्थले पुराणे ।।५।।

हिन्दी व्याख्या–वृन्दावन तथा बाद नामक ग्राम में आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरण महाराज ने बहुत सी गलियों तथा खरंजों को पक्का बनवाया तथा देववन (देवबन्द में) अपने पूर्वजों के जीर्ण शीर्ण अवस्था में स्थित विद्यमान मन्दिर का बादग्राम की भाँति ही परकोटा सहित जीर्णोद्धार कराया । ४–५ ।

श्लोक– एकाङ्कनाम्नां दशपरिमितानां

मनोहर धार्मिक नाटकानाम् ।

आसीत्प्रणेता साहित्य-स्त्रष्टा,

धर्म प्रधानानां पुस्तकानाम् ।।६।।

हिन्दी व्याख्या—धार्मिक एवं मनोहर दस एकांकी नाटकों तथा कई अनन्य धार्मिक ग्रन्थों के साहित्य सर्जक गोस्वामी श्रीललिताचरण महाराज प्रणेता अर्थात् लेखक थे ।

श्लोक– अध्यात्म-सांस्कृतिक-धार्मिकानि,

सम्प्रदाय–साहित्योन्मुखानि ।

सामाजिकानि–कार्याणि कृत्वा,

लीला-निकुञ्जे चिरस्वापमभजत् ।।७।।

हिन्दी व्याख्या—आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों का प्रणयन तथा सामाजिक सेवा के अनेक कार्य करके श्रीहित हरिवंशावतंस गोस्वामी श्रीललिताचरण महाराज निज लीला निकुञ्ज में चिरलीन हो गये ।

श्लोक– "इत्थं गोस्वामि हितहरिवंशावतंसः,

प्रेमावतारः परमार्थपरायणो वै ।

दिव्यावदानप्रचुरैः सुकृतैर्महात्मा,

गोस्वामिवर्य–ललिताचरणोऽलीयत् ।।८।।

हिन्दी व्याख्या—इस प्रकार महाप्रभु श्रीहित हरिवंश वंशकेतु, प्रेमावतार एवं परमार्थ-परायण गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज लोकोत्तर, श्रेष्ठ पुण्य-कर्मों के साथ संसार से चिर विदा हो गये अर्थात् नित्य-निकुञ्ज लीला में प्रविष्ट हो गये ।।

—डॉ० प्रेमदत्त मिश्र मैथिल

आचार्य श्रीहितानन्द गोस्वामी

अचल-विहार,
वृन्दावन

स्मृति-कुसुमांजलि

प्रकट प्रेम की मूर्ति, श्याम - श्यामा गुन - गानी ।
अतुल भजन कौ व्यसन, भाव-विगलित मुखवानी ।।
युगल - नेह की झलक, उतरि नैननि में आई ।
हुलसि - हुलसि रस - रासि, दुहुन की कथा सुनाई ।।
पियो गरल संसार कौ, वितरित करी 'सुधा' अमल;
गोस्वामी ललिताचरण रसिक विपुल, निष्ठा प्रबल ।।१।।

लिखे अनेकन ग्रंथ और टीका बहुतेरी ।
फैली ज्योति मयूख मिटी तम की जु अँधेरी ।।
रचि - रचि बानी सरस, लाड़ - भाजन दुलराए ।
दिन दूलह - दुलहिन के मृदुल बधाए गाए ।।
पीत - पटी के छोर सौं नील चुनरिया बाँधिकै ।
राखी अविचल जतन करि, दृढ़तर हित निरुपाधिकै ।।२।।

जब हिय कौं भरि; छलकि बह्यौ नैननि कौ पानी ।
नेह-नदी की उमगनि जाके बीच समानी ।।
बहि गए सब दुःख द्वन्द्व, नस्यो जग को जंजाला ।
थिरकनि लगे सकल नेहिन के हृदय - मराला ।।
चाव राधिका जनम की अरु हित-उत्सव माँहि लखि ।
विह्वल धर्मी ह्वै रहैं; तन मन बिसरे जाँहि छकि ।।३।।

शुद्ध प्रीति के दाता ! यह अवदान तिहारो।
रसिक जनन की सम्पति, दम्पति भजन सहारो ॥
राधावल्लभ लाल लड़ाए बहु विधि नीके।
परि पूरन सब किए मनोरथ जो - जो जीके ॥
धर्मी-धर्म स्वरूप की जो तुम थापी नींव है।
जुग-जुग लौं अविचल रहौ नाहिन जाकी सींव है ॥४॥

—गोस्वामी हितानन्द

श्री अभिनव संस्कृत-विद्यालय

आचार्य श्रीगोपाललाल गोस्वामी
वेदान्त शास्त्री, आर.एम पी.

बड़वाला मोहल्ला,
जमुना-पुलिन, वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। समय-समय पर धर्म एवं नैतिकता की रक्षा के लिए यहाँ विशिष्ट व्यक्ति, विशिष्ट अवतारों एवं सन्त-महात्माओं का प्रादुर्भाव होता रहता है। इनके द्वारा तप, शौच, दया और सत्य धर्म के इन चारों अंगों का समुचित प्रचार एवं प्रसार होता रहता है। मेरे परम पूज्य गुरुदेव एवं ज्येष्ठभ्राता आचार्य श्री गोस्वामी ललिताचरणजी महाराज ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तियों में थे। पूज्य अग्रज चरणों ने अपने अमूल्य साठ वर्षों तक धर्म के इन चार अंगों को अपने जीवन में उतार कर तथा तदनुरूप बनाकर अपने जीवन में जो प्रचार - प्रसार किया वह अकथनीय अवर्णनीय है।

पूज्य भ्राताश्री बड़े ही सरल एवं सरस प्रकृति के थे। अपनी आलोचना पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। वे कृतज्ञ तो इतने थे कि दूसरों के उपकार को कभी भूलते नहीं थे। उपकारी व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ रहते थे। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य बेहंता निवासी पं० मथुराप्रसादजी के द्वारा बहुत सी 'बानियों' का संकलन कराया था। इसी संकलन के आधार पर महाराजश्री ने "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" नामक शोध ग्रन्थ की रचना की। इस शोध ग्रन्थ को महाराजश्री ने अपने शिष्य मथुराप्रसाद को समर्पण करते हुए पुस्तक के आदि में एक दोहा लिखा—

भजन सहायक दास, जो तुम कुछ संग्रह कियौ।
ताही कौ विन्यास, लघु प्रयास अर्पित तुम्हें॥

वे मथुराप्रसादजी को "भजन सहायक" कहते थे। ऐसे थे हमारे पूज्य अग्रज !

—गोपाललाल शास्त्री

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदायाचार्य

श्रीव्रजजीवनलाल गोस्वामी

छोटी सरकार,
अठखम्भा, वृन्दावन

श्रद्धांजलि

परम श्रद्धास्पद गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय एवं हितकुल के भूषण थे। आप बहुभाषाविद् तथा बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। "सादा जीवन उच्च विचार" इस सूत्र के अनुसार आपका जीवन सादगी पूर्ण था। उच्च विचार तो आपके द्वारा लिखित एवं प्रकाशित साहित्य के द्वारा सर्व-विदित ही हैं। आप संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी के विशिष्ट विद्वान् थे किन्तु विद्वत्ता का अभिमान नहीं था। अभिमान होता भी कैसे? ''विद्या ददाति विनयम्'' इस शास्त्रीय वचन के अनुसार विद्या तो व्यक्ति को विनय सिखाती है। अभिमान नहीं। वास्तविक विद्वान् तो विनय सम्पन्न ही होते हैं। "विनयाद्ददाति पात्रताम्" विनय भाव से व्यक्ति में पात्रता आती है एवं उसमें सारे सद्गुणों का समावेश हो जाता है। इन्हीं सद्गुणों के कारण आज हम गोस्वामी जी को याद कर रहे हैं। उनका गुणगान कर रहे हैं, उनके जीवन से शिक्षा ले रहे हैं।

गोस्वामी जी विद्वान् थे लेकिन उन्होंने विद्वत्ता का उपयोग प्रकोपार्जनादि लौकिक कार्यों में नहीं किया प्रत्युत् उसे अध्यात्म में लगाया। उनकी मनोवृत्ति अध्यात्म चिन्तन की ओर थी। जीवन भर यही कार्य करते रहे।

मानव जीवन का लक्ष्य आत्म कल्याण है। इसके तीन साधन शास्त्रों में वर्णित हैं। कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। आपने सभी का अनुशीलन किया। विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के सिद्धान्तों एवं उपासना पद्धतियों का भी अध्ययन किया। अंत में परम्परागत श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के रस-भक्तिमार्ग का ही अनुसरण किया और उसी के प्रचार-प्रसार में संलग्न रहे।

गोस्वामी जी की अपने इष्टदेव श्रीराधावल्लभ लाल तथा परमाचार्य अनन्त

श्रीसम्पन्न गोस्वामी श्रीहित हरिवंश महाप्रभु में अनन्य निष्ठा थी। आप इनकी तन मन धन से सेवा करते रहे एवं अपनी आज्ञाकारिणी शिष्य मण्डली से कराते रहे।

आपकी एक शारीरिक सेवा विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि श्रीजी के निज मन्दिर में गर्मियों की ऋतु में जो फब्बारा चलता है उसका हौद (टंकी) स्वयं भरा करते थे। प्रतिदिन प्रातः अपने भजनभाव से निवृत्त होकर अपरस में मन्दिर में पधारते और अपरस के कुँए से पानी खींच कर हौद भरते थे। यह सेवा वर्षों पर्यन्त चलती रही। यह एक परिश्रम साध्य कार्य था जिसे आप बड़े प्रेम और उत्साह के साथ करते थे। इस सेवा से उन्हें जो आनन्दानुभूति होती थी इसका अनुभव तो उन्हें ही हो सकता है दूसरे को नहीं। जो मिश्री खाता है उसी का मुँह मीठा होता है।

आपके द्वारा धन की सेवा तो प्रायः होती ही रहती थी। श्रीराधावल्लभ जी के मन्दिर में विशेष उत्सबों पर विशेष भोगराग की व्यवस्था होती रहती थी। इसके साथ ही हितकुल और सन्त सेवा भी चलती रहती थी। विशेष अवसरों पर सर्व साधारण जन भी सेवा में भागीदार बनते थे। रही मन की सेवा की बात सो मन तो शरीर की और धन की दोनों सेवाओं के प्रति कारणीभूत है। मन में भावनाऐं उदित होती थीं तो सेवायें चलती थीं। आपकी अनेक प्रकार की सेवायें थीं उनका पूर्ण विवरण तो उनके विस्तृत जीवन चरित्र में ही लिखा जा सकेगा।

—गोस्वामी व्रजजीवनलाल

卐

श्रीजगजीवनलाल गोस्वामी

छोटी सरकार,
अठखम्भा, वृन्दावन

गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज

एक श्रद्धांजलि

परम श्रद्धेय, गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज, श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान् थे। आप परम भावुक, विविध प्रतिभाओं से सम्पन्न तथा स्वतन्त्र सूझबूझ वाले व्यक्ति थे। आप सुवक्ता, सुलेखक, सुकवि एवं सुसंगीतज्ञ भी थे। आपकी शिक्षा का मुख्य विषय अंग्रेजी भाषा थी। आप बी० ए०, एल० एल० बी० थे। अंग्रेजी की शिक्षा आपने मथुरा, कानपुर तथा वाराणसी में प्राप्त की। हिन्दी भाषा का ज्ञान अंग्रेजी के साथ ही ग्रहण कर लिया था। आप संस्कृत भाषा के भी ज्ञाता थे। संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में ही श्रीवृन्दावन निवासी एवं वाराणसी निवासी संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी शास्त्री से ग्रहण की। गोस्वामी जी ने स्वयं हमें बताया कि भैय्या, इतने बड़े विद्वान् होते हुए भी शास्त्री जी मोय लघु सिद्धान्त कौमुदी पढ़ाते थे। उनकी बड़ी कृपा ही। "शास्त्री ने ये शब्द भी मोसे कहे कि तुम्हारी बुद्धि अच्छी है। तुम आगे भी संस्कृत पढ़ियों।"

वाराणसी में अंग्रेजी शिक्षा समाप्त कर आप वृन्दावन आ गये। यहाँ आकर आपने राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् गोस्वामी श्रीसुखलाल जी शास्त्री से संस्कृत के व्याकरण साहित्यादि विषयों का विशेष शिक्षण प्राप्त किया। व्रजभाषा तो आपकी मातृभाषा ही थी। श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय का वाणी-साहित्य व्रजभाषा बहुल है। वाणी जी के पुराने और कठिन शब्दों का अर्थ आप अपनी सूझबूझ के कारण सहज ही समझ लिया करते थे। इस प्रकार गोस्वामी जी अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी और व्रजभाषा के विद्वान् तो थे ही साथ ही गुजराती और बंगला-भाषा के भी जानकार थे। उर्दू-फारसी में भी उनका प्रवेश था। संगीत की शिक्षा उन्हें अपने परिवार से ही मिली। उनके छोटे भाई श्रीवनवारी लाल गोस्वामी उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे उनके कारण सारे परिवार में संगीत प्रसारित हो गया। सभी भाई संगीतज्ञ हो गये।

विद्वान् तो अनेक लोग होते हैं किन्तु स्वतन्त्र सूझबूझ वाले विरले ही होते हैं। गोस्वामी जी इन विरले व्यक्तियों में ही थे। आपके परिवारीजन अहमदाबाद में विराजते थे। शिक्षा समाप्ति के बाद आप अहमदाबाद चले गये और दो वर्ष परिवार के साथ रहे एवं अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों द्वारा गुजरात प्रान्त में श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। जिससे जनसाधारण एवं बड़े-बड़े विद्वान् तथा राजा-रजबाड़े तक प्रभावित हुए और इन सबसे आपको प्रतिष्ठा और सम्मान मिला।

दो वर्ष प्रचार करने के बाद आपके विचारों में परिवर्तन आया कि मौखिक प्रचार से साम्प्रदायिक-साहित्य के प्रकाशन द्वारा प्रचार करना अधिक स्थायी रहेगा। आपके अन्दर किसी विषय पर निर्णय लेने की एवं उसे कार्यान्वित करने की विलक्षण शक्ति थी अतः आप त्वरित गति से अहमदाबाद छोड़कर वृन्दावन आ गये और अपने पितृगृह में निवास करने लगे।

यहाँ आकर आपने घर-घर जाकर श्रीराधावल्लभीय वाणी ग्रन्थों की सूची बनाई और उसे प्रकाशित करवाया। इसके बाद आप राधावल्लभीय वाणी ग्रन्थों के अध्ययन में संलग्न हो गये। वाणी ग्रन्थों के ज्ञाता गोस्वामी श्रीश्यामलाल जी महाराज आपके सहायक थे। उनसे विविध विषयों पर चर्चा होती रहती थी। इसके अतिरिक्त आपने अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों और उपासना पद्धतियों का भी अनुशीलन किया और यह देखा कि इनमें परस्पर क्या भिन्नता है। अन्य सम्प्रदायों के विषयों पर वृन्दावन के सुप्रसिद्ध विद्वान् गोस्वामी श्रीनृसिंहवल्लभ जी शास्त्री से आपकी चर्चा होती रहती थी एवं परस्पर विचारों का आदान प्रदान होता रहता था।

कई वर्षों के सतत परिश्रम और ग्रन्थावलोकन के फल स्वरूप आपने "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की। इसमें सम्प्रदाय के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला गया।

इस पुस्तक से राधावल्लभीय साधकों एवं जिज्ञासुओं को पथप्रदर्शन मिला एवं बाहर के विद्वानों में भी इसे समादर मिला और ख्याति प्राप्त हुई।

इसके बाद गोस्वामीजीने सम्प्रदाय की प्रमुखवाणी श्रीहित चौरासी, श्रीराधा-सुधा-निधि (संस्कृत), स्फुट वाणी आदि की टीकायें प्रकाशित कीं तथा अन्य बहुत सी वाणियों का प्रकाशन किया। इस तरह आपने अपने ही द्वारा स्थापित "वेणु प्रकाशन" नामक संस्था के कार्य को पूर्ण किया।

गोस्वामीजी की जीवन शैली को देखने से निम्नलिखित वाणी का स्मरण होता है।

यह मन मारि जिवाइये जियतन आवत काज।
कहत जु रसिक नरेश की चलनों है तिहिं साज ॥

अर्थात् जीव के प्रति उपदेश है कि इस मन को मार कर फिर जिवाओ। जब तक यह जीता है काम में नहीं आयेगा। रसिक नरेश श्रीहरिवंश महाप्रभु की कहन-कथन से जीवन को सजाओ उनके उपदेशों के अनुसार चलो तब तुम अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकोगे। श्रीजी की कृपा प्राप्त कर सकोगे। तात्पर्य यह है कि लौकिक प्रपंच से मन को हटाकर श्रीजी के चरणों में उनकी भक्ति भावना में लगाओ तब तुम जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकोगे। गोस्वामीजी का जीवन ऐसा ही था। यूं तो जब तक जीवजगत् में है तब तक थोड़ा बहुत प्रपंच तो रहता ही है लेकिन उनका अधिकांश समय वाणी दर्शन, लेखन, सत्संग, समाज श्रवण और श्रीजी की सेवा सम्बन्धी विषयों के ध्यान में ही व्यतीत होता था। ऐसे सत्पुरुषों का जीवन धन्य है जो अपने पवित्र जीवन से दूसरों को भी प्रभावित करते हैं।

—जगजीवनलाल गोस्वामी

गोस्वामी श्रीबलदेवलालजी 'विशाखा'

छोटी सरकार,
अठखम्भा, वृन्दावन

आचार्य श्रीहित श्रीललिताचरणजी महाराज

श्रद्धाञ्जलि

श्री कौ कमल मनों हित कुल सरोवर बीच,
अरु हित मकरंद कौ लोभी इक भ्रमर हौ।
धर्म हित धुरंधर विरुद्ध गुण मूरति ही,
भजन रस सरोवर बीच हित कौ गौहर हौ॥
वेणु के वंश कौ अवतंस कमनीय वृत्त,
प्रेम के पंथ कौ द्रष्टा सभर हौ।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
गैल हरिवंश की कौ पथिक रस भर हौ॥

लखि-लखि कैं इष्ट मूरत सूरत निज हृद धरी,
ताही के रंग राचे रहत हे गुसाँई जू।
बोलन में फूल झरें देखत ही मन कों हरें,
भक्ति पथ गामी कर्म मरियादा बसाई जू॥
सेयो निज धाम श्री यमुना पुलिन बीच,
वृन्दावन वास करि हित रसायन पचाई जू।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
प्रेम गली साँकरी में प्रेम राग गाई जू॥

लिख-लिख कैं पोथी हित रसायन कौ प्रसार कियौ,
आये जे शरण तिन्हें निर्भय करि डारे जू।
नाम हरिवंश कौ गायौ अरु गवायौ आपु,
चित्त बीच धँसिकें द्वंद मथ डारे जू॥

अति ही कमनीय मूरत मनों बसंत रितु,
हवै कै सदेह भूतल पधारे जू।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
गैल हरिवंश की दिखावन सिधारे जू।।

ताल अरु रागनी के ज्ञाता अरु व्यासा हे,
बैठकै समाज बीच गावत गुण प्रीयालाल।
मंद मुस्कान सों बिखेरते हे प्रेम पुष्प,
हित की लता बने सेवक जन कियो निहाल।।
काल की कराल गति कोऊ नहिं जान सक्यौ,
सहज ही आये भुवि सहज उठि गये हाल।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
यमुना पुलिन बीच कहुँ मिले हैं राधालाल।।

चरणं चारु हृदय राखि चाँपत हे भावकुञ्ज,
देखत ही मोद मन भक्तन के भरते हे।
रूप छटा माधुरी पी मत्त ह्वै चलत हे,
उत्सव की चावन में हंस गति धरत हे।।
श्रवणन सों सुनत गुण पुलकित ह्वै उठत तन,
मानों प्रेम वृक्ष रूप अंगन में धरत हे।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
गुसाँईं जी हित सौरभ की फुहारिनु भरत हे।।

रथ की बागडोर गही हित उत्सव प्रसार कियौ,
उत्सव सौं उत्सव करि यश बहु कमायौ जू।
प्रेम रस सागर में मीन ह्वै करी क्रीड़ा,
धरि गंभीर रूप प्रगट में दिखायौ जू।।
आचारज स्वरूप सों हित धर्म स्थापन कियौ,
धर्मी ह्वै सेवा करी सेवक धर्म हू द्रढ़्यौ जू।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
गुसाँईं जी वचनन सों भ्रम ताप सब नसायौ जू।।

णणं कल स्वर नूपुर के श्री यमुना पुलिन बीच,
घूँघट के पट उघारि डोलत श्रीललिता।
क्वासि-क्वासि राधा क्यों छिपीं जाय प्रीतम उर,
विकल ह्वै खोजत हों प्रेम ताप गलिता।।
अजहूँ तुम सुनहु जो ध्यान धरि सुनों मीत,
वेही स्वर गूँज रहे यमुना पुलिन बलिता।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
श्रीललिताचरणजी बहाई प्रेम सलिता।।

जीवन सफल कीन्हों प्रेम कौ मारग चीन्हों,
शरणागतन अभय दीन्हों घाट वारे बनिकै।
भवतारन तरन बने रहत हे हँसत खरे,
शुभ्र वसनन बीच मूरति सी दमिकै।।
सबसों हित कौ स्वरूप हे परमानन्द रूप,
कौन गुन गाय सकै इनके गिन-गिनकै।
विशाखा कौ अनुभव यह कहत है सुनों छैल,
गैल हरिवंश की गये हैं बनि ठनि कै।।

—गोस्वामी बलदेवलाल 'विशाखा'

❋ श्रीराधिकां वन्दे ❋

राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य

गोस्वामी हितजीवन शास्त्री

एम० ए०, वेदान्ताचार्य

श्रीलाड़िलीवल्लभ का मन्दिर
श्रीराधावल्लभ का घेरा
वृन्दावन

दिनांक १७।१।६३

श्रद्धाञ्जलि

प्रातर्वन्दनीय गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी महाराज मेरे ऊपर तो पितृतुल्य अभिभावक के रूप में सर्वदा अपनी महती कृपा रखते थे। जब कभी भी मुझे उनके सान्निध्य में घड़ी, आध घड़ी भी बैठने का जीवन में सौभाग्य प्राप्त होता था तो मुझे उतने क्षण के लिए उनकी प्रसिद्धिपराङ्मुख, आडम्बरविहीन सहज रहन-सहन और वाणी से एक विलक्षण सात्त्विकी शान्ति की अनुभूति होती थी, ऐसा प्रभावोत्पादक था उनका वह महान् व्यक्तित्व, जो एक मधुर-स्मृति के रूप में ही अवशेष रह गया है।

उन्होंवे अपनी अनन्य साधना-आराधना तथा सर्वोपरि प्रियाचरणारविन्द की परमकृपा से वाणी-साहित्य का गहन अध्ययन-मनन करके रसात्मिका भक्ति में हिततत्त्व के सर्वोत्कृष्ट, परमोज्ज्वल स्वरूप का सर्वग्राह्य, सरस तथा सरल भाषा में—'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' इस स्वरचित ग्रन्थके द्वारा राधावल्लभीय भक्तिसिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन किया है। यह इस सम्प्रदाय को उनकी ऐसी अमूल्य देन है, जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ ने प्रथमबार भारत के मूर्द्धन्य विद्वत्समाज को इस सम्प्रदाय के विपुलवाणी-साहित्य और सिद्धान्त को देखने और जानने के लिए आकृष्ट ही नहीं किया, अपितु इस ग्रन्थ के निर्माता की मुक्तकण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए, इनको ही इस सम्प्रदाय के रससिद्धान्त के पाण्डित्यशैली से प्रथम व्याख्याता के रूप में भी मान्यता प्रदान की है, यदि ऐसा कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् ही अनेक जिज्ञासु शोधकर्ताओं ने जहाँ गोस्वामीजी से मार्गदर्शन प्राप्त करके इस सम्प्रदाय के वाणी ग्रन्थों पर अपने शोध-ग्रन्थों की रचना पूर्ण की है, वहीं अनेक शोधकर्ता आज भी शोधकार्य में संलग्न हैं। इस प्रकार वृन्दावनीय रसोपासना की उत्कृष्टता का इतना व्यापक प्रचार और प्रसार का जो भव्यरूप आज चारों ओर प्राप्त दिखाई दे रहा है, इसके लिए इनका नाम भी सर्वदा श्रद्धा और आदर से स्मरण किया जायेगा, यह निश्चित है। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर हमारे दुर्भाग्य से हमारे मध्य अन्तर्हित हो गया है, पर उनका कीर्तिमय साहित्यरूपी शरीर, जो आज भी विद्यमान है और अनन्तकाल तक विद्यमान रहेगा, उससे प्रेरणा लेकर हम भी अपने जीवन को उनके पथ का अनुगामी बना सकें, तभी उनके पावन चरणों में हमारी यह श्रद्धाञ्जलि वास्तविक रूप में चरितार्थ होगी। इस विनम्र संकल्प के साथ पुनः उस महापुरुष के श्रीचरणों में अपना विनम्र निवेदन करता हूँ।

विनीत

—हितजीवन गोस्वामी

श्रीहितं वन्दे

प्रीतमलाल गोस्वामी

रतन प्रेस,
अठखम्भा, वृन्दावन

हितावतार जै-जै : श्रद्धाञ्जलि

श्रीललिताचरण गोस्वामी 'जै-जै महाराज' दिव्य-अलौलिक सौम्यता-सरलता के धनी, विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न, हित की प्रति मूर्ति थे—

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि किसी भी प्राणी में विशेष गुण की प्रतीति मेरा ही सत्त्व है। उसे मुझे ही समझना चाहिए—

यद् यद् विभूति मत्सत्त्वं श्रीमदूर्जित मेव वा।'
तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंऽश संभवम्।१०।४१

जै-जै तो विशिष्ट गुणों की खान थे। उनके दर्शन स्पर्श से ही रोमांच-सा होने लगता था।

अनेक जन्मों की साधना के परिणाम स्वरूप श्रीधाम वृन्दावन वास होता है। उससे भी अधिक पुण्य और प्रभु प्राप्ति की वाँछा वाला प्राणी वृन्दावनवासी के यहाँ जन्म लेकर, श्रीराधारानी की सेवा में संलग्न रहकर किंकिरी बनने की याचना करता है। जब उसकी साधना परिपक्व हो जाती है और वह कुंज-निकुँजों की टहल और लीला चिंतन में देहानुसंधान भूलकर प्रिया-प्रियतम के प्रेम में पूरी तरह पग जाता है तब श्री प्रियाजी कृपा करके स्व सान्निध्य प्रदान करती हैं। परन्तु जै-जै महाराज तो अपनी पूर्व साधना-प्रियाप्रियतम-प्रेम के फलस्वरूप ही नित्य निभृत निकुंज में, सेवा में सतत संलग्न वंशी स्वरूप रसावतार आचार्य श्रीहित हरिवंश महाप्रभुजी के वंश में ही प्रादुर्भूत हुए थे। अतः जिन्हें मातृ उदर में ही आचार्यत्व प्राप्त हो गया था, उनके रोम-रोम में श्री-वृन्दावनेश्वरी राधारानी का वास था। यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगी कि जै-जै तो साक्षात् श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के ही स्वरूप थे। वैसे भी उनके वंश में उत्पन्न होने के कारण अंश तो था ही।

जै-जै महाराज के ललित आचरण से ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे श्रीहित हरिवंश महाप्रभु द्वारा प्रकटित रसरीति को स्व आचरण द्वारा प्रदर्शित कर साधारण

प्राणी एवं भक्त समुदाय को हित-रस रीति समझाने के लिए ही आपका प्रादुर्भाव हुआ था।

अपनी सम्प्रदाय का वह दिव्य रत्न आज श्रीहित महाप्रभु के सान्निध्य में नित्य निभृत निकुंज में प्रियाप्रियतम के हृदय-हाट में जड़ा हुआ नित्य-विहार का अवलोकन कर रहा है और अपने प्रेमी-शिष्यजनों को आशिष प्रकाश प्रदान कर रहा है कि मेरे द्वारा स्थापित सेवा-कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करते रहो।

श्रद्धांजलि स्वरूप श्रीराधावल्लभलाल के लाड़ले आचार्य जं-जं की लीलाओं का चिन्तन श्रीप्रिया-प्रियतम को प्रिय लगेगा और उस प्रसन्नता से मुझे जो कृपा प्राप्ति होगी उसी से अपने को धन्य समझूँगा। साथ ही नित्य निभृत निकुंज की सहचरी स्वरूपा जं जं से आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु याचना करता हूँ कि ऐसी कृपा करें जिससे निज महल की टहल में स्थान प्रदान कराने हेतु श्रीराधावल्लभलाल से मेरी भी प्रार्थना कर दें।

श्रद्धावनत—प्रीतमलाल गोस्वामी

॥ श्रीराधा ॥

कवि चूड़ामणि-स्मृति समिति

आचार्य गोस्वामी मधुकरलाल
महासचिव

मुख्य-कार्यालय :
श्रीहित हरिवंश वाणी भवन
लल्लू बाबू का कूँचा
पटना-८०० ००६
दिनाँक ८. ३. १९९२ ई०

श्रद्धांजलि

कवि चूड़ामणि स्मृति समिति की कार्यकारिणी की विशेष बैठक आज दि० ६-३-९२ को श्रीहित हरिवंश वाणी भवन पटना-८ के प्रांगण में श्रीराधावल्लभाचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरण जी (घाट वाले) महाराज (श्रीवृन्दावन धाम) के आकस्मिक निधन की सूचना प्राप्त होने पर आचार्य श्रीगोस्वामी मधुकरलाल जी की अध्यक्षता में आहूत की गयी जिसमें दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिये कुछ क्षण मौन रख निम्नांकित श्रद्धांजलि समर्पित की गई—

"श्रीराधावल्लभाचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज के आकस्मिक निधन से सम्पूर्ण राधावल्लभीय समाज का महान स्तम्भ, तेज-पुञ्ज अस्त हो गया, जिससे सम्प्रदाय एवं उसके अनुयायी, मित्र मंडली एवं साहित्य जगत् को जो आघात पहुँचा है उसकी पूर्ति अनन्त काल तक असम्भव प्रतीत होती है। उनका जीवन अपनी सम्प्रदाय एवं उसके शोध-इतिहास के लिये कई शताब्दियों तक स्मरण किया जायगा। उन्होंने अपनी अष्ट दशक जीवन-यात्रा में शिक्षा-दीक्षा के क्षणों को छोड़ लगभग ६ शतक श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय को देश-विदेश में प्रतिष्ठापित एवं उसके प्रति लोगों को आकर्षित करने हेतु बहु आयामी उपाय किये थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन, प्रकाशन कई भाषाओं में किया था और उसे सरल बोधगम्य बनाने के लिये अथक श्रम किया था। यहाँ तक ही नहीं उन्होंने अपने तन-मन-धन को न्यौछावर कर इसके भविष्य की एकल-छवि देखने का सुनहरा स्वप्न अपने हृदय में संजोये रखा था। एक सुधी विधि-वेत्ता होने के बावजूद उन्होंने उस कृत्य को तिलाञ्जलि दे धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक व्यवस्था के विवादों का अन्त करने में जीवन पर्यन्त अपने को लगाये

रखा। आज इतिहास उसका साक्षी है। समाज के पीड़ित, आर्त लोगों की सेवा उनका मुख्य लक्ष्य था। कभी-कभी वे द्रवित हो रो पड़ते थे। उन्होंने उक्त हेतु एक ट्रस्ट की भी स्थापना की। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व सर्वगुणों का आगार था। वे अपने आप में स्वयं एक संस्था थे। असंख्य बालकों की शिक्षा, विवाह-शादी तथा रुग्ण मानवों की सेवा मानो उनके जीवन का अंग बन गई थी। आज उनके अभाव में व्रजमंडल सूना हो गया। श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में आज के परिप्रेक्ष में श्रीललिताचरण जी महाराज का नाम लोग गौरव के साथ लेते हैं। श्रीजी उनको अपनी टहल प्रदान करें। उनके आदर्शों का हम सब भलीभाँति अनुसरण करें। यही उनके प्रति हम सबों की सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

उनको स्मृति अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उनके बचे हुये कार्यों को पूर्ण करने के लिये अग्रसर होना पड़ेगा, साथ ही उनकी चिर-स्मृति के लिये जहाँ-जहाँ श्रीराधा-वल्लभीय केन्द्र हैं, उनकी प्रतिमा या छवि स्थापित की जाय।

अन्त में उनके असंख्य मित्र, शिष्य, पुरजन तथा उनकी लालीजी श्रीमती सुधारानी जी को उनके इस पितृ-वियोग जैसे अनभ्र-वज्रपात दुःख को सहन करने की श्रीजी क्षमता प्रदान करें। इस विकलता की घड़ी में प्रभु उन्हें धीरज दें जिससे वे अपने पू० पिता के निधन जैसे महान् शोक को सहते हुए उनके बताये हुए पथ का अनुसरण करते हुए उनके भक्तों, अनुयायियों का मार्ग दर्शन कर सकें। उनकी स्मृति में शीघ्र ही एक स्मारिका प्रकाशित करने का हार्दिक विचार व्यक्त किया गया।"

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(भ० गी०)

गोस्वामी मधुरकलाल
अध्यक्ष

शकुन्तला गोस्वामी

श्रीराधारंजन मन्दिर
राधा निवास, वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

श्रद्धेय गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज के आकस्मिक निकुञ्जवास से सभी रसिकजनों का मन शोक संतप्त हो उठा, ऐसा लगा कि मानों रसिक समाज पर गाज गिर गई, किन्तु समक्ष । "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च"

इस अपरिहार्य सत्य के समक्ष सभी को नत मस्तक होना पड़ता है ।

'सोई सहिय जौ दैव सहाबा''

पूज्य महाराजश्री से हमारे पारिवारिक सम्बन्ध होने से शोक का पारावार नहीं रहा । उनके सद्गुणों की स्मृति-तीव्रतर होती चली गई । "श्रीराधासुधानिधि" स्तोत्र का एक अंश बार-बार स्मरण आता रहा, उसमें श्रीजी के सुन्दर विशेषण महाप्रभुजी ने प्रगट किये हैं । यथा–वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैक सिन्धु ।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीस्वामिनी जी के नाम-रूप-लीला-धाम के ध्यान में निमग्न रहने के कारण पूज्य गोस्वामी जी उनके गुणों से तादात्म्य प्राप्त करते जा रहे थे । श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के हित उन्होंने 'वेणु प्रकाशन' के द्वारा "हित साहित्य" का प्रकाशन करके रसिक समाज में हित धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार किया । उनके द्वारा सम्पादित "हित साहित्य" का स्मरण करके अनेक भाव उर्मियाँ उठने लगीं, उन सबको लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं, तौ भी उनके हित कुछ भाव सुमन श्रद्धाञ्जलि के रूप में अर्पित हैं ।

"अविराम चले हित भाव को लेके, सदा हित भाव जगाते रहे ।
मन जीत लिया, जग जीत लिया, वसुधा को पुनीत बनाते रहे ।।
मन-प्राण की आहुति देके, 'शकुन' मुस्कान के मोती लुटाते रहे ।
हुई धन्य धरा उन्हें पा करके, हित सौरभ वो बिखराते रहे ।।

वृन्दावन वैभव विपुल, हितरस लागो हाट ।
रसनिधि लूटत ललित अलि, आन बिराजे घाट ।।
वृन्दावन भीजत रहत, हितरस की बौछार ।
प्रेम सुधा चखि ललित अलि निरखैं युगल विहार ।।
सब घाटन की बाट तजि, जो आयो यहि घाट ।
श्रीराधावल्लभ लाल को सहजहि पायो ठाट ।।
रसरीति (श्री) हरिवंश की वेणु रहे प्रगटाय ।
ललित लड़ैती रीझ कै, लिये निकुञ्ज बुलाय ।।

।। जय जय श्रीहरिवंश ।। —शकुन्तला गोस्वामी

अनुरागरंजन गोस्वामी

श्रीराधारंजन मन्दिर,
राधा निवास, वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

परम पूज्यनीय गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज के अकस्मात् निकुंज-वास का समाचार सुनकर मन को गहरा आघात पहुँचा। उनके न रहने से राधा-वल्लभीय-सम्प्रदाय की अपूरणीय क्षति हुई है।

श्री श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की वाणी सिद्धान्त के दो दोहे उनके जीवन में प्रगट थे—

सब सों हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।
श्रीराधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ।।१।।

और

तनहिं राखि सत्संग में, मनहिं प्रेमरस भेव।
सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कलपतरु सेव ।।२।।

श्रीहित महाप्रभु के इस उपदेश का अनुसरण करते हुये, वृन्दावन वास करते हुये, निरन्तर सत्संग में रहते हुये वे श्रीजी का नाम एवं वाणी का परिशीलन करते रहे। और अपने मन को प्रिया-प्रियतम के प्रेमरस से सदा भिगोये रहे। श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की रस-रीति से श्रीकृष्ण-कल्पतरु की सेवा करते हुये सदा तत्सुखसुखिता में मग्न रहे। श्रीमहाप्रभु के नेत्रों से श्रीराधावल्लभलाल के मुख कमल के दर्शन करना वे अनन्य रसिकों को सिखाते रहे। रसना से श्रीराधा नाम को रटते रहकर नेत्रों से प्रिया-प्रियतम को निरखते रहकर श्रवणों से उनके ही गुणानुवाद को सुनते रहकर महाराज श्री ने एक आदर्शमय जीवन हम सबको जीना सिखाया।

विशेषतया मेरे निकुंजवासी पूज्य पिता श्रीहित राधारंजन गोस्वामी जी पर उनकी अत्यन्त वात्सल्यमयी प्रीति थी एवं मेरे पिताश्री भी उनसे सत्य-परामर्श लेकर ही कार्य करते थे। अतः उनका अभाव हमें सदैव अखरता रहेगा।

हित की यहाँ उपासना हित के हैं हम दास।
हित विशेष राखत रहौं, चित नित हित की आस ।।

—अनुराग रंजन गोस्वामी

॥ श्री राधारमणो विजयते ॥

॥ जयगौर ॥

श्री स्वामी चैतन्यकृष्णाश्रय तीर्थ (श्री अतुलकृष्ण गोस्वामी)

वैजयन्ती
ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन-२८११२१
दूरभाष : ८२४६७

सन्त शान्ता तीर्थ आश्रम
मोतीझील, वृन्दावन-२८११२१
दूरभाष : ८२४६६

श्रद्धाञ्जलि

(श्री) ललिता चरण गोस्वामी जी सहज विशेष।
राधावल्लभलाल वंश के गौरव शेष॥

साहित्यिक - साधक, उपदेशक रस मर्मज्ञ।
सम्प्रदाय - सिद्धान्त - उपासना विधि के विज्ञ॥

हित हरिवंश भावनामृत के स्वादक सिद्ध।
परम्परा क्रम पूर्वापर के द्योतक शुद्ध॥

उनके रचित ग्रन्थ रत्नों का ललित विकास।
शिष्यों भक्तों को दे संतत अमित प्रकाश॥

संतों को व्रज के रसिकों को अविनाभाव।
उनका तिरोभाव है व्रज का एक अभाव॥

श्रद्धाञ्जलि भावाञ्जलि अर्पित विनत प्रणाम।
व्रज में रहे चिरस्मृत उनका उज्ज्वल नाम॥

—चैतन्य कृष्णाश्रय "तीर्थ"

॥ श्रीराधावल्लभो जयति ॥

केशवलाल गोस्वामी
घाटवाले

फिरोजाबाद

श्रद्धाञ्जलि

किसी महापुरुष के निर्वाण पर उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने की असफल चेष्टा करना, किसी महापुरुष के चरणों में श्रद्धासुमन समर्पण करना, साहित्य एवं समाज की एक अमूल्य परिपाटी को अनवरत बनाये रखने के लिए आवश्यक तो है ही, एक सेवा भी है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि समय-समय पर प्रगट होने वाले ऐसे महापुरुषों के बारे में कुछ लिखने, कहने से पूर्व स्वयं भी एक आत्म अवलोकन की प्रक्रिया के दौर से मनुष्य को गुजरना होता है तब यह विचार उत्पन्न होता है कि उस महापुरुष के सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति ने क्या कुछ पाया, और क्या अपनाया।

इस सन्दर्भ में मेरे द्वारा ऊपर असफल चेष्टा लिखने का तात्पर्य यही है कि श्रद्धासुमन उन्हीं व्यक्तियों के चरणारविन्दों में समर्पित किये जाते हैं, जिन्हें जन्म से ही कुछ ईश्वरीय गुण प्राप्त होते हैं और जो उनका जीवन पर्यन्त निर्वाह करते हैं। अतः उन महापुरुषों के इन्हीं गुणों का जीवन में निरन्तर चिन्तन, मनन और अनुसरण तथा अनुपालन करने वाले व्यक्ति के कार्य व्यवहार को सफल चेष्टा के रूप में देखना होता है।

संसार में अनेकों धर्ममतों, दर्शनों के आख्याता धर्म का सबसे प्रमुख बाधक तत्त्व क्रोध यानी हिंसक चिंतन को स्वीकारते हैं। गुरु महाराज ने क्रोध को त्याग रखा था। उन्होंने प्रिया-प्रियतम के उस अलौकिक प्यार के नैगेटिव संसार की यातनाओं को स्वीकारते हुये हितमय चिंतन समाज की दैवीय स्वरूपा राधा तत्त्व का भलीभाँति मनन और ध्यान जीवन पर्यन्त करते हुये सम्प्रदायके साहित्य में वर्णित "मानमान अपमान सम ... अथवा जीवन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि, चिन्तन, मनन, अवलम्बन और अन्त में निकुञ्ज गमन के तार्किक एवं उसके अदृष्य अचल, अटल नित्य विहार की दैनिक सम्बहन प्रक्रिया को निज जीवन में भलीभाँति जाँचा परखा एवं ध्याया था।

वृन्दावन की लता-निकुञ्जों में प्रिया-प्रियतम के अचल विहार के वाणी वर्णित सिद्धान्तकारों की श्रृङ्खला में जय जय महाराज ने सम्प्रदाय को अपने जीवन के हर क्षेत्र से समृद्ध करने और अपने पूर्ववर्ती महाराज स्वरूपों की इस परिपाटी को जीवन

भर आगे बढ़ाते रहने का विलक्षण कार्य किया था—यथा : जैसा सेवकजी ने सेवक वाणी में उद्धृत किया है—

'अद्भुत विहार हरिवंश हित, निरख दास सेवक जियत ।

अन्त में इतना ही लिखना चाहूँगा कि गोस्वामी श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के इस अखण्ड विहारकी रसपरिपाटीमें उन्हें जहाँ वंशी अवतार माना गया वहीं सेवकजी को प्रियाजी का हृदय स्वरूप देखा गया क्योंकि बगैर उनके सम्प्रदाय की इस गूढ़, प्रेमलक्षणा भक्ति का स्वरूप प्रगट नहीं हो सकता था—भगवान सदा भक्त के वश में देखे गये हैं। यथा—"भक्ति, भक्त, भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक" वंशी और उसके गुरु के पश्चात् यदि तीसरा अंश अवतार ललिता सखी के रूप में जो होना था वह यथानाम तथागुण की उक्ति को चरितार्थ करते हुये सभी के सामने से २४ फरवरी १९९२ को निकुंज गमनस्थ हो गया, ऐसा कह दिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि यही अवतारवाद की प्रक्रिया है। यहाँ ऐसा विचार करना भी अनुपयुक्त होगा कि ५०० वर्ष का यह काल सम्प्रदाय के लिये एक निर्धारित सीमा है जैसा कि सेवकजी ने सेवकवाणी में लिखा है।

जब जब होई धरम की हानि,........मूर सजीवन कह दई" अथवा मंगल में लिखा "गुप्त रीति आचरण प्रगट जग हित किये।" श्रीमहाराज के सान्निध्य को प्राप्त करने वाले नादबिन्दु परिवार के सदस्य उनकी इस अंगीकृत रसपरिपाटी को तन-मन-धन से आगे चलावें यही उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी ऐसा मेरा मानना और समझना है, जैसा कि सम्प्रदाय में ध्रुवदास जी ने अपने ग्रन्थ के माध्यम से एक जगह लिखा है—

इष्ट गुरु और मन्त्र निज, एक रूप रसखान।
इनको तज औरे भजे सो व्यभचारी जान ।।

—गोस्वामी केशवलाल

॥ श्रीहरिः ॥

बाबूलाल गोस्वामी

श्रीविहारीजी मंदिर,
दतिया (म० प्र०)

श्रद्धाञ्जलि

प्रियवर,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के उद्गाता ब्रह्मर्षि-आचार्य श्रीगोस्वामी ललिताचरणजी की स्मृति में 'स्मृति ग्रन्थ' का प्रकाशन किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति में हमारे महान् पुरुषों-पूर्वजों को स्मरण करने तथा उनके आदर्शों से प्रेरणा प्राप्ति की उज्ज्वल परम्परा रही है। आज मनुष्य अनेक विषमताओं से घिरा हुआ न जाने किस दिशा की ओर चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में श्रद्धेय श्रीललिताचरण गोस्वामी द्वारा हस्तामलक की भाँति प्रस्तुत 'प्रेम' ही मनुष्योंमें परस्पर सौहार्द और सर्वजन समभाव का दिशा बोधक है। यद्यपि श्री सेवकजी, श्रीध्रुवदासजी आदिके नाम श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के भाष्यकारों में है, किन्तु वर्तमान पीढ़ी के लिए इनकी भाषा और शैली समझ पाना कठिन है। इस दृष्टि से श्रीगोस्वामीजी ने सुबोध-सरल भाषा तथा नवीन शैली में 'हिततत्त्व' का अभिनव भाष्य अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत कर हम सबको उपकृत किया है। श्रीगोस्वामीजी महाराज मूल रूप में राधावल्लभीय आचार्य तो थे ही, प्रत्युत उच्च कोटि के विचारक, चिन्तनशील साहित्य सर्जक एवं इतिहासज्ञ भी थे। उनके सम्पूर्ण लेखन कर्म में उनका अन्वेषण परक स्वभाव स्पष्टतः परिलक्षित है। उनका व्यक्तित्व विशुद्ध राष्ट्रीय और भारतीय अस्मिता-भावनाओं से परिपूर्ण रहा।

रसिक अनन्य गोस्वामी श्रीहरिराम 'व्यास' जी ने आद्याचार्य श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के निकुंज प्रवेश पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था—'बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगौ ठाठ-सिंगार।' यही अभिव्यक्ति श्रीगोस्वामी के लिए भी चरितार्थ है। मैं समझता हूँ कि राधावल्लभ-सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित साधना पद्धति को वर्तमान सन्दर्भों में मानवोपयोगी बनाने का सर्वप्रथम श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

—बाबूलाल गोस्वामी

❀ श्रीराधावल्लभो जयति ❀

श्रीबालकृष्णदासजी महाराज

वेणु विनोद कुञ्ज,
श्रृङ्गारवट, वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

प्रिय प्राया वृत्ति विनय मधुरो वाचि नियमः,
प्रकृत्या कल्याणो मतिरनवगति परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासित रसं,
रहस्यं साधूनामनुपाधि विशुद्धं विजयते ॥

(जिनकी वृत्ति प्रियता से परिपूर्ण होती है जिनकी वाणी संयमित, विनीत एवं मधुर होती है, जिनकी मति स्वाभाविक ही कल्याणकारिणी होती है, परिचय प्रदान करने वाली जिनकी कृति अनिन्द्य होती है और जिनका हृदय-रस भूत-वर्तमान-भविष्य अर्थात् त्रिकाल में अन्यून रहता है, ऐसे साधूजनों का जीवन-रहस्य सर्वदा विजयोत्कर्ष को प्राप्त करता है ।)

रसोपासना के प्रवर्तक, वेणुवादन पटु के वेणु अवतार रसस्वरूप रसिकाचार्य गोस्वामी श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के वंशावतंश राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य परम पूज्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी महाराज का 'स्मृति-ग्रन्थ' अधिक संसर्गो अन्तरंगतम सौभाग्यवान् की दृष्टि से उनका मूर्तिमान् स्वरूप ही है ।

उन्होंने क्या देखा– रमणीय लता सघन निकुञ्ज-द्रुमावलियों से, नाना पुष्प वाटिकाओं से समावृत सरोवर से सुशोभित, कोकिल मयूर शुक सारिका आदि विहग वृन्दों के कलरव से गुंजित यमुना-पुलिन में श्रीप्रिया-प्रियतम संग विहार निरत सहेलियों ने कोमल हरित तृणाच्छन्न भूमि में बेभान पड़ी हुए मुग्धा सखी को अवलोकन करती हुई कहा—

अर्ध क्षण पूर्व संगिनी यह विहार तन्मय जोहै । क्या ही अवर्णनीय माधुर्य है श्री-मुख का लाड़िली स्फुरित दीख रही है न ! यों कहती हुई ललिता ने सिर पर कोमल करकमल फेरती हुई कहा—हे सखी! भाव में आ जाओ, देखो तुम्हारे सन्निकट "प्रिया-प्रियतम करुणाभरी दृष्टि से देख रहे हैं सत्वर मिलने—फिर क्या था तत् क्षण यह सौभाग्यवती सखी जागृत हो गई—मूर्तिमान् सौन्दर्य-जन्मस्थली श्रीराधावल्लभ के पाद-पद्मनखमणिचन्द्रिका में 'मुख से हे लाड़िली ! लाड़िली मधुर नाम लेते हुए । "ललिता ने इन्हें प्रियाजू के करकमल में ग्रहण कराया—और गमन किये नित्य निकुञ्जोन्मुख !

सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का साम्राज्य था अकथनीय ।

ऐसे सौभाग्य से समलंकृत हम होना चाह रहे हैं ।

—बालकृष्णदास

परमभागवत स्वामी श्रीहितदास
'रसिक पद-रेणु'

श्रीहिताश्रम,
महात्मा गाँधी मार्ग,
वृन्दावन

श्रद्धेय श्रीललित-आचरण

रसिकाचार्य शिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभु पाद की वंश परम्परा अपने विमल कुलोचित आचरण, व्यवहारशील सौजन्य, अनन्य-रस-रीतिमय भजन-चिन्तन एवं निष्पृह अयाचित जीवन-यापन के लिये प्रारम्भ से ही यशस्वी और आदरणीय रही है। आचार्यपाद श्रीश्रीवनचन्द्र जी महाराज, श्रीश्रीदामोदरवरजी महाराज एवं श्रीश्रीरूपलालजी महाराज तो अपने भक्तिमय आचरण के कारण श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीहितजी महाराज के परवर्ती अवतारों के रूप में प्रतिष्ठित एवं पूजित हुए। इस पवित्र वंश की यशस्वी एवं समुज्ज्वल परम्परा का विशद एवं व्यापक वर्णन लेख-कलेवर का विस्तारक बन सकता है अतएव संक्षेप में इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि श्रीवृन्दावनीय निकुञ्ज महल की एकान्तिक रस-रीति के विलास-प्रकाश के लिये जब-जब किन्हीं महापुरुषों के अवतरण की आवश्यकता प्रतीत होती है, तब-तब श्री वृन्दावनेश्वरी ठकुरानी अपनी किसी दासी, सखी, सहचरी को भूतल स्थित श्रीवृन्दावन में अवतरित कर देती हैं। रसिकाचार्य अवतरण की इस कृपामयी शृंखला में हमारे-प्रिय और पूज्य अवतारी महापुरुष थे श्रीश्रीललिताचरणजी महाराज।

विद्याध्ययन के तत्काल पश्चात् ही आपने अपने जीवन को वृन्दावन-वास पूर्वक अपने साम्प्रदायिक साहित्यके अध्ययन-अनुशीलनके साथ नव-निकुञ्ज महल की रसमयी उपासना साधना के लिये सर्वतोभावेन समर्पित कर दिया। व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं से विरत, सहज स्वाभाविक जीवनचर्या, देश-विदेश की यात्राओं से अरुचि और अहर्निश साहित्य-चर्चा, लेखन-पठन-पाठन ही जीवन का प्रमुख अंग बन गया। नाम-जप भजन में आत्यन्तिक निष्ठा और अभ्यास ने जीवन में प्रेम भक्ति को प्रकाशित कर दिया।

श्रीललिताचरणजी महाराज अपने ललित आचरणों से श्रद्धालु भक्तों के श्रद्धेय, पूज्य, गुरु और सर्वस्व बन गये। सहस्रों भक्तों, साधकों ने आपका चरणाश्रय प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य-धन्य किया। आपकी सेवा में भक्तों से जो धन-राशि मिली उसे आपने बड़े ही उदार भाव से जन-सेवा में लगाया। श्रीराधावल्लभलाल की प्रकट सेवा में वैष्णव कमेटी की व्यवस्था और उसका यथावत् संचालन महाराजश्री की सद्भावना

और बुद्धि-कौशल का शुभ फल है। सम्प्रदाय के अकिंचन साधु-सन्तों की अन्न-वस्त्र से सेवा श्रीहित कुल संभूत गोस्वामी गण की विविध प्रकार से अर्थ सहयोग की सेवा आपके उदार मन की स्वाभाविक रुचि थी।

अपने भक्तिमय जीवन के लगभग ८५ वर्ष श्रीवृन्दावन धाम में सुख-शान्ति पूर्वक व्यतीत करके आपने भक्तों के लिये एक जीवनादर्श प्रस्तुत किया।

आज वे शरीर से हमारे बीच नहीं हैं पर शताब्दियों तक उनका विमलयश रहेगा। "कीर्तिर्यस्य स जीवति" आर्ष वाक्य की सत्यता उनके लिये सर्वथा उपयुक्त है।

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी अपने ललित आचरण, सौम्य-शान्त मुद्रा, मन्द मधुर-स्मित और मन्द-मधुर आलाप के लिये सदा स्मृति पटल पर अङ्कित रहेंगे। उनके श्रीचरणों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम।

—स्वामी हितदास

बाबा नागरीदास

श्रीहित नाम सेवा कुंजकुटीर,
श्रीहित अचल विहार,
रमणरेती, वृन्दावन

पूज्यपाद
आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज

श्रद्धाञ्जलि

नमो-नमो जय श्री हरिवंश ।
रसिक - अनन्य वेणु - कुल - मंडन लीला मान-सरोवर हंश ।।
नमो जयति श्री वृन्दावन सहज माधुरी रास-विलास प्रसंश ।
आगम-निगम अगोचर राधे चरण-सरोज व्यास अवतंश ।।

श्रीहित राधावल्लभ - सम्प्रदाय प्रवर्तकाचार्य वंशीस्वरूप हितावतार गोस्वामी श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के वंशावतंश आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज का जीवन अपने आप में परम पुनीत एवं वदनीय है । जिनके स्मरण-मात्र से तन, मन, प्राण परम शीतल होकर श्रीहित राधावल्लभलाल जू के चरणारविन्द का नित्य भ्रमर बन जाता है । जिन भाग्यशाली साधक, उपासक, भक्तजनों को उनका सान्निध्य किंवा कृपा प्रसाद प्राप्त हुआ, वे सब समस्त पारमार्थिक सुखों से परिपूर्ण होकर श्रीश्यामा-श्याम के पदारविन्दों के अनन्य 'अलि' बनकर श्रीवृन्दावन अखण्डवास कर रहे हैं ।

—बाबा नागरीदास

❁ वन्दे बाँके विहारिणम् ❁

सन्त श्रीरामदेव

श्रीस्वामी निकुञ्ज,
ठाकुरगली, अहीरपाड़ा,
वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

सब सौं हित निष्काम मति........

डॉक्टर बुद्धिप्रकाशजी ने एक दिन बातों-बातों में बताया कि श्रीराधावल्लभ-राज श्रीललिताचरण गोस्वामी महाराज ने 'रस-निकुञ्ज' में 'जो तुम राखौ पकरि' शीर्षक के अन्तर्गत लिखी जाने वाली शृंखला अपनी उदार हृदयता के कारण अव-लोकन किया है और उन्हें वह रस-सिक्त रचना प्रभावित कर गई है। मैंने अपना परम सौभाग्य समझते हुये प्रकाशित प्रथम भाग की एक प्रति डाक्टर साहब के माध्यम से उन्हें पहुँचाई। पूर्ण चाव से ध्यानस्थ होकर उन्होंने उसे सुना और कृपा प्रसाद के रूप में 'श्रीहित-वाणी' की एक प्रति 'सन्त' शब्द से सम्बोधित करके मुझे दी।

मैं अन्य व्यस्तताओं के कारण व्यक्तिगत रूप में परम पूज्य श्रीललिताचरणजी को नहीं मिल पाया और पंजाब लौट गया। अगली बार आया तो डॉक्टर बुद्धिप्रकाश जी ने भरे मन से कहा—श्रीललिताचरणजी पधार गए हैं—एक और सन्त श्रीवृन्दावन से उठकर निकुञ्ज की ओर चला गया है।

मन में आया—काश सभी व्यस्तताओं को एक ओर सरका कर उनके चरणों की रज मस्तक पर लगा पाता? परन्तु श्रीविहारीजी जैसा चाहें वही तो होता है। उन्हीं की प्रेरणा से मैंने 'श्रीहित-वाणी' की पुस्तक उठा ली और श्रीस्वामिनी जू के भरोसे उसे समझना प्रारम्भ किया। भक्ति के नए आयाम मेरे सामने खुलते चले गये। कई बार लगा श्रीराधावल्लभ कुल तिलक गोस्वामी जी स्वयं अपने श्रीमुख से मुझे वह रसमयी वाणी सुना रहे हैं। मैंने लताओं के पीछे आकाश पर तैरते मेघ खण्डों के पीछे स्वामिनी जू को मुस्कराते देखा, निकुञ्ज के लता मण्डप में उनकी पग चापों को सुना, प्रियालालजी को प्रिया जू के गले में गलबहियाँ डाले यमुना-पुलिन पर विचरण करते अनुभव किया और वृन्दावन की पवन पर तैरती शीतल मन्द सुगन्ध के मुख से सुना—"ललिताचरण को काल और यम ले जा सकें, इतनी सामर्थ्य उनमें कहाँ? मैंने प्रिया प्रियतम के साथ, निकुञ्ज में बैठे उन्हें बातें करते देखा है।

मैं सोचता हूँ रसिक सन्तों के पास महाकाल क्या लेने आयेंगे ? क्योंकि वे लाड़िलीलाल के अपने बन जाते हैं । जिस हाल में जहाँ भी रहें, गगन-मण्डल में तैरती हवायें उनके प्रेम सन्देश देती रहती हैं ।

श्रीहित-वाणी के पन्नों के बीच श्रीललिताचरणजी का मुस्कराता हुआ चेहरा कहता है "सब सौं हित, निष्काम मति, श्रीवृन्दावन विश्राम—श्रीराधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ।" मैं सोचता हूँ जब तक सब सौं हित निष्काम मति है परम पूज्य ललिताचरणजी मेरे पास से उठकर और कहीं जाने की क्यों सोचेंगे भला ?

रामदेव

।। हितं वन्दे ।।

मगनलाल शर्मा
पूर्व अध्यक्ष,
नगर पालिका, वृन्दावन

तरासवाला मंदिर,
वृन्दावन

एक पावन विभूति

नित्य निकुञ्ज प्रविष्ट आचार्य श्रीललिताचरणजी गोस्वामी वृन्दावन में बीसवीं सदी की ऐसी महान् विभूति थे जिन्होंने महाप्रभु श्रीहित हरिवंश द्वारा संस्थापित एवं प्रतिपादित श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की विशिष्ट वृन्दावनीय रसोपासना तथा प्रेम लक्षणा-भक्ति की सम्प्रदाय के अधिकारी विद्वान के रूप में आज के जिज्ञासु तथा शोधार्थियों की अपेक्षा के अनुरूप विशद् व्याख्या प्रस्तुत की उनके द्वारा लिखित "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" ग्रन्थ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यद्यपि डॉ० श्रीविजयेन्द्र स्नातक महोदय ने इसी कालखण्ड में "श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय:सिद्धान्त और साहित्य"नामक अपने शोध-प्रवन्ध ग्रन्थमें इस सम्प्रदायके सिद्धान्त और साहित्य के विषय में बड़ा निष्पक्ष और युक्ति युक्त विवेचन किया है जो उनकी इस सम्प्रदाय के एतत्कालीन साहित्य के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है, परन्तु सम्प्रदाय के आचार्य के नाते पूज्य गोस्वामीजी द्वारा लिखित—उक्त ग्रन्थ इस युग का दूसरा अधिकृत आलेख है जो भावुक जिज्ञासु एवं शोधार्थियों के लिये ज्ञातव्य सामग्री प्रस्तुत करने वाला है।

जहाँ तक राधावल्लभ-सम्प्रदाय की वर्तमान पीढ़ी के सन्तों और आचार्यों का प्रश्न है उसमें गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज का अपना एक विशिष्ट स्थान है, उन्होंने न केवल अपनी सम्प्रदाय वरन् भक्तिकालीन सभी वैष्णव सम्प्रदायों के साहित्य का सम्यक् अध्ययन किया तथा अपने द्वारा उल्लिखित कतिपय रचनाओं में आज के जिज्ञासु एवं शोधार्थी अध्यक्षताओं की आकांक्षा और अपेक्षाओं के अनुरूप श्रीहित सम्प्रदाय के गहन तत्त्वों की मार्मिक व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं।

उनकी साहित्य और संगीत दोनों में ही अच्छी अभिज्ञता और अभिरुचि थी। राधावल्लभीय-वाणी साहित्य में गायन की एक विशिष्ट परिपाटी है जिसे समाज गायन कहा गया है, जहाँ तक मैंने स्वयं अनुभव किया गोस्वामीगण में वे एक ऐसे

भावुक विभूति थे जो मन्दिर की समाज सेवा में सर्वाधिक सम्मिलित होते थे राधा-वल्लभीय गोस्वामीगण के परम्परागत अभिजात्य का भी उन्होंने भली भाँति निर्वाह किया।

वर्तमान में ठाकुर श्रीराधावल्लभजी महाराज की सेवा-व्यवस्था में उनका योग-दान अनुपम था।

अपने जीवन के उतरकाल में उन्होंने स्वयं हिततत्त्व की साधना में रत रहकर लोकहित में भी अपनी क्षमताओं का परिपूर्ण समर्पण किया। विभिन्न ट्रस्टों के संचालन के माध्यम से वे दीन दुःखियों, विद्यार्थियों आदि को अन्न, वस्त्र और छात्र-वृत्तियाँ आदि निरन्तर वितरित करते रहे। इस प्रकार हम सभी ने अनुभव किया कि गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज ने अपने जीवन और आचरण में महाप्रभु श्रीहित हरिवंशजी की उस रसरीति और सिद्धान्तवाणी को पूरी तरह चरितार्थ किया, जो उनकी रचना में इस प्रकार कही गई है—

सबसौं हित निष्काम मति, श्रीवृन्दावन विश्राम।
श्रीराधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम॥

इन कतिपय शब्दों के साथ मैं उस महान् विभूति की पावन-स्मृति में अपनी सम्पूर्ण श्रद्धाञ्जलि और भावांजलि समर्पित करते हुए अपनी कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ।

—मगनलाल शर्मा

अयोध्यानाथ शर्मा
एम० ए०, डी० लिट्० (मानद)
साहित्य वाचस्पति

"साकेत"
८/१३१ आर्यनगर,
कानपुर-२०८००२

श्रद्धाञ्जलि

प्रिय महोदय,

मुझे जानकर बड़ा सुख मिला कि प्रात: स्मरणीय रसिकाचार्य महाप्रभु गोस्वामी श्रीहित हरिवंश के वंशज, आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी जिनकी लोक यात्रा गत फरवरी २४ को समाप्त हुई है, उनके पुण्य श्लोक को मनाने के लिये, उनके शिष्य, भक्त तथा प्रशंसकों ने कृतज्ञता प्रकाशन हेतु एक "स्मृति-ग्रन्थ" निकालने का निश्चय किया है।

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। इन्होंने राधावल्लभीय सिद्धान्तों एवम् साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। जिनका प्रचार तथा प्रसार करना ही उनके जीवन का उद्देश्य था। संगीत शास्त्र के अधिकारी विद्वान थे। संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित होने साथ ही उनकी अंग्रेजी में अपनी पैठ थी। वे सफल एकांकीकार, कुशल कवि तथा समीक्षक थे। हिन्दी में सरस्वती के भण्डार की वृद्धि में आपका योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

गोस्वामीजी ने शैशव काल में ही यवनोद्धार नाटिका का सृजन किया था। आपके आठ मौलिक ग्रन्थ हैं, जिनमें से दो प्रकाश्य हैं। उनका LOVE IS GOD मुद्रणाधीन है। इनके अतिरिक्त दस अनुवादित ग्रन्थ हैं। उनका "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी: सम्प्रदाय और साहित्य" ग्रन्थ बहुचर्चित है। इसकी विद्वानों ने मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। इनके सभी ग्रन्थों के मूल में सम्प्रदाय का प्रचार तथा प्रसार ही निहित है। उनको इस दिशा में अपूर्व सफलता मिली है। वे राधावल्लभीय-सम्प्रदाय के स्तम्भ थे।

आज से इकसठ वर्ष पूर्व गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी, कानपुर सनातन धर्म कालेज के छात्र थे। मुझे स्मरण हो आया कि एक विद्यार्थी धोती कुरता और खड़ाऊँ पहिने एक छात्र था जिसकी मुखाकृति सुन्दर और सौम्य थी और शरीर भरा हुआ, अन्य छात्रों से भिन्न होने के कारण मुझे ध्यान है। मैं समझता हूँ कि वह छात्र श्रीललिताचरण ही थे जिनकी स्मृति गुप्तजी के संकेत से हरी हो गई।

मैं इस स्मृति ग्रन्थ जो उनके अनुरूप ही होगा तथा आयोजन की सफलता की शुभकामना करता हूँ।

—अयोध्यानाथ शर्मा

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

द्वारा प्रकाश्यमान

संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय
प्रधान सम्पादक

विद्या विलास
३७ बी. रवीन्द्रपुरी
लेन नं० १७, दुर्गाकुण्ड
वाराणसी-२२१००५

श्रद्धा-सुमन

श्रीवृन्दावन रसोपासना एवं राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य श्रीहित हरिवंश गोस्वामी जी के वंशज आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी जी प्रेमोपासना के रसिक उपासक थे। वे अपने आचार-विचार, लेखन-उपदेश के द्वारा श्रद्धालुओं के पथ प्रदर्शक तथा गवेषणात्मक लेखन के धनी थे। यह वैष्णव-सम्प्रदाय अपनी हित साधना के द्वारा वैष्णव सम्प्रदायों में अग्रगण्य माना जाता है। श्रीराधिका जी इनकी उपास्या हैं। उन्हीं के विहारविपिन में अपने मन के रमण करने के लिए श्रीहित हरिवंशजी का विशेष आग्रह है। उनका यह प्रसिद्ध पद्य वैष्णवजनों में सर्वथा प्रख्यात है—

राधा करावचित-पल्लव-वल्लरीके,
राधापदाब्ज-विलसन्मधुरस्थलीके ।
राधा यशोमुखारमत्तखगावलीके,
राधा-विहार-विपिने रमतां मना मे ॥

(श्रीराधासुधानिधि १३)

श्रीराधासुधानिधि (श्लोक ७६) में आचार्य जी ने राधावल्लभ-तत्त्व की एक झांकी इस पद्य में बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत की है।

यद् वृन्दावनमात्र गोचर महो यन्न श्रुतीकं शिरोऽ-
प्यारोढुं क्षमते न यच्छिव-शुकादीनं तु यत्ध्यानगम् ।
यत् प्रेमामृतमाधुरी रसमयं यन्नित्यकैशोरकं
तद् रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ॥

(श्रीराधासुधानिधि ७६)

श्रीहरिवंश चन्द्र महाप्रभु ने बताया है कि यह नित्यविहारी तत्त्व समस्त वेद, उपनिषद् एवं शास्त्रों में अलक्षित और अगोचर है। वेदादि उस तत्त्व को 'रसो वै सः' कहकर केवल संकेत मात्र करता है, यह श्रुति अलक्षित तत्त्व श्री राधावल्लभलाल हैं। यह तत्त्व सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ब्रह्म के भी ब्रह्म हैं। इन्हें सृष्टि-स्थिति से कोई प्रयोजन नहीं है। ये अपने नित्य रसमें मग्न रहकर अपनी निजरूपा स्वामिनी श्रीराधाजी के साथ सानन्द विहार करते रहते हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दो नहीं, एक ही तत्त्व हैं। ये दो ही क्यों ? सारा नित्यविहार परिकर ही एक तत्त्वरूप है। ये राधा या श्रीकृष्ण प्रेमरस, लावण्य, अति कृपा तथा छबिरूप अमृत के अपारसिन्धु हैं—वे इनके सार भी हैं तभी तो आचार्य का कथन है—

लावण्य-सार-रससार-सुखैक सारे,
कारुण्य-सार-मधुरच्छवि-रूप सारे ।
वैदग्ध्य सार-रसकेलिविलास सारे
राधाभिधे मम मनोऽखिलसारसारे ।।

—श्रीराधासुधानिधि २५

श्रीहित ललिताचरण जी इसी सम्प्रदाय के उदात्त आचार्य थे। उन्होंने अनेक मार्मिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें श्रीहिततत्त्व तथा श्रीहित सम्प्रदाय के गम्भीर तथ्यों का विधिवत् उन्मेष किया गया है। वे सम्प्रदाय के मान्य आचार्य थे जिन्होंने अपने उपदेशों, प्रवचनों तथा रचनाओं के द्वारा इस प्रेमतत्त्व के प्रचुर प्रचार में अपना जीवन ही व्यतीत कर दिया। ऐसे महनीय आचार्य शिरोमणि की पुण्य स्मृति में मेरा स्वल्पकाय शाब्दिक अभिनन्दन स्वीकृत हो—यही मनोकामना है।

—बलदेव उपाध्याय

फोन : २४२६०४
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तदास टण्डन हिन्दी भवन
हजरतगंज, लखनऊ-२२६ ००१

डा० शरणविहारी गोस्वामी
कार्यकारी उपाध्यक्ष

दिनांक २०-७-९२
शिविर : श्रीधाम वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीहित हरिवंश गोस्वामीजी ने जगत् में जिस अनिर्वचनीय प्रेमतत्त्व की अवतारणा की है, वह मानवता के लिए सर्वदा प्रासंगिक और लोकोपकारी है। सम्प्रदाय के समस्त समकालीन एवं परवर्ती आचार्य-रसिकों ने उसी मंगलमय हिततत्त्व का गान अपनी पुनीत वाणियों में किया है, जिससे व्रजभाषा-साहित्य की भी अपूर्व श्रीवृद्धि हुई है।

आधुनिक साँस्कृतिक पुनर्जागरण काल में उसी हित-तत्त्व के चिन्तन-मनन एवं युगानुकूल भाषा में उसकी व्याख्या का कार्य आचार्य श्रीललिताचरणजी गोस्वामी ने किया है। आँग्ल शिक्षा-पद्धति से अध्ययन करने के कारण वे समाज के सभी वर्गों की भावनाओं से परिचित थे, अपने साहित्यिक प्रयासों से वे समाज-सुधार के शंखनाद के साथ ही हिन्दी की सेवा में तत्पर रहे थे और कलम के कौशल के अधिकारी बन चुके थे इसलिये श्रीधाम वृन्दावन में वापिस आकर जब उन्होंने अपने आध्यात्मिक वैभव का साक्षात्कार किया तो वे मात्र साहित्यकार न रहे, साधना के माध्यम से रसिकों द्वारा अनुभूत लीलानन्द को उन्होंने अपने अन्तर में भी अनुभव किया और उस परम प्रेम-तत्त्व की अनुभूति का प्रकाश उनमें जगमगाता था, जिसका अनुभव बहुतों ने किया है। मैंने भी किया है। फिर तो उन्होंने अपने को भजन, सेवा, समाज, प्राचीन स्थलों के पुनर्निर्माण और उनकी व्यवस्था, जन-सहायता, रस-साहित्य के लेखन-प्रकाशन, सत्प्रेरणा एवं सन्मार्ग-दर्शन में ही लगा दिया। इस युग में स्वयं रस में भीग कर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को जीवंत रूप में एवं भाष्य रूप में जो पद्धति-सरणी उन्होंने तैयार की है, वह बड़े महत्त्व की है।

मैं उनके प्रेरणामय व्यक्तित्व से इसलिये भी सदा प्रभावित रहा कि वे सम्प्रदाय सिद्धान्तों को सार्वभौमिक रूप में व्याख्यायित करते थे और सम्प्रदाय की सीमा और व्यापक सत्य में कहीं टकराव होता तो वे बिना किसी संदेह के व्यापक सत्य के पक्ष में खड़े होते । उनकी आध्यात्मिकता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है ।

ऐसे लीलारस-आस्वादक और मौलिक चिन्तक अब सहज ही कहाँ मिलेंगे ? उनके निकुञ्जवास से हम सब, जो भौतिक जगत् की सीमाओं में निवास करते हैं, एक महात्मा के मार्ग-दर्शन से वंचित रह गये हैं ।

उनकी स्मृति को शत-शत प्रणाम !

—(डॉ०) शरणविहारी गोस्वामी

डॉ० नगेन्द्र
सम्मान्य आचार्य,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
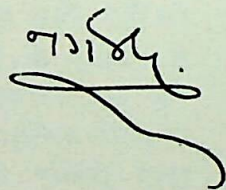
१३४, वैशाली,
दिल्ली-३४

श्रद्धांजलि

आचार्य ललिताचरण गोस्वामी राधावल्लभ भक्ति-दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान थे। मधुरोपासना उनका सिद्धान्त नहीं जीवन-विधि थी। सम्प्रदाय से सम्बद्ध साहित्य का उनके निजी पुस्तकालय में भंडार था जिसका लाभ उठाकर विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोध-छात्र अपना अनुसंधान कार्य पूरा करते थे। आचार्य गोस्वामी से उन्हें प्रामाणिक सामग्री ही उपलब्ध नहीं होती थी वरन् उचित मार्गदर्शन भी मिलता था।

उनके निधन से सम्प्रदाय की ही नहीं, हिन्दी साहित्य की भी क्षति हुई है।

मैं उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

नगेन्द्र

—डॉ० नगेन्द्र

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ए-५/३, राणाप्रताप बाग,
दिल्ली-७

श्रद्धांजलि
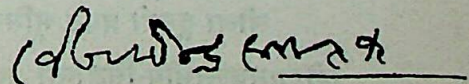
मान्यवर श्रीगोस्वामीजी,

सादर जय श्रीराधे ! श्रद्धेय गोस्वामी श्रीललिताचरणजी के निकुंज-प्राप्ति के शोक समाचार का पत्र पाकर मुझे अत्यधिक दुःख हुआ। मैं उन्हें वैष्णव मन्दिर का आधार खम्भ मानता था। राधावल्लभीय भक्ति-साहित्य के तो वे मर्मज्ञ विद्वान् थे। मैंने उनसे अनेक गूढ़ विषयों का ज्ञान अर्जित किया था। उनके चले जाने से जो स्थान रिक्त हुआ है वह कैसे पूरा होगा और कौन उसे भर सकेगा, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। गोस्वामीजी ने अपने जीवन में समाज को जो दिया वह सदैव स्मरणीय बना रहेगा।

उनके किसी शिष्य ने उनसे वह ज्ञान प्राप्त नहीं किया जो उनके पास संचित था। उनसे बात-चीत करते समय भी धर्म और अध्यात्म की सूक्ष्म बातें सामने आती थीं। यदि वे अपने लेखन को सतत बनाये रखते तो वैष्णव-भक्ति का विपुल साहित्य हमें दे सकते थे। अब तो हम अपने को अभागा ही कहेंगे। ज्ञान की निधि हम से छिन गई।

मैं उनके समस्त परिवार के साथ अपनी समवेदना प्रकट करता हुआ श्रीहित महाप्रभु से उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ।

शोकसंतप्त—

विजयेन्द्र स्नातक

विजयेन्द्र स्नातक

कैलाश चन्द्र भाटिया
पूर्व निदेशक

वृन्दावन शोध संस्थान,
रमणरेती मार्ग,
वृन्दावन

श्रीललिताचरण गोस्वामी : नमन

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अधिकारी विद्वान् थे। उन्होंने बहुत प्रामाणिक पुस्तक 'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' की रचना की, जिसमें सम्प्रदाय के हित तत्त्व की बड़ी स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की। संसार में हित स्वरूप हरिवंशजी आराधक रूप में अपने ही आराध्य हित स्वरूप की आराधना करते हैं क्योंकि 'हित' में ही सब समाहित था। उनकी मान्यता थी कि—

> "सम्पूर्ण भगवद् स्वरूप एवं उनके उपासक, सम्पूर्ण दृश्य-अदृश्य प्रपंच एवं उनके अभिमानी देवगण तथा सम्पूर्ण जीव सृष्टि भगवत्-स्वरूप प्रेम की मधुर लीला की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रेम दृष्टि के द्वारा ही उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है।"
>
> —हि० गो० सं० सा०—पृष्ठ ६

उन्होंने कई बातें स्पष्ट कीं जिनमें से कुछ ये मननीय हैं :—

१— सखी चार भाव से युगल की सेवा करती हैं, पुत्रवत् भाव से, मित्रवत् भाव से, पतिवत् भाव से और आत्मवत् भाव से।

२— इन दोनों (राधा-कृष्ण) की परस्पर की रति का स्वरूप 'प्रेरित' प्रेम है, जो इन दोनों के भीतर-बाहर स्थित रहकर इनका पोषक, नियामक एवं प्रेरक होता है।

३— नित्य विहार परात्पर तत्त्व प्रेम की प्रथम प्रगट भूमिका है और ब्रज-लीला दूसरी प्रगट भूमिका। प्रथम ध्येय है तो द्वितीय ज्ञेय।

श्रीराधावल्लभीय-सिद्धान्तों तथा साहित्य का उन्हें बड़ा गम्भीर ज्ञान था, जिसका प्रस्फुटन उनके अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

सन् १९८८ में जब वृन्दावन शोध संस्थान में 'भावरूप श्रीकृष्ण' पर अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन मैंने किया था तो आचार्य प्रवर से निवेदन किया था कि वह इसमें श्रोताओं के समक्ष राधावल्लभीय-सम्प्रदाय की दृष्टि से राधा श्रीकृष्ण का पक्ष उजागर करें, जिसकी उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी थी पर अस्वस्थता के कारण उसमें उपस्थित नहीं हो सके।

मुझे जब उनके निकुंज गमन का समाचार प्राप्त हुआ तो विश्वास ही नहीं हुआ क्योंकि उसकी पूर्व सन्ध्या में उनको राधावल्लभ जी के मन्दिर में विग्रह के दर्शन करते मैंने नमन किया था।

ऐसे विद्वान् रसिक शिरोमणि आचार्य श्रीललिताचरण जी गोस्वामी को मेरे शत-शत प्रणाम।

—कैलाशचन्द्र भाटिया

सुधाकर पाण्डेय
प्रधानमन्त्री

नागरी प्रचारिणी सभा,
वाराणसी

विषमयी सृष्टि में रसामृत

समादरणीय आचार्य गोस्वामी श्री ललिताचरण जी महाराज का दर्शन मैंने उनके आवास पर लगभग १५ वर्ष पूर्व किया था। वे मुझे रसलीन ऐसे प्रकाण्ड विद्वान भासित हुए जिन्होंने राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तःकरण में प्रवेश कर ऐसे मणिमय तत्त्वों को पाया था, जिनकी आभा में वे उसकी सहज किन्तु गंभीर प्रभा आज के परिवेश में प्रस्फुटित कर सके जो अपने गुण धर्म के कारण ज्ञान की विभूति हैं। वे नाटककार, संगीत रसिक और अपने सम्प्रदाय के सार्वभौम ज्ञाता एवं व्याख्याता थे।

उनकी स्मृति उन सबका पाथेय बने जो विषमयी सृष्टि में रसामृत के अवगाहक हैं, ऐसी मेरी हार्दिक कामना है।

–सुधाकर पाण्डेय

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

डी० लिट्०

साहित्य शास्त्राचार्य, साहित्यनिधि,

परशुरामश्री

भूतपूर्व विभागाध्यक्ष (हिन्दी), एमेरिटस फैलो यू०जी०सी०, अतिथि आचार्य
विभिन्न विश्वविद्यालय,

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

उज्जैन,
दिनांक २०-७-९२

श्रद्धाञ्जलि

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी के सारस्वत व्यक्तित्व की मेरे मानस पर एक अमिट छाप है। हित-सम्प्रदाय पर वृन्दावन में रसावतार श्रीहित हरिवंश महाप्रभु सांस्कृतिक संस्थान ने संगोष्ठी आयोजित की थी। यह तो नितान्त सुस्पष्ट है कि हित-सम्प्रदाय 'हित' को ही तत्त्व मानता है और स्वामी तथा स्वामिनी को उसीका लीला द्वैधी भाव। द्रवशील आराधक इसी रसमयी लीला रस का अपनी शुद्ध वासना के अनुरूप आस्वाद लेता है। मेरी ही क्या भक्ति रसार्णवकार स्वामी करपात्रीजीका समस्त निगमागम मंथनपूर्वक निष्कर्ष है कि भक्ति चिदाह्लादमयी अंतरंगा शक्ति ही है जो व्यापक और एक है। अतः यदि 'भक्ति' और 'हित' को अभिन्न मान लिया जाय तो वह शक्ति स्वरूपा ही पड़ती है। समरस चरमसत्ता का वह विमर्शमय 'स्वभाव' है। मैं इसी अभिनिवेश से संगोष्ठी में उपस्थित था और उस संगोष्ठी का अध्यक्ष भी उस सत्र में मनोनीत था।

संयोगवश गोस्वामीजी का भी उस गोष्ठी में शुभागमन हो गया। शुभागमन उनके भाषण द्वारा चरितार्थ हुआ। भाषण 'हित तत्त्व' पर था। विना जिज्ञासा के ही 'शक्ति' को पूर्वपक्ष बनाकर 'हित' पर इतना गम्भीर और वृहद् वक्तव्य दिया कि मैं स्तब्ध रह गया। लगा कि वृन्दावन और वहाँ के मनीषी ऐसी चेतना से आपूरित हैं, जिनमें जिज्ञासुओं की जिज्ञासा-पिपासा को स्वतः स्फूर्ति ढंग से समाहित करने की अभूतपूर्व क्षमता है। उनका वह स्वतः स्फूर्ति आस्वाद वक्तव्य मुझे आज भी स्मृत है। इन्हीं शब्दों में उस दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी भावाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

—राममूर्ति त्रिपाठी

डॉ० अवधविहारीलाल कपूर
पूर्व प्राचार्य–पी.ई.एस. (प्रथम श्रेणी)
राजकीय महाविद्यालय उत्तर प्रदेश

श्रीराधारमण मार्ग,
वृन्दावन

आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी

श्रद्धांजलि

आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी रसिक संत तो थे ही, चोटी के विद्वान भी थे। साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में उनका योगदान अविस्मरणीय है। पर उनका सबसे बड़ा अवदान यह है कि उन्होंने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" के माध्यम से राधावल्लभ - सम्प्रदाय के रस-सिद्धान्त को दार्शनिक जामा पहना कर अन्य सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्त के समकक्ष दर्शन-शास्त्र के मंच पर ला खड़ा किया।

–डॉ० अवधविहारोलाल कपूर

प्रो० गोविन्द शर्मा
सम्पादक

श्रीसर्वेश्वर कार्यालय,
श्रीजी की बड़ी कुंज, वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक रसावतार गोस्वामी श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के वंशावतंस आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी के निकुञ्ज प्रवेश से सम्प्रदाय अथवा वृन्दावन की ही नहीं अपितु समस्त रसिक-समाज और साहित्य-संसार की अपूरणीय क्षति हुई है। उनके मृदु, मधुर और सौहार्दपूर्ण स्वभाव तथा अनुकरणीय आचरण ने उन्हें सभी के लिए परम श्रद्धेय बना दिया था।

सब सौं हित निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।
श्रीराधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान मुख नाम॥

श्रीहित महाप्रभु के इस उपदेश को उन्होंने अपने जीवन और व्यवहार में उतार कर चरितार्थ किया था। ऐसी दिव्य विभूति को श्रीसर्वेश्वर परिकर की हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

—प्रो० गोविन्द शर्मा

भागवताचार्य श्यामसुन्दर शास्त्री

पारमार्थिक संस्थान,
भागवत निलयम्,
सेवाकुञ्ज, वृन्दावन

शिष्य संताप हारी आचार्य वर्य

श्रद्धाञ्जलि

पूज्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी की स्मृतिमें ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है, जान कर बहुत प्रसन्नता हुई। इस कार्य में संलग्न सबके सब उन्हीं महापुरुष की भाँति वंदनीय हैं एवं भूरि-भूरि प्रसंशा के पात्र हैं। क्योंकि वे स्मरणीय थे। उन्हें श्रीराधा-वल्लभीय-सम्प्रदाय के विशिष्ट उन्नायक के रूप में सदा स्मरण किया जाता रहेगा। मैंने अब तक जितने सत्पुरुष, सदाचारी महापुरुषों के दर्शन किये हैं उनमें श्रीआचार्य-चरण का दिव्य अलौकिक, विलक्षण प्रभाव था। वे घाट वाले महाराज के नाम से वृन्दावन में प्रसिद्ध थे। जीवन भर उनकी इष्ट-निष्ठा, हित-निष्ठा अविचल रही। उनकी प्रत्येक क्रिया उपासना संगत होती थी। चलें कहीं भी, करें कुछ भी, बातें किसी से भी करें, किन्तु उनकी अन्तर वृत्ति अविचल मानसिक उपासना में लगी रहती। उनके दर्शन से अनेकों सत्प्रेरणायें मिलती थीं। वे प्रेरक-जीवन से अवतीर्ण थे। आचार्य महामनस्वी-सत्पुरुष थे—यह अनेकों बार देखा है, व्यवहार जगत् में सबके साथ यथा-योग्य अभिनय करते और फिर अपनी नित्य-स्थिति में अवस्थित हो जाते थे। उन्होंने अपने समय को सुष्ठु दिनचर्या में बाँध रखा था। उनके पास व्यर्थ समय नहीं था। श्रीसेवकवाणी के अनुसार 'कबहुक काल वृथा नहि जाय' उनका समय एक क्षण भी व्यर्थ नहीं होता था। मंगला से शयन पर्यंत, शयन से मंगला पर्यन्त भावनाओं में डूबे रहते।

उनके ललित आचरण में श्रीहिताचार्य का प्रतिबिम्ब था। परम आराध्य श्री राधावल्लभलाल के प्रति वे निष्ठावान् अपनी युवावस्था से ही स्वाभाविक हो गये थे। उनकी स्मित-हास्ययुक्त सीमित मधुर बोलचाल, चितवन में सबके प्रति प्रेम तो झलकता ही था, परन्तु संयम भी प्रत्यक्ष देखने में आता। उनकी कृपा-छत्रछाया में आकर अनेकों दम्भी लोगों को भी उत्तम रसिक भक्त बनते देखा गया है। गरीब-अभावग्रस्त लोगों के प्रति महाराजश्री का उपकार बेजोड़ था। वे स्वयं भी देते रहते और अन्य सेवक शिष्यों को भी देने की प्रेरणा देते थे। उनका पूरा जीवन समर्थ प्रभु की भाँति प्रदाता रूप में रहा है।

अन्न, वस्त्र, कम्बल-रजाई आदि मौसम के अनुरूप साधु-सन्त असहाय लोगों को देते-दिलाते रहते। राधावल्लभीय-सम्प्रदाय के उत्थान के लिये अनेकों कार्य किये और करवाये, मन्दिर की आय में वृद्धि, सेवा कार्यों में विकास आदि। मेरा उनके सम्पर्क में

किसी न किसी प्रकार न्यूनाधिक ३५-४० बर्ष रहने का सौभाग्य रहा। छात्र जीवन में उनके अनुज पूज्य चरण श्रीश्री गोस्वामी गोपाललालजी शास्त्री के समीप पढ़ने जाते और वहीं उनके दर्शन सहज स्वाभाविक रीति से होते थे। उस समय सेवकों का विशाल बाहुल्य नहीं था, फिर भी प्रायः बहुत लोग इनके पूर्बजों और इनके शिष्यत्व से आकृष्ट होकर आते रहते थे। कभी पढ़ते मिलते, कभी ग्रन्थ लिखते मिलते, कभी सत्संग चर्चा, कभी इष्ट चिन्तन की धारणायें सिखाते, कभी सेवा में रुचि लगाने की त्रिविध विधियाँ बताते। जब भी मिलन होता—चिन्तन, मनन, अनुशीलन, सेवा, हित साधन के विविध आयाम इनसे अवश्य मिलते—जिनका आभास करने पर असीम कार्य क्षमता, अपूर्व उत्साह और आत्म शान्ति होती थी। निर्विवाद रूप से इनके शान्त-सौम्य-व्यक्तित्व में हितचन्द्र की मनोरम झाँकी होती रहती।

कथनी-करनी में ये एक रूप हो गये थे। जो कहते उसका पालन भी अवश्य करते। प्रायः इस प्रकार के बहुत कम लोग ही इस धरा-धाम में देखे जाते हैं। शास्त्रों में आचार्य का लक्षण इस प्रकार मिलता है—"समस्त शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन करें और उसमें से अपने काम आने वाली रीतियों को ग्रहण करें। स्वयं नित्य-आचरण करें, और अन्यों को आचरथ करने की पद्धति सिखावें उसे आचार्य कहते हैं। श्री महाराजजी सच्चे आचार्य, प्रवुद्ध रसरीति प्रवक्ता, मार्मिक संभाषणकर्त्ता सफल हित प्रवोधक रहे हैं। आने वाले निकट भविष्य में इनकी क्षतिपूर्ति असम्भव है। यूं तो भारत-भूमि मन्त्र-दृष्टा ऋषियों महान् महर्षियों की, तपः पूतात्माओं की प्राकट्य स्थली है। इस 'भू' माँ की गोद कभी खाली नहीं रहती। किन्तु श्रीहिताचार्य हरिवंशचन्द्र महाप्रभु की रसरीति के सुबोध, समर्थक, समर्पितात्म जन कम ही होते हैं। क्योंकि हिताचार्य महाप्रभु ने निगमागमसार सर्वस्व उपासना-भजन-पद्धति की ओर इङ्गित किया है। जो सर्वगम्य विषय नहीं है। इस परम पावन 'सौरत रसरूप नदी' का अवगाहन कोई विरले ही कर पाते हैं। तार्किक लोग तो इस जगत पावनी सरिता के तीर से ही दूर हट जाते हैं। वे अभागे सरिता के किनारे भी प्यासे रह जाते हैं।

—भागवताचार्य श्यामसुन्दर शास्त्री

पं० श्रीकृष्णचन्द्र शास्त्री
(श्रीठाकुरजी)

श्रीकृष्ण प्रेम संस्थान,
२५७, सेवाकुंज, श्रीधाम वृन्दावन

श्रद्धांजलि

हितोपासक के प्राकटचकर्ता वंशी के अवतार श्रीहित हरिवंशजी के वंशावतंस आचार्य श्रीहित ललिताचरण गोस्वामीजी महाराज उसी आचार्य परम्परा के स्तम्भ रूप रहे हैं, जिन्होंने साहित्य, कला, पूजा की आध्यात्मिक परम्परा एवं श्रीराधा-वल्लभलाल के चरणों में भक्तों की अखिल भक्ति जाग्रत करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। जो आज श्रीलाड़लीजी की निज सहचरी के रूप में नित्य निभृत निकुञ्ज में विराजमान श्रीप्रिया-प्रियतमलाल का मुखोल्लास कर रहे हैं, उनके चरणों में हमारा कोटि-कोटि प्रणाम।

—पं० श्रीकृष्णचन्द्र शास्त्री

डॉ० नन्दकुमार आचार्य पी-एच०डी०
अध्यक्ष–निलय जनकल्याण संस्थान

भागवत-धाम,
सेवाकुंज, वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

भारतीय मनीषा व्यक्तित्व की अपेक्षा कृतित्व को विशेष महत्त्व देती है। इस कथन की निकष पर आचार्यवर्य्य श्रीललिताचरणजी महाराज खरे उतरते हैं। एकाँकी नाटिका, स्फुट लेख, पदावली, विभिन्न आयोजनों में जनता-जनार्दन के सन्मुख दिये प्रवचन, कुशल सम्पादन, 'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य', शोध ग्रन्थ के प्रणेता जैसे श्लाघनीय गुण महाराजश्री के बहुआयामी कृतित्व के परिचायक हैं।

गौरवर्ण, सहज स्वभाव के धनी महाराजश्री का वात्सल्य आजन्म हृदय पटल पर अंकित रहेगा।

—डॉ० नन्दकुमार आचार्य

डॉ0 केशवदेव शर्मा
हिन्दी विभाग

सनातन धर्म कालिज,
पलवल-१२११०२

बहुमुखी साहित्य प्रतिभा सम्पन्न आचार्य गो० श्रीहित ललिताचरणजी के प्रति

श्रद्धांजलि

साहित्य समाज के समसामयिक उत्तरदायित्वों के प्रति सचेष्ट रहता हुआ भविष्य का मार्गदर्शक है। मानव के विचार, कल्पना, चिंतन एवं महानता अतीत के दर्पण में झांकती हुई उसके अन्तस्तल से प्रस्फुटित अभिव्यक्त रूप साहित्य में ही झलकती है। ऐसी ही महानता को अपने अन्तरङ्ग में संजोए श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य श्रीहित हरिवंशजी के वंशज श्रीललिताचरण गोस्वामी थे, जिन्होंने एक उत्कृष्ट सम्प्रदाय की भक्ति-साधना का प्रचार-प्रसार करने के साथ-साथ आधुनिक काल में प्रचलित हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अपने संप्रदाय की भक्ति-उपासना की मर्मज्ञता का परिचय स्वलिखित ग्रन्थ 'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य' में दिया है, जिसके सम्बन्ध में प्रकाशन के समय हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों के विचार पुष्ट प्रमाण हैं।

प्रातः स्मरणीय आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी का हिन्दी एकांकी नाटक के विकास में सम्यक योगदान है, क्योंकि 'विशाल भारत' पत्र में जब इनके चार एकांकी नाटक प्रकाशित हुए, तब तक एकांकी नाटक बीज रूप में ही फूल रहा था। इनका चिंतन-क्षेत्र संकीर्ण न होकर विशद था, उदाहरण के लिए 'यवनोद्धार नाटिका' द्वारा भगवान् की अनन्त शक्ति का प्रतिपादन किया गया है तो वहीं दूसरी ओर 'अछूत' जैसी भावना पर कहानी लिखकर सार्वभौम भक्तिभाव का परिचय दिया है। इनके निबन्धात्मक शैली में लिखे गये लेख भी इनकी मौलिकता एवं विशेष दृष्टिकोण के प्रतिपादक हैं। गोस्वामीजी अपने आप में साक्षात् एक ऐसे विलक्षण व्यक्ति थे, जो धर्मनिष्ठा, श्रीराधा-वल्लभलाल के नैष्ठिक आराधक एवं समाज के देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति चमत्कृत रहे और आने वाले समय में उनके हृदय से निःसृत अनुभूतिपरक चिंतनमय रचनाएँ उनकी उपादेयता को बोधित कराती रहेंगी।

ऐसी दिव्यविभूति, जो आजीवन सम्प्रदाय की परम्पराओं को अपने आराध्य श्रीराधावल्लभलाल की सत्प्रेरणा पाकर सुदृढ़ता प्रदान करने के साथ-साथ उसे समसामयिक वातावरण के अनुकूल साहित्यिक कलेवर में गढ़ते रहे, का ८४ वर्षीय अवस्था में इहलोक से निकुंज गमन २४ फरवरी, सन् १९९२ को हो गया। जहाँ वे श्रीराधावल्लभलाल की नित्य निकुंज लीलाओं में रसमय हो गए हैं, वहीं उनके सद्-विचार, सत्साहित्य एवं भक्ति लहरियाँ 'गीता' में प्रतिपादित आत्मा की अजर-अमरता को प्रतिपादित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण के सन्देश (आत्मा-परमात्मा एक भाव) को मानस-पटल पर स्फुरित करते रहेंगे।

—डा० केशवदेव शर्मा

पं. श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास'

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी

श्रद्धाञ्जलि

राधावल्लभ-सम्प्रदाय माधुर्य भक्ति का पोषक सम्प्रदाय है जिसकी साधना में प्रेम या हिततत्त्व की प्रधानता है। वल्लभाचार्य और गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी की भाँति गोस्वामी श्रीहितहरिवंश ने भी गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही मधुरभक्ति की साधन प्रणाली चलाई थी। निष्कामकर्म और भगवत्-हित की भावनाओं से पूर्ण इस रसिक सम्प्रदाय की साधन प्रणाली ने, कठिन होते हुए भी, बहुत मान पाया।

वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में राधावल्लभ-सम्प्रदाय अपनी अनेक विलक्षण मान्यताओं और सैद्धान्तिक स्थापनाओं के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रेमलक्षणा-भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण की उपासना को ब्रजमण्डल में अभिनव रूप देने का श्रेय इसी सम्प्रदाय को है। राधा का प्राधान्य तो इसी की देन कही जायेगी। चतुः सम्प्रदाय की सीमाओं से बाहर रहकर भी विशुद्ध वैष्णव भावना से राधाकृष्ण की उपासना करने वाले सम्प्रदायों में राधावल्लभ सम्प्रदाय अग्रणी है। विधि-निषेध की रुढ़ियों का त्याग कर भक्ति को शृंखला-विहीन बनाने में भी इस सम्प्रदाय के आचार्य ने अपूर्व योग दिया। दार्शनिक ऊहापोह एवं तार्किक वितंडावाद से भी यह सम्प्रदाय दूर ही रहा और साधन पक्ष में कठोरता को बचाकर माधुर्यभाव को यहाँ प्रमुख स्थान मिला।

श्रीराधावल्लभलाल के इस रूप को जगत में विस्तृत करने वाली सम्प्रदाय के पूज्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज को कोटि-कोटि नमन। ईश्वर श्रुष्ठि बनाता है—अच्छी-बुरी, सुख-दुःख, मृत्यु-अमरता। पर सन्त मृत्यु नहीं, केवल आनन्द, देते हैं। श्रीललिताचरणजी महाराज इस एकाकार भक्ति के प्रत्यक्ष रूप थे।

—पं० श्रीकान्त शर्मा

डॉ० नरेशचन्द बंसल
निदेशक

वृन्दावन शोध संस्थान,
रमणरेती, वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

दिनांक २४ फरवरी, १९९२ चन्द्रवार को श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य और सुविख्यात अनुसंधाता, साहित्यस्रष्टा श्रद्धेय गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज का निकुञ्जगमन हो गया। "हित हरिवंश गोस्वामी:सम्प्रदाय और साहित्य" उनकी एक महान देन थी। उन्होंने राधावल्लभ-सम्प्रदाय के उपासना, सिद्धान्त-रसतुल्य और साहित्य की सुगम्भीर व्याख्यायें पुस्तक बद्ध कीं। ब्रज-संस्कृति के वे एक भास्वर सूर्य थे। अपने उदात्त उत्सवमय व्यक्तित्व और कृतित्व से उन्होंने न केवल श्रीधाम वृन्दावन को महकाया अपितु उनके सम्पर्क में आने वाला हर प्रबुद्ध, साधक और रस-साहित्य जिज्ञासु सुवास से भर-भर गया।

राधावल्लभ-सम्प्राय के वे नदीष्ण विद्वान् और पारंगत अध्येता थे जो अपने श्रीयमुना तटवर्ती निवास पर एकांत वास करते थे। देश-विदेश के अध्येता और जिज्ञासु उनसे प्रेरणा, ज्ञान और भाव लेकर प्रस्थान करते थे। वृन्दावन शोध संस्थान के कार्यकलापों के प्रति उनमें बड़ी प्रीति थी। हमारे शोध संस्थान से जो शोधार्थी उनके पास जाता उसे बड़ी तसल्ली से वे अपनी ज्ञानराशि वितरित करते। वृन्दावन और ब्रज की उन्नति के लिए उनमें अदम्य छटपटाहट थी। उनका विशाल ज्ञानक्षेत्र था। राधा-वल्लभ-सम्प्रदाय के तो विगत अर्द्धशती से वे प्राण-स्वरूप थे। सृजनशील साहित्यकार के रूप में उन्होंने जीवन निर्माणकारी अनेक नाटक लिखे। आज श्रीधाम वृन्दावन में उनके निधन से भारी रिक्तता आ गयी है। वे सम्प्रदाय के गरिमामय स्तम्भ थे।

वृन्दावन शोध संस्थान का समस्त परिकर वृन्द श्रीराधावल्लभजी के चरणों में प्रार्थना करते हैं कि शोकाभिभूत स्वजन परिजनों को इस अपूरणीय दुःख को वहन करने की सामर्थ्य प्रदान करें। हम सब साश्रु हार्दिक सम्वेदना व्यक्त करते हैं।

—डॉ० नरेशचन्द्र बंसल

डॉ. (श्रीमती) कमला घोष
संस्थापक/प्रधानाचार्या

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द जूनियर-
हाई स्कूल,
वृन्दावन

श्रद्धाञ्जलि

नित्य वृन्दावन में सहचरियों से सेवित नित्य-विहार रस में रत नव किशोर वयः श्रीराधावल्लभलाल को प्रिय सहचरी "हित" मीन, संगीत, साहित्य और भक्ति की त्रिवेणी आचार्यवर श्रीहित गोस्वामी श्रीललिताचरण महाराज विलक्षण प्रतिभा के धनी "सब सौं हित निष्काम" साधना के पालक थे। अगिनत अभावग्रस्त जन के अभावों को अपनी सहृदयता से दूर करने वाले शिक्षाविद् भक्त-शिरोमणि गोस्वामी जी ने शिक्षा के क्षेत्र में शिशु रूप भगवानों को शिक्षित करने में भरपूर सहायता देकर विद्यार्थियों को समाज में गौरवान्वित होने का सुअवसर प्रदान कर व्रज-वसुन्धरा को धन्य किया है। नित्य महान् रस शिरोमणि गोस्वामी जी के कृपापात्र छात्र श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द जू० हा० स्कूल में भी शिक्षा प्राप्त करते आ रहे हैं।

ऐसे—

"श्री राधाचरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी
............................दास अनन्य उत्कृट व्रतधारी"

को संस्था की ओर से उनके निकुंजगमन पर रस-श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—क० घोष

डॉ. भगवानसहाय पचौरी
सम्पादक "व्रजभारती"

२५, कृष्णापुरी,
मथुरा

जय श्रीललिताचरण गोस्वामी

जय तत्सुख-सुखि-सिद्ध-शुद्ध सिद्धान्त-शिरोमणि,
यश भाजन, हित संप्रदाय-हित चन्द्रकान्त मणि ।
श्रीराधा नख ज्योतित वपु रस-प्रेम निरामय,
ललित कलित व्यक्तित्व लेखनी-धनी-सुकृतिमय ।
लिखा शोध - साहित्य-भाष्य-वाणी-व्याख्यायन,
तान वितान भक्ति प्रेमा का जीवन अर्पण ।
चरित ललित आचरण ललित, हरिवंश-वंशधर,
रस की रीति सुधर्म बोधिनी, प्रीति परात्पर !
नवल मनोवैज्ञानिक परिचय, भजन रीति हित,
गोदी भर साहित्य जगत की, हुए तिरोहित ।
स्वामिनि-स्वामी केलि नित्य रस भजनमार्ग-रत,
मीत-सनेही-सखा भक्त के, लो प्रणाम शत ।

—डॉ० भगवान सहाय पचौरी

डा. त्रिलोकीनाथ व्रजबाल
० आचार्य, किशोरी रमण शि. प्र. महाविद्यालय, मथुरा
० संरक्षक, हिन्दी प्रचार सभा, मथुरा
० संस्थापक, रस-भारती (ब्रज साहित्य-संस्कृति अकादमी)
० संस्थापक, जनहित संस्थान, मथुरा

श्रीभवन, गली कसेरान,
मण्डी रामदास,
मथुरा (उ. प्र.) २८१००१

श्रद्धांजलि

पूज्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरण जी महाराज का स्मृति-ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है,यह जानकर मुझे सुखदअनुभूति हुई है। गोस्वामीजी महाराज वस्तुतः राधावल्लभ सम्प्रदाय की विभूति थे। प्रेमोपासना के सम्बन्ध में उनका अध्ययन-मनन-चिन्तन स्तुत्य था। वे विद्वान और रसज्ञ—दोनों ही उच्चकोटि के थे। मैंने जब भी उनसे किसी विषय पर विचार-विमर्श करने का अवसर पाया तब यही पाया कि, उनका अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक है। उन्हें संगीत, साहित्य और नाट्यकला से विशेष अनुराग था। लोक कलाओं की गहरी जानकारी थी। सम्प्रदाय-साधना के आचार्य थे।

वे सम्पादन कला में निपुण थे तथा अत्यन्त कुशल संयोजक थे। मोहक व्यक्तित्व के धनी उदार हृदय, स्नेही गोस्वामी जी अब वृन्दावन में नहीं हैं, जब यह बोध होता है तब, मन सहज ही उदास हो जाता है।

ब्रज के मनस्वी विद्वान गोस्वामी जी को मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित है। आपका सत्प्रयास सफल हो, कामना है।

—त्रिलोकी व्रजबाल

डॉ. राधेश्याम अग्रवाल
एम.ए, साहित्य-रत्न, पी-एच.डी.
सम्पादक
शिक्षक-संसार [मासिक]
ज्ञानदा [शोध-पत्रिका]
अध्यक्ष
रस-भारती (ब्रज साहित्य-संस्कृति अकादमी), मथुरा

घीयामंडी, मथुरा २८१००१
निवास : १००/५ जगन्नाथपुरी,
मथुरा-२८१००१ (उ० प्र०)

श्रद्धाञ्जलि

निकुञ्जवासी श्रद्धेय आचार्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरण जी महाराज राधावल्लभ-सम्प्रदाय की यशस्वी विभूति थे। वे सम्प्रदाय की निष्ठा के अनुसार रस-रीति निष्ठ परम प्रेमोपासक श्रीराधावल्लभलाल के मधुर दिव्य स्वरूप को हृदय-कोष्ठ में धारण करते हुए निष्काम मति से वृन्दावन की उपासना में अहर्निश संलग्न विभूति थे। प्रेममय उज्ज्वल साहित्य-साधना के साधक की दिव्य लेखनी से अनेक दिव्य ग्रन्थों की रचना हुई। उनका जीवन और साहित्य दोनों ही प्रेरणा के पुंज हैं। ऐसी महान्, यशस्वी वृन्दावनोपासना की प्रेरणाप्रद मंगल-मूर्ति के लिए मेरा कोटि-कोटि नमन !

समाजोपयोगी एवं पारमार्थिक सेवाओं में सदैव अग्रणी रहे आचार्य जी द्वारा प्रवर्तित बहु-विध सेवा-प्रकल्प अद्यावधि वर्तमान हैं। वे सदैव प्रेरणा प्रदान करते रहे। उनका यशः शरीर सदैव इस लोक में यश-प्रभा विकीर्ण करता रहेगा।

—राधेश्याम अग्रवाल

साहित्यवारिधि—

डॉ. श्यामनारायण पाण्डेय

[एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०]

[निवृत्त रीडर तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष :

डी. बी. एस. कालेज, कानपुर विश्वविद्यालय]

मानदनिदेशक : हिन्दी प्रचारिणी समिति

[हिन्दी भवन] कानपुर

आवास : बंगला नं० ३०६ (प्रा०)

इन्दिरा नगर (कल्याणपुर)

कानपुर-२६

श्रद्धाञ्जलि

गोस्वामी ललिताचरण जी श्रीराधाकृष्ण भक्ति-धारा के अनन्य साधक तो थे ही; साथ ही वे उच्चकोटि के साहित्यकार, कवि एवं समीक्षक भी थे। उनका साहित्य-सृजन राशिभूत है। श्री गोस्वामी जी से मेरा बहुत समय से परिचय रहा है। खेद है कि मैं उनके निकुंजगमन से पूर्व दर्शन नहीं कर सका। इतने बड़े विद्वान् एवं सहृदय साधक की स्मृति से साहित्यकारों को तो प्रेरणा प्राप्त ही होगी, अध्यात्म वेत्ताओं का मार्ग भी प्रशस्त होगा। आचार्य श्री को मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि।

—श्यामनारायण पाण्डेय

डा० यतीन्द्र तिवारी
प्राचार्य

आर्मापुर पी० जी० कालेज,
आर्मापुर, कानपुर

श्रद्धाञ्जलि

श्रीहित ललिताचरण जी महाराज उच्चकोटि के विद्वान, विचारक एवं श्रेष्ठतम साधक थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा राधावल्लभ-सम्प्रदाय की अनेक महत्वपूर्ण कृतियों का अनुवाद भी किया। उन्होंने तरुणावस्था से ही लेखन कार्य प्रारम्भ किया, तत्कालीन पत्र 'विशाल भारत' में उनकी अनेक एकांकियाँ प्रकाशित हुयीं।

आचार्य गोस्वामी जी अत्यन्त सहृदय एवं संवेदनशील थे उनके निकट आने वाला अपरिचित भी उनके स्नेह से अभिभूत होकर उनका अभिन्न हो जाता था। मुझे विश्वास है कि स्मृति-ग्रन्थ में उनके व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके सम्पूर्ण कृतित्व का मूल्यांकन होगा !

अनेक शुभकामनाओं के साथ मैं गोस्वामी जी की स्मृति को प्रणाम करता हूँ।

—डा० यतीन्द्र तिवारी

बद्रीनारायण तिवारी
संयोजक/अध्यक्ष
मानस संगम (पंजी०)

३८/२४ श्रीप्रयाग नारायण मंदिर
(शिवाला)
कानपुर-२० ८००१

श्रद्धाञ्जलि

पूज्य गोस्वामी जी से कई बार मेरा साक्षात्कार हुआ। वे धार्मिक महन्तों की नकली चकाचौंध से दूर एक सरल रहन-सहन के महान् व्यक्तित्व के धनी थे। आचार्य श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, पं० विश्वनाथ मिश्र, राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य डॉ० विनयमोहन जी शर्मा, डॉ० माता प्रसाद गुप्त प्रभृति शीर्षस्थ विद्वानों ने गोस्वामीजी के बहुचर्चित शोधग्रन्थ "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" पर जो विचार लिख दिये उसके बाद गोस्वामी जी के प्रति कुछ भी लिखना सूर्य के सन्मुख दीपक दिखाना है। श्रीराधा-वल्लभीय-सम्प्रदाय मात्र के गौरव न होकर गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज भारतीय संस्कृति के शिखर कलश के रूप में चमकते रहते हैं।

आज उनका पार्थिव शरीर अवश्य नहीं है किन्तु उस मौन साधक का कृतित्व आज भी जीवन्त इतिहास की साक्षी दे रहा है।

गोस्वामीजी ने अपने जीवन में धार्मिक साधना के साथ ही साहित्य सृजन द्वारा जो अमूल्य सेवा की है उसको एक ग्रन्थ के रूप में एकत्र कर प्रकाशक/सम्पादक भी गौरवान्वित होंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

—बद्रीनारायण तिवारी

डॉ० प्रतीक मिश्र
वरिष्ठ प्रवक्ता

डी० ए० वी० कालेज,
कानपुर

श्रद्धाञ्जलि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि रसिकाचार्य गोस्वामी श्रीहित हरिवंश वंशावतंस पूज्य गोस्वामी श्रीहित श्रीललिताचरणजी महाराज की स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। राधावल्लभीय सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करके आचार्य जी ने कृष्णभक्तों के लिये तो महत्त्वपूर्ण कार्य किया ही साथ ही हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं का भी मार्ग सुगम कर दिया। 'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' नामक आपका ग्रन्थ प्रकाशित होने के साथ ही विद्वानों और भक्तों के लिये समान रूप से आकर्षण का केन्द्र बना।

एक रससिद्ध कवि, एकाङ्कीकार, शोधक, साधक और समीक्षक के रूप में आपने साहित्य, समाज और राधावल्लभ-सम्प्रदाय की जो एकनिष्ठ सेवा की उसका स्मरण मात्र ही स्फुरण दायक है। मुझे विश्वास है कि स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन से आचार्य जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अनछुए प्रसंगों का तो उद्घाटन होगा ही साथ ही राधा-वल्लभीय-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रसार-प्रचार व संकलन का सार्थक-अवसर भी संभव हो सकेगा।

—डॉ० प्रतीक मिश्र

॥ श्रीमन्नित्यनिकुञ्ज विहारिणे नमः ॥

स्वामी श्रीहरिदास शोध संस्थान

राधामोहनदास गुप्त
संस्थापक/अध्यक्ष

६०/२०, पुरानी दालमण्डी,
कानपुर—१

जय श्रीललिताचरण उदार

दोहा

सरस वसन्त-गुलाब से प्रकटित 'ललित' ललाम ।
सौरभ ये महका दिया ब्रज - वृन्दावन धाम ॥१॥

सरस वसन्त-गुलाब के सौरभ 'ललित' अमोल ।
तेरे आविर्भाव से महक उठा भूगोल ॥२॥

सुरभित वृन्दावन हुआ हर्षित ललना-लाल ।
झूम उठे आनन्द में भक्त-विहग-खग-बाल ॥३॥

सरस वसन्त गुलाब के सौरभ 'ललित' ललाम ।
तेरो दिव्य सुगन्ध से विश्व बना अभिराम ॥४॥

सरस वसन्त गुलाब के सौरभ 'ललित' ललाम ।
तेरी दिव्य सुगन्ध से प्रमुदित श्यामा-श्याम ॥५॥

पद

जय श्रीललिताचरण उदार ।
वेणु वंश अवतंस शिरोमणि हित हरिवंश अंश अवतार ॥
यथा नाम गुण तथा दिखाया ललित आचरण कर विस्तार ।
बने वास्तव में 'गोस्वामी' इन्द्रिय-वाणी संयमधार ॥
सबसे हित निष्काम भाव से हित हरिवंश नाम उच्चार ।
वृन्दावन में रहकर अविचल निर्वाहे जग के व्यवहार ॥
(श्री)राधावल्लभ ध्यान मग्न हो निरखा अद्भुत नित्य विहार ।
श्रीराधा के चरण युगल मानस के हंस बने अविकार ॥
भूले भटके भ्रम में अटके अगणित किये भवोदधि पार ॥
प्रथित पवित्र चरित्र आपको नमन हमारा बारम्बार ॥१॥

—राधामोहनदास गुप्त

डा० माधवीलता शुक्ला
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) डी० लिट्०, विद्यासागर
साहित्य महोपाध्याय, साहित्य भूषण

१५/६१, सिविल लाइन्स,
कानपुर

आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज
अद्भुत-अमित-अक्षर

भारत के शुभ्र भक्ति आकाश पर उदित हुये प्रदीप्त नक्षत्र गोस्वामी श्रीहित हरिवंश महाप्रभु की अमृतवाणी के शाश्वत आनन्द में डूबे हुये गो० श्रीललिताचरण जी अपने उद्दाम चरित्र से, अपूर्व ज्ञान से, अद्वितीय भक्ति से राधावल्लभीय-सम्प्रदाय की अणुकृति थे। श्रीहित हरिवंश द्वारा संस्थापित राधावल्लभ-सम्प्रदाय के आप अन्तर से पोषक एवं प्रचारक थे।

कृष्णभक्ति के अनुपम सोपान पर आरूढ़ आपका हृदय श्रीराधा के चरणों का कीर्ति दास था। बचपन से ही सरस्वती के वरदपुत्र गोस्वामी श्रीललिताचरण जी की सामर्थ्य उनकी लेखनी प्रकट करने लगी थी। १८ वर्ष की आयु में ही उन्होंने 'यवनोद्धार' नामक श्रेष्ठ नाटक लिखकर यौवन में प्रवेश किया। भक्ति आपको अपने परिवार की धरोहर के रूप में माँ से प्राप्त हुई थी। आप संगीत शास्त्र के अधिकारी विद्वान थे। आपका काव्य संगीत का संस्पर्श कर वंशी की भाँति प्रतिध्वनित होता था। आप वृन्दावन में परिव्याप्त राधा-वल्लभ-कलेवर से तन मन आच्छादित कर निरन्तर राधा-भाव में डूबे रहते थे। आपकी भक्ति, आपकी निष्ठा, आपके लेखन में निरन्तर प्रस्फुटित होती रही। "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" अपूर्व ग्रन्थ लिखकर आपने अपनी अपूर्व क्षमता को प्रकट किया।

आपकी रचनायें हिन्दी साहित्य का गौरव हैं आपकी मौलिक रचनायें, आपके अनुवाद एवं आपका सम्पादन कार्य आपको साहित्याकाश में सर्वोच्च स्थान पर आसीन करता है।

आप कानपुर के उद्भट विद्वान श्रीअयोध्यानाथ जी शर्मा के शिष्य थे।

एस० डी० कालेज के छात्र रहने के कारण आप कानपुर के ही अङ्ग थे। उन जैसा छात्र पाकर कानपुर गौरवान्वित हुआ है। आज उनका स्मरण मात्र ही आत्मा का अभिलषित आनन्द है। जिसके प्राण का तादात्म्य भक्ति से हो रहा हो जिस पर श्रीराधा की कृपा बरसती रही हो, उनकी क्षमता का वर्णन करने में इस जड़ लेखनी को अक्षम पाती हूँ।

रसराजेश्वर श्रीकृष्ण की प्रिया, प्राणेश्वरी श्रीराधा के प्रेम से अनुप्राणित गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज को नमन अर्पित करते हुये निज को कृतार्थ मानती हूँ।

—माधवीलता शुक्ला

डॉ० ब्रह्ममूर्ति त्रिपाठी
साहित्य-आयुर्वेदाचार्य, एम. ए., पी-एच०डी०
१२८/२४९ एच-२, किदवई नगर,
कानपुर-११

आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज के श्रीचरणों में श्रद्धाञ्जलि

'हित' शब्द स्थापना, ग्रहण, उपयोग, कल्याण, प्रेम दया के अतिरिक्त स्थापित ग्रहीत, उपयुक्त, कल्याणकारी, प्रेममय इत्यादि अनेक अर्थों को प्रकट करता हुआ प्रिय विशिष्ट चेतन धर्मा मानव के साथ जुड़ता है। वह भक्त, साधक और आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होकर अपनी भाव-धारा में निमज्जित हो साक्षात् अपने प्रिय इष्ट का अभीष्ट बन जाता है। तभी तत्सुखसुखित्व, प्रेमोपासना अथवा हितोपासना के द्वारा विश्व में प्रत्येक जीवके साथ सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ मानव-मात्रको एक नवीन सुगम आनन्द-संयुक्त-भक्ति-मार्ग का परिचय कराता है। कभी अपनी सेवा-साधना से विमुख नहीं होता है।

मुक्तावस्था से दूर होकर सेवा-भाव के लिए ही वह पुनः भक्ति के क्षेत्र में आकर अपने को कायिक, मानसिक, वाचिक इन तीनों मार्गों को प्रशस्त करता हुआ तुरीयावस्था की अवस्थिति में स्थित अखण्ड रस-पान का अधिकारी बन जाता है। जब तक वह प्रपञ्च में प्रपञ्चित रहता है तब तक वह स्वयम् रस-पान करता ही है और अन्य लोगों को भी योग्यतानुसार उस रस के कण वितरित करता रहता है।

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक प्रेम स्वरूप महाप्रभु 'श्रीहित हरिवंश जी गोस्वामी के वंशावतंस आचार्य श्रीललिताचरणजी गोस्वामी इसी प्रकार की एक महान विभूति थे। जो मौलिक साहित्य-सर्जक, कला-कोविद, सहृदय साहित्यिक एवम् रसिक भावुक-भक्तों की श्रद्धा एवम् सम्मान के पात्र भी थे। उनके कार्य के सम्प्रदाय और साहित्यिक क्षेत्र दोनों ही चिर ऋणी रहेंगे।

भक्त, सन्त और साहित्यकार ये शाश्वत हैं और शाश्वत ही रहेंगे। इस अव-धारणा के साथ-साथ पूज्य आचार्य श्रीललिताचरणजी गोस्वामी के चरणों में मैं अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

–डॉ० ब्रह्ममूर्ति त्रिपाठी

डॉ० विष्णुदत्त त्रिपाठी

एम० ए०, (हिन्दी-संस्कृत)
साहित्यरत्न, पी-एच० डी०
अध्यक्ष

विश्व अध्यात्म परिषद,
'दिव्यालय'
१५९ एच-२ किदवई नगर
कानपुर—११

श्रद्धांजलि

नित्यं स्मरणीय तिलकाँकित भव्य भालं,
स्वर्णाच्छवि शिवस्वरूपमहेतुदानिम् ।
राधिका नाम अविराम रटन्महन्तं,
श्रीललिताचरणप्रभुं प्रेमावतारम् ।।

परम करुणामय परमात्मा की अनुग्रह सृष्टि में जब-जब ऐसे महापुरुषों का आविर्भाव होता है जो केवल लोक-कल्याण के लिये अवतरित होकर कठिन कलिपंकाभिसिक्त प्राणियों के समक्ष प्रभु प्रेम का पथ प्रशस्त करते हैं। स्वयं नित्यमुक्त होते हुये भी जीवन एवं मरण की लीलाओं को अंगीकार करते हैं, और एक नियतकाल में नियत भूमिका प्रस्तुत कर पुनः लीलाओं का संवरण कर लेते हैं। ऐसे महापुरुषों का एक आचरण लोक मंगल के सुदृढ़ स्तम्भ होते हैं इसीलिये तो वे आचार्य की संज्ञा से विभूषित होते हैं।

परम प्रेमावतार प्रेमोपासना किंवा हितोपासना के प्रवर्तक रसिकाचार्य प्रातः स्मरणीय गोस्वामी 'श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के यशस्वी वंशज एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य पूज्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरण जी महाराज ऐसे ही आचार्यों की परम्परा में आते हैं।

आचार्य श्रीललिताचरणजी महाराज का जीवन स्वयं में एक ग्रन्थ है। ग्रन्थ में जैसे सिद्धान्त और सूत्र होते हैं इसी प्रकार आचार्यश्री स्वयं में सिद्धान्त रूप थे।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में अनेकानेक आचार्य हुये जिन्होंने अपनी रचनाओं में सीधा रस सिद्धान्त का ही समावेश किया। उसी परम्परा को अग्रसरित करते हुये आचार्यश्री ने भावपरक प्रेमोपासना का वर्णन विवेचन किया। इनकी वृत्ति जितनी सिद्धान्त पक्ष में रमी उतनी काव्य के भाव पक्ष में नहीं।

आचार्य श्री की साहित्यिक सर्जना में उनके हृदय का प्रेम आलोड़ित हुआ है एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं का आपके ग्रन्थों में सम्पादन है। आपकी परम्परा भक्त रसिक सम्प्रदाय की रही है, यही कारण है कि पद्य तथा गद्य का मौलिक-साहित्य विपुल है। साथ ही समीक्षा भाव की कमी नहीं है।

अस्तु आचार्य 'श्रीहित ललिताचरणजी महाराज साहित्याकाश में एक देदीप्य-मान नक्षत्रों की भाँति सदैव ही, अपना प्रकाश प्रकाशित करते रहेंगे। उनके बताये गये प्रेमोपासना के रस मार्ग का अनुसरण करना ही उनकी सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। वह सदैव साम्प्रदायिक जगत में स्तम्भ स्वरूप विद्यमान रहेंगे।

मैं अपने श्रद्धासुमन उनके इस स्मृति ग्रन्थमाला में श्रद्धाञ्जलि के रूप पिरोकर उन्हें शत्-शत् नमन करता हूँ।

—डॉ० विष्णुदत्त त्रिपाठी

रामगोपाल गुप्त
प्रधानाचार्य

श्रीसवटीदेवी झुझनूवाला जू० हा० स्कूल,
वृन्दावन

आचार्यश्री

एक पावन श्रद्धाञ्जलि

श्वेत वस्त्रधारी, मधुर मुस्कान के धनी, हाथ में छड़ी लिए एक महान आत्मा को प्रतिदिन सायंकाल दो अंग रक्षकों (शिष्यों) के साथ टहलने जाते हुए देखा करता था। पूछने पर मालुम हुआ आप ही आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज है। आप मेरे निकट ही बड़वाला मोहल्ला में रहते थे और राधावल्लभ-सम्प्रदाय की मानी हुई हस्ती थे।

आपको राधावल्लभ मन्दिर में होने वाली समाज में भी देखा जाता था, जिसका आप ही नेतृत्व करते थे और आपकी उपस्थिति से उसमें विशेष आनन्द भक्तों को आता था। समाज चाहे छोटी सरकार में हो या रास मंडल पर, आपकी उपस्थिति उसमें चार चाँद लगा देती थी। भक्तगण इसमें विभोर हो जाते थे। अपनी इहलीला समाप्ति की पूर्व सन्ध्या को भी आप छोटी सरकार में होने वाली समाज में शामिल थे। किसी को क्या पता था कि कल महाराजश्री के दर्शन नहीं हो सकेंगे। आपका अचानक चले जाना भक्तगणों को बहुत अखरा, परन्तु करें क्या ?

राधावल्लभ मन्दिर व बड़ी सरकार से निकलने वाली चाब—जो वर्ष में दो बार आठ दिन निकलती है—की शोभा बढ़ाने वाले आप ही थे। आपके चाव में होने पर गोस्वामी समाज काफी संख्या में साथ चलता था और भक्तगणों की तो अपार भीड़ साथ रहती थी जो चाव की शोभा को द्विगुणित कर देती थी। आप कभी नागा नहीं करते थे किन्तु एक बार अस्वस्थ होने के कारण आप चाव में नहीं जा सके, उस बार गोस्वामी समाज तो न के बराबर था और भक्तगणों की संख्या भी बहुत कम रही। कहने का तात्पर्य है, इसका नेतृत्व भी सदैव आपके हाथ रहा।

साहित्य के क्षेत्र में भी आपका अमूल्य योगदान रहा। "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" आपकी अद्वितीय एवं अमर कृति है। इसके अतिरिक्त आपने अनेक पुस्तकों का सृजन किया, जो हिन्दी साहित्य के भण्डार की श्रीवृद्धि

हैं। हिन्दी के विद्वानों का आवागमन आपके यहाँ लगा ही रहता था। आपकी विद्वत्ता, नम्रता, मधुर-व्यवहार से सभी प्रभावित थे।

गरीबों को वस्त्र, कम्बल, बर्तन आदि आपके यहाँ बँटते ही रहते थे। गरीब विद्यार्थियों को पुस्तकीय सहायता, शिक्षा शुल्क सहायता आप सदैव किया करते थे। यह कार्य आज भी आपकी सुपुत्री श्रीमती सुधारानी शर्मा के निर्देशन में चालू है। इससे अनेकानेक लोग लाभान्वित होते रहते हैं।

आचार्य गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज के श्रीचरणों में मेरा शत-शत प्रणाम और अपनी संस्था श्रीसुवटीदेवी झुंझनूवाला अग्रवाल स्कूल, वृन्दावन की ओर से हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

जय श्रीराधे !

—रामगोपाल गुप्त

जय गुरुदेव महान्

१

जय - गुरुदेव महान, अखंड निरंजन ।
जय जय कृपा निधान, सकल दुःख भंजन ।।
महिमा अमित अपार, कहत न आवै ।
कहे बिना हू चैन, न दासी पावै ।।
चरण - शरण तव नाथ, सदा मैं पाऊँ ।
करमन के अनुसार, जहाँ भी जाऊँ ।।
परम तत्त्व, जग मूल, सहज हितकारी ।
हित कैलाशहि हेत, मनुज तन धारी ।।

२

श्री गुरु-चरण कमल उर धारौं ।
जिन करि कृपा शरण निज दीनी, छिन नँहि तिनँहि विसारौं ।।
निपट रंकनी कौ धन ये ही, उर-बिच राखि संभारौं ।
हित कैलाश ललित पद नख विधु, भयी चकोर निहारौं ।।

३

मूर्तिमान भाव श्रीगुरुवर ललिताचरण उदार ।
गोर-श्याम-पद-कमल-अमल रति नित्य सुगाढ़ अपार ।।
सेवा-धर्मं कर्मं स्वारथ बिनु जीवन लक्ष्य तुम्हार ।
दीन-हीन जन पालक घालक माया जनित बिकार ।।
मर्म अनेक युगल हित-वितु के दीन्हे सबै उधार ।
कीन्हे रसिक निशंक अचल मति प्रेरक नित्य-विहार ।।
जय-जय श्रीगुरु ललित उजागर हित वंशज सुख सार ।
पायौ अमित चैन कैलाशी जब सौं भयी चिन्हार ।।

—कैलाशवती

मदनमोहन जैमिनी

न्यू शक्ति सदन सोसाइटी,
रोहिनी, दिल्ली-८५

प्रेम के अपार वारिधि श्रीगुरुदेव

१

शीतल अमल परम सुख दायक, जग कारण धारण कण-कण के ।
तुम ही वा पर-तत्त्व प्रेम के, हो अपार वारिधि प्रिय जन के ।।
जामें रसिक भाव मारुत से, उठते रहते युगल-केलि के ।
नित नव सुन्दर सरस हिलोरे, नाशक कलि-मल कपट दंभ के ।।
जामें तन मन रसिक जनन के, मीन बने रहते नित गह के ।
बनत हंस जहँ सहज परत ही, अधम अपावन काग सरीखे ।।
तेरी ही बगिया में खिलते, सुन्दर पुष्प विपिन रस प्रिय के ।
दीनबन्धु ! सुख राशि ! ललित गुरु, हरौ खोट सब जैमिनी हिय के ।।

२

अब की बहार में हमें किस ने रुला दिया ।
जगने लगा था भाग उसे फिर सुला दिया ।।
देखा किये थे जिनको सालों से रूबरू ।
गर्दिश ने सीन काट कर पर्दा गिरा दिया ।।
निकला ही चाहते थे जो अरमाने जिन्दगी ।
दिल में किसी ने कैद कर ताला लगा दिया ।।
बहरे जहाँ में बढ़ रही थी नाव जो सही ।
उसमें किसी ने छेद कर तूफाँ मचा दिया ।।
है जजबए प्यार भी क्या खूब जहाँ में ।
चाहा जिसे हँसा दिया चाहा रुला दिया ।।
तू ही नहीं है जैमिनी दिलदाद-ए-ललित ।
इस हादसे ने लाख दिलों को जला दिया ।।

—मदनमोहन जैमिनी

श्रीमती संतोषबाई बंका

श्रीहित निकुञ्ज,
छत्ता गली, वृन्दावन

मेरी जीवन ज्योति

मेरी जीवन ज्योति श्री जै जै,
तुम आँखों के तारे थे।
तुम बिन सब सुनसान हुआ,
तुम सब जग के उजियारे थे॥

अपनी प्रिया लाड़िली से कह,
शीघ्र मुझे अपना लेना।
बोझिल से मेरे जीवन को,
जल्दी छुटकारा देना॥

इक हूक कलेजे उठती है,
नैना दिन - रात बरसते हैं।
स्नेहिल वाणी सुनने को,
ये आकुल 'श्रवण' तरसते हैं॥

बेटी 'संतोष' यों कह दुलार से,
धीरज कौन बँधायेगा।
प्रिया-लाड़िली के चरणों की,
आशा सुदृढ़ करायेगा॥

—श्रीमती संतोषबाई

श्री गुरुदेवो जयति

आता है याद मुझको गुजरा हुआ जमाना ।।
छोटा सा था अनाड़ी, अनभिज्ञ सा अजाना ।
निज मंत्र दे के अपने, चरणों में वो लगाना ।।
जब-जब तपन से बचकर, तेरे समीप आना ।
कैसे हो कुंजू बाबू, कहकर मुझे बुलाना ।।
फिर सिर पे हाथ रखकर, धीरे से मुस्कुराना ।
वो कृपापूर्ण दृष्टि पलकें न झपक पाना ।।
पूछा किया मैं हरदम, कैसे युगल लडाना ।
लखि मेरी ओर हंसकर, धीरे से कुछ बताना ।।
तो रसिक मंडली को, महफिल यहाँ जमाना ।
गा-गा के राग रस के, प्रिया लाल को रिझाना ।।
वो उत्सवों के जलवे, रसिकों का आना जाना ।
बग्गी सजी कि नाहीं ? पुनि-पुनि पता लगाना ।।
चावों में साथ चलकर, यूं हौंसला बढ़ाना ।
मेरे से बावरे को, राधे की लय नचाना ।।
सब कुछ सुना किये थे, वो शिकवये जमाना ।
शीतल नजर से सबको, सुख सिन्धु में डुबाना ।।
अब तो अरज यही है, चरणों में चित्त लगाना ।
गुरुदेव हित ललित जू, मम नैन नित सिराना ।।
तेरी कृपा लबालब, है कुंज का खजाना ।
नहीं और ठौर दूजो, चरणों तले ठिकाना ।।

—कुंजविहारी खेमका

वसन्त कुंज के फूल

रासवंश हरिवंश वंश कौ कमल खिल्यौ वृन्दावन में ।
ललित लाडिलो रसिकन प्यारौ छाय गयौरी मेरे तन मन में ।।

ललित "बसंत कुंज" में प्रगटचो फूल अनौखौ श्रीवन में ।
श्री हरिवंश गिरा रस सौरभ फैल गयौ सब जन-जन में ।।
रासवंश० ।।१।।

सुन्दर बदन अनूपम देही बसे लाड़िली पलकन में ।
चरण-कमल सुन्दर अति सुन्दर भरे रसिकता रसिकन में ।।
रासवंश० ।।२।।

कुंज भवन में जबहि पधारें ललित लाड़िली दर्शन में ।
श्रीराधावल्लभ लाल अनौखो रूप दिखावें कुंजन में ।।
रासवंश० ।।३।।

ललित लाडिली लाल ललित दोऊ हिल मिल खेलौ कुञ्जन में ।
युग-युग चरण कमल रज पाऊँ बास मिले वृन्दावन में ।।
रासवंश० ।।४।।

—मंथाराम नागर

अनन्तराम गुप्त

ग्राम-बंडरा, पो० पचौखरा,
जिला-दतिया (म० प्र०)

श्रद्धाञ्जलि

जै श्री हित हरिवंश चन्द्रवर ।
श्रीराधा रस अमृत बरसत, विकसित रसिक-अनन्य कुमुद सर ।।
वृन्दाविपिन गगन नित उद्दित राका छवि छाई उज्ज्वल तर ।
ताही वंश आय प्रगटित भये, श्रीहित ललिताचरन विद्वद्वर ।।
राधावल्लभ - सम्प्रदाय अरु साहित्य प्रचुर कियो पुहुमी पर ।
यमुना-पुलिन निवास धाम दृढ़ पग बाहर नहिं दियो विपिनवर ।।
रसिक - अनन्य किये बहुतेरे (श्री) राधा युग चरणन के अनुचर ।
छायौ विपुल प्रताप विपिन मधि काव्य कल्प कोविद सज्जन वर ।।
शरण लडैती देश विदेशन सुयश पताका जहँ-तहँ फर हर ।।

—अनन्तराम गुप्त

श्रद्धांजलि

जै - जै ललिताचरण गोस्वामी जग - पावन ।
यथानाम गुन तथा प्रकासे जनमनभावन ।।
ललित आचरण करि व्रज-वसुधा पावन कीनी ।
हित हरिवंश समान भजन की शिक्षा दीनी ।।
राधावल्लभलाल की प्रीति - रीति यश विस्तरे ।
हित हरिवंश सुअंश ते जग हित कारण अवतरे ।।१।।
भरि उमंग - उत्साह ब्याहुले खूब कराये ।
विविध भाँति सौं नित्य युगल कूँ लाड़ लड़ाये ।।
बड़े चाव सौं चावन में आनन्द बढ़ायौ ।
नित्य समाजन मध्य युगल कौ रस - जस गायौ ।।
वाणी ग्रन्थन के विशद अर्थ और प्रवचन करे ।
जै-जै ललिता चरण जू जग हित कारण अवतरे ।।२।।

—बाबा गोपालदास

गोपाल अग्रवाल

स्कीम ७ एम,
कलकत्ता
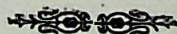
जय श्रीराधारानीजी

परम श्रद्धेय व्यासनन्दन स्वरूप श्रीगुरु ललिताचरणजी गोस्वामी राधारानी के एक अतुलनीय परम भक्त, त्यागी, प्रतिभा सम्पन्न महामानव थे। आपके मुखारविन्द से प्रेम की सरिता हमेशा प्रवाहित होती थी। आप देवतुल्य थे। आपको ठाकुरजी का अवतार कहना अतिशयोक्ति न होगी। ब्रजधाम के संतगणों का भी कहना है कि आप जैसे अवतार पाँच सौ वर्षों के अन्तराल में व्रज की पावन धरा पर प्रकट नहीं हुए। आपके प्रवचन तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण होते थे। आपके गुणों का वर्णन करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। आपके प्रवचन चिरकाल तक अनुकरणीय रहेंगे। आपके चरणों में बिताये गये क्षण हम सभी कभी भूल नहीं पायेंगे।

हम सभी भक्तगण उन बीते क्षणों को जन्म-जन्मान्तर तक नहीं भूल पायेंगे।

हम सभी भक्त आपके पूज्य चरणों में श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

—आपके अपने सभी भक्तगण
(सिलीगुड़ी निवासी)

हनुमान केजरीवाल

श्रीराधाड्राइनिंग एण्ड प्रिंटिंग,
८२, मैरिन ड्राईव, बम्बई-२

सहज कृपालु को श्रद्धांजलि

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्री १०८ ललिताचरणजी महाराज जैसी विभूति श्रीजी के उदार चित्त में जीवों के प्रति जब अपार करुणा का उदय होता है तभी जन्म लेती है !!

महाराजश्री का जीवन एक समर्पित जीवन था । अपने व्यवहार, आचरण, लेखन और प्रवचन के माध्यम से उन्होंने एक धारा प्रवाहित कर दी थी, जिसमें न जाने कितने भावुक भजनानन्दी निमज्जित होकर धन्य हुये !!

श्रीहरिवंशभवन बादग्राम, श्रीरंगीलालजी विराजमान देवबंद और श्रीमन् महाप्रभुजी गोस्वामी श्रीहित हरिवंशजी की बैठक राधाकुण्ड आदि प्राचीन राधावल्लभ-सम्प्रदाय के स्थानों का जीर्णोद्धार एवं उनके भोग-राग की समुचित व्यवस्था कराना महाराजश्री के भजन का एक विलक्षण अङ्ग था !!

सहज कृपालु महाराजश्री के श्रीचरणों में अनेकशः वंदन !!

"कहँ लगि बरनन करहुँ गुसाईं"

—हनुमान केजरीवाल

दीपिका कुमारी

केवल तुम !

हे जै - जै,

तुम ही हो ! केवल तुम ! किन शब्दों में कितने वन्दनों में, कितने जन्मों में धन्यवाद, जो मैं कह या कर भी ना पाऊँ, वो स्वीकार करो। बिना मार्ग के, बिना दिशा के, बिना लक्ष्य के मुझ अज्ञान को, मूर्ख को मार्गदर्शन करा मुझे श्रीजी की निज सहचरी बनाया, उसका धन्यवाद स्वीकार करो।

हर असुविधा में जब-जब आपका स्मरण किया शान्ति पाई। इसका धन्यवाद स्वीकार करो। प्रभु को जानने की जिज्ञासा, प्रभु के मिलन की आस लगाई उस कृपा के लिये मेरा धन्यवाद स्वीकार करो।

मुझे याद है कि किसी बात की अशान्ति व दुःख में जब मैं आपके दर्शन के लिये आई तो आपने प्रभु की तरफ जो अँगुली दिखाई और मैंने जो शान्ति पाई, तो वो मेरे लिये सबसे बड़ा मार्ग दर्शन है।

आपने अपने नयनों की ज्योति से मेरे मन की आँखें खोलीं और प्रभु का ज्ञान दिया। मैं फिर भी हर पल, हर क्षण यही आपसे वन्दना करती हूँ कि मैं मूर्ख हूँ, अज्ञान, निर्बल हूँ, अवगुणी हूँ, मुझे अपने ज्ञान से, अपने गुणों से, अपनी समझ से कृतज्ञ करो। मेरे साथ हर पल रहो। मुझे शिक्षा दो कि ये आँखें केवल प्रभु दर्शन की खोज करें, ये कर्ण केवल सुन्दर वचन सुनें, ये जुबान केवल मीठे ढंग से दूसरों को राहत देने के लिये खुले और हर पल प्रभु का जाप करने के लिये खुले और हर पल प्रभु का जाप करे।

हे जै-जै ! मुझे यही शिक्षा दो। हर पल मेरे साथ रहो। क्यूँकि तुम ही हो। केवल तुम !

— दीपिका कुमारी

डॉ० रक्षा शर्मा
एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच.डी.

हिन्दी विभाग,
किशोरीरमण महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मथुरा

पुण्य-स्मरण

दिव्य अनुभूतियों के मधुरिम आलोक से अभिमण्डित, सौम्य, शिष्ट, शान्त एवं आकर्षक व्यक्तित्व के धनी स्वनामधन्य परम श्रद्धेय महामनीषी आचार्य प्रवर गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज रसावतार श्रीहित हरिवंश गोस्वामीजी द्वारा प्रवर्तित 'राधावल्लभ-संप्रदाय' की सीमाओं में रहकर भी अपने वैशिष्ट्य में अनन्य हैं।

जिन महानुभावों ने अपने अप्रतिम उद्‌गारों, मौलिक विचारों, कल्पनाओं और गहन भावानुभूतियों को श्रीहिताचार्यजी की विशिष्ट रसोपासना की भूमिका में घनीभूत मनन एवं चिन्तनपूर्वक अभिव्यक्त किया है, उनमें आपका नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने अपने संप्रदाय के विपुल-वाणी-साहित्य में निगूढ़ अनिर्वचनीय हिततत्त्व को सर्वथा हृदयंगम कर युगानुकूल भाषा में बड़ी सामर्थ्य के साथ उजागर किया है। आपका अन्तःकरण मंगलमयी अनुभूतियों से प्रकाशित था। उस अलौकिक आनन्द की मधुर दीप्ति आपके सर्वदा प्रसन्न सुस्मित मुखमंडल पर विकरित रहती थी।

लीलानन्द से सराबोर हृदय, गहन मार्मिक अनुभूति, रस और सिद्धान्त की छाँट की गहरी समझ, तीव्र-सूक्ष्य-सौंदर्य-बोध, समृद्ध, सुबोध, सरस एवं वेगशालिनी भाषा—उक्तिचारुता, उत्तम संप्रेषण-क्षमता, संगीत रसिकता, उदाराशयता, लोकमंगल साधना की भावना एवं प्रतिपल लक्ष्य-केन्द्रित रहकर बढ़ना आदि सभी कुछ आपके बहुआयामी व्यक्तित्व, कृतित्व एवं जीवन व्यवहार में यथायोग्य सन्निविष्ट रहा है।

भावभीने स्नेहिल व्यवहार और वाणी से सभी को मंत्रमुग्ध करते हुए आप नित्य निकुंजवासी हो गये हैं। तथापि आपके शुभाशीष और वात्सल्य का सम्बल इष्टजनों को सर्वदा सुलभ रहेगा—इसी शुभाशा के साथ मेरी आपके प्रति विनीत श्रद्धाञ्जलि, शत-शत अभिनन्दन, शतशः वन्दन।

—डॉ० रक्षा शर्मा

श्रीअखण्डानन्द सरस्वती के शिष्य
ओंकारानन्द सरस्वती

"आनन्द-वृन्दावन"
मोतीझील, वृन्दावन (मथुरा)

सहस्रों भक्त-शिष्यों के प्रेरणा-स्रोत

पूज्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी महाराज का स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर मुझे सुखद अनुभूति हुई है। उन जैसे महान् आचार्य का व्यक्तित्व और कृतित्व सहस्रों भक्त-शिष्यों के लिए प्रेरणादायक और मार्ग दर्शक है। व्रज के मनस्वी एवं यशस्वी विद्वान् गोस्वामीजी को मेरी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

—ओंकारानन्द सरस्वती

डॉ० महेशचन्द्र शर्मा आई.एफ.एस.
वनमण्डलाधिकारी
जबलपुर (म० प्र०)

श्रद्धाञ्जलि

गोस्वामी ललिताचरण थे आचार्य महान।
अगणित जीवों को दिया प्रेम-भक्ति का दान ॥
प्रेम-भक्ति का दान धर्म का मर्म बताया।
भूल-भुलैंयों में भटकों को मार्ग सुझाया ॥
बाँटी रसिक उपासना राधाचरण प्रधान।
गोस्वामी ललिताचरण थे आचार्य महान ॥

गूढ़ मर्म हित धर्म का समझाकर सप्रेम।
अगणित शिष्यों का किया अतिशय योग-क्षेम ॥
अतिशय योग-क्षेम स्व-सुख का भाव भगाकर।
तत्सुखमय सुख दिया मधुर भावना जगाकर ॥
जगहितकर हितमार्ग पर रहे सदा आरूढ़।
जै-जै ललिताचरण के दिव्य चरित अतिगूढ़ ॥

—डॉ0 महेशचन्द्र शर्मा

★

भावाञ्जलि

श्रीराधावल्लभलाल के 'ललित' लड़ैते लाल।
तिनकौ सुयश बखानिहौं जिन उर लाल कृपाल ।।
श्रीहरिवंश सुवंश के ह्वै अवतंस सुअंश।
रीति कीर्ति प्रकटी सकल धर्मी करत प्रशंस ।।
पावन ह्वै पावन किये जन मन पावन धाम।
प्रेम पदारथ चारु दै पावन राधा नाम ।।
बसि वृन्दावन रज भजे श्रीहित-युगल उदार।
दै उपदेश अशेष जन सम्मुख किये अपार ।।
अष्टयाम सेये सदा श्रीराधावल्लभलाल।
नित-नित उत्सव ब्याहुले चाव-समाज विशाल ।।

नमो-नमो गुरुदेव दयाल।
ललिताचरण ललित आचरणहिं सेवत अति सुखपाल ।।
श्रीहरिवंश वंश अवतंस जु प्रकटे परम कृपाल।
विमल विवेकि विज्ञ अनुरागी गुण निधि रसिक रसाल ।।
श्रीराधावल्लभलाल लड़ाये अतिशय सहित सनेह।
वर्षोत्सव ब्याहुले समाजन झर्‌यौ प्रेम कौ मेह ।।
कलिमल ग्रसित तृषित जन-जन कूँ दै-दै के निज बाँह।
भव कौ आतप ताप निवार्‌यौ जुगल प्रेम की छाँह ।।
देहु कृपा पीयूष रसिकवर हर भव - व्याधि विशाल।
राधा प्रिया चरण की शरणहिं जाँचत देहु दयाल ।।

—राधाचरण

मोहनस्वरूप भाटिया
पत्रकार
प्रतिनिधि
आकाशवाणी * राष्ट्रीय समाचार * संवाद समिति

तिलक द्वार
मथुरा

सच्चे अर्थों में धर्मनिष्ठ विद्वान् सन्त

आचार्य श्रीललिताचरणजी गोस्वामी महाप्रभु श्रीहित हरिवंशजी द्वारा प्रवर्तित श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के धर्मनिष्ठ विद्वान् सन्त तो थे ही, सच्चे अर्थों में वह ब्रज की ऐसी धर्मनिष्ठ विभूति थे, जो सभी धर्म, सम्प्रदाय और विचारधाराओं से ऊपर उस भावना के प्रतीक थे, जो परम पिता परमात्मा और एक पीड़ित मानव के मध्य कल्याणकारी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव कर इस चिन्तन को जन्म देती है कि दीन-दुःखी व्यक्ति की मनसा-वाचा-कर्मणा सेवा ही ईश्वर की सच्ची आराधना है।

मुझे अनेक बार वृन्दावन में और फाल्गुन कृष्णा एकादशी को मानसरोवर में आयोजित राधारानी मेले के अवसर पर पूज्य आचार्यजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसी अवसर पर राधारानी के श्रीचरणों में उनके संगीत-समाज के रसास्वादन का सौभाग्य भी मुझे मिला है।

वह एक मनीषी चिन्तक और मार्ग-दर्शक थे। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को सहेज कर स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन एक शाश्वत पुण्य कार्य है और इस सद्कार्य में जिन्होंने अपना योगदान किया है, वे भी निश्चय ही स्तुत्य हैं। यह ग्रन्थ प्रेरणा का एक महान् स्रोत होगा। ऐसा मेरा विश्वास है।

—मोहन स्वरूप भाटिया

डॉ० उमा भास्कर
प्राध्यापिका पी.एच.डी.
एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी)

संस्कृत विभाग
प्राच्य दर्शन महाविद्यालय
वृन्दावन

चिरस्मरणीय

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज राधावल्लभ सम्प्रदाय के अद्वितीय विद्वान् आचार्य थे । आपने साहित्य-साधना में योग देकर महनीय कार्य किया है। आपने श्रीहित हरिवंशजी की रसोपासना से सम्बद्ध अपने नवीन विचारों एवं कल्पनाओं के माध्यम से मनन एवं चिन्तन का सार अपनी रचनाओं में समाहित किया है । कीर्तन, समाज गायन का आयोजन आपके संगीत के प्रति अभिरुचि के परिचायक हैं ।

गम्भीर मुखाकृति, स्नेहपूर्ण व्यवहार, मधुर वाणी एवं उदार हृदय युक्त गोस्वामीजी यद्यपि आज हमारे मध्य नहीं हैं, तथापि अपनी कृतियों, व्यवहार एवं आचरण से हमेशा स्मरण किये जायेंगे ।

उनके प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित है ।

—डॉ० उमा भास्कर

डॉ॰ बुद्धिप्रकाश एन॰ डी॰
स्वतंत्रता संग्राम सेनानी

दत्ता महल, गौतम-पाड़ा
वृन्दावन (मथुरा)

हमारे बाँट परी मुसक्यान

वृन्दावनीय रसोपासना के प्रख्यात वाणीकार श्रीहरिराम 'व्यास' ने श्रीहरि के दासों की सेवा को परम भक्ति का अंग कहकर निरूपण किया है।

"हरि ते हरिदासन की सेवा परम भक्ति कौ अंग"

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज इसी कोटि के रससिक्त महानुभाव थे। महाराजश्री द्वारा प्रसूत रसोपासना साहित्य की रचनायें हुईं। आपके साहित्य का एक यह भी वैशिष्ट्य है कि जहाँ भी किसी स्थल पर किसी अन्य आचार्य का संदर्भ आया तो बड़े सन्मान के साथ उस सिद्धांत को अभिव्यक्त किया। निष्पक्षता में तो महाराजश्री का हृदय भक्तमालकार श्रीनाभाजी महाराज के समान है, यदि ऐसा कहा जाय तो किंचित् भी अक्तिशयोक्ति नहीं होगी। भक्तमालकार की यही विशेषता वंदनीय है कि "जाकौ जो स्वरूप सो अनूप लै दिखायौ है।"

मेरा अपना अभिमत है कि जिन रस-पिपासुओं को महाराजश्री की संनिधि प्राप्त हुई वे परम सौभाग्यशाली है :—

"महाभाग बड़भाग सिरोमनि जिनही इनकौं चीन्हौ है।"

लगभग चार दशकों से मेरा भी सम्पर्क महाराजश्री से रहा है। उनके स्नेहिल स्वभाव का स्मरण करके चित्त गद्‌गद् हो उठता है। जब भी मैं महाराजश्री के पास पहुँचता वात्सल्य भरी दृष्टि से देखकर निहाल कर देते थे। महाराजश्री की मुसकान को स्मरण करके अष्टाचार्य वाणी में वर्णन स्वामी श्रीललितकिशोरीदेवजी की वह पंक्ति स्फुरित हो जाती हैं जिसमें श्रीप्रियाजी की मुसकान के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'हमारे बाँट परी मुसक्यान'।

मैं भी यह कह सकता हूँ कि श्रीप्रियाजी की मुसक्यान की मधुरता का अर्थ ही संस्पर्श नहीं हुआ है, पर उनकी निज सहचरी की मुस्कान तो प्राप्त हुई ही है।

—डॉ० बुद्धिप्रकाश

पं० व्रजनारायण व्रजेश
भू० पू० संसद सदस्य
भू० पू० अध्यक्ष अखिल भारतीय हिन्दू महासभा

७५-७६, सिन्धी कालोनी
लश्कर, ग्वालियर

श्रीगुरु कृपा-पात्र बड़भागी

अर्धशताब्दिकाल व्यतीत होने जा रहा है जब मैंने पूज्य गुरुदेव का शिष्यत्व स्वीकार किया था। मेरे यात्रापथ में उनसे विधिवशात् भेंट हुई और उन्होंने मुझ पर कृपा कर दी। मेरे पूर्व संचित कर्मों के फलस्वरूप ही मुझको उन जैसे गुरु की प्राप्ति हुई। मैं आज अपने को धन्य एवं कृत-कृत्य अनुभव करता हूँ।

शिष्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् जो भावात्मक स्थिति निर्मित हुई
उसकी निदर्शक मनःस्थिति।

पद

पायी अति अद्‌भुत अधिकार।
प्रियतम प्रिया खिलावत खेलत, वन वृन्दा आधार॥
यमुना - पुलिन सुखद वृन्दावन, रस माधुर्य आगार।
रुद्ध पवन महि उठित सु लहरें, प्रतिवन कल श्रृंगार॥
नितंत मुदित कुसुम किसलय दल खग कुल मधुर पुकार।
बाजत वेणु, मृदंग, झांझ ढप, पग नूपुर झंकार॥
चकित-चकित निरखत व्रजेश हित श्रीहरिवंश विहार॥

पद

हित कूँ हित बिन को समझावै।
हित के हेतु स्वयं ही हित निज उभय रूप प्रकटावै॥
प्रकट रूप लखि अनुपम शोभा लीला हित उमगावै।
हित यमुना हित वृन्दावन सखि सहचरि बन हित ध्यावै॥
हित मुरली धुनि सुनि हित नाचत हित अंग-अंग समावै।
हित रहस्य ही रास व्यास शुक नारद मन सकुचावै॥
हित व्रजेश, हित चरण शरण गहि हित कूँ हित सों पावै॥

—पं० व्रजनारायण व्रजेश

गुरु की कृपा-पात्र बड़भागी

संतत सेवा निरत रहत नित विषय वासना त्यागी।
बुद्धि शुद्ध भइ ज्ञान प्राप्त कर मोह नींद से जागी ।।

श्यामा-श्याम मोहिनी मूरत में मति-गति-रति लागी।
आनन्दित ब्रजेश नित गुरु श्रीललिताचरण अनुरागी ।।

पद

वंदौं प्रथम श्रीगुरु के चरण।
जिनकी सहज कृपा ते पाई वृन्दावन की शरण ।।
परम कृपा मय अति सुन्दर हैं मेरे हित के करण।
श्रीगुरु ललिताचरण बावरीदासी के दुःख हरण ।।

—श्रीमती देवकीबाई भरतिया 'बावरी गोपी'

गजल

श्रीगुरु ललिताचरणजू की, कृपा इकबार हो जाये।
लगालूं रज मैं चरणों की, मेरा उद्धार हो जाये ।।

मैं सेवक हूँ श्रीगुरुवर की, लगा तन-मन करूँ सेवा।
जगा दो प्रेम की ज्योति, चमन गुलजार हो जाये ।।

दया के आप हो सागर, ये ललिता प्रेम की गागर।
बहादो नेह की गंगा, तो बेड़ापार हो जाये ।।

फँसे हैं मोह माया में, बिठालो चरण छाया में।
शरण तेरी जो आ जाये, हृदय रससार हो जाये ।।

गजल

ए लिखने वाले तू हो के उदार लिख दे।
मेरे हृदय के भीतर सत्गुरु का प्यार लिख दे।।

माथे पै लिख दे दमकत ज्योति श्रीगुरु चरण की।
नयनों में उनका हरदम होता दीदार लिख दे।।

जिभ्या पै लिख दे श्रीगुरु ललिताचरण हमारे।
कानों में गुरु शब्दों की मधुर झंकार लिख दे।।

हाथों पै लिख दे सेवा जय-जय श्रीगुरु चरण की।
पैरों पै चल के जाना श्रीगुरु के द्वार लिख दे।।

हित प्रेमलता माँगे ना गुरु से हो बिछुड़ना।
मेरा तो सारा जीवन गुरु पै निसार लिख दे।।

—श्रीमती प्रेमलता गोहाटी

मुझे श्रीगुरु वो दिल दे दो कि जिसमें ध्यान तेरा हो।
जुबा वो दो जो करती हर समय गुणगान तेरा हो।।

मुझे वो दीजिये आँखें जिन्हें हो प्यास दर्शन की।
कि कण-कण में मेरे सत्गुरु केवल दीदार तेरा हो।।

मुझे देना सदा संगत तो देना अपने प्यारों की।
कि जिनको हर समय दिल में भरा इतवार तेरा हो।।

मेरा साथी जमाने में बनाना उनको ए सत्गुरु।
दया हो जिसके दिल अंदर और सेवादार तेरा हो।।

लगाती आँखों में पद रज फिरूँ मैं डोलती वन में।
ये लतिका प्रेम की फूले फले जो प्यार तेरा हो।।

—श्रीप्रेमलता गोहाटी

श्रवण सुमनाञ्जलि

(१)

एरी माई वृन्दाविपिन निकुंज विराजत, मम प्राणन सुखदाई ।
रूप रंग रस करुणा सिन्धु, प्रणतपाल बरदाई ।।
चिरजीवौ सब ही सुख विलसैं, दिन-दिन यश अधिकाई ।
चरण परस की ललक 'श्रवण' हिय नैनन माँझ समाई ।।

(२)

बसंत कल्पतरु प्रगट्यौ री हेली, फल उज्ज्वल अनुराग को ।
आज सराहत शेष शारदा, आश्रित जन के भाग को ।।
श्रवत मधुर रस सौरभ बरषत, दम्पति केलि सुहाग को ।
रसिक जनन के मन कौ रंजन, तिलक 'श्रवण' के भाल को ।।

—श्रीश्रवणकुमार खेमका

नजरे इनायत रखना यूँ ही तुम,
कभी कह न देना कि हम तुमको प्यारे हैं ।।
रोशन हुआ है तुम्हीं से मुकद्दर,
लाखों खुदा तेरे कदमों पे वारे हैं ।।
सलामत रहो तुम लगे उम्र मेरी भी,
तेरे दम पे रोशन ये सारे सितारे हैं ।।
जो लम्हे खुशी के लिखे हों नसीबे में,
वो बरसें तुम्हीं पर ये दिल में हमारे हैं ।।
क्या माँगू खुदा से रही कुछ न हसरत,
तुझे चाहने वाले बने जो हमारे हैं ।।
दिया दास 'श्रवण' को महबूब ऐसा,
हैं बाँकी अदा जिसके जल्वे ही न्यारे हैं ।।

स्वामी श्रीसीतारामशरण
लक्ष्मण किलाधीष

श्रीलक्ष्मण किला
श्रीअवध (अयोध्या)
फैजाबाद

श्रीप्रिया रस-सुधा-सिन्धु में निमग्न

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी महाराज एक महान् विद्वान् एवं समाजसेवी संत थे, जिन्होंने समाज की सेवा के साथ-साथ साहित्य का भी सर्जन किया। उनके अनेक साहित्यिक ग्रन्थ प्रकाशित हैं तथा साहित्य जगत् में उनकी कृतियों का विशेष सम्मान हैं। गोस्वामी श्रीहित हरिवंश महाप्रभुजी ने अपने श्रीराधा-रस-सुधा-निधि ग्रन्थ में उन सभी संतों को नमस्कार किया है, जो श्रीप्रिया-रस-सुधा-सिन्धु में निमग्न हैं तथा जिनको कर्मकाण्ड ने अपनी तरफ से छूट दे दी है। जो भगवत् धर्म में ममता शून्य से हैं, ऐसी विलक्षण रसमयी गति प्राप्त महापुरुषों को नमस्कार है। इससे स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय में रसोपासना का ही महत्त्व है, बाह्य चिह्नों का नहीं। गोस्वामीजी ऐसे ही महापुरुष थे।

श्रद्धेय श्रीगोस्वामीजी महाराज के 'स्मृति-ग्रन्थ' के अवलोकन से रसोपासना में सहायता मिलेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

—स्वामी श्रीसीतारामशरण

Shraddhanjali

in

English

You are the boundless ocean of Love—
That we know as 'Ultimate Reality'—
Wherein waves of sports of the Divine Couple
Rise as the sentiments blow
From the heart of any devotee
Destroying the ego that mars
Man's efforts to realise Thee.
And wherein Rasik minds like fish
Swim and play joyfully.
O ! The sousce of eternal bliss
Desert not the heart of your Jaimini.

❀

Rev : Shri Lalita Charan Goswamiji Maharaj–Vrindaban

During the short span of my life, there have been many occasions when I was blessed with the opportunity to feel HIS Infinite grace undeservingly. One such great occasion was when I first met Rev and beloved Shri Lalita Charn Goswamiji Maharaj (Jai Jai Maharaj as we fondly call him) at his Vrindaban residence "YAMUNA PULIN" in the year 1972 after the Radhashtami festival. I went there with my friend Shri R. S. Tewari to attend Satsang (Spiritual discource) without any previous acquaintance or reference. Although I have been visiting Vrindaban since many years before, I knew very little about Vrindaban Upasana and almost nothing about Radha Vallabh Sampradaya (Cult) to which dear Jai Jai Mahuraj belonged. I had heard from others that the followers of shri SWAMI HARIDASJI and SHRI HITHARI VANSHJI MAHAPRABHU (Worshippers of SHRI BIHARI JI and SHRI RADHA VALLABHJI respectively) are orthodox and do not welcome persons of other Sampradaya. Not only that, between them also they do not mix up with each other. With this back ground in view, I went to attend the Satsang of Shri Jai Jai Maharaj with little hesitation thinking that I will be a misfit there. Satsang was held at about 4 P. M. in the hall outside Maharaj's living room. There was a small gathering of Bhaktas—about 30 people, all devotees of SHRI RADHA VALLABHJI. I went and sat at the last row in the back at one corner with Tewariji. Within few minutes Shri Jai Jai Maharaj came out dressed in white Dhoti and Bagalbandi beaming with a smile. At the very first site I was thrilled. Something had transpired between us which I don't know what it was. I was overwhelmed by emotion. My heart filled, eyes

filled, throat chocked and hair stood on ends. What happend is beyond description. I felt an urge to rush to him and clasp him with an embrace. I felt "here I am before one who is my very own, known to me since long long ago." I felt like crying, but I controlled myself with great difficulty. Suddenly Jai Jai Maharaj's Compassionate eyes fell upon me and sweetly said "बाबा आगे आइए" (Baba come forward) as if he knew what I wanted. I was taken aback and for a moment I just could not believe that I am being called. I felt shy and timid to go forward tresspassing others sitting in front of me. However, I picked up courage, moved forward and sat befor him. I was little scared, unable to reconcile what had happened. I looked at JAI JAI MAHARAJ again and again. I saw him more and more, rather than hearing what is being said by him during the course of Satsang. For an hour it was a feast for my eyes ! Satsang ended-people dispersed one after another. Reluctantly I stood up but did not have the courage to touch his feet. I did pranam from a little distance which he acknowledged again with a smile. My surrender to him was instant, complete and unconditional ! My acceptance was final ! I was emotionally disbalanced. I came out, cought hold of Tewariji and began to weep like a child. I have no apt words to express what had happened.

That was a beginning without an end. That was the beginning of a new chapter in my life. That was the beginning of my Vrindaban Upasana ! I am not one of those fortunate few to have Vrindaban Vas (Staying at Vrindaban Dham). Mostly, I stay at Faizabad, but since meeting JAI JAI MAHARAJ the frequency of my visit to Vrindaban increased. The intensity of my urge to go to Vrindaban increased. Since then I had the special privilege to sit at his lotus feet frequently. That was the beginning of my permanent Vrindaban वास (stay), because to me VRINDABAN and Jai-Jai Maharaj are inseperable. Before him, I was like a child playing in his lap without a "past" or a "future" but with only one eternal "present". He loved me intensely, intimately and fondly, but I always remained too small even to acknowledge, except to bow my head in devotion and submission. What was he for me, can not be explained. It was an experience that sustains me with love and reverence for life.

It is difficult to describe his divine unique personality. He was true personification of a real Vaishnav as characterised by Shri CHAITANYA MAHA PRABHU in his following famous Verse :—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीय सदा हरिः ॥

That is to say :—

— in humility he was lower than that of an insignificant grass :

— in patience, he was lower than that of a tree standing unaffected against all odds;

— in egolessness, he was always giving honour to others, but without expecting honour from others;

— in devotion to Supreme, he was always intoxicated with the joy of Shri Hari Vansh नाम (name) and 'नित्य विहार' (sport between Priya Pritam, as sung in the वाणी by Shri HARIVANSHJI Mahaprabhu and his रसिक followers.

Before him every body was not only equal, but also good like his लाड़ली (favourite) RADHA RANI, knowing the weaknesses of others, he prentended as if he knew nothing lest they might feel embarassed. Once some miscreants broke open his house and even beat him brutally inspite of his giving the keys of the cupboard etc. with out any resistance. It hurt him when others called the miscreants दुष्ट (cruel). Such was his large and loving heart.

He was a big umberalla under which every body enjoyed the same shelter and safety.

He was like a deep well the depth of which nobody could ever fathom. Everybody could fetch sweet water from that well according to the size of the vessel which they carry irrespective of the length of the rope to which it is tied.

His whole life was dedicated to the service of SHRI RADHAVALLABH

and the cult of RADHA VALLABH SAMPRADAYA founded by SHRI HIT HARIVANSHJI MAHA PRABHU. He was the most powerful and ardent exponent of the principles & philosophy of RADHA VALLABH SAMPRADAYA in all its spirit and originality, He was the first one to bring out in book form the essential principles of RADHA VALLABH SAMPRADAYA. Inspite of his old age and ailments he devoted day and night till the end to collecting, scrutinizing, correcting, compiling, editing and translating the various literature of RADHA VALLABH SAMPRADAYA both in Hindi and English and getting them printed for the benefit of everybody. In addition, he has to his credit many writings of his own both prose & poetry which show his extraordinary literary and poetic talents. The service rendered by him for RADHA VALLABH SAMPRADAYA was unique and unparalleled in its history.

Personally for me one the greatest achievements in my spiritual life is coming into contact with Rev. SHRI LALITA CHARAN GOSWAMIJI MAHARAJ and Rev. SHRI HITANANDA GOSWAMIJI MAHARAJ and being nurtured by their love, kindness and blessings. When I think of Vrindaban both these personalities, who were also intimately close to each other, come up prominently in my mind like SHRI BEHARIJI AND SHRI RADHA VALLABHJI.

Physically JAI JAI MAHARAJ is now not with us, but in love and spirit he is always with us and will continue to shower his blessings on us to lead us to the goal supreme.

Whosoever has seen him once, can never forget his ever smiling, handsome face. His sweet, sober and soft spoken melodious voice will continue to sooth our ears.

The love, kindness, sympathy and parental affection and concern with which he used to meet, greet and enquire about the welfare of his beloved devotees, will continue to be cherished by everybody for all the time to come.

Lastly, whenever we are tossed to and fro by our past sanskaras or present bad influence and likely to be side-tracked, if only we remember SHRI

JAI JAI MAHARAJ and save ourselves from succumbing to bad temptations, it will be a befitting memorial to him.

If we sincerely and seriously try to live a life following the great ideals of SHRI JAI JAI MAHARAJ for which he lived, dedicated and sacrificed his his precious life, it will be yet another most befitting memorial to him.

JAI SHRI RADHA VALLABHJI

KRISHNANAND
Kartikeya Sewa Sadan
19, Park Road
FAIZABAD CANTT.

[Reproduced below is the letter dated 11 th July, 1992 received from Dr. Owen M. Lynch. Enclosure to his letter appearn next]

New York University
A private university in the public service
Faculty of Arts and Science
Department of Anthropology
100 Rufus D. Smith Hall
25 waverly Place
New York, NY 10003
Telephone : (212) 998-8550
Facsimile : (212) 995-4014

Dear Mr. Jaimini,

Please excuse me for not replying to your letter of 11 March 1992. I have been in such a poor condition that I have had to devote whatever energy I had to going to work and then returning home. Now that the semester is over I am trying to catch up with my other obligations and duties.

Your news about revered and beloved Acharya Shri Lalita Charan Goswami Ji Maharaj was a terrible shock and left me quite depressed. Acharya Jt was such a wonderful person and one to whom I felt a special bond. When we first met I felt and still feel today that our meeting was destined. He struck a special spiritual chord in me and the spiritual power of his concern, about which you wrote, must have enabled me to get through an exceptionally difficult year. I only wish that I had been able to come to India to talk with him again; now that must be in some future life. My health now seems to be improving and hopefully will continue so.

You asked me to write a few words about Acharya Ji and I include them along with this letter. Even if they are too late for the proposed Souvenir, they must be written to clarify my own feeling.

with sincere thanks for telling me the sad news about Goswami Ji and with wishes for that joyous love he told of and exemplified in his life.

Sincerely Yours.
Owen M. Lynch
C. F. Noyes Professor

Acharya Shri Lalita Charan Goswami Ji Maharaj

I first met Acharya Lalita Charan Goswami Ji in 1987 when I arrived in Brindaban to do a sociological study of the Radhavallabhi sampradaya. Archarya Ji began giving' me a series of lectures on the theory of Rasa as it is understood in the sampradaya. Before and after the lectures I would sit at his feet taking his darshan. It was then I realized that before me was a very special man whose darshan was the reality of what he had been teaching me.

Goswami Ji had not only a kind and generous heart, he also had a warm and gentle humor through which he communicated the joyous love of Shri Hit Harivansh. In those meetings I felt a special bond with him and realized that he was a man who understood truth about life and its meaning that could bring peace to the soul and joy to life itself. Almost all religions preach love, but the love that Goswami Ji told me about was different and only one who had sat at his feet can understand what it is.

After a week of lectures Acharya Ji sent me to Jaipur where there was to be a Guru Puja for his brother's birthday. In Jaipur I experienced some of the joy that animates the lives of devotees of shri Hit Harivansh and I myself experienced the joy of doing guru puja. Before leaving for Jaipur I left with Acharya Ji a copy of a publication in which I wrote about my experience of making the forty day Chaurasi Kos Parikrama in 1981. When I returned to Brindaban Goswami Ji had read my publication and exclaimed that I understoodwhat Rasa was about and that he had much more to tell me. I was overjoyed

that he had agreed to be my guru, to give me further instruction and to help me in the task for which I had come to India. Unfortunately, however, at that time I fell ill and then received bad news from home where I was forced to return.

But a special bond had been estsblished and Goswami Lalita Charan continued to correspond wtth me and to be concerned with my health. His loving concern has enabled me to get through the difficult times subsequent to my return to USA. Fate brought us together and me to his feet. For that reason I know that I will return to India once again to finish the work that he wanted me to do. Few American scholars have the opportunity to meet a guru, such as Acharya Lalita Charn Goswami Ji, who can change their lives as he did mine. I have been truly blessed.

=Owen M. Lynch

LOVE INCARNATE
Acharya Shri Lalita Charan Goswamiji Maharaj

—M. M. Jaimini

Yamuna, its pulin (sand-bank), the spring season and moon-lit autumnal nights of Vrindavana had long wait for someone who would come and join them in eulogizing and projecting faithfully to people the glory of their selfless and harmonious role in the Eternal Rejoicing (Nitya-Vihara) of the Divine Couple—Shri Shyama Shyam. At last an auspicous and opportune time came and it was on 11th September, 1908 that a great soul in the lineage of Mahaprabhu Hitharivansh Goswami—the founder of Shri Radhavallabh Sampradaya—descended on the sacred land of Vrindavana. This great Soul was named as Lalita Charan Goswami son of a father—Shri Basant Lal Goswami whose heart was ever full of deep love for Shri Radhavallabh Lal and compassion for all fellow beings—and of a mother–Smt. Gulab Kunwari who, being from the Stock of Radha-Krishna devotees, was not only equally pious but also an ardent lover of Sangeet. Naturally such of the transcendent qualities inherited by the child mixed well with the Spirit of Selfless love in his stuff.

Childhood of this great soul was apparently as common and simple as of any other child of the community. He had to go to Mathura for study upto intermediate level and many a times he would not mind going on foot to attend his classes there. 'Nunno' was the house-hold name given to him by his elders out of affection. He grew young with perfect, proportionate and attractive limbs from which strength appeared as if overflowing. His ruddy, honest and smiling face, his simple and unpretentious disposition pregnant with a desire to live a real life, his equally sound and well-balanced mind, were all perhaps

the evidence of his being the 'Elect'—the one chosen by the Ultimate Reality long before he was born. By nature he had no time nor any desire to bother about himself. On the other hand, he used to get so much pleasure out of bothering about others and doing some thing good to them.

Possessed of rare qualities of head and heart, as narrated to me by revered Goswami Hitanandji Maharaj, Nunno, while in his teens, happened to notice a fleshy pilgrim caught in the swirling waters of river Yamuna just in front of the bathing ghat of his ancestral house. The man was about 40 yrs. of age. He failed to swim across the river and was about to get drowned. Hearing his call for help, the boy Nunno jumped in the river and risking his own life, tried to save the pilgrim but could not succeed due to the pilgrim's body being heavier than his own. When on-lookers cried that both of them would lose their lives, someone managed to procure a long rope and threw it in the river. Nunno caught hold of that rope and with the help of this rope saved not only himself but also the pilgrim. The onlookers were happy and all of them applauded the boy for this heroic deed.

In those very days, while studying at Mathura, this exceptionally talented boy wrote a drama (Natika) "Yavanodhar" which was subsequently published by Shri Hitnatya Samiti, Vrindavan. This is perhaps his first literary work. I have had a chance to go through it. The said Natika was played on stage with his active participation as one of its characters. The audiance, including his elders, I am told, was unexpectedly moved by themetic freshness of the Natika and every body was appreciative of the successful performance given by the entire team of actors.

Struggle btween the godheads of truth, light and love on one hand and powers of darkness and selfishness on the other, is brought out from spiritual, religious and internal plane into the outer, intellectual and ethical one, in a nice way in the above said Natlka. The plight of helpless though faithful and sincere wife of Chiranand—a sinful abbot (Mahant) foibles of human nature in Manohar dass, goodness of Shri Hitacharya's disciple Permanand Dass and wonders of selfless love have all been depicted in a natural flow keeping in line with ethical values of the Indian culture.

In this Natika, Ganga and Yamuna two minor daughters of a decoit who

had lost his life while commiting robbery are introduced as having grown up as very attractive and good natured damsels. Having gone through a number of ups and downs, after the death of their father, they happened to come under the protection of Mahaprabhu Shri Hit harivansh in Vrindavan. But soon on the instigation of vicious Mahant Chiranand, these two girls were got abducted by one Azizbeg the then Fauzdar of the area. Azizbeg was a wine-bibber and a licentious person. He would not hesitate even to misuse his administrative powers to satisfy his lust and Mahant Chiranand—a bird of the same feather—acted as his accomplice. After abduction, these two grown up, beautiful girls were confined in a room, threatened and tortured so as to bring them round to perform as Azizbeg wanted them to do.

One day Chiranand also joins Azizbeg in his endeavours to bully and to bring these two girls round. Badly harrassed by them, the girls prayed to their Guru—Mahaprabhu Hitharivansh for help and protection. Suddenly there in the room appeared a dreadfully roaring lion with eyes burning with anger. Azizbeg and Chiranand both became so much nervous and terrified that they thought it safe and proper to restore these girls to Mahaprabhu.

Both of them escorted the girls to Mahaprabhu's Ashram, repented on whatever they had done und Mahaprabhu ji pardoned them. They were then quite changed persons, God-fearing and absolutely pious. Azizbeg—the Yawan lived like a true Muslim through out the rest of his life.

Another similar wonder of pure love flashes up in human mind when Narwahan, a selfwilled and truculent robber in the area, turns to be a merciful man on mere hearing the name of love incarnate Mahaprabhu Hitharivansh ji Maharaj.*

Yawanodhar Natika—if correetly evaluated. is not the creation and expression of a single individual mind, but it is of the mind of the whole society. It is as if written by a whole people. At one stage in the Natika a touching scene is created when the following words come out from the mouth of the elder girl—Canga, stirring up the conscious of entire humanity particularly the woman folk—

---

* For detailed account see Mahaprabhu's biographg.

"O God if you have bestowed on men so much strength, then why did you not give them a compassionate heart ? If you had done so, O merciful God, we ladies then would not have been labelled as weak, feeble or without strength (Abla),"

Spirited youth and the would-be voice and heart of Shri Radha Vallabh Sampradaya, Goswami Ji, after completing his Intermediate Course successfully, had to leave for Kanpur to study law. He did B.A.LL.B. in 1931. He also registered himself as lawyer at District Courts, Mathura but did not actually practise. Perhaps he realised that a man of his temperament could not be a successful lawyer. In Courts, he found himself in a world in which he did not belong. Shortly in abjustment to the circumstances then prevailing, the family shifted to Ahmedabad and, in course of time, he was married to K. Prabha Raniji daughter of Pt. Jawala Shanker ji of Jalesar (U. P.). Then a period of his life quite in conformity with his nature, started. Whole heartedly he took to spiritual pursuits, toured rural areas alongwith his brother, contacted people of all levels, delivered discourses on Geeta and preached his Sampradaya's doctrine of love. He put forth simple truth, in a simple language in a simple manner and solved the doubts of all—men and women, wealthy and the poor, the educated and the illitrate in an atmosphere of mutual love. Queens (Raniyan) of Paatri and Palitana States which he visited, were very much impressed by his discourses on spirituality and were highly respectful to him. So much so the former (Rani of Paatri State) visited Vrindavan and stayed in his ancestral house (Known as Yamuna Pulin) for days together and listended to his discourses. Now, day by day, it was becoming possible for him to work himself into a position of eminance among the Acharayas and Gurus in the Sampradaya.

I have also gone through a short story 'Darshan' written in those days by Gurudev and pnblished in Aug. 1942 issue of Vishal Bharat (Calcutta). In this story the writer, interalia, attemps to provide us indirectly a view of rare aspects of human relationship. In other words, the theme of the story is to provide a vision of unfamiliar principles out of very simple and ordinary events of life. We see how so called a well-placed, educated and respectable old man

takes advantage of the helplessness of an unemployed youth, promises him a job, just only to secure his company daily at fixed time while passing through a dark lane inhabited by stray dogs awfully and sometimes aggressively barking at the passers by.

At one place in the above mentioned story, the writer opines that study of philosophy, though gives birth to numerous questions in human mind and it even fails to give definite answers to these questions, yet it has the capacity of creating feeling of meaningfulness or usefulness towards one's life even in its purposeless or useless moments. One of such questions posed in the story is that how "Time (Kal Tatva)" which is held by a section of scholars as insentient, renders man—the most powerful and sentient creation of God—helpless and dependent ? Or, why man is not able to control or govern time ? A Hindi verse written by the writer perhaps in those very days and published in the same periodical—'Vishal Bharat' is also found full of such questions. This verse runs as under :

"Jaal yeh kaisa bichhaya
Vishv kya, is ka peryojan kya, samajh yeh kaun paya
Kaun hai voh karoor jisne la hamen is mein basaya
Kyon bitha ki sristi ki phir kyon madhur isko banaya
Kyon amrit ka ban sahodar garal ne isko sataya
Kyon hua pehchan ka sanchar manav budhi mein yeh
Kyon ne phir voh annya manav ko tanik pehchan paya
Kiyon huin hein vijit seemayein perbal vigyan se sab,
Kiyon parbal vigyan ne jan-hirdey ati seemat banaya
Prashn ka uttar sada yadi prashn se milta raha hai
Poorn uttar prapti asha ko hirdey mein kiyon jagaya ?"
ie, "What a trap as this has been lain ?
What is this world ? What for is this created ?
Who has understood this ? (i. e. none has understood it).
Who is that hard-hearted one who has brought us here to live ?
Why affliction is created and then,
Why has it been made sweet ?
After having born alongwith nectar,

Why the poison troubles this world ?
Why has the human brain been equipped with
An urge to make acquaintanses ?
Then why has a person not been able to understand the other ?

Why has this mighty Science transgressed or conquered
All the boundaries ? Why has this mighty Scicence made
The human heart so narrow, illiberal or selfcentred ?

If the question itself has always been giving answer to it,
Then why has the hope of getting complete or
Definite answer to any question been awakened in the heart ?

There is another short story written by Gurudev perhaps during the the same period. It is titled 'Achhot' (Untouchable). In this story he has nicely put forth the idea of unity in diversity of the east versus diversity in unity of the west through well-built characters of a cobbler by caste and his wife–both of orthodox views and one-minded devotees of Shri Krishna—on one hand and their highly educated, foreign returned son on the other. Seriously ill mother of this educated son, though holding her breath in the hope of having a look at him after a lapse of many years of his being out of India, gets angry and so much agitated that she refuses to see his face and dies on hearing that his son was pioneering the cause of so called 'Achhoots' in the country.

If I am correctly briefed, Gurudev shifted to Vrindavan more or less permanently in fifties and devoted himself whole-heartedly to the service of his Isht—Shri Radhavallabh Lal. Sometimes he toured various places in Madhya Pradesh like a flame of immortal love. He taught people not the glory of God but the power of love (benevolent love) that makes one to realise a feeling of blood relationship not only with every human being but also with every form of life. His pleasing personality and unique methed of dclivering his message in the tongue of the people evoked immediate response and respect in them. They found in him a saviour. But Like the bee, he never injured any flower, its colour or its scent. He behaved in perfect harmony with all who happened to come into his contact, harboured no anger, no pride, no deceipt and no

greed. He looked too happy, and absolutely satisfied while smilingly accepting even four anna coin as an offering from any devout person at the end of his discourse.

Gurudev's life was a cotinuous process of utilizing every moment and every atom of his energy for spiritual advancement and progress through practising benevolent love (Hit) primarily to his Isht—Shri Radhavallabh Lal. This love, unlike selfish and everchanging worldly love, had in turn, a natural tendency to spread out consistantly as if to embrace or cover the entire universe. For serveral years Gurudev drew water from the well located in the premises of the temple and carried on his shoulders heavy pitchers full of water upstairs and emptied them in the spring-tank meant for cooling the 'Nija Mandir i. e. the main temple of the deity. He occasionally led his followers as well as other devotees for Vrindavan parikarma singing ectstatically in chorus, arranged in boats on river waters, blissful 'Samaj-gayan' i. e. collective singing of selected verses, in conformity with specific occasions such as 'Sharad' (moonlit nights of autumn season), caused display of eye-catching 'Phoolbanglas' in the temple and very often fixed celebration of marriage ceremony of the divine couple—Shri Shyama-Shyam in a traditional way with great eclat. I am told, when the head-singer (Mukhiya) of the Samaj had left Vrindavan displeased on some trifle matter, Gurudev took that service on himself and conducted the Samajgayan in the temple daily—for several months. Here agiin I feel tempted to reiterate that Grudev bore no malice and showered no hatred. To none he had any feeling of attachment or aversion. His heart was as clear as an autumnal night, as unaffected as a lotus-leaf. Controlled in senses like a tortoise, he was steady as 'Meru' mountain and deep as any ocean.

Study of books or objects or say even of persons by enlightened souls, in general, is noted to be multiangular or multidimensional. So is the case with their perceptions. Here I am quoting an example where Gurudev showed the art of his looking at the problems of a spirited lady from her position. I believe no living Radhavallabhi would come out to say that he or she does not know Smt. Santosh Banka one of the sisters of Seth Sarwan K. Khemka who is rated as one of the nearest and dearest disciples of Gurudev and also one of e few exemplary Vaishnav devotees of Shri Radhavallabh Lal. Recently she

was kind enough to read out to me a number of her letters written to Gurudev and the latter's replies to her.

Bahen Santosh, may it be under the influence of his previous birth had a strong attraction for Shri Radhavallabh Lal and Gurudev from her very childhood. After marriage she had to live physically with her inlaws at Calcutta but mentally she was attached to Vrindavan. She was struggling with obstacles that usually come in the way of married ladies anxious to live in Vrindavan permanently.

One of her letters that she read out to me, was, if I correctly remember, written by her to Gurudev in 1957. In that letter she expressed her earnest desire to visit Vrindavan and sought Gurudev's help. Had Gurudev looked at Santosh Bahen's problem from his own level, he would have most probably underlined or stressed the importance and need of living in Vrindavan and referred to the first metre of Kalyan Pujari's Mangal Badhai, the last but one line of which reads as under:—

"Pargat Vrindavipin Yeh Sukh anat Kahoon nahin payiye" (page 347 Part I Radhavallabh ji ka Varshotsava) i. e. One cannot get this happiness (such as the company of Rasiks etc.) elsewhere except in this visible Vrindavan.

Or else he would have made her more restless by repeating the following couplets from 'Vrindavan Sat Leela' of Rasik saint Dhruv das :—

"Vrindavan ke vas kau, jinke nahin hulas l
Mata, Mitr, Sutadi, tiya, taj Dhurv tin kau pass ll
Aur des ke basat hi, ghatat bhajan ki bat l
Vrindavan mein swarthu, ulti bhajan huve jat ll
Vrindavan te anat, jetak dyos (divas) vihat l
Te din lekhey jin likho, vritha akarath jat li"

i. e. Those who do not feel delighted in residing Vrindavan, may they be one's mother, friend, son etc. or even the wife/busband, nearness to or company of all of them should be abandoned. Bhajan (devotion to Isht) diminishes or gets a set-back if one resides elsewhere because residing in Vrindavan (even) with any selfish motive is countable as a period spent in Bhajan or devotion. Number of days spent at any place other than Vrindavan

is all to be taken or counted as uselessly spent and these days are not worthy to be considered as part of one's life-span.

But Gurudev's reply is exactly what it should have been in the given circumstances. It is worth reading. You will find it a piecc of sincere advice to a person whose temperament was in the process of swinging from the spirited one to the spiritual one. Gist of the reply may be summarized in these words—

"Although the need and importance of living among Rasiks in Vrindavan can never be overemphasized or under-rated, one should not leave one's home or family or both for purpose of residing in Vrindavan under the influence of short-lived emotions. Radhavallabh Lal is pleased with you. You are on the right track. Still you have to keep patience, serve your Isht one-mindedly wherever you are, read and sing Shri Hit Vani, Sewak Vani, Bayalis Leela etc., and do as much japa of Guru Mantra as you can in the present circumstances. You know, Bhori Sakhee (Bholanathji) —a Radhavallabhi saint, lived in Vrindavan for about 8 years only during his whole life and yet he is known to be an accomplished Rasik devotee of Shri Radhavallabh Lal. I would ask Sarwan Kumar—Your brother to help you in getting an early chance of visiting Vrindavan and staying here for some time. I am sure, one day, you would certainly come here and stay permanently."

Gurudev's prediction came true. In due course of time Santosh Bahen did come and not only settled in Vrindavan permanently, she also became one of the most important figures in the service of Shri Radhavallabh Lal and Gurudev. She is still here. I consider myself fortunate to have attended once or twice, the 'Samaj-gayan' that is performed at her residence daily in the morning and found it really soul-lifting.

One of Gurudev's scholarly and much wanted work in Hindi known as 'Shri Hit harivansh Goswami, Sampradaya and Sahitya' was published in 1957. It was very much appreciated by literary figures of repute such as Sarva Shri, Hazari Prasad Dwivedi, Vasdev Sharan Aggrawal, Mathili Sharan Gupta, Akhandananda Saraswati and many others. This book, besides being inclusive of a psychological presentation of the philosophy (Sidhant) of the Sampradaya, is original, exhaustive, appealing and reveals certain hidden aspects of pure love

or 'Hit' which is held and worshipped by the Sampradaya as Ultimate Reality (Param Tatva). For instance Love is not depicted as power (Shakti) or energy or an attribute of God. Rather, it is explained to be the 'Last Principle' —eternal and immutable—and every other thing including God is subordinate to it. To say in other words. the almightiness of God or potency of any Goddess are all generated or originated by The Ultimate Reality ie love. Credit also goes to the said book for containing a lucid explanation about the incidence of union and separation in the Divine love of Shyama-Shyam. It is clarified emphatically that this Divine couple remains eternally united. The flavour of separation is experienced or enjoyed by them occassionally even while remaining in union with each other. In other words, the incidence of separation and union in their case occurs simultaneously at one and the same time.

Then came out Gurudev's remarkable annotations in Hindi on Shri Hit Mahaprabhu's Sanskrit work 'Radha Sudha Nidhi Stotram' and his Hindi verses known as 'Hit Chaurasi'.

I repoduce below the views of Bharat Bharti Dr. Nagendra, Ex-head of Hindi Department of the University of Delhi (now professor Emeritus of the University) and an outstandingly known literary figure of the country, on Gurudev's annotation (tika) on the verses of Hit Chaurasi :—

ब्रज भाषा के रससिद्ध कवियों में श्रीहित हरिवंश का अन्यतम स्थान है। मधुरा भक्ति के गायकों में वे जयदेव तथा विद्यापति की परम्परा के कवि हैं और भाषा शिल्पियों में वे नन्ददास के समकक्ष हैं। गोस्वामी ललिताचरण जी मधुर रस के ममंज्ञ और राधावल्लभ साहित्य के अधिकारी विद्वान् हैं। स्वभावत: उनके द्वारा प्रस्तुत श्रीहित चौरासी तथा कवि के अन्य पदों की यह व्याख्या अपने विषय का सर्वथा प्रामाणिक अभिलेख है। इस प्रकार के काव्य के व्याख्याकार के लिये केवल अपने विषय का अधिकारी विद्वान् होना ही पर्याप्त नहीं है, उसे रस मर्मज्ञ भी होना चाहिए। वे दोनों गुण गोस्वामी जी में पूर्णतया विद्यमान हैं। उन्होंने एक ओर जहाँ कवि की सूक्ष्म गहन अनुभूतियों का विश्लेषण किया हैं वहाँ दूसरी ओर उनकी अभिव्यंजना शैली के तत्वों की भी अत्यन्त मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उत्कृष्ट व्याख्या का प्रमुख गुण यह है कि उसमें शब्दार्थ और भावार्थ—दोनों के साथ पूर्ण न्याय होना चाहिये।

मुझे विश्वास है कि मधुर रस के पिपासु भक्तजन ही नहीं, वरन् काव्य रस के मर्मी सहृदयजन भी इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे और हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में काव्य की प्रसिद्ध टीकाओं की विरल परम्परा में इसका अपना स्थान होगा।"

Similarly Goswami's commentary on 'Sewak Vani' is also deep, thought-provoking and extremely valuable. His Hindi books published subsequently such as 'Bhajan Marg''Shri Radhavallabhiya Rasreeti ka manovigyanic parichaya' are also popular and have earned much appreciation. In addition to the works that I have mentioned above, Gurudev has a number of other works in Hindi at his credit including about 20 artcles and a number of verses in Hindi.

From his articles, which are published in this volume, one would get an impression that thc views of Gurudav on different cults were of unifying nature. He was for bringing together various religious systems or cults around the theme of love and peace. In other words, he was for expanding the concept—'Love is God' into the entire world community.
In one of his articles—"Braj Sanskriti Aur Aagam Tantra", he writes—

"It is not bad to think over religious sytems from an unifying angle. By this process of free and impartial study of different sytems, complexities or complicacies evidenced among them, get romoved to a great extent. But while studying the influence of one Sampradaya on the other, it is absolutely necessary that one understands the basic principles or the spirit of both of them. By intellectual pretensions. narrow definitions or interpretations in favour of or against any one of them, only the external forms of those religious systems are carried to people's mind and that too are found to be incomplete and unauthentic."

Mentioning about the three Sampradayas—Swami Haridas Sampradaya, Shri Hit Harivansh Sampradaya and Shri Hari Ram Vyas Sampradaya, Gurudev opines that where any difference is noticed among them, it is like the flow of river water in rainy season that breaks the banks but while passing under a mighty bridge all its impertinence is gone.

Gurudev's poetic work also reflects his spiritual wisdom and it is bound to meet the ecstatic appreciation. It is found to be an example of excellent words in excellent arrangement. In his verses words have been radicalised in relation to their common current usage by such devices as combination and placing. To read them is to export oneself to a world of aesthetic delight. They are a fine speci-

men of the style of a combination of sentiment, sound and sense. Each verse is a lyric and the lyricism casts a spell-one gets lost into its lilt. It appears every thing in Vrindavan gave him a thrill of the Divine Couple's vision and he belonged by every breath of his, to be Shri Radha's maid. See the following lines from one of his verses :

(a) "Ladli ham deen hain, ham deen hain,
Kripa jal hi mein jiyen vey meen hain l

(O darling Radha ! we are in a pitiable condition; we are indigent and we are that fish which would live only in waters of thy grace)

(b) "Ek bharose ladli tuv charnan ko mohi,
Moson vilag na maniye, Baba ki sonh tohi."

(O dear Radha ! I depend on or have faith in your feet only. I conjure Thee by the name of Baba Vrishbhan (Your father) that Thou would never forsake me.)

Besides dedicatory humility and selfloss, uneasy longing for having a view of the Divine Couple—Shri Shyama Shyam dallying in Vrindavan bowers is also evident from a number of Gurudev's Verses. One of such verses is reproduced below—

"Hon ban kujan ki balhari l
Je hain punjibhoot maharas, kusumit falit sadari ll
Sunderta ki seevan Radha, roop samudr Behari l
Latki–latki viherat jinke tar, pavat mod mahari ll
Sinchat var jamuna jal jinko, rajat ruchir chhatari l
Dekhan ko uklat Lalit Hit, hey Vrishbhan dulari ll

i. e. "I sacrifice every thing of mine on the bowers of Vrindavan. They (the bowers) are (as if) accumulated dense love and they keep always blossoming and bearing fruits as well. Radha is the limit of beauty. Krishna is the ocean of elegance. Both of them are extremely delighted while conquettishly dallying under these bowers which are irrigated by Yamuna. A pleasing splendour exists here eternally. O Vrishbhan dulari (Vrishbhan's beloved daughter) —Radha ! I am (ever) restless to see all this."

How to overpower or control lust ? This is a problem faced by almost all human beings. Gurudev's following lines give us a solution :—

"Kunwari gorang son kar preeti re mana l
Sudhh ras-reeti-bal jeet Ratiraj Kaun l
Sev Vrindavipin chhadi sab jalpna ll"

(O my mind ! you love fair—complexioned Kunwari Radha and conquer cupid (Rati raj) by the power of practising selfless love and serving Vrindavan denouncing all sort of bragging.)

Vrindavan Rasopasana, though already rich literarily with a history dating back to several centuries, it has been made richer by Gurudev's contributions specially in regard to its philosophy and relevance to world peace and understanding.

Now I tell yau how I came in contact with him. Quite unexpectedly in 1971–72 respected Mata Kailashvati ji from Delhi took me to Vrindavan alongwith two other colleagues of mine on the occasion of the gay Hindu saturnalia known as 'Holi'. She introduced us to Gurudev and one morning got us initiated in the Sampradaya. By and by I developed interest in the system of the Sampradaya and visited Vrindavan atleast twice a year—once at the time of Shri Hitotsava in May and next on the occasion of Shri Radhashtami in August-September. After retirement from Govt. service in 1982, my visits to Vrindavan used to be of longer duration i. e. about two months each time. After closer contact, I came to learn that Gurudev's wife, Smt. Prabha Rani had died in 1970 leaving behind her only daughter named Sudha Rani who, though married and settled at Amritsar, had decided to live in Vrindavan by the side of her father and be of some help to him. She is well-versed in playing on harmonium, Tabla, Cymbal etc; besides being herself a melodious singer. Extremely intelligent, kindhearted, broad-minded and pious, Sudha Rani too, like her father, is deeply dedicated to the service of Shri Radhavallabh Lal and His devotees as well.

Gurudev, besides being a man of all service to his Isht and anxious to

do good to others, remained always brilliantly gay and poised. He was never seen losing his temper. He was a 'Master Mind' of uncommon rate who carried the process of having renewed vision of love to bear on the problems of life of not only the rich but also the poor alike. His discourses were attended by people with rapt attention. He took days together to explain the nature and glory of Love (Hit) to his audience and looked quite lost in the topic. His talks were not mere lectures from human lips but were a message from a heart full of sublime love.

In 1988 Gurudev was kind enough to approve my suggestion of bringing out an English translation of 'Radha Sudhanidhi Stotram.' The work was started and completed in 1989–90 and as a result of long, untiring and sincere efforts of Dr. N. M. Shah bhai, it was published by Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay in 1991. This work has been liked by readers and found as carrying the sentiments and fine nuances from Sanskrit to English language faithfully and beautifully.

Just after this, Curudev took up the job of getting the second edition of his book 'Shri Hitharivans Goswami, Sampradaya and Sahitya', published. By that time Gurudev's eyesight had become weak and it had become strenuous for him to read or write with ease. Whatever he wished to add or to delete from the first edition of the book, he used to dictate to me. The new edition with two newly written appendices and some other important additions such as providing gist at the end of most of the chapters, was published in 1989.

Then for some time we kept ourselves busy in translating some selected couplets from Sudharm-bodhini-a poetic work of Radhavallabhi Saint Ladlidas ji into English. This work, however, could not be published.

Gurudev's first priority now was to have some independent work on the philosophy of Radhavallabh Sampradaya in English. He did not want any literal translation of his Hindi work. One, learnad Professor Owen M. Lynch of New York University, had sometime back, come into Gurudev's contact. He had stayed in Vrindavan, had fruitful discussions with Gurudev and had even stayed with a family of Radhavallabhi at Jaipur during Vyas puja (Guru Poornima) celebration days. Prof. Lynch had also shown interest in revisiting

Vrindavan for a fortnight or so and writing some thing original on the Sampradaya there-after. But this could not materialize firstly because he was not sponsored by his University to visit India again and secondly because his health suddenly deteriorated due to some ulceric growth in his stomach. But still we remained in correspondence with him. He kept trying to get a chance of coming to Vrindavan and we kept waiting for his arrival for about two years—1990–91. I consider it worthwhile to give here some letters and a few extracts from others to show how much anxious was he to revisit Vrindavan and how much love and respect had he for Gurudev :—

In his letter dated 14.9.89, Prof. Lyneh, interalia, says "especially after my trip to Jaipur, Radhavallabh Sampradaya has become very exciting and very important to me."

In his letter of 27.4.90, he says, "I feel that it is destined for me to do htis project on Radhavallabh Sampradaya with you as my Guru.........Your kindness is ever with me and I shall continue to work as hard as I can to return as soon as possible to Vrindavan where I might sit as 'Chela' at your feet to drink again the nectar of your sweet words of wisdom."

Copy of the letter sent to Mr. Lynch on 24.11.90

My dear Mr. Lynch.

Jai Shri Radhey.

I was pleased to receive your kind letter Dt. 25 Oct. '90. Some essays in 'Divine Passions' have been of direct interest to me. The essay on 'In Nand Baba's House,' is very well written and even the rituals observed by the devotees of Pushti Marga are very correctly interpreted and throw very lucid light on the miscellaneous observances prevailing in Pushti-Temples.

I have been straining my brain to follow the anthropological approach to emotion. As far as I have understood, emotions are something which originate in a man's mind when he comes in contact with the society. You know that the Indian definition of emotion is quite different from it. When you come over to India, I would try to grasp this anthropological definition of emotion directly from you.

Please go on pressing your deptt. to grant you leave for a fortnight's visit to India. I think that the money shall not be any problem.

I am doing well though getting weaker with the passage of time. I hope you are in good condition of your health and spirits.

With highest regards and affection.

Sincerely yours,
Sd/ Lailta Charan Goswami

Copy of paras 2 and 3 of Prof. Lynch's letter Dt. 15.1. 1991

You say in your letter "I am straining my brain to understand the anthropological approach to emotion." My introductory essay to Divine Passions is probably giving you this headache because it was written to get westerners to think of emotions differently than they do. The essay is directed to westerners rather than to Indians. Basically the anthropological approach is to understand how a society other than one's own understands and lives its emotions. Westerners think that emotions have little or nothing to do with morals and originate only in the body without the mind. Yet if they relate us to others, even to God, then how could they not be in part moral and how could they not in addition to the body also involve the mind and soul. Indeed, they involve the entire self. A major problem comes when Indians and Westerners understand the self and the nature of the self differently. An anthropologist tries to understand that difference and then to translate from one society to another to help people understand those differences.

Anthropologists are not so concerned to find one distinctive definition of emotion; rather they try to understand the knowledge and wisdom concerning emotions that people with different cultures in the world have been able to gather. Anthropologist also feel that one cannot understand people from another society from just reading books. What one has to do is to go and live with people, to participate and share in the things they do in everyday life so that they can understand from experience rather than just from books. That is why I was in Brindaban to study about the Radhavallabhi Sampradaya and

with you, That, I think, is also why you sent me to Jaipur where I began to understand Radhavallabh Sampradaya through the meaning it has for peoples' lives. A religion only in books is dead; it must live through its bhaktas. It seems to me that India's understanding of emotions is very profound and has much to teach the West with its limited and ethnocentric point of view. Anyway you will have to help me in all these things so that I can understand better in my own feelings so that I can write about them.

I wish you all the very best for the New Year, May it be one filled with joy, happiness and good health.

With greatest affection.

Sincerely Yours,
Owen M. Lynch

Copy os Prof. Lynch's reply to Gurudev's letter of 30.1.1991.

Dept. of Anthropology
New York University
NYC, NY 10012
USA
7 March 1991

Acharya Lalita Charan Goswami
Badwala Mohalla
Yamuna Pulin
Vrindaban Mathura Dist. 2811 21
India

Revered Lalita Charan Goswami,

I have received your letter of 30 January 1991 and apologize for the delay in answering until now.

When I read your letter tears came to my eyes and I feel them again as I sit down to write this letter. When I was in Mathura you affected me deeply in a personal way. Reading your words that "under the impact of growing senility I am feeling debilitated physically as well as mentally day by day"

greatly sadden me and make me ever more regret my hasty decision to leave India when I did. I think I was under the influence of bad stars for it was one of the worst decisions of my life. I still feel under the influence of those bad stars because I have not been able to get leave and the support to allow me to come to India for that conference and to then visit with you. I am now working on getting an invitation to another conference in for this coming summer that may enable me to do so.

All of that and some other mistakes of my own have made me quite down at the moment; yes the bad stars are there, but I also have to accept some responsibility for my own follies and limitations. Yet I am encouraged by the memory of your smile and your words about joy in life.

I do hope that you have been able to get through the winter season well and that now with Basant you will feel somewhat younger. Please forgive me for not yet finding the correct way to allow me return to Vrindaban to sit at your feet. I think of you often and know that it is in my destiny to hear your words. Even now your letters and words give me hope and courage to continue trying.

Yours sincerely,
Owen M. Lynch

copy of Gurudev's letter Dt. 29.4.1991

Vrindavan, India
29th April, 1991

My dear Mr. Lynch,

Your letter of 7th March 1991 was received by me some time back. I am happy to note that you are anxiously trying to find some suitable occasion to visit India. I can only pray for your success.

You have expressed a feeling of dissatis faction at the abrupt close of your last sojourn in India. There is no use repenting ever the past you' yourself are wise and understand this, I am sure. I believe brighter days are ahead and your 'will' must clear your way oneday.

English translation of Radha Sudhanidhi a Sanskrit work of Shri Hit-harivans Goswami, has been published by Bhartiya Vidya Bhawan Bombay (India). Hoping your visit to materialize early, I am not sending to you a copy of it by post.

Please keep me informed of the developments.

With deep love and best wishes.

Yours Sincercly
Sd/ Lalita Charan Goswami

Copies of paras 3, 4 and 5 of Prof. Lynch's letter Dt. 22.8.91.

Anyway, I've just reread your letter and take heart from it. In that letter you said, "I believe brighter days are ahead and your 'will' must clear your way one day." I believe now that what you said is true and that it will come my way. I also believe that nothing happens accidentally and that if one sees it in the right way what seems bad now can be turned into good for the future.

The news that your translation of Shri Hit Harivans Goswami's "Radha Sudha Nidhi" has been published is welcome, indeed. The translation will make available the teachings of this saint to a much larger audience and spread his message. I feel that thru you I have experienced some of that message and that experience motivates my need to return. Before meeting you, I had only intellectually known that one can understand sueh teaching through a guru, After our meeting I feel that I have come to know through experience some of what Shri Hit Harivans's teaching were about. That has given me a thirst, that is not merely academic but is more importantly personal, to know more from you.

I hope that you are well and that the heat of this past summer has not been too much. With deepest affection and kindest regards.

Sincerely Yours,
Owen M. Lynch

Losing hope of Prof. Lynch's visit to Vrindavan, we thought of writting ourselves a sort of primer in English on the doctrine of Radhavallabh Sampradaya. So, during the summer of 1991, I had another favour of working with Gurudev on this new project with usual fervour of a devoted disciple. Though he remained awfully busy, yet, whenever I tried to catch from him a few precious moments of his leisurely dictation or his listening to whatever I had written, in the morning as well as in the evening, I was duly rewarded.

There was a stage when about 25 hand-written pages having numerous cuttings and overwritings, required to be typed out fair immediately as Gurudev wanted them to be in a final shape for sending the whole lot to the press without further delay. One Gyanendra "Shyama Sharan" —a silent and dedicated disciple of Gurudev was present at that time. He spontaneously offered his services to do this job. Papers were given to him and he did the needful in 2-3 days time to Gurudev's satisfaction. Had he not done so, I would have taken those papers with me to Delhi and brought back after getting them typed out at my convenience i. e. at the time of my next trip to Vrindavan as usual in April-May, 92 when it would have been too late as Gurudev was not to be available in his existing human form then.

The script of the book was ready by the end of Dec. '91. Gurudev had also given necessary instructions about the title page, size of the book etc. It is now under publication with Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay and we hope it will be out soon.

Soothing waves of Gurudev's love and Compassion for everybody can never be forgotten in the restless ocean of time. He sifted all sentiments in the sieve of love and the result was all love and nothing else. The selfless love that remained ever active in him made possible to work himself into a position of eminence not only in his own Sampradaya but also in other circles far and near. One could easily notice his uncontrollable affection specially for small kiddies. For example, he would take temple—Bhandari's son (Satish) in his lap, kiss him and fondle him in many ways. The child would then take him by catching his finger to a small cuboard where 'Prasad' was kept. Gurudev would feed him with his own hand all the way trying to canceal his tender heart.

What a love generating scene it used to be ! Moreover Gurudev's daily visit to listen Samajgayan in the evening at the residence of Chhoti Sirkar ie Goswami Brij Jeewan Lal ji and thereafter a stroll on the top-roof of his own house in the company of Goswami Shri Hitanand ji Maharaj, had become a part of his daily routine.

On many occasions when gurudev as usual came down from his top-floor room at about 10 A.M. to start working with me, he looked tired and consumed; looking at him then made anybody believe his rarely expressed views that the bliss accompanying his ecstatic visions in seclusion was unlike anything earthly and was almost more than a mortal could bear. Such of his assurances proved that he was conscious of the sharp pain which accompanies nerve action in over-excited brain cells and which on careful analysis, may be distinguished in every very strong feeling of pleasure. I have put up this thing before the readers as an example of external manifestation of Gurudev's fervent love for the Divine Couple that was consuming his soul day and night. After having viewed the on going love-sports of Shri Shyama-Shyam through the peepholes available in the cauple's bowery abode, Lalita and other sakhees are said to have shown signs of similar restlessness with their heart and soul overloaded with excessive and matchless joy and also signs of not allowing tears of joy to flow out of their eyes, in the concluding lines of Hit Chaurasi verse no. 72. These lines run as under :—

"(Jai Shri) Hitharivans rasik Lilitadik,
Lata-bhavan rundhran avlokat l
Anupam sukh bhar bharit vivas asu,
Anand-vari kanthh drig rokat. ll"

Gurudev was a true master and guide to his disciples. Once an educated person came to Gurudev and complained, "Sir, my mind remains uncontrolled, goes estray, fails to concentrate. It often hovers around aimlessly and settles on every thing good or bad, necessary or unnecessary; mostly it keeps on floating around in illusive and defiled worldly ambience. Gurudev encouraged him, advised him to devote regularly more time in repeating 'Nam' and reading 'Vanees' of Rasik saints. In this way by regular and sustained

practice,' he said, the mind one day will be controlled or tamed without any difficulty. Something new for me that came out of Gurudev's mouth, was that he advised the person to sing a few beseeching verses of well-known saints in a humble way before starting his Japa or meditation as this will go a long way in making his unsteady mind become steady or settle down in devotion to his Isht. Lastly he told that short sittings for 'Name Japa' would not yield the desired results. "Halke phulke bhajan se kam nahin banega"—these were his exact words.

Gurudev strongly believed in oneness of the deity Shri Radhavallabh Lal and sakhee swaroopa Shri Hitharivansh as they both were two different forms of the same Ultimate Reality–Love. As such he was not in favour of taking the portrait of Shri Hitharivansh alongwith the processions of the divine couple on occasions such as Hitotsava. But he simply expressed his view with solid arguments in support thereof in a humble way without creating any bitterness in mutual relations with those having views to the contrary, The magic of his personality was remarkably so potent that even those who differed with him could not help adoring him.

Love is Ultimate Reality, This is the basic concept on which the entire structure of the philosophy of Radhavallabh Sampradaya stands. At several places in his works, Gurudev has convincingly emphasized the point that Love is not power or energy that functions under any one else's control but it is the source allright of all the powers or energies. Love, being all-powerful, is naturally pregnant with all the powers that this world could dream of. It is separate question and absolutely a matter of self-experience, whether the lover is aware or conscious of his possessing such powers or not. I give an example of Love's power in relation to Gurudev's life. One morning he and I were doing some work in the 'Tibari' of his Yamuna Pulin residence. It was perhaps the month of Aug and the ceiling fan was on. suddenly a sparrow came in chirping about and got struck against its blades and was wounded badly. The poor bird fell on the floor motionless as if dead. Gurudev called Savitri—a maid servant living in the premises—and asked her to drop some water on the sparrow. She did it in no time but the bird failed to respond. Gurudev's eyes became moistened out of love and compassion for the bird. He remarked in a very sad tone,

"Hai ! this had never happened here before." He had hardly finished his sentence, the sparrow flew away as if nothing had happened to it. Here we must bear in mind that Gurudev was not in favour of performing miracles or wonders through out his life.

Gurudev possessed less temper but overflowing tenderness. He was ever interested in saving or pardoning the repentant rather than punishing the guilty. For example, Once, one of his household male servant (I avoid to name him) in his weak moments misbehaved with a lady in the premises. Every body was angry and wanted that the fellow should be asked to leave the place atonce. Eventually it was Gurudev who pardoned him and allowed him to stay in the premises. He continued to live and serve there but as quite a changed person. See how a lost soul was retrieved ?

As already pointed out, Gurudev was not only dedicated to the service of his Isht—Shri Radhavallabh Lal but he had also linked up religion with doing deeds related to social welfare. It was he who got a hospital known as Shri Hitharivansh Charitable Aushadhalaya, established at Baad Village—the birth place of Mahaprabhu Hitharivansh Goswami, spent lacs of rupees on construction of the boundary wall of the temple built at the exact birth place and also got the temple linked with the main Mathura-Agra highway by a pucca road. Similarly he got constructed Radha Kund Temple and a Dharmshala by its side in 1951 and got the temple of Shri Rangi Lal at Devband reconstructed in 1981–82. Regular funds were also provided for daily 'Bhog-rag' and Ashtyam Sewa of the deity and also for the general maintenance and upkeep of the temple premises. In Vrindavan itself a number of dilapidated and worn out streets and roads leading to the temple were also reconstructed at Gurudev's behest. These were uplevelled so as to check the overflow of drains on both sides in rainy season.

This great soul also organised humanitarian measures for the relief of sufferings of the poor and helpless people such as assisting destitute families by giving them money and material both at time of marriages of their daughters. He provided for monthly help in terms of money to about 50 needy persons He also spent on medical treatment of so many patients who deserved such

help. A regular Bhandara is also run to provide one-time meal to local Sadhus and some poor people. Clothes, Sarees/dhoties blankets, Umbrellas etc. are also distributed to those who needed them and who had no money to purchase such articles. A number of students-male as well as female—also got monetary help so as to defray expenses on their fees, books and uniforms etc.

Credit of establishing the undermentioned trusts also goes to Gurudev. Continuation of all the aforesaid activities is ensured under these two trusts on permanent basis :—

(a) Acharya Lalita Charan Goswami Public Charitable Turst and
(b) Goswami Shri Basant Lal ji Maharaj Trust.

Radhavallabh Goswamis i.e. the descendents of Mahaprabhu Hitharivansh Goswami, are divided into two groups of families. One is known as 'Rasvans'. It is named after the name of Goswami Shri Rasdas ji maharaj. The other is known as 'Vilasvans' after the name of the former's brother Goswami Shri Vilas Das ji Maharaj. Gurudev was from 'Rasvans'. Service in the temple is performed by these two groups of Goswami families turn by turn normally in alternate months. Gurudev established a Vaishnav Committee to look after the day to day affairs relating to the general management of the temple including daily service to the deity during the service-period of Rasvans. Constitution of this registered body was, though, drawn up to the satisfaction of all under the guidance and goodwill of Gurudev but he never interfered with the administration of the Committee and performed only an advisory role wherever needed.

Before I conclude let me take you back to the autumn of 1991 when we were busy in giving final touches to the book—"Love is God (An introduction to a religious system based on this concept of Ultimate Reality). With the change of season i.e. towards the end of October, Gurudev fell victim to bad cold, cough and fever. Cough was causing him more trouble and restlessness. Inspite of all this and people urging him to stop straining his mind with the work of completing the book and instead take complete rest for a few days, he kept to his daily routine. Some of us around him suggested that, in the circumstances, remaining work should be suspended till the next summer i.e. till

after the winter season. But perhaps Gurudev had some intuition about his leaving for 'Nikunj' before the next summer and, as such, his reply was that the work in hand must be completed before Jaimini leaves for Delhi i.e, before Dewali in any case. None had the courage to argue with him further on this point. One evening, while sitting as usual in his 'specially-designed' chair and dictating some important points to me, he paused for a minute or two. If I exactly remember, Goswami Shri Krishna Chander ji Maharaj (employed as lecturer in a local college) and Gurudev's nephew Goswami Shri Kantu Lal ji Maharaj (who had come from Ahmedabad and had the coveted chance of ser-ving Gurudev) were present at that time. After a short pause, Gurudev revealed that in his vision two extremely beautiful girls radiantly dressed (probably he meant Shri Radha's Sakhees) had just appeared and told that they had come to take him to 'Nikunj' as per instructions of Shri Radha.Gurudev further reve-aled that he told the girls to come again after some time as he wanted to com-plete the work in hand before leaving. The maids said 'allright', Reply to Gurudev's question—"when will you come again to take me ?" was "that we cannot tell". And saying so they disappeared.

The work was completed in the last week of october and I returned to Delhi on or about 1st of Nov, 91. Some portions of the manuscript were got retyped at Delhi and the whole of it was sent to Gurudev in January 1992. He approved it and returned to me with instructions that I should despatch it to Dr. N. M. Shah bhai at Bombay for taking further necessary action regarding its publication by Bhartiya Vidya Bhawan. Gurudev's last letter to me was dated 19th Feb. 1992 in which he asked me to visit Vrindavan in March when winter would have lost its bitterness. Replying to my query, he advised that 'Black bee with a lotus' should be imprinted on the title-page of the book. It seems, with this advice his job was done, because on 24th Feb. 92 i.e., just on the fifth day after writing the above said letter to me, those two maids of Shri Radha appeared again and took him to 'Nikunj' leaving us all behind wailing in destitution.

I am fully aware that the account of such a great soul that I have given in this article is, in no way, complete. Much remains still to be said about him. I would simply add that if, after going through it someone finds his

moorings in the present time of moral crisis and unrest, my purpose would be served. Dear friends, we all know that Gurudev cannot be brought back into life in that very form, but still we can endeavour to bring to our lives the principles he stood and lived for. Let us then search him in our hearts where he is ever present and feel like living with him.

O Gurudev ! I gave Thee
Only a few idle moments of my time.
But you in turn bestowed on me
A new life soaked in love sublime.
I shall ever remain indebted to Thee
For all O Lord ! you did for me.
I humbly bow and further pray,
The bonds I could'nt break away,
You kindly break for me,
And, holding thy shade over me,
Teach what I could'nt learn myself,
And train (me) to do Thy werk honestly.

संस्मरण खंड
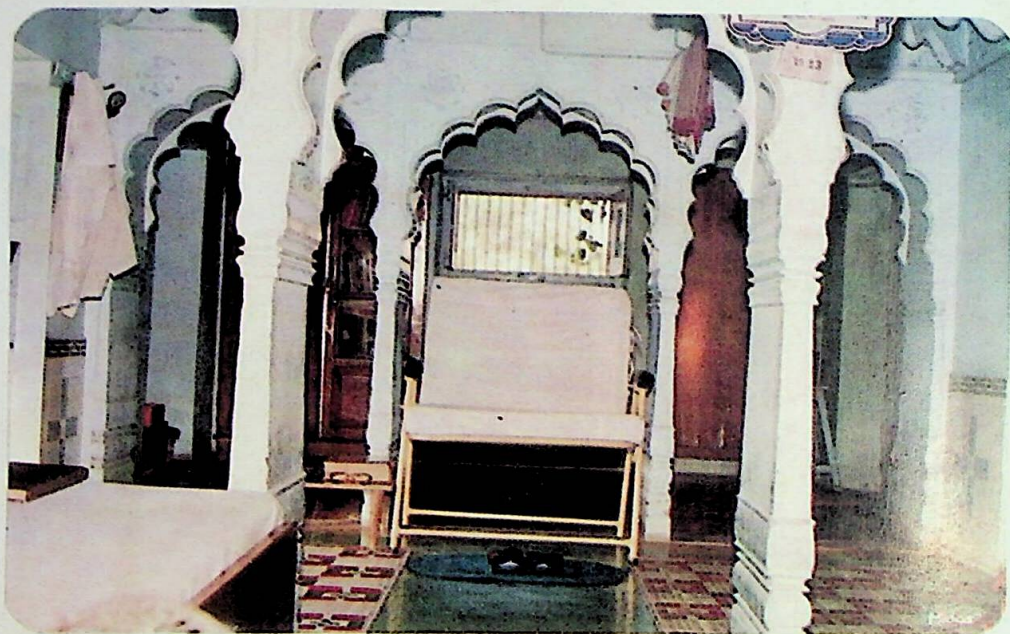
श्रीयमुनापुलिन, वृन्दावन में महाराजश्री की बैठक
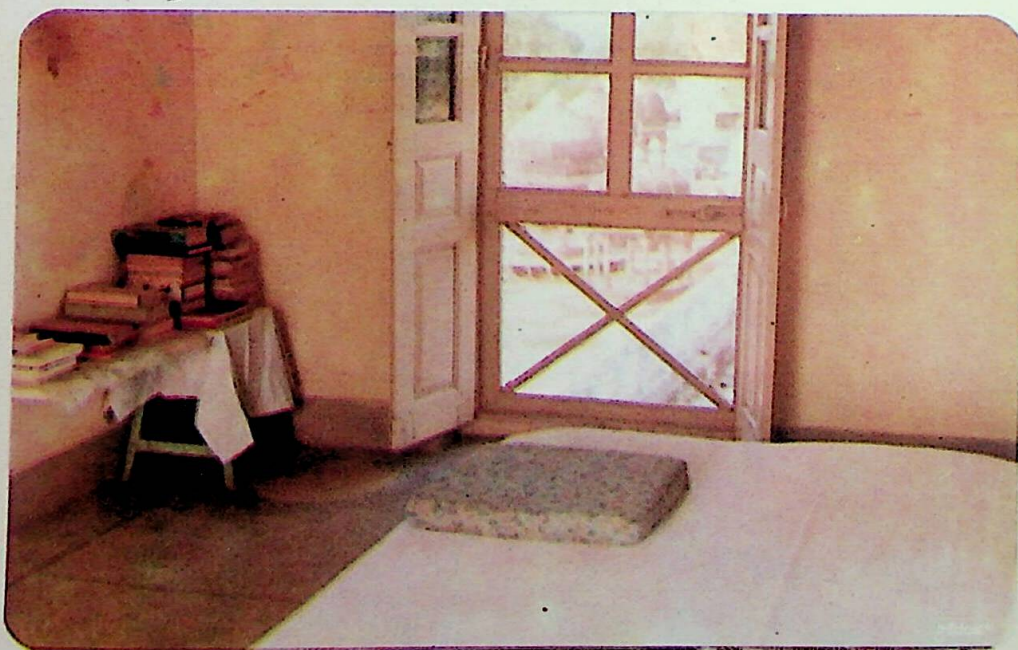
श्रीयमुनापुलिन, वृन्दावन में महाराजश्री की भजनस्थली

सेवामूर्ति मेरे ज्येष्ठ भ्राता

—आचार्य श्रीगोपाललाल गोस्वामी, वेदान्त शास्त्री

भारतवर्ष धर्म-प्राण देश है। समय-समय पर धर्म एवं नैतिकता की रक्षा के लिए विशिष्ट व्यक्ति विशिष्ट अवतारों एवं महात्माओं का प्रादुर्भाव होता रहता है। उनके द्वारा धर्म के चार अंगों तप, शौच, दया और सत्य इनका समुचित प्रचार एवं प्रसार होता रहता है। मेरे परमपूज्य गुरुदेव एवं ज्येष्ठ भ्राता आचार्य श्रीगोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज इन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों में थे। पूज्य भ्रातृचरणों ने अपने अमूल्य साठ वर्षों तक धर्म के इन चार अंगों को अपने जीवन में उतारकर तथा तदनुरूप अपने जीवन को बनाकर उसका जो प्रचार और प्रसार किया, वह अकथनीय एवं अवर्णनीय है।

आपके सरल व सरस स्वभाव से प्रेरित होकर सन् १९३२ से १९३७ तक काशी में भाग्यानुसार व्याकरण एवं वेदान्त दर्शन का अध्ययन करके जब मैं अहमदाबाद लौटा तब पूज्य भ्रातृचरण उस समय धर्म प्रचार के लिए गुजरात के विभिन्न रजवाड़ों में भ्रमण कर रहे थे। पुष्टिमार्गीय तौर तरीकों के अनुसार उस समय आप अपने संग चार-पाँच सेवकों के साथ जाते थे। तब दो राज्यों में मैंने उनके साथ यात्रा की थी। सर्वप्रथम गुजरात के पाटणी राज्य में हम लोग गये थे, जहाँ पर आचार्य चरणों का बड़े धूमधाम से सत्कार हुआ। सारे राज्य को सजाया गया था। भ्रातृचरणों के दर्शनार्थ राज्य की सारी जनता उमड़ पड़ी। भावुक जनता अपनी-अपनी अट्टालिकाओं से पुष्प-वर्षा कर रही थी। यह दृश्य देखकर मन बड़ा प्रसन्न हो रहा था। पाटणी दरबार सौराष्ट्र में प्रवेश करने का द्वार माना जाता था। जब हम लोग उसके राजप्रासाद में पहुँचे तब परम भक्तिमती राजमाता ने अपने विशिष्ट महल में महाराजश्री का बड़ा सत्कार किया। षोड़श विधि से सांगोपांग (वेद-मन्त्रों के साथ) पूजन किया।

कुछ समय बाद महाराजश्री सौराष्ट्र के दूसरे राज्य पालीताना में पधारे। वहाँ भी आपका बड़े धूमधाम व वैभव से सत्कार किया गया। उस समय पालीताना की राज-माता ने हमारे अहमदाबाद के श्रीराधावल्लभलालजी के मन्दिर के लिए चाँदी का बड़ा पालना बनवाकर अर्पण किया, जिसमें कि आज भी अहमदाबाद के ठाकुरजी विराजमान होते हैं, जिससे भ्रातृचरणों का स्मरण होता रहता है। उसी समय प्रचार करते-करते आप खम्भात स्तम्भ तीर्थ में पधारे, जहाँ आपका भव्य स्वागत हुआ। महाराजश्री ने खम्भात के बड़े-बड़े विद्वान् एवं न्यायाधीशों के समक्ष बड़े ही सरस एवं

प्रेरक भाषण 'अवतारवाद' एवं मूर्तिपूजा'—इन दो विषयों पर दिए, जो कि गुजराती में प्रकाशित हुए, जिनका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया गया है।

गुजरात में इस प्रकार कुछ वर्षों तक भ्रमण करने के बाद आप वृन्दाबन में सन् १६४० से स्थाई निवास करने लगे। उससे पूर्व हमारे पूज्य पिता श्रीबसन्तलाल जी महाराज अहमदाबाद से आकर निवास कर रहे थे। श्री पिताजी महाराज शुरू में अपने साथ बड़े महाराज को लेकर ग्वालियर राज्य के शिवपुरी, कोलारस, बदरबास आदि गाँवों में गये। वहाँ पर गाँवों में हितधर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। बड़े महाराज ने मध्य प्रदेश के अन्य गाँवों में भी पधार कर वहाँ की जनता का पथ-प्रदर्शन किया, जिसके कारण वैष्णव समाज में पर्याप्त चेतनता व हितधर्म-परायणता आगई। अपने दीर्घकाल तक मध्य प्रदेश में भ्रमण करने के पश्चात् आपने पूज्य पिताजी की आज्ञानुसार राधाकुण्ड स्थित श्रीराधावल्लभ जी के मन्दिर का निर्माण करवाया। श्रीजी की सेवा की समुचित व्यवस्था की। फलतः पिताजी महाराज बहुत प्रसन्न हुए। उसी समय वृन्दावन में स्थाई निवास करते हुए श्रीमहाराज ने श्रीजी महाराज की विभिन्न सेवाओं में ध्यान देना शुरू किया जैसे कि अपने निवास के बाहर बगीची में श्रीजी की फूल-सेवा के लिए कुछ लताएँ लगाईं। श्रीमहाराज कुँआ से बाल्टी भरकर उन लताओं का सिंचन करते थे। जब लताएँ कुछ फूल देने लगीं तब उनके फूल चुनकर श्रीजी की फूल सेवा में भेजते थे। मैंने एक दिन उनसे पूछा कि आप दो चार फूलों के लिए इतना शारीरिक परिश्रम करते हैं। तब आपने कहा— प्रेम से एक फूल भी श्रीजी के चरणों में अर्पित किया जाता है इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। नाहरमल जी का दृष्टान्त देकर मुझे समझाया।

महाराजश्री ने पूज्य पिताजी महाराज की तन-मन से सेवा की। जब पिताजी रोग-ग्रस्त हो गए तब उस समय भ्रातृचरणों ने बड़े ही लगन व तत्परता से सेवा की। वे पिताश्री के समस्त कार्य अकेले ही करते थे। उनके शौच से सने हुए वस्त्रों को धोना एवं समय पर औषधि,भोजन, स्नान करानाा आदि समस्त कार्य अपने हाथों से ही सम्पन्न करते थे। इस प्रकार पिताजी की सेवा करके वे बड़ी प्रसन्नता व सन्तोष का अनुभव करते थे। पिताजी के निकुंज गमन पर्यन्त तक निष्ठा एवं प्रेम से सेवा करते थे। इसी प्रकार सेवा करते-करते महाराजश्री ने श्रीजी के सेवा के कार्य अपने हाथों से ही किये। उन्होंने निज मन्दिर में श्रीजी के समक्ष फब्बारे को रसोई घर के कूप से एक बड़े घड़े से जल खींचकर कन्धे पर उठाकर भरा। २० वर्ष तक श्रीजी के फुहारे को भरने की सेवा महाराजश्री ने स्वयं की। श्रीजी की जल सेवा करके घर पर पधारते तब आकर थक कर लेट जाते थे। थकावट के कारण उनके शरीर से पसीना निकलना रहता था। फिर भी श्रीजी की सेवा निरन्तर करते रहते थे। उनको शारीरिक परिश्रम करके श्रीजी की सेवा करने में सुख मिलता था।

महाराजश्री ने ३० वर्ष तक समाज में बैठकर वाणियों का रसास्वादन करके अपनी भावनाओं को मूर्तिमान किया।

स्वरूप दर्शन

—आचार्य श्रीब्रजजीवन लाल गोस्वामी

आचार्य श्रीललिताचरण जी की जीवन शैली की समीक्षा करने पर उनका जीवन अनन्त श्री सम्पन्न गोस्वामी श्री श्रीहितहरिवंश महाप्रभु के उपदेशों पर आधारित प्रतीत होता है। उदाहरण के रूप में श्रीमहाप्रभुजी की वाणी देखिये—

सबसों हित निष्काम मति, बृन्दावन विश्राम।
श्रीराधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम।।
(स्फुटवाणी)

जीव के प्रति उपदेश है कि सबसे हित करो। बुद्धि को निष्काम रखो।

श्रीराधावल्लभलाल का हृदय में ध्यान करो और मुख से नाम लेते रहो। पहला उपदेश है कि सबसे हित-प्रेम करो। किसी से ईर्ष्या आदि मत रखो। इससे मन के विकार दूर हो जायेंगे। मन निर्मल हो जायगा। निर्मल मन ही स्वस्थ जीवन का प्रतीक है। कुछ विशिष्ट जन ही ऐसे होते हैं कि बुरे की बुराई की उपेक्षा करके उससे हित बनाये रखते हैं। गोस्वामी जी ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तियों में थे। यदि कोई आपसे मतभेद रखता या निन्दा करता तो आप उससे विवाद नहीं करते प्रत्युत अपनी उदार वृत्ति से स्मितहास्य द्वारा सहन कर लेते। यदि किसी बात का उत्तर देना अनिवार्य ही होता तो मीठी वाणी से मीठा और बौद्धिक उत्तर देते कि जिससे या तो मतभेद शान्त हो जाता या मतभेद रखने वाला मौन हो जाता। वे अपनी ओर से उसके साथ हित नहीं छोड़ते प्रत्युत उसकी प्रशंसा करते और उचित सेवा भी करते। यह गुण साधारण नहीं है, जो गोस्वामी जी में था।

दूसरा उपदेश है कि बुद्धि को निष्काम-कामना रहित बनाये रहो। गोस्वामी जी में अपने जीवन के लिये कामना नहीं थी। उन्हें अपने सात्विक जीवन के लिये जो सामान्य आवश्यकतायें थीं, वे सब सुलभ थीं। पूर्ण साधन सम्पन्न होते हुए भी वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे। लेकिन यह जीवन उनके सात्विक भाव से विरुद्ध था। वैभवपूर्ण जीवन से राजस भाव आता और इसके बाद फिर तामस भी आता। यह सब उन्हें ग्रहण नहीं था क्योंकि जीवन प्रपंचमय बन जाता एवं जो कार्य उन्होंने किया वह हो न पाता। हाँ, उनमें कामनाएँ थीं भी तो वे लौकिक न होकर पारमार्थिक थीं। वे

श्रीजी की सेवा, हित कुल की सेवा, सन्त समाज की सेवा और जन सेवा भी करते कराते रहते थे और इनकी पूर्ति होने पर प्रसन्नता का अनुभव करते थे। सेवाभाव की वे कामनायें पारमार्थिक होने के कारण भावनायें बन गई थीं। प्रेम में भावनाओं का होना स्वाभाविक है।

तीसरा उपदेश है—वृन्दावन विश्राम—अर्थात् वृन्दावन में विश्राम करो। श्रीवृन्दावन की महिमा तो जगत् में ही नहीं तीनों लोकों में प्रसिद्ध है।

गोस्वामी जी अपनी शिक्षा सम्पन्न कर अहमदाबाद में दो वर्ष तक परिवार के साथ रहे बाद में श्रीवृन्दावन को ही अपना स्थायी निवास बना लिया। यहाँ आपका समय श्रीजी के भजनभाव में, सत्संग समाज में, तथा वाणी-ग्रन्थों के अध्ययन, मनन, लेखन और प्रकाशनादि कार्यों में व्यतीत होता था। आपको श्रीजी के उत्सव बहुत प्रिय थे। श्रीजी का विवाहोत्सव (व्याहुला) बड़े समारोह से मनाया करते थे। महीने दो महीने में इसका आयोजन होता ही रहता था। इन उत्सवों में लाखों का खर्च हो जाता था। इन उत्सवों में मथुरा और आगरे तक से मन्दिर को सजाने वाले और श्रीजी का महल सजाने वाले कारीगर बुलाये जाते थे। विविध प्रकार के पकवान भोग लगाकर बाँटे जाते थे। श्रीजी को हजारों की पोशाक धारण कराई जाती थी। बड़ी धूमधाम होती थी इन उत्सवों में। इसके अतिरिक्त श्रीहितोत्सव, झूलनोत्सव, श्रीराधाष्टमी, पाटोत्सव, खिचड़ी उत्सव आदि पर विशेष भोगराग की व्यवस्था होती थी। श्रीहितो-त्सव और राधाष्टमी उत्सव पर आपको विशेष हर्षोल्लास होता था। इन उत्सवों को आप पूर्ण सहयोग देकर मनाया करते थे। इसके अतिरिक्त आप अनेक परोपकारादि के कार्य भी किया करते थे। इस प्रकार आपने अपना सर्वस्व श्रीजी के चरणों में समर्पित कर श्रीवृन्दावनवास का आनन्द लिया एवं श्रीजी की और सम्प्रदाय की सेवा कर एक आदर्श उपस्थित किया।

चौथा और पाँचवाँ उपदेश है कि श्रीराधावल्लभलाल का हृदय में ध्यान कर और मुख से नाम लेते रहो। ध्यान स्वरूप का किया जाता है। उसके साथ ही नाम स्वतः प्रकट होता है और नाम लेने पर नामी का स्वरूप भी स्वतः प्रकट होता है। नाम और नामी परस्पर सम्बद्ध हैं।

गोस्वामी जी का प्रातःकालीन समय श्रीजी के भजन, ध्यान और नामस्मरण में व्यतीत होता था। इसके अतिरिक्त भोजन और विश्राम के समय को छोड़कर बाकी सारा समय श्रीजी की सेवा से सम्बन्धित कार्यों कथा, सत्संग, वाणी दर्शन, लेखन, समाज श्रवण, श्रीजी के दर्शन आदि कार्यों में ही व्यतीत होता था। इन कार्यों द्वारा श्रीजी का ही ध्यान बना रहता था। आपका यह ध्यान श्रीजी की सेवा के रूप में वृन्दावन से आमे भी गया।

श्रीराधाकुण्ड में आपका प्राचीन श्रीराधावल्लभ जी का मन्दिर है। उसका जीर्णोद्धार कराया। सेवा पूजा की सुचारू व्यवस्था की। वहाँ दो उत्सव विशिष्टरूप से

स्थापित किये। श्रीहितोत्सव के बाद फूल बँगला और श्रीराधाष्टमी के बाद विहावला। दोनों उत्सवों पर परिकर सहित आप पधारते थे। श्रीजी के सन्मुख समाज होता था और पंगति होती थी। राधाकुण्ड से आपका ध्यान बादग्राम में केन्द्रित हो गया। यह ग्राम श्रीहरिवंश महाप्रभु जी का जन्मस्थान है। मथुरा आगरा मार्ग पर स्थित है। यहाँ एक ऊँची टेकरी पर सुन्दर मन्दिर है और उसमें युगलस्वरूप के साथ श्रीमहाप्रभुजी के माता-पिता तथा पालने में बालस्वरूप श्रीहरिवंश जी महाराज के दर्शन हैं। मन्दिर के सामने रासमण्डल पर श्रीप्रियाजी के दर्शन हैं। इसके पास ही एक वट वृक्ष है, जहाँ श्री महाप्रभु जी का प्रादुर्भाव हुआ था।

गोस्वामीजी ने यहाँ राजमार्ग से मन्दिर तक पक्की सड़क बनवाई। टेकड़ी का परकोटा बनवाया और ग्रामवासियों की सेवा के लिये एक चिकित्सालय भी स्थापित किया। आप बादग्राम पधारते तो वट वृक्ष के नीचे अवश्य विराजते थे और श्रीमहाप्रभु जी का ध्यान करते थे।

बादग्राम से गोस्वामी जी का ध्यान देवबन्द (जि० सहारनपुर) में ठाकुर श्रीरंगीलालजी महाराज के प्राचीन, ऐतिहासिक मन्दिर पर गया। श्रीमहाप्रभु जी के पूर्वज देवबन्द में ही निवास करते थे। आपके पिताजी श्रीव्यासजी महाराज यहीं निवास करते थे। वह मन्दिर पाँच सौ वर्ष प्राचीन था। जीर्ण हो गया था। गोस्वामी जी ने इसका नव निर्माण कराया और श्रीठाकुरजी को उसमें विराजमान कर समारोह से उत्सव किया। इस अवसर आप अपने परिकर तथा ३० गोस्वामी स्वरूपों के साथ देवबन्द पधारे। विहावले का उत्सव किया गया। कथा, प्रवचन, वाणीपाठ, कीर्तनादि का भव्य आयोजन किया गया। इस प्रकार आपने श्रीमहाप्रभुजी के पाँचों उपदेशों को अपने जीवन में चरितार्थ कर एक आदर्श उपस्थित किया।

रसिक भक्त साधक के लिये ऐसा ही जीवन श्रीजी की कृपाप्राप्त वाणी का फल साधन है। वस्तुतः गोस्वामी जी का जीवन सर्वतोभावेन सराहनीय एवं अभिनन्दनीय है।

□

मेरे अतिशय उदार दादाजी

—डॉ० नीता गोस्वामी

प्रातः स्मरणीय वे मेरे पूज्य दादाजी थे और मेरे पूज्य गुरुवर्य भी। वे एक दैवी व्यक्ति थे—ऐसे अनुभव तो मुझे अनगिनत हुए हैं, जिनका मैं शब्दों में वर्णन कर ही नहीं सकती। यह तो एक अनुभव का ही विषय है।

जब मैंने उन्हें गुरु नहीं बनाया था, जब वे मेरे सिर्फ दादाजी थे, तब भी वे यानी बचपन से ही मैं श्रीजी के बाद पूज्य जै-जै को ही अपने इष्टदेव के रूप में देखती थी, क्योंकि मेरी माँ के वे गुरु थे और वे भी उन्हें इष्टदेव के रूप में ही मानती थीं। जब-जब हम अहमदाबाद से वृन्दावन जाते तो तुरन्त मैं पूज्य दादाजी को प्रणाम करने सबसे पहले दौड़कर जाती। उस समय वे मुझे तुरन्त अपनी गद्दी पर अपने पास बैठाते। मैं झिझकती थी क्योंकि मेरे मन में उनके लिए खूब ऊँचा भाव था, जबकि उनको तो मेरे प्रति वात्सल्य भाव था। वे जबर्दस्ती अपने पास बैठाते तब मन में इतनी शांति का अनुभव होता कि लगता जैसे श्रीजी के चरणों में भक्त को स्थान मिल गया हो और वह परम शांति का अनुभव कर रहा हो। अरे! यह हुई प्रत्यक्ष रूप की बात किन्तु मुझे शुरू से ही कोई बहुत परेशानी या बीमारी या मानसिक उलझन आती तो मैं उन्हें पत्र लिखकर अपनी परेशानी बताती और हमेशा ही वे तुरन्त अपने कर-कमलों से पत्र का जबाव जरूर देते। उस पत्र में ऐसा चमत्कार होता कि पत्र पढ़ते ही हमारे सब सन्ताप अपने आप दूर हो जाते और मन स्वस्थ हो जाता था। वह बीमारी जो लम्बे समय से डाक्टरों से नहीं मिटती पत्र पढ़ते ही दूर हो जाती। शायद उनके पत्र से प्रेम और आशीर्वाद इस कदर टपकता था कि उनकी वजह से हमें मानसिक बल मिलता था और मनको शांति।

दादाजी ने हमेशा ही मेरी पढ़ाई, मेरी प्रगति में रस लिया था। जब-जब मैं वृन्दावन गयी होती तब-तब वे दिन में ३-४ बार ऊपर-नीचे, बैठक में वैष्णवों के सामने सभी जगह मुझे देखकर मेरी सराहना करते—"हमारे कुटुम्ब का यह गौरव है, हमारी बेटी खूब बड़ी डाक्टर है।" जब मैंने लेखन कार्य शुरू किया और एक के बाद एक पुस्तकें लिखनी शुरू कीं तब तो वे और भी गर्व से कहते—"नीता साहित्यकार बन गयी। हमेशा मुझसे वे सब बातें पूछते कि अभी कौन-कौनसी मैगजीन में कॉलम लिख रही हूँ, कौन-सी पुस्तक की कौन-सा संस्करण छप रहा है, नयी कौन-सी पुस्तक

लिखी ? अगर लम्बे समय तक कोई नयी पुस्तक न लिखी हो तो तुरन्त पूछते थे कि क्यों नहीं लिखी ? भई, अपना लिखना चालू रखो। इस तरह वे हमेशा मेरी प्रगति में रस लेते, मेरा पथ-प्रदर्शन करते। मैं जब लौटकर अहमदाबाद आती तब महीनों तक उनका दिया हुआ उत्साह और बल भूल नहीं पाती थी। मुझे हमेशा प्रतीत होता कि महान् व्यक्तियों की यही तो महानता है कि हमेशा दूसरों को वे महान् बताते हैं।

पूज्य दादाजी को सभी ने शायद एक गुरुजी के रूप में या एक धर्माचार्य के रूप में महसूस किया होगा। मगर वे विचारों में भी इतने प्रगतिशील थे कि शायद ही कोई कल्पना कर सकता है। मेरे डाक्टर होने के बाद मेरे माता-पिता ने मुझे आगे एम० डी० करने से रोका कि अब मत पढ़ो, शादी करनी है। जब मैंने पूज्य दादाजी को यह बताया तो तुरन्त उन्होंने आज्ञा दी और मेरे माता-पिता को भी पत्र लिखा कि नीता को पढ़ाओ और मुझसे कह दिया था कि तुम जितना चाहो उतना पढ़ो, अगर तुम शादी नहीं करना चाहतीं तो मत करना, हम आग्रह नहीं करेंगे और अगर पढ़ते-पढ़ते कोई भी ब्राह्मण का लड़का ध्यान में आ जाये तो हमें बता देना, हम तेरी शादी कर देंगे। मतलब कि हम लड़कियों को अपनी पसन्द की भी छूट थी।

शादी के बाद मैं हमेशा खूब अफसोस करती कि मैं अब वृन्दावन श्रीजी के दर्शन के लिये नहीं आ पाती, या घर में भी पाठ-पूजा कुछ नहीं कर पाती। दादाजी से मैं आशीर्वाद माँगती कि मैं ये सब कुछ कर सकूं ऐसे आशीर्वाद दो। तब वह हमेशा मुझे समझाते कि श्रीजी की कृपा तो अपने आप होगी और मुझसे कहते कि तेरे ऊपर तो श्रीजी की कृपा है ही, क्योंकि तेरी रगों में कान्तिलाल का खून बह रहा है, जो खूब भोला और संस्कारी खून है। इसलिए तुझे तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है, बस, अपना कार्य जो करती है वही करती जा। अपने आप श्रीजी कृपा करेंगीं। और इसी को मैं उनका आशीर्वाद समझकर शांत हो जाती थी।

हमेशा मेरे नेत्रों के सामने उनकी मन्द-मन्द मधुर मुस्कान और प्रेम से टपकाती दृष्टि रहती है और इसी को मैं श्रीजी की कृपा मानती हूँ। मुझे हमेशा गौरव होता है कि मैंने ऐसे कुटुम्ब में जन्म लिया, जहाँ हमें पूज्य दादाजी की कृपादृष्टि प्राप्त हुई। साथ-साथ खूब अफसोस और दुःख भी होता है कि हमारे घर में ऐसे महान् सन्त-पुरुष थे फिर भी हम उनसे इतने दूर रहे कि उनका कुछ सत्संग नहीं पा सके, न उनकी कुछ सेवा कर सके और हमेशा हमने अपनी तकलीफे उनको बताकर उनके कोमल मन को कितना कष्ट दिया, जबकि उन्होंने हमेशा ही हमें शान्ति, प्रेम और आशीर्वाद दिये।

ऐसे थे हमारे पूज्य जैं-जैं

—बाबा श्रीप्रियाशरण

आज से लगभग २८ वर्ष पूर्व सन् १९६४ में मेरे जीवन का वह परम सौभाग्य-शाली क्षण था, जब मुझे पूज्य गुरुदेव परम रसिक, रस मर्मज्ञ, रसस्वरूप राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य श्रीललिताचरण जी गोस्वामी (जिन्हें हम सब शरणागत जैं-जैं महाराज कहते थे) के दर्शन हुए। उस समय मैं श्रीजी की कृपा से श्रीवृन्दावन-वास का मन बना चुका था और यहाँ एक उपयुक्त भूमिखण्ड का क्रय करने आया था। पूज्य श्री जैं-जैं का प्रवचन श्रीराधावल्लभ जी मन्दिर प्रांगण में हो रहा था। एक राधावल्लभीय सन्त श्रीउषा जी की प्रेरणा से उनके साथ ही मैं प्रवचन सुनने गया। उस दिन प्रवचन में श्री वृन्दावन स्वरूप की व्याख्या चल रही थी। पूज्य जैं जैं श्री सेवकवाणी का उद्धरण देते हुए बता रहे थे कि रसिकों की दृष्टि में श्री वृन्दावन सीमित नहीं अपितु सच्चिदा-नन्दघन और सर्वव्यापक है। उस व्याख्या से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ और मेरे मन पर सर्वप्रथम छाप यह पड़ी कि इन महापुरुष का दृष्टिकोण समस्त साम्प्रदायिक संकीर्णताओं तथा दुराग्रहों से रहित परम विशाल एवं उदात्त है। पूज्य जैं-जैं का संग करने की उसी क्षण से हृदय में एक तीव्र लालसा जाग उठी।

श्री वृन्दावन में वास हेतु भूमिखण्ड का क्रय करके मैं कानपुर चला गया। कुछ काल पश्चात् उस भूमि-खण्ड पर गृह-निर्माण हेतु मैं पुनः यहाँ आया तो मेरी आँखें पूज्य जैं-जैं को खोजने में लगी रहीं। एक दिन वह छटीकरा रोड पर भ्रमण के हेतु आ रहे थे और मैं बाजार जा रहा था कि अकस्मात् उनके दर्शन पाकर नेत्रों की खोज पूरी हुई और वे तृप्त हो गये। दण्डवत् प्रणाम के पश्चात् मैंने मन की बात उनसे कही कि एक दिन आपका प्रवचन सुनकर मेरे मन में तीव्र लालसा है कि आपके श्रीचरणों में बैठकर मैं वृन्दावन के सम्बन्ध में कुछ जानूँ। पूज्य जैं-जैं ने बड़े ही सरल सहज स्वभाव से एक आत्मीय मुस्कान सहित उत्तर दिया कि आप जब चाहो निःसंकोच आ जाओ। मैं उनके इस उत्तर से प्रसन्नता से फूला न समाया और मेरे मन पर उनके सम्बन्ध में दूसरी छाप पड़ी कि यह तो आडम्बरों से रहित अत्यन्त सरल एवं सहज महापुरुष हैं।

थोड़ा-सा विषय से हटकर मैं यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा कि उपासना के क्षेत्र में मैं सन् १९५३ में आ गया था। कानपुर में जब मैं राजकीय सेवा में रत था एक

महापुरुष सन्त श्रीकृपालुदास से मेरा परिचय हुआ। उनके सम्पर्क से मेरे अन्दर श्रीकृष्ण-प्रेम का अंकुर उदित हुआ और उसने मेरा सम्पूर्ण जीवन बदल दिया। मैं श्रीश्यामसुन्दर को पाने हेतु परम व्याकुल हो उठा और युवा पत्नी, अबोध पुत्रों और पुत्री तथा राजकीय सेवा का परित्याग करके वृन्दावन, गोवर्धन, बरसाने भटकता रहा। कुछ काल पश्चात् इस स्थिति के शान्त होने पर श्रीश्यामाश्याम के गुणों का गान करने लगा और उनकी भक्ति का प्रचार करने लगा। मैंने प्रेम का उच्चतम भाव गोपीभाव ही सुन रक्खा था। अतः जब पूज्य जै-जै मुझे वृन्दावन-रसोपासना समझाने लगे तो मैं आश्चर्य चकित होकर बारम्बार सोचता था कि ऐसी भी कोई तत्सुखमयी विशुद्ध प्रेमोपासना है, जो आज तक मुझे उपनिषदों, भागवत, गीता, रामायण के पठन में और विभिन्न सन्तों महापुरुषों के प्रवचनों में कहीं भी न प्राप्त हुई। श्रीजी की सहज अद्भुत कृपा को सोचकर गद्गद हो उठता था, जिसने मुझे पूज्य जै-जै के श्रीचरणों में लाकर बिठाया।

पूज्य जै-जै ने महीनों अपना अमूल्य समय मुझे वृन्दावन-रसोपासना के समझाने में लगाया और मैंने मन में समस्त सन्देहों का निवारण करके इस उपासना को स्थापित कर दिया। पूज्य जै-जै जब नित्य प्रति घण्टों का समय देकर मुझे समझाते थे तो मैं सोचा करता था कि इससे पूर्व जितने सन्तों-महापुरुषों से परिचय हुआ वे सब वो बहुत बड़ा अहसान दिखाकर अपने समय की दुर्लभता को बताकर बड़ी कठिनाई से कुछ बताते थे और एक यह महापुरुष है कि जिनका न तो मैं शरणागत हूँ और न तन, मन, धन से किसी प्रकार की सेवा करता हूँ, फिर भी यह मुझे रसोपासना सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म बात इतनी उमंग और उत्साह से समझा रहे हैं। एक बार मैंने पूज्य जै-जै से कहा कि मैं आपका अमूल्य समय अपने मूर्खतापूर्ण जिज्ञासु प्रश्नों के उत्तर में नष्ट कर रहा हूँ। इसका मुझे बड़ा संकोच होता है। उन्होंने हँसकर उत्तर दिया "आप तो हमारे समय का सदुपयोग कराऔ और या चर्चा करके हमसे भजन कराओ"। इस उत्तर को सुनकर मन पर तीसरी छाप पड़ी कि यह तो परम अद्भुत् अलौकिक, निस्पृही, निष्किंचन महापुरुष हैं। जैसे-जैसे मैं उनके निकट सम्पर्क में आता गया वैसे-वैसे उनके सम्बन्ध में मेरे मन पर पड़ी छापें पक्की से पक्की होती गईं। मेरे इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है कि मैं पूज्य जै-जै के सम्पर्क में आने से पूर्व जो कुछ जानता था वह सब अपूर्ण था और उनसे पूर्व जिन-जिन सन्तों-महापुरुषों से मेरा मिलन हुआ वे सब पूज्य जै-जै के समक्ष बौने दिखाई दिये।

सत्य तो यह है कि भगवान् की प्राप्ति से भी बड़ी प्रेमी की प्राप्ति है। प्रेमी की खोज तो स्वयं भगवान् करते रहते हैं, इसके साक्षी वेद, पुराण, भागवत, रामायण सभी सद्ग्रन्थ हैं।

"जो कोई खोजत फिरै आबैं जग अवगाहि।
नेही दुर्लभ पावनो और सुलभ, सब आहि"॥

(बयालीस लीला)

पूज्य जैं-जैं सच्चे अर्थों में नेही किंवा प्रेमी थे। प्रेमी भक्त के सभी लक्षण यथा 'तृणादपि सुनीचेन, तरोरिव सहिष्णुना, अमानिना मानदेन, (अर्थात्) तृण से भी अधिक लघुता, वृक्ष के समान सहनशीलता अपने मान या प्रशंसा प्राप्ति की लेशमात्र इच्छा न होना और दूसरों को सम्मान देना, उनकी प्रशंसा करना आदि पूर्णरूपेण विद्यमान थे।

श्रीसेवकवाणी के अनुसार 'प्रेमी' के सभी लक्षण पूज्य श्री जैं-जैं में पूर्णरूप से दृष्टिगोचर होते थे। वह वास्तव में अपने को सबसे लघु ही मानते थे। हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी, गुजराती चार भाषाओं के ज्ञाता होने पर भी उनको इस ज्ञान का लेशमात्र अभिमान नहीं था। यदि कभी कोई उनके ज्ञान अथवा उनकी किसी कृति की प्रशंसा करता तो सुनकर प्रसन्नता के स्थान पर उन्हें संकोच होता और कहते—

"भैया मैं तो कछू नाय जानौं यह सब तो व्यासनन्दन की कृपा से मेरे मन में उदय ह्वै जाय"।

जब से मैं उनके सम्पर्क में आया उन्हें तन, मन, धन से श्रीराधातत्त्व, श्रीराधावल्लभ-मन्दिर, श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय, श्रीराधावल्लभीय गोस्वामी स्वरूपों, वैष्णवों, साधुओं, व्रजवासियों और दीन-दुखियों की सेवा करते ही देखा। वह अपनी सेवा तो विवशता में कराते थे। उसमें उन्हें प्रसन्नता नहीं होती थी। मैं स्वयं इसका साक्षी हुँ कि जब कभी उनके कोई शरणागत उनसे किसी सेवा की प्रार्थना करते तो उनका एक ही उत्तर रहता ' मोकुं याकी कोई आवश्यकता नायँ। मैं तो ऐसौ ही ठीक हूँ"। वह सदा श्रीजी की सेवा हेतु प्रेरणा देते रहते थे। वृद्धावस्था अधिक होने पर जब शरीर थक गया तब उन्होंने विवशता में शरीर-रक्षा के हेतु कमरे में कूलर की सेवा स्वीकार की। कड़ी वस्तु पर बैठ न पाने से फोम का गद्दा कमरे में रखने दिया। भूमि पर बैठकर उठने में कष्ट होने से कुर्सी पर बैठने लगे थे।

मुझे भलीभाँति स्मरण है कि जब वह शारीरिक रूप से सक्षम थे और ग्रीष्म-काल में श्रीजी के निज मन्दिर में अनवरत ३-४ घण्टे कुँए से पानी भरकर फर्श पर डालकर मन्दिर को शीतल करते थे। उस समय उनके भक्तों ने उनसे कितनी बार प्रार्थना भी की कि वह कमरे में कूलर लगवा लें, फोम का गद्दा डलवा लें, उन्होंने अस्वीकार कर दिया। भक्तों ने मुझ से कहलाया क्योंकि मुझे अधम को वह कुछ विशेष स्नेह और सम्मान देते थे। मैंने भी प्रार्थना की तो बोले "बाबा मोय कोई आवश्यकता नायँ। व्यर्थ में झंझट में और पड़ जाऊंगो।" श्रीजी की तथा दूसरों की सेवा मुक्तहस्त से परम प्रसन्नता से करते थे और अन्तिम क्षणों तक उन्होंने सेवा ही में जीवन व्यतीत किया। उनके द्वारा की गई सेवाओं का वर्णन यदि किया जाये तो एक पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है। इतनी सेवायें करने पर भी उनके मन में कहीं भी सेवाभिमान नहीं था। वह बिना भेदभाव किये सेवा करते थे। जो उनके प्रति अपने मन में द्वेष रखते, उन्हें अपमानित और लांछित करने की चेष्टा न करते, उनकी भी सेवा करते थे। जब कभी

ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में उनसे कोई कहता कि जै-जै वे जब आपको हर प्रकार से अपमानित करते हैं, निन्दा करते हैं और अपशब्द कहते हैं तब उनकी सेवा आप बन्द क्यों नहीं कर देते। इस उत्तर पूज्य जै-जै कहते—"भैया! सेवा के हेतु सेवा करी जाये। जाकी सेवा करी जाय वासों कछू बदले में पाने के लिये थोरे ही करी जाय।" श्रीराधावल्लभ मन्दिर, समाज और साहित्य की सेया करने उसे समृद्ध बनाने में उन्होंने कोई कोर कसर नहीं उठा रक्खी। जब मैं इस सम्प्रदाय में दीक्षित हुआ, उस समय मन्दिर की सेवा पूजा की स्थिति शोचनीय थी, किसी प्रकार सेवा-पूजा की गाड़ी खींचीं जा रही थी।

इसी प्रकार जनसाधारण श्रीहित महाप्रभु द्वारा प्रकटित वृन्दावन-रसोपासना से सर्वथा अपरिचित था, क्योंकि उस समय जो वाणियाँ तथा उनकी टीकायें उपलब्ध थीं, वे सभी या तो ब्रजभाषा में थीं या संस्कृत में थीं। उनके अर्थ और भाव समझना सबके वश की बात नहीं थी। पूज्य जै-जै ने इस अनुपम और जन कल्याणकारी उपासना को जन-जन तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया। उनकी दृष्टि में हितोपासना किसी व्यक्ति विशेष, समूह विशेष, समाज विशेष और सम्प्रदाय विशेष के लिये न प्रकट होकर श्रीहित महाप्रभु द्वारा करुणा करके समस्त विश्व के लिए, सबके लिये प्रकट की गई थी। अत उन्होंने इसे सब तक पहुँचाने के हेतु "हित हरिवंश गोस्वामी; सम्प्रदाय और साहित्य" की रचना तथा श्रीचतुरासी जी, सेवकवाणी, राधा-सुधानिधि, बयालीस लीला की कुछ लीलाओं, की तथा मंगल बधाई, आदि की टीकायें खड़ी बोली में करके जन साधारण तक पहुँचाया। वह चाहते थे कि उस उपासना को विदेशी भी जानें, समझें और लाभ उठावें, इसके हेतु अपने प्रिय शिष्य श्रीमदनमोहन जैमिनी जी के सहयोग से श्री "राधासुधानिधि" का अँग्रेजी अनुवाद किया और अँग्रेजी में एक पुस्तक (लव इज गॉड) की रचना अपने जीवन के अन्तिम काल में दिन-रात, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास का भी ध्यान न रख कर की।

उनके अनवरत प्रयास से ही मन्दिर की सेवा-पूजा की जो गाड़ी २२ वर्ष पूर्व किसी प्रकार खींची जा रही थी, वह वर्तमान में मेल-एक्सप्रेस की भाँति दौड़ रही है और वृन्दावन रसोपासना किंवा हितोपासना का महत्व, उसको जीवन में आवश्यकता जनसाधारण भी समझने लगा है। इतना करने के पश्चात् भी मैंने कभी उनके मुख से यह अभिमान सूचक वाक्य नहीं सुना कि मैंने यह सब किया। अभिमान तो उन्हें छू भी नहीं गया था। मानापमान से बह परे हो चुके थे। मेरे देखते-देखते उन्हें कितना अपमान मिला, कितना अपयश मिला, जान से मार देने की कितनी धमकियाँ मिलीं, और कितनी ही आलोचनायें हुईं परन्तु उनके मुख पर मैंने चिन्ता या विवाद की रेखा भी नहीं देखी, क्योंकि वह "मैं" अर्थात् अहंकार से सर्वथा रहित थे। अपने को सबसे लघु मानने की प्रवृति, दीनता, निरहंकारिता आदि तो उनमें सहज रूप से कूट-कूट कर भरी हुई थी। वह न कभी किसी की निन्दा करते और न सुनते थे। अपने इष्ट और अपनी उपासना में पूर्ण अनन्य भाव रखते हुये भी जब कोई उनके पास आकर किसी

देवी-देवता, अपने इष्ट-गुरु, सन्त-महात्मा की चर्चा करता तो वह सबकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। न किसी की निन्दा करना और न सुनना तथा सबकी प्रशंसा करना ही तो सच्ची लघुता और दीनता है।

एक बार मैं उनसे "भजन कैसे करना चाहिये" के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा था। उन्होंने कहा 'बाबा। मैं तो जब भजन प्रारम्भ करूँ तो सबसे पहिले उन सबकौ ध्यान करूँ जो मों सों कछु कुभाव रक्खें अथवा मेरे मन में जिनके प्रति कछु कुभाव होय और उन सबसे क्षमा माँगू उनसे प्रार्थना करूँ कि मो पै सदा कृपा बनाये रखियों जाते मेरो भजन निर्विघ्न चलतो रहे और याते चित्त शुद्ध ह्वै कै भजन में लग जायँ"। अपने अहंकार को गलित करने तथा अपने को लघु मानने का कैसा सुन्दर उदाहरण है।

वह हर समय भजन में डूबे रहते थे। मैंने बहुत सूक्ष्मता से इसको देखा कि वह हम सबके बीच बैठे रहते थे और हम सब अपनी-अपनी बात कहते रहते, वह 'हाँ-हूँ' भी करते रहते, आवश्यकता पड़ने पर उत्तर भी दे देते,परन्तु उनका मन श्यामा-श्याम की केलि में ही रहता था। दूसरे दिन कोई कहता कि जै-जै कल यह बात हुई थी तो आश्चर्य चकित होकर पूर्ण अनभिज्ञताप्रकट करते हुये कहते "कहा ऐसी बात भई ही, ? मोय तो कछू याद नाय रहै"। वह सब कुछ सुनते हुए कुछ नहीं सुनते थे, सब कुछ देखते हुये कुछ नहीं देखते थे। नियमित और एकान्तिक भजन तो उनका एक आदर्श उपस्थित करता था। यह भजन वह तीसरी मंजिल के कमरे में किया करते थे। प्रातः नियम से ऊपर चले जाना और नियम से नीचे आना उनका नित्य का क्रम था। यह समय अन्य किसी भी महत्त्वपूर्ण से भी महत्त्वपूर्ण कार्य को नहीं देते थे, क्योंकि उनके लिये भजन से महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं था। सायंकाल वह भ्रमण के लिये जाते थे और एक निश्चित स्थान, छटीकरा रोड पर (वर्तमान में जहाँ कोल्ड स्टोरेज है) पुलिया पर बैठकर एकान्त में भजन किया करते थे। उस भजन में उन्हें समय का भी ज्ञान नहीं रहता था। रात्रि को कभी ११ बजे, १२ बजे, कभी १ बजे लौटते थे। इस प्रकार अहर्निश भजन में रत होने पर भी उन्हें भजन का कोई अभिमान नहीं था। शरणागत शिष्यों के भजन की प्रशंसा करते हुये कहते 'भजन तो आप सब करौ। अहा! कहा आप सबकी निष्ठा और भजन है!" मैं जब कभी पूछता कि जै-जै आप कैसे भजन करते हो? तो उत्तर देते कि "बाबा मोय तो भजन कौ कछू पतौ ही नाँय"। वह सच्चे अर्थों में अहंकार से शून्य निष्किंचन और निस्प्रह ही थे।

सबसे हँसकर बोलना और सबको मान देना उनका सहज स्वभाव था। कैसा भी दुःखी और उदास मन लेकर उनके पास कोई जाता था उनकी सहज प्रेम भरी मुस्कान और ललकपूर्ण स्वागत से उसका सारा दुःख दूर हो जाता और उदास, लटका हुआ मुख प्रसन्नता से खिल उठता था। एक सहज प्रेम से परिपूर्ण मुस्कान तो जन्म से ही उनके साथ आई थी और अन्त में शरीर से प्राण निकलने पर भी उनके साथ ही थी और साथ ही गई। सबको यथोचित सम्मान देना उनका सहज गुण था। मैं जब कभी उनके पास जाता तो कमरे के बाहर ही मुझे देखकर कमरे में बैठे शरणागतों से कहते

"बाबा आय गये। आप सब आगे कौ स्थान छोड़कर पीछे ह्वै जाऔ" और जैसे ही मैं कमरे में प्रवेश करता तो बड़ी ललक के साथ हँसकर कहते "आइये, बाबा बैठिये"। उनका हँसकर ललकपूर्ण वचनों से मुझे बुलाना एकक्षण को भी मुझे विस्मृत नहीं होता है।

कोई भी विद्वान्, विरक्त उनके पास जाता तो उसे वह सबको हटाकर पूर्ण सम्मान सहित अपने निकट प्रमुख स्थान देते थे। अपने पास आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का चाहे वह उनका शरणागत हो अथवा छोटे से छोटा हो, पूर्ण सम्मान के साथ हँसकर स्वागत करते थे। शुष्क उदासीन भाव से तो मैंने उन्हें किसी से बोलते ही नहीं देखा, सबसे सदा हँसकर ही बोलते देखा। मान देने के उनके स्वभाव के विषय में मैं क्या कहूँ और कहाँ तक कहूँ ? वह अपने शरणागत शिष्यों को भी 'बाबू जी' और 'देवी' कहकर पुकारते थे। सबके नाम के आगे जी लगाकर बुलाना तो वह शायद ही कभी भूलते थे। गोस्वामी राधावल्लभजी से जब मिलते तो उन्हें "इष्ट देवाय" कहकर सम्मान देते थे। छोटी सरकार में छोटे जी महाराज (गोस्वामी जगजीवन लाल जी) को 'बादशाह' कहकर सम्मान देते। मुझे जैसे अधम और अज्ञानी शरणागत के साथ तो वह ऐसा सम्मान का व्यवहार करते जैसे कि एक छोटा अपने से बड़े से व्यवहार करता है। मैं उनके पास जाता और वह कोई कार्य कर रहे होते. मैं उनसे कहता कि "लाइये, जै जै मैं इस कार्य को कर दूँ, तो कहते "नाँय बाबा आप तो विराजौ, मैं कर आऊँगो।" मुझ से कोई अपना सेवा कार्य न कराते। कभी बाहर जाने के लिए कमरे से निकलते और मैं साथ होता और उन्हें जूते पहनाने की चेष्टा करता तो मुझे जूते भी न छूने देते और अत्यन्त संकोच से कहते "बाबा नाँय-नाँय, मैं स्वयं पहन लऊँगो।" कितने महान् थे, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकता।

उनकी सहनशीलता की तो कोई सीमा ही नहीं थी। प्रत्येक अपमान, अपयश, अपशब्द, निन्दा आदि के विष को हँसते हुये उसी प्रकार पी जाते जैसे भगवान् शंकर ने हलाहल पान किया था। उनके प्रति किये गये अपमान आदि से हम सबका और अन्य देखने वालों का क्रोध से चेहरा तमतमा उठता था, परन्तु उनके मुख पर तो हँसी ही रहती थी। क्रोध तो उन्हें छू भी नहीं गया था। उनके कुटुम्ब के लोग, जो आयु और पद में उनसे कहीं छोटे थे तथा उन्हें बाबा जी, ताऊ जी, दादा आदि कहकर सम्बोन्धित करते थे, ऐसे लोग भी जब उन्हें अपशब्द कहते, उनका अपमान करते तब भी मैंने उनको न कभी क्षुब्ध होते देखा और न क्रोधित होते देखा, अपितु मुस्कराते हुये ही देखा। कहाँ तक उनकी सहनशीलता का वर्णन किया जाये। उनके शरणागत शिष्य-शिष्यायें भी जब उनसे तर्क-वितर्क करते उनको अल्पज्ञ बताते और कहते कि "जै-जै आप तो कुछ समझते नहीं हो, ऐसे ही कहते रहते हो", तब भी वह मुस्कराते रहते और कहते, "भइया ! मैं तो कछू नाँय जानूँ"। उनका कभी कोई अपमान कर जाता तो उस अपमान पर दुःख प्रकट करने के स्थान पर हँसकर उसका वर्णन करते "बाबा अमुक जी आये थे। मोय ऐसे-ऐसे कह गये।" मैं यह सुनकर आश्चर्य से उनके मुखार-

विन्द को देखता और सोचता कि कैसे विलक्षण महापुरुष हैं। कितनी असीम और अपार सहनशक्ति इनमें है !

मैंने उन्हें कभी बड़ी से बड़ी घटना पर सोच करते नहीं देखा। प्रत्येक घटना को अत्यन्त सहजता से लेते थे। मन्दिर उत्थान तथा श्रीराधावल्लभलाल की सेवा-व्यवस्था आदि प्रश्नों को लेकर बहुत से संकुचित स्वार्थपरायण व्यक्ति उनके विरोधी हो गये थे। उन्हें अपनी स्वार्थ पूर्ति के मार्ग में रोड़ा मानने लगे थे। ऐसे लोगों से उन्हें जान से मारने तक की धमकियाँ मिलीं। धमकियों से उनके घरवाले, इष्ट-मित्र, शरणागत सभी चिन्ता में पड़ गये। उन्हें समझाने लगे कि आप अकेले रात को विलम्ब से न आया करो, साथ में किसी को रक्खा करो परन्तु पूज्य जै-जै के मुखारविन्द पर भय या सोच की कहीं रेखा भी नहीं दिखाई पड़ी। वही सहज हास्य से परिपूर्ण मुस्कान ही दिखाई पड़ी। भय, शोक, चिन्ता इन सबसे वह परे थे। वह घटना मुझे आज भी स्मरण है जब उनके यहाँ डकैत आये थे और रुपया सामान ले जाने के साथ उनकी नाक पर घूँसे से प्रहार कर गये थे। उस प्रहार से पूज्य जै-जै की नाक से बहुत रक्तप्रवाह हुआ और सारा मुख सूज गया था। प्रातः सभी लोग जिन्होंने उस घटना को सुना, उनके यहाँ जा रहे थे। मैं भी वहीं था, उनके मुख की दशा और कष्ट देखकर बहुत दुःख हुआ। मैंने कहा कि जै-जै आपको तो बहुत कष्ट है। वह बोले "नाँय बाबा मैं बिल्कुल ठीक हूँ, थोरौ सौ रक्त निकलौ और कछू नांय भयौ"—कहीं भी शोक, विषाद की हल्की सी रेखा भी तो उनके मुख पर नहीं थी। न उनको धन और वस्तु जाने का शोक था और न अपने शरीर के कष्ट का कोई शोक। वह उस समय भी पूर्ण निर्विकार थे।

श्रीप्रिया-प्रियतम (राधा-श्यामसुन्दर) के विशुद्ध तत्सुखमयी नित्य विहार रस (जिसे श्रीहरिवंश महाप्रभु ने गान किया, उसी प्रेम रस) से पूज्य जै-जै का मन सदा ओतप्रोत रहता था। वह अहर्निश उसी में डूबे रहते थे। उस अद्‌भुत प्रेम रस की मावकता सदैव उनके नेत्रों में छाई रहती थी। उनसे भजन सम्बन्धी अनेक जिज्ञासायें मैं समय-समय पर करता रहता था। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि जै-जै प्रिया-लाल के सहज रूप और सहज केलि के दर्शन होने पर क्या स्थिति होती है ? पूज्य जै-जै ने उत्तर दिया।

"हित भोरी बेसुध मतवारा सोता सा जग जागै है," उसके नेत्रों में एक मादकता छा जाती है जैसे मादक द्रव्य का सेवन करने पर मदहोशी छाती है और सेवन करने वाला सब दीन दुनियाँ को भूल जाता है, उसी प्रकार उस प्रेम महासस का आस्वादन करके रसिक भक्त अंग-अंग उसमें छक जाता है। इस मादकता को प्रत्यक्ष रूप से मैंने उनके नेत्रों में हर समय देखा। जब वह उस मादक दृष्टि से देख लेते थे, तो तन-मन शीतल हो जाता था। जब कभी वह समाज गायन में बैठकर श्रीहरिबंश सुजस किंवा प्रिया-लाल का रस श्रवण करते या अपने प्राण श्रीराधावल्लभलाल के दर्शन

करते, तब तो उनके नेत्रों की मादकता छलक कर अविछिन्न रूप से अश्रुधार बनकर प्रवाहित होती रहती थी। एकान्त भजन से उठकर जब वह ऊपर से उतर कर नीचे आते थे, उस समय तो इतनी मादकता रहती कि इनके पैर लड़खड़ाते थे, बोलना भी उनको भार लगता था। वैसे यह मादकता उनके नेत्रों से कभी उतरती ही नहीं थी। मादकता के कारण उनके मुख की छवि इतनी सुन्दर होती थी कि उससे दृष्टि हटाने का मन ही नहीं होता था।

अहर्निश तत्सुखमय प्रेमरस में डूबे रहने के कारण पूज्य जै-जै के अन्दर सहज रूप से कोमल भावनाओं का निवास था। दुःखी तो वह किसी को देख ही नहीं सकते थे। प्रत्येक को सदैव प्रफुल्लित ही देखना चाते थे। सदैव उनके मुख से कोमल वचन ही निकलते थे, जो दुःख के घावों पर परमशीतल लेप का कार्य करते थे। कठोर अथवा व्यंगात्मक वचन उनके मुख से मैंने कभी नहीं सुने। क्रोध में तो मैंने कभी देखा ही नहीं। जब वह किसी अनुचित बात का प्रतिवाद करते या अपने किसी शरणागत को उसकी भूल का ज्ञान कराते तब भी उनके मुखारविन्द पर वही सहज मुस्कान रहती थी; भौंहों पर त्यौरी के स्थान पर सहज मुस्कान और वाणी में सहज मृदुता तथा सरसता रहती थी। प्रेममयी होने के कारण वाणी में मृदुता तो सहज थी ही, एक जबर्दस्त आकर्षण भी उसमें था। एक बार मन्दिर में समाज गायन करने वाले मुखिया जी कुछ दिनों को कानपुर में जे० के० मन्दिर में समाज करने चले गये थे। उस समय झूला-उत्सव चल रहा था और प्रत्येक झूले में झूलन का पद होना परम्परा थी। पूज्य जै-जै ने उस परम्परा को टूटने से बचाने के लिये स्वयं समाज के मुखिया की भूमिका निभाई और जिस समय वह प्रेममयी उमंग से परिपूरित वाणी से झूले के पद गाते तो ऐसा लगता था कि जैसे हृदय को कोई खींच रहा हो। उनकी वाणी अतृप्तिमयी थी, उसे निरन्तर श्रवण करने का ही मन होता।

पूज्य जै-जै को गुरु रूप में प्राप्त करके मैं तो धन्याति धन्य हो गया। मुझे तो श्रीसेवक जी की वाणी उनके सम्बन्ध में पूर्ण सत्य लगती है—

जब जब होय धर्म की हानि।
तब तब तनु धरि प्रगटत आनि।
जानि और दूजो नहीं॥

जब-जब प्रेम धर्म की हानि होती है और संसार प्रेम के विशुद्ध रूप को भूल जाता है तब-तब वह प्रेम परात्पर तत्त्व ही जगत को प्रेम के विशुद्ध रूप से परिचय कराने हेतु प्रकट होता है।

पूज्य जै-जै सब कुछ थे और मैं कुछ भी नहीं हूँ। कुछ भी नहीं बेचारा सब कुछ का कैसे वर्णन कर सकता है? फिर भी मैंने इस आशा से यह धृष्टता की है कि उनकी सहज कृपा से उनके प्रेममय गुणों के चिन्तन से यदि उन गुणों का एक अंश भी इस जीवन में उत्तर आवे तो यह सफल हो जाये।

एक संस्मरण

—दण्डी स्वामी श्री १०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वती "जज स्वामी"

श्रीललिताचरण गोस्वामी रस-मूर्ति थे।

उनके दर्शन तथा सम्भाषण से रस की अनुभूति होती थी। हमारे उनसे कई प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं।

प्रथमतः श्रीराधावल्लभ गोस्वामी हमारी सगी बुआ के पुत्र होने से उनके सम्बन्ध से गोस्वामी श्रीहितहरिवंश महाप्रभु के वंशज भी हमारे सम्बन्धी हैं। दूसरे गोस्वामी स्वरूपों की प्राचीन परम्परा में—हितकुल में जन्म लेना ही लोक सम्पूजित होने के लिए पर्याप्त था। संस्कृत शिक्षा ही तब प्रचलित थी; गोस्वामी जी बी.ए., एल. एल. बी. थे। उनकी पढ़ाई-लिखाई की बात सुनकर आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता हुई और वकालत का भाईचारा होने से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो गया।

तृतीय—हमारे संन्यास लेने के अनन्तर उनसे यदाकदा गम्भीर दार्शनिक चर्चा होती रहती थी और इस प्रकार उनसे हमारी प्रगाढ़ प्रीति और घनिष्ठता बढ़ती चली गई।

श्रीगोस्वामी जी ने इस रस-सम्प्रदाय की ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा अनुपम सेवा की है। यह सर्वविदित है। इस विषय पर और विद्वानों के प्रकाश डालने की आशा है। इसलिए हम इसकी विशद चर्चा न करते हुए केवल दो बातें लिख रहे हैं—एक तो यह कि रस-सिद्धान्त का मूल स्रोत उपनिषद् का उद्धरण "रसो वै सः" है। परन्तु गोस्वामी जी ने एक और श्रुति भी अपने समर्थन में वृदहारण्यक-उपनिषद् में से ढूँढ़ निकाली है, जो उनकी अपनी शोध है—

—तदा अस्थेतदतिच्छन्दा अपहत पास्माऽमयसपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिण्वक्तो न बाहय किंचन वेद नान्तरमेव भेवायं पुरुषः प्रालेनारम नांसपरिण्वक्तो न बाह्य किंचन वेदमान्तरम् द्वा अस्तदाप्तकाम भारमकाममकाम "रूपं" शोकान्तरम्॥ (वृ०+—३—२२)

इस सन्दर्भ में उनकी दूसरी बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहले इसकी भूमिका बताना आवश्यक है—शांकर-सम्प्रदाय कैवल्य अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करता है और सूत्र के भाष्य में भगवत्पाद शंकराचार्य ने अन्य समस्त मतों का अत्यन्त सूक्ष्म व प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है, जिनका काटना सरल नहीं है। इस सिद्धान्त का खण्डन किए बिना अन्य किसी द्वैत सम्प्रदाय का भाष्य दार्शनिक क्षेत्र में मान्य नहीं हो सकता।

अतएव अनेक आचार्यों ने शुद्ध अद्वैत अथवा द्वैताद्वैत, भेदाभेद इत्यादि के प्रतिपादन करने में शांकर भाष्य को स्पर्श करना अनिवार्य समझा है। किन्तु कठिन स्थलों पर प्रायः यह कहकर सन्तोष करते हैं कि भगवत्पाद शंकराचार्य ने अपने खण्डन में या तो उनका पक्ष ठीक नहीं समझा अथवा वे परिच्छिन्न बौद्ध या मायावादी नास्तिक थे।

श्रीललिताचरण जी महाराज ने शांकर भाष्य का अध्ययन किया था और उन्होंने हमको अपनी सम्मति बताई थी कि भगवत्पाद शंकराचार्य ने द्वैतवादियों के मत को पूर्वपक्ष बनाकर वर्णन करने में किसी प्रकार की कोई त्रुटि अथवा छल नहीं किया है।

इस बात से यह सिद्ध होता है जि गोस्वामी जी कितने विद्वान् व विरोधी सिद्धान्त की चर्चा करने में भी निष्कपट थे।

यह उनकी महत्ता थी। श्री गोस्वामी जी अत्यन्त विनयी थे। उनके वचन अथवा कार्य से किसी को क्षोभ होता था तो वे विवाद करने की अपेक्षा अपने को अलग कर लेते थे। उनके इष्ट प्रेम-मूर्ति श्रीराधा और नेही श्रीकृष्ण का मिलित-विग्रह श्रीराधावल्लभलाल थे। वे चाहते तो अपने नाम के साथ इष्टदेव का जोड़ बैठा सकते थे किन्तु अपनी साधना की दृष्टि से कैंकर्य-भाव को महत्त्व देते हुए पैतृक नाम अपरिवर्तित ही रखा। विनम्रता ही इससे प्रमाणित होती है। उनकी स्मृति चिर स्थाई रहेगी।
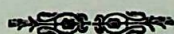
सेवा ही सर्वस्व

—भागवताचार्य श्रीश्यामसुन्दर शास्त्री

स्वनामधन्य श्रीललिताचरणजी महाराज राधावल्लभलाल की सेवा को सर्वस्व मानकर अनेकों विरोध और व्यधानों में भी कभी सेवा कार्यों से पराभूत नहीं हुए। महाराजश्री का श्रीजी की सेवा व हृदय से लगाव था। मात्र-प्रदर्शन नहीं था। वे श्रीजी की सेवा करने में अपने गुरुत्व और आचार्यत्व को भी भूल जाते थे। नियमित रूप से श्रीराधावल्लभलाल को अपलक निहार कर शायद वे उन्हें नेत्रों के मार्ग से हृदय में सदा के लिये बैठा लेते थे। वे केवल ज्ञान वृद्ध, वयोवृद्ध ही नहीं थे, अपितु आदर्श निर्मल सन्त समाज के देदीप्यमान-अमूल्य रत्न थे। उनका जीवन मूर्तिमान् उपदेश था। उनका दिव्य-जीवन आदर्श सबको नित्य नवीन इष्ट की प्रेरणा देता रहेगा।

मनमौजी श्रीराधावल्लभलाल

महाराजश्री के पूज्य पिता श्रीवसंतलालजी के जीवन काल की एक घटना, जो एकबार सन्तप्रवर-श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रबल प्रचारक निकुञ्जधामवासी किशोरी शरण (सूरदास बाबा) ने सुनाई थी—श्रीगो० बसंतलालजी महाराज की सेवा मन्दिर में चल रही थी। गर्मी के दिन थे। इनके यहाँ कुछ सेवक शिवपुरी आदि से आये हुए थे। महाराजश्री मन्दिर में श्रीराधावल्लभलाल को शयन कराकर प्रसाद आदि लेकर घर पहुँचे। तब सेवकों ने आकर प्रणाम अभिवादन किये। गुरुजी से प्रसाद लेकर ग्रहण किया। फिर गुरु महाराज के चरण दबाते एक शिष्य ने भोली भाषा में प्रश्न किया—"महाराजजी, आप ठाकुरजी को शयन करा आये ? अब मंदिर में प्रभु सो गये होंगे ?" श्रीमहाराज ने उत्तर दिया—"भैया, राधावल्लभ की मौज आवै हैं सोई करे है। हमने खूब रुचिकर पदार्थ भोग लगाये फिर भी कहीं भोग लगावे कूँ गयौ है।"

शिष्यों को आश्चर्य हुआ कि गुरुजी क्या कह रहे हैं। उन्होंने पुनः जिज्ञासा भरे कण्ठ से पूछा—"जै-जै ! ठाकुरजी कहाँ भोग लगा रहे होंगे ?" मुस्कराते हुए आचार्य बोले, "प्रभु या समै भड़भूजा के सत्तू पा रहे हैं। दुसायत मुहल्ला में।"

उन चरण-सेवकों में से दो व्यक्ति जो वृन्दावन से पूर्व परिचित थे, पूछते-पूछते गये। मुंशी का घर मिल गया। मुंसी अपने घर के द्वार पर बैठा गर्मी में हाथ से पंखा कर रहा था। वे सेवक परिचय प्राप्त कर बैठ गये और बोले, "आप अकेले यहाँ क्यों बैठे हो ? मुंशी ने उत्तर दिया—"मेरी बहू और बालक अपने नाना के यहाँ गये हैं ? मैं भोर में भोजन बनाकर सेवा भोग से निवृत्त होकर जंगल में पतोर (भाड़ में जलाने के सूखे पत्ते) लेने गया था। आने में देर हो गयी। थक भी गया हूँ। तो भोजन तो बनाया नहीं, राधावल्लभलाल को सत्तुआ का भोग लगाकर मैं यहाँ आकर बैठ गया। भीतर

राधावल्लभ भोग लगा रहे हैं।" शिष्यों को गुरु महाराज की इष्ट में अन्तर दृष्टि की भावना का ज्ञान हुआ और लौटकर अपने सभी साथियों को मुँशी के ही शब्दों में सुनाया और सबकी गुरु-चरणों में पहले से अधिक निष्ठा जाग्रत हुई। इस घटना से यह देखें कि श्रमजीवी वर्ग में भी सेवा के प्रति कितनी सहज भावना रही। और धन्य हैं वे आचार्य नये, जो इतनी दूर से अपने प्राणवल्लभ राधावल्लभजी की सहज लीला से अवगत हैं।

दिव्यता का आभास

बरसाती मौसम था। वर्षा रुक-रुककर हो रही थी। श्रीयमुनाजी की बाढ़ आई थी, जो ऊँचे-ऊँचे किनारों को समतल बनाकर दलदल का रूप दे गयी थीं। लगभग १९४६-४७ का प्रत्यक्ष देखा प्रसंग है। श्रीललिताचरण जी महाराज कपने कमरे में बैठे-बैठे कुछ लिख-पढ़ रहे थे। हम अपने सहपाठियों के साथ उनके कमरे के सामने बैठे-पढ़ रहे थे। नौ-दस बजे दिन का समय था। यमुना की ओर से चीत्कार-करुणक्रन्दन के शब्द सुनाई दिये। सुनते ही सब लोग उस ओर देखने लगे, श्रीमहाराजजी बोले 'लाला, देखो खेत में कोई बुढ़िया दलदल में फँस गई है। उसे निकालो।' हम बोले "चाचाजी महाराज, चारों ओर पंङ्किल भूमि है, हम भी फँस जायेंगे?'' वे बोले "तुम जाओ तो सही फँसे को तो राधावल्लभ निकालते हैं,अन्य सहारे तो ब्याज मात्र हैं।" हम तीन लड़के साहस से आज्ञा पालन हेतु नीचे आये।लकड़ी के तख्ते और घास बिछाकर उस वृद्धाके पास पहुँचे। तब तक उसने बोलना बन्द कर दिया। हमने समझा वह मर चुकी है। कीचड़ हटाकर उसका हाथ पकड़ कर खींचा। तब ज्ञात हुआ कि यह वृद्धा घाट पर महाराज के यहाँ निवास करने वाली पटना वाली बीबी के यहाँ आई हुई थी। शक्ति से खीचने पर वह निकल आई। किसी प्रकार उसे पकड़ कर लाये, आकर कपड़े बदलकर वह महाराजजी से बोली, "आपने जो मुझें कण्ठी के साथ मन्त्र दिया था, उसी का मैं मन-मन में जाप करती रहती थी। निश्चय उसी शरण मन्त्र के प्रभाव से मैं बच गयी।" कैसी संयोग की बात है। महाराज भी नहीं जानते कि बुढ़िया वह हैं। वे तो सहज ही जीव दयावश उसे बचाना चाहते थे। 'सब जीवन सों प्रीति रीति निवाहत अपनी।

वे ललित आचरण थे

आज हमें उनकी मधुर-स्मृति, आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्ण श्रीजी से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने की प्रेरणा देती है। उनका जीवन बल के सदुपयोग, विवेक के आदर तथा विकल्प रहित विश्वास की प्रेरणा देता है और उनके सिद्धान्त रूप ग्रन्थ अध्येताओं को सबल भावना सदा देते रहेंगे। ऐसा प्रज्ञावान् महापुरुष अब शायद ही कहीं मिले। श्रीआचार्य गुणों की खान थे। उनके गुणों की गणना करना कठिन हैं। अब उनके अनुयायी, सेवकवर्ग, आत्मीयजनों का कर्त्तव्य है कि "उनके संकलित कार्यों को पूर्ण करें और उनकी मधुर सेवा प्रीति को जन-जन तक पहुँचायें। श्रीराधावल्लभलाल की यश पताका को समुन्नत करें। इससे उन्हें बहुत प्रसन्नता होगी।

——

प्रेमास्पद के परम प्रेमी मेरे पूज्य दादा

—पूज्य महाराजश्री के एक बाल-सखा

पूज्य आचार्य श्रीललिताचरण जी गोस्वामी जैसे संत-भक्तों के चरित्र के अनुशीलन से ही हमें सत्पथ का दर्शन और उस पर चलने की शक्ति प्राप्त होती है। श्रीगोस्वामीजी का गहन चिन्तन और अनुभूति उनके सदैव प्रसन्नबदन व्यक्तित्व में ऐसी छिपी रहती थी कि बिरले ही उसकी थाह पा सकते थे। उन्होंने महाप्रभु श्रीहित हरिवंश जी के दर्शन, सिद्धान्त और रसार्णव में डूबकर उसे अपना ऐसा सहज विज्ञान बना लिया था कि उनका लौकिक व्यवहार भी पारमार्थिक आभा बिखेरता था।

उनके इस विज्ञानमय स्वरूप का विचार तो तत्त्वान्वेषी सन्त विद्वानों के ही वश की बात हो सकती है, मुझे तो आज पश्चात्ताप ही इस बात का है कि उनका चालीस वर्ष पर्यन्त सखातुल्य कृपादान होकर भी मैं उनकी इस महत् उपलब्धि का लाभ न ले सका। मुझे लगता है कि उनके इस दुलार जनित सामीप्य ने मुझे घाटे में रखा। हिमालय की नैसर्गिक शोभा का जो दर्शन उसकी तलहटी में रहकर प्राप्त होता है वह उसके क्रोड में पैठने पर नहीं होता। परन्तु उनके स्वरूप की एक अनायास प्राप्त झाँकी आज भी मेरी अनुपम निधि बनी हुई है।

प्रायः दस वर्ष पूर्व की बात है, नित्य की भाँति दादा एक दिन श्रीराधा-वल्लभलाल जी के मन्दिर में कटहरे के सहारे खड़े होकर समीप से उनके दर्शन कर रहे थे। संयोग से मैं भी पहुँच गया और उनके पीछे खड़े होकर दर्शन करने लगा। कुछ क्षण बाद ही मेरी नजर दादा पर पड़ी, तो मैंने देखा एक अजीब दृश्य। मुझे लगा कि जैसे दादा और श्रीराधावल्लभलाल जी में चुपके-चुपके कुछ वार्तालाप चल रहा हो। दादा श्रीराधावल्लभलाल जी से कुछ कह रहे थे, जिसका श्रीराधावल्लभ-लाल जी अपनी भावभंगिमा से उत्तर दे रहे थे। आँखें चार थीं। दोनों एक दूसरे को एकटक निहार रहे थे। एक ओर दादा की आँखों में दैन्य था तो दूसरी ओर श्रीराधा-वल्लभलाल जी अपने नेत्रकमल से उन पर अपलक प्रेमवर्षा कर रहे थे।

दोनों का यह हाल देखकर मैंने बात को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा की तो स्पष्ट तो कुछ सुनाई नहीं पड़ा, यही भान हुआ कि दादा अस्फुट स्वर में कह रहे हैं, ... क्यों तरसाय रहे हो .... अब तो कृपा करो ....।
तो श्रीराधावल्लभलाल जी मानों अनुकूल मुद्रा में उत्तर दे रहे हैं।

बड़ी देर तक मैं यह दृश्य देखता रहा। दादा को तो दुनियाँ का कुछ भान ही नहीं था, पर श्रीराधावल्लभलाल जी को भी मानों और दर्शनार्थियों से कुछ मतलब नहीं था, जो उनकी टकटकी दादा पर से हटती ही नहीं थी।

जो भी हो मैं निहाल हो गया भक्त - भगवान् की इस चोरी - लीला के अकस्मात् दर्शन पाकर।

शिष्यों के संकट मोचन मेरे गुरुदेव

--बाबा नागरीदास

यह दास वृन्दावनीय-रसोपासना से प्रभावित एवं आकृष्ट होकर जब वृन्दावन के पूज्य–सन्त महानुभावों के सत्संग-दर्शन लाभ करते हुए, श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के वर्तमान-आचार्य श्री ललिताचरण जी महाराज के वेणु-प्रकाशन साहित्य का अध्ययन करके उनके दर्शनों के लिए लालायित होकर पूछते-पूछते 'श्रीयमुना-पुलिन' नामक स्थान पर पहुँचा, वहाँ बहुत से भक्त सज्जन-वृन्द के मध्य उज्ज्वल-श्वेत वस्त्रधारी स्वर्ण के समान समुज्ज्वल प्रेम-रस-भक्ति के दिव्य गुण-गणों के समलंकृत राजहंस के समान श्री आचार्य चरण सुशोभित थे, उस समय दास की निष्ठा सहज रूप से श्रीराधा नाम में थी। चर्चा के दौरान जब गोस्वामी जी को यह जानकारी हुई, कि बाबा की, श्रीराधा नाम के प्रति सहज निष्ठा है, तो उन्होंने वृन्दावन-रसोपासना में 'श्रीहित हरिवंश' के विशिष्ट-दृष्टि-कोण पर प्रकाश डाला, जो कि अन्य सभी प्रचलित दृष्टि कोणों से परिमार्जित, गहर-गम्भीर एवं सहज था। उस दिन के श्रवथ-कथन का मेरे जीवन में गहरा प्रभाव पड़ा और अभूतपूर्व आनन्द ने चित्त को झकझोर दिया तथा गोस्वामी जी सम्पूर्ण रूप से चित्त के स्वामी बन गये। फिर क्या था, मैंने जो वृन्दावन में दो मास से अधिक नहीं रुक पाता था। एक स्थान पर अधिक दिन तक नहीं ठहर पाता था, आजीवन वृन्दावनवास का संकल्प कर लिया। वित्त में 'श्रीहरिवंश' नाम के प्रति रुचि तथा सम्यक् प्रकारेण श्रीहितधर्म-धर्मी के प्रति सहज आस्था एवं ललक पैदा हो गई, जिस धर्म के सबसे बड़े धर्मी श्रीश्यामा-श्याम हैं। ऐसा कुछ होना मेरे लिए पूज्यपाद गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज के चरणों का प्रताप ही है। तदुपरान्त महाराजश्री ने सन् १९७८ (शरद-पूर्णिमा) को मन्त्र दीक्षा प्रदान कर दास को कृतार्थ कर दिया।

तत्पश्चात् एकान्त भजन की प्रेरणा देते हुए बोले बाबा, तुमको श्रीराधा-वल्लभ लाल की नाम सेवा (चित्र-पट-सेवा) करनी पड़ेगी, जो कि मानसिक सेवा से अधिक प्रभावशाली होती है। 'श्रीहरिवंश' नाम रटने से चित्त का परिमार्जन होकर वाणी समझने की योग्यता प्राप्त होती है। वाणी जी का स्वरूप तभी प्रकाशित होता है, जब अनन्यगति से 'श्रीहरिवंश' नाम का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार वाणी-मय नेत्र तैयार करो। 'श्रीहरिवंश' वाणी ही प्रगट वस्तु है।

मैंने अनेक सम्भ्रान्त वैष्णवों से सुना है कि बाल्यकाल से ही आपके व्यक्तित्व में मन, वच, कर्म में वे समस्त दिव्य गुण-गण प्रत्येक क्रिया-कलाप में, हाव-भाव में, दृष्टि-गोचर होते थे, जो एक महान् भक्तिमान् पुरुष में सहज रूप से विद्यमान होते हैं। जो कि मुख्य रूप से चार मौलिक वृत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

१—दीनता, २—उदारता, ३—सहनशीलता, ४—सरलता।

१—दीनता— महाराजश्री अपने शमय के श्रीवृन्दावन में रसिकमूर्द्धन्य, रस-मर्मज्ञ, भक्ति साहित्य के विद्वान् एवं श्रीराधावल्लभ सम्प्रदायाचार्य थे, परन्तु उनमें इतना दैन्य था कि उनके अति ललित-आचरणों से प्रत्येक व्यक्ति को परम शान्ति एवं सुखानुभूति होती थी। वे सबको यथोचित सम्मान देते हुए आदर करते थे,जो कि उनके जीवन की महानता का प्रतीक है। महाराजश्री को मैं प्रायः साष्टांग.दण्डवत् प्रणाम करता था। ऐसा करने से मुझे विशेष सुख का अनुभव होता था, एक दिन प्रणाम करते समय बोले—बाबा तुम ऐसा प्रणाम मत किया करो। दूर से ही सीधे हाथ जोड़कर प्रणाम कर दिया करो, बस, इतना सुनते ही मेरी बुद्धि भ्रमित हो गई, विचारों के सागर में गोते लगाने लग गया, मुझ से कौन-सा इतना बड़ा अपराध हो गया जो महाराजश्री ने दण्डवत्-प्रणाम करने के लिए मना कर दिया है। उस दिन उनके पास बैठने पर भी मन में शांति नहीं थी—उठकर अपनी कुटिया में चला गया, 'श्रीहरिवंश' नाम लेना शुरू कर दिया कुछ देर बाद समझ में आया कि यह तो मात्र महाराजश्री के स्वरूपानुकूल अति ललित आचरण की एक झलक है, अन्य कोई कारण नहीं है। मन परम शान्य हो गया।

२—उदारता—धन, अन्न, वस्त्रादि दान करना, धर्मादादि कार्यों को चलाना मात्र ही उदारता नहीं है. वरं अपने देह सम्बन्धी सीमित सुखों को त्यागकर, बिना किसी हेतु के दूसरों को सुख देना, बिना किसी शर्त के दूसरों का उपकार करना, दूसरों के सुख की कामना करना. प्राणीमात्र के सुख के लिए, मान-अपमान को सहन करना, "सबसों हित निष्काम मति" इस प्रकार की वृत्ति से ही प्रेरित होकर महाराजश्री ने बहुत प्रकार की सेवाओं के लिए अनेक धर्मादा चेरिटेबिल-ट्रस्ट बनाये थे। अपने लिए वे बहुत ही सीमित खर्चे से कार्य चलाते रहे, अपने सुख-सुविधाओं के लिए किसी प्रकार कोई निर्माण कार्य नहीं किया, जैसा पहले था, वैसा ही अन्तिम तक रहा। महाराजश्री का त्याग सराहनीय एवं परमादर्श है। यहाँ तक कि वे अपने निन्दा करने वाले लोगों की सबसे अधिक सेवा करते थे। किसी का उपकार और सेवा किये बिना उनसे रहा नहीं जाता था, वे कहा करते थे, इन चलती-फिरती मूर्तियों को भी श्रीराधावल्लभलाल ही समझो, इनकी सेवा किये बिना श्रीराधावल्लभलाल प्रसन्न नहीं हो सकते हैं।

३—सहनशीलता—महाराजश्री के जीवन में मैंने जितनी अधिक सहनशीलता अपने नेत्रों से देखी है, इतनी सहनशीलता अन्यत्र किसी के जीवन में देखने को नहीं मिली,

उपासना क्षेत्र में सम्प्रदायों के पारस्परिक सिद्धान्त मतभेद सम्बन्धी द्वन्द्व प्रायः आते ही रहने थे, परन्तु वे अपनी असाधारण प्रतिभा से कुशलता पूर्वक निर्विरोध रूप से सारासार का निर्णय लेकर सबसे निपट जाते थे। 'श्रीजी' के मन्दिर में सेवा-सम्बन्धी अनेक बातों को बड़ी कुशलता से धैर्य-पूर्वक उचित रूप से सुलझाते थे। उनको किसी भी प्रकार के द्वन्द्वों से उद्विग्न होते हुए नहीं देखा गया, सदैव प्रसन्न-चित्त, मंद-मुस्कान युक्त ही उनके दर्शन होते थे।

एक बार 'श्रीसुधर्म-बोधनी सार' का अनुवाद करते समय मैं महाराजश्री के साथ आवश्यकता से कुछ धृष्टतापूर्ण बोल गया। महाराजश्री ने अनुवाद लिखना बन्द कर दिया और बोले "अच्छा बाबा, जाओ, भजन करो, आज इतना ही बहुत है। कल फिर देखेंगे।" मैं प्रणाम करके चला तो अवश्य गया, परन्तु अपनी धृष्टता पर मुझे बहुत ही ग्लानि होने लगी। कुटिया में जाकर भजन, सेवादि कार्यों में मन नहीं लगा। उसी दिन सायंकाल महाराजजी के पास आकर अपनी धृष्टता के लिए दीनतापूर्ण क्षमा-याचना करने लगा, महाराजश्री बोले—"बाबा, तुम तो बहुत ही भोले हो, मेरे मन में तो कुछ नहीं हुआ। यदि मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई बात पैदा हो जाती, तबतुम्हारा क्षमा-याचना करना उचित था, तुम तो अपने मन से सब बात निकालकर श्रीव्यासनन्दन का भजन करो और कल ठीक समय पर आ जाना। मैं मन ही मन पूज्य महाराजश्री की अति सहनशीलता और उनकी महानता पर विचार करने लगा कि ऐसे परम पूज्य गुरुदेव के सामने बहुत ही सावधानी से बात करनी चाहिए।

४—सरलता—महाराजकी की सरलता देखते ही बनती थी, वे प्रत्येक व्यक्ति से इतनी आत्मीयता से मिलते, बात करते, दुःख-सुख सुनते-पूछते और उसके निवारण हेतु हर प्रकार प्रयास करते, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता था कि इस संसार में मेरा अपना कहने वाला इनके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। उनके पास से किसी भी व्यक्ति का वापस लौटने का मन नहीं होता था। छोटे बालकों को अतिशय प्यार करते थे। उन्हें अपने हाथों से लड्डू खिलाया करते थे। कभी-कभी तो उनके कपोल और सिर को चूमते थे, चाहे वह किसी कर्मचारी का बालक ही क्यों, न हो कोई भेदभाव नहीं रखते थे, साधक-उपासकों की भजन सम्बन्धी जटिल समस्याओं को प्रश्न किये बिना ही अपने उचनामृत से निवारण कर देते थे, जिससे साधक को अपना उचित मार्ग लक्षित हो जाता था। इस प्रकार के ललित गुण समूहों के कारण वे सबके परमाश्रय थे। महाराजश्री को पूर्ण रूप से यह जानकारी हो जाती थी कि पास बैठा हुआ व्यक्ति किस भाव से, कौन-सा लक्ष्य लेकर आया है। इसमें किस प्रकार की पात्रता है। फिर उस व्यक्ति को उसकी योग्यानुसार उचित सुझाव व शिक्षा प्रदान करते थे, जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में पूर्ण-सफलता मिल जाती और महाराजश्री के व्यक्तित्व का बहुत गहरा प्रभाव उसके जीवन में पड़ जाता था, जिसके कारण उनको श्रीराधावल्लभलाल जू के चरणकमल की सहज भक्ति प्राप्त हो जाती।

महाराजश्री की वाणी श्रवण में अतिशय आसक्ति थी। गर्मियों के दिन थे। मैं उनके दर्शन के लिए पहुँचा। महाराज जी बोले—बाबा हितोत्सव की बधाई चल रही है। सहचरिसुख जी की बधाई सुनाओ। मैं सुनाने लगा, अकस्मात् बिजली चली गई, कूलर-पंखा बन्द हो गया, मैं हाथ का पंखा लेकर विजन करने लगा महाराजजी बोले—बाबा, ऐसा मत करो, मुझे अच्छा नहीं लगता है। तुम तो केवल बधाई सुनाओ, यही जीवन में काम आयेगा।

महाराजश्री में अपार दूर-दर्शिता विद्यमान थी। जिस समय मैं छोटी सरकार की नन्दराम बगीची में ऊपर वाली कुटिया में रहता था, वहाँ एक बार भारी शरीर वाला मोटा बन्दर न जाने कहाँ से आ गया। वैसे वहाँ कभी कोई बन्दर नहीं आते थे। वह बन्दर इतना बुद्धिमान था, कि दरवाजा खोलकर 'श्रीजी' की सेवा की अपरस जल की बाल्टी में मुँह डालकर जल पी लेता था, कुटिया में जो कुछ हाथ लगता, उसे छिन्न-भिन्न करके ले जाता था। कुछ नहीं मिलता तो कौपीन, अचला, वाणी-ग्रंथों को ही फाड़ देता था। बड़ा निर्भीक बन्दर था। मैं उसकी इस प्रकार की हरकतों से दो-चार दिन में ही परेशान हो गया। भजन में विघ्न समझकर खिन्न चित्त से महाराजश्री के दर्शन को गया, वहाँ बहुत से भक्त-सज्जन बैठे थे। महाराज जी का इशारा पाकर एक सज्जन ने बैठने को आसन दिया, परन्तु मैं अपने स्वभाववश नीचे फर्श पर ही बैठ गया। महाराजश्री बोले—"बाबा, इस आसन को अवश्य स्वीकार करो"। फिर से विचित्र-मुद्रा में बोले—"बाबा क्या वहाँ कोई मोटा-सा बन्दर आता है ?" मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया—"जी हाँ।" "अच्छा बाबा जाओ, भजन करो, समय व्यर्थ मत करो।" मैं प्रणाम करके कुटिया में चला गया, उस दिन से वहाँ कोई बन्दर नहीं दिखाई दिया। मैंने इस घटना का यही अर्थ लगाया कि महाराजश्री अपने चरणाश्रित जन के भजन-सम्बन्धी विघ्नों को दूर कर देते थे।

गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज रसोपासना शोध के मार्गदर्शक

—डॉ० बाबूलाल गोस्वामी

पूज्यपाद गोस्वामी ललिताचरणजी के साथ मेरा प्रथम साक्षात्कार सन् १९५३ ई० में अग्रवाल प्रेस, मथुरा में हुआ था।

मैं उस समय अपने छात्र जीवन में था और अग्रवाल प्रेस, मथुरा में प्रूफ-रीडिंग के लिए नियुक्त था। भाषा और साहित्य के संस्कार तो मुझे बाल्यकाल से ही प्राप्त हुए थे, किन्तु भक्ति या प्रेमोपासना की निकुंज रसरीति से मेरा परिचय नहीं के बराबर था। फिर भी वृन्दावन का एक साहित्यकार वृन्दावन रसरीति पर ग्रंथ रचना करे यह जानकर मेरे मन में गौरवानुभूति होना और अंतरंग भाव से उनके प्रति श्रद्धानत होना स्वाभाविक था। पर गोस्वामी जी के कृतित्व के वास्तविक मूल्यांकन करने की बात बहुत वर्षों बाद मेरे समक्ष तब आई जब कि मैं कानपुर में रहकर एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा की तैयारी कर रहा था और मेरे गुरुवर अग्रज पूज्य डॉ० शरणविहारी गोस्वामी अपने शोधग्रंथ "हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य में सखीभाव" की रचना में प्रवृत्त थे।

एक दिन वृन्दावन में उनके निवास-स्थान पर मुझे किसी कार्यवश मेरे अग्रज डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी ने भेजा। मेरा परिचय जानकर महाराजश्री अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब तक विद्वद्वर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का शोधग्रन्थ "राधावल्लभ-संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य" प्रकाशित होकर यशस्वी हो चुका था। न जाने क्या समझकर गोस्वामी जी मेरे समक्ष अत्यन्त आत्मीय भाव से खुलकर बात करने लगे। मैं स्वीकार करता हूँ कि तब तक भी मैं निकुंज रस के साहित्य के मर्म से अनभिज्ञ ही था। वे कहने लगे—"भाई मैं कोई विद्वान् नहीं हूँ। साम्प्रदायिक रसरीति को समझने समझाने के लिए मेरे सामने कोई आधुनिक शैली का आलोचनात्मक ग्रंथ भी नहीं रहा। मैंने तो जैसा कुछ मेरी समझ में आया, अपनी पुस्तक में उसका विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। वह कहाँ तक साहित्यिकों को सन्तुष्ट कर सकेगा। यह नहीं कहा जा सकता।" इस स्वीकारोक्ति में निरहंकार भाव से अपने साहित्य के अध्येता न होने की विनयोक्ति थी।

वे तो वकालत पास करके आए थे। पर उनकी साधना-वाणी-साहित्य के प्रति उनकी आस्था और स्वाध्याय का मूल हेतु थी।

गोस्वामी जी महाराज के उक्त कथन को सुनकर मेरे मन में उनका निष्कपट और अत्यन्त विनम्र अध्येता साहित्यसेवी का रूप उभर आया था। मैं उनसे किसी प्रकार भी संवाद कर पाने की योग्यता से सम्पन्न नहीं था, किन्तु मैं इतना अवश्य समझ गया कि जिस व्यक्तित्व के मैं दर्शन कर रहा हूँ वह अपने वृन्दावनीय गोस्वामीवर्ग की सहज अभिजातीय व्यवहार परम्परा से हटकर कुछ विलक्षणता अवश्य लिए हुए है। और कालान्तर में मैंने उनके ग्रंथ प्रबन्ध को अपने शोधकार्य के सन्दर्भ में पद और उसकी यथाप्रसंग समालोचना भी अपने प्रवन्ध में की। तब मैंने उनके द्वारा निर्मित आलोचना पद्धति का मर्म और महत्त्व जाना। प्राचीन वाणी ग्रन्थों में जो तत्त्व-विचार छिटपुट रूप में बिखरा हुआ था, उन्होंने उसे 'नित्य विहार' की प्रेम पद्धति को समझाने के लिए सरल रूप में सूत्रबद्ध करके अपने विचार का विषय बनाया था। इसी परिपाटी को वृन्दावनीय रसिकों की परम्परा में किए गये शोधकार्य में बाद के सभी विद्वानों ने स्वीकार किया। इस प्रकार वे बीहड़ में मार्ग खोजने वाले प्रथम पुरुष थे, जिसने आधुनिक साहित्य समालोचना को एक अज्ञात रस परम्परा से अवगत कराया।

आधुनिक आलोचकों और हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने वृन्दावनीय रसभक्ति की जानबूझ कर जो उपेक्षा की और उसे गर्हित शृंगारी परम्परा की ह्रास-शोल कविता मानकर निन्दित किया उसका कारण यही था कि पूर्ववर्त्ती उन विद्वानों ने सुधारवाद की आँधी के सामने अपने पूज्य प्रातःस्मरणीय रसिकों के इस दिव्य प्रेमरस से युक्त वाणी-साहित्य से युक्तियुक्त रीति से साहित्य जगत् को परिचित नहीं कराया। इसीलिए इतिहास-ग्रन्थों में की गयी भूल और मिथ्या सन्देह का प्रभाव आज तक साहित्य जगत् में बना हुआ है। आज भी वृन्दावनीय साहित्य को हीन कोटि का अश्लील साहित्य माना जाता है।

इस दिशा में गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज ने सर्वप्रथम अभिवांछित कदम उठाया और न केवल 'श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' ग्रंथ रचा अपितु राधावल्लभीय—सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों का संकलन-सम्पादन कर उन वीतराग रसिकों की वाणी के विषय में फैले भ्रम के निवारण का मार्ग प्रशस्त किया।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी गोस्वामी श्री ललिताचरण जी महाराज

—श्रीरामनारायण अग्रवाल

अगाध पांडित्य से परिपूर्ण तेजस्वी उन्नत ललाट के साथ वृन्दावन के मधुर-रस की निर्झरिणी मुस्कान की रस वर्षा-सी करते उनके युग्म ओष्ठ, प्रेमरस से लवालव उनके विशाल चक्षु और नुकीली नासिका जो नीर क्षीर की गन्ध को परखने की उनकी प्रतिभा का प्रतीक जैसी थी, गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज के व्यक्तित्व के ऐसे संमोहक आकर्षण थे कि जो भी उनसे मिलता उनका ही हो जाता था। श्वेत परिधान धारण किये हुए श्वेत दुकूल से परिवेष्ठित गोस्वामी जी व्रज के विद्वत्-समाज के मानो राजहंस ही थे।

मेरा उनसे प्रथम साक्षात्कार शायद सन् १९६० के आस-पास हुआ था। जब वे कृपापूर्वक हमारे 'व्रजमाधुरी' कार्यक्रम में एक वार्त्ता के लिये दिल्ली आकाशवाणी पर पधारे थे। प्रथम भेंट में ही मैं यह भली प्रकार समझ गया कि गोस्वामी जी राधा-वल्लभीय-सम्प्रदाय के एक अग्रगण्य आचार्य ही नहीं वरन व्रजभाषा-साहित्य के एक उद्‌भट विद्वान् भी हैं। प्रायः अनेक धर्माचार्यों में अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ समझने की एक सहज भावना होती है, परन्तु गोस्वामी जी में कहीं दम्भ का स्पर्श तक भी न था। वे जिस सहज स्नेह से अपने मिलने वालों का स्वागत करते, उसमें ऐसी शालीनता निश्च्छलता और हार्दिकता होती थी, जो उनके साथ ही विदा हो गई। हित अर्थात् सहज सनेह की वे सजीव प्रतिमा थे। जब-जब मैं उनसे मिला तब-तब उनके सरस और सरल व्यक्तित्व की एक छाप मेरे हृदय पर अपना अमिट प्रभाव छोड़े बिना नहीं रही।

गोस्वामी जी महाराज व्रजभाषा-साहित्य, रसभक्ति और राधावल्लभीय-सम्प्रदाय के अद्वितीय जानकार थे। डॉ० विजयेन्द्र स्नातकजी ने राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और साहित्य पर जो महत्त्वपूर्ण शोध-प्रवन्ध लिखा था, वह इस समय बहुत चर्चित हुआ था तथा यह माना गया था कि राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्तों पर यह शोध शायद श्रेष्ठतम है और इससे आगे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा जा सकता, परन्तु इस ग्रंथ को पढ़कर गोस्वामीजी ने राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्तों का जो सर्वाङ्गीण विवेचन किया तथा सम्प्रदाय से बाहर के व्यक्ति होने के कारण डॉ० स्नातक जी के विवेचन में जो खामी रह गईं थीं उनका जिस सात्त्विक भाव से सुधार किया वह महाराज ललिताचरण जी के अगाध पांडित्य का परिचायक है। उस एक ग्रन्थ के कारण ही वे व्रजभाषा साहित्य के इतिहास में सदा अमर रहेंगे।

परन्तु आचार्य जी प्रकांड पंडित और समीक्षक ही नहीं एक भावुक कवि भी थे। उन्होंने काव्य-रचना भी प्रभूत मात्रा में की है। परन्तु मेरा यह दुर्भाग्य रहा कि श्रीमुख से उनकी कविता सुनने का मेरे जीवन में कभी कोई अवसर नहीं आया।—कवि होने के साथ-साथ गोस्वामीजी एक समर्थ नाटककार भी थे।

पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी जब 'विशाल-भारत' के सम्पादक थे तब वह पत्र अपने पूर्णोत्कर्ष पर था। देश के मूर्धन्य विद्वानों, कवियों और उदीयमान लेखकों की रचना उसमें बिना किसी भेदभाव के समान महत्त्व देकर प्रकाशित की जाती थीं। गोस्वामी श्रीललिताचरणजी भी तब 'विशाल भारत' के लेखकों में थे और इस पत्र में उनके एकांकी नाटक प्राय: छपा करते थे। आवश्यकता यह है कि गोस्वामीजी ने अपने जीवनकाल में जो भी नाटक रचे थे, उन्हें एक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कर दिया जाय, जिससे उनका सही मूल्यांकन हो और जो नाटक दर्शकों को नवीन प्रेरणा देने में समर्थ हों उन्हें मंचित करने का भी पथ प्रशस्त हो। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे उनके लेखों तथा उपलब्ध प्रवचनों का भी एक संग्रह उनकी विद्वता की पहचान को स्थायी बनाये रखने के लिये आवश्यक है।

धर्माचार्य और साहित्यकार होने के साथ-साथ गोस्वामी जी महाराण की संगीत में भी गहरी पैठ थी। वृन्दावन के समाज-संगीत के तो वह संरक्षक ही थे। राधावल्लभ मन्दिर को विभिन्न समाजों के उन्होंने कैसिट तैयार कराकर उन्हें अपने अपने निजी संग्रहालय में सुरक्षित रखा था। वास्तव में यह संगीत ब्रज की कला परम्परा की अमूल्य निधि हैं। गोस्वामी जी ने उसे सदा ही संरक्षरण दिया।

महाराजश्री संगीतज्ञों के विशेष भक्त थे। जब सन् १९८३ में ब्रजकला केन्द्र ने राष्ट्रीय स्तर पर भगवान श्रीकृष्ण के जन्म स्थान पर संगीत सुधाकर स्व० श्रीचन्दनजी चतुर्वेदी का शताब्दी महोत्सव आयोजित किया था तो महाराजजी का उसमें प्रमुख योगदान था। वे स्वयं श्रीचन्दनजी की गायकी के भारी प्रशंसक थे और उत्सव की योजना बनाने में उनका बड़ा सहयोग रहा। राधावल्लभीय समाज-गायन परम्परा पर उन्होंने उनके स्मृति-ग्रन्थ के लिये लेख भी लिखा था और राधावल्लभीय समाज-गायकी के मंच पर प्रदर्शन के लिये उन्होंने श्रीदामोदरजी मुखिया के साथ समाज गायकों का एक दल भी मथुरा भेजा था। कई बार समाज-गायन की परम्परागत विशेषताओं के सम्बन्ध में उनके विचार सुनने का भी हमें सुयोग प्राप्त हुआ था और कई बार उन्होंने हमें अपने निजी संग्रहालय से समाज-गायन के कैसिट भी प्रदान किये थे, जिनसे हमारा ज्ञान-वर्धण हुआ हैं।

गोस्वामी ललिताचरण जी वैष्णव धर्माचार्य के साथ-साथ कला, संगीत और व्रज की संस्कृति के प्रबल पोषक और संरक्षक थे। उनके चले जाने से जो सांस्कृतिक रिक्तता उत्पन्न हुई है उसकी पूर्ति होना नितान्त कठिन है। हम गोस्वामी जी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं और आशा करते हैं कि उन बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न महान् व्यक्ति की विभिन्न क्षेत्रों में दी गई महान् देन को हम सदा सुरक्षित रखेंगे। उनकी पावन स्मृति को हमारा बार-बार नमन है।

मार्मिक भावाव्यक्ति के धनी

--श्रीविजय एम० ए०

श्रद्धेय श्री ललिताचरण जी महाराज, राधावल्लभ-सम्प्रदाय के मूर्धन्य विद्वान् रहे हैं। विद्वत्ता के साथ-साथ जहाँ भक्ति का सम्पुट लग जाता है तो समझो सोने में सुहागा हो गया। भक्ति तो हृद्गत भाव है, उसमें हृदय का द्रवण, मन का अभिनिवेश उसकी प्रतीति, अनुभूति होने पर शेष कुछ रहता ही नहीं। जहाँ अंततः उनका मन रहता था—वहीं तन भी चला गया।

पूज्य महाराज जी से अनेक बार मिलने का सुयोग हुआ। उनकी भावाभिव्यक्ति बड़ी ही मार्मिक होती थी। भाव की पकड़ अत्यन्त कोमल थी। एक स्थान पर प्रेम का वर्णन करते हुए कहते हैं 'एक परम मधुर विवशता का नाम ही प्रेम है।' मन के सहज योग के बिना इस प्रकार का भाव अम्भव है—अतः प्रेम उनके अन्तस् की मांग थी, हृदय का प्रवाह था तथा जिह्वा का रस था। एक बार एक बहन से श्रीनारायण स्वामी जी का पद सुन रहे थे, कुछ भाव इस प्रकार का था श्यामसुन्दर के अधरों पर पान की रक्तिम आभा छाई है। जादूभरी मुस्कान है। तिस पर उनकी बंक बिलोकन में निहित भावानुभावों को देख मन विवश होता जा रहा है। कुण्डलों की हलन देख मन में मदन तरंगायित हो रहा है। मत्त गयन्द की सी चाल से वशीकरण किये ले रहे हैं। ऐसी रूप माधुरी से युत श्यामसुन्दर की प्राप्ति न जाने किन सुकृतों के फल स्वरूप हुई है, पद श्रवण करते-करते उनकी भाव दशा, सम्पूर्ण अङ्गों की थिरकन के मिस प्रकट उल्लास—उल्लास ही नहीं वे तन्मय होते चले गए। प्रेम ही मूर्त हो गया हो मानो।'

सेवा यदि तन, मन एक कर की जाए तो अति श्रेष्ठ हैं। वे प्रायः कहा करते-सेवा तो भजन ही है। माला लेकर अलग से बैठना ही केवल भजन नहीं है। यह भाव तो बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने अपनी एक घटना सुनाई, बोले 'आज तो सुविधा हो गई। बटन दबाया पानी ऊपर चढ़ गया। सामर्थ्य रहते मैं स्वयं श्रीराधावल्लभलाल की ऊपर की टंकी गागर भर के जल ले जाता तथा भरता। यह सेवा वर्षों करने का सौभाग्य मिलता रहा। परम सुख मिला। एक उमंग तथा उत्साह सदा बना रहता था। सेवा में मन का योग रहने पर 'श्रम'-'श्रम' नहीं रहता। 'जहाँ परिश्रम व्यापे, वहाँ सेवा को अभाव ही कह्यो जायगो'।

भजन का तेज उनके मुख पर झलकता था। स्नेहिल स्वभाव, गरिमापूर्ण वाणी तथा नेत्रों में स्थायी सरसता, जो प्रियाजी की स्मृति से अनेक बार छलक जाती रही, जिन महानुभावों को उन्हें इस प्रकार भाव निमग्न देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, वे कैसे भुला सकते हैं उस माधुरी को ?

अविस्मरणीय उस महान् विभूति को शत-शत नमन।

स्निग्ध मुस्कान का वह सुख !

—श्रीकुंजबिहारी खेमका

आज हौं पुनि वृन्दावन आयौ ।
अब ना वह उल्लास हिये में, चितहूँ नहीं हरषायौ ।
दौर - दौर अब कासों मिलिहौं, को सिर हाथ धरायौ ।
'कुँजबिहारी' ललित गुरु बिन सब बन सूनौ पायौ ।।

परम पूज्य श्री जै-जै महाराज जी आज प्रगट मूर्तिमान् स्वरूप में हमारे मध्य नहीं हैं । दिनांक २४-२-९२ को वह अपने सब आश्रित जनों को एक कभी पूरी न होने वाली कमी का अनुभव देकर नित्य निकुञ्ज लीला में प्रवेश कर गए ! अमृतसर से जब भी मैं वृन्दावन आता, तो दोपहर ११ से १२ के मध्य श्रीवृन्दावन पहुँचता ! पूज्य श्री जै-जै के दोपहर में बैठने का समय भी करीब १२ बजे तक का ही होता ! नहाकर उन तक पहुँचने में जो १० मिनट का समय लग जाता, वह तन और मन को असहनीय हो उठता जैसे ही उनके पास पहुँचता उनके श्रीमुख से "आगए कुंजूबाबू", सुनकर न जाने कितना अनिर्वचनीय सुख प्राप्त होता, जैसे आखिरी मंजिल यही रही हो ! एक कोने में बैठ उनकी मंद मुस्कान का सुख हमेशा जो मिला, वह आज कहाँ से लाऊँ । सब कहते हैं जै-जै गए कहाँ हैं ? मैं भी बुद्धि से तो मानता हूँ कि वह तो हर साँस में उठते-बैठते साथ हैं ! पर "परी जु बान प्रगट दर्शन की" इसका क्या करूँ ? उनका प्रेमपूर्वक सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देना, केवल महसूस करने या मानसिक रूप में मानने से ही तो मन को सन्तोष नहीं होता शायद उनके सम्पर्क में आया हुआ प्राणिमात्र यह बात अपने अन्दर अभिमान पूर्वक महसूस करता है कि जै-जै जितना स्नेह उससे रखते हैं, इतना किसी अन्य से नहीं ! ऐसे कृपासिन्धु जै-जै स्वयं लिखते हैं— "जिन्होंने हमें प्यार करना सिखाया", वास्तव में प्यार करना तो स्वयं उन्होंने ही सिखाया है ! किसने कितना सीखा, यह उसका अपना भाग्य है ! सांसारिक व्यवहार से लेकर निकुँज तक की हर बात उन्होंने बार-बार खोलकर बताई है ! जै-जै हमेशा कहते—

"राई घटे न तिल बढ़े, रहो जीव निसंक।"
राधिका-सी स्वामिनी हूँ पाय के मन खेद।
तो किशोरी अति कृपा ही, बकत हैं सब वेद।।

उनके ये वचन याद कर गिरता हुआ मन उत्कण्ठा से भर उठता है !

एक बार मैंने जै-जै से पूछा कि जै-जै ये तो बहुत कठिन मार्ग है ! इतना संयम, इतना नाम स्मरण इत्यादि हम जैसे सांसारिक जीवों से कैसे बन पाएगा ? कोई सरल उपाय बताइये, जिसमें मेहनत न करनी पड़े ! जै-जै बोले, भैया तब तो "गलपरा" बनना होगा—

व्यासनन्द के गलपरा, सोवत पाँव पसार।
इनकी सहज सँभार में, इनकी मौज अपार।।

एक बार बड़े भैया (श्रीश्रवणकुमार जी खेमका) ने भी ऐसे ही जै-जै से कहा जै-जै आपने हमें कहाँ फँसा दिया है ! बाकी सब लोग हमारे मित्र वगैरह तो क्लबों इत्यादि में घूमते-फिरते हैं, मौज करते हैं और हमें कितनी बंदिशें हैं, ये करो, ये न करो पूज्य जै-जै चुपचाप सुनते रहे, फिर धीरे से मुस्कराकर उन्होंने खिड़की के बाहर इशारा करते हुए दिखाकर कहा, "देखो श्रवणकुमार, वह सुअर कीचड़ में लोट रहा है और कितना आनन्द ले रहा है।"

एक बार जै-जै के पास मौनी बाबा पधारे हुए थे ! हमेशा की तरह फिर वही तोता रटन्त में मैंने जै-जै से पूछा, 'जै-जै सहज और शीघ्र कृपा कैसे हो !" जै-जै एक पल तो चुप रहे फिर बोले "आज तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर बाबा देंगे।" बाबा ने इशारे से अपने शिष्य (तिवारी जी), जो सदैव उनके साथ रहते हैं, तीन शब्द लिखाये—"EFFORT, TIME, GRACE" और कहा You carry on your efforts, it will take time & grace is always, there" यानी चेष्टा जारी रखो, समय तो लगेगा, पर कृपा तो होगी ही और है ही। इसे और आगे बताते हुए जै-जै ने कहा "कृपा तो श्रीजी की सब पर है ही, इसका अनुभव करना चाहिए। जैसे कि लाखों लोग दुनिया में हैं, फिर तुम या कुछ लोग ही चावों इत्यादि में राधे-राधे की नामधुन पर क्यों नाचने लगते हो ! श्रीजी के चाव उत्सव आदि में शामिल होते समय मन में यदि यह विचार करें कि हम कितने भाग्यशाली हैं, जो श्रीजी के निज उत्सव में शामिल होने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है।" उसी रोज राधाकुण्ड का व्याहुला था। और व्याहुले से पहले वहाँ श्रीराधाकुंड के चारों ओर हम लोग कीर्तन करते हुए परिक्रमा लगाते थे, सो जै-जै की कृपा से उस दिन विशेष आनन्द की अनुभूति हुई।

कभी-कभी जै-जै से जब कहते, 'जै-जै नाम में मन नहीं लगता'। तो वे कहते, 'फिर क्यों चावों में इतना नाचते हो !' मैंने कहा जै-जै चाव में आप साथ

कहते हैं, और सबको देख रहे होते हैं, इसी से सब नाचते-कूदते हैं। तो जै-जै बोले, कोई बात नहीं 'झूठौ नाचै साँचों होय, साँचौं नाचै बिरलो कोय।.' और भैया तुम लोगों को तो इन बिरलों की गिनती में आना है।' पूज्य श्रीजै-जै श्रीजी के प्रगट उत्सवों को बहुत महत्त्व देते थे।

जै-जै कभी-कभी विनोद में बड़ी बात कह जाते! एक बार मैं बम्बई से डीलक्स ट्रेन द्वारा अमृतसर आ रहा था। गाड़ी सुबह १० बजे मथुरा पहुँचती है! मन में आया एक समय के श्रीजी के दर्शन कर फिर दोपहर की गाड़ी फन्ट्रियर पकड़ लूँगा। कारण दूसरे दिन सुबह जरूरी अमृतसर पहुँचना था। सो मथुरा स्टेशन पर उतर कर श्रीवृन्दावन पहुँचा और समान समेत मन्दिर में गया। पर जैसे ही मन्दिर में पहुँचा त्यों ही राजभोग आरती के बाद का पर्दा आ गया। दर्शन नहीं हुए! मन का बाँध जैसे टूट गया कि श्रीजी के दर्शन नहीं हुए। कुछ देर तो वहाँ बैठा रहा फिर जै-जै के पास आया! जै-जै भी उठने की तैयारी में थे। मुझे देखते ही बोले 'आ गए कुँजूबाबू' क्या बात है, कुछ दुखी लग रहे हो? सब कुशल तो है ना। मन्दिर में श्रीजी के दर्शन तो हो गए क्या?' सुनकर मन का धीरज छूट गया और बोला जै-जै इतना भाग-भाग कर, इतने मन से आया और श्रीजी के दर्शन नहीं हुए?' जै-जै धीरे से मुस्करा कर बोले, 'तो क्या हुआ, तुम्हें हमसे मिलकर प्रसन्नता नहीं हुई क्या?' उस समय मैंने देखा जै-जै के मुखारविन्द की दमक देखने वाली थी! आगे तुरन्त ही बोले, 'वृन्दावन में जो सैकड़ों, हजारों महात्मा भजन कर रहे हैं, उससे वातावरण में और कण-कण में श्रीराधे नाम समाया हुआ है और कि 'रज तो उड़ लागे तनहि, पीवे जमुना तोय'। सो मन में अधिक विचार न लाओ, और न ही अपना प्रोग्राम बदलो। अमृतसर चले जाओ।" मैं भी पूर्णतया सन्तुष्ट चला आया।

पूज्य श्री जै-जै महाराज जी सदा ही वाणी, समाज और वाणी की व्याख्या इत्यादि में लगे रहते। अक्सर जब वह लिखा रहे होते तो कोई न कोई अपनी छोटी-छोटी समस्याएँ लेकर आ जाता है और सरल चित्त जै-जै पहले उसकी समस्या का समाधान करते, फिर अगली लाइन पकड़ते।

इधर अब साल भर से करीब मेरे सब प्रश्न शांत हो चले थे। ये सोचकर कि जै-जै ने तो हर चीज बहुत विस्तार से खोलकर बतलाई और लिखवाई है और इसका एक प्रतिशत भी अगर जीवन में उतर जाए तो एक जीवन के लिए तो पर्याप्त है। अब तो मन यही चाहता है कि उनकी करुणामयी स्निग्ध मुस्कान का सुख जो प्रगट में पाता रहा हूँ, उनकी कृपा से वह हृदय में चिरस्थायी हो जाए।

अविस्मरणीय श्री जै-जै महाराज

—श्रीनन्दकिशोर भरतिया

मुझे श्री जै-जै महाराज जी के प्रथम दर्शन लगभग ३२ वर्ष पहिले हुए थे। उस समय मैं युवा अवस्था में था और पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता से प्रभावित होने के कारण किसी भी आचार्य आदि में कोई आस्था नहीं थी। चूंकि मेरी पूज्य माता जी देवकीबाई श्रीजै-जै महाराज की कृपा-पात्र थीं, उन्हीं के अनुरोध पर मैं 'यमुना-पुलिन' में उनके दर्शन करने गया।

इस प्रथम दर्शन ने अनजाने में ही मेरी जीवन-धारा को ऐसा सुखद एवं गतिशील प्रवाह प्रदान किया कि मैं आज तक उस सुख-सरिता में बहता चला जा रहा हूँ, जिसका संचालन आज भी श्री जै-जै महाराज ही कर रहे है।

इस प्रथम दर्शन की स्मृति आज भी हृदय पटल पर विराजमान है। ग्रीष्म ऋतु की प्रातः १०-३० का समय रहा होगा, जब मैं अपनी माता जी के साथ "यमुना-पुलिन में गया। जब मैंने श्री जै-जै महाराज के कक्ष में प्रवेश किया और उनके प्रथम दर्शन किये तो ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अपनी चेतना खोता जा रहा हूँ तथा एक ऐसी अलौकिक प्रतिभा के सन्मुख खड़ा रहा हूँ, जिसे मेरा आदि, अन्त, अन्तर, बाह्य सब ज्ञात है एवं मेरी जीवन डोर इन्हीं के हाथ में है। पता नहीं मेरा यह तन्द्रा-काल कितनी अवधि का था। जब मेरे कानों में वंशी-स्वर ऐसे में शब्द झंकृत हुए "आओ-नन्दकिशोर", तब मैं यथार्थ में आया एवं अपने आपको श्रीजै-जै महाराज के दर्शन करने योग्य बना पाया।

उनके उस प्रथम दर्शन का क्या वर्णन करूँ! वह तो बड़े-बड़े मनीषियों के के लिये भी वर्णनातीत है। तंद्रा भंग होते ही ऐसा प्रतीत हुआ कि अलौकिक प्रतिभा वाले एक शाश्वत प्रकाश पुंज ने मन्द-मन्द मुस्कान सहित हृदय-द्वार से प्रवेश करके अपने में आत्म-सात् कर लिया है। उस समय जिस सुख एवं शान्ति का आभास हुआ, उसका वर्णन करने में यह लेखनी असमर्थ है।

श्री जै-जै महाराज का वरद हस्त शीश पर क्या आया कि मेरी जीवन-धारा ही बदल गई। मेरे साथ ही मेरी पत्नी श्रीमती सरला भरतिया भी उनकी कृपापात्र

बनीं। हमारा जीवन एक-एक ऐसे सारथी ने सँभाल लिया, जिसने न केवल हमारे जीवन को दिशा दी, वरन् राह की सभी विघ्न-बाधाओं को दूर करके हमें गंतव्य तक पहुँचाया।

जिस समय मैं एवं मेरी पत्नी श्री जै-जै महाराज के सान्निध्य में आये उस समय हमारा भविष्य अनेक दुश्चिन्ताओं से भरा हुआ था। चहुँ ओर अन्धकार ही अन्धकार दृष्टिगोचर होता था। हम निराशा के गहन अन्धकार में डूबे हुए थे और भविष्य के गर्भ में कुछ भी मंगलमय प्रतीत नहीं होता था।

यह स्थिति एक साधारण सांसारिक की थी तथा हम लोग भी इसी में लिप्त होकर अपना सुख, आनन्द, विश्वास एवं धैर्य खो बैठे थे।

इस निराशामय वातावरण में हमें श्री जै-जै महाराज के श्रीदर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके दर्शन मात्र से ही हम अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति, निश्चय अनिश्चय एवं निर्णय-अनिर्णय के कष्टकारी छन्द्र से मुक्त हो गये।

यह सर्वज्ञात है कि हम लोग कलिकाल में रह रहे हैं, जिसमें अनेक प्रकार की आपदाएँ, विपदाएँ हैं। केवल पुस्तकों के द्वारा ही यह ज्ञात होता है कि सत्युग में चारों ओर आनन्द ही आनन्द बिखरा था तथा प्राणी सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर एक सुखमय जीवन व्यतीत करता था।

अब अगर मैं यह कहूँ कि मैंने श्री जै-जै महाराज के सान्निध्य में सत्युग को जिया है तो आप सम्भवतः इसे अतिशयोक्ति मानेंगे। पर मुझे यह समझाइये कि अगर उनके दर्शन मात्र से ही हृदय में एक स्फूर्तिदायक शांति का प्रादुर्भाव हो तथा उनके तेजोमय मुखमंडल की मनोहारी मन्द मुस्कान आपको एक परा-युग में ले जाये तो आप क्या कहेंगे ? यही श्री जै-जै की उपस्थिति का ही परिणाम था कि वातावरण उन्मुक्त होकर सुवासित एवं सुगन्धित हो जाता था तथा हम जैसे साधारण प्राणीजन उसमें डूबकर एक अन्य संसार में विचरण करने लगते थे।

मुझ पर एवं मेरे परिवार पर श्रीजै-जै महाराज की अनेक अनुकम्पाएँ रही हैं, जिनका वर्णन करना यहाँ संभव नहीं है। मैं तो केवल इतना कह सकता हूँ कि आज मैं पूर्ण-रूपेण सुखी हूँ एवं अपने जीवन को धन्य मानता हूँ, जिसमें श्री जै-जै महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मिला।

जैसा कि मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि श्री जै-जै सदेह हमारे बीच न हों, परन्तु आपकी उपस्थिति असंदिग्ध है तथा आज भी हमारा मार्ग-दर्शन एवं पथ-प्रदर्शन वे ही कर रहे हैं।

ऐसे कर्मठ न विस्मृत होने वाले श्री जै-जै महाराज को कोटिशः प्रणाम।

वह दिव्य स्पर्श

—श्री सुरेशकुमार सर्राफ

हमारे गुरुदेव अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न व दयालु थे। हमारे किसी जन्म के पुण्य स्वरूप ही हमें उनकी शरणागत का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हों ने इतना सुन्दर श्रीतन पाया था कि उनके दर्शन करके मन नहीं भरता था। हमें तो उनके चरणों में रहकर इतना सुख मिला, जिसका वर्णन वाणी करने में भी असमर्थ है। फिर भी मैं एक दो बात कहना चाहता हूँ जो कि मुझे बहुत अच्छी लगतीं थीं।

बाल्यावस्था से ही मुझे श्री वृन्दावन जाने का सौभाग्य तो प्राप्त था लेकिन श्री गुरुदेव की शरणागत मैं नहीं था। हमेशा ही अपने हितधर्मी परिकर से बहस करता था कि भगवान् तो सभी एक हैं फिर यह अनन्यता क्या हुई? एक बार इन सभी के साथ में श्रीवृन्दावन गया। वहाँ मैंने श्री गुरुदेव के दर्शन किये। दर्शन करने मात्र से इतना सुख मिला कि उसी समय शरणागत हो गया और मन में जितने मैं द्वन्द्व थे सभी मिट गये।

हमारे गुरुदेव बहुत मितव्ययी भी थे। श्रीजी की सेवा में जितना मर्जी पैसा लग जाये परन्तु किसी शिष्य का बेकार में पैसा नही लगने देते। यह १९७५ की बात है एक बार मैं श्री वृन्दाबन गया और वहाँ जैपुरिया भवन में रुक गया। जै-जै ने पूछा "कहाँ रुके हो?" मैंने कहाँ "जैपुरिया में।" कहने लगे "वहाँ रुककर कहा करोगे, यहीं चले आओ।" अपने घर के चौक में बने एक कमरे में उन्होंने मुझे टिका दिवा। रोज ही जै-जै के घर से महाप्रसाद मिलता। पन्द्रह रोज में वहाँ रुका। वे दिन मैं अपने जीवन में कभी भी नहीं भूल सकता। सुबह नींद खुलती तो देखता जै-जै कुयें से पानी भर रहे हैं। कभी कुछ पढ़ रहे होते, कभी कुछ लिखवा रहे होते तो कभी सैर कर रहे होते। हर क्षण ही उनका नियम बद्ध तरीके से चलता रहता और मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य मिलता। एक बार मैं उनकी बैठक में जा रहा था और जै-जै बैठक से निकल रहे थे। अचानक उनके हाथ का स्पर्श मेरे गाल पर हो गया। पता नहीं क्या कि मुझे बड़ी जोर से रोना आने लगा और सचमुच मैं बड़ी जोर-जोर से रोने लगा। पूज्य लाली जी व अन्य सभी वहाँ बैठे हुये लोग कहने लगे कि पता नहीं इसे क्या हुआ? कोई कहे-पेट में दर्द हो गया। कोई कहें—कहीं लग तो नहीं गई। जै-जै पहले तो कुछ नहीं बोले फिर कहने लगे कि 'कछु नाय भयौ हमारौ नैंक स्पर्श है गयौ। याही ते ऐसौ कर रह्यौ है। थोड़ी देर में ठीक है जायगौ।" ऐसे मनोवैज्ञानिक थे हमारे गुरुदेव।

बातें तो बहुत हैं परन्तु मैं तो बस इतना कहूँगा कि हम तो आज जो कुछ भी हैं हमारे जै-जै के कारण ही हैं। उन्होंने ही हमें प्रेम का मार्ग दिखाया। आज हम अपने आपको बहुत ही गौरवशाली समझते हैं कि हमें भी ऐसे श्री गुरुदेव की शरणागति प्राप्त हुई।

हितावतार परम पूज्य श्री जै-जै

—श्रीज्ञानेन्द्र "श्यामा शरण"

जब जब होत धर्म की हानि । तब-तब तनु धरि प्रगटत आनि ।।
जानि और दूजो नहीं ।

—सेवकवाणी २।२

अर्थात् जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब परम प्रेम स्वरूप श्रीहरिवंश ही मनुष्य शरीर धारण करके प्रगट होते हैं। वे जानते हैं कि इस कलि काल में अन्य कोई दूसरा रक्षक हो नहीं सकता।

साक्षात् हितावतार ही थे परम पूज्य गुरु जी।
जाकी रही भावना जैसो प्रभु मूरत देखी तिन तैसी ।।

—राम चरित मानस

श्री हित महाप्रभु ने शिष्य श्रीनरवाहन जी पर रीझ कर हित चौरासी के दो पद (११ व १२) भेंट किये। उसी परम्परा में श्रीहरिराम व्यास (तत्कालीन हरि त्रयी—श्री हरिवंश, श्रीहरिदास एवं हरिराम जी) ने परम प्रिय शिष्य मधुकर शाह पर रीझ कर पद भेंट किये थे। गुरु जी ने भी सम्वत् २०१४ (सन् १९५७) में 'वेणु प्रकाशन' द्वारा प्रथम भेंट "श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" को अपने निकुंजवासी शिष्य मथुरा प्रसाद (भजन सहायक दास) को समर्पित की—

"भजन सहायक दास, जो कछु तुम संग्रह कियौ।
ताही को विन्यास, लघु प्रयास अर्पित तुमहिं ।।"

श्री राधा चरण प्रधान रस पद्धति के व्याख्याता दामोदर दास जी (सेवक) की वन्दना में भी उन्हीं शिष्य का उल्लेख है—

सेवक सो को सुकृती लायक।
धर्मी धर्म ललित कुंजनि में दरसाये, जय भजन सहायक ।।

प्रातः स्मरणीय श्रीहित ललिताचरण जी महाराज ने इस शिष्य को भी सन् १९७५ में एक निवेदन में "श्यामा शरण" नाम देकर अध्यात्म पथ की ओर अग्रसर किया।

प्रथम परिचय पिता श्री के गुरु होने के नाते माताश्री ने सन् १९६९ में उस समय कराया जब हम निराशा के बादलों से घिरे हुए भविष्य की ओर चिन्तित थे तब श्रीगुरु मुख से निकला था—

बीती की मत सोच कर, होनहार न विचार।
वर्तमान को आस्वाद करि, नाम गिरा आधार ।।

—सु० बो०-लाड़िलीदास

अर्थात् बीते समय को मत याद करो और भविष्य तुम्हारा उज्ज्वल है। वर्तमान में "राधावल्लभ श्रीहरिवंश" जाप करो और सेवक वाणी पाठ करो, सब कार्य सिद्ध होंगे।

"बाढ़हि पूत पिता के धर्मा।" के अनुसार सभी कार्य सहज रूप से श्रीजी ही बनायेंगी।

गुरु कृपा से ही २३ वर्ष के जीवन में लौकिक सुख सुविधाओं से सम्पन्नता तो आई ही, साथ ही प्रेम लक्षणा भक्ति की ओर भी अग्रसर हुआ।

श्रीहरिवंश चरण शरण, भये जे जीय।
निर्भय इह लोक परलोक, युगल आप वश कीय ।।

श्रीहित जी ने श्री ललिताचरण जी का वपु धारण कर वृन्दावन रस रीति का विस्तार किया, हित धर्म की कीर्ति बढ़ाई। रस धर्मियों में बड़ी प्रीति उत्पन्न हो गई थी।

अस प्रकाश कर भाव, अलि सेवत मंगल भवन।
यह तन वह तन एक करि, बहुरि कियो रुचि गवन ।।

—हित वृन्दावनदासजी चाचा जी

इस प्रकार श्रीगुरु जी ने श्रीहित धर्म का प्रकाश कर अलिभाव (सखीभाव) से श्रीजी के मंगला समय यह शरीर और वह शरीर (श्रीहित स्वरूप) एक कर अर्थात् आनन्द पूर्वक निकुंज गमन किया।

परम सौभाग्य का विषय रहा कि इष्ट मंगला जाते समय श्रीराधेश्याम व सन्तोषबाई जी द्वारा (उर प्रेरक हरिवंश गोसाईं) बुलवा कर शैंया पर लिटाते समय तन का भी स्पर्श मिलते ही निम्न पंक्तियाँ उद्धृत हुईं—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोहि।
हृदय ते जब जाहुगे, मरद बदोंगो तोहि ।।

—विल्व मंगल जी

गुरु जी के निकुंजवास के पश्चात् रसिक समाज की पुनः व्यास वाणी मुखरित हो उठी है—

हुतो रस रसिकन को आधार।
वृन्दावन की सहज माधुरी, कहिहै कौन उदार ।।

पद रचना अब कापैं ह्वै हैं, निरस भयो संसार।
बड़ौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगो ठाट सिंगार।।
जिन बिन दिन-छिन सतयुग बीतत, सहज रूप आगार।
व्यास एक कुल कुमुद बन्धु, बिन उड़गन जूठो थार।।

आज जो कुछ भी उपर्युक्त चरित्र पर प्रकाश है मात्र गुरु कृपा से ही सम्भव हुआ।

परम पूज्य गुरुदेव श्री ललिताचरण जी हितावतार होने के कारण ही सभी धर्माचार्यों व वाणियों का सम्मान करते हुए भी सदैव अनन्यता पर ही जोर देते थे।

रसिक मण्डली के मध्य अनुगत जनों द्वारा यदा-कदा प्रश्नों के उत्तर सहज ही होते थे—

प्रश्न—आप अन्य गुरुओं की भाँति शिष्यों की प्रगति की कोई जानकारी नहीं करते हैं ?

जै-जै—व्यासनन्दन कौ दियौ भयौ मंत्र जीवन कूँ देकें, पीछे वाकी जिम्मेवारी व्यास-नन्दन पर ही छोड़ दउँ।

प्रश्न—सभी प्रकार के सत्संग में जाने का मन नहीं करता एवं अन्य सम्प्रदाय के लोग हमारे यहाँ सत्संग में नहीं आते हैं।

जै-जै—जे हरिवंश प्रेम रस झिले। क्यों सोहैं लोगन में मिले।
गिल्यो काल जग देखिये।

—सेवक वाणी

जो श्री वृन्दावन रस (हरिवंश प्रेम) को समझ चुके हैं वे कालग्रसित संसारी लोगों के मध्य शोभा नहीं पाते हैं।

प्रश्न—अधिकतर साँसारिक झंझटों के कारण भजन में चित्त न लगने के कारण चित्त खिन्न रहता है।

जै-जै— कबहूँ तो थोरो भजन, कबहूँ होत विशाल।
मन को धीरज छुटै नहीं, गहे न दूजी चाल।।

—मन शिक्षा-श्रीध्रुवदासजी

प्रश्न—हित सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बावजूद प्रेम माधुरी का उन्मेष क्यों नहीं हो पाता ?

जै-जै—इष्ट गुरु पर विश्वास रखकर सांसारिक व्यवहार में भी प्रीतियुक्त व्यवहार में भी प्रीति युक्त व्यवहार करते भये चार बातन कौ जीवन के आचरणन में उतरनौ आवश्यक है—दैन्य, उदारता, सहनशीलता एवं सरलता।

प्रश्न—श्रीहित रूपलाल जी की वाणी—"विधि विधान जो अमिट भाल तें, तोहि हटा-वन समरथ ओज।" हम अधम पामर जीवन के लिए सम्भव होयगो कि नाय ?

जै-जै—श्रद्धा पूर्वक मन्त्र जाप, सेवकवाणी के नित्य पाठ सों निश्चित रूप ते सब कछू सम्भव होयगो ।

प्रश्न—अक्सर भजन न होने के कारण घर से भाग कर एकांत स्थान में बैठ कर भजन करने की प्रवृति होती है ।

जै-जै— रस बल छुटे न जो विषे, सुख पावे नहिं कोय ।
तन छांड़, मन गहे, दूनो दुःख तहाँ होय ।।

—मन शिक्षा

घर में ही एकांत स्थल में बैठ कर वाणी पाठ व पद गायन से शनैः शनै प्रगति होगी ।

प्रश्न—श्रीमद्‌भागवत पुराण में श्रीकृष्ण पूर्णपुरुषोत्तम कहे गये हैं, फिर नित्य विहारी कैसे हो गये ?

जै-जै— पूरण पुरष पुराण हुतो, परमेश्वर नाम कहायो जू ।
राधा-राधा नाम कहत ही, नवकिशोर तन पायो जू ।।

श्रीराधा नाम की शक्ति से ही नित्य-विहार दृष्टिगत होय है ।

प्रश्न—इन नेत्रों से ही मायिक संसार में रहते हुए भी श्यामा-श्याम के नित्य विहार के दर्शन कैसे होंगे ?

जै-जै यह सुख समुझन को नाहिन आन उपाय ।
प्रेम दरीची जो कबहूँ, सहज कृपा खुलि जाय ।।

—प्रेमावली-ध्रुवदास जी

रसिकन कौ मार्ग कृपा साध्य ही है न कि साधन साध्य ।
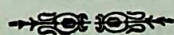
वह नन्हे क्षण एवं गुरुदेव का सान्निध्य

—श्रीरविप्रकाश पाठक

सर्व प्रथम श्री वृन्दावन आने का सौभाग्य मुझे बहुत छोटी उम्र में प्राप्त हुआ था।

जब मैं तीन वर्ष का था। बचपन से ही मुझे श्री वृन्दावन एवं श्रीराधावल्लभ जी के प्रति लगाव था। मेरे घर पर श्री जी का चित्रपट था। उसके दर्शन करके मन में एक अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती थी।

मैं राधाष्टमी के उत्सव पर अपने बाबा-दादी के साथ श्री वृन्दावन आया था। छोटा-सा तीन साल का था। जै-जै महाराज जी बच्चों से बहुत प्रेम करते थे और मुझे रोजाना प्रसाद देते थे। यहीं घाट पर एक दिन तिद्वारी में संकीर्तन हो रहा था। उस समय मैं संकीर्तन में सभी के साथ बैठकर मदमस्त होकर हाथ से ताली बजा रहा था और झूम-झूम कर कीर्तन बोल रहा था। कुछ समय पश्चात् जब संकीर्तन का समापन हुआ तो जै-जै महाराज जी आये और मेरे सिर पर अपना हस्त-कमल रखकर हमारे ताऊ जी से बोले "पाठक जी, जे छोरा वृन्दावन में रहेगो", उस समय मैं बच्चा था, इन गहराई की बातों को समझने की बुद्धि मेरे में नहीं थी। बस, महाराज जी मुझे अच्छे लगते थे क्योंकि वह मेरे ऊपर अपने प्रेम की अनवरत वर्षा करते थे।

समय गुजरता गया। कुछ समय बाद ऐसे संजोग हुये कि मैं अपनी दादी जी के साथ श्रीवृन्दावन वास करने ही आ गया और जै-जै महाराज जी के सान्निध्य में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ताऊ जी (पाठक जी) ने जै-जै महाराज जी से कह दिया कि—"मैं अपनी मईया को तो खर्च उठाऊँगो पर जाको खर्च न उठाऊँगो। मैं तो बाबा जी हूँ मेरो तो धर्म का पइसा है।" तो जै-जै महाराज जी ने मेरे कपड़ा, शिक्षा-दीक्षा एवं भोजन इत्यादि का सारा खर्चा अपने ऊपर ले लिया और संगीत-शिक्षा की व्यवस्था कर दी।

मैं श्री राजेन्द्र जी से हारमोनियम सीखने लगा। जब मैं हारमोनियम पर श्रीहित चतुरासी जी के कुछ पद गाता तो जै-जै महाराज जी उस समय दोपहर का अपना नित्यकर्म करते थे। वे पद सुनकर बहुत प्रसन्न होते और मुझे बाद में चार-पाँच रुपये खर्च को देते थे।

जै-जै महाराज जी ने मेरा नाम 'चुकला' रखा था और हरदम प्रेम से मुझे चुकला कहकर पुकारते थे। मेरे ऊपर कभी किसी प्रकार का बन्धन नहीं रखा उन्होंने। वह अपने आपको कष्ट दे लेते थे पर दूसरे के सुख की उन्हें बहुत चिन्ता रहती थी। दोपहर के समय भोजन करने के पश्चात् वह टहलते थे और मैं उन्हें पुस्तक पढ़कर सुनाया करता था। कभी-की उन्हें प्रसाद पाने में देरी हो जाती थी। दो-ढाई बजे तक प्रसाद पाकर वे ऊपर से आते थे और अगर मैं सो जाता तो स्वयं परेशान हो लेते थे और टहलते रहते थे पर मुझे जगाते नहीं थे। कहते—"सोने दो बेचारे को, मैं टहल लूँगो।" अगर मुझे बुखार आ जाता तो दिन में कई बार स्वयं चलकर पूछने आते जहाँ मैं लेटा रहता वहाँ पर और हाल-चाल पूछते। मैंने जब बी० ए० प्रथम बर्ष की परीक्षा दी तो मुझे मई-जून के महीना में दोपहर दो बजे रमणरेती अपने कालेज परीक्षा देने जाना पड़ता था। तो जै-जै महाराज जी कहते="चुकले बेटा ऐसी धूप में कैसे जायेगो। ले रिक्शा के पइसा मोसे ले लें। रिक्शा से जइयो।" और मुझे रिक्शा के पैसे देते।

इतना लाड़-दुलार करते थे कि मुझे अपने माता-पिता का अभाव ही कभी महसूस नहीं हुआ। शायद हमारे माता-पिता भी हमें इतना स्नेह नहीं दे पाते।

जै-जै महाराज जी के लाड़-प्यार में ही मैं इतना बिगड़ गया था, कि उनके निकट रहकर भी उन्हें रोजाना दण्डवत् नहीं करता था। दूर-दूर से वैष्णव महाराज जी की दण्डवत् एवं दर्शन करने आते थे। मंगला के समय प्रातः वैष्णव दण्डवत् करने आते और मैं गर्मियों में तिद्वारी, यानी बैठक के सामने सोता रहता। महाराज जी जब शौच से आते तो बड़े प्रेम से मुझे बुलाते "रवि, ओ रे रवि! उठ जा बेटा देख, वैष्णव आने लगे हैं। जा गौख में सो जा, या छत्त पै चलौ जा" और मैं उठता, सीधा चला जाता, उनकी दण्डवत् भी नहीं करता। मूर्ख था न, मुझ मूर्ख में तो जन्म-जन्मातरों के संस्कार, कामनाओं और वासनाओं का मल भरा पढ़ा था। मेरा हृदय तो अज्ञान के अन्धकार एवं नीरसता से भरा पड़ा था। मैं जै-जै महाराज जी को कैसे पहचान सकता था! महापुरुषों को समझना हर जीव के लिये संभव भी नहीं है।

श्री लाड़िलीदास जी लिखते हैं कि—

बड़ौ कुसंग शरीर निज यामें सकल विकार।
तजि भजिये हित महल रस नाम गिरा आधार॥

मनुष्य का अपना शरीर ही बहुत बड़ा कुसंग है। इसमें सारे विकार भरे हुये हैं। मनुष्य बाहर के कुसँग को तो कदाचित् छोड़ भी सकता है, किन्तु अपने शरीर में

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि अनेक विकार भरे हुये हैं। जब तक इन्हें नहीं छोड़ा जायेगा तब तक शरीर और मन दोनों अपवित्र रहेंगे, भजन की पात्रता नहीं आयेगी। अतः इन सब विकारों को छोड़कर नाम और वाणी के आधार से हित रस का रसास्वादन करना चाहिये।

लेकिन किसी महापुरुष ने कहा है कि जब दुष्ट अपनी बुरी प्रकृति नहीं छोड़ सकता तो एक परोपकारी, दयालु, साधु, महात्मा अपनी साधुता, दयालुता कैसे छोड़ दे ? महापुरुष दुष्ट को भी झाड़-पोंछकर सफाई, स्वच्छता, निर्मलता प्रदान कर देते हैं।

महापुरुषों के तो दर्शनमात्र करने से दुष्ट अपनी दुष्टता भूल जाता है और अगर स्पर्श हो जाये तो दुष्ट की प्रकृति ही बदल जाती है और उसके हृदय में प्रेम का सागर हिलोरें मारने लगता है।

मैं तो दिन भर इधर-उधर घूमता रहता। कभी जै-जै महाराज जी के पास नहीं बैठता था। और मित्रों के साथ घूमता फिरता और महाराज जी कहते "अरे चुकले, थोड़ौ समाज में बैठो कर। सबेरे जल्दी उठकर एक-दो माला करौ कर।" पर जब तक मैं जै-जै महाराज जी के सामने रहता मुझे बड़ा आनन्द आता था उनके दर्शन करने में। मैं कितना ही शरीर से दुःखी क्यों न होता पर जै-जै महाराज जी के दर्शन एवं उनकी आवाज सुनकर मन सभी कष्ट भूल जाता था। उन्नत ललाट, उस पर चन्दन का तिलक शोभायमान, प्रेम से भरे नैंन, तेजस्वी मुखमण्डल, होठों पर मृदुल मुस्कान उनके दर्शन मात्र करने से मुझे अद्‌भुत आनन्द की अनुभूति होती थी। जै-जै महाराज की विद्वत्ता अगाध सागर के समान थी। गहरी से गहरी बात को वह इतनी बोधगम्य भाषा और शैली में कह देते थे कि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता था।

धीरे-धीरे श्रीजी की कृपा हुई और मैं जै-जै महाराज जी के पास बैठने लगा। एक पुस्तक आई थी "जो तुम राखौ पकरि।" सन्त रामदेवजी की लिखी हुई थी। मैं उसे पढ़कर महाराज जी को सुनाता था। उसको पढ़ने से मन में जिज्ञासायें उत्पन्न होने लगीं और मैं पढ़ते-पढ़ते बीच में उनसे पूछने लगा। तो एक दिन जै-जै महाराज जी बोले "चुकले, अब तू बहुत चोंच लड़ाने लगा है चुपचाप पढ़ाकर। धीरे-धीरे सब समझ जायेगा।" मुझे क्या मालूम था कि महाराज जी के सान्निध्य में बैठने मात्र से मुझ पर अप्रत्यक्ष रूप से उनकी कृपा हो रही है और श्रीहित रसोपासना के रहस्य की पर्त दर पर्त खुलने लगी हैं और मुझे समाज में भी आनन्द की अनुभूति होने लगी है।

एक दिन मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि प्रेम अनुभूति है या प्रेम वस्तु है। मैंने कॉलेज में कई दर्शनशास्त्र के प्रोफेसरों से पूछा पर सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। तो मैंने जै-जै महाराज जी से पूछा। महाराज जी ने थोड़े से ही शब्दों में मेरी जिज्ञासा का समाधान कर दिया।

वह बोले "देख बेटा, श्रीवृन्दावन में श्रीराधावल्लभजी हैं और वैसे ही अन्य अनेक ठाकुरजी हैं। एक-सा श्रीविग्रह, एक-सा श्रृंगार सब कुछ एक-सा है। श्रीराधा-

वल्लभजी के पास हजारों आदमी आते हैं और उनकी मनोकामनायें पूरी होती हैं पर रतन प्रेस के ठाकुरजी के पास इतनी भीड़ क्यों नहीं जाती ? वह इसलिये क्योंकि श्रीराधावल्लभ जी में महाप्रभु हरिवंशचन्द्र जी का महाभाव लगा है। महाप्रभु जी ने उन्हें लाड़-लड़ाया है और उन्हीं की वजह से वह साक्षात् हैं। तो प्रेम अनुभूति एक आनन्द भी है एवं वस्तु भी है मैं समझ गया और मुझे भी श्रीरामकृष्ण परमहंस याद आ गये क्योंकि मैंने उनके बारे में पहले से ही पढ़ रखा था। वे अपने हृदय की श्रद्धा एवं प्रेम से ही दक्षिणेश्वर की काली मां की मूर्ति से साक्षात् बातें करते थे।

तो ऐसे थे गुरुदेव जै-जै महाराज जी ! उन्होंने मेरे लिये बचपन में जो बात कही थी, जब मैं तीन साल का था, उसी अकाट्य वाणी ने मुझे श्री वृन्दावन का वास एवं रस-समुद्र में अवगाहन करा दिया। मेरा जीवन सफल हो रहा है गुरुदेव की कृपा से।

हमारे माता-पिता एवं परिवार वालों ने मुझे टीकमगढ़ में घर पर बहुत रखना चाहा पर नहीं रह सका। बीमार पड़ जाता हूँ वहाँ जाते ही और मुझे घूम-फिर कर फिर श्री वृन्दावन ही आना पड़ता है। अब भी कह रहे हैं कि बी० ए० हो गया है, अब यहाँ से एल-एल० बी० का फार्म भर दे। टीकमगढ़ में फूफा जी के साथ अभ्यास करना शुरू कर दे। या फिर नौकरी कर ले। पर मैं जाना नहीं चाहता श्रीवृन्दावन से क्योंकि मेरा मन नहीं करता और मुझे श्रीध्रुवदास जी की कुण्डलियाँ याद आ जाती हैं।

बार-बार तो बनत नहीं यह संजोग अनूप।
मानुष तन वृन्दाविपिन रसिकन संग विवि रूप ।।
रसिकन संग विवि रूप भजन सर्वोपरि आहीं।
मन दै ध्रुव यह रंग लेहु पल-पल अवगाहीं ।।
जो छिन जात सो फिरत नहिं करहु उपाइ अपार।
सकल सयानप छांड़ि भजु दुर्लभ है यह बार ।।

इसलिये मैं तो यहीं श्रीजी की शरण में श्री वृन्दावन में रहना चाहता हूँ। और उन्हीं का समाज में गुणगान करते जीवन को रसमय, आनन्दमय बनाना चाहता हूँ आगे श्री जी की मर्जी है क्योंकि अपने चाहने से तो कुछ होना नहीं है।

आज भी जै-जै महाराज जी, गुरुदेव की कृपा है मुझे ऐसा महसूस होता है। मैं जब-जब परेशानी में होता हूँ गुरु जी का स्मरण करते ही चमत्कार-सा हो जाता है और परेशानयाँ तिनके के समान हवा में उड़ जाती हैं।

जै-जै महाराज जी मुझे बुआ जी (लालीजी) की शरण में छोड़ गये हैं और अब मुझे उन्हीं का संरक्षण प्राप्त हो रहा है। बुआ जी भी जै-जै महाराज जी की तरह मेरे ऊपर अनवरत प्रेम की वर्षा करती हैं एवं पुत्रवत् स्नेह करती हैं। उनकी मेरे ऊपर अपार कृपा है। अब वही हमारी गुरु हैं, वही माता-पिता हैं। मेरा सब कुछ वही हैं और मेरा जीवन उनके ही चरणों में सर्मपित है।

उनका अमोघ आशीर्वाद

—श्रीमदनलाल गुप्त

आदरणीय गोस्वामी श्री ललिताचरण जी से मेरा प्रथम साक्षात्कार श्री ओंकारनाथ जी द्वारा सन् १९८३ में हुआ। वह सरलता तथा समरसता की एक प्रत्यक्ष मूर्ति थे। वैसे तो मैं कई वर्षों से देवबन्द रहने के कारण श्रीरंगीलालजी के मंदिर में दर्शन करने जाया करता था, परन्तु उनके प्रथम साक्षात्कार का ही कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि मेरे मन में उसी समय उनसे दीक्षा लेने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। किन्तु उन्होंने कहा, कि वह शीघ्र ही देवबन्द पधारेंगे और वहाँ पर ही श्रीरंगीलाज जी के दरबार में मुझे दीक्षा देकर अनुगृहीत करेंगे! शीघ्र कुछ महीनों में ही उनका देवबन्द आने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। इस बीच उनके चमत्कार का यह प्रभाव था कि दैनिक रूप से श्री रंगीलाल जी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा।

देवबन्द आने पर वह दो रात्रि वहीं पर रहे। वहाँ पर ही उनके अमृत वचनों को पान करने का सौभाग्य मिला। फिर तो उनके प्रभाव से श्रीराधावल्ललाल जी के चरणों में दिन-प्रतिदिन प्रीति बढ़ती गयी। वहीं पर उनसे दीक्षा लेने का शुभ अवसर मिला। उसके पश्चात् तो बहुधा आगरा में रहने के कारण उनके श्रीचरणों में जाने का सौभाग्य मिलता रहा।

जब कभी भी उनसे इस विषय में बात होती कि भजन में मन कम लगता है तो उनका उत्तर प्रायः यही हुआ करता था कि 'भजन बढ़ाओ!" भजन से ही श्रीराधा रानी के चरणों में प्रीति प्राप्त हो सकती हैं। उनका आशीर्वाद विलक्षण था उनके कर-कमलों में एक विद्युत जैसी शक्ति थी। जब कभी भी वह अपने वरद हस्त सिर पर रखते थे, तो एक चुम्बकीय प्रभाव होता था। यह अतिशयोक्ति नहीं है। उनके स्पर्श का प्रभाव विद्युत के समान पूरे शरीर को झंझोड़ देता था। परन्तु अपना दुर्भाग्य ही कहें कि उनका इतना आशीर्वाद प्राप्त होने पर भी मन अभी तक भी सांसारिक विषय-भोगों में ही अधिक आकर्षित है और श्रीराधारानी के चरणों में बहुत कम प्रीति हैं।

उनके चमत्कारिक प्रभाव का वर्णन मैं शब्दों में नहीं कर सकता। मेरे गले में 'वौकल कौर्ड' में कैंसर है। वह हमेशा यही कहते थे कि राधारानी कृपा करेंगी।

पिछले वर्ष यह पीड़ा इतनी अधिक बढ़ गयी कि मुझे पाँच हफ्ते तक लगातार विद्युत से गले की सिकाई करानी पड़ी। इसी बीच में मैंने उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये उन्हें एक पत्र लिखा और तुरन्त उनका उत्तर प्राप्त हुआ कि मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है और श्रीराधारानी के चरणों की कृपा से वह प्राणनाशक बीमारी अब नब्बे प्रतिशत से अधिक ठीक है।

उनके चमत्कार की एक प्रत्यक्ष घटना का वर्णन करना यहाँ पर अप्रासंगिक नहीं होगा। पिछले ३० नवम्बर को हम चार परिवार शिवशंकर तीर्थयात्रा कम्पनी द्वारा पूरे भारत की तीर्थयात्रा के लिये गये। मैंने अपने पूरे जीवन में कभी एक साथ दो रात्रि भी रेल की यात्रा नहीं की थी। अत: मन में कुछ दुविधा थी। मैं ट्रेन से उतरकर मथुरा से उनके श्री चरणों की रज लेने श्री वृन्दावन गया। उन्होंने एक अटल विश्वास से कहा, "जाओ। श्रीराधारानी की कृपा से यात्रा ठीक रहेगी। लौटकर शीघ्र मिलना।" एक दृढ़ विश्वास लेकर मैं तथा पत्नी यात्रा के लिये गये। उस दिन दो बार मन्दिर जाने पर भी श्रीराधावल्लभलालजी के दर्शन नहीं हुये। थोड़ी चिन्ता हुई परन्तु मन में उनके आशीर्वाद का विश्वास था। छत्तीस दिन की यात्रा पर चले गये। दुर्भाग्य से अगले दिन उज्जैन पहुँचकर जब हम चारों परिवार एक मैटाडोर द्वारा नगर-भ्रमण के लिये गये, तो सर्वप्रथम परम पावनी क्षिप्रा नदी में स्नान किया और उसके उपरान्त मैटाडोर में नगर भ्रमण के लिये प्रस्थान किया। परन्तु दो मिनट पश्चात् ही ऊँचाई पर चढ़ते समय गाड़ी के ब्रेकफेल हो गये। गाड़ी पीछे की तरफ लुढकने लगी और धमाके के साथ एक दीवार से जा टकरायी, जिसके कारण मेरे साथ के तीनों परिवारों की स्त्रियों के कूल्हे की हड्डियों में फ्रेक्चर हो गये, जिसके कारण उन्हें अगले दिन ही यात्रा स्थगित करनी पड़ी। परन्तु श्रीगुरु महाराज के आशीर्वाद से एवं श्रीराधारानी की कृपा से हम दोनों को बहुत मामूली-सी चोट लगी। हम यात्रा करने गये और बड़े आनन्द-पूर्वक पूरी यात्रा समाप्त करके सकुशल लौट आये।

ऐसे महापुरुष कभी-कभी ही दूसरों को मार्ग दिखलाने के लिये आया करते हैं। भगवान् से यही कामना है कि उनका आशीर्वाद अब भी हमें इसी प्रकार प्राप्त होता रहे और श्रीराधारानी के चरणों में मन लगा रहे।

केवल भजन की पहचानवाले हमारे जै-जै

—श्रीगोपालदत्त शर्मा

मुझ से बड़े भाई वचपन से ही घरबार छोड़कर श्रीउड़िया बाबाजी के साथ रहने लगे थे। बीच-बीच में गाँव चले जाते और फिर बाबाजी के पास आ जाते। इस तरह रहते-रहते काफी समय बीत गया। एक दिन उड़िया बाबाजी ने पूछा "क्यों रे पुष्कर, तू क्या करता है ?" "महाराज जी मैं रामायण पढ़ता हूँ और कीर्तन कर लेता हूँ।" स्वामीजी ने विनम्र भाव से उत्तर दिया। "रामायण पढ़ता है। अरे ! ब्रज में रहता है और अयोध्या की बात करता है। वहाँ का खाना तुझे पसन्द है ? वहाँ की भाषा बूझे है !" श्रीउड़िया बाबाजी ने प्रश्न किये। "महाराज जी मुझे आप दीक्षा दे दो !" स्वामीजी से प्रार्थना की। "मैं किसी को दीक्षा देता हूँ क्या ?" श्रीबाबाजी महाराज बोले। "तो मैं क्या करूँ फिर ?" स्वामीजी ने नम्रता पूर्वक कहा। श्रीउड़िया बाबाजी कुछ विचार करके बोले, "तुम ब्रजवासी बच्चे हो। श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय से आगे कुछ नहीं है। इस समय इस सम्प्रदाय में घाटवाले गुसाईं जी अवतरित हुए हैं, तुम जाओ, उनसे दीक्षा ले लो।" स्वामीजी ने फिर नम्रता पूर्वक कहा "महाराज जी मुझे तो वे जानते नहीं हैं। दीक्षा कैसे देंगे ?" श्रीउड़िया बाबाजी ने तुरन्त एक चिट्ठी लिखकर स्वामीजी को दी और बोले, 'यह चिट्टी दिखा देना।"

स्वामीजी चिट्ठी लेकर श्रीमहाराज के पास आये और जै-जै को चिट्ठी दिखाई, देखकर महाराज जी बोले, "बाबा तौ वैसे ही कह देते चिट्ठी लिखने की कहा जरूरत ही !"

श्रीमहाराज जी की शरणागति होने से पूर्व मैं भी रामायण पढ़ता था तथा कई काण्ड याद कर लिए थे, जिनको मैं सबके सामने सुनाया भी करता था।

सन् १९७२ की बात है एक दिन यही स्वामी जी घूमघाम कर आये, आकर मेरे पास खड़े होकर कहने लगे, "तू यह रामायण याद करके, सबको सुना-सुनाकर खूब बड़ाई लूटता है। इससे क्या लाभ ?" इतना कहकर उन्होंने निम्न छन्द सुना डाला—

श्रीहरिवंश नाम हीन खीन दीन देखिये सदा,
कहा भयो बहुज्ञ है पुरान वेद पढ़्ढही।

कहा भयौ भये प्रवीन जान मानिये जगत्त,
लोक रीझ सोभ कौं बनाइ बात गड्डहीं ।।
कहा भयौ किये करम्म जज्ञ दान देत देत,
फलन पाइ उच्च-उच्च देवलोक चड्ढहीं ।
पर्यौ प्रवाह काल के कदापि छूट है नहीं,
श्रीहरिवंश नाम प्रीति सौं प्रतीति सौं न रट्टहीं ।।

इस छन्द का विस्तार पूर्वक अर्थ करके बताया और बोले "तुम्हें इसी रामायण का फल मिलेगा। श्रीहरिवंश नाम रटना शुरू कर दो और श्रीमहाराज जी से जाकर दीक्षा ले आओ।"

मैंने स्वामीजी से कहा, "स्वामीजी श्रीउड़िया बाबाजी के लिए मेरे हृदय में स्थान है। मैं भी उनको मानता हूँ। यदि आज श्रीउड़िया बाबा मुझे आज्ञा दे दें तो मैं महाराज जी से जाकर दीक्षा ले आऊँगा।"

यह बात श्रीराधाष्टमी से दो या तीन दिन पहले की है। मैं नौहरे में खाट पर लेटा हुआ था। चाँदनी रात थी। मेरी जरा-सी झपकी लगी देखा हाथ में कमण्डल लेकर श्रीउड़िया बाबा सामने खड़े हैं—मेरे से कह रहें हैं—'ठीक है रे।' आँख खुली देखा कुछ नहीं मैंने स्वामी जी को सारी घटना सुनाई। स्वामीजी मुझे लेकर श्रीधाम श्रीमहाराज के पास आये, महाराज जी से मेरा परिचय कराया तथा दीक्षा देने की प्रार्थना की। श्री जै-जै महाराज राजी हो गये।

श्रीमहाराज जी के दर्शन करके मैं कृतकृत्य हो गया। ऐसे सुन्दर दर्शन मैंने अपने जीवन में कभी नहीं किए। माधुर्य से परिपूर्ण सदा प्रसन्न रहने वाला मुखमण्डल देखकर मैं किसी अनिर्वचनीय आनन्द सिन्धु में डूब गया।

स्वामी जी ने मेरे विषय में महाराज जी को बताया कि महाराज जी यह खेती करता है। इसे ऐसा नुस्खा दे दो कि खेती भी कर लिया करें और भजन भी। श्रीमहाराज ने शरणागति मन्त्र की तीन माला रोजाना करने तथा श्रीसेवकवाणी का पाठ करने की आज्ञा दी। श्री जै-जै महाराज जी ने 'राधावल्लभ श्रीहरिवंश' नाम की जितनी अधिक से अधिक माला हो सकें, करने को कहा।

दीक्षा लेकर मैं गाँव लौटा। गाँव आकर स्वामीजी मेरी श्रीमती के विषय में बोले, "तू इसके हाथ की रोटी खाने का अधिकारी नहीं है।" मैंने पूछा "तो मैं अब क्या करूँ?" बोले, "यह पढ़ी-लिखी तो नहीं। मन्त्र तो इसको याद होगा नहीं, पर यह श्रीहरिवंश नाम लेने की अधिकारी हो जायेगी। तू इसके कान में शरणागति मंत्र कह दे। पर यह बात श्रीमहाराज जी से छिपाना मत।" मैंने ऐसा ही किया अगली बार जब मैं श्रीवृन्दावन गया तो श्रीमती जी को साथ ले गया तथा श्री महाराज जी को

सारी बात बता दी । श्री महाराज सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले, "यह बहुत अच्छौ कियौ पण्डित जी ।" मैंने श्रीमती जी से भेंट कराई तौ जै-जै बोले, "भेंट मैं इनते लूंगो नाय ।" 'तुमने जो भेंट करी है यही काफी है ।

एक बार श्रीराधाष्टमी पर मैं श्री वृन्दाबन गया । सन्ध्या का समय था । श्री महाराज जी मन्दिर में श्रीराधावल्लभलाल के दर्शन कर रहे थे । बहुत भीड़ थी । मेरे साथ गाँव अण्डला जिला अलीगढ़ निवासी छिद्दालाल शर्मा था, जो श्रीमहाराज जी नया-नया शिष्य था । कहने लगा 'पता नहीं इतनी भीड़ में महाराज जी हमें पहचान पायेंगे या नहीं !' श्री महाराज जी दर्शन करके हटे, हमने दण्डवत् की । श्री महाराज जी ने तुरन्त पहचान लिया । मैंने कहा, 'महाराज जी हम तौ यों समझ रहे कि इतनी भीड़ में महाराज जी हमें पहचान पायेंगे कि नाय ।' महाराज जी बोले 'अरे भैया, हमारी तुम्हारी काये की पहचान है । हमारी तुम्हारी तौ भजन की पहचान है । भजन कियौ करौ ।'

एक बार श्रीवृन्दावन श्रीमहाराज जी के दर्शन करने गया । महाराज जी पूछने लगे, 'कहो पण्डित जी फ़सल कैसी है ? वर्षा भई है कि नायँ ?' मैंने बताया, 'महाराज जी पहले तौ वर्षा बहुत थोड़ी भई, फिर सूखा पड़ गई, फिर एक दम ज्यादा पानी बरस कें सूखा पड़ गई । जाकी वजह ते और कछु फसल तौ है नाय पाई, थोड़ौ सौ बाजरौ कर्‌यौ हो तौ बो भी ऐसौ ही है । जो कछु हतो सो वाय चिरैया खाय गई ।" जै-जै बोले 'चलो कोई बात नाय, पक्षीन कौ काम चलि गयौ ।'

श्री महाराज जी को पशु-पक्षियों से भी बड़ा प्रेम था, उनके श्रीमुख की यह भोली बात सुनकर मुझे बड़ा आनन्द मिला ।

गुरुपूर्णिमा के दिन तो भीड़ होती ही है । एक बार मैं तिबारी में बैठ गया । जै-जै के दर्शन करने की इच्छा से उठकर दरवाजे में से झाँकने लगा । पर भीड़ देखकर तुरन्त अपनी जगह पर आकर बैठ गया । मुश्किल से पाँच मिनट हुई होंगी कि सन्तोष बहिनजी ने अन्दर से आवाज लगाई—"पण्डित जी आ जाओ, जै-जै बुला रहे हैं, पूजन कर लो ।' मैं अन्दर गया । जै-जै की कृपा मनाई । जै हो कृपासिन्धो, दीनवत्सल अन्तर्यामी, आप घट-घट की जानने वाले हो ।

एक बार श्री महाराज जी के दर्शन करने गया । जाड़े के दिन थे । खूब जाड़ा पड़ रहा था । अँधेरा हो गया था । जै-जै महाराज तिबारी में घूम रहे थे । मैंने दण्डवत् की । महाराज जी ने कुशलता पूछी । महाराज जी ने कहा, 'पण्डितजी जाड़ौ पड़ रह्यौ है । वहाँ बैठ जाओ । जि नम्बरदार जाने कहाँ चल्यौ गयौ, अबई तक नायँ आयौ । बिछैया कर देतौ ।' थोड़ी देर में महाराज फिर आये, मुझे बैठा देखकर फिर कहने, "जा छौरा ने तौ बहुत देर लगाय लई, पण्डित जी को बिस्तर लग जातौ तौ आराम ते सोमते ।' इतने में सेठजी श्रवणकुमार जी के भाई आकर बोले, महाराज जी मैं बिस्तर लगा दूंगा, मुझे बता दो ।'

महाराज ने उन्हें कपड़े बता दिये। उन्होंने बिस्तर लगा दिया। जै-जै ने आकर फिर देखा, बोले "पंडित जी, नम्बरदार जब आ जावैगो तो और रजाई गद्दा भिजवाय दूँगो।"

ऐसे थे हमारे पूज्य श्रीगुरुदेव। साक्षात् करुणा की मूर्ति, प्रेम का साकार स्वरूप। मैं जब-जब उनके दर्शन करने गया, मैंने यही अनुभव किया कि श्रीमहाराज जी मुझसे सबसे ज्यादा प्रेम करते हैं। मैं सोचता हूँ कि उनके हर शिष्य को भी यही लगता होगा कि महाराज जी उनसे ज्यादा प्रेम करते हैं।

आज श्री महाराज जी पार्थिव शरीर से हमारे बीच में नहीं हैं किन्तु अपने सूक्ष्म शरीर से वे आज भी हमारे समीप हैं। ऐसे श्रीगुरुदेव के चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम।

श्रीगुरुदेव के साथ बाईस वर्ष

—श्रीराजेन्द्र शर्मा

मुझे बाल्यकाल से ही श्रीवृन्दावन के प्रति आकर्षण रहा। जैसे-जैसे अवस्था में परिवर्तन आता गया उसी मापदण्ड से विचारों में भी परिवर्तन हुआ तथा मन में यह निश्चय हुआ कि उस दिशा की ओर जाना है, जहाँ वास्तविक आत्मतुष्टि मिले।

मेरी पत्नी का देहावसान हो चुका था २५ वर्ष की आयु में ही। इसके पश्चात् मैं राज्य सेवा में चला गया और १३ वर्ष राज्य सेवा की। इसी बीच मेरा एक सन्त से परिचय हुआ और ऐसा लगा कि मुझे सच्चा मार्ग-दर्शक मिल गया है। दस वर्ष तक उसमें सत्संग, भजन, कीर्तन का आनन्द लिया। अचानक किन्हीं विशेष कारणों से मानसिक उद्वेलन हुआ तब वास्तविकता पर विचार करके ऐसा मोड़ आया कि फिर उधर मुड़के नहीं देखा।

एक ही पुत्र उसकी शिक्षा का कार्य पूरा हो चुका था। उसे उसी सत्र में लैक्चरार की पोस्ट मिल गई और वह अपने कार्य में रत हो गया। पुत्र के विवाह आदि गृह कार्यों से निवृत्त होकर राज्य सेवा से छुटकारा पाने की तीव्र उत्कण्ठा हुई। सन् १६७० में राज्य सेवा से मुक्त होकर श्रीवृन्दावन आ गया। मेरी पूज्या माँ सन् १६६० से ही वृन्दावन वास कर रही थीं।

बाबा श्रीप्रियाशरण जी से मेरा पूर्व परिचय था। मैं उनके स्थान पर गया। उस समय सत्संग चल रहा था। समापन होने पर उनके निकट ही एक स्थान पर संगीत की स्वर लहरी सुनाई दी। मैंने श्रीप्रियाशरण जी से पूछा कि यह गायक कौन हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि, "बाबा जीवनदासजी हैं, अच्छे संगीतज्ञ हैं।" संगीत से प्रेम होने के कारण मैं वहाँ गया और उनसे परिचय हुआ।

दूसरे ही दिन मैं प्रातः नित्य क्रिया से निवृत्त होकर बाबा जीवनदास जी के यहाँ गया। उनसे वार्ता होने पर मैंने गुरु वरण करने की उत्कट अभिलाषा उनको सुनाई। वे बोले, "आजकल घाट पर श्रीमहाराज जी की कथा चल रही है। संध्या समय वहाँ चलेंगे। मैं तुम्हारे यहाँ आऊँगा तैयार रहना।" मैंने बाबा से विदा ली और संध्या ५ बजे तैयार होकर बैठा ही था कि बाबा आ गये। तब मैं उनके साथ चलकर कथा स्थल पर पहुँच गया।

श्रीगुरुदेव का प्रथम दर्शन

वहाँ देखा कि तिवारी में रसिक समुदाय एकत्र हो रहा है। श्रीमहाराज जी मेरे पहुँचने से पूर्व विराजे हुये थे। श्रीमहाराज जी के श्रीअंग पर धवल वस्त्र थे, सुन्दर ओजस्वी भाल पर केशर का तिलक शोभा पा रहा था। उनकी मधुर मुस्कान से रसिक भक्त अभिषिक्त थे। वही मधुर मुस्कान युक्त मुखाकृति मेरे हृदय पटल पर आज भी अंकित है।

उस दिन श्रीगुरुदेव के मुखारविन्द से नागरीअष्टक के इस छन्द की व्याख्या प्रारम्भ हुई—"रूपहद लाड़िली लाल लावण्य हद, नेह हद हरिवंश विपिन आसक्ति हद।" मुझे आश्चर्य हुआ कि इस प्रकार का साहित्य और उसकी रस परक व्याख्या मैंने जीवन में कभी नहीं सुनी। श्रीहितचौरासी जी के माध्यम से श्रीप्रिया के रूप-सौंदर्य का अद्‌भुत वर्णन, श्रीलालजी के लावण्य की अनुपम छटा, स्नेह की सीमा श्रीहरिवंशजी का सहज प्रेम तथा श्रीवृन्दावन आसक्ति की चरमसीमा का विशद वर्णन मेरे हृदय को आज भी शीतलता प्रदान करता है।

श्रीगुरुदेव की प्रसन्न मुद्रा तथा भाव के आदेश में रुक-रुक कर बोलना यह सूचित कर रहा था कि श्री जै-जै महाराज की मानसिक स्थिति उच्चकोटि की है और वे अपने पर नियन्त्रण करके हम सबको आनन्दित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

कथा का विश्राम हुआ। मैंने बाबा से कहा कि मेरा मन इन्हीं चरणों की शरणागति ग्रहण कर चुका है। आप श्री महाराज जी से निवेदन करके पूछ लें कि शरणागत होने की बाह्य औपचारिकता कब सम्पन्न हो सकती है। श्रीबाबा ने श्रीचरणों में निवेदन किया। तब श्रीमहाराज जी ने हँसते-हँसते कहा कि "बाबा ये तो अपने ही हैं।" मैं निकट ही खड़ा था। मेरे हर्षोल्लास का ठिकाना नहीं रहा, बाबा समझ गये कि महाराज जी की स्वीकृति हो गई है। हम श्रीगुरुदेव के चरणों में नमन करके उनकी महानता और उदारता की प्रशंसा करते हुए अपने स्थान पर आ गये।

दूसरे दिन प्रातः हम श्रद्धा-सुमन लेकर ९ बजे श्रीगुरुदेव के यहाँ पहुँच गये। हमने श्रीचरणों में नमन किया तथा शरणागत होने की प्रार्थना की। श्रीगुरुदेव की स्वीकृति तो थी ही। उन्होंने मेरी अभिलाषा का पोषण करके मुझे दीक्षा दी और आवश्यक बातें समझा दीं।

हमने पुनः श्रीचरणों में नमन किया। पश्चात् हम श्रीजी के मन्दिर में आये और बाबा के कथनानुसार समाज में मंगलगान कराया। बाबा श्रीध्रुवालीशरण ने पूछा कि ये मंगल किसका है? बाबा जीवनदास ने "शरणागत" होने का इशारा किया। बाबा बोले ये ठीक स्थान पर पहुँच गये।

मेरी संगीत में अभिरुचि होने से श्रीजै-जै को प्रसन्नता

मैं प्रतिदिन श्रीगुरुदेव के यहाँ जाता रहा। लगभग दस दिन हुए कि श्री जै-जै महाराज ने पूछा। "तुम संगीत में रुचि रखते हो?" मैंने उत्तर दिया, "बाल्यकाल से ही।" "कुछ वाद्य जानते हो?" मैंने कहा, "हारमोनियम और तबला वादन।" पूज्य जै-जै ने कहा कि "हम कुछ रिकार्डिंग करना चाहते हैं। टेपरिकार्डर हमारे पास है। सत्याबाई का गला सुन्दर है।" बस फिर क्या था। दूसरे ही दिन से तैयारी शुरू होगई और श्रीजै-जै महाराज की आज्ञा से सत्याबाई ने स्वीकृति दे दी। तब बाई की संगीत शिक्षा मेरे द्वारा प्रारम्भ हुई।

प्रथम बार "नागरीअष्टक" का रिकार्डिंग हुआ। झेला भी स्त्री कण्ठ सहज भाव से प्राप्त थे—बहिन सन्तोष, निर्मला, फूलवती आदि। कार्य सुचारू रूप से चलने लगा। साहस बढ़ता रहा। लगभग छह माह में २६ पद श्रीचौरासी जी के व अन्य पदों का रिकार्डिंग हुआ। श्रीजै-जै महाराज स्वयं झाँझ बजाते। मैं तबला वादन करता। इस कारण से इस कार्य में किसी बाहरी कलाकार की आवश्यकता नहीं पड़ी। बहिन सन्तोष का सहयोग भली प्रकार से रहा। पूज्य जै-जै बहुत प्रसन्न हुये और बोले—' श्री वृन्दावन वसिवे कौ बानिक विशाला है।"

वाणी व्याख्या लेखन कार्य प्रारम्भ

पूज्य श्री जै-जै महाराज संध्या काल में विराजमान हुए और मुझ से बोले कि "मैंने श्रीहित चौरासी के पाँच पदों की व्याख्या पाठकजी को लिखवाई थी लेकिन वह आगे नहीं चल सकी अब तुम इसमें मेरे साथ सहयोग करो तो यह कार्य निश्चित रूप से पूरा सकता है।" मैंने श्रीमहाराज जी के आदेश को स्वीकार किया और यह कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ हो गया।

श्रीजै-जै महाराज ने शब्दों को लेकर ही व्याख्या का पूरा ध्यान रखा और उसके रस परक विवेचन को पूर्ववर्ती महानुभावों से तालमेल रखते हुए अपनी एक नई शैली का उद्‌घाटन किया। पद की व्याख्या आरम्भ करने से पूर्व भूमिका देकर पद के भाव का स्पष्टीकरण इसकी विशेषता रही। इसी कारण रसिक समुदाय में इसका समादर हुआ।

श्री चौरासी जी में रास के १९वें पद की भूमिका में समकालीन तीनों महानुभावों—श्रीहरिवंश महाप्रभु, श्रीस्वामी हरिदास जी तथा श्रीहरिराम व्यास जी की पद रचनाओं में रास का क्रमिक विकास किस प्रकार से हुआ इसका परमोज्ज्वल स्वरूप प्रकाशित करके रसिकजनों के हृदय में ऐसे आह्लाद का संचार किया, जो इससे पूर्व देखने को नहीं मिला।

इस रस समुद्र की गहराई में जाकर आचार्य चरण ने जो रस रत्न खोजे, विज्ञ और भजनी पाठक इसका सहज अवगाहन करते हुए श्रीमहाराज जी के हार्द को समझें। श्रीगुरुदेव ने श्रीचौरासी जी के चौरासी पदों को ही हृदय हार बनाकर अपने अन्तःस्थल में सजाया और उसका 'सहज' अनुभव किया।

इस व्याख्या का समापन हो जाने के पश्चात् पूज्य जै-जै हँसकर बोले "भैया ये कार्य तौ तुम्हारे सहारे ते पूरौ है गयौ। अब श्रीसेवकवाणी की व्याख्या आरम्भ करनी है। तुम तैयार है जाऔ।" मैं पूज्य जै-जै के शब्दों को सुनकर शर्म से दब गया। उसी समय मुझे पलटू भक्त की दो लाइन याद आगई—

ना मैं किया ना कर सकौं, साहब कर्ता मोर।
करत करावत आप हैं, पलटू-पलटू शोर॥

पूज्य जै-जै खिल-खिलाकर हँस पड़े और मुझे शर्मिन्दगी के ताप से उबार लिया। ये थी उनकी महनीयता।

अगले ही दिन सेवकवाणी की व्याख्या आरम्भ हो गई। श्रीगुरुदेव ने श्री सेवकवाणी के हार्द को समझकर साधकों को रस सिद्धान्त का परिचय कराया और श्री सेवक जी के अन्तस्थल में विराजमान श्रीहरिवंश महाप्रभु के प्रति उज्ज्वलतम अहैतुकी प्रेम की जो धारा प्रवाहित हुई थी, उसका परिचय अपने शब्दों में रखकर रसिक जगत में श्रीसेवकवाणी के प्रति एक अद्भुत आकर्षण प्रस्तुत किया। श्रीसेवकवाणी की व्याख्या इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं।

इसी प्रकार श्रीराधासुधानिधि की व्याख्या आरम्भ हुई और उसका गहन अध्ययन करके पूर्ववर्ती टीकाओं का अवलोकन करके पाठ भेदों का निराकरण किया।

इन व्याख्याओं से पूर्व और पश्चात् करीब ३० लेख श्रीजै-जै ने लिखे और लिखवाये। इन लेखों में ऐतिहासिक तथ्य, सिद्धान्त पक्ष और रस सिद्धान्त की सूक्ष्म गहराइयों का उद्घाटन करके रसिक समुदाय तथा विद्वद्जनों के हृदय में स्थान प्राप्त किया वर्षोत्सव में कुछ पद (धमार, बसंत) ऐसे हैं, जिनकी अर्थ संगति जन साधारण की समझ से परे की बात थी। उनके भी हम लोगों के आग्रह पर सरल भाषा में अर्थ करा दिये।

शिवपुरी (मध्य प्रदेश) की यात्रा, सन् १९७३

श्रीजै-जै महाराज ने श्री वृन्दावन से बाहर जाने का संकल्प जैसा ही ले लिया था परन्तु इस बार शिवपुरी के भक्तों के अत्यन्त आग्रह पर ५ दिन का समय देने का वचन दिया। इस यात्रा में श्रीमहाराज जी की आज्ञा से भाई श्रवणकुमार, बहिन सन्तोष और मैं तैयार हो गये। ये यात्रा भाई श्रवणकुमार की 'कार' के द्वारा सम्पन्न होना निश्चित हुआ। सारी तैयारी हो गई तब श्रीजै-जै की आज्ञा हुई कि कल प्रस्थान होगा।

प्रातः मंगला के पश्चात् हम लोगों ने श्रीगुरुदेव के दर्शन किए श्रीजै-जै तैयार थे। आज का एकान्त भजन गाड़ी में ही होना था। श्रीजै-जै महाराज विराजमान हुये और हम लोगों ने भी मौन व्रत धारण करके श्रीजी का चिन्तन करते हुए प्रस्थान किया।

दोपहर में ग्वालियर पहुँचे, वहाँ भाई श्रवणकुमार की बहिन माधुरी के यहाँ ग्रीष्म के ताप को निवारण करने को पहले से ही निश्चित था। जैसे ही श्रीगुरुदेव पहुँचे इन लोगों के हर्षोल्लास का पार नहीं था। श्रीजै-जै महाराज उच्चासन पर विराजे। तब इन सबने माल्यार्पण करके चरणोदक लिया। श्रम दूर होने पर स्नानादि क्रिया से निवृत्त होकर श्रीगुरुदेव विराजे। भोग लग चुका था। हम सब भी श्रीजै-जै महाराज के साथ ही प्रसाद पा रहे थे। बहिन संतोष श्रीजै-जै को आग्रह पूर्वक प्रसाद निवेदित कर रही थीं। श्रीजै-जै महाराज मुस्कराते हुए प्रसाद की सराहना करते हुये निवृत्त हुये। बदरवास होते हुए शिवपुरी जाने का कार्यक्रम था।

बदरवास की यात्रा

सन्ध्या के ५ बज रहे थे, श्रीगुरुदेव आज बदरबास के भक्त समुदाय को कृतार्थ करने के लिए गाड़ी में विराजे, साथ में हम तीनों सेवक भी। सूर्यदेव अस्ताचल को प्रस्थान करते हुए अपनी प्रखर किरणों को समेट रहे थे। हम लोगों के हृदय में रसिक भक्तों के दर्शनों की तीव्र अभिलाषा जाग्रत थी। देखते-देखते ग्राम के निकट पहुँचे, जहाँ एक विशाल जनसमूह दृष्टिगत हो रहा था। बाजे बज रहे थे। जयघोष से आकाश गूँजने लगा। श्री जै-जै महाराज ने गाड़ी रुकवाई और वहीं से पैदल चलना आरम्भ कर दिया। लोग दौड़ पड़े चरणों में नमन के लिए। श्रीगुरुदेव धीरे-धीरे उस स्थल पर पहुँचे, जहाँ श्री आचार्य चरण को लिए उच्चासन निर्माण किया गया था। भक्तों के द्वारा मंगलगान प्रारम्भ हुआ।

श्रीगुरुदेव आसन पर विराजे। जन समुदाय अधिक होने के कारण क्रमशः सब भक्तों ने माल्यार्पण करते हुए चरण-स्पर्श किये और दर्शन की तीव्र अभिलाषा को प्रेमाश्रु बहाते हुए शांत किया। श्रीगुरुदेव ने सबका अभिवादन स्वीकार करते हुए आभार व्यक्त किया। सब भक्तों को प्रसाद वितरण हुआ। श्रीमहाराज जी के लघु भ्राता, श्रीगोपाललाल जी महाराज यहाँ कुछ दिन पूर्व से ही विराजमान थे। दोनों भ्राताओं का मधुर मिलन हुआ और उस स्थल की ओर चले, जहाँ प्रसाद की व्यवस्था थी। हम लोगों ने प्रसाद पाया। प्रसाद में जो व्यञ्जन बने उनकी सराहना करने में लेखक अपने को असमर्थ पा रहा है। इन लोगों में प्रेम की प्रधानता देखी गई। पश्चात् सबका अभिवादन स्वीकार करके श्रीमहाराज जी गाड़ी में विराजमान हुए। हम लोग यहाँ के भक्तों की सराहना करते हुए उत्सव का आनन्द ले रहे थे कि शिवपुरी पहुँच गये। शिवपुरी के भक्त लोग श्रीगुरुजी की प्रतीक्षा में थे। सबने चरणस्पर्श किया और श्रीमहाराज जी विराजे। श्रम दूर होने पर श्रीगुरुदेव ने प्रसाद पाया।

श्रीजै-जै महाराज १५ मिनट घूमे और हम लोगों के आग्रह पर विश्राम किया। हम लोग भी श्रीचरणों के निकट ही विश्राम करने लगे।

बदरबास की यात्रा के पश्चात् 'कौलारस' और 'बेटा' की यात्रा क्रमशः संध्याकालीन समय में ही हुई। जिस प्रकार बदरबास के भक्तों के श्रीगुरुदेव के दर्शन में हर्षोल्लास का आनन्द लिया उससे कहीं अधिक इन दोनों यात्राओं में मिला।

भक्त रामसिंह का पूर्व परिचय

पचावली गाँव में ठाकुर रामसिंह जी परम भक्त हुए। शरणागत होने से पूर्व ये शाक्त थे। एक बार श्रीगुरुवर इस क्षेत्र में पधारे तब रामसिंह ने श्रीमहाराज जी का दर्शन और सत्संग किया। उनके हृदय में उसका गहरा प्रभाव पड़ा और यह निश्चय किया कि श्रीजै-जै महाराज से अविलम्ब दीक्षा लेनी है। 'देवी' की उपासना जो बचपन से की थी उसका चित्त पर गहरा आकर्षण था, परन्तु श्रीगुरुदेव के सत्संग का प्रभाव भी कम नहीं था।

उन्होंने निश्चय किया कि 'देवी' के इसी मेले में श्रीमहाराज जी को हाथी पर विराजमान करके सवारी निकालनी है। तब उन्होंने ये कार्य चरितार्थ कर दिखाया। सारा 'पचावली' गाँव श्रीगुरुदेव का हाथी पर विराजे हुये दर्शन कर रहा था। बाजे बजने लगे, झालर घण्टों और शंख ध्वनि से आकाश गूँज रहा था, तथा जै-जैकार से सबका चित्त उल्लसित हो रहा था। श्रीगुरुदेव को ठाकुर साहब के घर पहुँचते संध्याकाल हो गया। श्रीजै-जै हाथी से उतरे और आँगन में विराजे सब ने चरणों में नमन किया और सपरिवार दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा के बाद उन्होंने 'देवी' के दर्शन की नहीं किये। श्रीरामसिंह ने बाद में वृन्दावनवास करते हुए यहाँ की रज प्राप्त की।

आज श्रीगुरुवर उसी पचावली ग्राम की यात्रा के लिए गाड़ी में विराजे। तरणि किरणों का प्रभाव निरस्त हो चुका था। आकाश निर्मल दृष्टिगोचर होने लगा। ग्राम के निकट पहुँचे तब देखते हैं कि एक विशाल जन-समूह अपने निर्मल मनों से श्रीगुरुवर के दर्शनों के लिए एकटक दृष्टि लगाये हुए इस प्रतीक्षा में था कि श्रीचरणों का अति शीघ्र दर्शन हो। निकट पहुँचने पर श्रीजै-जै महाराज जी गाड़ी से उतरे सबका अभिवादन स्वीकार किया और अपनी मुस्कराती हुई दृष्टि से सबका पोषण किया। कुछ मुख्य लोग श्रीजै-जै के अत्यन्त निकट चल रहे थे। इनमें थे श्रीकालूराम, गजेन्द्रसिंह, पहलवानसिंह और देनीसिंह आदि।

ग्राम में प्रवेश करते ही हम देखते हैं कि प्रत्येक घर के द्वार पर श्रीहरिवंश नाम अंकित है। धीरे-धीरे भक्त रामसिंह जी के द्वार पर पहुँचे, जहाँ लाउड-स्पीकर लगा था और भक्तों के द्वारा उच्चस्वर से श्रीहरिवंश नाम की ध्वनि हो रही थी। भक्तों ने बड़े, आदरपूर्वक श्रीगुरुदेव को उच्चासन दिया। श्रीगुरुदेव वहाँ विराजे नहीं, स्तब्ध भाव से खड़े हो गये। मुझे याद है कि इस वातावरण को देखकर भाई श्रवणकुमार और मेरा धीरज का बाँध टूट चुका था। अविरल अश्रुधारा प्रवाहित थी।

श्रीजैं-जैं महाराज मुस्कराये और बोले—"आखिर आँसू रुक न सके ? ये है भक्त की भक्ति का प्रभाव।" जैसे-तैसे मन को सँभाला। पश्चात् श्रीगुरुदेव ने घर में प्रवेश किया। वहाँ उनकी पत्नी का भी दर्शन हमें हुआ और श्रीजी के दर्शन करके बाहर आ गये। श्रीरामसिंह जी के पुत्र देवीसिंह और उनकी पुत्री रामकली गुरुदेव के अनन्य भक्तों में से हैं। श्रीगुरुदेव के प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण देखने में आता है।

उपस्थित सब ही भक्तों को प्रसाद वितरण हुआ। सबने श्रीगुरुदेव को पुनः-पुनः नमन किया। तब श्रीगुरुवर के इशारे पर गाड़ी आ गई। श्री जैं-जैं महाराज विराजे, सब भक्तों ने श्रीगुरुदेव को भाव भीनी विदाई दी। सबका अभिवादन स्वीकार करके शिवपुरी को रवाना, हुये। यहाँ आकर श्रीगुरुवर ने प्रसाद पाया और विश्राम किया। हम लोग भी प्रसाद पाकर श्रीगुरुदेव के निकट ही विश्राम करने लगे। रात्रि समापन के दिन भोर होते ही श्रीजैं-जैं महाराज शीघ्र तैयार हो गये। हम सब भी तैयार होकर श्रीधाम का चिन्तन कर रहे थे कि रसिकों का जनसमूह श्रीगुरुदेव को भाव भीनी विदाई देने को एकत्रित हो गया।

श्रीगुरुदेव को सबने माला अर्पण की और अपनी प्रेमपूर्ण डबडबाई आँखों से पुनः आने का आग्रह किया। सबने चरण वन्दन किये श्रीजैं-जैं महाराज गाड़ी में विराजे तथा हाथ जोड़कर सबका अभिवादन स्वीकार करते हुये प्रेमपूर्ण मुस्कान से सबका पोषण किया और विदा हुये। पूरे दिन ग्रीष्म का प्रकोप सहन करते हुये संध्या ४ बजे श्रीधाम की शरण ग्रहण की।

श्रीयमुना पुलिन

श्री जैं-जैं महाराज हम लोगों को लेकर श्रीयमुनापुलिन पर पधारते। यहाँ समाज गान, कीर्तन के माध्यम से हमें 'रस भजन' की शिक्षा अपने आचरण से देते। इस प्रकार के अवसर वर्ष में कई बार आते थे। कभी नौकाबिहार में समाज कीर्तन तो कभी श्रीवृन्दावन की परिक्रमा कीर्तन के साथ और स्थान-स्थान पर समाज गान।

श्रीगुरुदेव को भजन की उमंग हर समय रहती थी। सर्दी, गर्मी, बरसात उनकी उमंग में बाधा पहुँचाने में असमर्थ थी। एक बार मुझे याद है कि शीतकाल में श्रीगुरुदेव का मन हुआ कि आज यमुना पुलिन पर "मोहन मदन त्रिभंगी" पद होगा। सब लोग तैयार हुये पुलिन पर पहुँच कर उपर्युक्त पद गान हुआ। शीतलहर अपना उद्दण्ड नृत्य कर रही थी फिर भी पद के आनन्द में सब लोग मग्न थे। श्रीगुरुदेव आनन्दित थे, और उनके सहज भजन की मधुर भंगिमायें दृष्टिगोचर हो रही थीं। तत् पश्चात् समापन होने पर सब लोग आनन्दित होकर यथास्थान आ गये।

श्रीगुरुवर के २२ वर्ष के संग से अनेक संस्मरण मेरे हृदय पटल पर अंकित हैं, उन्हें लिखने पर एक स्वतन्त्र पुस्तक की रचना हो सकती है। किन्तु इस ग्रंथ में स्थानाभाव होने से यत्किंचित ही दे पाया हूँ। इसके साथ ही श्रीगुरुवर के चरणों में शत्-शत् प्रणाम।

दोहा—जो कुछ इन नैनन लख्यौ, सोई लिख्यौ सँभार।
श्रीगुरुवर के युग चरण, छिन-छिन उर में धार॥
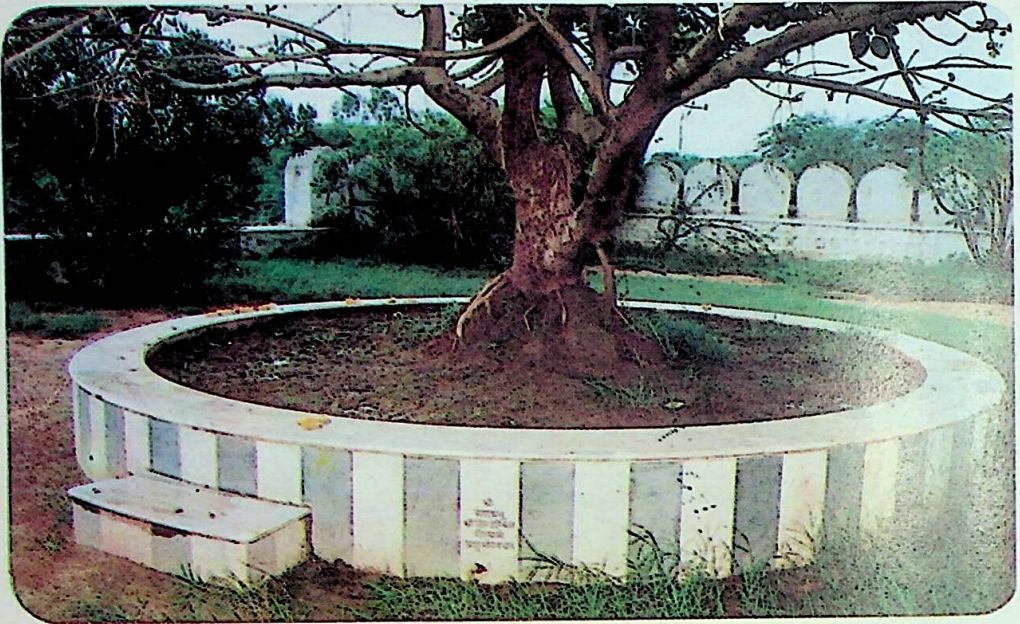
गोस्वामी श्रीहितहरिवंश महाप्रभु का प्राकट्यस्थल, बादग्राम (मथुरा)

श्रीहितहरिवंश धर्मार्थ औषधालय का मुख्य द्वार, बादग्राम (मथुरा)

गुरु कर कोमल शील स्वभाऊ

—श्रीबालकृष्ण पाण्डेय 'सद्गुरुशरण'

प्रथम मिलन की बात—

शारदीय गोधूलि वेला थी। मैं वृन्दावन अवकाश पर आ रहा था। मेरी लोकल बस मथुरा जंकशन मोड़ पर रुकती है। उसी भीड़ में शुभ्रवस्त्रधारी श्री जै-जै महाराज जी हाथ में एक थैला लिए, जिसमें पानी भरने वाली कैनवास की डोलची कुछ-कुछ ऊपर से दीखती थी, मेरी सीट के पास आकर खड़े हो जाते हैं। बस चल देती है। सौभाग्य से मेरी डबलसीट के साथी महानुभाव, जो वृन्दावनवासी ही थे, विनम्रतापूर्वक खड़े हो जाते हैं और श्रीमहाराज जी से अपनी सीट पर बैठने का अनुरोध करते हैं। दोनों के शीलसंकोच एवं उदारता ने कुछ देर दोनों को खड़ा रखा। मेरे लिए दोनों ही अपरिचित थे पर उनके प्रेमालाप ने मुझे भी खड़ा कर दिया। मैं स्वतः ही बोल उठा कि आपकी प्रेम-कलह को मैं भी समाप्त कर सकता हूँ और दो की सीट पर तीनों बैठ गये।

मुझे अपरिचित महाराज जी बहुत अच्छे लगे, विशेषकर उनकी रसात्मक वार्ता-शैली। मैंने भीड़ का लाभ उठाकर मधुर संस्पर्श का भी अधिक से अधिक लाभ लिया। मैं चोरी-चोरी से उन्हें देख भी लेता था। जब उनकी दृष्टि मेरी ओर आती तो इधर-उधर देखने लगता, जिससे उन्हें पता न लगे कि मैं उन्हें देख रहा हूँ। मेरे सहयात्री ने पूछा "जै-जै आप यहाँ कैसे प्रगट हो गये ?" तब संकोचशील श्रमित महाराज श्री ने बताया कि "मैं दिल्ली से जनता ट्रेन से आया। वृन्दावन की गाड़ी जा चुकी थी।" उनके पूछने पर जै-जै ने यात्रा का अभिप्राय भी बताया कि "मैं ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली एक वार्ता के सम्बन्ध में गया था। डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हरवंशलाल शर्मा और मैं तीनों की वार्ता टेप करने में बड़ा समय लग गया। दूर की यात्रा से अधिक बस की प्रतीक्षा में थक गया।"

मैंने सोचा था कि विद्वान् रसिक होने के साथ-साथ यह महानुभाव उचचकोटि के मितव्ययी भी हैं। ये जंकशन से एक ताँगा करके सीधे वृन्दावन जा सकते थे।

परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा हुई, जो अपने अन्य सहयात्री के सौजन्य से मुझे प्राप्त हुआ। मेरे हर्ष की कोई सीमा नहीं रही। इस घटनाक्रम की बलिहारी है, जिसमें बिना किसी आयास-प्रयास के 'कँच' अपनी गोदी में आ गया। मैं भ्रमणशील व्यक्ति हूँ और प्रभु की कृपा रास्ते चलते भी हो जाती है। अब तो मैं संकोच छोड़कर दर्शन करने लगा। मुख पर सहज सौम्यता, प्रसन्नता एवं तेजस्विता, नेत्रों में छलछलाती दया और करुणा, अन्तर में सात्विकता तथा भक्ति भावना। जब मैंने जैं-जैं से बात शुरू की तो आभास हुआ कि इनके भीतर सत्पात्रों को कुछ न कुछ देते रहने की तत्परता भी है। वाणी में स्वाभाविक विनयशीलता के साथ-साथ वृन्दावन की रसोपासना के प्रति बड़ी व्यापक एवं विशाल कल्पना के भी दर्शन हुये। श्रीमहाराज ने इच्छा प्रगट की यदि बस लुटेरिया हनुमान पर रुक जाती तो वे अपने पैदल भ्रमण का कोटा पूरा कर लेते और उन्हें पुनः वृन्दावन से न आना पड़ता। मेरे कहने पर ड्राइवर ने बस रोक दी और मैं श्रीमहाराज जी के साथ ही बस से उतर गया और उनके आवास 'श्रीयमुना-पुलिन' तक लगभग एक घण्टा घूमने में लगा। उसी बीच मैंने पूछा—"जैं-जैं श्रीहितचतुरासी के कतिपय पद एवं उनकी सरस व्याख्या सर्वप्रथम मैंने कुछ समय पूर्व भगवान् श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुगत विरक्त संत श्रीप्रियाशरण जी महाराज से सुनी है। जब मैं वृन्दावन रहता हूँ तो रमणरेती स्थित उनके नित्य सत्संग भवन में जाता हूँ। जैं-जैं ने बताया—"आप पहुँच गये ठीक स्थान पर। आजकल उनके द्वारा रसिक-वाणियों का बड़ा गम्भीर प्रकाश हो रहा है और प्रत्येक घराने के रस ग्रन्थों को उन्होंने देखा ही नहीं समझा भी है और स्मरणशक्ति तीव्र होने के कारण प्रस्तुत भी हैं। साथ ही उनकी रहनी-सहनी भी उच्चकोटि के साधु-सन्तों जैसी है।" एक पद की चर्चा भी कहना ठीक न होगा, कुछ पंक्तियों की परिक्रमा में ही 'श्रीयमुना-पुलिन' आ गया। फिर तो जब भी मैं वृन्दावन आता समय लेकर जैं-जैं से अवश्य मिलता। पूर्व स्नेह एवं परिचय होने के कारण कृपावश मैंने जैं-जैं महाराज के शिष्य बाबा श्रीप्रियाशरणजी से शरणागति मन्त्र लिया। वे मुझ से कुछ दिन पूर्व वृन्दावन आ चुके थे। कुछ समय बाद जैं-जैं महाराज ने मुझे निज-मन्त्र दिया और उस लोकोत्तर रस की स्फूर्ति प्रदान की जहाँ शब्द की गति नहीं है। उनके स्वभाव के कतिपय प्रेरक संस्मरण प्रस्तुत हैं—

जैं-जैं अपने को सिद्धकोटि में न रखकर सदैव साधक मानते थे, यदि कोई एक फूलमाला भी लाता तो स्वयं धारण न करके अपने हाथ में ले लेते और विराजमान श्रीजी के चित्रपट को स्वयं खड़े होकर धारण करवा देते थे। गर्मी के दिनों में यहाँ से एक सन्त प्रतिदिन फूलमाला लेकर ६ किलोमीटर दूर राधारानी के 'मानसरोवर' जाते थे। जैं-जैं उसका समुचित मार्ग व्यय देते थे।

अपने शिष्यों और सेवारत कर्मचारियों को भी जैं जैं आदरसूचक सम्बोधन प्रदान करते थे। मुझे बहुत बड़ी आत्मग्लानि होती जब मुझे "गार्ड साहब" कहते। कभी मैं एकान्त में ऐसा न बोलने का अनुरोध करता तो कहते इससे मेरा भजन बनता है। उसे आप लोगों को नहीं बिगाड़ना चाहिये।

जब कभी मैं जिज्ञासुभाव से पूछता—"जै-जै आपकी एक बात मुझे पसन्द नहीं। आप कभी-कभी कलिमलग्रसित विमूढ़ रजोगुणी वाचालजनों की उन बातों को भी धैर्यपूर्वक सुनते हैं, जो आपके भजन कक्ष की शालीनता एवं गरिमा को नष्ट करते हैं। आपकी मंदसस्मित मुस्कान विभोरता को देखकर साधक फूल जाता है और आत्म-प्रशंसा करने व सुनने की बीमारी उसे लग जाती है। क्या बीच में उसे टोक देना या डाट देना आपके आचार्य पद का कार्य नहीं है।" जै-जै ने मुझे समझाया यदि कुछ देर धैर्यपूर्वक श्रवण से उसे सन्तोष होता है तो क्या हानि है? किसी के संस्कार एवं स्वभाव तो बहुत भजन एवं प्रभु कृपा से ही बदलते हैं। श्रीजी का स्वभाव है—

अवगुण करत समुद्र सम, गनत न अपनो जान।
राई के सम भजन को, मानत मेरु समान॥

श्रीमहाराज जी ने एक बहुत बड़ा रहस्य बताया कि "जब मैं किसी को कंठी देता हूँ, शिष्य बनाता हूँ तो उसे तत्काल अविलम्ब श्रीव्यासनन्दन श्रीहितहरिवंश महाप्रभु को सौप देता हूँ कि 'हे प्राणनाथ! जीव को सँभालो' और वे सम्भाल भी लेते हैं। जैसे आप ट्रेन का चार्ज देकर केयर-फ्री हो जाते हो वैसे ही मैं हो जाता हूँ। सर्वज्ञता, विभुता एवं प्रेरणाशक्ति उन्हीं का विषय है। शरणागता जीवों के संकल्पों को नोट करना, उनका फल देना, कृपा करना उन्हीं को शोभा देता देता है। मुझे यह चाहिये भी नहीं। मैं कर भी नहीं सकता। दूसरों की ओर दृष्टि रखने से अपना भजन बिगड़ता है। जीव कल्याण न होकर आत्मविनाश हो जाता है। मुझे दुःख है कि आज-कल आत्मकल्याण की साधकों की इतनी चिन्ता नहीं है जितनी जीव कल्याण की। जै-जै कभी-कभी श्रीरामकृष्ण परमहंस का उदाहरण भी देते थे।

श्रीगणेशचतुर्थी का दिन था। शृंगार आरती के दर्शन में मैं जै-जै के साथ उनकी बैठक पर गया। एक वृद्धा माँ बड़े भाव से आरती एवं फूलमाला लिए बैठी थी। मेरे पूछने पर माँ जी ने बतलाया कि आज जै-जै महाराज जन्म दिन है। जै-जै ने दुःखी होकर उनको समझाया कि "जन्मदिन केवल श्रीप्रियाजी-लाल जी और श्रीहितजी का ही मनाना चाहिये। अपना जन्म दिवस मनवाने से साधकों को बहुत बड़ी हानि होती है। भविष्य में ऐसा न करना", कहकर फूलमाला श्रीजी के चित्रपट को धारण करा दी। समझाते हुए बताया कि मेरी तो गुरुपूर्णिमा की पूजा में भी कोई रुचि नहीं है पर ऐसे परिवार में जन्म हुआ जो यह परम्परा गले पड़ गई।

विशाल भण्डारे, झड़ा पंगत के जै-जै पक्षधर नहीं थे। यदि कोई आग्रह करता तो करवा देते। कहते थे 'एक दिन अति स्वादिष्ट, गरिष्ठ ओवर डोज से अच्छा है कि दस किलो गेहूँ दे दिया जावें। जो पूरे परिवार के काम आयें। हलवाई, पंगत आदि की व्यवस्था में समय नहीं भी नष्ट होगा। उसे भजन में लगाया जा सकता है।" अन्न वस्त्र के वितरण में जै-जै ब्रजवासी और बरीब ब्राह्मण को वरीयता देते थे। यदि कोई साधु

या विरक्त उनसे तर्क करता कि मुझे केवल चार मीटर कपड़ा मिला है, अमुक को बीस मीटर, तो उसे स्नेह एवं युक्ति से समझा देते "देखो भैया ! आप तो विरक्त सन्त हैं। आपकी बगलबंडी चार मीटर में बन जायेगी, उसका तो गृहस्थ साथ है।"

परिवार में रहकर अनासक्त भाव से भजन करने की रीति उन्हें पसन्द थी। संसार के इसी हल्लागुल्ला में भी भजन बनता है। वहीं कुटपिटकर साधक पक्का होता है। एक प्रेरक-प्रसंग लिखकर संस्मरणों को विराम देता हूँ। लिख इसलिए रहा हूँ कि जै-जै महाराज ने एक दोहा स्वयं बनाकर और मुझे सुनाकर आशीर्वाद दिया था। मेरा प्रमोशन हावड़ा-नई दिल्ली गाड़ी के लिए हो गया था। मैंने श्रीचरणों में प्रार्थना की कि मुझे स्वैच्छिक्षक सेवानिवृत्ति की आज्ञा प्रदान करें, जिससे अखण्डता पूर्वक वृन्दावनबास का सौभाग्य प्राप्त हो सके क्योंकि मेरे सारे जागतिक दायित्व पूरे हो गये हैं। आज्ञा तो दूर रही श्रीगुरुदेव ने तुरन्त एक दोहा बनाकर सुनाया—

श्रीवृन्दावननाथ की आज्ञा के आधीन।
बज्यौ नगाड़ौ कूच को घोड़ा कस दई जीन ।।

उन्होंने मुझे समझाया कि भैय्या दोनों कृपा-मार्ग हैं। जब सर्वोच्च उपासना पकड़ ली है तो सर्वोच्च गाड़ी भी मत छोड़ो। हाँ, जब ड्यूटी पर यूनीफार्म पहिनकर जाना तो यह दोहा दो बार गुन-गुना लेना। स्वयं को श्रीजी के अधीनस्थ सेवक समझना। आज्ञा लेकर मैं बे मन चला आया। वैसे ही शुरु किया,अब कौन गाड़ी चलाता था, क्या होता था ! मुझे कुछ पता नहीं। साढ़े चार सौ किलो मीटर के बाद गाड़ी जब रुकती थी और मेरा रिलीफ गार्ड मुझे बताता था कि स्टेशन आ गया है, तब मुझे पता चलता था। बस, अब तो उनकी कृपाओं का चिन्तन ही रह गया है।

अपार सहिष्णु श्री जैं-जैं

—श्रीमंशाराम नागर

पूज्य जैं-जैं महाराज के सम्पर्क में जो भी आया, उसने अपने को कृतकृत्य पाया। हमने संसार में जो प्यार देखा है—माता-पिता का प्यार, भाई-बहिन का प्यार, पति-पत्नी का प्यार, गुरु-शिष्य का प्यार और इन सभी प्यारों का अनुभव थोड़ा बहुत सभी को होता है परन्तु मुझे पूज्य जैं-जैं महाराज के सान्निध्य में जो प्यार का अनुभव हुआ है, वह इन सभी सम्बन्धों से निराला, अलौकिक प्यार का अनुभव था। चाहे माता हो, पिता हो, भाई हो, मित्र हो और गुरु हो सभी थोड़ी बहुत मात्रा में व्यक्ति के गुण-अवगुण से सम्बन्धित रहते हैं और प्यार का आदान-प्रदान होता रहता है। परन्तु मुझे अनुभव है कि पूज्य जैं-जैं महाराज ने कभी सम्पर्क में आनेवाले के गुण-अवगुण पर ध्यान नहीं दिया और हमेशा ही उस पर अपनी प्यार भरी निगाह से प्यार की वर्षा करते रहे। पहली बार ही पूज्य जैं-जैं महाराज ने मुझे प्रेमभरी निगाह से देखा तो एक ऐसा विचित्र अनुभव हुआ कि मैं स्वयं ही अपने को भाग्यशाली महसूस करने लगा। फिर तो प्यार भरी निगाह हमारे मण्डल पर बरसती रही और उस प्यार ने हमें न जाने क्या का क्या बना दिया।

पूज्य जैं-जैं महाराज ने कभी भी मेरे गुण-अवगुणों पर ध्यान नहीं दिया और मुझे प्यार से इतना नहलाया, इतना नहलाया कि मुझे आरसी (दर्पण) ही बना दिया और पूज्य जैं-जैं महाराज उस दर्पण में अपना ही चेहरा देखते, अपना ही सुख देखते और मुझ से कहते, "मंशाराम तुम मुझे यहाँ आकर कितना सुख देते हो।" सुन कर मैं तो निहाल ही हो जाता और कहता, "जैं-जैं मुझ में कुछ भी नहीं है। यह तो आपका ही सुख है और आप अपने ही सुख से सुखी हो रहे हैं।" तो फिर मधुर-मधुर मुस्कान से मुझे आशीर्वाद देते।

मुझ में न गायन है न कवित्व शक्ति है। मैं गँवार गांव का व्यक्ति, परन्तु जब मैंने वृन्दावन-धारा का कीर्तन गाया। पूज्य जैं-जैं मुझ पर इतने प्रसन्न हुये कि मैं कुछ नहीं कह सकता। उन्होंने मुझसे कहा कि, "वृन्दावन-धारा का यह गान ५०० साल में सेवक जी के बाद तुमने गाया है।" मैंने कहा "जैं-जैं यह आपने ही गाया है", तो मुस्कराकर वही आशीर्वाद।

पूज्य जै-जै का प्रिय वृन्दावन-धारा का मधुर कीर्तन —

वृन्दावन धारा आई मेरे तन-मन में ।
श्री ललिता स्वर भर गावैं ।
श्यामा कौ लाड़ लडावैं ।।
मोहन ने वंशी बजाई, मेरे तन-मन में ।।वृन्दावन ।।१।।

यह नन्दगाँव - बरसानौ ।
मेरे मन में गयौ समानौ ।।
यमुना की लहरें छाईं मेरे तन-मन में ।। वृन्दावन ।।२।।

(श्री)हरिवंश कृपा रस बरसे ।
मेरौ बार - बार मन हरषे ।।
रसिकों की प्रीति समाई मेरे तन - मन में ।।वृन्दावन ।।३।।

मैंने कोटि सुकृत फल पायौ ।
हरिवंश चरण चित लायौ ।।
रस - रीति प्रीति सरसाई मेरे तन - मन में ।। वृन्दावन ।।४।।

एक बार हम लोग उत्सव में जै-जै के पास बैठे थे । सत्संग चर्चा चल रही थी । श्री श्रवणकुमार जी खेमका, सेठ श्री कुञ्जविहारी जी ने पूज्य जै-जै से पूछा जै-जै आप यहाँ हैं और हम लोग भी काम-धन्धे छोड़कर जैसे-तैसे यहाँ आ जाते हैं परन्तु हमें कुछ अनुभव नहीं होता । पूज्य जै-जै ने कहा "भैया यह कृपामार्ग है । कृपा की बाट देखते रहो । "कृपा दरीची जब खुले सहज मिलन हो जाय ।" मेरी ओर संकेत कर कहा—"कृपा की खिड़की देखिये इधर खुली है ।"

जब भी उत्सव आते श्रीहित उत्सव और राधाष्टमी तो एक महीने पहले से ही इधर वृन्दावन आने वाले व्यक्ति से खबर करते रहते 'उनसे कहना जरूर उत्सव में आवें और हमारा मण्डल यहाँ आता । हमारी देखभाल निवास की व्यवस्था की खुद जै-जै को चिन्ता रहती । मुझ से कहते, "तुम्हारा रहने-ठहरने का प्रबन्ध हुआ कि नहीं ?" मैं कहता "जै-जै हो जायेगा आप चिन्ता न करें ।" हमारे पास १०० पचास व्यक्तियों का समूह होता । सभी गाँव के लोग । तो स्थान के व्यवस्थापक शिकायत लेकर जै-जै के पास आते, कहते-इनको रहने का ढंग नहीं है तो उनसे जै-जै कहते "इनका ढंग तो चाव में देखना ।"

हमारी तरफ से जो भी व्यक्ति श्री वृन्दावन आया और जै-जै से नाम के लिये निवेदन किया तो चन्द्रपुरा का नाम लेते ही जै-जै उनको नाम दान कर देते चाहे उनके स्वास्थ्य की हालत कैसी भी हो । हमारे साथ में नाम के लिगे बहुत लोग आते ।

जै-जै का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता फिर भी उनको नाम प्रदान कर ही देते। स्वास्थ्य ठीक नहीं होता तो लोग कहते, जै-जै का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। उनको कष्ट होता है। पूज्य जै-जै से कहते "जै-जै आप आराम करो आपको तकलीफ है।" जै-जै कहते न जाने कैसे-कैसे काम धन्धे छोड़कर लोग नाम के लिये आते हैं। मैं शरीर को देखूँ कि इनको देखूँ। शरीर तो एक दिन जायगा। मैं जिस काम के लिये आया हूँ, वह कर रहा हूँ। उन्होंने कभी भी अपने कष्ट का ध्यान नहीं किया। जाने वाले व्यक्तियों का ध्यान उनको हमेशा रहता।

मुझसे यहाँ श्री वृन्दावन में और पत्रों के माध्यम से कहते "मैं और हमारे कोई भी गोस्वामी गण तुम्हारे क्षेत्र में नहीं गये और वहाँ पर श्रीहरिवंश नाम का इतना प्रचार-प्रसार हो रहा है, उसका कारण तुम्हारे क्षेत्र में एक राजा राधिकादास हो गये हैं और वे श्रीहरिवंश उपासक थे। उनके समय में हरिवंश नाम की गूँज थी। वह गूंज समय के साथ समाप्त हो गई थी। तुम्हारे माध्यम से अब फिर गुंजायमान हो रही है। तुम अपना अपनपा छोड़कर द्रष्टाभाव से श्रीहरिवंश-नाम का गान करते रहो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"

हमारे क्षेत्र के लोगों ने एक बार जै-जै को गाँव में ले जाने का आयोजन किया। लोगों ने लाख डेढ़ लाख रुपयों का आयोजन किया। कुछ लोग और मैं जै-जै से निवेदन करने श्रीवृन्दावन आये। जै-जै का स्वास्थ्य उस समय ठीक नहीं था। गाँव में न जाने की मजबूरी थी।

मुझ से कहा कि "चन्द्रपुरा जाने का मेरा मन होता है परन्तु शरीर बाधा है" और फिर मुझ से पत्र लिखकर जै-जै ने कहा मेरे आने पर तुम लोग जो पैसा खर्च करते वह पैसा परहित में खर्च करो। उस पैसे से हरिवंश-औषधालय या हरिवंश कन्या-विद्यालय तुम लोग चला सकते हो। उसके लिये मैं तुम्हारा सहयोग करूँगा। पत्र में उन्होंने लिखा "हम हित धर्म के अनुयायी हैं और हित का विस्तार किये बिना अपनी उपासना पूर्ण नहीं बनती। हित का विस्तार सेवा के द्वारा होता है और सेवा दूसरों को सुख पहुँचा कर पूरी बनती है। अपने धर्म का लक्षण यह बताया गया है--

सुख देने की चाव हित, सबसौं हित निष्काम।
यह सुधर्म धरमिन सहित, सेवहु श्यामा-श्याम।

सेवा तन, मन और धन से होती है। सामूहिक सेवा केवल धन से होती है। अतः अपनी उपासना को पूर्ण बनाने के लिये सेवा बहुत आवश्यक है। पूज्य जै-जै की इस आशा का हम पालन नहीं कर सके। इसका पश्चात्ताप हमें जीवन भर रहेगा।

हमारे गाँव में हरिवंश औषधालय या हरिवंश कन्या विद्यालय का पूज्य जै-जै का संकल्प हमारी धृष्टता से पूर्ण नहीं हो सका इसके लिये हम सदैव जै-जै के अपराधी ही बने रहेंगे या उनकी कृपा से कभी यह संकल्प पूरा होगा, यह भविष्य ही

बतलायेगा। इधर कुछ सालों से पूज्य जै-जै की आँखों में खराबी आगयी थी। श्रीश्रवण-कुमारजी खेमका के अथाह प्रयत्नों के बाद बड़ी मुश्किल से एक बार दिल्ली आँख दिखाने गये लोगों ने और उच्च विदेशी डाक्टरों को आँख दिखाने के लिये आग्रह किया तो जै-जै कहते, "तुम लोग छोटी-सी बात पर इतना हो हल्ला क्यों करते हो ? मेरा काम चल रहा है।" और इसका अनुभव मुझे भी है मैं जब उत्सव में आता और दरवाजे से प्रवेश करता तो दूर से ही जै-जै कहते "आगये मंशाराम !" और हमारे साथ राधा आती तो दूर से ही कहते "आगई बेटी राधा।" जै-जै की आंतरिक प्रज्ञा इतनी प्रवल थी कि स्थूल आँख कोई बाधा नहीं थी।

एक बार हम यहाँ उत्सव में आये हुये थे। जै-जै के पास बैठे थे। किसी व्यक्ति ने आकर कहा जै-जै मन्दिर में व्यवस्था के सम्बन्ध में अनशन धरना हो रहा है और कुछ लोग आपको जिम्मेदार ठहरा रहे हैं और कुछ लोग आपके बारे में कुछ कह रहे हैं। पूज्य जै-जै ने कहा, "तुम लोग क्यों चिन्तित होते हो। मैं तो वृन्दावन का घूरा हूँ। अगर लोग गन्दगी घूड़े पर नहीं फेंकेगे तो कहाँ फेंकेंगे ?" उनकी सहनशीलता अथाह थी।

हम तो स्थूल हैं और हमारी समझ में स्थूल के सिवाय कुछ आता भी नहीं है स्थूलरूप में पूज्य जै-जै हमारे बीच में नहीं हैं हम स्थूल द्रष्टाओं को उनका स्थूलरूप से हमारे बीच में न होना खटकेगा ही। परन्तु हमारी राधावल्लभीय उपासना में इसके लिये कोई स्थान नहो है। यहाँ पर नित्य वृन्दावन है, नित्य राधावल्लभलाल हैं और नित्य सखीपरिकर है। यहाँ केवल जन्मोत्सव ही मनाया जाता है। यह उपासना क्रियात्मक नहीं है। भावात्मक है। अगर हमारा आन्तरिक भाव जै-जै से जुड़ा है तो हम उनके वियोग का अनुभव नहीं करेंगे हमें नित्य संयोग का ही अनुभव होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण जब हम निकुंजोत्सव में श्रीवृन्दावन आये तो हमारे मण्डल से पूज्य लालीजी ने संकीर्तन करने को कहा तो मैं जैसा अपने ढंग से अनुभव कर रहा था मैंने लालीजी से निवेदन कर दिया और कहा "बाई जी ! हम क्या गायेंगे ? हमारे अन्दर न कीर्तन है. न राग है। कुछ भी तो नहीं है। हम अपने को खाली-खाली अनुभव कर रहे हैं। पूज्य लालीजी ने कहा "भैया सभी लोगों की यह हालत है। परन्तु मैं कहती हूँ कि जै-जै कहीं गये नहीं हैं तुम लोग यहाँ से मरे थे तो फिर यहाँ से ही मरोगे। पूज्य जै-जै के "जिन्होंने हमें प्यार करना सिखाया, पद से गायन शुरू करो और जै-जै की कृपा हम पर बरसेगी।" ऐसा ही हुआ। हमने जो कीर्तन शुरू किया तो ऐसी विचित्र रसधारा आई कि उस कीर्तन में जो भी लोग थे बेहाल थे। तब से अनुभव हो गया है कि पूज्य जै-जै सदा हमारे बीच में हैं।

पूज्य जै-जै की कृपा से और पूज्य लालीजी की संरक्षता में हमारा राधावल्लभीय परिवार फूलेगा-फलेगा और अपनी उत्कृष्टता को प्राप्त होगा इसी आशा के साथ पूज्य जै-जै और पूज्य लालीजी के चरण कमलों में सहस्रों नमनों के साथ संस्मरण लेख का समापन करता हूँ।

प्रियालाल के दर्पण श्री जै-जै

—डॉ० कैलाशनारायण वैष्णव

हित-स्वरूप परम पूज्य गुरुदेव ने प्रियाजी से प्यार और दुलार भरे शब्दों में आमंत्रण प्राप्त कर प्रिया-प्रियतम की प्रभात लीला में प्रवेश किया। आहा ! वड़े गम्भीर मर्म का विषय है कि परम श्रद्धेय जै-जै ने ज्यों ही अपने श्रीमुख से लाड़िली जी से अभिलाषा की कि "हे प्रिया ! अब तो बुलाइलें", हित मूर्ति रसावतार जै-जै ने ज्यों ही इस प्रकार की अभिलाषा का संकेत प्रिया जी को किया, त्यौंही हित-स्वामिनी श्री ललितप्रिया जी ने तुरन्त वाणी के अविराम के बाद अपनी नवनिकुञ्ज लीला में प्रवेश देखकर उन्हें अकथनीय एवं अनिर्वचनीय लीला का भागी बना लिया। जिन्होंने समस्त जीवन राधावल्लभलाल को सर्वस्व समर्पित कर दिया, जो समस्त हित-मार्गियों के हृदय के श्रद्धेय रहे, जो प्रियालाल को रसक्रीड़ा कराकर अथाह रस सागर की तरंगों में स्वयं तरंगें बनकर हितकर्मियों को तरंगित करते रहे, श्रीलाड़िली-लाल की संभोग रसकेलि से प्रवाहित उस रस-धारा में किलोल करने वाले जै-जै ने प्रेमियों को प्यार देकर अपनी सुखद शरण दी।

पूज्य जै-जै श्रीराधावल्लभलाल को प्रेमोपास्य बनाकर स्वयं तो हितस्वरूप थे ही अपितु पथ भ्रमित पथिकों को उचित पथ प्रदर्शित कर श्रीराधावल्लभलाल की किंकिरी बनाने हेतु अहैतुकी कृपा कर अपने चरणों में शरण देकर हित-पथ प्रदर्शित करते थे। जिनकी इच्छा मात्र से हमेशा श्रीराधावल्लभलाल भावानुसार स्वरूप दिखाया करते थे, जिनकी कृपा के सान्निध्य की आकांक्षा हित-मार्गी किया करते थे, उनका वियोग आज एक अपूरणीय क्षति है।

ब्याहुले आदि उत्सवों पर श्रीहित स्वरूप जै-जै अमित रूप धारण कर प्रत्येक हित-धर्मी के हृदय को तरंग बनकर उसे तरंगित करते रहते थे। प्रत्येक वैष्णव के मन में यह अभिलाषा बनी रहती थी कि मैं जो सेवा लाड़िलीलाल की कर रहा हूँ, जै-जै देख रहे हैं या नहीं। जब जै-जै सामने दिखाई देते थे तो समस्त राधावल्लभीय फूले नहीं समाते थे और हृदयों को उमड़ते से महसूस करते थे ! वे साकार हित-प्रेम को दिव्य झाँकी परम श्रद्धेय श्रीजै-जै में देखा करते थे।

एक बार की बात है कि श्रावणमास में जै-जै ने मेरे से कहा कि "कैलाश आज झूला तुम बनाओगे।" मैंने संकुचित मुद्रा में धीरे से कहा "जै-जै हमसे कैसे बनेगा ?" तो बोले तुम और माली गाँववाले बनाय दीज्यौं।" मैंने फिर कहा, "जै-जै हमें तो यह भी पता नहीं है कि कौन सामान कहाँ लगेगा।" क्योंकि वहाँ पर काफी सामान जरी सितारे बगैरा के रखे थे। फिर जै-जै बोले तो ठीक है– ऐसौ करौ, जो तुम जरी सितारे बगैरा काम में न लै सको तो फूल-पत्तियों कौ ही बँगला बनाई लीज्यों।" हमने कहा "जै-जै रोज-रोज काफी अच्छे बँगले बनते हैं। हम कैसे बना पाएंगे ?" फिर जै-जै "बोले—तुम तौ जैसौ भी बन सकै। वैसौ बनादो। शोभा तो लाड़लीलाल विराजेंगे, तो अपने आप बन जाएगी।" हम विवश से महसूस करते हुए मन्दिर में चले गये और बँगला बनाना आरम्भ कर दिया। जब हमसे भैया गोपाल माली ने पूछा कि आपको फूल कितने चाहिए ? तो हमने कहा कि भाई यह हमें पता नहीं। जो तुम लाओगे सो लगा लेंगे। गोपाल फूल ले आया।

हम सभी लोग बँगला बना रहे थे। इतने में ही वहाँ पर बहिन जी सन्तोषबाई आ गईं। उन्होंने कहा कि आप लोग जरी बगैरा जै-जै के यहाँ से नहीं लाये। तो हमने कहा कि हमें लगाना ही नहीं आता। फिर उन्होंने कहा, तो ठीक है। आज आप लोग फूल-पत्तियों का ही बंगला बनाओ। और फूल-पत्तियों का सिंगार बना लोगे क्या ? हमने कहा बाईजी हमसे तो नहीं बनेगा। तो बोलीं ठीक है। मैं सिंगार दो चार बाइयों को लेकर बनवालूँगी ! सिंगार बाई जी ने बनाया और झूला (बंगला) मैंने व मालीपुरा वालों ने बनाया।

सायं काल ७-३० बजे जब काफी मात्रा में मन्दिर में दर्शकों की भीड़ थी। उस समय जै-जै पधारे और अपनी दूरबीन से करीब आधा घण्टे तक चौक में से दर्शन करते रहे। वृन्दावन के निवासी लोग व बाहर से आये हुए दर्शकगण सभी के मुँह पर यह चर्चा थी कि—श्रीराधावल्लभलाल आज विचित्र शोभा से विराजे हैं। तो वह बात कि जै-जै ने जो आज्ञा दी कि "तुम तौ बँगला बनाओ। जब राधावल्लभलाल विराजेंगे तो शोभा अपने आप बन जाएगी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सबके सामने था। अपितु एक और विचित्रता थी, जिससे हमारे मण्डल के साधक जब ऐसी चर्चायें किया करते हैं कि जब जै-जै दर्शन करते हैं तो श्रीराधावल्लभलाल अलग ही नजर आते हैं और उस दिन जै-जै जब बँगले में राधावल्लभलाल की शोभा निहार रहे थे तो जै-जै, उनके साथ ही लाडलीलाल की हँसन मुस्क्यान सी स्पष्ट दिखाई दे रही थी। इससे यह प्रदर्शित होता है कि परम पूज्य प्रातः स्मरणीय जै-जै सदैव लाड़लीलाल के साथ नित्य लीला विहार करते रहे हैं।

एक बार जै-जै सन्तोषबाई से ब्याहुले के दूसरे दिन कहने लगे "सन्तोष कल तो प्रियालाल बड़े गम्भीर मुद्रा में बैठे थे।" तो बाई ने कहा "हाँ, जै-जै मैंने भी यही देखा और सोचा कि आज तो भौंहैं तनी-सी लग रही हैं।" हमने सोचा कि आहा देखो क्या भावात्मिकता है। परन्तु आज जो समझ में आया वह उस दिन नहीं आया था कि

जै-जै जो कह रहे हैं, यह नित्य प्राकट्य लीला की ही बात है। भावात्मक मानते हुए भावात्मक आनन्द लेकर ही चल दिये।

आज यह बात समझ में यों आई कि जै जै एक बार हित-धर्म का कुछ वर्णन कर रहे थे। बोले श्रीवृन्दावन विपिन सार है और टीका में कहा कि हित-मार्गियों के लिये तो वृन्दावन ही गोचर धाम है। वृन्दावन जब समझ में आ जायेगा तो सारी झंझटें मिट जायेंगी। वृन्दावन के वर्णन का एक बार सत्संग कराकर कैसिट में रिकार्डिंग भी कराया। वृन्दावन भाव में जै-जै कहते हैं कि इस वृन्दावन का सिंचन श्रीयमुनाजी करती हैं और यह यमुनाजी प्रिया-प्रियतम के मिलन के संयोग रसकेलि की तरंगों से जो रस प्रवाहित है, उसकी धारा हैं। यह यमुना और इन यमुनाजी के सिंचन से उठी हुई घास, वृक्ष-लतागण से सुशोभित है। ऐसे वृन्दावन का एक पत्ता भी हृदय के अन्तरंग भाव में उदय हो गया तो समझो कि हित-धर्मोका कल्याण हो गया।

अब यह बात आई जै-जै की कि स्थूल में ही अन्तरंग प्रगट होगा। तो वो कब जब कि "निकसि कुञ्ज ठाड़े भये भुजा परस्पर अंस! श्रीराधावल्लभ मुख कमल निरखि नयन हरिवंश।" तो हम वह वृन्दावन, वह छवि राधावल्लभलाल को जै-जै की आँखों से ही देख सकेंगे। जिनकी कृपा के सान्निध्य में आज तक उस अनिर्वचनीय सुख का अनुभव किया, वह परम श्रद्धेय पूज्यपाद जै-जै हमें सदैव ही उस सुख का आस्वादन कराते रहेंगे।

ललित - प्रिया वन्दऊँ सिर नाई।
जिन की कृपा शम्भु-अज तरसत,
चरण पलोटत कुँवर कन्हाई।
हँसि मुसक्यान निरखि सुख समझत,
हित स्वामिनि बन्दऊँ तोही पाई ।।
हित - स्वरूप वृन्दावन जै - जै,
यमुना पुलिन निवास सुहाई।
कृपा विलोकनि सहज सरल गति,
भई इच्छा तब लिये बुलाई ।।

मनुष्यत्व को श्रेष्ठ कृतित्व मानने वाले पूज्य गुरुदेव

—श्रीमती कैलाशवती

मेरे माता-पिता मूलतः पंजाब के रहने वाले थे। पिताजी मध्यप्रदेश में सरकारी सर्विस करते थे। समयानुसार मेरा विवाह कुंजाह नगर, जिला गुजरात (पंजाब) के एक परम सम्पन्न एवं कुलीन ब्राह्मण परिवार में कर दिया गया। इस प्रकार अपने विवाहित जीवन में भी भक्तिमय वातावरण पाकर मैं कृतकृत्य हो गई। ससुराल में मुझे श्रीमद्भागवत आदि सुनने का अवसर प्रायः मिलता रहता था। प्रथम बार जब मैं अपने पति के साथ वृन्दावन गई तो उन्होंने मुझे श्रीराधावल्लभलाल जी के दर्शन बड़े प्रेम से करवाए और कहा कि यही मेरे इष्टदेव हैं, जिन्होंने मुझे ८ वर्ष की आयु में दर्शन दिये थे और ये मेरे हृदय में हर समय निवास करते हैं। मुझे भी कुछ पूर्वस्मृति आई। ऐसा लगा जैसे कोई खोई हुई वस्तु मिल गई हो। मैं जब-जब अपने पति के साथ वृन्दावन जाती रासलीला बहुत देखती और मन बड़ा ही प्रसन्न एवं आनन्दित होता। घर लौटते समय दोनों ही रोते क्योंकि वृन्दावन छोड़ना हमें बहुत ही दुःख पहुँचाता। सन् १९४७ के दुखद देशविभाजन के फलस्वरूप हमारा परिवार दिल्ली आगया और मेरे पति ने कुंजाह में अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित लगभग ४०० वर्ष पुरानी 'गद्दी ठाकरां' को पुनः स्थापित किया। धीरे-धीरे मेरे पति के जीवन में त्याग, वैराग्य एवं भक्ति चरम सीमा तक पहुँच गई। यहाँ तक कि उन्हें अपने शरीर की सुध-बुध भी न रही और उन्होंने परिवार से अलग अपने आश्रम के ही एकान्त में रहने की ठान ली।

अब मेरा वृन्दावन जाना-आना अधिक होने लगा। सन् १९६० से १९६६ तक मैंने व्रज में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों के साहित्य का अध्ययन किया। श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त एवं साहित्य ने मेरे मन को अधिक आकर्षित किया।

श्रीराधावल्लभलाल जी की महती कृपा से मुझे गुरुदेव आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी जी महाराज के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और सन् १९६४ के कार्तिक मास की दसवीं के दिन उन्होंने मुझे गुरु-मंत्र प्रदान किया। उनके सरल,

स्पष्ट, सहज उदार व्यक्तित्व, वृन्दावनरस के सम्बन्ध में उनके अत्यन्त गूढ़गहन ज्ञान एवं अनुभव और उनकी मधुर हृदयस्पर्शी वाणी से मैं बहुत प्रभावित हुई।

श्रीहिताचार्य का प्रेम-सिद्धान्त प्रेम-रस की सार्वभौम सत्ता पर आधारित है। प्रेम की इसी सार्वभौम सत्ता को ही गुरुदेव श्रीललिताचरण गोस्वामी जी महाराज ने नितांत तत्सुख सुखी भाव के साथ किया और दूसरों को जीने की प्रेरणा दी। वे सदाचार की प्रतिमा थे और सदाचरण पर बहुत बल देते थे। मनुष्यत्व को वे मनुष्य का सबसे बड़ा कृतित्व मानते थे। उपासक को भजन में कितना सावधान रहना चाहिये यह बात उनकी दिनचर्या से स्पष्ट झलकती थी। श्रीराधावल्लभलाल की श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक सेवा करने के अतिरिक्त वे सदा दूसरों की भलाई में लगे रहते थे। किसी निरर्थक कार्य में वे अपने मन को लगने ही नहीं देते थे। अपने एक लेख में वे लिखते हैं—"जितने जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भजन न हो उसका भजन अधूरा है। भजन में चित्त द्रवीभूत अवश्य होना चाहिये क्योंकि द्रवीभूत चित्त में ही भगवत् प्रतिबिंब पड़ता है।" उनका कोई शिष्य अथवा शिष्या अथवा कोई अन्य साधक जिस भी परिस्थिति में होता उसे वे भजन पकड़ाने की चेष्टा किया करते। ठण्ड का मौसम मेरे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता रहा है। अधिक ठण्ड वृन्दावन जाने और वहाँ कुछ दिन रहने में अब भी बाधा बन जाती है। एक बार जब मैं अधिक ठण्ड के कारण वृन्दावन न जा सकी तो उन्होंने अपने दिनांक ३०.१२-७३ के एक पत्र में मुझे लिखा—"मैं कई दिन से उत्तर देने की सोचते-सोचते, भयानक ठण्ड के कारण आज लिख पा रहा हूँ। दिल्ली से आए हुये एक सज्जन कह रहे थे कि वहाँ यहाँ से भी अधिक ठण्ड है। यह अधिक भजन करने का अवसर है क्योंकि अन्य कोई काम तो (ठण्ड के कारण) होता नहीं है।"

पति-सेवा में व्यस्त हो जाने के कारण मेरे वृन्दावन न पहुँच सकने की स्थिति में उन्होंने अपने पत्र दिनांक ३०-११-७९ में लिखा—"तुम वहाँ रहते हुये श्रीहरिवंश नाम का पूर्ण आश्रय लिये रहो और जहाँ श्रीहरिवंशचन्द्र एवं श्रीश्यामा-श्याम हैं, वहाँ श्रीवृन्दावन पहिले उपस्थित हैं। इसीलिये श्रीसेवकजी ने श्रीवृन्दावन का कोई परिमाण (सीमा) नहीं बाँधा है—हों लघुमति नहि लहौं प्रमाना, जानत श्रीहरिवंश सुजाना। श्री ध्रुवदास जी ने यद्यपि पुराणों के आधार से श्रीवृन्दावन का पाँच योजन विस्तार लिखा है किन्तु उनका अपना मत ये है कि श्रीवृन्दावन कल्पवृक्ष है और जो मन से भी इसका चिंतन करते हैं, उनको तत्काल फल मिल जाता है—श्रीवृन्दावन कल्पतरु सर्वोपरि ध्रुव आहि, मनहु कै जो चिन्तवत देत तबहिं फल ताहि। अतः तुम वहाँ आनन्द से भजन करती रहो और पति सेवा को भी भजन का अंग बना लो। ऐसे पति की सेवा भी यदि भजन नहीं है तो फिर किसकी सेवा भजन बनेगी?"

एक समय पत्र द्वारा मैंने वृन्दावन में स्थायी वास की अपनी इच्छा प्रकट की तो उन्होंने लिख भेजा—"तुम्हारी इच्छा अब स्थायी श्रीवृन्दावन वास की है, यह मालूम

हुआ, किन्तु तुम तो श्रीराधावल्लभलाल को लेकर जहाँ बैठी हो, वहीं श्रीवृन्दावन है। तुम्हारे वहाँ रहने से श्रीव्यासनन्दन का प्रकाश भाग्यशालियों को मिल रहा है। तुम्हारे यहाँ रहने से मुझ को प्रसन्नता होगी किन्तु जो बात मन में आई वह लिख दी है।"

श्रद्धेय गोस्वामी जी के व्यक्तित्व में अनुपम माधुर्य एवं लालित्य था। प्रगाढ़ आस्था के कारण उनमें अपने मार्ग के प्रति अनन्य एवं अपारनिष्ठा थी। वे परम विवेकी एवं विचारशील थे। मानव के अंतरंग एवं बहिरंग दो रूप बताए जाते हैं। इन दोनों रूपों का सहज सामंजस्य जो उनमें स्पष्ट दिखाई देता था, वह दृष्टान्त योग्य है। उनके दर्शन पाते ही उनकी मृदु एवं सरल वाणी हृदय में धँस जाती। उनके नेत्रों में मुझे प्रिया-प्रीतम के दर्शन की अनुभूति होती। उनके सतत निष्काम एवं अकिंचन भाव को देखकर उनमें श्री हित महाप्रभु के दर्शन होते और मेरा हृदय प्रेम-प्रकाश से प्रकाशित होकर परमानन्द का अनुभव करता।

हुतौ रस रसिकन कौ आधार

—श्रीमती राधा सिंहानिया

जब-जब धर्म का नाश होता है तब-तब प्रभु का स्वयं या उनके अंश का अवतार होता है। ऐसे ही श्रीजी के अंश के साक्षात् अवतार थे गुरुदेव। दिव्य था उनका गौरवर्ण, सुन्दर दीप्तिमान् मुखारविन्द, उन्नत ललाट, स्नेहभरी दृष्टि और अमृतमयी मुस्कराहट। भक्त भगवान् का भजन करता है इसलिये कि वे उसे अच्छे लगते हैं। परन्तु जब भगवान् को भक्त अच्छा लगने लगता है तब उसके भाग्य का क्या कहना! ऐसे थे हमारे गुरुदेव। जब वे ऊपर अपने भजनकक्ष में भजन करने जाते तब उनकी तथा श्रीराधावल्लभलाल की मधुर प्रणय लीला चालू हो जाती।

पूज्य गुरुदेव सबको समदृष्टि से, स्नेह-प्यार से देखते थे, फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर, गाँव का हो या शहर का, बच्चा हो या किशोर, जवान हो या बूढ़ा। वे मृदुभाषी, सब पर दया करने वाले, सब पर कृपा करने वाले थे।

एक ही परिवार के बहुत से सदस्य उनके स्नेह भाजन थे। गुरुदेव सबकी समस्या बहुत ध्यान से सुनते, उस समस्या का समाधान करते तथा उसका यथा सम्भव उपाय भी बताते। एक-दूसरे की बात कभी किसी से नहीं कहते। यानी सबसे समान भाव से प्रीति करते।

छोटे बच्चों की केलि से वे बहुत प्रसन्न होते थे। बच्चों को अपने हाथ से बेसन के लड्डू बाँटते थे, जिन्हें कि सब बहुत प्यार व स्नेह से पाते थे।

उनकी कृपा की क्या कहिये! उनकी अपार कृपा, प्रेम दृष्टि, स्नेह ने न जाने कितनों को प्रेम-मय बना दिया।

"हुतौ रस रसिकन कौ आधार।"

परम पूज्य गुरुदेव जी महाराज श्रीहरिवंशचन्द्र रसोपासना के रसिकजनों के आधार थे।

जै-जै सबकी भावनाओं का बहुत ध्यान रखते। अपने शिष्यों का ध्यान वैसे ही रखते जैसे माता अपने छोटे बच्चे का ध्यान रखती है। वे किसी को स्वप्न में मन्त्र देकर कृपा करते तो किसी को दर्शन देकर अपने पास बुलाकर; किसी को श्रीजी के दर्शन कराते तो किसी को उनके रास-विलास का।

२४ फरवरी ९२ की सुबह सूर्योदय के साथ वे अपने निज स्वरूप से श्रीराधावल्लभ लाल की निकुंज-लीला में प्रवेश कर गये। क्या अपने भक्तों को अनाथ, असहाय हालत में छोड़कर? नहीं, ऐसा नहीं। वे सदा हमारे साथ थे, हैं और रहेंगे।

भजन का ढेर लगाने वाले श्री जैं-जैं

——श्रीमती चन्द्रकला अग्रवाल

आज से २२-२३ वर्ष पहले श्री जैं-जैं महाराजजी की शरणागत होकर कण्ठी ली, तब मैं छोटी थी और बड़ी दीन-हीन मलिन। जब श्री जैं-जैं ने कान में बीज-मन्त्र पढ़ा तो मैं उनके अति निकट थी। तब का वह अति स्नेहिल स्पर्श आज भी मुझे वैसे का वैसा याद है। कण्ठी लेने के बाद जब मैंने श्री जैं-जैं के चरणों में दण्डौत की तो मेरा धीरज छूट गया, और हिचकियाँ भर-भर कर रोने लगी। तब उन्होंने मुझे अति दीन तथा अपनी करुणा की पात्र समझ कर अपने चरणों से उठाकर हृदय से लगा लिया था और मेरे सिर पर अपना स्नेहिल हाथ फेरते रहे थे। उस समय सन्तोषबाई जी भी वहीं थीं। वे बोलीं जैं-जैं ये सब बहिनें बड़ी भावुक हैं। उस समय श्रीजैं-जैं महाराज जी मेरे सिर पर हाथ फेरते-फेरते बोले थे—'हाँ सरस हृदय हैं। व्यासनन्दन भी तो ऐसे लोगन कों ही पकड़ै।" श्रीजैं-जैं की यह बात उस समय बिल्कुल भी समझ में नहीं आई थी, पर जब मैं आज उसे सोचती हूँ तो मेरा तन-मन रोमांचित हो जाता है और यह बात मेरे मन में आती है कि—

'ये हीं वह पौरी है, जहाँ सहज लाड़लीलाल बँटते हैं।"

जब भी कभी कोई घर-संसार की बात होती या भजन में मन लगता या नहीं लगता तो श्री जैं-जैं महाराज जी के चरणों का ध्यान आते ही मन में यों विचार आता कि अरे! हम तो श्री जैं-जैं महाराज जी जैसे सबल गुरुजी की शरणागत हैं, हम क्यों घबरायें? हमारे सिर पर तो श्री जैं-जैं हैं। घबरायें वे, जिनके सिर पर कोई न हो। इतना मन में आते ही मन अपनी पुरानी गति पर आ जाता और सब विकार मिट जाते।

जब कभी भी श्री जैं-जैं महाराज जी से कोई भजन की बात करती, अपना अनुभव बताती या अपनी कोई शंका प्रगट करती तो उस समय वे हमारी बात सुनकर अजीब-सी रहस्यमयी हँसी-हँसते थे, बड़े प्रसन्न होते थे और स्नेह से हमारे सिर पर हाथ फेरते थे। श्री जैं-जैं महाराज जी कहते कि इतना भजन करो कि भजन के ढ़ेर लग जायें, तुम्हारा सब कुछ उसके नीचे दब जाये, बस केवल एक नाम रह जाये। मैंने

श्रीमहाराज जी से कहा कि जै-जै ये भजन के ढेर कैसे लगते हैं ? हमारे इस जीवन-काल में तो यह समय कभी सम्भव नहीं है । तब श्री जै-जै महाराज जी बोले—"धीरज से लगे रहौ, लग्यौ तौ रहनौ ही पड़ैगो ।"

एक बार मैं राधाष्टमी के बाद वृन्दावन से बम्बई आ रही थी । आते समय श्री जै-जै महाराज जी को दण्डौत करने गई । उस समय मेरा मन बहुत भावुक हो रहा था । मैंने उनसे कहा—जै-जै अब मुझे वृन्दावन धाम की महिमा कुछ-कुछ समझ में आ रही है । श्री जै-जै बोले क्या ? मैंने कहा—यहाँ ठाकुर राधावल्लभ लाल प्रगट-रूप में विराजमान हैं । नित्य नये उत्सव नित्य नये सिंगार, नित्य नये रूप के गरुवे वरसते हैं । यहाँ वास करने वालों को ये सब सहज ही आपकी कृपा से मिलता है और उनका भजन बनता है । हम तो बम्बई में बैठ ठाकुरजी का कितना ध्यान करते हैं पर ठाकुर हमारे ध्यान में ही नहीं आते । हमसे तो कुछ भी भजन नहीं बन पड़ता । हम तो बस आपकी शरणागत हैं । क्या हमको भी आप कभी वृन्दावन वास करायेंगे ? श्री जै-जै महाराज मेरी बात सुनकर एकदम गम्भीर हो गये । एक मिनट मेरे मुख की ओर बड़ी गौर से देखते रहे—फिर बोले "नाय बेटी, तुम तो आती रहो, जाती रहो । तुम्हारे ऊपर तो व्यासनन्दन की सहज कृपा है, जो इतनी माया-नगरी में रह कर भी तुम्हारो भजन बन पड़े और जो लोग यहाँ रहैं हैं विनने ही कहा पाय लियौ । तुम तो बस मन में अच्छे संग को भाव रखौ जाते नाम, ध्यान छुटै नहीं ।" मैंने श्री जै-जै से कहा कि जै-जै आप ही जो करें सो करें । श्री जै-जै महाराज जी ने अपनी अति-शय कृपा करके ऐसा संग दिया जो पल-पल ठाकुर का नाम और ध्यान रटाते हैं ।

श्री जै-जै महाराज स्वयं श्रीलाड़लीलाल की निकुंज लीला में पधार गये, पर अपने सारे शिष्यों को चेता गये । चाहे वह थोड़ा भजन करने वाले हों–चाहे वह ज्यादा भजन करने वाले हों कि जीवन पल-पल हाथ से निकलता जा रहा है । सब भजन करो-भजन करो । मैं अब की बार जब हित-उत्सव पर वृन्दावन आई तो मैंने अनुभव किया कि सब श्री जै-जै की कृपा से रात-दिन भजन में लगे हुये हैं । यह देखकर मेरे मन में यही विचार आया कि यही सबल श्रीगुरुवर की शरणागति है ।

श्री जै-जै महाराज जी के नेत्रों से बरसती करुणा का मुझे पल-पल स्पर्श अनुभव होता है । उनके नेत्र सदा इतने भावपूर्ण रहते मानो लाल-प्रिया उनके नयनों में झूला झूल रहे हैं । उनकी करुणा की बान का बखान कोई कहाँ तक कर सकता है । इस प्रकार की सैकड़ों हमारी यादें श्री जै-जै महाराज जी के साथ जुड़ी हुई हैं । ऐसे करुणा के सागर, परम स्नेही श्री गुरुदेव जी के चरणों में मेरे शत-शत दण्डवत् प्रणाम हैं ।

"भरोसो दृढ़ उन चरन केरौ ।"

स्नेह सागर जैं-जै

—श्रीमती सावित्री चौधरी

सन् १९५० की बात है। उस समय मेरी आयु करीब तेरह वर्ष की थी। मेरी माँ स्व० रतनीबाई वृन्दावन जाया करतीं थीं। मुझे भी श्रीजैं-जै महाराज से गुरु दीक्षा दिलवाई। बस, उसी समय से श्रीजैं-जै की स्नेहमयी चितवन मेरे हृदय में समाई हुई है। मुझे पढ़ने और लिखने से बचपन से ही लगाव था। जैं-जै श्रीसेवकवाणी जी पढ़ते थे तो मैं उत्सुकता से उनकी तरफ देखती रहती, बड़े ध्यान से सुनती और समझने की चेष्टा करती लेकिन वाणी जी समझना अल्प आयु में मेरे वश की बात कहाँ थी। एक दिन बाल-हृदय मचल गया और जैं-जै से बोली, "महाराज जी, यह किताब आप बड़े ध्यान से पढ़ते हैं। अवश्य ही इसमें कुछ है ! क्या आप मुझे इसका अर्थ समझायेंगे ?" सुनकर श्रीजैं-जै बड़े प्रसन्न हुए, बड़े ही स्नेह से मेरे सिर पर हाथ फेरा और मुझे पास बैठा कर प्रथम प्रकरण की कुछ पंक्तियों का अर्थ समझाया। मुझे बहुत अच्छा लगा। कुछ नया-सा लगा क्योंकि बचपन से माँ को भजन गाते हुए सुनती थी, कीर्तन में भी भगवान् राम-कृष्ण बस, यहीं तक सुना था सो वाणी जी में कुछ विपरीत-सा पाकर बहुत अच्छा लगता था। रोज पहुँच जाया करती थी और श्रीजैं-जै बड़े ही स्नेह से मुझे वाणी जी की व्याख्या समझाते थे। उनके नेत्रों से जो स्नेह टपकता था उसका महत्त्व बाल्यमन को वाणी जी से कहीं ज्यादा मूल्यवान् था और दिल को बड़ा सुख मिलता था। एक कारण और भी था। मेरे पिताजी मुझे बहुत ज्यादा ही प्यार करते थे। उनका स्वर्गवास कुछ ही वर्ष पहले हुआ था। जिस प्यार से वंचित हो गई थी मैं वही स्नेह स्पर्श श्रीजैं-जै का पाकर धन्य हो गई थी।

उस समय तक माँ ने श्रीवृन्दावन वास नहीं किया था, आती जाती रहती थी इसलिये मुझे दिल्ली जाना पड़ता था लेकिन बार-बार श्रीजैं-जै की याद सताया करती थी। फिर १९५२ में मेरा विवाह हो गया। उसके पश्चात् माँ ने वृन्दावन वास कर लिया था। इसलिये मैं जब भी दिल्ली जाती कुछ दिन भैया-भाभी के पास रहकर ज्यादा समय श्रीवन में माँ के पास व्यतीत होता और श्रीजैं-जै का सत्संग मिलता। माँ सुबह श्रीजैं-जै की सेवा हेतु कूएँ से पानी निकाल कर उसे उनके स्नान के लिये रखतीं उनकी बैठक में झाड़ लगाती। पीने का पानी कुएँ से भर कर रखती फिर उनके कपड़े घर ले जाया करती और धोकर सुखाती। शाम को हम लोग जैं-जै के पास जाते थे तब उनके कपड़े समेट कर वापस लाते।

मैं माँ के पास वृन्दावन जाती तो श्रीजैं-जैं के दर्शनों को जाती और उनके पास रहकर उनकी दिनचर्या की गतिविधि देखती रहती। जब वह स्नान करके तैयार हो जाते तो मैं वाणी जो लेकर बैठ जाती और वहाँ से उठने का नाम नहीं लेती। कभी-कभी श्रीजैं-जैं का प्रसाद पाने का समय हो जाता तो (सुधारानी की) माताजी श्रीजैं-जैं को बुलाने आतीं थीं। वह मुझे भी ले जातीं और प्रसाद पवातीं थीं। माताजी भी मुझे बहुत प्यार करती थीं। ऊपर बुलातीं खूब बातें करतीं, खिलाती; पिलाती थीं। श्रीजैं-जैं माता जी के सामने भी मेरी बहुत प्रशंसा करते थे। स्नेह भरा हाथ फेरते कहते, "सावित्री मुझे सुधा जैसी लगती है। बड़ी प्यारी बच्ची है।" सुनकर मैं फूली नहीं समाती थी। बस, वे सुखद घड़ियाँ फिर नहीं आईं। शादी के बाद बहुत कम आना होता था। पत्रों के द्वारा ही बातें होतीं थीं। श्रीजैं-जैं का पत्र पाकर दिल स्थिरता प्राप्त करता था।

२४ फरवरी १९९२ का वह मनहूस दिन मैं कभी नहीं भुला पाऊँगी जब किसी ने फोन किया कि श्रीजैं-जैं नहीं रहे। उस समय मैं दिल्ली में थी और दूसरे दिन की यानी २५ तारीख को वापस कलकत्ता लौटने की टिकिट थी। बस, खबर सुनते ही दिल हाहाकार कर उठा और तड़फते दिल से यही निकला श्रीजैं-जैं मुझे आपके अन्तिम दर्शन चाहिए, चाहे जैसे भी हो। कह तो रही थी लेकिन असम्भव लग रहा था क्योंकि भाई साहब दिल्ली से बाहर गये हुए थे। ड्राईवर दो दिन से छुट्टी पर था और टाइम बहुत ही कम था। दोपहर १२ बजे सूचना मिली और कहा गया कि चार बजे अन्तिम संस्कार होगा। इन चार घन्टों की अवधि में श्रीवन पहुँचना असम्भव ही था बगैर ड्राईवर के। लेकिन श्रीजैं-जैं ने कभी मेरी पुकार नहीं टाली तो यह आखिरी पुकार कैसे नहीं सुनते! ड्राईवर भी मिल गया, भाभी साथ जाने को तैयार हो गईं और मैं श्रीजैं-जैं के अन्तिम दर्शन कर सकी।
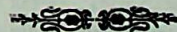
जौ-जौ एक जीवन्त अनुभूति

–श्री प्रिया किंकरी (इन्दिरा)

प्रातः स्मरणीय परम पूज्य श्रीजँ-जँ को हम जब भी देखतीं तो ऐसा प्रतीत होता—मानो श्रीजँ-जँ प्रेम रसासव पान करके खोये-खोये से लगते हैं। नेत्र तो हर समय—'अरुण लालिमा से रंजित रहते थे और मुस्कान की तो बात ही क्या थी ? मृदु मुस्कान गजब की आली·······। जो भी देखता वह मोहित होकर आनन्द हिलोरें लेने लगता। सारी चिन्ता थकान जाने कहाँ डूब जाती ? समदृष्टि की तो सीमा ही नहीं थी। प्रेम के तो जैसे अथाह समुद्र ही थे। जब कभी हम उनसे बात करतीं या कुछ पूछतीं तो मौन रहकर हँस देते।

हमें लगता श्रीजँ-जँ कह रहे हैं, भइया संसार बड़ा विकट है। एक व्यासनन्दन ही हटाय सकैं हैं यासे।

परम पूज्य श्रीजँ-जँ से मुझ तुच्छ प्रिया किंकरी को क्या-क्या उपलब्धियाँ हुई। उनका संक्षिप्त परिचय देने से पूर्व बताना चाहूँगी कि मैं कौन हूँ ? श्रीवृन्दावन धाम में रसिकजन हमें इन्दिरा के नाम से जानते हैं। हम बाबा प्रियाशरण जी की शरणागत हैं। परन्तु श्रीजँ-जँ का हम तुच्छ पर जो लाड़-प्यार-दुलार रहा और आज भी मिल रहा है, उसी से तो हम जी भी रही हैं नहीं तो······। हम श्रीजँ-जँ को अपने बचपन से ही जानती हैं। परम पूज्य श्रीजँ-जँ की विशेष विशेषतायें और हम पर कृपा ! पूज्य श्रीजँ-जँ हमें दूर से देखकर ही कहते—

"अच्छा-अच्छा इन्दिरारानी आई है ! आ जा, आ जा, यहाँ बैठ जा।" कितने ही बड़े लोग उनके निकट बैठे रहते, सबसे आगे हमको बिठा लेते। दण्डवत् करने पर अपना प्यार भरा कर-कमल हमारी पीठ पर रख देते और लाड़ के साथ सब पूछते। अब जब उन्हें नेत्रों से कम सूझने लगा तो पीली साड़ी से हमें पहचानते।

एक बार बाबा श्रीप्रियाशरण जी ने जँ-जँ से कहा—"जँ-जँ ये बोलने लगी है"

श्रीजँ-जँ बोले, "बाबा, ये क्या बोल पावेगी ? याकी तो आवाज ही नाँय है।"

"नहीं श्रीजँ-जँ माइक पर बोल लेती है।"

सर्व प्रथम सेवक जी के धाम, गढ़ा जबलपुर में श्रीमुरली मनोहर जी के मन्दिर से 'श्री प्रियालाल' गुणगान प्रारम्भ हुआ। वहाँ से तीन माह में लौटने पर श्रीजै-जै के दर्शन की तीव्र आकांक्षा थी इसलिये हम सीधे ही ऊपर चली गईं। उस समय श्रीजै-जै टहल रहे थे। हमें देखकर मुस्कराये, दण्डवत् करने पर आशीर्वाद देते हुए बोले—

"खूब व्यासनन्दन का गुणगान करो।"

(हम सोचने लगीं अब तो श्रीजै-जै आशीर्वाद दे रहे हैं) फिर पूज्य श्रीजै-जै हमारा कन्धा पकड़ कर बोले—

"आ, यहाँ पत्थर पर बैठ जा, यमुनाजी के दर्शन कर। हम जरा टहल लें।"

सन्ध्या का दृश्य बड़ा ही मनोहारी था। पूज्य श्रीजै-जै से वार्तालाप करते हुए दर्शन का जो सुख मिला वह अवर्णनीय था। लाइट जाने पर बीरेन्द्र से बोले—"जा, इसे घर तक छोड़आ,"।

"नहीं—श्रीजै-जै हम चली जायेंगी।"

"नाँय अंधेरो है।"

कितना ध्यान रखते थे वे हमारा।

पूज्य श्रीजै-जै के अस्वस्थ होने पर समाज घाट पर ही होती थी। हम भी जाते थे। एक बार स्वास्थ्य गड़बड़ होने पर हम कई दिन में गये। तबियत खराब के कारण जै-जै बोले "जा, जा, कल दिन में आना। सर्दी बहुत पड़ रही है।" हमारे बार-बार मना करने पर भी श्रीजै-जै ने हमें वापिस भेज दिया। इतने में बाबा पहुँच गये।

"जा इनके साथ चली जाना, अकेले नहीं जाना।"

हम जाते तो बिछाई तो रहती ही थी, एक आसन गर्म रखा रहता था। हमसे कहते—

"इसे और बिछा ले।"

हम संकोचवश नहीं बिछाते थे। एक दिन हमने बिछा लिया। क्या बताऊँ इतने खुश हुए और बोले—

"आज तूने हमारी बात मानी है।"

हम बोले "श्रीजै-जै आपको इतनी अधिक प्रसन्नता होगी हमको क्या पता था? हम तो रोज बिछा लिया करते।"

निकुंज-गमन से पूर्व पाँच, छह दिन श्रीजै-जै हमारे स्वप्न में आये और हम निश्चय कर चुकी थीं कि निजमन्त्र श्रीजै-जै से ही जाकर लेंगी। परन्तु श्रीजी की कुछ और ही इच्छा थी। उनके निकुंज-गमन का समाचार सेठजी के यहाँ सर्व प्रथम हमको पता चला। विश्वास नहीं हो रहा था। फिर श्रीधाम को फोन मिलाया उसके बाद तो हमारा रोना बन्द नहीं हुआ। सांसारिक पिता मरे तो हमारा एक भी अश्रु नहीं गिरा पर श्रीजै-जै.......।

श्री वृन्दावन आने पर रात्रि को पूज्य श्रीजै-जै हमारे स्वप्न में आये। हमने देखा श्रीजै-जै मटमैले (क्रीम) रंग की जाली की बनियान पहिने, चैक का तौलिया बांधे, कान में जनेऊ लटकाये सीढ़ियों के उधर खड़े हैं। हम से बोले—

"तू आ गई !" तीन बार ऐसे कहा—

"हाँ, श्रीजै-जै हम आ गईं।"

"तू चिन्ता क्यों करती है, हम तो हैं। तू हमारे पास आ जाया कर।"

तब हमें लगा श्रीजै-जै यहीं हैं, कहीं नहीं गये। उसके दो दिन बाद तिवारी में बैठे दिखलाई दिये खूब लाड़ कर रहे हैं, उसके पश्चात् दो दिन बाद अन्दर कमरे में बात करते और लाड़ करते हुए दिखलाई दिये। पर बातें क्या हुईं ये अब कुछ याद नहीं है। कुछ लोगों को सपना बता देने से श्रीजै-जै ने स्वप्न में आना बन्द कर दिया अब कभी-कभी दिखलाई तो देते हैं पर स्मृति नहीं रहती है।

कितनी अपार कृपा पूज्य श्रीजै-जै की हमारे ऊपर है। आज भी श्रीजै-जै हमें अपने साथ-साथ रहते लगते हैं, क्योंकि श्रीजै-जै की छत्रछाया के सिवा हमारे ऊपर किसी की भी छत्र छाया नहीं रह गई थी। पूज्य जै-जै समय-समय पर इसी प्रकार हम तुच्छ पर अपनी स्नेह-कृपा बरषाते रहे थे, रहते हैं और हम आनन्द सागर में आनन्दित होते रहते हैं। आज हमारे पास श्रीहरिवंशनाम की जो अनुभूति, उपलब्धि है वह सब उन्हीं की कृपा का तो खेल है। तभी तो श्री वृन्दावन धाम में अपने लाड़िले श्रीराधा-वल्लभलाल के और श्रीजै-जै के साथ बिल्कुल अकेले रह रही हैं। आज पूज्या लालीजी श्रीजै-जै के इस स्वप्न को साकार कर रही हैं। उनकी स्नेह कृपा हम पर निरन्तर ही वर्षण करती रहती है।

पूज्य श्रीजै-जै ऐसे थे। ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। पूज्य श्रीजै-जै जैसे थे वैसा हमें बनना है अर्थात् उनके गुणों को अपने अन्दर संजोना है।

उन आँखों की महकती खुशबू

—कु० विष्णुप्रिया, वृन्दावन/जगन्नाथपुरी

सर्व सन्त गुरुदेव हैं, ब्यास हृदय परतीति ।

श्रीमहाराज जी, जिन्हें सब प्यार पूर्वक जै-जै कहते थे, उन्हें पूरा-पूरा कोई नहीं समझ सकता। विवशता यही है कि जो वे थे, उसे हम समझ नहीं सकते और जो हम समझते हैं, वह वे थे नहीं। उनके दर्शन का सर्वोत्तम समय तब होता था जब वे श्रीराधावल्लभलाल जी के दर्शन करके लौट रहे होते थे। स्थिर होकर अविचल अपलक दर्शन करने की तमीज सिखाने वाले निर्देशक विश्व-रंगमंच से चले गये। मैं और मेरी माँजी प्रतीक्षारत रहते थे। जैसे वे सीढ़ी से धीरे-धीरे संयत कदमों से उतरते थे, हम दोनों उन्हें प्रणाम करते थे और जिज्ञासु भाव से उनके नेत्रों को देखते थे कि उन्होंने इन नयनों से क्या देखा है। उनकी उल्लसित गहरी और तृप्त अँखियों को देखकर लगता था कि बहुत कुछ पा लिया है समा लिया है। उन स्नेहसिक्त नेत्रों की मूक भाषा के आगे बड़े-बड़े सम्वाद फीके पड़ जावें। "नयन बिनु बानी" उक्ति गलत प्रतीत होने लगी। वे एक दो वाक्यों का मधुर रस हमारे कानों में घोल देते थे।

मैं माँ से कभी कहती कि श्री जै-जै के आवास 'श्रीयमुना पुलिन' पर चलें तो वह बताती कि वहाँ महाराजश्री के द्वारा बहुत-सी सेवायें होती हैं। अस्तु, वहाँ कोई अभाव लेकर आता है तो कोई प्रभाव पर, यहाँ दर्शन के पश्चात् मन्दिर में ही इनका सहज स्वभाव दीखता है।

मेरे श्रीगुरुदेव पुरी में रहते हैं। यदि कभी मैं गुरु पूर्णिमा पर श्रीजगन्नाथपुरी न जा पाती तो श्री जै-जै महाराज की पूजा अवश्य करती। मुझे लगता कि मुझे मेरे श्रीगुरुदेव साक्षात् मिल गये। मुझ से किसी ने स्नेह एवं विनोद में पूछा—"विष्णुप्रिया श्री जै-जै तुम्हारे गुरु जी नहीं हैं। फिर तुम क्यों उनकी पूजा करने जाती हो! मैंने विनम्रतापूर्वक जबाब दिया कि आपके प्रश्न में ही आपका उत्तर है।

हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, बंगला आदि कई प्रान्तीय भाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था। मेरे माध्व गौड़ीय सम्प्रदाय के रस एवं सिद्धान्त ग्रन्थों का उन्हें अनुभवात्मक अध्ययन था। फिर भी किसी उत्सव या गौड़िया परम्परा की बात मुझ जैसी बच्ची से सहज रूप से पूछ लेते थे। मेरे संकोच और लज्जा को दूर करने और छोटों को प्यार देने के भाव से कहते कि ग्रन्थ का आन्तरिक भावार्थ तो गुरु-परम्परा पूर्वक अध्ययन करने पर ही उपलब्ध होता है अन्यथा नहीं। उनकी कृपा से "बयालिस लीला" का जो भी यद् किंचित् आस्वादन मुझे व मेरी माँ को मिला वह अनुभव का ही विषय है।

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी : एक अमिट हस्ताक्षर

—डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव, डी० लिट्०

वृन्दावन रस-भूमि है। इस दिव्य-चिन्मय भूमि पर अनेक रसिकों, आचार्यों ने प्रकट होकर रस की उपासना की है। रसिकाचार्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभु ने रसोपासना का जो पादप इस भूमि में आरोपित किया, वह आज अपनी शोभा से चतुर्दिक् वातावरण को शोभायमान कर रहा है। उस पादप के नीचे बैठकर जिन रसिकों, आचार्यों ने साधना की हैं, उनमें गो० ललिताचरणजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

श्रीहिताचार्य महाप्रभु की वंश-परम्परा में प्रकट होने के कारण वे एक आचार्य-कोटि के रसिक थे। अँग्रेजी-पद्धति की शिक्षा अर्जित कर सन् १९३१ ई० के आस-पास की बी०ए०;एल-एल०बी० जैसी डिग्रियों को धारण करने वाला व्यक्ति वृन्दावनीय रस-भक्ति का ऐसा अनन्य उपासक बन सकता है, आश्चर्य है! उनके व्यक्तित्व की भाँति उनका कृतित्व भी बहुआयामी हैं। काव्य के सर्वाङ्ग (गद्य-पद्य) रूप का वे कोना-कोना झाँक आए थे। उनके कृतित्व में नीरसता तो ढूंढ़ने से भी नहीं मिलेगी। वृन्दावनीय-सरसता उसमें सर्वत्र विद्यमान है।

पूज्य गोस्वामीजी का व्यक्तित्व बड़ा ही मधुर व आकर्षक था। मधुरिमा तो मानो उनके चेहरे से रिसती ही रहती थी। उनके वार्तालाप में कितनी सहजता एवं सरसता रहती थी; इसे कौन नहीं जानता? जो भी उनके सम्पर्क में पहुँचा, वह कृतकृत्य हुए बिना नहीं रहा; ऐसा मेरा अनुभव हैं। मुझ पर उनका बड़ा स्नेह था। मैं जब भी उनके पास पहुँचता, वे सब कुछ छोड़कर मुझ से बात करने लगते थे। समस्या चाहे जैसी हो, वे उसका हल लिए बिना न रहते! एक सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी वे हर सम्प्रदाय के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते थे। निःसन्देह कहा जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य-जगत् के साथ ही अनन्य रसिकाचार्यों के समाज में वे चिरकाल तक एक अमिट हस्ताक्षर के रूप में जाने-माने जाते रहेंगे। उन्हें शतशः प्रणाम!

व्यक्तित्व और कृतित्व खंड

श्रीललिताचरण गोस्वामी की जीवन झाँकी

–प्रो० गोविन्द शर्मा

श्रीमद्भागवत माहात्म्य में कथा है कि द्रविडदेश में उत्पन्न भक्तिदेवी गुजरात में आकर असमय में ही जराजीर्ण हो गई, किन्तु वृन्दावन में आते ही उनकी वह अकाल की वृद्धता अनायास तिरोहित हो गई और वे हो गईं पुनर्योवनवती। सदायौवना भक्ति आनन्द में मस्त होकर वृन्दावन में नाचती फिरती है—"धन्यं वृन्दावनं तेन भक्ति र्नृत्यति यत्र च।" वृन्दावनीया भक्ति के यौवन को चिरस्थायी बनाये रखने में जिन रससिद्ध आचार्य-कविराजों के उपासना-रसायनों का अद्भुत योगदान रहा उनमें श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंश गोस्वामी का शुभनाम अग्रगण्य है। उनकी प्रेम परिपाटी ओर उस पर आधारित अपूर्व नित्य विहार रसोपासना-प्रणाली ने एक नवीन भजन-मार्ग का निर्माण किया, जिसे हितमार्ग या श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। अपनी रसपेशल वाणी एवं विशिष्ट रसोपासना रीति के द्वारा वे विगत पांच शताब्दियों से कोटि-कोटि रस रसिकों के आधार बने हुए हैं और बने रहेंगे।

महाप्रभु श्रीहितहरिवंशचन्द्र गोस्वामी के नित्य लीला-प्रवेश के पश्चात् पिछले लगभग साढ़े चारसौ वर्षों में यमुना में न जाने कितना जल बह गया, न जाने कितनी ऋतुएँ आईं और गईं, श्रीराधावल्लभलाल के मन्दिर के आसपास श्रीहिताचार्य के वंशजों के न जाने किनने आवास बने और बिगड़े. उनमें हजारों दीपक जले और बुझे किन्तु उनमें दो-चार ही ऐसे निकले जो श्रीहरिवंशचन्द्र द्वारा निर्मित प्रकाशित मार्ग को दूर तक आलोकित कर लक्ष-लक्ष भावुक भक्तों द्वारा पथिकों की लोकयात्रा सुगम बनाने में सहायक सिद्ध हुए।

पूर्वज–

इन्हों में एक घर आचार्य चतुर शिरोमणि जी का था जो रासवंश के अधिकारी थे। श्रीराधावल्लभीय-गोस्वामियों में उनकी अच्छी ख्याति थी। उनकी पांचवीं पीढ़ी में गोस्वामी श्रीवसंतलाल जी हुए। वे बड़े भजनानन्दी और साधु स्वभाव के थे।

अपने उपास्य श्रीराधावल्लभलालजी में उनकी अनन्यनिष्ठा एवं आत्मीयता थी। दोनों की अन्तरंगता की अनेक कहानियाँ सुनने में आती हैं। एक बार देर रात में दुसायत मोहल्ले का एक भड़भूजा अपने घर में श्रीराधावल्लभलाल को सत्तू का भोग लगा रहा था। गोस्वामी श्रीवसन्तलाल जी ने अपने शिष्यों को बता दिया कि इस समय श्रीराधा-वल्लभलाल सत्तू अरोगने भड़भूजा के निवास पर गये हैं।

गोस्वामी जी के दो विवाह हुए थे। उनकी पहली धर्मपत्नी से श्रीराधाचरण जी हुए जो उनकी सन्तानों में सबसे बड़े थे। थोड़े दिनों बाद पत्नी का देहान्त हो गया तो उनकी गृहस्थी डाँवाडोल हो गई। उनका दूसरा विवाह श्रीमती गुलाब कुँवरि से हुआ, जो रूपशील एवं सद्गुणों में आदर्श भारतीय महिला थीं। 'बसन्त' के संयोग ने विकसित पुष्पित गुलाब में एक ऐसा ललित प्रसून प्रस्फुटित किया जिसकी सुन्दरता और सुगन्ध ने लाखों नर-नारियों का मन मोह लिया।

भये प्रकट कृपाला [जन्म]

विक्रमी सम्वत् १९६४ की भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी थी। दिन था बुधवार। सारे उत्तर भारत में विशेषतः ब्रज-वृन्दावन में उस दिन गणेश चतुर्थी की धूम थी। बुधवार गणेश जी का दिन माना जाता है। इसलिए उस बार यह त्यौहार और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया था। गणेश चौथ बालकों का विशेष उत्सव है। इस दिन बच्चों को विशेष रूप से नहला-धुलाकर अच्छे से अच्छे वस्त्र लाकर पहनाये जाते हैं, मेंहदी, काजल, चन्दन आदि से उनका श्रृंगार किया जाता है और तरह-तरह के पकवान विशेषकर मोदक खिलाये और बाँटे जाते हैं। इस बार गोस्वामी श्रीवसन्त जी के घर त्यौहार में एक और त्यौहार-आ मिला। सौभाग्यवती गुलाब कुँवरि की कोख से प्रथम कमनीय कुसुम का आविर्भाव हुआ। घर-परिकर और प्रेमी जनों के समाज में मानों आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। अंग्रेजी कलेण्डर के अनुसार उस दिन ईस्वी सन् १९०८ के सितम्बर मास की ग्यारहवीं तारीख थी। इस बालक का नाम रखा गया 'ललिता-चरण'। राधाचरण के पश्चात् 'ललिताचरण' का आगमन सर्वथा समीचीन ही था। गणेश चतुर्थी को जन्मे ललिताचरण बुद्धि में विनायक जैसे ही हुए। यथा समय गोस्वामी श्रीवसंतलाल जी के पाँच सन्तानें और हुईं। सर्व श्रीवनवारीलाल, मदनलाल, गोपाललाल और छोटेलाल पुत्र तथा सुदेवी एकमात्र पुत्री।

वृन्दावन के ही नहीं उत्तर भारत के ज्योतिर्विदों में अग्रगण्य निजाम हैदराबाद, के दरबारी ज्योतिषी पण्डित श्रीअयोध्याप्रसाद शर्मा की बनाई जन्म कुण्डली के अनुसार श्रीहित ललिताचरण जी के ग्रहयोग इस प्रकार थे—

२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१
	राहु	गुरु	सू, बु शु		चन्द्र		मं, के.		शनि		

गोस्वामी श्रीबसन्तलालजी महाराज

जन्माङ्ग की चन्द्रराशि के अनुसार जातक का नाम रेवतीरमण गोस्वामी रखा गया था, किन्तु लोक में प्रसिद्ध नाम ललिताचरण ही हुआ। कुण्डली पर सरसरी दृष्टि डालने से ही ज्ञात हो जाता है कि जातक के तीन ग्रह गुरु, राहु और केतु उच्च के हैं, सूर्य और शनि राशि तथा मूल त्रिकोण के हैं। अष्टम में मंगल अपने मूल स्थान में है। योग कारक शनि नवमेश तथा दशमेश होकर राज्यस्थान में अवस्थित है। स्वगृही शनि केन्द्रस्थ होकर शश नामक महापुरुष योग बना रहा है। चन्द्र से दसवाँ उच्च का गुरु गज केसरी अधि तथा लग्न से दसवाँ पापग्रह शनि केन्द्रेश योग कारक तथा मूल-त्रिकोणस्थ होने से अधियोग की सृष्टि कर रहे हैं। उच्चाभिलाषी बुध सुख स्थान में सूर्य के साथ बैठकर बुधादित्य योग का निर्माण कर रहा है। साथ में लग्नेश शुक्र भी है। ये समस्त योग महापुरुषों की कुण्डलियों में ही पाये जा सकते हैं। यह योगवल तो प्राप्त था ही किन्तु सबसे बड़ा था भजनबल, जिसने श्रीललिताचरण जी के ग्रह बल को अत्यन्त प्रबल कर दिया। यदि ग्रहयोग प्रतिकूल भी हो तो उनका क्या बिगाड़ लेते।

लगन महूरत जोगबल, तुलसी गनत न काहि।
राम भये जेहि दाहिने सबै दाहिने आहि॥

"जो पै कृष्णचरन मन अर्पित तौ करिहैं कहा नवग्रह रंक।"

श्रीललिताचरण जी को यह भजनबल जन्म से ही प्राप्त था। माता-पिता दोनों ही श्रीराधावल्लभलाल के परमभक्त एवं दृढ़ विश्वासी थे। उनकी भक्ति और निष्ठा से प्रसन्न होकर मानों स्वयं हितमहाप्रभु ही अंशावतार धारणकर उनके पुत्ररूप में आविर्भूत हुए थे।

बालपन कहौं बरनि—

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" जो पौधे बड़े होकर फलदायक, छायादायक एवं आश्रयदायक बनते हैं, उनके पत्ते प्रारम्भ से ही चिकने होते हैं। बालक ललिताचरण के सद्गुणों की झलक शैशव से ही दिखाई देने लगी थी। सेवा और घर के कामकाज में व्यस्त अपनी माँ को तो वे बिलकुल ही परेशान नहीं करते थे। बल्कि थोड़े बड़े होने पर माता की सहायता भी करने लगे। उनके अनुज गोस्वामी गोपाल लालजी ने अपने बचपन की यादें ताजा करते हुए बताया कि हमारे सबसे बड़े भाई ललिताचरणजी बचपन से ही बड़े मातृभक्त और मृदुभाषी थे। वे अपने भाइयों से अपार प्रेम करते थे। उन्हें कोई कष्ट नहीं होने देते थे। मातृभक्त ऐसे थे कि प्रातः उठने के बाद सबसे पहले अपनी माताजी के चरण-स्पर्श करते थे। उनके काम में हाथ बँटाने के लिए भाई-बहिनों को स्नान कराना, वस्त्र पहनाना, भोजन कराना आदि सहायता कार्य किया करते थे। दया की भावना उनमें बचपन से ही थी। छोटे भाई-बहिन यदि किसी वस्तु के लिए जिद करते थे और वह इनके पास होती तो तुरन्त उन्हें दे देते थे। ललिताचरणजी के इन गुणों को सुनकर 'श्रीरामचरित मानस' की कुछ चौपाइयाँ बरबस स्मरण आ जाती हैं, जिनमें गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीराम के आदर्श बचपन का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं—

जेहि विधि सुखी होंहि सब लोगा। करहिं कृपा निधि सोइ संयोगा।
वेद पुरान सुनहि मन लाई। आपु कहहिं अनुजन समुझाई।।
प्रात काल उठिकैं रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा।

श्रीभरतजी ने भी श्रीराम के स्वभाव के सम्बन्ध में कहा है—

मैं जानौं निज नाथ स्वभाऊ, अपराधिहु पर कोह न काऊ।।
मो पर कृपा सनेह विशेखी, खेलत सुनत कबहुँ नहीं देखी।
सिसुपन ते परिहरेउ न संगू, कबहुँ न कीन मोर मन भंगू।।
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोहीं, हारेहु खेल जितावहिं मोहीं।

ललिताचरणजी ने अपने ललित आचरणों का प्रमाण बालपन से ही देना आरम्भ कर दिया था।

शिक्षा और छात्र-जीवन

श्रीललिताचरणजी की शिक्षा एवं अध्ययन का मार्ग भी सरल नहीं रहा। उस समय न तो इतनी शिक्षा-संस्थाऐं थीं और न अन्य साधन। गिनती के प्राइमरी स्कूल थे और मात्र एक मिडिल स्कूल, जिनको मिडिल से आगे पढ़ना होता उन्हें मथुरा जाना पड़ता, जहाँ हाई स्कूल और इण्टर कालेज थे। उस समय प्राइवेट परीक्षाओं का विधान न था। आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक बालक मथुरा की शिक्षा-संस्थाओं में जाते। उनकी संख्या उँगलियों पर गिनने मात्र की होती। शेष वृन्दावन में मिडिल तक पढ़कर सन्तोष कर लेते। ब्राह्मण बालक संस्कृत पाठशालाओं में अथवा पण्डितों के घरों पर जाकर संस्कृत शिक्षा प्राप्त कर लेते थे। ललिताचरणजी ने भी संस्कृत शिक्षा अपने समाज के सुप्रसिद्ध गोस्वामी सुखलालजी से प्राप्त की। वे विलास वंश के अधिकारी परिकर के अच्छे विद्वान थे। बाद में उन्होंने अपने सम्बन्धी आचार्य दामोदरलाल जीसे भी ज्ञान प्राप्त किया। आचार्य दामोदरलालजी श्रीराधारमण मन्दिर के गोस्वामी कुल के थे, अपने समय के दिग्गज पण्डित थे, और षड् दर्शनाचार्य, सार्वभौम की उपाधियों से विभूषित थे।

श्रीललिताचरणजी को भी आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए मथुरा जाना पड़ा। श्रीकिशोरी रमण इण्टर कालेजमें उन्होंने प्रवेश लिया। वृन्दावन से मथुरा जाने-आने का चक्र प्रारम्भ हो गया। उस जमाने में शिक्षा-संस्थाओं का अनुशासन बड़ा कठोर होता था। सभी विद्यार्थियों को विद्यालय के नियमों का पालन अनिवार्यतः करना पड़ता था अनुपस्थित होने पर अर्थ-दण्ड तो होता ही था एक सीमा विशेष के पश्चात् परीक्षा में बैठने से भी रोक दिया जाता था। वहाँ के प्रधानाचार्य श्रीरामचन्द्र भार्गव की अनुशासन-प्रियता की दूर-दूर तक ख्याति थी।

किशोरी रमण कालेज वृन्दावन से लगभग ८ मील दूर था। श्रीराधावल्लभ जी के एक गोस्वामी जी अपने ताँगे द्वारा कालेज जाया करते थे। ललिताचरणजी भी आगे बैठ लिया करते थे। उस जमाने में वृन्दावन से मथुरा तक ताँगे या इक्के में यात्रा होती थी। किशोरीरमण कालेज रेलवे स्टेशन से दूर भी था कभी ताँगा नहीं मिलता तो ललिताचरणजी इक्के में बैठ लिया करते। मेहनती और अध्ययनशील तो प्रारम्भ से ही थे। मथुरा से लौट कर अपनी दैनिकचर्या भी पूरी करते। उनके पिताश्री उन्हें अकेला छोड़कर अहमदाबाद में रहने लगे थे जहाँ उनका एक मन्दिर था।

किशोरी रमण कालेज, मथुरा से इण्टर परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने के पश्चात् आगे पढ़ने की समस्या सामने आई। डिग्री कालेज आगरा, अलीगढ़ या कानपुर में थे। कानपुर में गोस्वामी जी के शिष्य थे जिनसे आवास आदि की कुछ सुविधा सम्भव थी अतः सनातन धर्म कालेज में बी० ए० की कक्षा में ललिताचरणजी ने प्रवेश ले लिया।

कालेज में प्रवेश ले तो लिया परन्तु वहाँ का जीवन भी सरल नहीं था। गोस्वामी होने के कारण कठिनाइयाँ और भी बढ़ गई थीं। सामान्य व्यक्ति होते तो छात्रावास में या और कहीं भी रह लेते, मेस में बना-बनाया भोजन कर लेते। कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु ललिताचरणजी सबके हाथ का बनाया खा नहीं सकते थे विशेषकर कच्चा भोजन अर्थात् दाल, रोटी, खीर, चावल आदि जिसे वैष्णव सम्प्रदायों में "सखरा" कहते हैं। सखरे भोजन में स्पर्श दोष का पूरा विधान है। 'निखरा' यानी पकवान पूड़ी, कचौड़ी या खोये की मिठाइयाँ किसी के भी हाथ की बनी खाई जा सकती हैं। शर्त यह है कि वह सवर्ण जाति का हो। किन्तु नित्य दोनों समय निखरा भोजन तो चल नहीं सकता। विशेष कर पढ़ने वालों या दिमागी कार्य करने वालों का पेट वैसे ही कमजोर हो जाता है और हाजमा खराब। तो बेचारे ललिताचरणजी को अपना भोजन स्वयं बनाना पड़ता। अध्ययन के लिए भी समय निकालना पड़ता। यहाँ उनका संयम और नियमित जीवनचर्या का अभ्यास काम आया अतः कठिनाइयाँ होते हुए भी कुछ अधिक नहीं मालूम पड़ीं।

श्रीललिताचरणजी का कालेज जीवन भी बड़ा सीधा सादा था। व्यर्थ की तड़क-भड़क और फैशन से वे दूर ही रहे। उनके विचार ऊँचे थे और जीवन सादा। वे हमेशा धोती पहनकर कालेज जाते थे। जाड़ों में खुले गले का कोट पहन लिया करते थे। उनके हिन्दी के प्रोफेसर पण्डित अयोध्यानाथ शर्मा ने, जो अब लगभग ६५ वर्ष के हैं, बताया कि हमेशा धोती पहनकर कक्षा में आने के कारण उन्हें अब तक ललिताचरण जी का स्मरण है।

कानपुर के विद्यार्थी जीवन में ललिताचरण जी की साहित्यिक अभिरुचियों में वृद्धि होती गई थी। श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय अपने अतुल वाणी-साहित्य के लिए तो

विख्यात हैं ही। घर में वाणियों का पाठ, मनन और अध्ययन होते रहने के कारण उनके हृदय में साहित्य प्रेम का जो बीज था वह बाहर की विशाल भूमि और अनुकूल जलवायु पाकर और भी पल्लवित पुष्पित हो चला। उस समय हिन्दी साहित्य में प्रसाद-प्रेमचन्द युग था। प्रसाद, पन्त, निराला की छायावादी कविताओं, जय शंकर-प्रसाद के नाटकों और प्रेमचन्दजी के उपन्यास-कहानियों की धूम थी। कानपुर में भी कई अच्छे लेखक और कवि थे जिनकी रचनाएँ समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। इस वातावरण का युवा ललिताचरणजी पर अनुकूल प्रभाव पड़ा और उन्होंने साहित्य सेवा को भी अपने जीवन का एक लक्ष्य बनाने का विचार किया।

वैसे श्रीललिताचरणजी के साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश काफी पहले हो चुका था। अठारह वर्ष की आयु में उन्होंने अपनी नाट्यकृति 'यवनोद्धार नाटिका' की रचना करली थी। यह हितमहाप्रभु के प्रेम सिद्धान्त पर आधारित एक नाटिका है, जो हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक सौहार्द की भावना का पोषण करती है। उस युग में हिन्दू-मुस्लिम एक्य का विचार आजकल जैसी प्रमुखता प्राप्त नहीं कर पाया था। अतः इसे गोस्वामी ललिताचरणजी की दूर दृष्टि की सृष्टि ही समझना चाहिए। यह नाटिका केवल कक्ष-नाटक ही नहीं रही अपितु रंगमंच पर इसका प्रदर्शन भी किया गया। लेखन के कुछ काल पश्चात् ही इसके अभिनय की योजना बन गई। जोर शोर से तैयारी और रिहर्सल होने लगे। सब से बड़ी समस्या सामने आई नारी पात्रों के अभिनय की उस समय शौकिया नाटकों में स्त्रियाँ अभिनय करती ही नहीं थीं। फिर वृन्दावन तो इस दृष्टि से और भी रूढ़िवादी था। यहाँ की स्त्रियों तो रात में नाटक आदि देखने जाती ही नहीं थीं। जो जाती भी थीं वे लम्बे-लम्बे घूँघट काढ़ कर। पुरुष ही स्त्री का अभिनय करते थे।

गोस्वामी ललिताचरणजी सुन्दर तो थे ही। साथियों ने आग्रह किया तो आपने नाटिका में गंगाबाई की भूमिका स्वीकार करली और अभ्यास में जुट गए। नाटक के प्रमुख प्रदर्शन की सन्ध्या को एक नई कठिनाई आ गयी। गोस्वामी गोवर्धनलालजी नाटिका में एक पुरुष की भूमिका निभा रहे थे। किसी कारण वश वे नाराज हो गए और ऐन वक्त पर गायब। एक बड़ी समस्या आ खड़ी हुई। सोच विचार कर साथियों ने ललिताचरणजी से कहा कि आप इस नाटिका के लेखक हैं और प्रतिदिन का अभ्यास भी आपने देखा है। आपको नाटक के सारे सम्वाद-स्मरण हैं ही इसलिए गोवर्धनलाल-जी वाली भूमिका आपही अभिनीत कर सकते हैं आखिर आपको राजी होना पड़ा और इस नाटक प्रदर्शन में एक साथ दो पार्ट खेलने पड़े गंगाबाई का और दूसरा एक पुरुष का, नाटक बड़ा सफल रहा और केवल सम्प्रदाय के ही नहीं समस्त वैष्णवों, भक्तों और सहृदय दर्शकों ने हृदय से उसकी सराहना की। कुछ पुरस्कार भी प्राप्त हुए।

बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् ललिताचरणजी ने अध्ययन जारी रखा और उसी महाविद्यालय की विधि कक्षा में नामांकन करा लिया। अध्ययन-शील और मेहनती तो थे ही। रात के बारह-बारह बजे तक अध्ययन एवं लेखन करते रहते थे। फलतः सन् १९३१ में आपने विधि की परीक्षा में अच्छी सफलता प्राप्त कर एल-एल० बी० की उपाधि अर्जित कर ली।

कर्मक्षेत्रे-धर्मक्षेत्रे—

विधि (ला०) की शिक्षा आपने पिता श्री के आग्रह से प्राप्त की पर स्वभावगत न होने के कारण ही केवल दो मास में उन्होंने वकालत छोड़ दी। अब उनकी भावी कर्मक्षेत्र की ओर दृष्टि गई।

सन् १९२७ में श्रीललिताचरणजी का विवाह जलेसर निवासी श्रीज्वालाप्रसाद शर्मा की पुत्री श्रीप्रभारानी से हो चुका था। श्रीज्वालाप्रसादजी न्यायाधीश थे और जलेसर में उनकी जायदादें थीं। प्रभारानी उनकी अकेली पुत्री थी। पुत्र दो थे। श्री-ज्वाला प्रसादजी ने वसीयत में अपने बेटी-दामाद को जलेसर की पाँच दूकानें लिखी थीं किन्तु श्रीललिताचरणजी ने उन्हें स्वीकार नहीं किया।

श्रीललिताचरणजी ने अपने पैतृक परम्परागत कार्य की ओर ध्यान दिया, अपने चारों तरफ के वैष्णवों को सम्भालना शुरू किया और शिष्य-सेवकों में धर्म प्रचार हेतु भ्रमण प्रारम्भ कर दिया। उनका रूप तो सुन्दर था ही। मँझोले कद का भरा हुआ शरीर, उज्ज्वल गौर, वर्ण, लम्बी शुक नासिका दीर्घायत भाव भीने नयन और गुलाबी अधरोष्ठ वाणी बड़ी मधुर तथा प्रभावशाली। प्रगाढ़ अध्ययन की गरिमा से युक्त गौरवमय गम्भीर मुख मण्डल। प्रथम दर्शन में ही दर्शक पर सीधा प्रभाव पड़ता। रही सही कसर वाणी और प्रवचन से पूरी हो जाती। गोस्वामीजनों के तौर तरीकों के अनुसार चार-पाँच सेवक, जल की डोलची आदि के साथसदा साथ रहते। जो देखता औरसुनता वही अभिभूत हो जाता। गुजरात, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र आदि की उन्होंने खूब यात्राएँ कीं और प्रवचन किये। कई राजे-रजवाड़े पहले से ही शिष्य थे। कुछ नये और बने। पाटणी, पालीताना, खम्भात और जहाँ-जहाँ भी वे गये राजा और प्रजा ने उनका धूमधाम से स्वागत-अभिनन्दन किया। ग्वालियर एवं मध्यप्रदेश में अपने पिता-श्री के साथ उन्होंने दूर-दूर तक यात्राएँ कीं और धर्मोपदेश दिये उनके प्रचार एवं पथ-प्रदर्शन से श्रीराधावल्लभीय वैष्णव समाज में एक नवीन चेतना एवं नूतन स्फूर्ति का संचार हो गया जिससे उनके पिताजी को परम प्रसन्नता हुई।

श्रीललिताचरणजी की एकमात्र सन्तान उनकी पुत्री है, सन् १९४० से गोस्वामी जी स्थायी रूप से वृन्दावनवास करने लग गये। कुछ काल पश्चात् गोस्वामी बसन्तलाल जी रोगग्रस्त हो गये। उनकी सेवा-सुश्रूषा का सारा भार ललिताचरणजी ने स्वयं सँभाल लिया उनको औषधि देना, स्नान, भोजन कराना, वस्त्रादि धोना प्रभृति कार्य वे परम प्रेम एवं प्रसन्नता से करते। पिताश्री के आदेशानुसार उन्होंने राधाकुण्ड में श्रीराधा-वल्लभ के मन्दिर का निर्माण कराया और उनकी सेवा की नियमित व्यवस्था की। वृन्दावन में भी श्रीराधावल्लभलालजी की समुचित सेवा का उपक्रम आरम्भ कर दिया। इन बातों से पिताश्री को परम प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि हुई। कुछ दिनों बाद उनका नित्यनिकुंजवास हो गया। उनका निकुंजोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया।

गोस्वामी ललिताचरणजी अब अपना सम्पूर्ण अवधान श्रीराधावल्लभलाल की सेवा और भक्तों के मार्ग-दर्शन को समर्पित कर दिया। श्री जी की सेवा वे स्वयं अपने शरीर से करते। इसमें श्रीहित महाप्रभु उनके आदर्श थे। अपने आँगन में फूलों के पौधे लगाकर उन्हें अपने हाथों से जलभर कर सींचते और पुष्प श्री जी की सेवा में समर्पित करते। ग्रीष्म ऋतु में श्रीराधावल्लभलाल के निज मन्दिर के फुहारे के हौज वे स्वयं भरते। कुएँ से खींचकर लगभग ३०-३५ घड़े जल-सेवा कर अपने कन्धों पर रखकर टंकी में डालते। गर्मी के मारे पसीने से लथपथ हो जाते, मुख और कन्धे लाल हो जाते, हँफ-हँफी चलने लगती पर क्या मजाल कि एक घड़ा भी किसी दूसरे को डालने दें। यह सेवा बहुत वर्षों तक चलती रही। बाद में हर्निया व वृद्धावस्था के सेवा कारण अशक्त होने पर मजबूरी में छोड़नी पड़ी।

इस बीच साहित्य-सेवा भी खूब की। उस समय हिन्दी में हंस,विशालभारत आदि श्रेष्ठ मासिक पत्रों में गिने जाते थे। इन सब में श्रीललिताचरण जी के एकांकी, कविताएँ, कहानियाँ आदि प्रकाशित होती रहतीं। नाटक-लेखन में उनकी विशेष रुचि थी और सिद्ध हस्तता प्राप्त थी बाद में वे अधिक अन्तर्मुखी हो गये। भजन, चिन्तन में ही सारा समय लगाने लगे। लेख, कविताएँ आदि भी धार्मिक विषयों पर ही लिखने लगे। लेखन का क्षेत्र विशिष्ट किन्तु सीमित हो गया। हिन्दी में अच्छे नाटकों एवं एकांकियों का अभाव प्रारम्भ से ही रहा है, विशेष कर अभिनेय नाटक तो बहुत ही कम हैं। गोस्वामीजी के क्षेत्र-परिवर्तन से हिन्दी नाट्य साहित्य की कितनी क्षति हुई है इसका मूल्यांकन सम्भव नहीं है।

श्रीललिताचरणजी के ललित आचरण के प्रभाव से उनके शिष्यों और श्रद्धालुओं की संख्या दिनदूनी रात चौगुनी बढ़ती चली गई। उनके सामने आकर उनके पास बैठकर नरनारी एक अनिर्वचनीय आनन्द, शीतलता एवं शान्ति का अनुभव करते। सब लोग श्रद्धा से उन्हें जै-जै महाराज कहकर पुकारने लगे। जै-जै महाराज के शिष्यों में बड़े-बड़े सेठ साहूकारों से लेकर किसान मजदूर आदि सामान्यजन और परम पण्डितों से लेकर निरक्षर भट्टाचार्य तक सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष थे। सभी यही समझते कि जै-जै महाराज जितने उसके निकट हैं उतने अन्य किसी के नहीं। श्रद्धालुओं की श्रद्धाञ्जलियों तथा संस्मरणों से यह तथ्य स्वतः स्पष्ट है। उनमें किसी प्रकार की बनावट नहीं।

जै-जै की मित्र-मण्डली में कुछ लोग ही थे। आचार्य हितानन्दजी गोस्वामी उनके बचपन के मित्र थे। इसी प्रकार छोटी सरकार के आचार्य श्रीव्रजजीवन गोस्वामी और जगजीवन गोस्वामी, जिन्हें वे कृपानाथ और बादशाह कहकर सम्बोधित करते थे। सायंकाल छोटी सरकार के समाज गायन में जाने का उनका नित्य नियम था। एकबार बाढ़ आने पर छोटी और बड़ी सरकारों में यमुना-जल भर गया। सब लोग घिर गये। भोजन सामग्री का अभाव हो गया तो सेवा-परायण जै-जै महाराज

नाव में लड्डू भरकर दोनों सरकारों में पहुँचे और वहाँ फँसे लोगों की क्षुधा का निवारण किया। श्रीरामकृष्णदेव गर्ग, जो संस्कृत के परम विद्वान् और हिन्दी के विख्यात कहानी-लेखक थे, जै-जै के अन्तरंग मित्र थे। वृन्दावन के सुप्रसिद्ध समाज-सेवी, प्रधानाचार्य बाद में विधायक श्रीकन्हैयालाल गुप्त भी आपके मित्रों में एक हैं।

सन् १९५८ में जै-जै महाराज ने अमृतसर के एक कुलीन वैष्णव परिवार में लाली सुधा का विवाह कर दिया। अमृतसर में उनके कई सुयोग्य श्रद्धालु शिष्य थे तो अपनी सोचा गया कि अपनी लालीजीको लिवाने न जाना पड़ेगा। जै-जै को अपनी गृहस्थी से कोई लगाव नहीं था। जब लाली के कन्यादान का मुहूर्त्त आया तो जै-जै महाराज घर में नहीं थे। खोज मची तो मालूम हुआ कि वे श्रीराधावल्लभलाल के व्याहुले में मगन थे जो लालीजी के विवाह के उपलक्ष्य में कराया गया था। जैसेतैसे उन्हें घर लिवा कर लाया गया और कन्यादान की रस्म पूरी की गई। जै-जै को श्री जी के व्याहुले का बड़ा चाव रहता था। कभी स्वयं तो कभी अपने शिष्यों से प्रायः व्याहुले कराया करते थे। इसी प्रकार हितोत्सव और राधाष्टमी को चावों की भी बड़ी उमंग रहती थी। स्वयं तो जाते ही थे, वे अन्य गोस्वामिगणों तथा शिष्य-शिष्याओं को प्रेरित करके चाव की शोभा-यात्रा में ले जाते। नाचगान और कीर्तन के लिए सभी को खूब प्रोत्साहित करते।

मन्दिर में श्रीराधावल्लभलालजी की सेवा की सुचारु व्यवस्था के साथ-साथ जै-जै ने साधु सन्तों, निर्धन निराश्रित नर-नारियों और सुपात्र छात्र-छात्राओं की सहायता हेतु कोष स्थापित कराये, जिनसे सहस्त्रों व्यक्ति लाभान्वित हुए। गौ-सेवा में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। वे अपने घर में सदा गौ रखते थे और अपने हाथों से उसकी सेवा करते थे। पक्षियों से भी उन्हें अत्यन्त प्रेम था। अपने हाथों से उन्हें चुगा डालते और भाँति-भाँति के पंछी जब चुगने आते तो उनकी क्रीड़ाएँ देखकर परम प्रसन्न होते। ग्रीष्म में उनके लिए जल की व्यवस्था करते।

७ जून, सन् १९७० रविवार को पूज्य जै-जै की सहधर्मचारिणी का देहावसान हो गया। इसका उन्हें भीतरी आघात पहुँचा। प्रकट रूप में तो कुछ मालूम नहीं होने दिया। यहाँ तक कि लालीजी को भी अमृतसर से नहीं बुलवाया, इस भय से कि वे यह आघात सह न सकेंगी और घबरा जायेंगी। पर अन्तस उनका भी क्षति विक्षत हो गया। कभी-कभी पछताकर कहते कि मैं अपने भजन-भाव में ही डूबा रहा, उनकी ओर समुचित ध्यान नहीं दे पाया।

अब ललित विनोद कछु कहौं—

वैसे जै-जै स्वभाव के अत्यन्त गम्भीर थे किन्तु कभी-कभी मधुर विनोद करने में नहीं चूकते थे। एकबार उनके दर्शनार्थ आई एक बाई ने कहा महाराज जी आज मन्दिर में दो साधु आपस में लड़ रहे थे। तो जै-जै महाराज ने मुस्कराकर कहा। बाई वहाँ कुछ अच्छा भी तो हो रहा होगा। तुम तो केवल कूड़ा ही बटोर कर लाई हो।

वे अपना मजाक स्वयं बना लेते थे। आचार्य श्रीव्रजजीवन गोस्वामी ने बताया कि वे अँग्रजी में अपने छोटे नाम एल० सी० गोस्वामी का अर्थ 'आलसी गोस्वामी' करते थे और कहते थे कि मैं तो नाम से ही आलसी हूँ उनका विनोदभाव व्यावहारिकता से मिलकर बड़ा अद्‌भुत हो जाता था। गार्ड साहब श्रीबालकृष्ण पाण्डेय जं-जं के सत्संग और वृन्दावन के आनन्द को छोड़कर अपनी डियूटी पर जाने में बड़ी विकलता का अनुभव कर रहे थे। पूज्य जै-जै ने उनकी वेदना को भाँप कर तुरन्त एक दोहा रचकर उन्हें सुनाया—

श्री वृन्दावननाथ की आज्ञा के आधीन।
बज्यौ नगाड़ौ कूँच कौ घोड़ा कसि दई जीन॥

और कहा "पाण्डेयजी अब जाओ" तब से यह दोहा पाण्डेयजी के प्रस्थान का सिद्ध मन्त्र ही बन गया। श्रीकुंजविहारी खेमका एकबार बड़ी लालसा से श्रीराधावल्लभलाल के दर्शन को वृन्दावन आये किन्तु शयन हो जाने के कारण उन्हें दर्शन नहीं मिले। खिन्न मन से वे जं-जं के समक्ष पहुँचे और अपनी व्यथा बताई। जं-जं ने तुरन्त मुस्कराकर पूछा "तो तुम्हें हमसे मिलने से प्रसन्नता नहीं हुई क्या?" वे स्वयं को श्रीव्यासनन्दन का "गलपरा" कहते थे और अपने आत्मीयजनों को यही उपाय बताते थे कि व्यासनन्दन के गले पड़ जाओ तभी फायदे में रहोगे। वे अपने शिष्यों को भी श्रीव्यासनन्दन को सँभाल देते थे।

व्यासनन्द के गल परा सोवत पाँव पसार।
उनकी तनक सँभार में इनकी मौज अपार॥

जं-जं में भजननिष्ठा और अनन्यता के साथ-साथ व्यावहारिकता का मणि-कांचन संयोग था। वे शिष्यों के सच्चे पथप्रदर्शक बनकर अवतरित हुए थे। भजन-मार्ग में आई हुई छोटी से छोटी बाधा या समस्या को सुलझाने में सभी की सहायता करते और ऐसा व्यावहारिक उपाय बताते जिससे न तो किसी को ग्लानि का अनुभव हो, न किसी प्रकार की कुण्ठा का। केवल लकीर के फकीर बने रहने का उपदेश कभी नहीं देते थे। मनोवैज्ञानिकता, एवं देशकाल की अनुकूलता तथा अनुरूपता के परिप्रेक्ष्य में ही समुचित सरणि को समायोजन करते थे "प्रीतिनीति परमारथ स्वारथ" का बड़ा सूक्ष्म किन्तु हृदयावर्जक समन्वय उनके सदुपदेशों में रहता।

जरूरतमन्दों के लिए सभी कुछ देने की भावना रखने वाले इस महामानव का अपना परिग्रह अत्यन्त अल्प था। कहना चाहिए कुछ भी नहीं। भक्त लोग बहुत पीछे पड़ते तो अपने लिए कोई सुविधा स्वीकार करते जैसे बैठने में ज्यादा कष्ट होने लगा तो मोटी गद्दी, पखा या कूलर आदि। दो धोतियाँ और दो बगलवन्दियाँ-पोशाकों में, बस यही उनकी पूँजी थी। दो-एक दुपट्टे और जाड़ों में एक शाल। श्रीश्रवणकुमार खेमका ने एक वेश कीमती छाता गुरुचरणों में अर्पित किया। दूसरे-तीसरे दिन देखा तो गायब वह किसी अन्य अभिलाषी को समर्पित कर दिया गया था।

जै-जै की गुणावली अपरिमित हैं, अकथनीय है। किस किसका उल्लेख किया जाय। विनम्रता,-मृदुभाषिता, सरलता, शिशु प्रेम, परोपकार परायणता, सेवा भावना, अनन्यता, अपरिग्रह, निर्भयता, प्रगतिशीलता, कष्ट सहिष्णुता, शीला, संकोच आदि-आदि। भक्तों के संस्मरण में इनकी बहुत कुछ अभिव्यक्ति हुई है फिर भी बहुत कुछ शेष है।

७० साल की आयु में जै-जै महाराज के नेत्रों में काले मोतियाँ बिन्द का प्रकोप प्रारम्भ हो गया। फिर भी पढ़ाई-लिखाई और सामान्य काम काज चलता रहा। ८२ वर्ष की उमर में आँखों से दिखाई देना कम हो गया फिर भी अभ्यासवश दूसरों से पुस्तकें पढ़वाकर सुनते। समाचारों का श्रवण भी करते थे।

ज्यौं की त्यौं धरि दीनी चदरिया—

फागुन कृष्णा सप्तमी, सम्वत् २०४८ वि० सोमवार, भक्तमाल जयन्ती तदनुसार दिनांक २४ फरवरी, १९९२ का प्रभात था। श्रीराधावल्लभलाल की मंगला आरती हो चुकी थी। नित्य कर्म से निवृत्त होकर अपने नित्य नियमानुसार जै-जै महाराज भक्तों को दर्शन और सम्वाद सुख देने हेतु अपनी बैठक में आकर विराजमान होने वाले थे कि अचानक मूर्च्छा ने आ घेरा। वहाँ उपस्थित भक्त, सेवक, सम्बन्धीजन जब तक दौड़ें तब तक तो श्री श्यामा-श्याम की यह सहचरी अपने पार्थिव 'ललिता' वपु को छोड़कर नित्य निकुञ्ज में प्रविष्ट हो चुकी थी।

चुन-चुन फुलवा लगाई बड़ी रास।
रह गए फुलवा उड़ गई बास॥

यह समाचार दावानल की भाँति आनन फानन में सारे वृन्दावन में फैल गया। झुण्ड के झुण्ड लोग जै-जै के अन्तिम दर्शनों के लिए यमुना पुलिन में आने लगे। बैठक के सामने बड़े बरामदे में गद्दे पर श्वेत वस्त्र और शान्त मुख मुद्रा में लेटे जै-जै ऐसे प्रतीत हो रहे थे जैसे उनके अर्ध निमीलित नयन किसी अलौकिक छवि की सौन्दर्य-सुधा की खुमारी में डूबे हों और अधर पर मन्द मुस्कान थिरक आई हो। भक्तों श्रद्धालुओं द्वारा समर्पित राशि-राशि गुलाबों का सौरभ, अगरबत्तियों की भीनी सुगन्ध, राधे-राधे-श्रीहरिवंश नामों की मधुर ध्वनि के साथ चँवरों का दोलन एक अद्भुत वातावरण की सृष्टि कर रहा था, जिसमें नयन, नासिका, श्रवण आदि समस्त ज्ञानेन्द्रियों की तृप्ति के संसाधन थे।

'यमुना पुलिन' के द्वार को वन्दनवारों और कदली स्तम्भों से सुसज्जित कर दिया गया। अन्तिम यात्रा के लिए गोटा, किरन और पाटलपुष्पों से विमान बनाया जा रहा था। अपराह्न तीन बजे बैण्ड की मधुर ध्वनि में "जै-जै राधावल्लभ श्रीहरिवंश" के समवेत संकीर्तन के साथ महायात्रा प्रारम्भ हुई। सबसे अद्भुत अपूर्व बात यह थी कि विमान के आगे-आगे सम्पूर्ण यात्रा पथ पर प्रसूनों की पंखुड़ियाँ बिछा दी गई थी।

लालगुलाल और गुलाब पँखुड़ियों से वृन्दावन के मार्ग और गलियाँ लाल हो गईं। नगर निवासियों से ऐसा दृश्य पहले कभी नहीं देखा था। श्रीराधावल्लभ मन्दिर की परिक्रमा करके सेवाकुंज के सामने होती हुई महायात्रा श्रीहितमहाप्रभु के डोल पर पहुँची और वहाँ विश्राम करके प्रमुख बाजारों से होकर वंशीवट के यमुना-तट पर।

सायंकाल सूर्यास्त के समय चन्दन की लकड़ियों और नारियल से निर्मित चिता में अग्निप्रज्वलित करदी गई। सहस्त्रों श्रद्धालु भक्तों के जय-जय कार, अश्रुपात और सुबकियों के मध्य अग्नि को उर्ध्वगामिनी लपटें उस प्रकाशपुंज की प्रच्छन्न ज्योति को प्रत्यक्ष करती हुई उतरते हुए अन्धकार को पीछे ढकेलने का प्रयास कर रही थी। वासांसि जीर्णानि की भाँति भौतिक शरीर की सीमा और चन्दनचिता की परिधि को पारकर वह दिव्य ज्योति भावुक भक्तों के नयनों, मनों तथा जीवनों में सदा-सदा के लिए समा गई।

श्रद्धेय जै-जै ने अपनी एक रचना में लिखा है—"भक्ति एक स्फुलिंग है, एक चिनगारी है, एक स्पार्क है। यह चिनगारी परात्पर प्रीति का एक कण है। भक्ति मार्ग में कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं जो जन्म से ही इस चिनगारी को लेकर आते हैं और यदि ऐसे लोगों को अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होती जाती हैं तो उनका प्रीति का यह कण एक महाज्वाला के रूप में परिवर्तित होकर इस भवसागर को दग्ध कर देता है और वे सरलता से इसे पार कर जाते हैं।" जै-जै ने न जाने कितने लोगों की इस चिनगारी को अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान कर महाज्वाला के रूप में परिणत कर दिया। यही सच्चे गुरु का कार्य है। स्वामी श्रीललितकिशोरीदेवजी ने कहा है -

गुरु सोई जो विपिन बसावै। गुरु सोई जो साधु सेवा मैं।
गुरु सोई जो हरिहि मिलावै। या करनी बिनु गुरु न कहावैना।

और सच्चा शिष्य कौन है? सुनिए—

सिष्य सोई जो आज्ञा पारैं। गुरु के वचन हिये में धारैं।
तन मन धन सब गुरु को मानैं। गुरु बिन और कछू नहिं जानैं॥
गुरु ही के सुख में नित रहै। गुरु बिन हरिहू को नहिं चहै।
ताको हरि गुरु नाहिं बिसारैं। ऐसो सिष्य जगत को तारैं॥
ऐसो गुरु ऐसो सिष्य होई। प्रेम पदारथ पावै सोई।
यह रसरीति रसिकवर गाई। ललितकिसोरी के मन भाई॥

परोपकराय सतां विभूतयः—

सामाजिक क्षेत्र में भी पूज्य जै-जै का कृतित्व किसी प्रकार कम नहीं रहा। उसका कुछ विवरण बताया जाय तो—

१—सर्व प्रथम श्री जै-जै ने अपनी युवावस्था में श्रीराधाबल्लभ लाल जी के उत्तमोत्तम भोग-राग और वर्षोत्सवों की सेवा के सम्पादन की व्यवस्था को सुनिश्चित करने

गोस्वामी श्रीहितहरिवंश महाप्रभु की बैठक तथा रास-मण्डल, राधाकुण्ड
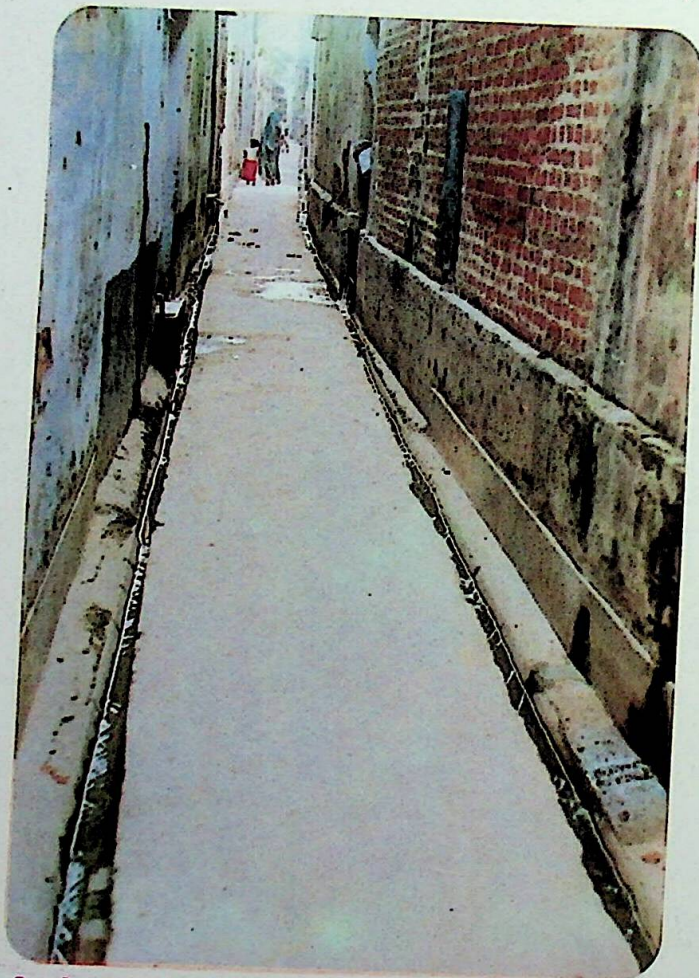
महाराजश्री की प्रेरणा से निर्मित श्रीवृन्दावनस्थ कुंजगली, दानगली एवं मानगली की सीमेन्ट सड़क

के लिए एक कुशल प्रबन्धकारिणी समिति 'रास-वंश वैष्णव कमेटी" का गठन करके उसे पंजीकृत कराया।

२—इसी क्रम में श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय-साहित्य के प्रचार प्रसार हेतु 'वेणु प्रकाशन' नामक एक न्यास (ट्रस्ट) की स्थापना की।

३—अभावग्रस्तजनों की सेवा हेतु प्रतिमास अन्न, वस्त्र, औषधि आदि के निशुल्क वितरण की व्यवस्था की।

४—वृन्दावनवास के इच्छुक अकिंचनजनों की आर्थिक सहायता के लिए प्रतिमास-दान कोश की स्थापना की।

५—शतशः-सुपात्र विद्यार्थियों के विद्याध्ययन में सहायता हेतु शिक्षाशुल्क अथवा छात्रवृत्तियाँ प्रदान कीं।

६—प्रतिवर्ष शीत ऋतु में निर्धनजनों को वस्त्र, रजाई, कम्बल आदि देने के लिए धर्मादा कोश तथा न्यास स्थापित किये।

७—श्रीहितहरिवंश महाप्रभु के जन्म स्थान बादग्राम में जन्म स्थल के चारों ओर लम्बी चौड़ी सुदृढ़ प्राचीरों का निर्माण कराया।

८—वहीं लोक हितार्थ एक चिकित्सालय की स्थापना कराई, जिसमें डाक्टर कम्पाउन्डर तथा औषधियाँ सदैव उपलब्ध रहती हैं। जनता के उपयोग के लिए पानी की बड़ी पक्की टंकी बनवाई और नल लगवाये।

९—श्रीहितमहाप्रभु के पैतृक स्थान देवबन सहारनपुर में उनके सेव्य श्री नवरंगीलाल के मन्दिर का नवनिर्माण कराकर उनकी दैनिक सेवा के सुप्रबन्ध हेतु एक कमेटी का गठन किया। यही कमेटी मन्दिर की सारी व्यवस्था कर रही है।

१०—श्रीराधाकुण्ड में श्रीहितहरिवंश महाप्रभु की बैठक में मन्दिर और धर्मशाला का निर्माण तथा श्रीजी की सेवा की व्यवस्था कराई। वहाँ प्रतिदिन एक घण्टे श्री-हरिवंश नामध्वनि का प्रबन्ध कराया।

११—वृन्दावन में श्रीराधावल्लभलाल के मन्दिर के मार्गों, सेवाकुंज की दानगली, मानगली एवं निकुञ्जगली की सीमेंट सड़कें बनवाईं।

उक्त समग्र कार्यों के सुचारु सम्पादन हेतु जै-जै के भक्त परिकरों ने विविध ट्रस्ट बना रखे हैं।

पूज्य जै-जै ने विपुल साहित्य की रचना भी की है, जिसका सम्पूर्ण विवरण इस ग्रन्थ में आगे 'आचार्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी की साहित्य सर्जना" शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है।

रूस के विश्व विख्यात कथाकार मैक्सिम गोर्की ने लिखा है "मनुष्यत्व ही कृतित्व है, कृतित्व ही, व्यक्तित्व है, कृतित्व, व्यक्तित्व, मनुष्यत्व की गहन साझेदारी ही सर्जक की सार्थक परिभाषा है। इस कसौटी पर परखें तो पूज्य श्री जै-जै महाराज इन तीनों की गंगा-यमुना-सरस्वती की पावन त्रिवेणी थे। चलते-फिरते तीर्थराज—"जिमि जगजंगम तीरथराजू" और थे सच्चे स्रष्टा। □

एक अन्तरङ्ग सम्वाद, श्रद्धेय के सम्बन्ध में

—प्रो० गोविन्द शर्मा

पूज्य श्रीललिताचरणजी गोस्वामी को मैं अपनी किशोरावस्था से जानता था। मेरे लेखन गुरु, हिन्दी अध्यापक तथा सुविख्यात कहानीकार श्रीरामकृष्ण देव गर्ग के वे अभिन्न मित्र थे। श्रीगर्गजी के बड़े सुपुत्र कृष्णकान्तदेव गर्ग मेरे लंगोटिया यार रहे हैं। वे पूज्य गोस्वामीजी को चाचाजी कहकर पुकारते थे तो मैं भी चाचाजी कहने लगा। चाचाजी की बैठक के सामने वाली कोठरी में उस समय के भारत विख्यात ज्योतिषी पं० अयोध्याप्रसाद शर्मा रहा करते थे। मैं उनके पास ज्योतिष पढ़ने आया करता था। श्रद्धेय चाचाजी, गोस्वामी गोपाललालजी और लाली सुधारानी सभी के अनेक स्मृतिचित्र अब भी मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित हैं।

पूज्य चाचाजी के नित्य निकुञ्जवास के कुछ दिन बाद मैंने लालीजी से अनुरोध किया कि वे इस स्मृति-ग्रन्थ के लिए कुछ लिखें। किन्तु पितृवियोग के कारण उनकी मानसिक स्थिति ऐसी थी कि चाहकर भी कुछ न लिख पाईं। इस प्रसंग में आज भी उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। इतने बड़े विशालकाय स्मृतिग्रन्थ में लालीजी का कोई लेखन-योग न हो, यह बात मुझे अच्छी नहीं लग रही थी। तब एक दिन फुरसत के समय उनसे कुछ अनौपचारिक बातचीत हुई, जिसके नोट्स निम्न-लिखित हैं—

गोविन्द—आपको अपने बचपन और पिताजी की क्या-क्या बातें याद हैं ?

लालीजी—भैयाजी ! ११-१२ साल की उम्र से पहले का कुछ भी स्मरण नहीं। पिताजी ज्यादातर पूजापाठ में ही रहते थे इसलिए हमसे अधिक बातें नहीं करते थे। जब मुझे घबराई हुई देखते थे तभी पुचकार कर प्यार दुलार करते। उनके व्याह के १० बरस बाद मेरा जन्म हुआ था।

गोविन्द—आपका जन्म कब और कहाँ हुआ ?

लालीजी—मेरा जन्म सन् १६३६ में अहमदाबाद में हुआ था। वहाँ हमारे दादाजी का श्रीराधावल्लभलाल का एक मन्दिर है। मैं माताजी के साथ वहीं
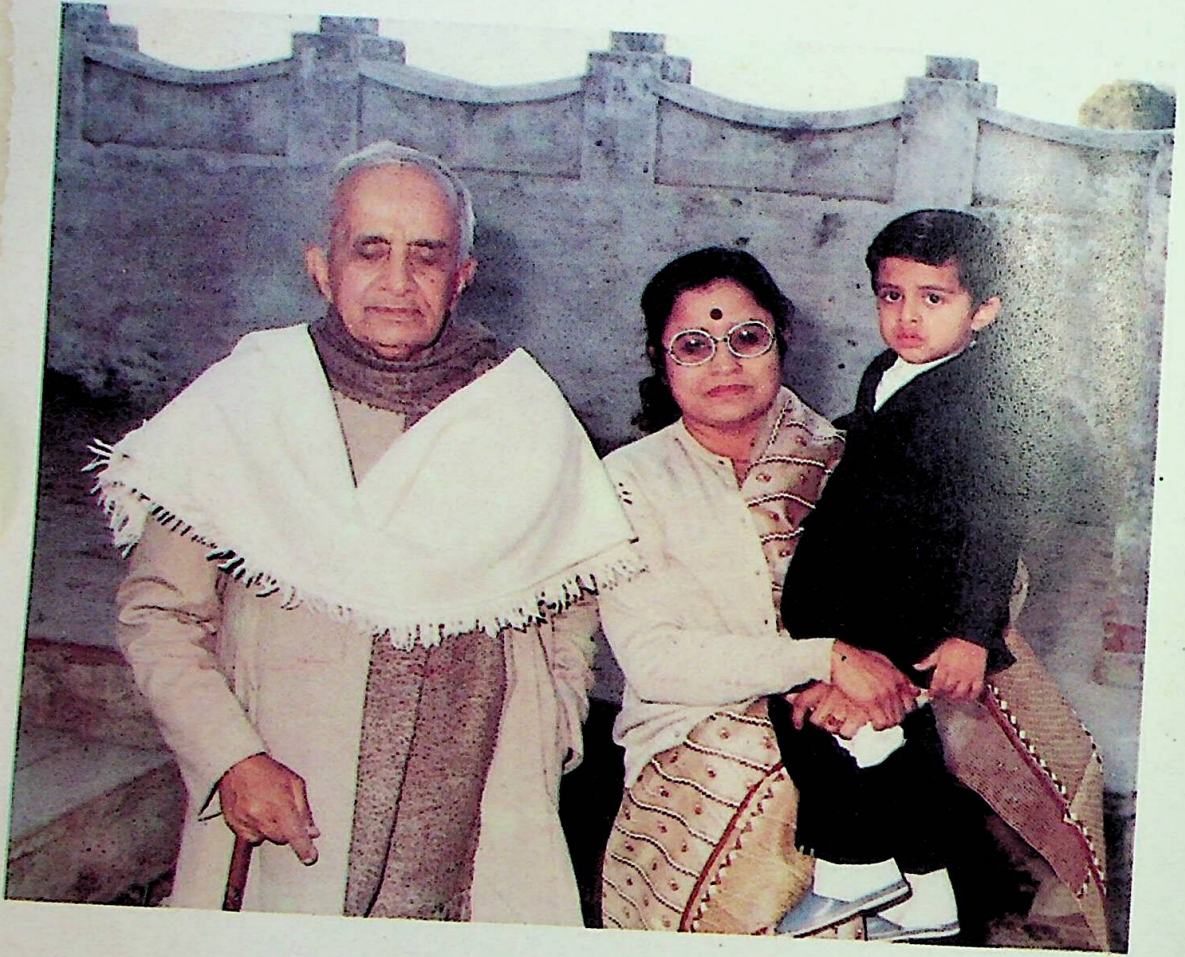
गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज तथा सुपुत्री श्री सुधारानी अपने सुपुत्र चि० मयंक के साथ

रहती थी। जब दादाजी का निकुँजवास हुआ तब उनके निकुँजोत्सव में हम दोनों वृन्दावन आये और यहीं रह गये। उस समय मैं चार वर्ष की थी।

गोविन्द – माता-पिता में किससे आपका अधिक लगाव था ?

लालीजी– माताजी की अपेक्षा पिताजी से मुझे विशेष प्रेम रहा। वे जब भजन-पूजा में बैठते तो बहुत आकर्षक लगते। शायद इसी कारण। गृहस्थी के काम काज में व्यस्त माँ कभी-कभी डाँट देती थीं तो मैं रो-रोकर पिताजी को पुकारती। जैसे और बच्चे "अरी मया, ओ माँ" कहकर रोते चिल्लाते हैं मैं "हाय ताऊजी, हाय ताऊजी" पुकार कर रोती।

गोविन्द—क्या अपने ताऊजी को बुलाती थीं ?

लालीजी—नहीं, भैयाजी मैं पिताजी को ही सदा 'ताऊजी' कहकर पुकारती रही। मेरे चचेरे भाई बहिन उन्हें ताऊजी कहते तो उनकी देखा देखी मुझे भी आदत पड़ गई।

गोविन्द—अपनी ननसाल के बारे में कुछ बताइए।

लालीजी—मेरी माताजी जलेसर के मूल निवासी एक जज की पुत्री थीं। उनके दो भाई थे। एक बहुत बड़े और दूसरे छोटे। लघु उद्योग निदेशक के पद से सेवानिवृत्त छोटे मामाजी अब आगरे में रहते हैं। पिताजी इन मामाजी को शुद्ध जीवन और ईमानदारी उपदेश देते रहे, जिसे मामाजी ने पूरी तरह निभाया नानाजी ने अपनी वसीयत में पिताजी को जलेसर में पाँच दूकानें लिखीं थीं पर उन्होंने स्वीकार नहीं कीं।

गोविन्द—आपके माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे थे ?

लालीजी– पिताजी से माताजी आठ साल छोटी थीं। वे उनका बड़ा ध्यान रखते। उनसे, उनसे ही क्या और किसी से भी, कभी कोई सेवा न कराते। उस समय पत्नियाँ प्रायः रात में पतियों के पैर दबाया करतीं थीं, पर पिताजी ने कभी ऐसा कुछ नहीं कराया। माताजी का स्वास्थ्य कुछ गड़बड़ाता तो तुरन्त दहलावाले चाचाजी (गो० हितानन्दजी) से होम्योपैथिक दवाई लाकर देते। नित्य शाम को घूमने जाते। अगर कहीं ध्यान में एकान्त में बैठ जाते तो १२-१ बजे तक लौटते। कदाचित् माताजी सो जातीं तो उन्हें जगाते नहीं थे। जैसी ब्यारू धरी रहती खाकर सो जाते। प्रायः ऐसा होता ही रहता था। सफाई पसन्द बहुत थे पर अपने कपड़े स्वयं धोते और झाड़ू लेकर अपने आप सफाई करने लगते। माताजी को संस्कृत और हिन्दी के अनेक स्तोत्र एवं ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। पर पिताजी उन्हें सदा नाम-जप के लिए प्रेरित करते रहते थे।

गोविन्द— माताजी का निकुंजवास कब हुआ ? आपके पिताश्री पर उसका क्या प्रभाव पड़ा ?

लालीजी—७ जून १९७० के दिन रविवार को उनका देहान्त हुआ । मैं ससुराल में थी । उस दिन पिताजी ने मुझे इस डर से नहीं बुलवाया कि मैं देख कर रोऊँगी और घबराऊँगी । मैं बाद में आई । माँ को मृत्यु का पिताजी पर यही प्रभाव पड़ा । कहते थे कि मैं अपने भजन भाव में ही अधिक रहा, उन्हें सुख नहीं दे पाया ।

गोविन्द—अपनी शिक्षा और विवाह के विषय में कुछ बताइए ।

लालीजी—पिताजी ने मुझे संगीत विषय विशेष रूप से दिलाया था जिससे मैं भजन गा सकूँ । इसी कारण 'समाज गायन' में मेरी अभिरुचि बढ़ी । अमृतसर में मेरा विवाह करने का एक कारण यह भी था कि उनके शिष्यों के साथ मेरा वृन्दावन आना-जाना हो सकेगा । सन् ५८ में मेरा ब्याह हुआ । उस रात श्रीराधावल्लभलाल का ब्याहुला कराया । कन्यादान के समय जब उन्हें ढूँढ़ा गया तो वे श्री जी के ब्याहुले में मिले । उन्होंने मुझमें और अन्य लड़कियों में कोई अन्तर नहीं समझा । कहते थे मेरे एक नहीं, अनेक कन्याएँ हैं मैंने एक बार कहा कि मेरे भाई होता तो राखी बाँधती । तो बोले—अपने भाई कितने होते ? ज्यादा से ज्यादा तीन चार ही न । अब तो तुम्हारे हजारों भाई हैं ।

गोविन्द—चाचाजी की दैनिकचर्या और आदतें क्या थीं ?

लालीजी – वे सबेरे जल्दी उठकर निवृत्त होकर बैठ जाते । श्री जी की मंगला करके लोग उनके दर्शनों को आते थे । दोपहर लगभग १. बजे दाल-रोटी-साग चावल का प्रसाद पाते थे । भोजन माताजी बनाती थीं । कभी-कभी चाचीजी सहायता कर देतीं थीं । और किसी के हाथ का भोजन नहीं करते थे । डाक्टर ने चावल को मनाकर दिया था पर वह उन्हें अन्त तक प्रिय रहा । डाक्टर से पूछ-पूछ कर खाने की अनुमति लेते रहते । बचपन से ही पेट के मरीज रहे । गैस बनती थी । इसके कारण दोपहर के भोजन में पपीता जरूरी था । चाय तो कभी पी ही नहीं । वृद्धावस्था में सायंकाल अनार का रस ले लेते थे । मौसम्बी उन्हें अनुकूल नहीं लगती थीं । रात को पक्का भोजन बनाता था । उसके साथ ही दूध लेते थे । खोये की थोड़ी सी मिठाई भी रात के भोजन में रहती । केवल दो बार ही खाते । उस समय चाहे जो कुछ परोस दो । बीच में कभी कुछ नहीं खातें । भोजन में भी यदि अन्य वस्तुएँ बढ़ जातीं तो रोटी कमकर देते । भोजन का परिमाण निश्चित था । सदा वही खाते जो पेट और स्वास्थ्य के अनुकूल हो ।

गोविन्द—उनके प्रिय पदार्थ क्या-क्या थे ?

लालीजी—खोये की मिठाई उन्हें बहुत प्रिय थीं, छेने की नहीं । मथुरा के फूलचन्द के

पेड़े और खुरचन बहुत प्रसिद्ध थे जो पिताजी को अत्यन्त प्रिय थे। बाद में तो डाक्टर ने मना ही कर दिया तो दर्शन करके ही रह जाते। फलों में आम, चीकू और अँगूर बहुत भाते थे।

गोविन्द—वस्त्रों के सम्बन्ध में उनकी क्या अभिरुचियां थीं ?

लालीजी—पिताजी केवल सूती वस्त्र ही धारण करते थे। केवल धोती और छहबन्दी। श्वेतवस्त्र पसन्द करते थे। ऊनी वस्त्रों में रंगों का कोई आग्रह नहीं था। कम से कम वस्त्र रखते। वस्त्रों का संग्रह कभी नहीं किया। भेंट में आये वस्त्र जरूरतमन्दों में बाँट देते थे।

गोविन्द—उनकी दिनचर्या के सम्बन्ध में और कुछ बताइए।

लालीजी—जैसा मैंने बताया प्रातः चार बजे उठकर वे भजन ध्यान से निवट कर बैठ जाते श्री जी की मंगला के बाद आये भक्तों की शंकाओं का समाधान करते थे। आधघण्टे बाद फिर भजन-कक्ष में चले जाते। फिर लगभग १० बजे नीचे आकर भक्तों से भेंट, वार्तालाप आदि करते। इसी बीच पत्रोत्तर अथवा लेखन कार्य चलता रहता था। दोपहर में १ बजे के आसपास पुनः निवृत्त होकर स्नान करते। फिर प्रसाद पाकर थोड़ी देर घूमते। जाड़ों की धूप में और गर्मियों में बड़े बरामदे में। इस समय इतर साहित्य, रीडर्स डाइजेस्ट, विशेषकर अखबार आदि पढ़ते रहते। आधाघण्टा घूमने के बाद विश्राम करते। अपराह्न ४ बजे उठकर पुनः निवृत्त होकर लेखन कार्य करते। सायं ६ बजे शिष्यगण आ जाते तो एक घण्टे तक उनका समाधान आदि होता। तब समाज में जाते। वहीं से अटल्ला या छटीकरा की ओर घूमने निकल जाते थे। लौटकर श्रीजी के समक्ष समाज में बैठ जाते। मन्दिर से लौटकर गाय के लिए कुटी काटते। गौ-सेवा उन्हें बड़ी प्रिय थी। सबेरे अपने हाथ से गाय-बछड़ों को नहलाते। बछड़े को भरपेट पिलाकर जो दूध बचता वही हमें मिलता। कहते कि इतने पर ही तुम्हारा अधिकार है। गो से ही ब्राह्मण के घर की शोभा बताते थे।

गोविन्द—वे श्रीजी की सेवा भी तो स्वयं ही करते थे ?

लालीजी—जी हाँ, श्रीजी की सेवा के लिए घर में फूल उगाते। सिंचाई-निराई क्या, सारी बागबानी खुद करते थे। फूलों की गुच्छियाँ स्वयं बनाकर श्रीराधावल्लभलाल के करकमलों में सजा-आते। गर्मियों में प्रातः दस बजे श्री जी के फुहारे की टंकी भरने जाते। ३०-३५ कलसे पानी अपने कन्धों पर ढोकर इत्र मिलाते थे या और कोई सुगन्ध। शैयाघर प्रतिदिन धोते। हर एक गोस्वामी की सेवा में इतनी सेवा वे प्रतिदिन करते। श्रम की अधिकता से और एकबार गिरजाने के कारण हर्निया हो गया। जाड़ों में सेवा की खिचड़ी और कुलिया बनवाकर प्रतिदिन भोग धराते और प्रसाद बाँट देते थे।

उन्हें श्री जी के ब्याहुले का बड़ा शौक था। सभी को प्रेरित प्रोत्साहित करके ब्याहुले कराया करते। 'समाज' में भी अवश्य जाते और बैठे रहते। 'चाव' में जाने का उन्हें बड़ा उत्साह रहता। उनके साथ पूरा गोस्वामी समुदाय भी चलता। वे अपने शिष्यों को चाव में नाचने-गाने की प्रेरणा देते रहते थे।

गोबिन्द—भजनभाव का क्या क्रम था।

लालीजी - भैयाजी, मैं आपको बता ही चुकी हूँ प्रातः चारबजे, सबेरे से दसबजे तक, समय मिलने पर अपराह्न में भी भजन ध्यान में बैठते। दादीजी जब तक जीवित रहीं उनके चरण स्पर्श करके भजन पर बैठते। रात को घूमने जाते थे और कहीं तरंग आ जाती तो किसी एकान्त स्थान में जाकर बैठ जाते। रात १२-१ बजे तक लौटते। बाद में माताजी ने मथुराप्रसाद जी को उनके साथ लगा दिया था। वे पिताजी के साथ लगे रहते पर उन्हें पता नहीं लगता था। इसी से मथुराप्रसादजी का नाम "भजन-सहायक दास" पड़ गया। पिताजी ने अपनी श्रेष्ठ कृति "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" उन्हीं को समर्पित की है।

गोविन्द—वे अपने शिष्यों को क्या उपदेश देते थे ?

लालीजी—कुछ विशेष नहीं। बस, खूब भजन और नाम जप करने को कहते थे। मंत्र देने के पश्चात् प्रतिदिन श्रीसेवक वाणी का पाठ, और कम से कम ५१ माला जप करने को कहते थे। पत्रों में भी नाम स्मरण पर जोर देते थे। खाली "राधे-राधे" नहीं—"राधावल्लभ श्रीहरिवंश" का जाप बताते थे।

"श्याम बिना नहीं राधानाम, राधा संग बिना नहीं श्याम।"

गोविन्द—क्या उन्हें कभी क्रोध भी आता था ?

लालीजी—नहीं, मुझे तो कभी याद भी नहीं। मेरी याद में कोई ऐसी घटना नहीं है। एकबार बीमारी में परिचारक से दूध फैल गया तो बोले—"चलो, अच्छा हुआ। यदि दूध पी लेता तो शायद नुकसान ही करता।"

गोविन्द—क्या अक्सर बीमार रहते थे ?

लालीजी—देखिए, पेट की बीमारी तो उन्हें शुरू से ही थी। हर पढ़ने-लिखने वाले को रहती है। वैसे बीमार नहीं पड़ते थे। कभी सिरदर्द भी नहीं होता था। बृद्धावस्था में मधुमेह-हर्निया आदि रोग हो गये। वायु रोग तो था ही। प्रोस्टेट के आपरेशन के समय दिल्ली के डाक्टर महाजन ने खून चढ़ाने को कहा तो मनाकर दिया। कहा मुझे खून की जरूरत ही नहीं पड़ेगी और ऐसा ही हुआ। हमेशा आयुर्वेदिक व होम्यो. दवाइयों का प्रयोग करते थे। वे ऐलौपैथिक दवाएँ नहीं लेते थे। आँखों में कालामोतिया हो गया तो ८२ साल

की आयु में पढ़ना लिखना समाप्त हो गया। दूसरों से पढ़वाकर अखबार पुस्तकें आदि सुनते। कहते मुझे अपनी आँखों का गम नहीं। दुःख इस बात का है कि लोगों के पत्र दूसरों से पढ़वाने पड़ते हैं। इससे उनकी गोपनीय बातें और कठिनाइयां प्रकट हो जाती हैं। बिना किसी को बताये गुप्त सेवा करने में उनकी बड़ी रुचि थी। मेरी दादी जी ने बताया था। कि अठारहवर्ष की आयु में एकबार घाट पर किसी डूबते को बचाने के लिए स्वयं यमुनाजी में कूद पड़े। तैरना जानते नहीं थे। अचानक किसी ने देख लिया तो दोनों की जान बचाई। गरीबों की बड़ी चिन्ता करते रहते थे। कहते थे कि उनकी सेवा के लिए तो मैं भीख भी माँग लूँगा।

गोविन्द—और कुछ विशेष हो तो बताइए।

लालीजी—और क्या बताऊँ ? आपने तो सभी कुछ पूछ डाला। इसमें ऐसी भी बातें आ गई होंगी, जिन्हें प्रकट करना पिताजी पसन्द नहीं करते।

गोविन्द—देखिए, लालीजी यह आपने उनके भक्त शिष्य साधकों का बड़ा उपकार किया हैं। इस बातचीत में उनके लाभ की बहुत सी बातें हैं। ये अपने गुरु देव के साथ तादात्म्य में उन्हें बड़ी सहायक होंगी। विदेशों में लोग अपने महान् पुरुषों और श्रद्धास्पदों के सम्बन्ध में सब कुछ जानना चाहते हैं। यहाँ तक कि उनकी दुर्बलताएँ भी। हमारा आपका यह सम्वाद उनके जीवन-चरित्र का ही पूरक है। इसके लिए हम सब आपके कृतज्ञ हैं।

भव-जल के कमल

—श्रीराजाबाबू शर्मा

"पण्डितजी, आपकूँ जो कछु पूजा-पत्री करानी होय सो जल्दी कराय लेउ। श्रीजी के ब्याहुले के दरशन खुल गये हैं। मोकूँ तुरन्त वहाँ जानों है।" कह रहे थे मेरे भावी श्वसुर—गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी महाराज अपने कुल-पुरोहित से। स्थल था उनका निवास स्थान—श्रीयमुना पुलिन, जहाँ कन्या के विवाह की धूमधाम थी। मैं विवाह मण्डप में दूलहा बना बैठा था। पुरोहितजी कन्या के पिता के लिए करणीय संकल्प-पूजा-पाठ आदि सम्पन्न करने के लिए उनसे आग्रह कर रहे थे। उन्होंने उत्तर दिया—"गुसाईंजी महाराज, जि पुत्री के विवाह कौ कर्म है। विधि-विधान ते करनौ पड़ैगो। आफत टालिबेवारी बात नाय है सकैगी।"

"तौ फिर आप जि सब मेरे छोटे भैया ते कराय लेउ। पिता और चाचा में कोई अन्तर नाय है। मैं तौ श्रीराधावल्लभ लाल के ब्याहुले के समाज में जाय रह्यौ हूँ।" और सचमुच वे चले गये।

मैं मन ही मन विचार कर रहा था कि कैसे विलक्षण व्यक्ति हैं ये। लोग पुत्री के विवाह पर कितने व्यस्त और कार्यभार से पीड़ित रहते हैं। तरह-तरह के मनोरथ करते हैं और उनकी पूर्ति का प्रयास भी करते हैं। श्रद्धा एवं प्रेम से पूजा-पाठ करते हैं। घर में अन्य सभी कार्यव्यस्त दिखाई दे रहे हैं और एक ये हैं, जिन्हें अपनी एकमात्र पुत्री के विवाह से अधिक श्रीराधावल्लभ लाल के विवाह की आतुरता है। उनके ब्याहुले तो प्रायः होते ही रहते हैं। आज के ब्याहुले में न जाते तो क्या बिगड़ जाता। यह तो बाद में पता चला कि उस रात का ब्याहुला उन्होंने अपनी पुत्री के विवाह के उपलक्ष्य में ही कराया था।

धीरे-धीरे कन्यादान का समय आ गया परन्तु पूज्यवर तब भी नहीं पधारे। आखिरकार पुरोहितजी को फिर कहना पड़ा—"भाई गुसाईंजी के एक ही पुत्री है। जब वे यहाँ विद्यमान हैं तो याकौ कन्यादान तो विनके द्वारा ही होनों चाहिये। विनें ढूंढ़-खोज कै लाऔ न।"

खैर, जैसे-तैसे उन्हें लिवाकर लाया गया और 'कन्यादान' का पुण्यकार्य कराया गया। इससे भी बढ़कर दूसरा अवसर आया पुत्री की विदाई का। यह ऐसा करुण अवसर होता है जब सगे-सम्बन्धी तो क्या पास-पड़ोस के लोग भी भाव-विह्वल होकर आँसू बहाने लगते हैं। हमारे विवाह में विदा के समय सभी लोग रो-रोकर विकल हो रहे थे

और विदा होती हुई कन्या के पिता सबको समझाते हुए कह रहे थे, अरे भाई, रोते क्यों हो ? जब लाली को ब्याह कियौ है तो बाय ससुरार जानों ही पड़ेगो। तो रोय-रोय कें दुःखी क्यों है रहे हौ ?

मैं हैरान था। जीवन में देखा भी था और साहित्य में पढ़ा भी था की बेटी की विदा के अवसर पर कठोर से कठोर व्यक्ति भी विचलित हो जाता है, फिर ये तो बड़े भावुक और रसममज्ञ हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कण्वऋषि का चित्र मेरी स्मृति में उभर आया। वे वीतराग मुनि भी अपनी पुत्री को पति के यहाँ प्रेषित करते समय विह्वल हो उठे थे। एक यह महोदय हैं, जो उल्टे सभी को समझा रहे हैं, सान्त्वना दे रहे हैं। इनके मुख पर कैसी शान्ति और हृदय में कितना सन्तोष दिखाई दे रहा है। शकुन्तला को भेजते समय कण्वमुनि ने सोचा था कि मैं तपोवनवासी वीतरागमुनि जब इतना विचलित हो रहा हूँ तो गृहस्थ लोगों को क्या दशा होती होगी ? उसे पतिगृह भेजकर उन्होंने कहा था कि कन्या पराया धन होती है। आज उसे पति के घर भेजकर मुझे वैसी ही शान्ति एवं प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है जैसे किसी की रखी हुई धरोहर उसे ही सौंप कर होता है—

अर्थोहि कन्या परकीय एव, तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुम् ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं, प्रत्यर्पित न्यास इवान्तरात्मा ।।

परन्तु श्रद्धेय श्वसुरजी का आनन्द और सन्तोष कुछ और ही भाँति का था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उनके मन में अपने पराये का कोई भेदभाव ही नहीं था। न अपनी पुत्री के प्रति कोई विशेष आसक्ति और न पराई के प्रति उपेक्षा।

यह बात बाद में मेरे साथ उनके व्यवहार से भी व्यक्त हो गई। प्रायः सभी लोग अपने दामाद का कुछ विशेष सत्कार और सम्मान करते हैं। उसका अधिक ध्यान रखते हैं। परन्तु पूज्य आचार्यश्री अन्य लोगों का उतना ही ख्याल रखते जितना मेरा। उनकी दृष्टि में घर और बाहर के लोगों में कोई अन्तर नहीं था। बाहर से शिष्य सेवक आते, वे चाहे अमीर हों या गरीब सभी से उनका समान बर्ताव था। सभी के ओढ़ने-बिछाने, सोने बैठने और खाने-पीने का ध्यान रखते। आवश्यकता पड़ती तो छोटी-मोटी सेवा स्वयं करने में भी हिचकिचाते नहीं थे। वे सच्चे स्थितप्रज्ञ थे, समदर्शी सन्त।

काम और क्रोध को तो मानों उन्होंने जीत ही लिया था। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने काम और क्रोध को ही सबसे प्रबल बताया है, जिनको जीतना बड़े-बड़े ऋषि मुनियों के लिए भी दुष्कर है —"काम एषः क्रोध एषः रजोगुण समुद्भवः।" परन्तु प्रतीत होता है कि मेरे श्वसुरजी ने अपने काम-क्रोध भावों को श्रीराधावल्लभलाल के प्रेम-सागर में डुबाकर प्रेम रंग में रंग डाला था।

एक बार मैं वृन्दावन आया हुआ था। पूज्य आचार्यश्री अपने कक्ष में बैठे श्री-सेवकवाणी की व्याख्या लिखा रहे थे। अपने नेत्र बन्द किये भावमग्न होकर वे बोल रहे थे और लिखिया महोदय लिखते जा रहे थे। मैं पास ही बैठा देख सुन रहा था।

अचानक एक महानुभाव आ टपके और लगे अनाप-शनाप बकने। वे पूरे दुर्वासा बने हुये थे और अपशब्द बोले जा रहे थे। आचार्यश्री ने आँखें खोलकर बड़ी स्निग्ध दृष्टि से उन्हें देखा और मन्द-मन्द मुस्कराते रहे। उनकी मुस्कान और शान्ति ने आग में घी का काम किया : वे महाशय और भी जोर-शोर से बकने-झकने लगे। उनकी वाणी इतनी कटु एवं लहजा इतना असभ्य था कि मुझ पर रहा नहीं गया और मैं अपनी बाँहे चढ़ाता हुआ उनकी ओर लपका। परन्तु, पूज्यवर ने मुझे रोक लिया और चुपचाप बैठने का संकेत किया। मैं करता भी क्या, अपने स्थान पर जा बैठा।

वे महानुभाव थोड़ी देर में गाली देते बकते-झकते चले गये तो श्रद्धेय आचार्यश्री बोले—भैया, इनका कोई दोष नहीं। ये लोग गृहस्थी की चिन्ता और बोझों से इतने दबे हैं कि थोड़ी-सी बात में अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं। इनके साथ सहानुभूति ही रखनी चाहिए।" कहकर वे पूर्ववत् शान्ति-पूर्वक श्रीसेवकवाणी की व्याख्या लिखाने लगे। मैं आश्चर्य चकित रह गया। गोस्वामी तुलसीदासजी की अर्द्धाली अनायास मुझे स्मरण आ गई-"बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके वचन सन्त सह जैसे।" अब तक साहित्य में पढ़ा ही था, अब मूर्तिमान् उदाहरण प्रत्यक्ष था।

मैं रात में बहुत देर तक जागता रहा और सोचता रहा कि क्या ऐसे महात्मा से केवल सांसारिक सम्बन्ध ही सब कुछ है? सच्चा महात्मा तो वही होता है, जिसके मन, वचन और कर्म, एक हों—"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मानाम्।" इन्होंने अपनी पुत्री तो मुझे दी है किन्तु मैं कुछ और अलभ्य वस्तु क्यों न प्राप्त करूँ।

अगले दिन मैंने स्नान करके शुद्धवस्त्र धारण किये और पूज्य आचार्यश्री के चरणों में अपना सब कुछ समर्पित कर दिया। उनसे मन्त्र-दीक्षा लेकर ही अन्नजल ग्रहण किया। यद्यपि वे टालने का प्रयास करते रहे क्योंकि मेरे परिवार में श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय की दीक्षा थी। किन्तु मैं अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहा। अब भौतिक सम्बन्ध के स्थान पर उनसे मेरा आध्यात्मिक नाता हो गया। इसे मैं अपने पूर्वजन्मकृत पुण्यों का सुफल ही समझता हूँ कि मुझे ऐसी सुशीला साध्वी पुत्री के प्रदाता श्वसुर और वृन्दावन-रसामृत के प्रदाता गुरुदेव मिले, जो भवसागर में रहकर भी उससे एकदम ऊपर अलग थे जैसे जल में कमल—पद्मपत्रमिवाम्भसि।

११-बी, ग्रीन एवेन्यू
अमृतसर

श्रीराधावल्लभ संप्रदायाचार्य
गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी महाराज की वंश परम्परा

—पं० ओंकार लाल 'लघु' शिवपुरी वाले

॥ चौपाई ॥

हरि राधा पर तत्वहिं जानौं । बिबिहित रूप सुप्रगट बखानौं ॥
आदि पुरुष श्रीराधावल्लभ । कारन श्री हरिवंश सु सुल्लभ ॥
'श्री हरिवंश' वंशि अवतारा । गुरु गादी राधा विस्तारा ॥
'श्रीवनचन्द' धाम अवतार । नित्य युगल लीला विस्तार ॥
'सुन्दरवर' सुन्दरता सार । हितकुल कियौ जगत निस्तार ॥
'दामोदर' हितवाणी गाई । रसिक जननिकौं अति सुखदाई ॥
'रासविलास' वंश विवि कीन्हें। अपनी वट सेवा मन दीन्हें ॥
'कमलनैन' नैननि सौं खगे । श्री राधा चरननि सौं लगे ॥
'लालविहारी' हित दुलरायौ । जग सौं झूंठौ नेह छुड़ायौ ॥
'हित व्रजलाल' सुहुहुँन लड़ायौ । पद रचना करि मोद बढ़ायौ ॥
सुन्दरलाल सबनि हित करिकैं । दुलरायौ हित नेह सुभरिकैं ॥
'चन्द्रलाल' वृन्दावन गायौ । कुंज निकुंजनि कौ रस प्यायौ ॥
'कीरति' हितकी रति विस्तारी। लाल-लाड़िली रस अधिकारी ॥
'चतुर शिरोमणि' भाव परायण। अद्भुत रस अनुभव करि गायन ॥
'आनँद हित आनँद निधि पाई । दंपति संपति नित्य लड़ाई ॥
'भजन' भजन की रीति अनोंखी। दरसाई चोखी ते चोखी ॥
'प्रेम' प्रेम की अति गहराई । हित सों प्रीतम प्रिया लड़ाई ॥
'लाल वसंत' परम हितकारी । इत लौं रासवंश अधिकारी ॥

दोहा—प्रेम सरोवर में खिल्यौ, यह वसंत मयमंत।
तामें विकसे षट, कमल हित रस मधु वर्षन्त ॥

'राधाचरन' प्रधान सुराजैं। हित करि दृष्टि सबनि पर छाजैं॥
'ललिताचरन' ललित हित देही। शरणागत पोषक अति नेही॥
'वनमाली' रस अंबुद बरसैं। रागिनी राग प्रगट ह्वै दरसैं॥
'मदनलाल' हिय सरल सुभाये। हितमय रसमय सुखमय छाये॥
'श्रीगोपाल' कथा विस्तारी। हित सौं सेवाकुंज सँभारी॥
'छोटेलाल' सबनि हित दरस्यौ। मैया हस्त कमल सिर परस्यौ॥
भाग सुहाग 'सुदेवी' पायौ। अष्टसिद्धि नित प्यार लड़ायौ॥
रस वात्सल्य सीम अधिकाई। हौं दादी-गुरु पूरन पाई॥
छोटी बड़ी मातु अति प्यारी। तिनकी कृपा न जात सँभारी॥
लाला लालो सब हित दरसैं। जै श्रीललिताचरन प्यार मैं सरसैं॥
ह्याँ तक कह्यौ, सगुरु कुलजानी। 'लघु' आगे श्री राधारानी॥
'सुधा' सुधा रस अमित अलोलैं। करुणा करि करि 'लघु' पै ढ़ोलैं॥
परम्परा गुरु वंश वखानी। पढ़त सुनत भृत्यन सुखदानी॥
संवत् सहस्र युगल इक्यावन। माधव शुक्ल एकादशी पावन॥
जो गावैं नित गुरु अनुकूलैं। चरनन गहि-गहि सो नित फूलैं॥
हित कुल सबही परम दयाल। चरन शरन में 'लघु' सबकाल॥

दोहा—जे याकौं बाँचैं सुनैं हित सौं करैं प्रसंस।
तिनकौं 'लघु' की प्रेम सौं जय-जय श्रीहरिवंश॥

आचार्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी की साहित्य सर्जना

—श्रीराधामोहनदास गुप्त

महापुरुषों का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुआयामी होता है । आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी की प्रतिभा बहुमुखी थी । इसका प्रतिफलन उनके बहुमुखी कृतित्व में हुआ । उनकी सृजनशीलता के बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों रूप अत्यन्त स्पृहणीय थे । एक ओर उन्होंने श्रीराधावल्लभलालजी की प्रकट सेवा का समुचित मण्डन करने, रंगीलालजी के देववन्द स्थित मन्दिर का जीर्णोद्धार और नव-निर्माण करने, बादग्राम मन्दिर की सड़क बनाने, ग्रामवासियों के लिए पेयजल का प्रबन्ध करने, आर्थिक सहायता प्रदान कर असंख्य विद्यार्थियों को शिक्षा शुल्क, निर्धन कन्याओं के विवाह हेतु धन और रोगियों को औषधि उपलब्ध करने जैसे सामाजिक-सेवा कार्य कियें तो दूसरी ओर विपुल मौलिक साहित्य का सृजन भी किया । यह साहित्य भी विविधतायुक्त है जिसमें कविता, कहानी, एकांकी नाटक, निबन्ध आदि सभी साहित्य विधाएँ हैं और वे भी सामान्यस्तर की नहीं । सभी में मौलिकता और गोस्वामीजी के व्यक्तित्व की विशिष्ट छाप है । गोस्वामीजी के एकांकी नाटक जिस काल में विशाल भारत में प्रकाशित हो रहे थें उस समय एकांकी साहित्य की दृष्टि से हिन्दी का भण्डार अत्यन्त न्यून था । इस नाटक विधा का नवोदय हो ही रहा था । एकांकी साहित्य के विकास में गोस्वामीजी का योगदान बहुमूल्य है । काल-क्रम और विकासक्रम को देखते हुए इनके एकांकी अत्यन्त प्रौढ़ प्रतीत होते हैं । खेद है कि एकांकी साहित्य के अनुसन्धित्सुओं और इतिहास लेखकों ने इन पर समुचित ध्यान नहीं दिया । इसका कारण इनकी अनुपलब्धता या कमसंख्या भी हो सकता है । बाद में तो गोस्वामी जी भक्ति विषयक लेखन में प्रवृत्त हो गयें और नाटक-कथा साहित्य के क्षेत्र से विदा ही ले ली ।

पूज्य आचार्य गोस्वामी श्रीहित ललिताचरणजी महाराज ने राधावल्लभीय सिद्धान्तों एवं साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था । वे सुशिक्षित प्रौढ़ धार्मिक विद्वान होने के साथ ही साथ कुशल कवि, एकांकीकार, शोधक

एवं समीक्षक भी थे । आपकी आरम्भिक कृतियों में " यवनोद्धार नाटिका " उल्लेखनीय है, जो आपकी १८ वर्ष की आयु में वि० सं० १९८२ में सर्वप्रथम श्रीहित नाटक समिति, वृन्दावन से प्रकाशित हुई । तत्पश्चात् आपने कानपुर नवाबगंज के सनातनधर्म कालेज से सन् १९३१ में द्वितीय श्रेणी में एल० एल० बी० की परीक्षा पास की थी । इन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है । इनकी प्रमुख कृति "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" है । जो राधावल्लभीय सिद्धान्त और साहित्य का मर्मोद्घाटन करने वाली सर्वप्रथम बड़ी महत्वपूर्ण रचना सिद्ध हुई है । हिन्दी के अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा की है:--

"आदरणीय गोस्वामी श्रीललिताचरण जी हित सम्प्रदाय के मर्मज्ञ और भक्त हैं । उन्होंने सम्प्रदाय के सन्तों की वाणियों का पूर्ण अध्ययन और मनन किया है । साथ ही वे अन्य सम्प्रदायों के शास्त्रीय ग्रन्थों से पूर्णतया परिचित हैं । उन्होंने बड़े परिश्रम से गोस्वामी श्रीहित हरिवंश और उनके भक्तों की लिखी वाणियों से शास्त्रीय-सिद्धान्त खोज निकाले हैं और इस ग्रन्थ में प्रमाण सहित प्रतिपादन किया है । गोस्वामी जी इस विषय के अधिकारी विद्वान हैं । वे प्राचीन शास्त्रों के पण्डित हैं और स्वयं इस मार्ग के साधक हैं । उनके हाथों से जो ग्रन्थ लिखा गया है, वह निस्सन्देह महत्वपूर्ण होगा ।"

—आचार्य श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी

"आपने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में जिस प्रामाणिक सामग्री का सन्निवेश किया है वह औरों के लिए सुलभ नहीं हो सकती थी । आपकी विवेचन शैली, परिश्रमक्षमता और मार्मिक विद्वत्ता से श्रीराधावल्लभीय धर्म और दर्शन के विषय में हिन्दी-जगत को एक आधारभूत ग्रन्थ प्राप्त हो गया है । आपके प्रयत्नों की मैं सफलता चाहता हूँ । इस एक ग्रन्थ से ही आपने अपने लिए स्थान बना लिया है ।"

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०

"श्रीललिताचरण गोस्वामी ने 'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' नामक ग्रन्थ लिखकर हिन्दी के लिए अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किया है । इस ग्रन्थ में उक्त सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जितनी प्रामाणिक और परिणाम-बहुल सामग्री संकलित है, किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं । सम्प्रदाय का स्वरूप समझने में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं है । इस ग्रन्थ से हिन्दी के प्रत्येक अध्येता का ज्ञानवर्धन होना निश्चित है । गोस्वामीजी इस ग्रन्थरत्न के लिए बधाई के पात्र हैं ।"

—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

"सम्प्रदाय और साहित्य दोनों दृष्टियों से 'श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।"

--राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त

"मुझे विश्वास है कि इसे साधारण पाठक तथा विद्यार्थी दोनों ही उपयोगी पावेंगे।"

--डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, एम.ए., डी. लिट्.

"श्री ललिताचरण जी द्वारा लिखित--"श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" नामक रचना को मैं बड़ी रुचि के साथ पढ़ गया। निस्सन्देह बड़े परिश्रम और बड़ी तटस्थता के साथ यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।"

--डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम.ए.,डी.लिट्.

"श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य 'ग्रन्थरत्न प्राप्त कर अनुगृहीत हुआ। इस विषय पर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का भी एक ग्रंथ राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' प्रकाशित हो चुका है। गोस्वामी श्रीहित हरिवंशजी के जीवन और दर्शन पर अधिक प्रकाशित सामग्री उपलब्ध न होने से हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि दुर्लभ हो रही थी। आपके इस ग्रन्थ ने श्रीहित हरिवंश तथा हित-सम्प्रदाय पर अत्यन्त बहुमूल्य सामग्री प्रदान कर शोधार्थियों का मार्ग प्रशस्त किया है। हिततत्त्व का प्रथमबार ही राधावल्लभ सम्प्रदाय में शास्त्रीय विवेचन हुआ है। .... राधावल्लभ मत के रहस्य को समझने के लिए आपकी इस गवेषणापूर्ण कृति का अध्ययन अनिवार्य है। आशा है, हिन्दी जगत में इसका समादर होगा।'

--डॉ० विनयमोहन शर्मा, एम.ए.,पी-एच. डी.

"श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" ग्रंथ मैंने बड़े मनोयोग से पढ़ा। इसमें रस के स्वरूप का जैसा उज्ज्वल एवं प्राञ्जल निरूपण हुआ है, वैसा इससे पूर्व किसी निबन्ध ग्रंथ में देखने में नहीं आया............. ।"

--स्वामी श्रीअखण्डानन्द जी सरस्वती

इनके समस्त साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है--

मौलिक रचनाएँ--

१. यवनोद्धार नाटिका।

२. "विशाल भारत" में आपके चार एकांकी नाटक प्रकाशित हुए हैं।

३. श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य ।

४. अनन्य निष्ठा-इसमें गोस्वामी श्रीललिताचरण जी के पाँच एकांकी नाटक संगृहीत हैं। चार नाटक तो श्रीराधावल्लभ-संप्रदाय के संस्थापक महाप्रभु श्रीहित हरिवंश गोस्वामी के जीवन से सम्बन्धित हैं तथा पाँचवें में श्रीराधा-जन्मोत्सव का नाटकीय उपस्थान है।

५. श्रीराधावल्लभीय रस-रीति का मनोवैज्ञानिक परिचय।

६. अनन्य रसिकों का भजन मार्ग-इस पुस्तक में अनन्य रसिकों की परम्परा-प्राप्त भजन प्रणाली का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस उपासना में प्रेम ही साधन है और वही साध्य है। प्रेम एक भाव है और भाव की स्वाभाविक रीति यह है कि वह एक बिन्दु पर केन्द्रित होकर एकनिष्ठ बनकर बलवान और पुष्ट बनता है।

७. श्रीहित ललित पदावली (मुद्रणाधीन)

8. LOVE IS GOD (,,)

An Introduction to Religious system Based on this concept of Ultimate Reality.

9. LOVE INCARNATE (,,)

10. Selected complets from 'Sudharm Bodhini (English Translation) (मुद्रणाधीन)

११. दर्शन (कहानी) (,,)

१२. अछूत (,,) (,,)

१३. लगभग ३५ विभिन्न विषयों के लेख।

१४. श्रीहितभक्तगाथा—श्रीराधाकृष्ण भक्तिकोश खण्ड ४ और ५ के लिए श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के ९४ भक्तों के जीवन चरित्र इस ग्रंथ में हैं। इसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

अनुवादित ग्रंथ—

१. श्रीराधा-सुधा-निधि, गोस्वामी श्रीहित हरिवंश जी रचित, मूल-संस्कृत ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या सहित।

2. Sri Radha Ras Sudha Nidhi stotra, Mahaprabhu Sri Hit Harivansha goswami (English Translation)

३. श्रीहित चौरासी, गोस्वामी श्रीहित हरिवंश जी रचित (विद्यार्थी संस्करण) इस ग्रंथ में अधिकारी विद्वानों द्वारा भाव एवं कलापक्ष के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है।

४. श्रीहित चौरासी, गोस्वामी श्रीहितहरिवंश जी रचित (हिन्दी-व्याख्या सहित) राज तथा साधारण संस्करण।

५. श्रीसेवकवाणी, श्रीदामोदरदास 'सेवक' जी रचित हिन्दी-व्याख्या सहित)।

६. प्रेम सरिता, श्रीध्रुवदास जी कृत 'बयालीस-लीला' की पाँच सटीक कृत लीलाएँ।

७. रसिक अनन्यमाल, महात्मा श्रीभगवतमुदित जी कृत-इस ग्रंथ के सम्पूर्ण जीवन चरित्रों का गद्य रूपान्तर मूल पद्य ग्रंथ के साथ ही प्रकाशित किया गया है।

८. श्रीराधा की जन्म बधाइयाँ (हिन्दी व्याख्या सहित)।

९. श्रीराधावल्लभ अष्टयाम (सटीक श्रीयमुनाष्टक सहित)।

१०. श्रीहिताचार्य के जन्म मंगल की बधाई (हिन्दी व्याख्या सहित)।

११. खिचड़ी उत्सव के पद (व्याख्या सहित)।

१२. श्रीराधावल्लभलाल जी के विहावले उत्सव का समाज (हिन्दी व्याख्या सहित)

सम्पादित ग्रन्थ---

१. श्रीहितचौरासी, स्फुटवाणी और सेवकवाणी सहित, सुसम्पादित एवं सटिप्पण संस्करण के रूप में प्रकाशित।

२. प्रेम की पीर (पद संग्रह) श्रीभोलानाथ जी (श्रीभोरीसखी) रचित, श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तिम सुकवि के सुललित एवं चुने हुए पदों का संग्रह।

३. श्रीराधावल्लभीय वर्षोत्सव (शृंगार रस सागर)---प्रस्तुत ग्रंथ में श्रीराधावल्लभीय-सम्प्रदाय में वर्ष भर गाये जाने वाले विविध उत्सवों की क्रमानुसार 'समाज शृंखला' है, जो तीन खण्डों में प्रकाशित है। अंतिम तृतीय-खण्ड में श्रीध्रुवदास जी रचित 'बयालीस लीला' भी प्रकाशित की गई है, जिनमें फुटनोट में प्रायः सभी कठिन शब्दों के अर्थ दे दिये गये हैं। ग्रंथ का सम्पादन गोस्वामी श्रीललिताचरण जी महाराज ने बड़े परिश्रम और मनोयोग के साथ किया है।

गोस्वामी ललिताचरण जी महाराज के निबंधों, लेखों की संख्या अत्यधिक है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनका प्रकाशन हुआ था। उनमें से और यत्र-तत्र से संकलित करके हिन्दी-अँग्रेजी के लगभग ३५ लेख इस ग्रंथ में प्रकाशित किये जा रहे हैं। ये निबंध न तो निबंध कहे जा सकते हैं और न लेख क्योंकि इनमें न तो निबधों जैसा हलका-फुलकापन एवं लेखक की वैयक्तिकता की छाप हैं अथवा अवान्तर विषयों का समावेश हैं और न लेखों में प्राप्त होने वाली निर्वैयक्तिकता ही! सभी में गोस्वामी जी का विशेष दृष्टिकोण, मौलिकता अथवा लक्ष्य परिलक्षित होता है। वे एक

शिष्ट दृष्टि से किसी विषय के विविध आयामों से निरखते परखते हैं और अपना मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं। अथवा अपनी ओर एक कोई बात उठाकर उसे विविध प्रमाणों एवं तर्कों से परिपुष्ट या समर्थित करते हैं। यह गवेषणात्मक दृष्टि अनुसंधायकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भक्तिसाहित्य के शोधकर्ताओं के लिए अथवा विशेष जिज्ञासुओं के लिए गोस्वामी जी के निबन्ध बहुत उपयोगी हैं।

आचार्य श्री के श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित निबन्ध मानक अभिलेख हैं। इस सम्प्रदाय की साधना एवं उपासना पीढ़ी-दर पीढ़ी उन्हें प्राप्त हुई थी उनकी रक्तमज्जा में धुली हुई थी और इसके ऊपर सम्प्रदाय के वाणीसाहित्य के गहन अध्ययन तथा मनन ने उनके ज्ञान को अगाध और दृष्टि को तलस्पर्शिनी बना दिया था उनका यह ज्ञान केवल ज्ञान ही नहीं रह गया था बल्कि व्यवहार एवं अनुभूतिगम्य होकर 'विज्ञान' की कोटि तक पहुँच गया था। इस 'विज्ञानसमन्वित' ज्ञान का ही प्रकाशन है उनके श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय विषयक लेखों में उनका अगाध पाण्डित्य, अविचल निष्ठा, गहनश्रद्धा और दृढ़ विश्वास इनमें प्रतिफलित है। फिर भी कहीं हठवादिता या अपने ही मत को थोपने जैसी बात इनमें कहीं दिखाई नहीं देती। पुष्ट प्रमाणों और नीरक्षीर विवेचन मयी प्रणाली से अपनी बात को कहने का सत्प्रयास सर्वत्र परिलक्षित होता है। इन निबन्धों की भाषा विशुद्ध हिन्दी है, जो तत्समबहुल है किन्तु यथावसर सामान्य भी है। वाक्य विन्यास सुगठित है। आवश्यकतानुकूल दीर्घ वाक्यों का प्रयोग भी किया गया है।

इन निबन्धों में आचार्य श्री की लेखन शैली के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। विचारात्मक तो वह प्रायः है ही इसके साथ ही उसमें गवेषणात्मकता का भी यथास्थान समावेश हो जाता है। कहीं वह उद्धरण बहुल हो जाती है तो कहीं सतर्क-अर्थात् तर्क प्रधान। वैसे वह बड़ी प्रांजल और सुस्पष्ट है। कहीं भी विचार बोझिल या क्लिष्ट नहीं। तथ्य की नूतनता, मौलिकता और सुलझे हुए विचार-स्पष्ट शैली में, प्रत्येक निबन्ध की विशेषताएँ हैं।

उपर्युक्त कारणों से इस ग्रंथ में सर्व प्रथम आचार्यश्री के निबन्धों को ही स्थान दिया गया है। ये निबन्ध भी किसी कालक्रम से नहीं रखे गये हैं। श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य श्रीहित हरिवंश महाप्रभु से सम्बन्धित निबन्ध सर्व प्रथम रखा गया है। शेष निबन्धों के क्रम में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है।

गोस्वामीजी के सभी निबन्धों का विषय भक्ति या राधावल्लभ सम्प्रदाय की रसरीति और उपासना है। वे इस सम्प्रदाय के मनीषी आचार्य

थे और उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों तथा रसिकों की वाणियों का गहन अध्ययन किया था। यह अध्ययन केवल परिचयात्मक नहीं था, मनन-चिन्तन पूर्ण था। अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समुचित विवेचन भी वे यथावकाश करते रहते थे। इन सब का सुन्दर, सुचिन्तित प्रतिफलन उनके निबन्ध साहित्य में समुपलब्ध है। ये निबन्ध अधिकतर-विचारात्मक हैं या गवेषणात्मक। वर्णनात्मक अथवा भावात्मक विषयों पर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। समीक्षात्मक शैली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है।

गोस्वामीजी अपने लेखन में लोक कथाओं, जनश्रुतियों आदि का भी यथावसर-सदुपयोग करते हैं। उनकी शैली उद्धरण बहुल भी है। मूलग्रन्थ या वाणी के उद्धरणों का अथवा उनके सम्बन्ध में अन्य लेखकों या विचारकों के समुचित कथनों का प्रयोग वे यथा स्थान पर करते हैं और आवश्यकतानुसार अपना मत भी स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। यह मत निर्भीक और पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त होता है।

गोस्वामीजी के लेखन की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी ईमानदारी वे साम्प्रदायिक आग्रह से सर्वथा मुक्त हैं और दूसरे पक्ष के तर्क या प्रमाण में यदि तनिक भी सच्चाई या बल हो तो उसे बिना हिचक स्वीकार कर लेते हैं। इनके उदाहरण उनके लेखों में स्थान-स्थान पर दिखलाई दे जायेंगे।

इन निबन्धों की शैली बड़ी परिमार्जित, प्रांजल और प्रासादगुण मयी है। इनमें प्रवाह एवं रोचकता भी प्रभूत मात्रा में प्राप्त हैं। क्लिष्टता अथवा दुरूहता का पूर्ण अभाव है। "गद्यं कवीनां निकष वदन्ति" के अनुसार वे एक श्रेष्ठ गद्य लेखक एवं निबन्धकार हैं। गद्य लेखन में भी निबन्ध लेखन सबसे कठिन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि यदि कवियों की कसौटी गद्य है तो गद्य की कसौटी निबन्ध है। इसी कसौटी पर आचार्यश्री खरे उतरते हैं। विषय, भाषा, शब्दचयन, प्रवाह, प्रांजलता, स्वाभाविकता आदि सभी दृष्टियों से उनके निबन्ध हिन्दी की अमूल्य निधि हैं।

संस्थापक/अध्यक्ष,

स्वामी श्रीहरिदास शोध संस्थान

कानपुर-१

दोहा

सबसों हित निष्काम मति, वृन्दाबन विश्राम।
श्रीराधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान मुख नाम॥

तनहिं राखि सत्संग में. मनहिं प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥

निकसि कुंज ठाड़े भये, भुजा परस्पर अंस।
श्रीराधावल्लभ मुख-कमल, निरख नैन हरिवंश॥

रसना कटौ जु अन रटौं, निरखि अनफुटौ नैन।
श्रवण फुटौ जो अनसुनौं, श्रीराधा-यश बैन॥

—महाप्रभु श्रीहित हरिवंश गोस्वामी

ब्रज की महाविभूति श्री हित हरिवंश गोस्वामी*

आज से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व वैशाख शुक्ला एकादशी को व्रज के एक छोटे से गाँव 'बाद' में राधाकृष्णोपासना में श्री राधा की प्रधानता स्थापित करने वाले आचार्यवर श्रीहित हरिवंश गोस्वामी का प्रादुर्भाव हुआ था। इस बात को संयोग मात्र मानने को जी नहीं चाहता कि उनके प्राकट्य से कुछ ही वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण की प्रधानता मानने वाले श्रीमद्वल्लभाचार्य वैशाख कृष्ण पक्ष की एकादशी को चंपारण्य में प्रादुर्भूत हुये थे। क्रमशः गौर और श्याम को अपना हृदय सर्वस्व बनाने वाले उक्त दोनों आचार्यों का शुक्ल और कृष्ण पक्षों में प्राकट्य साकूत और साभिप्राय था।

श्रीमद्वल्लभाचार्य एवं उनके महानुभाव शिष्य-प्रशिष्यों ने गोवर्धन और गोकुल को केन्द्र बनाकर श्रीकृष्णलीला की जो पावन सरिता प्रवाहित की उससे सम्पूर्ण व्रज मण्डल रससिक्त और सुशीतल बन गया और उसको उसका लुप्त गौरव शतगुणित होकर प्राप्त हो गया।

उधर श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने वृन्दावन को केन्द्र बनाकर श्रीराधा पद्धति की स्थापना की और राधाकृष्ण की शृंगारमयी लीलाओं में श्रीराधा की प्रधानता वाली उन नित्य लीलाओंका दर्शन किया जो नित्य-बिहार कहलाती हैं। श्रीहिताचार्य के प्रादुर्भाव का प्रयोजन ही श्रीराधा के वास्तविक प्रेमस्वरूप की पुनः स्थापना करना था। उन्होंने अपने समय में श्री राधा का जो रूप लोक में प्रचलित देखा था उससे उनको घोर निराशा हुई थी। अपने संस्कृत स्तोत्र ग्रंथ 'राधा रस सुधानिधि' के एक श्लोक में उन्होंने उसको अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने कहा है कि जिन श्रीराधा के चरणकमल रज के एक कण को भी ब्रह्मा, शिवादिक अपने मस्तक पर धारण करने में असमर्थ रहते हैं, वे प्रेम सुधा रस की अपार निधि श्री राधा आज काल के गतिक्रम से एक साधारण गोपी बन कर रह गई हैं। हे प्रबलदैव, तुझे नमस्कार है।

---

* श्रीवृन्दाबन से प्रकाशित "हित सौरभ पत्रिका," वर्ष १ अंक ३, जुलाई १९६८ के सौजन्य से प्राप्त।

यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिकां मूर्ध्नानिधातुं नहि-
प्रापुर्ब्रह्मशिवादयोप्यधिकृतिंगोप्येक भावाश्रया: ।
साऽपि प्रेमसुधारसाम्बुधिनिधि राधापि साधारणी-
भूता कालगति क्रमेण बलिना हे दैव तुभ्यं नमः ॥७२॥

श्रीराधास्वरूप के उन्नयन में श्रीहिताचार्य के समकालीन गौड़ीय गोस्वामीगण का भी महत्त्व पूर्ण योग है। उन्होंने श्रीराधा को भगवान की अंतरंगा आह्लादिनी शक्ति एवं महाभाव स्वरूपा घोषित करके उनकी सहज उज्ज्वल प्रेम स्वरूपता को रेखांकित कर दिया था। किन्तु इन गोस्वामि पादों के आराध्य भगवान नन्द नन्दन ही हैं—'आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयः' और इसीलिये गौड़ीय भक्तों की दृष्टि में श्रीराधा का स्वरूप अत्यन्त महिमा मण्डित होते हुये भी वे श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से ही उनको प्रिय हैं। श्रीकृष्ण सर्वथा श्रीराधा के अधीन हैं अतः उनकी प्राप्ति के लिये श्रीराधा की कृपा का सम्पादन अनिवार्य माना जाता है। श्रीजीव गोस्वामी के एक प्रसिद्ध श्लोक में यह भाव बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। इसमें कहा गया है कि श्रीराधा के युगल पाद-पद्मों का आराधन किये बिना, उनके पदांकित वृन्दावन का आश्रय लिये बिना तथा श्रीराधा-भाव-भावित चित्त वाले भक्तों से संभाषण किये बिना श्याम-सिन्धु के रस का अवगाहन संभव नहीं है—

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदांकाम् ।
असंभाष्य तद्भाव गंभीरचित्तान्,
कुतः श्याम-सिन्धोः रसस्यावगाहः। ।

इसके विपरीत श्रीहिताचार्य ने अपने अनन्य गोविन्दाराधन का लक्ष्य श्रीराधा का परितोष बतलाया है। उन्होंने कहा है कि गोविन्द के कथा-सुधारस में मैंने अपने चित्त का जो मज्जन किया है अथवा उनके गुण-कीर्तन और अर्चन में जो मैंने अपना समय व्यतीत किया है अथवा श्रीकृष्णभक्तों के साथ मैंने जो आत्यंतिक प्रीति की है इन सबके फल-स्वरूप श्रीव्रजेन्द्रकुमार की जीवन प्रणयिनी श्रीराधा मुझसे प्रसन्न हों।

यद् गोविन्द-कथा-सुधारस ह्रदे चेतो मया जृम्भितं
यद्वा तद्गुण कीर्तनार्चन विभूषाद्यैर्दिनं प्रापितम् ।
यद्यत्प्रीतिरकारि तत्प्रियजनेष्वात्यन्तिकी तेन मे
गोपेन्द्रात्मजजीवनप्रणयिनी श्रीराधिका तुष्यतु ॥११४॥

अन्यत्र उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है कि आप मुझे अपनी प्रियतमा के रसमय चरणकमलों में स्थिति प्रदान करें--निजप्रियतमा पदे रसमये ददातु स्थितिम् (श्लोक १११)। इसलिये सुधर्मबोधिनीकार ने बतलाया है कि श्रीहिताचार्य की प्राणधन श्रीराधा हैं और श्यामसुन्दर उनको श्रीराधा के प्रियतम होने के नाते प्रिय हैं।

व्यासनंद के प्राणधन गौर वर्ण निज नाम।
तिनके नाते नेह सौं प्यारौ प्रीतम श्याम॥

यह सुप्रसिद्ध है कि श्रीरूपगोस्वामी द्वारा व्याख्यात भक्तिरस का स्थायी भाव कृष्ण रति है। श्रीहिताचार्य ने अपने द्वारा गीत कृष्णरस-शृंगार का उद्देश्य श्रीराधा रति की प्राप्ति बतलाया है।

हित हरिवंश यथामति बरनत कृष्ण रसामृत सार।
श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद अंबुज सुकुमार॥

श्रीहित हरिवंश का विशद जीवन वृत्त प्राप्त नहीं है। प्राप्त घटनाओं से ज्ञात होता है कि आरम्भ से ही वह राधा पक्षपाती थे। अल्पवय में ही उनको श्रीराधा से मन्त्र प्राप्त हो गया था जो आगे चलकर उनके द्वारा स्थापित रसमार्ग का मूल आधार बना।

श्रीहिताचार्य का परिवार देववन जिला सहारनपुर का रहने वाला था। उनके पिता व्यास मिश्रजो तत्कालीन दिल्लीपति सिकन्दर लोदी के राज्य ज्योतिषी थे और बादशाह बहुधा उनको अपने साथ रखता था। एक बार व्यास मिश्र जी बादशाह के साथ दिल्ली से आगरा जा रहे थे। उनके साथ उनकी आसन्न-प्रसवा पत्नी तारारानी भी थीं। मार्ग में प्रसवकाल निकट जानकर उन्होंने दिल्ली-आगरा रोड पर मथुरा से पाँच मील दक्षिण में स्थित बाद नामक गाँव में एक जलाशय के निकट अपना डेरा डाल दिया। वहीं वैशाख शुक्ला एकादशी सोमवार को अरुणोदयकाल में श्रीहितहरिवंश गोस्वामी का प्रादुर्भाव हुआ।

कुछ दिन तक बादग्राम में रहने के पश्चात् व्यास दम्पति वापस देवबन चले गये और श्रीहिताचार्य का बाल्य एवं यौवनकाल वहीं व्यतीत हुआ। महापुरुष अपने प्रयोजन की सिद्धि की ओर अल्पवय में ही अग्रसर होने लगते हैं। देवबन में श्रीहिताचार्य ने एक कुएँ में से एक भगवद् विग्रह को निकाला और रंगीलालजो नाम से उसकी प्रतिष्ठा वहाँ की। श्रीराधा की प्रधानता रखकर युगल उपासना की अपनी विशिष्ट पद्धति का प्रचार उन्होंने वहीं आरम्भ कर दिया था और अनेक लोगों को वहाँ उन्होंने अपनी

उपासना में दीक्षित किया था। राधावल्लभीय इतिहास में प्रसिद्ध छबीलदास जी उनके वहीं शिष्य हुये थे।

अपनी इकतीस वर्ष की आयु में उन्होंने, श्रीराधाकी आज्ञा से अपने कुछ शिष्यों के साथ वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में आत्माराम नामक ब्राह्मण से एक अत्यन्त आकर्षक भगवद् विग्रह प्राप्त करके उन्होंने श्रीराधावल्लभ नाम से इसकी प्रतिष्ठा वृन्दावन में की।

राधावल्लभीय एवं गौड़ीय दोनों सम्प्रदायों के इतिहास से मालूम होता है कि वृन्दावन उस समय घने जंगल के रूप में था और यहाँ के अशेष तीर्थ स्थल लुप्त हो चुके थे। यमुना तटवर्ती इलाके में उस समय नरवाहन नामक डाकुओं के एक सरदार का आतंक स्थायी रूप से फैला हुआ था उन्होने वृन्दावन के जंगल को अपना सुरक्षित ठिकाना बना रखा था और यहाँ किसी का स्थायी रूप से बसना उनको पसंद नहीं था।

कई गौड़ीय गोस्वामीगण श्रीहिताचार्य से पूर्व यहाँ आ चुके थे किन्तु वे सब विरक्त थे और तब तक उनको भगवद् विग्रहों की भी प्राप्ति नहीं हुई थी। श्रीहिताचार्य, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, अपने परिकर सहित यहाँ पधारे थे और उनके साथ श्रीराधावल्लभजी का स्वरूप भी था। एक दिन नरवाहन जी कौतुकवश श्रीहिताचार्य से मिले और थोड़ी सी बातचीत के पश्चात् परिवर्तित हृदय लेकर उनके पास से उठें तथा कुछ ही दिनों में उनके शिष्य बन गये। नरवाहन जी के वैष्णव बन जाने के साथ वृन्दावन वास निष्कंटक बन गया और सभी महात्मागण आनन्दपूर्वक यहाँ रहने लगें। नरवाहन जी अपनी सच्ची लगन और उत्कट गुरु भक्ति के कारण श्रीहिताचार्य को इतने प्रिय हो गये कि उन्होंने 'नरवाहन प्रभु' का भोग देकर दो उत्कृष्ट पदों की रचना की और बाद में यह दोनों पद 'हित चौरासी' में सम्मिलित कर लिये गये।

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी सं. १५९१ में वृन्दावन आ गये और यहाँ अठारह वर्ष निवास करने के बाद सं० १६०९ में नित्य लीला में प्रवेश किया। इस अवधि में वे व्रज से बाहर नहीं गये।

व्रज में भी उनकी बैठक एकमात्र राधाकुण्ड में है। फिर भी उनके जीवन काल में ही उनका प्रेम धर्म सुदूर प्रान्तों में फैल गया था। उनके एक शिष्य नवलदास जी से उनका एक पद सुनकर ओड़छा के राजगुरु श्री हरिराम व्यास सपरिकर वृन्दावन आ बसे थे और हितधर्म के प्रचार में उनके प्रधान सहायक बने थें। एक अन्य शिष्य पूरनदास सिंधकी तत्कालीन राजधानी ठट्ठा पहुँच गयें थें और वहाँ के सूबा राजा परमानन्द को प्रभावित करके श्रीहिताचार्य का शिष्य बनने के लिये प्रेरित किया था। इस प्रकार के अन्य कई उदाहरण रसिक अनन्यमाल में उल्लिखित हैं।

गढ़ा (जबलपुर) निवासी दामोदरदास जी ने श्रीहिताचार्य के निकुञ्ज गमन के पश्चात् अपनी निष्ठा के बल पर स्वप्न में भी उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने अपना उपनाम "सेवक" रखकर सम्प्रदाय के सर्वप्रथम सिद्धान्त ग्रंथ 'सेवक वाणी' की रचना की। राधावल्लभीय धर्म और रस सिद्धान्त को समझने के लिये आज भी सेवक जी के उक्त ग्रन्थ का अनुशीलन अनिवार्य समझा जाता है। सम्प्रदाय में गोस्वामी इन्द्रमणि जी की यह उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है---

राधावर नाम सौ न बृन्दावन धाम सौ।
न सेवक सौ सेवक न गुसाईं हरिवंश सौ॥

श्रीहिताचार्य की संस्कृत में दो रचनायें प्राप्त हैं---राधासुधानिधि स्तोत्र एवं यमुनाष्टक। सारे देश के राधाचरणानुरागियों के लिये उक्त स्तोत्र ग्रंथ हृदयाभरण बना हुआ है। सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में कदाचित् यह सर्वप्रथम ग्रंथ है जो राधा वंदना से आरम्भ होता है। लोकवेद की मर्यादाओं को थूत्कृत करके श्रीराधाचरणों की अनन्य निष्ठा का ज्ञापन इसमें बड़े मनोहारी ढंग से किया गया है। श्रीराधा के अनुपम रूप-सौन्दर्य के नयनाभिराम चित्र इस ग्रंथ में बड़े प्यार से सजाकर रखे गये हैं। ग्रंथ की समाप्ति पर श्रीहिताचार्य ने अपनी इस रचना के दो लक्षण बताये हैं। एक यह कि यह "कौमल कुञ्जों पुञ्जों से सुशोभित वृन्दाटवी मंडल से संलग्न है और दूसरा यह कि इसमें क्रमशः श्रीबृषभानुनन्दिनी के चरणनख की ज्योतिछटा क्रीड़ा करती रहती है।"

लग्नाः कोमल कुंज पुंज विलसद् वृन्दाटवी मंडले।
क्रीडच्छ्री बृषभानुजा-पदनखज्योतिश्छटा प्रायशः॥

व्रजभाषा में श्रीहित हरिवंश गोस्वामी के चौरासी पदों का संग्रह 'हित चतुरासी' के नाम से प्रसिद्ध है तथा शेष अट्ठाईस छंद 'स्फुट वाणी' में ग्रंथित हैं। श्रीहिताचार्य के इन पदों में व्रजभाषा का जैसा उज्ज्वल एवं समृद्ध रूप सामने आया है वह अन्यत्र दिखलाई नहीं देता। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में 'इन पदों में भाषा की प्रांजलता के साथ मार्दव लावण्य और प्रवाह का जैसा स्वच्छ सुथरा रूप है वैसा व्रजभाषा के किसी भक्त कवि की वाणी में नहीं है। मुझे यह कहते हुये तनिक भी संकोच नहीं है कि ऐसा परिमार्जित रूप सूरदास और नन्ददास की भाषा में भी उपलब्ध नहीं होता।' इन थोड़े से पदों के बलपर ही श्रीहित हरिवंश व्रजभाषा के जयदेव कहे जाते हैं। वे श्रीराधा के नागरी रूप के गायक हैं। यह नागरता विचित्र प्रकार से उनकी वाणी का भी प्रमुख गुण बन गई है। उनके पदों में एक अद्भुत सुसंस्कारिता और

रससिक्त आभिजात्य के दर्शन होते हैं। रसिक उपासकों के लिये तो श्री हिताचार्य के पद सदैव से प्रेम और सौन्दर्य के कल्पतरु रहे हैं। अठारहवीं शती के आदि में होने वाले वृन्दावनदासजी ने हितचौरासी के सम्बन्ध में कहा है--

"हित चौरासी में दो परम प्रेमियों (मीतों) की निर्मल प्रीति रीति का वर्णन हुआ है और यह प्रीति रीति (प्रेम पद्धति) वेदों को भी अगोचर है तथा सबसे अनोखी है, विलक्षण है। इस प्रेम पद्धति में श्रीवृन्दावन की अनुपम छवि प्रकाशित रहती है जिसको देखकर 'श्रीहित हरिवंशचन्द्र' पुलकित होते रहते हैं तथा उसके वर्णन के द्वारा रसिक भक्तजनों को आनन्दित करते रहते हैं। (व्यासजी ने अपने एक पद में बतलाया है जब श्रीहरिवंश वृन्दावन माधुरी का वर्णन करते हैं तो उसे सुनकर गौरांगी श्रीराधा मुसकाती हैं-- वृन्दाबन हरिवंश प्रसंसत सुनि गोरी मुसकात) प्रेम और सौन्दर्य के परम धाम श्रीवृन्दावन में जल और तरंग के समान अभिन्न श्रीश्यामाश्याम उन्हीं के (जल तरंग) के समान परस्पर भिन्न रहकर प्रेम विलास करते रहते हैं और श्रीहरिवंश चन्द्र उनकी उस प्रेम क्रीड़ा में सहायक बने रहते हैं। इस अद्‌भुत प्रेम-विहार को देखकर ललितादिक सहचरीगण बलिहार होती रहती हैं। इसलिये श्रीहरिवंश रचित हित चौरासी चतुर लोगों का ही परम धन है, गँवार लोग तो इसमें वर्णित प्रेम-विहार को सामान्य प्रेम क्रीड़ा समझकर भ्रान्त होते रहते हैं।

निगम अगोचर बात कहा कहौं अतिहि अनौखी।
उभय मीत की प्रीत रीत चोखी ते चोखी॥
वृन्दावन छबि देखि-देखि हुलसत हुलसावत।
जल-तरंगवत् गौरश्याम विलसत विलसावत॥
ललितादिक निज सहचरी निरखि-निरखि बलिजात।
चतुरासी हित पद कहे चतुरन को यह परम वित॥

इसी प्रकार वंशी अलिजी के शिष्य किशोरी अलिजी ने एक पद में हित चौरासी की वंदना की है--

जय श्री चतुरासी रसरासी।
हित हरिवंश चन्द्र तैं प्रगटी दम्पति प्रेम प्रकासी॥
ललित केलि की सरिता मानौ उमड़ि चली अनियासी।
रसिक उपासक रुचि सौं पीवत जीवत श्री बनवासी॥

वक्ता श्रोता कौं अपनावै नवल निकुंज विलासी ।
ताही छिन परिकर तन दै कै करत किशोरीदासी ।।

श्रीहिताचार्य ने श्रीराधावल्लभजी के अतिरिक्त दो अन्य लीला स्थलो सेवाकुंज और रास-मण्डल की स्थापना वृन्दावन में की तथा यमुना के उस पार मानसरोवर के तट पर उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण की नाम सेवा की प्रतिष्ठा की । इस स्थान पर प्रतिमास की पूर्णिमा को मेला लगता है जिसमें आसपास के जिलों के हजारों व्यक्ति सम्मिलित होते हैं ।

श्रीहिताचार्य की परम्परा में अनेक समर्थ वाणीकार एवं रसिक भक्तगण हुये हैं । वाणी रचयिताओं में सर्वश्री रूपलाल गोस्वामी, हरिराम व्यास, ध्रुवदास, नागरीदास, लालस्वामी, दामोदर स्वामी, सहचरिसुख, चाच वृन्दावनदास, चन्द्रलाल गोस्वामी, भोरीसखी आदि की रचनाऐ साहित्यिक दृष्टि से अधिक मूल्यवान् एवं प्रभावशाली हैं । पिछले दिनो श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त एवं साहित्य के सम्बन्ध में दो अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं तथा मूल ग्रन्थों के प्रकाशन का उपक्रम हुआ है ।

प्रशस्ति

नमो नमो जै श्रीहरिवंश ।
रसिक अनन्य वेणु कुल मण्डल, लीला मानसरोवर हंस ।।
नमो जयति जै श्रीवृन्दावन, सहज माधुरी रासविलास प्रसंस ।
आगम निगम अगोचर श्रीराधे, चरन सरोज व्यास अवतंस ।।

—रसिकवर श्रीहरिराम जी व्यास

हित-सिद्धान्त के प्रथम व्याख्याता श्रीसेवकजी*

विक्रमी सोलहवीं शतीके प्रबल भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तकों में श्रीचैतन्य महाप्रभु (जन्म सं० १५४२ तथा श्रीहित हरिवंश गोस्वामी (जन्म सं० १५५९) दो ऐसे महानुभाव थे, जिन्होंने अपने अल्प जीवनकाल में सर्वथा भावाभिभूत रहकर केवल भगवन्नाम एवं लीला का ही गान किया—अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त को सुगठित करने का कोई प्रयास इनके द्वारा नहीं हो सका। श्री चैतन्य महाप्रभु ने नाम-गान के द्वारा एवं श्रीहिताचार्य ने लीला-गान द्वारा एक ऐसी प्रेम सौन्दर्यमयी रंगीन ज्योति जगा दी, जिसके आलोक से सम्पूर्ण उत्तर भारत राग-रंजित हो उठा और यहाँ की पददलित, पराधीन एवं मरणोन्मुख हिन्दू जाति को जीवित रहने का सहारा मिल गया।

श्रीहित महाप्रभु बत्तीस वर्ष की आयु में श्री वृन्दावन पधारे थे और यहाँ के अठारह वर्ष के अपने वास में व्रज की सीमा से बाहर नहीं गये। श्रीचैतन्य महाप्रभु के उन्मत्त नाम-संकीर्तन से प्रेरणा ग्रहण करके जिस प्रकार उनके कृपापात्रों ने देश में भगवन्नाम की धूम मचा दी थी, उसी प्रकार श्रीहिताचार्य के शिष्यगण सुदूर स्थानों में पहुँचकर उनके पदों का समवेत स्वर में गान करते थे और उनसे आकृष्ट होकर संस्कारी भक्तगण श्री हितप्रभु का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए वृन्दावन की ओर चल पड़ते थे।

श्रीहिताचार्य के पदों का भावविभोर कंठ से गान करनेवाली इसी प्रकार की रसिक भक्तों की एक मण्डली एक बार जबलपुर के निकट नर्मदा तट पर स्थित गढ़ाग्राम में पहुँची और उसने वहाँ सम्पूर्ण रात्रि पद गान किया*।

---

* रस वृन्दावन (गोस्वामी श्रीहितहरिवंश 'विशेषांक') वर्ष २ अंक २, ३, ४ अप्रैल, मई, जून, १९८० से साभार।

* गढ़ा उस समय विद्या-प्रेमी गौंड़ राजाओं की राजधानी थी। उन्होंने उसे संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र बना दिया था। वह दूर-दूर तक लघुकाशी के नाम से प्रसिद्ध था।

श्रोताओं में चतुर्भुजदासजी और दामोदरदासजी नामक दो ब्राह्मण युवकों पर उक्त गान का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। ये दोनों सुशिक्षित, सुसंस्कारी एवं धर्म में प्रगाढ़ रुचि रखने वाले व्यक्ति थे। दोनों अनेक दिनों से सद्गुरु की खोज में थे और आपस में शास्त्र-चर्चा करते रहते थे। रसिक सन्तों के मुख से श्रीहिताचार्य के पदों को सुनकर दिव्य प्रेम की एक सर्वथा अभिनव सृष्टि का उन्मेष इन दोनों की दृष्टि में हो गया और उनको ऐसा लगा कि उनका सहज भावुक मन जिस वस्तु की खोज में अज्ञात रूप से प्रवृत्त था, उनको अनायास मिल गयी है। इन पदों में उनको उस परम लावण्यमय सुख के दर्शन मिले, जो देश-काल की परिधि से अतीत होते हुए भी सर्वथा अपरिचित नहीं लगता, जो अतीन्द्रिय होते हुए भी इन्द्रिय-गोचर है, जिसकी मांगलिक महार्घता पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना ही परम लाभ है। दोनों मित्रों ने उसी समय निर्णय कर लिया कि अविलम्ब श्रीवृन्दावन जाकर इस महाज्योति से अपना दीपक जला लेना चाहिए।

किन्तु गृहस्थ के झंझटों ने उनको कुछ काल तक गढ़ा में ही रोके रखा और इधर श्रीहिताचार्य अचानक अंतर्धान हो गये। इस दुःखद समाचार से दोनों मित्र अत्यन्त व्यथित हो उठे और उनके सम्पूर्ण सुख-स्वप्न एक क्षण में ध्वस्त हो गये। कुछ दिनों किंकर्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में रहे और अपने भविष्य का निर्णय नहीं कर पाये। थोड़े ही दिनों बाद उनको समाचार मिला कि श्रीहिताचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द्र गोस्वामी उनकी गद्दी पर विराजमान होकर पूर्ण समर्थता से उनका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। चतुर्भुज दासजी को इस समाचार से बहुत शान्ति मिली और उन्होंने अविलम्ब श्री वृन्दावन जाकर श्रीवनचन्द्र गोस्वामी से दीक्षा लेने का निर्णय ले लिया। उन्होंने दामोदरदासजी से भी वृन्दावन चलने को कहा, किन्तु वे तैयार नहीं हुए। उन्होंने दृढ़तापूर्वक चतुर्भुजदासजी से कह दिया कि मैं गुरु के रूप में श्रीहिताचार्य का वरण कर चुका हूँ और दीक्षा लूँगा तो उन्हीं से लूँगा, अन्यथा प्राणों का त्याग कर दूँगा। चतुर्भुजदास ने उनको 'आत्मा वै जायते पुत्रः' आदि शास्त्रवाक्यों के आधार पर समझाने की बहुत चेष्टा की, किन्तु दामोदरदासजी अडिग बने रहे और वे उनको छोड़कर वृन्दावन चले गये।

उनके चले जाने के बाद दामोदरदासजी ने 'श्रीहरिवंश' नामका अखण्ड जाप प्रारम्भ कर दिया। विरहानुभव के तीव्र ताप ने उनके समस्त अशुभों को भस्म कर दिया। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता था, उनका गुरु-कृपा पर विश्वास बढ़ता जाता था।

एक दिन स्वप्नावस्थामें उन्होंने देखा कि वे वृन्दावन पहुँच गये हैं।

वहाँ उनको श्रीहिताचार्यके दर्शन हुए और उन्होंने इनके सिरपर हाथ रखकर इनको अपने शिष्यके रूपमें स्वीकार कर लिया तथा मंत्र प्रदान कर दिया। तत्पश्चात् श्री हिताचार्यने इनको अपने प्रेम-धर्मका रहस्य समझा दिया और सम्पूर्ण-रस वैभव सहित श्री वृन्दावनके दर्शन करा दिये। इसके साथ ही उन्होंने इस रसके कथनके लिए दामोदरदासजीको वाणी भी प्रदान कर दी।

दामोदरदासजी जब सोकर उठें तो उन्होंने अपने आपको सर्वथा परिवर्तित पाया। उनका अपना पुराना परिचित व्यक्तित्व कहीं ढूँढ़े नहीं मिल रहा था। उनकी दृष्टिसे उनके समस्त जागतिक सम्बन्ध विलुप्त हो गये थे और उनके स्थानमें एक सर्वथा अननुभूत सम्बन्ध सेव्य-सेवक-सम्बन्ध उनके हृदयमें उदित हो गया था। इस सम्बन्ध में सेव्य श्रीहितहरिवंश थे और स्वयं श्री दामोदरदास सेवक। यह सेवक भाव क्रमशः इतना सुदृढ़ हो गया कि दामोदरदासजीका नाम ही 'सेवकजी' हो गया। उनकी रचनामें भी उनका यही नाम मिलता है। सेवकजीके (कनिष्ठ) समकालीन श्रीनागरीदासजी इनकी वन्दनामें लिखे गये अपने एक पदमें यदि इनके 'दामोदर' नामका उल्लेख न कर देते तो इनके मूल नामका पता ही न चलता।

इधर श्री वनचन्द्र गोस्वामीसे दीक्षा लेकर जब चतुर्भुजदासजी गढ़ा वापस पहुँचे तो वे सेवकजीको देखकर चकित हो गये। उनका मुख एक विलक्षण प्रभासे मण्डित था तथा उनके नेत्रोंसे पूर्णकामता झलक रही थी। बातचीत होनेपर सेवकजीने चतुर्भुजदासजीको वही मंत्र सुनाया, जो उनको श्री वनचन्द्र गोस्वामीसे प्राप्त हुआ था। इसके बाद सेवकजीने स्वरचित 'वाणी' चतुर्भुजदासजीको सुनायी और उसे सुनकर वे सेवकजीके चरणोंमें लोट गये। उनको प्रसन्नता इस बातकी थी कि इस रचनासे श्री हिताचार्यके प्रेम-धर्मको रूप-आकार ही नहीं मिला है, स्वतंत्र व्यक्तित्व भी मिल गया है और श्री हिताचार्यके अवतारका प्रयोजन पूर्णतया सिद्ध हो गया है।

सेवकजीकी ख्याति धीरे-धीरे वृन्दावनतक पहुँच गयी। श्री वनचन्द्र गोस्वामीने जब 'वाणी' सुनी, तो वे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने घोषणा कर दी कि सेवकजी जब वृन्दावन आवेंगे तो मैं श्री राधावल्लभलालके भण्डारको उनके ऊपर न्योछावर करके लुटा दूंगा। इधर सेवकजीने जब श्री वनचन्द्र गोस्वामीकी उक्त प्रतिज्ञाको सुना तो वे असमंजस में पड़ गये और उन्होंने वृन्दावन जानेका विचार शिथिल कर दिया, किन्तु कुछ दिनों बाद ही उनको श्री गोस्वामीजी का एक पत्र मिला, जिसमें उन्होंने सेवकजीको अपनी शपथ दिलाकर श्री वृन्दावन शीघ्र पहुँचने का आग्रह किया था। सेवकजीके पास अब कोई विकल्प नहीं रह गया था, किन्तु वे भण्डार लुटानेवाली बातसे बहुत भयभीत थे। वे वेष बदलकर मन्दिरमें पहुँचे, किन्तु श्री वनचन्द्र गोस्वामी ने उनको—

नेह भरी चितवन सौं जान्यौ-बड़ी भीरमें यों पहिचान्यौ ।

श्रीगोस्वामीजी सेवकजीसे बड़े प्रेमपूर्वक मिले। सेवकजी उनके चरणोंमें गिर पड़े और प्रार्थना की कि प्रभुका भण्डार नहीं लुटाना चाहिए। गोस्वामीजीने कहा कि मैं तो इस बातकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, किन्तु आपकी व्याकुलता देख कर मैं यह कर सकता हूँ कि श्रीजीका केवल प्रसादी भण्डार आपके ऊपर न्यौछावर करके लुटा दूँ। सेवकजीको इस बातके लिए तैयार होना पड़ा और प्रसादी भण्डार लुटा दिया गया। सेवकजीके चरित्रकारने लिखा है—

ऐसे गुरु धर्मिनपर रीझत, न्यौछावर दैकैं रस भींजत ।

श्रीवनचन्द्र गोस्वामीने उसी समय यह भी व्यवस्था दे दी कि 'हित-चौरासी' और 'सेवकवाणी' एक साथ ही लिखी जानी चाहिए और साथ ही पाठ किया जाना चाहिए। उनकी इस आज्ञाका सम्प्रदायमें अभीतक पालन हो रहा है। सेवकजीकी केवल एक ही रचना-सेवकवाणी-उपलब्ध है। साठ-पैंसठ पृष्ठका यह छोटा-सा ग्रंथ व्रजभाषा पद्यमें रचित है और सोलह प्रकरणोंमें विभक्त है। सेवकजीने श्रीहरिवंश धर्मका निर्णय अपने प्रत्यक्ष अनुभव और श्रीहिताचार्यकी रचनाओंके आधारपर किया है। उन्होंने दोनोंको परस्पर सर्वथा अनुरूप पाया था। इसीलिए सेवकवाणीमें एक अद्भुत निश्चयात्मकता और ओजके दर्शन मिलते हैं। सेवकजीके अनुभव और श्रीहिताचार्यकी वाणी-की एकरूपताको एक उदाहरणसे समझा जा सकता है। श्रीहिताचार्यने अपने एक पदमें श्रीश्याम-श्यामाके चरण-कमल-संगी भक्तजनोंकी वन्दनाको भव-सन्तरणका एकमात्र उपाय बताया है—

हित हरिवंश प्रपंच वंच सब।
काल ब्यालकौ खायौ ॥
यह जिय जानि श्याम-श्यामापद-
कमलसंगि सिर नायौ ॥

(हित-चौरासी, ५६)

एक अन्य पदमें आचार्यपादने कहा है कि मुझको तो संसारमें भक्तोंका भजन करनेवाले अच्छे लगते हैं—

मोकौं तौ भावै माई जगत भगत-भजनी ।

(हितचौरासी, ६५)

हम देख चुके हैं कि रसिक भक्तोंके द्वारा सेवकजी प्रेमधर्मके प्रति उन्मुख हुए थे और एक रसिक भक्तशिरोमणि द्वारा उन्हें प्रेम राज्यकी दीक्षा मिली थी

तथा प्रेमानन्द उनके तनमन-प्राणोंमें पूरित होकर उनके नेत्रोंका विषय बना था। अतः भक्तकी सर्वोपरिता उनके प्रेमानुभवका मौलिक अंग थी। उन्होंने अपनी वाणीमें 'भक्तभजन' के नामसे एक स्वतंत्र प्रकरण लिखा है। वह अन्य सब प्रकरणों में बड़ा है। भक्तोंके प्रति इस दृष्टिकोणको उन्होंने अपनी वाणीमें अन्यत्र श्रीहरिवंश धर्मका 'मर्म' बताया है। उन्होंने युक्ति यह दी है कि न तो धर्मी (भक्त) के बिना कहीं धर्मकी स्थिति देखी जाती है और न धर्मके बिना धर्मीकी—

धर्मी बिनु नहिं धर्म नाहिं बिनु धर्म जु धर्मी।
श्री हरिवंश प्रताप मरम जानहिं जे मर्मी ॥

अतः यह कहा जा सकता है कि धर्मका प्रत्यक्ष रूप ही धर्मी है और कोई भी धर्म-साधना धर्मीका आश्रय लिये बिना सिद्ध नहीं हो सकती। यही बात प्रेम और प्रेमीके सम्बन्धमें भी सत्य है। प्रेमका प्रकट रूप ही प्रेमी है। कहा गया है कि जैसे तीन बार बीस, और साठमें कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार प्रेम और प्रेमी अभिन्न हैं—

प्रेमहिं पियहिं बीच है केतौ-बीसी तीन साठमें जेतौ।

प्रेम और प्रेमी, धर्म और धर्मी, भक्त और भगवानकी इस तात्विक अभिन्नताके ऊपर ही सेवकजीने श्रीहित हरिवंश के प्रेम-धर्मकी नींव रखी है तथा उनके धर्मको उनके स्वरूपका ही विस्तार किंवा प्रत्यक्ष रूप माना है। सेवकवाणीकी उक्त मौलिक विचार-धाराको दृष्टिमें रखकर सेवकजी द्वारा निर्णीत श्रीहरिवंश धर्मके स्वरूपको समझनेकी चेष्टा हम करेंगे।

सेवकजीने अपनी वाणीके प्रथम प्रकरणमें श्रीहिताचार्यके प्राकट्यका हेतु, प्रभाव आदिका वर्णन करनेके पश्चात् संपूर्ण भक्ति-सम्प्रदायों एवं उनके उपासकोंके प्रति श्रीहितप्रभुके समभावका कथनकिया है। प्रकरणके अन्तिम छंदमें सेवकजीने उनके धर्मका परिचय दिया है। उन्होंने कहा है कि अब मैं श्री हिताचार्यके 'अपने सहज' धर्मका वर्णन करता हूँ। इस धर्ममें प्रेमकी वह अद्भुत अलौकिक भूमिका नित्य प्रकट रहती है, जहाँ प्रेमका सागर नित्य प्रवाहित रहता है अर्थात् जहाँका अगाध-अपार प्रेम सदैव लीला-परायण बना रहता है। इस धर्मका साधन दसों प्रकारकी भक्तियाँ हैं। इसमें श्रीहितप्रभुका वह सहज स्वरूपभूत प्रेम- वैभव प्रकट होता है, जिसका वर्णन करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। इस धर्मकी नित्य स्थिति श्रीराधाके युगल चरणमें है।

अब निजु धर्म आपनौ कहत,
तहाँ नित्यवृन्दावन रहत।

बहत प्रेम सागर जहाँ ॥
साधन सकल भक्ति जातनौ,
निजु वैभव प्रगटत आपनौ ।
भनौं एक रसना कहा ॥
श्री राधा जुग चरण निवास,
जस वरनौं हरिवंश विलास ।
श्री हरिवंशहि गाइहौं ॥१४॥

उक्त वर्णनमें श्रीहरिवंश धर्मके विधायक चार तथ्य स्पष्ट होते हैं,

१—इस धर्मका मूल उपास्य भाव श्री वृन्दावन है, जो प्रवहमान प्रेम-सागरकी आधार-भूमि है ।

२—श्रीमद्‌भागवतमें वर्णित नवधा भक्ति इस भावकी प्राप्तिका साधन है ।

३—इस धर्मके रूपमें श्रीहित हरिवंशका स्वरूप-भूत प्रेमवैभव ही प्रकट हुआ है ।

५—इस धर्मके एकमात्र आश्रय श्रीराधाके युगल चरण-कमल हैं ।

श्री हिताचार्यने अपनी संस्कृत और व्रजभाषा रचनाओंमें श्रीश्यामाश्याम की प्रेम-केलिका वर्णन किया है । सेवकजीने भी अपनी वाणीमें इसी केलिका गान किया है, किन्तु उसे एक अद्‌भुत प्रकारसे श्रीहरिवंशके स्वरूपके साथ गूंथ दिया है । सेवकजीके लीलागानकी इस अनोखी विधाको समझनेके लिए कुछ उदाहरण देने होंगे ।

'सेवक-वाणी' के द्वितीय प्रकरणके प्रथम छंदमें सेवकजीने श्रीश्यामाश्यामके नित्य रास-विलासका वर्णन किया है, किन्तु उसका उपक्रम यह कह कर किया है कि श्रीहरिवंशकी इस नित्य श्रेष्ठ केलिमें सरस प्रेम रसकी बेलि बढ़ती रहती है और परस्पर कंठमें भुजा डाल कर गौर-सांवल सखियोंके मध्यमें स्थित रह कर क्रीड़ा करते रहते हैं । इसके लिये श्रीश्यामाश्यामकी पारस्परिक रति अत्यन्त प्रबुद्ध स्थितिमें रहती है और लीलाको विच्छिन्न नहीं होने देती । छंदके उपसंहारमें सेवकजी रसिकजनों को संबोधित करके कहते हैं कि तुम मेरे द्वारा वर्णित इस हरिवंश-विलासको सुनो; मैं केवल श्रीहरिवंशका ही गान करूँगा ।

श्रीहरिवंश नित्य वर केलि,
बाढ़त सरस प्रेम - रस बेलि ।
मेलि कंठ भुज खेलहीं,
वनितन गन मन अधिक सिरात ॥

निरख-निरख लोचन न अघात।
गात गौर-साँवल बने॥
जूथ - जूथ जुवतिनु के घने,
मध्य किशोर - किशोरी बने।
गनैं कवन रति अति बढ़ी॥
नित-नित लीला नित-नित रास,
सुनहु रसिक हरिवंश विलास।
श्रीहरिवंशहि गाइहौं॥१॥

दूसरा उदाहरण 'सेवक-वाणी' के दसवें 'भक्त भजन' प्रकरणसे लिया गया है। इसमें सेवकजीने कहा है कि रस-सागर हरिवंश हित सरितवर यमुनाजीके तट पर सुशोभित हैं। सम्पूर्ण जगत् में वे अपने यशका विस्तार करते हैं और स्वयं कुंज-कुटीर में निवास करते रहते हैं। श्री वृन्दावन की इस कुंज कुटीरमें पीताम्बरधारी नवरंग श्रीश्यामघन एवं नीलवसना भामिनि श्रीराधाके प्रेमावेशकी 'भीर' अर्थात् अतिशयता है। ये दोनों ऐसे अद्भुत प्रकारसे प्रेमकेलि कर रहे हैं, जिसे देखकर दक्षिण समीर विवश बन गया है और मंदगतिसे प्रवाहित हो रहा है।

रस सागर हरिवंश हित,
लसत सरित वर तीर।
जग जस विशद सुविस्तरत,
बसत जु कुंज कुटीर॥
बसत जु कुंज कुटीर, भीर,
नवरंग भामिनि भर।
चीर नील गौरांग सरसघन तन पीताम्बर॥
धीर बहत दक्षिन समीर कलकेलि करत अस।
नीरज शैन सुरचित वीरवर सुरत रंग रस॥१४॥

सेवक-वाणीके चतुर्थ प्रकरणमें श्री वृन्दावनकी नित्य नवीन कुंजोंको भी श्री हरिवंशके प्रेम रसका पुंजीभूत रूप बताया गया है, जिनमें श्री हरिवंश क्षण-क्षणमें नवीन बनने वाले प्रेम रसका उपभोग करते हुए नित्य-क्रीड़ा करते रहते हैं। श्रीहरिवंशका प्रेम ही, इन कुंजोंमे सहचरियोंके रूपमें प्रकट रह

कर तरल हिंडोलेकी रचना करता है और फिर श्रीश्यामाश्यामके रूपमें उस हिंडोलेपर झूलता है, फूलता है, और प्रेमकलोल करता है। कभी यही प्रेम, इन कुंजोंमें नवीन शैय्याकी रचना करता है, जिसपर विराजमान होकर प्रेम-स्वरूप श्रीश्यामा-श्याम प्रेम-केलि करते हैं और उनका दर्शन करके श्रीहरिवंश 'सुरतरति' का गान करते हैं—

श्रीवृन्दावन नव-नव-कुंज, श्रीहरिवंश प्रेमरस - पुंज।
श्रीहरिवंश करत नित केली,
छिन-छिन प्रति नव-नव रस झेली॥
कबहुँक निर्मित तरल हिंडोला,
झूलत-फूलत करत कलोला।
कबहुँक नवदल सेज रचावहिं,
श्रीहरिवंश सुरत - रति गावहिं॥

इस प्रकार, हम देखते हैं, कि सेवकजीने श्रीराधाकृष्ण एवं उनकी क्रीड़ाको एक अभिनव दृष्टिसे देखा था। पुराणोंमें भी श्रीकृष्णकी व्रजलीलाएँ प्रेमलीलाएँ ही मानी जाती हैं, किन्तु उनमें श्रीकृष्णकी भगवत्ता हर जगह झाँकती रहती है। रासलीलामें भी पग-पगपर श्रीकृष्णकी भगवत्ताका स्मरण दिलाया गया है। रसिक भक्तोंकी दृष्टिमें यह स्थिति प्रेमके शुद्ध और निरपेक्ष स्फुरणमें बाधक है। 'सेवकवाणीके' आठवें प्रकरणके एक छंदमें सेवकजीने अनन्य प्रेमोपासकों के भजनकी विशिष्ट रीतिका परिचय व्यतिरेक मुखसे देते हुए कहा है कि अनन्य प्रेमियोंका भजन उनके हृदयमें स्थित अंतर्यामी तत्त्वको भजनेसे नहीं बनता-इनके भजनका पोषण तो भगवान्‌के प्रकट (इन्द्रिय-गोचर) रूपके द्वारा ही होता है। सूरदासजी, नन्ददासजी, तुलसीदास आदि सगुणोपासक भी भजनकी इस विधाका ही अनुमोदन करते हैं। सूरदास-जीके भ्रमरगीतमें उद्धवजी व्रजांगनाओंके विरहतापको कम करनेके उद्देश्य-से उनको हृदयमें स्थित श्रीहरिका भजन करनेका उपदेश देते हैं, किन्तु गोपियाँ अपने नेत्रोंकी विवशताका परिचय देते हुए उनसे कहती हैं—

नैना नाहिनैं ये रहत।
यदपि मधुप तुम नन्दनन्दन कौं,
निपट हि निकट कहत॥
हृदय माँझ जो हरिहिं बतावत,
सीख्यौ नाहिं गहत॥

परीजु प्रकृति प्रगट दर्शन की,
देखौ ही रूप चहत।
सूरदास प्रभु बिन अवलोके,
सुख कोई ना लहत ।।

गो० तुलसीदासजीने तो स्पष्ट ही कहा है कि 'अन्तरयामी' रामसे 'बाहरयामी' बड़े हैं। जब प्रहलादपर विपत्ति पड़ी थी तब प्रभु हृदयमें से प्रकट न होकर पत्थर (खंभ) में से प्रकट हुए थे--

अन्तरयामि हुँ ते बड़ बाहिर-
यामी' हैं, राम सुनाम लिये तें।
भीर परी प्रहलाद पै जो, प्रगटे,
प्रभु पाहन तें न हिये तें।।

सेवकजीका प्रकट रूपके प्रति आग्रह देख कर यदि कोई उनसे कहे कि तब आपको अन्य व्रजोपासक महानुभावों की भाँति श्रीयशोदानन्दनका भजन चिंतन करना चाहिए, तो इसके उत्तरमें सेवकजी कहते हैं कि जिन्होंने यशोदानन्दनको भज कर देखा था, उन्होंने उनको (यशोदानन्दनको) अपने मुखमें सम्पूर्ण विश्वका दर्शन करते हुए भी देखा था। किन्तु माता यशोदाके सहज वात्सल्यपर उनके पुत्रकी इस लीलाका बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ा था और कुछ देरके लिए तो उनका सहज प्रेम विलुप्त ही हो गया था। प्रेमानुभवकी अविच्छिन्नताके पक्षपाती रसिक भक्तोंको प्रेमकी यह स्थिति सह्य नहीं है। उक्त छंदकी अंतिम चार तुकोंमें सेवकजीने 'श्रीहरिवंश' शब्दका प्रयोग श्लिष्टार्थमें किया है। वे कहते हैं कि श्रीहरिकी प्रकट लीलाओंमें केवल रासलीलाका प्रवर्तन श्रीहरिने वंशीके द्वारा किया था और नाद-विमोहित गोपीजनोंने एक क्षणमें उनका शुद्ध सामीप्य प्राप्त कर लिया था, किन्तु इस लीलामें भी, अन्य भावोंके उभर आनेसे प्रेम-प्रवाह बाधित हो ही गया। अब अर्थात् इस युगमें श्री हरिवंश द्वारा रास-क्रीडा का वर्णन जिस रूपमें किया गया है, उसमें विजातीय भावोंकी मिलावट नहीं है। परिणामतः राग-रंगमयी यह उज्ज्वल प्रेमलीला श्रीवृन्दावनमें अबाध गतिमें चलती रहती है। जो रसिकगण श्री हरिवंशके नाद (वाणी) द्वारा विमोहित हुए हैं, उनकी इस अनाद्यनंत एक-रस प्रेमलीलाकी अविच्छिन्न अनुभूति सुलभ होती है।

प्रेमी अनन्य भजन्न न होई,
जो अन्तरजामी भजै मन में।
जो भज देख्यौ यशोदा कौ नंदन,
तौ विश्व दिखाई सबै तन में।।

श्री हरिवंश सुनाद विमोहीं ते,

शुद्ध समीप मिलीं छिन में ।

अब यामें मिलौनी मिलै न कछू,

जब खेलत रास सदा वन में ।।

—(सेवकवाणी, ८-५)

श्रीमद्भागवतमें वर्णित रासलीला शुद्ध प्रेममयी क्रीडा मानी जाती है। श्री हिताचार्यकी उपासना इस लीला पर ही आधृत है, किन्तु 'हित-चौरासीमें' एक पदमें (पद सं० ६३), उनके द्वारा किया हुआ इस लीलाका वर्णन श्रीमद्-भागवतसे कुछ भिन्न है। उक्त पदके प्रथम छन्दमें श्री नन्दनन्दनके त्रिभंग ललित रूपका अत्यन्त रोचक वर्णन करनेके बाद दूसरे छन्दमें वेणुनाद-विमोहित गोपीजनोंका आगमन वर्णित है। किन्तु तीसरे छन्दमें भगवानके अन्तर्धान एवं तज्जनित गोपियोंके तीव्र विरहानुभवका वर्णन न करके सीधा रासका वर्णन कर दिया गया है। पदके अन्तिम चौथे छन्दमें इस परम प्रेम-सौन्दर्यमयी क्रीडाके ब्रह्मांडके जड़-चेतन पर पड़ने वाले अद्भुत प्रभावका वर्णन है।

श्री हिताचार्यके समकालीन एवं प्रमुख सहयोगी श्रीहरिराम व्यासने भी अपनी विस्तृत ब्रजभाषा रासपंचाध्यायीमें गोपियोंकी 'विरह-कथा' को छोड़ दिया है। उन्होंने कहा है कि भगवान गोपीजनोंके 'सौभगमद' एवं 'मान' को देख कर ही अंतर्हित हुए थे, किन्तु उनके साथ एक बार रासक्रीड़ा आरम्भ करनेके पश्चात् अन्तर्धान होना रसमें 'विरस' ही था और गोपियोंके विरह-वर्णनमें मुझे सुख नहीं मिलता—

रसमें विरस जु अन्तर्धान-

गोपिन के उपज्यौ अभिमान।

विरह कथामें कौन सुख ।।

ध्रुवदासजीने श्रीहिताचार्यकी इस रस-दृष्टिको स्पष्ट करते हुए कहा है कि बिछुड़ने पर दुख होता है और मिलन होते ही हृदय शीतल हो जाता है, तो इसमें रस दो प्रकार का बन जाता है और उसको संश्लिष्ट प्रेमानुभव नहीं कहा जा सकता। समग्र प्रेमानुभव तो वह है, जिसमें प्रेमियोंके तन और मन कभी वियुक्त नहीं होते और उनकी परस्परकी चाह दिन-रात बढ़ती रहती है। वे कभी अपनेको संयुक्त नहीं मानते और एक दूसरेकी ओर व्याकुल नेत्रोंसे देखते रहते हैं—

जब बिछुरत तब होत दुख, मिलतहि हियौ सिराइ ।।
याही में रस द्वै भये, प्रेम कह्यौ किमि जाइ ।।
तन-मन कै बिछुरै नहीं, चाह बढ़ै दिन-रैन ।।
कबहुँ संजोग न मानही, देखत भर-भर नैन ।।

(प्रीति चोवनी लीला)

सेवक-वाणी' के आधारपर श्रीहरिवंश धर्मके विधायक जिन चार तथ्यों-का उल्लेख हमने ऊपर किया है, उनमें अन्तिम है—'श्रीराधा जुग चरण निवास।' श्री नागरीदासने अपने 'नागरी अष्टक' में सेवकजीके उक्त आशय-को स्पष्ट करते हुए कहा है कि श्रीवृन्दावनकी नवरंग निकुंजमें जो हित (प्रेम) कल्पतरु स्थित है, उसके पत्र, फल, फूल, पत्र सहित सर्वांग ही गौरांगी श्रीराधाके चरण हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस धर्मकी एकमात्र उपास्या श्रीराधा हैं। 'सेवक-वाणी' में श्रीहरिवंशकी भजन रीतिका परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें श्यामा-श्यामका गान एक साथ किया जाता है, क्योंकि इन दोनोंके प्राण तो एक हैं और देह दो हैं एवं इनमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं होता। इसलिए श्रीराधाके बिना श्रीश्यामसुन्दरका और श्रीश्यामके बिना श्रीराधाका नाम इस सम्प्रदायमें नहीं लिया जाता।—

श्रीहरिवंश सुरीति सुनाऊँ, श्यामाश्याम एक संग गाऊँ।
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई, प्राण सो एक देह हैं दोई ।।
राधा संग बिना नहिं श्याम, श्याम बिना नहीं राधानाम।

(सेवक-वाणी, ४-७)

अतः श्रीराधा-चरणोंकी प्रधानता सहित युगल श्रीश्यामा-श्यामकी उपा-सना ही इस धर्ममें प्रचलित है।

सेवकजी द्वारा दिये गये श्रीहरिवंश धर्मके उपर्युक्त परिचयमें इस धर्मकी निम्नांकित विशिष्टताएँ उभरती हैं—

१—सेवकजीने श्रीहरिवंश धर्मके वर्णनका उपक्रम यह कह कर किया है कि अब मैं उनके सहज धर्मका कथन करता हूँ। सहज वस्तु स्वरूप से अभिन्न होती है। भगवद्गीतामें कहा गया है कि यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही वह है—श्रद्धामयो यं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। श्रीहितहरिवंशकी श्रद्धा एकमात्र प्रेममें थी और वही उनके रोम-रोममें पूरित था। अतः वही उनका 'सहज' था और वही 'स्वरूप' था। इसको द्योतित करनेके लिए ही उन्होंने अपने नामसे पूर्व 'हित' शब्दकी योजना की थी।

जिस प्रेममें प्रियके सुखकी कामना प्रधान होती है, वह 'हित' कहा जाता है। 'हित-चौरासी'(पद सं० ५७) में उन्होंने श्रीराधाकी किंकरियोंको 'हित-चिन्तक' कहा है, क्योंकि उनके जीवनका एकमात्र तात्पर्य उनकी स्वामिनीका सुख है।

२—यदि श्रीहरिवंशका धर्म उनके सहज स्वरूप वैभवका प्रकट रूप है, तो हित किंवा प्रेम ही इस धर्मका निमित्तोपादन कारण है और इस धर्मके उपास्य एवं उपासक दोनों ही प्रेम-स्वरूप हैं। 'सेवक-वाणी' पर लिखे गये निबन्धों में सेवकजीके इस सूक्ष्म आशयको सर्वजन-ग्राह्य बनानेकी चेष्टा की गयी है। सुधर्म बोधिनीकारने हरिवंश नामका अर्थ बताते हुए कहा है कि इस नामके 'ह' अक्षरसे हरिका, 'र' से राधाका, 'व' से (वृन्दावन) धाम का एवं 'स' से सहचरियोंका ग्रहण होता है।

'ह' अक्षरमें हरि घनश्याम 'र' अक्षर श्रीराधा नाम।
'व' अक्षर वृन्दावन धाम 'स' अक्षर सहचरि अभिराम॥

३—सेवकजीकी इस योजनाके अनुसार ही श्रीहरिवंश धर्ममें हित किंवा प्रेम परात्पर भगवत् तत्त्व माना जाता है और सम्प्रदायके सिद्धांतका विस्तार इस स्थापनाके अनुकूल किया गया है।

४—सनातन वैदिक धर्ममें आरम्भसे ही गुरु और गोविन्दकी समानता प्रतिपादित हुई है और कहीं-कहीं गुरुको गोविन्दसे भी अधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु धर्म-सम्प्रदायोंके सिद्धान्तका निर्णय सर्वत्र इष्टके आश्रयसे ही किया गया है। इसके विपरीत सेवकजीने हित-सिद्धान्तको गुरुके स्वरूपके आधार पर खड़ा किया है। परिणामस्वरूप जहाँ अन्य मार्गों में गुरुका अन्तर्भाव इष्टमें हुआ है, वहाँ इस धर्ममें गुरुके स्वरूपमें इष्ट अन्तर्भुक्त है।

'सेवक-वाणी' स्वयं छोटा-सा ग्रंथ है, किन्तु पिछले पौने पाँच सौ वर्षोंमें इसके तात्पर्यका स्पष्टीकरण कई टीकाओं एवं स्वतन्त्र रचनाओं द्वारा करनेकी चेष्टा होती रही है। प्रस्तुत लेखमें तो सेवकजीकी मौलिक स्थापना की मात्र मनोवैज्ञानिक रूप-रेखा देनेका ही प्रयास है।

★

श्रीहितधर्म की रूपरेखा

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी से सम्बन्धित अपने छप्पय के अन्त में नाभाजी ने कहा है—

व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है ।
श्रीहरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोऊ जानि है ।।

अर्थात् श्रीव्यास मिश्र के पुत्र श्रीहरिवंश गोस्वामी के भजन की रीति को उनके द्वारा स्थापित भजन पथ का अनुसरण करके ही कोई विरला जानेगा-पहिचानेगा ।

श्रीहिताचार्य ने अपनी रचनाओं में श्रीराधा की प्रधानता रखकर युगल श्रीश्यामा-श्याम के नित्य प्रेम-विहार का गान किया है । नाभाजी ने इस राधा प्राधान्य को तथा हितमार्ग की अन्य कई विशेषताओं को अपने उक्त छप्पय में लक्षित किया है । किन्तु हितमार्ग के सम्पूर्ण मर्म को एक छप्पय में व्यक्त करना सम्भव नहीं था । यह कार्य दामोदरदासजी सेवक की रचना सेवक-वाणी में हुआ है । इस वाणी की रचना के बाद सम्प्रदाय में जितने ग्रंथ व्रजभाषा और संस्कृत में रचे गये हैं उन सबमें सेवक-वाणी के सिद्धान्त का ही अनुसरण किया गया है । सम्प्रदाय में यह बात प्रसिद्ध है कि—

सेवक वाणी जे नहिं जानै—तिनकी बात रसिक नहिं मानै ।।

वैसे तो सम्पूर्ण सेवक-वाणी में हित-धर्म के विविध अंगों को ही निर्देशित किया गया है किन्तु प्रथम प्रकरण के अन्तिम चौदहवें छन्द में सेवक जी ने इस धर्म की मौलिकता के प्रमुख सूत्रों को एक ही स्थान में एकत्रित कर दिया है । इस निबन्ध में हम उक्त छन्द की व्याख्या द्वारा श्रीहित-धर्म के मर्म को समझने की चेष्टा करेंगे ।

विक्रम की सोलहवीं शती के मध्य में तीन श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधा-

---

१—श्रीहित जयन्ती स्मारिका, सम्पादक—डॉ० सुरेन्द्र शर्मा, सम्वत् २०३८-३९ (वृन्दावन) के सौजन्य से प्राप्त ।

कृष्णोपासक सम्प्रदायें व्रज प्रदेश में केन्द्रित हुईं। इनमें से दो—श्रीचैतन्य सम्प्रदाय और श्रीवल्लभ सम्प्रदाय—प्रधानतः श्रीमद्भागवत तथा गौणतः अन्य श्रीकृष्ण-लीला गायक पुराणों पर आधारित हैं। इन दोनों भक्ति मार्गों में श्रीकृष्ण को प्रेम स्वरूप ही माना गया है और उनकी प्रेम स्वरूपता को, पुराणों में वर्णित भगवत् स्वरूप के साँचे में ढालकर, व्याख्यात किया गया है। पौराणिक योजना के अन्तर्गत प्रेम भगवान की स्वरूपाशक्ति आह्लादिनी का सार सिद्ध होता है।

उसी काल में व्रज में आविर्भूत होने वाली तीसरी श्रीराधावल्लभ किंवा में श्रीहित सम्प्रदाय में श्रीराधाकृष्ण को प्रेमस्वरूप ही माना जाता है। किन्तु उनकी प्रेमस्वरूपता के व्याख्यान में पुराणों का आश्रय न लेकर सम्प्रदाय प्रवर्तक श्रीहित हरिवंश गोस्वामी की अपनी रस-दृष्टि पर स्थापित किया गया है। वस्तुतः पुराणों पर आधारित योजना में एक बहुत बड़ा अन्तर्विरोध बना हुआ है। पुराणों ने स्थान-स्थान पर भगवान की प्रेमवश्यता का निर्विशेष रूप से उद्घोष किया है किन्तु यदि प्रेम को भगवान की शक्ति विशेष माना जाय तो वह स्वभावतः उनके अधीन हो जाता है और भगवान की प्रेमाधीनता औपचारिक बन जाती है। प्रत्येक प्रेमी का अनुभव है कि प्रेम एक ऐसा भाव है कि यह जिस पात्र में उदित होता है उसको अपने अधीन बनाता हुआ ही उदित होता है। यदि भगवान की प्रेमाधीनता औपचारिक है तो उनकी प्रेमस्वरूपता भी बाधित हो जाती है।

भगवान और प्रेम के पारस्परिक सम्बन्ध की इन शास्त्रीय विसंगतियों से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि प्रेम को परात्पर तत्त्व के रूप में स्थापित किया जाय--प्रेम और भगवान की सम्पूर्ण एकरूपता एवं भगवान की प्रेमाधीनता तो शास्त्रसम्मत है ही। अतः हित सम्प्रदाय में प्रेम स्वरूप भगवान के स्थान में 'भगवत् स्वरूप प्रेम' की स्थापना परात्पर तत्त्व के रूप में की गई। प्रेम स्वरूप भगवान वाली योजना में प्रेम, स्वभावतः भगवान के अधीन रहता है और दूसरे पक्ष में भगवत्ता सहज रूप से प्रेम के अधीन हो जाती है।

प्रेम और भगवान् की पारस्परिक स्थिति में उक्त परिवर्तन के बड़े दूरगामी परिणाम हुये। इनमें मुख्य यह था कि श्रीचैतन्य एवं श्रीवल्लभ सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक सिद्धान्त का निर्माण जहाँ श्री भगवान को केन्द्र में रखकर हुआ है, वहाँ श्रीराधावल्लभ के प्रेम-सिद्धान्त का विकास स्वयं प्रेम के विधायक तत्त्वों को लेकर किया गया है।

ज्ञान की भाँति प्रेम भी मनुष्य की रचना का एक नितान्त मौलिक तत्त्व है। तथ्य तो यह है कि जिन प्राणियों में ज्ञान (Consiousness) का उदय

नहीं, भी हुआ है उनमें भी प्रेम अपने अपक्व, अपरिणत यौन आकर्षण (Sexual attraction) रूप में दिखलाई देता है और इस प्रकार वह जीवधारियों का ज्ञान से भी अधिक मौलिक तत्त्व सिद्ध होता है। प्रेम के सम्बन्ध में मनुष्य ने कितनी भी उदात्त कल्पनायें क्यों न की हों किन्तु मूलतः प्रेम दो व्यक्तियों के बीच एक मधुर सम्बन्ध का नाम है। कहा गया है--

द्वै मिलि एक पंथ दरसावहिं, सोई जग में प्रेम कहावहिं।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम को उसके इस स्वाभाविक रूप में समझा गया है तथा लौकिक एवं भगवत् स्वरूप प्रेम को तत्त्वतः अभिन्न माना गया है। सेवकजी ने कहा है कि प्रेम का जो दिव्यातिदिव्य स्वरूप सबको अत्यन्त दुर्लभ है वही सम्पूर्ण विश्व में भरपूर है--

जो रस रीति सबन तैं दूर, सो सब विश्व रही भरपूर।

जिन दो व्यक्तियों में प्रेम उत्पन्न होता है इनमें से एक प्रेमी और दूसरा प्रेमपात्र कहलाता है। प्रेमी प्रीति का आश्रय और प्रेम पात्र विषय होता है। इन दोनों में जो प्रेम-सम्बन्ध होता है, उसी को सामान्यतया प्रेम कहा जाता है। हित सिद्धान्त में, प्रेम की रचना में प्रेम-सम्बन्ध को प्रेमी और प्रेमपात्र के समान ही महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः प्रेम-सम्बन्ध को देखकर ही प्रेमियों के व्यक्तित्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है--दो व्यक्तियों का प्रेम-सम्बन्ध जितना उदात्त और निर्मल होता है, उनके व्यक्तित्व भी उतने ही उज्ज्वल होते हैं। अतः राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रेम सिद्धान्त का निर्माण इन तीनों--प्रेमी, प्रेमपात्र और प्रेम-सम्बन्ध के योग से हुआ है। उपासना के क्षेत्र में हितरूप श्रीनन्दनन्दन प्रेमी हैं, हितरूप श्रीवृषभानु-नन्दिनी प्रेमपात्र हैं तथा श्रीवृन्दावन एवं सहचरीगण 'प्रेम सम्बन्ध' के सहज मूर्त रूप हैं। इस प्रस्तावना के साथ अब हम श्रीसेवकजी के सिद्धान्त-परिचायक छप्पय को समझने की चेष्टा करेंगे।

सेवकजी ने कहा है—

जिहि विधि सकल भक्ति अनुसार,
तैसी विधि सब कियो विचार। सारासार विवेक कै।
अब निज धर्म आपनों कहत,
तहाँ नित्य वृन्दावन रहत। बहत प्रेमसागर जहाँ।
साधन सकल भक्ति जातनौ,
निज वैभव प्रगटत आपनौ॥ भनों एक रसना कहा।

श्री राधा युग चरन निवास,

जस बरनौ हरिवंश विलास ।। श्रीहरिवंशहि गाइहौं ।

इस छन्द की व्याख्या इसकी अन्तिम दो पंक्तियों से आरम्भ करने में सुविधा रहेगी । सेवकजी कहते हैं कि मैं यह श्रीहरिवंश की क्रीड़ा के यश का वर्णन कर रहा हूँ और अपनी इस रचना में श्रीहरिवंश का ही गान करुँगा । सेवकजी श्रीहरिवंश को 'हित' किंवा सम्पूर्णतया तत्सुखमय (प्रेमपात्र सुखैक निष्ठ) प्रेम का मूर्तरूप मानते हैं । उपासनीय श्रीश्यामा-श्याम सहचरीगण एवं श्रीवृन्दावन इस हित की ही विभिन्न परिणतियाँ हैं । अतः सेवकजी के इस कथन का कि मैं अपनी वाणी में श्रीहरिवंश का ही गान करुँगा—का अर्थ यह है कि वे अपनी वाणी में केवल 'हित' सिद्धान्त का कथन करेंगे ।

व्याख्याधीन छन्द जिस प्रथम प्रकरण का अन्तिम छन्द है, उसमें सेवकजी ने हितस्वरूप श्रीहरिवंश के 'जन्म-कर्म-गुण-रूप' को 'अपार' बताकर संक्षेप में उनके जन्मकाल की परिस्थिति, जन्म एवं जन्म के भौतिक और मनोगत प्रभाव का परिचय दिया है । इसके बाद उन्होंने श्रीहित हरिवंश की धर्म-प्रचार की विधा पर प्रकाश डालते हुये कहा है कि उनकी दृष्टि में भक्ति के सम्पूर्ण क्षेत्र का और उसकी प्रत्येक विधा का उन्होंने अनुमोदन किया । अन्त में इन सब भक्ति प्रकारों में सार-असार का विवेक करके श्रीहित प्रभु ने अपने 'निजधर्म'— सहज धर्म—का कथन किया ।

हित धर्म का स्वरूप

अब निज धर्म आपनौ कहत,

तहाँ नित्य वृन्दावन रहत । बहत प्रेमसागर जहाँ ।।

इस धर्म के केन्द्र में वह श्रीवृन्दावन विराजमान है जहाँ प्रेम का सागर नित्य प्रवाहित रहता है । सभी श्रीकृष्णोपासक सम्प्रदायों में श्रीवृन्दावन का अतिशय महत्त्व है । द्वापरान्त में व्रजांगनाओं के नाम त्रिभवन मोहन की रास-क्रीड़ा यहीं के यमुना तट पर रमित हुई थी । किन्तु वृन्दावन के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रत्येक सम्प्रदाय का दृष्टिकोण भिन्न है और वह उन सम्प्रदायों के सिद्धान्त-ग्रंथों में देखा जा सकता है ।

हित-सिद्धान्त के अनुसार श्रीवृन्दावन के रूप में उन दो अलौकिक प्रेमियों का त्रिगुणातीत प्रेम-सम्बन्ध मूर्तिमान् हुआ है जो स्वयं रस स्वरूप होने के साथ परम रसिक भी है और जो अनाद्यनन्तरूप से परस्पर उज्ज्वल

रति के अविच्छिन्न आस्वादन में निमग्न है। श्रीनागरीदासजी ने अपने प्रसिद्ध नागरीअष्टक' में श्रीश्यामा को रूप की सीमा, श्रीश्यामसुन्दर को लावण्य की सीमा, श्रीहरिवंश को स्नेह की सीमा तथा श्रीवृन्दावन को आसक्ति की सीमा बताया है—'रूपहद लाड़िली, लाल लावण्य हद, नेह हद हरिवंश, विपिन आसक्ति हद।' प्रेम पर सर्वस्व न्यौछावर करने वाले प्रेमियों का निवास उनकी परस्पर आसक्ति में ही होता है—उसीमें वे रहते हैं और उसीको जीते हैं। जहाँ पूर्णतम प्रेम स्वयं पूर्ण प्रेमी बना हो वहाँ उसका मुकाम उसकी आसक्ति के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ हो सकता है ? इसीलिये श्रीहिताचार्य ने अपनी आराध्या श्रीराधा को केवल श्रीवृन्दावन में ही गोचर-इन्द्रिय प्रत्यक्ष- बताया है। उन्होंने कहा है, जो केवल श्रीवृन्दावन में नेत्रों का विषय बनता है, अहो, जिस तक उपनिषदों की पहुँच नहीं है, जो शिव-शुकदेव आदि के ध्यान में भी नहीं आता, जो प्रेमामृत की मधुरता के रस से पूर्ण है और जो नित्य किशोरावस्था से युक्त है, उस रूप को भली भाँति देखने को मेरे नेत्र व्याकुल हो रहे हैं।[1]

यदि नित्यविहारी श्रीराधाश्यामसुन्दर केवल श्रीवृन्दावन में ही नित्य वर्तमान हैं तो स्पष्ट है कि श्रीवृन्दावन के माध्यम से ही इनकी प्राप्ति सम्भव है। हित सम्प्रदाय की रसोपासना के इस मार्मिक तथ्य को श्रीराधासुधानिधि में सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि जब श्रीवैकुण्ठधाम भी कुंठित प्रदेश बन गया है तो अन्यत्र का तो कहना ही क्या ? क्योंकि श्रीराधा के माधुर्य को मधुपति श्रीकृष्ण जानते हैं और उनकी माधुरी को श्रीराधा जानती हैं। किन्तु परम रसामृत माधुर्य में सबसे अग्रणी श्रीवृन्दावन भूमि ने उस आस्वाद्य युगल को सम्पूर्ण रूप से श्रीराधा किंकरी गण को प्रदान कर दिया है।[2]

श्रीराधा-किंकरी गण किंवा सखियाँ, हित सिद्धान्त के अनुसार, श्रीश्यामा-श्याम की पारस्परिक आसक्ति से आसक्त हैं। हित-चौरासी के पद के अन्त में बड़े काव्यात्मक ढंग से कहा गया है कि दो प्रेम सिन्धुओं के संगम में खिले हुये उज्ज्वल प्रेम के कमल में से द्रवित होने वाले मकरन्द का पान हरिवंश-भ्रमर कर रहा है—

उभय संगम सिन्धु सुरत पूषण - बन्धु।
द्रवत मकरन्द हरिवंश अलि पावै॥

(हित-चौरासी ८१)

१—श्रीराधासुधानिधि—७६।
२—श्रीराधासुधानिधि—१९५।

श्रीध्रुवदास ने इसी को यों कहा है—

सहज प्रेम की सींव दोऊ नव किशोर वर जोर।
प्रेम कौ प्रेम सखीन कै तेहि सुख कौ नहीं ओर ॥

(प्रेमावली)

सम्प्रदाय की उपासना सखियों के अनुगत है। उपासक समूह सखियों के प्रेम का अनुकरण करके प्रेम भजन करता है अतः उनका प्रेम भी सहज रूप से श्रीश्यामा-श्याम की पारस्परिक आसक्ति के मूर्तरूप श्री वृन्दावन के प्रति है। इस प्रकार श्रीवृन्दावन हित सम्प्रदाय की उपासना का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग सिद्ध होता है। श्रीहित प्रभु ने अपने उक्त पद में श्रीश्याम-श्यामा की वसन्त क्रीड़ा का बड़ा समृद्ध वर्णन किया है। इस पद का आरम्भ उन्होंने 'अति रम्य' श्रीवृन्दावन को अपना प्रथम और यथामति प्रणाम निवेदित करके किया है। श्रीवृन्दावन की रमणीयता के प्रति श्रीहिताचार्य इतने आकृष्ट हैं कि हित-चौरासी में ऐसे पदों की संख्या बहुत कम है, जिनमें किसी न किसी रूप में श्रीवृन्दावन की उक्त सहज रमणीयता का स्मरण न किया गया हो। किसी पद में वहाँ की 'पावन और सुभग सुखदायक' पुलिन का, किसी में श्रीवृन्दावन भूमि का सिंचन करने वाली यमुना की रस वीचियों का, किसी में वहाँ के कमनीय नवल निकुञ्ज मन्दिर और निविड़ कानन भवन का, किसी में वहाँ की 'नागरी निकुञ्जों' का, किसी में वृन्दावन द्वारा सुखपुञ्ज रस वर्षण इत्यादि का स्मरण किया है।

श्रीहिताचार्य के पश्चात् सत्रहवीं शती में होने वाले वाणीकारों ने मुक्तकण्ठ से श्रीवृन्दावन का यशोगान आरम्भ किया जो वीसवीं शती तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा है। उक्त शती में ही श्रीवृन्दावन शतकों की रचना आरम्भ हुई, जिनमें वृन्दावन के स्वरूप और उसकी अमित महिमा का वर्णन संश्लिष्ट रूप से दिया गया है। श्रीवृन्दावन से सम्बन्धित विपुल साहित्य में श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती, श्रीहरिराम व्यास, श्रीध्रुवदास और श्री नेही नागरीदास की रचनायें अपनी मार्मिकता और भाव प्रेषणीयता के लिये प्रसिद्ध हैं। हम इन रसिक महानुभावों के आश्रय से श्रीवृन्दावन के स्वरूप की विविध रंगीनियों को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती[1] ने संस्कृत में 'श्रीवृन्दावनमहिमामृतम्' नाम से अनेक शतकों की रचना की थी जिनमें से १ से १७ तक प्रकाशित हो चुके हैं।

१—श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में श्रीचैतन्य सम्प्रदाय और श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में पुराना विवाद चला आ रहा है। यहाँ हमारा तात्पर्य उन श्रीप्रबोधानन्दजी से है, जिनके सम्बन्ध में उनके समकालीन श्रीहरिराम व्यासजी ने अपनी 'साधुन की स्तुति' में लिखा है—

सरस्वती पाद ने अपने प्रथम शतक में तीन वृन्दावनों का उल्लेख किया है-

१—गोष्ठ वृन्दावन, जहाँ श्रीकृष्ण गोचारण करते हैं ।

२— गोपियों का क्रीड़ा-स्थल वृन्दावन, जहाँ व्रज-गोपिकाओ के साथ भगवान रास-विलास करते हैं ।

३—तीसरा और दोनों से विलक्षण, अत्यन्त आश्चर्यमय वृन्दावन वह कहलाता है, जहाँ श्रीराधा की निकुञ्जवाटी सुशोभित है । यह निकुञ्जवाटी उस आद्य भाव का प्रकट रूप है, जो अत्यन्त शुद्ध और पूर्ण है । (सर्वथा स्वसुख-वासना शून्य होने के कारण वह विशुद्ध है और सर्वथा प्रवृद्ध होने के कारण[1] पूर्ण हैं) ।

इस निरूपण से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं—

१—'श्रीराधा कुञ्जवाटी' वाला वृन्दावन पुराणों में वर्णित और विविध सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत वृन्दावन के स्वरूप से विलक्षण स्वरूप वाला है ।

२—यह श्रीवृन्दावन मधुर रस के स्थाई भाव रति का प्रकट रूप है ।

ऊपर उद्धृत नागरी-अष्टक की पंक्ति में श्री वृन्दावन को आसक्ति स्वरूप बताया गया है जो रति का ही अपर पर्याय है । इस वृन्दावन की 'आश्चर्य रूपता' को स्वयं श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने अपने शतकों में शतशः प्रकारों में वर्णित किया है । व्रजभाषा वाणियों में भी इसकी विचित्रता और आश्चर्यमयता को विपुल उभार दिया गया है । श्रीहरिराम व्यास ने अपने एक

प्रबोधानन्द से कवि थोरे ।
जिन राधावल्लभ के लीला रस में सब रस घोरे ।।
× × × ×
यह प्रिय व्यास आस करि श्रीहरिवंशहि प्रति कर जोरे ।। (भक्त कवि व्यासजी-१८)

सत्रहवीं शती के ही एक अन्य वाणीकार श्रीचतुर्भुजदासजी ने अपने श्रीराधा प्रताप यश में जिनके सम्बन्ध में कहा है—

आगम निगम सिन्धु मथि लह्यौ,श्रीहरिवंश कृपा करि कह्यौ ।। प्रगट भयौ सबहिन सुन्यौ ।।
पुनि प्रबोधानन्द जु लही, रससागर लीला कथि कही ।। श्रीराधा सु प्रताप जस ।।
(श्रीराधा प्रताप यश–२१)

और उन्होंने प्रसिद्ध 'श्रीहरिवंशाष्टक' की रचना की है ।

१—कृष्णास्याथो गोष्ठवृन्दावनं तत् गोप्याक्रीडं धाम वृन्दावनान्तः ।।
अत्याश्चर्या सर्वतोस्माद् विचित्रा श्रीमद्राधाकुंज-वाटी चकास्ति ।।
आद्योभावो यो विशुद्धोऽति पूर्णं स्तद्रूपा सा तादृशोन्मादि सर्वाः ।।
(श्रीवृन्दावन महिमामृतम्, शतक प्रथम, श्लोक सं० ८-९)

प्रसिद्ध पद में श्रीवृन्दावन का वर्णन राजधानी के सांगरूपक से किया है। इसमें उन्होंने बताया है कि इस राजधानी के राजा 'नव कुंवर चक्रचूड़ामणि' श्री श्यामसुन्दर हैं और 'तरुणिमणि' श्रीराधा पटरानी हैं। पाताल से लेकर वैकुण्ठ पर्यन्त सब लोक इसके 'थानेत' हैं। छियानवे करोड़ मेघ यहाँ के उपवनों की सिंचाई के लिये नियुक्त हैं और चारों प्रकार की मुक्तियाँ यहाँ की सामान्य पनिहारियाँ हैं। सूर्य और चन्द्र पहरेदार, पवन चपरासी, लक्ष्मी चरण सेविका और निगम यहाँ का यशगान करने वाले भाट हैं। धर्म यहाँ का कोतवाल है, शुकमुनि पुराणवक्ता हैं और नारदजी तथा सनकादिक ऋषिगण गुप्तचर हैं। सत्त्वगुण यहाँ का द्वारपाल, काल बंदी, कर्मदण्ड दाता तथा कामरति-सुख यहाँ की ध्वजा है (ध्वजा में राज्य की प्रधान प्रवृत्ति का अंकन रहता है) यहाँ की भूमि कनक और मरकतमणि की है और यहाँ स्थित कुसुमित कुञ्जमहल के मध्य में कमनीय शयनीय सुशोभित है, जिस पर दो ऐसे अद्भुत प्रेमी विराजमान हैं, जो कभी वियुक्त नहीं होते। इस कुञ्ज-महल में किसी का प्रवेश सम्भव नहीं है किन्तु श्रीव्यासजी कहते हैं कि मैं हाथों में पीकदानी लिये सखी रूप से सेवा में सदैव उपस्थित रहता हूँ।[1]

श्रीवृन्दावन के आश्चर्य पूर्ण रूप का परिचय देते हुये श्रीध्रुवदासजी ने उसको चौदह लोकों से न्यारा बताया है क्योंकि उसको कभी महाप्रलय की पवन स्पर्श नहीं करती। यह परम सच्चिदानन्दघन स्वरूप है अतः इसमें कभी माया का प्रवेश नहीं होता। यहाँ की स्वर्णमयी भूमि में अनेक रंग के रत्न जड़े हुये हैं और उसमें छबि की तरंगें उठती हैं। यहाँ के वृक्षों में लगे पत्तों की द्युति की समता कोटि-कोटि वैकुण्ठ नहीं करते। यहाँ की प्रत्येक लता कल्पतरु है और पुष्प पारिजात हैं, जो सहज रूप से एकरस रह कर यमुना-कूल पर झलकते रहते हैं। (वृन्दावन-सत)

श्रीध्रुवदास अन्यत्र कहते हैं कि श्रीवृन्दावन सच्चिदानन्दघन अवश्य है किन्तु प्रेमी रसिकजनों के बिना इसको अन्य कोई नहीं देख सकता। क्योंकि योगेश्वरगण जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म ज्योति का ध्यान करते हैं वह श्रीवृन्दावन का आवरण है — उनके दर्शन में प्रत्यवाय रूप है।

बिनु रसिकन वृन्दाविपिन को है सकत निहार।
ब्रह्म कोटि ऐश्वर्ज के वैभव की तहाँ बार॥

(प्रेमावली)

ब्रह्म ज्योति कौ तेज जहाँ जोगेश्वर करैं ध्यान।
ताही कौ आबरन तहाँ, नहिं पावै कोऊ जान॥

(नेह मंजरी)

१—भक्ति कवि व्यासजी, —पृष्ठ सं० २१०।

सेवकजी के जिस छन्द की व्याख्या यहाँ चल रही है उसमें उन्होंने जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, श्रीवृन्दावन का एक ही लक्षण दिया है कि वहाँ प्रेम का सागर नित्य-निरन्तर बहता रहता है। प्रेम सागर के बहने का अर्थ यह है कि श्रीवृन्दावन में स्फुरित अथाह और अपार प्रेम नित्य लीला रत रहकर निरन्तर आस्वादित होता रहता है। इस प्रेम के आश्रय और विषय किंवा भोक्ता और भोग्य श्रीश्यामघन एवं श्रीराधा हैं। इन दोनों सहज प्रेमियों के मध्य में इस प्रेम का प्रवाह लोम-विलोम रूप से चलता रहता है—श्रीश्याम की ओर से श्रीश्यामा की ओर और श्रीश्यामा की ओर से श्रीश्याम की ओर, और इसीसे लीला की सृष्टि होती रहती है। श्रीहिताचार्य ने अपने कृपापात्र नरवाहनजी की गुरु-निष्ठा पर रीझकर अपने दो सुरम्य पदों में उनके नाम की छाप लगा दी थी। ये दोनों पद हित-चौरासी में संकलित हैं। इनमें से एक पद में एक सुन्दर लीला का वर्णन करने के पश्चात् श्रीहिताचार्य ने प्रेम-केलि का स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि मेरे प्रभु श्रीश्यामा-श्याम की 'जगत पावनी' सुन्दर शृंगार केलि में वस्तुतः प्रेम संभार का अनेक प्रकार से परस्पर संप्रेषण और स्वीकरण होता है—

नरवाहन प्रभु सुकेलि बहुविध भर भरत झेलि,
सौरत रस रूप नदी जगत पावनी।

(हित-चौरासी ११)

श्रीध्रुवदासजी ने कहा है कि श्रीश्यामा-श्याम के परस्पर प्रेम का प्रकार, हमारे परिचित प्रेम से भिन्न प्रकार का है। उसकी अद्भुत रीति का वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ—

तिनकौ प्रेम और ही भाँति, अद्भुत रीति कही नहीं जात।

(रहस्य मंजरी)

यह प्रेम श्रीवृन्दावन के रूप में मूर्तिमान् है वहाँ स्थित श्रीयमुना पुलिन, लता-वृक्ष, भूमि, कुंजें, वीथियाँ, आकाश आदि के रसिक महानुभावों द्वारा किये गये वर्णनों से श्रीश्यामा-श्याम के अद्भुत प्रेम की भाँति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इन वर्णनों का उद्देश्य भी यही मालुम होता है।

हित सम्प्रदाय में यमुनाजी की मान्यता पुराणों से सर्वथा भिन्न है। श्रीहित प्रभु ने अपने यमुनाष्टक में यमुनाजी को व्रजेन्द्रसूनु और श्रीराधा के हृदय में प्रपूरित महारस सागर का वह पूर (बाढ़) बताया है, जो तीव्र वेग के कारण दोनों के हृदयों से उछलकर बाहर प्रवाहित हो रहा है—

व्रजेन्द्र सूनुराधिका हृदि प्रपूर्यमाणयो-
र्महारसाब्धि पूरयोरिवातितीव्रवेगतः।
बहिः समुच्छलन्नव प्रवाह रूपिणीमहं,
भजे कलिन्दनन्दिनीं दुरन्तमोहभंजिनीम्। ॥३॥

(यमुनाष्टक)

श्रीध्रुवदासजी ने श्रीहिताचार्य के, इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा है--

प्रेमधाम वृन्दाविपिन मध्य मधुर वर जोर।
सरिता रस सिंगार की जगमगात चहुँ ओर॥

(नेह मंजरी)

अन्यत्र उन्होंने यमुनाजी को शोभाशाली द्रवित आनन्द का प्रवाह बताया है--

छवि सौं जमुना बहै सुहाई, मानो आनन्द द्रव चल्यौ माई।

(रहस्य मंजरी)

श्रीवृन्दावन की भूमि इस छबिशाली आनन्दद्रवपूर्ण श्रृंगार-रस के द्वारा सिंचित है-वर यमुना जल सींचन।

आरम्भ के रसिक महानुभावों ने, यमुना जल से सम्बन्धित, श्रीहिताचार्य के उक्त 'सींचन' शब्द पर विशेष ध्यान दिया है। उनके अनुसार इस शब्द से यह सूचित होता है कि श्रीवृन्दावन श्यामा-श्याम की जिस पारस्परिक आसक्ति का मूर्तरूप है, वह श्रृंगार-रस द्वारा केवल सिंचित है--रंजित है किन्तु उसकी समग्रता श्रृंगार-रस की परिधि में नहीं आती--वह उससे अतिरिक्त और विलक्षण भी है। सेवकजी ने अपनी वाणी के चतुर्थ प्रकरण में बताया है कि हित-चौरासी के कुछ पदों में श्रीश्यामा-श्याम की 'सुरतरति' (सुरत रंजित रति) का वर्णन हुआ है, कुछ में उनकी 'रासरंग-रति' (रासरंग रंजित रति) का और कुछ में प्रेम-रति का। सुरत-रति के अन्तर्गत सेवकजी ने झूला, शय्या-विहार और सुरतान्त वर्णन के पद रखे हैं। रास रंगरति के अन्तर्गत रास के पद और प्रेम-रति के उदाहरण के रूप में उन्होंने अपने शब्दों में हित-चौरासी की उन पंक्तियों का आश्रय दिया है, जिनमें युगल की पारस्परिक आसक्ति का निर्विशेष रूप से वर्णन किया गया है, जैसे--

अंसन पर भुज दिये विलोकत इंदु बदन बिबि ओर।
करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर॥

(हित-चौरासी, ३१)

सेवकजी द्वारा रति के उक्त विभाजन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरत (शृंगार चेष्टायें) श्रीश्यामा-श्याम की पारस्परिक आसक्ति किंवा प्रेम का स्वरूपगत, अंग नहीं है। रसिक महानुभावों की दृष्टि में सुरत का महत्त्व इसलिये है कि इसके योग से उनका सहज अन्तर्मुख प्रेम बाह्योन्मुख रहकर लीलारत बना रहता है। श्रीध्रुवदास ने अपने 'सिद्धान्त-विचार' में प्रेम और सुरत की उक्त द्विविध क्रियाओं को बड़ी विदग्धता से स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने बताया है कि श्रीश्यामा-श्याम के हृदय में प्रेम और मदन (सुरत) के दो सिन्धु प्रवाहित होते रहते हैं। उन पर जब प्रेम सिन्धु के तरंग छाते हैं तब वे उसमें डूब कर विवश बन जाते हैं और जब मदन सिन्धु के तरंग उन पर छाते हैं तब वे चैतन्य हो जाते हैं। उनके हृदय में विवशता और सावधानता की उक्त दोनों क्रियायें क्षण-क्षण में उदित होती रहती हैं और प्रेम तथा मदन के इस नित्य संयोग से श्रीश्यामा-श्याम का मधुर रस विलास अनाद्यनंत रूप से चलता रहता है।[1]

लोक में हम जिस प्रेम से परिचित हैं वह हमारी कामवृत्ति का ही उन्नत रूप माना जाता है। अतः इस प्रेम में प्रेम और मदन (काम चेष्टाओं) के पार्थक्य के लिये कोई अवकाश नहीं है, काम चेष्टायें यहाँ के शृंगारिक प्रेम का स्वरूपगत अंग होती हैं। लौकिक प्रेम के गायक कवियों ने प्रेम की ऐसी स्थिति की तो कल्पना की है जहाँ काम चेष्टायें महत्त्वहीन बनकर अस्तमित हो जाती हैं किन्तु श्रीराधा-श्याम के दिव्य सहज प्रेम में ये चेष्टायें पूर्ण रूप से सक्रिय रहते हुयें भी उससे मूलतः पृथक् बनी रहती हैं। श्रीध्रुव दास श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम के साथ 'यन्त्रित' उक्त 'मदन' को लौकिक काम से कहीं अधिक सामर्थ्यशाली मानते हैं। काम पर आधारित प्रेम से इसकी विलक्षणता प्रदर्शित करने के लिये वे इसे 'प्रेम का काम' कहते हैं। उन्होंने कहा है कि श्यामा-श्याम के नेत्र परस्पर मुख-छवि-माधुरी का पान करते हुयें भी व्याकुल बने रहते हैं। जहाँ प्रेम का काम होता है वहाँ प्रेमियों के रोम-रोम में प्रेम तृषा बढ़ जाती है—

पीवत मुख छबि माधुरी, व्याकुल रहैं दोऊ नैन।
रोम-रोम बाढ़ी तृषा, जहाँ प्रेम कौ मैन॥

(प्रेमावली)

रसिक महानुभावों ने श्रीवृन्दावन के वर्णनों में यमुना पुलिन को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। श्रीहितायार्य ने अपने अनेक पदों में पुलिन को 'परम

१—बयालीस लीला, द्रष्टव्य २७८ कुंडलिया।

पावन'[1] और पवित्र'[2] बताकर उस 'मदन' की परम पवित्रता का उद्घोष किया है जो श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम के साथ नित्य संलग्न है। वैसे तो सम्पूर्ण श्रीवृन्दावन मधुर रसरूपा श्रीयमुना द्वारा सिंचित है किन्तु इस सिंचन का सर्वाधिक प्रभाव, स्वभावतः पुलिन में ही लक्षित होता है। 'इसीलिये युगल रस सिन्धु' श्रीश्यामा-श्याम मधुर रस के अविच्छिन्न आस्वाद के लिये 'पुलिन रस सिन्धु' का निरन्तर सेवन करते रहते हैं--'युगल रस सिन्धु सेवैं पुलिन रस सिन्धु कौं।'[3] पुलिन की यह सेव्यता श्रीराधामोहन के प्रेम में रही हुई परस्पर आराध्यता को सूचित करती है। इन दोनों अद्भुत प्रेमियों की आसक्ति उस कोटि पर पहुँची हुई है जहाँ वह सहज रूप से परस्पर आराधना बन गई है। दोनों एक दूसरे के आराधक हैं किन्तु श्रीराधा प्रीति का विषय होने के कारण तथा उनके असमोर्ध्व प्रेम-सौन्दर्य एवं अनुपम गुणों के कारण वे हित उपासना में श्रीश्यामसुन्दर एवं सम्पूर्ण सखी-परिकर की सहज रूप से आराध्या बनी हुई हैं। सेवकजी ने बताया है कि श्रीश्यामघन प्रतिक्षण आराधन के कारण ही श्रीराधा नाम का उच्चारण करते हैं--

छिन-छिन प्रति आराधत रहहीं--राधा नाम श्याम तब कहहीं ॥

श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम में सम्पूर्ण आराधन के साथ अविच्छिन्न मदन केलि का योग उसकी 'और ही भाँति' का अन्यतम सूचक है। आराधन के लिये दूरी अपेक्षित है और अनंग-केलि के लिये अत्यन्त निकटता और यह दोनों परस्पर विरोधी स्थितियाँ उक्त प्रेम में पूर्ण रूप से समन्वित हैं। रसिक महानुभाव इस प्रेम की उक्त अद्भुतता को देखकर चकित हैं और उन्होंने इस प्रेम के परस्पर विरोधी वर्णनों के द्वारा इसकी सम्पूर्णता को हृदयंगम कराने की चेष्टा की है। श्रीध्रुवदास एक ओर तो कहते हैं कि श्रीश्यामा-श्याम 'रति-रस-रंग' में सने हुये इस प्रकार परस्पर आलिंगनबद्ध हैं कि गौर-श्याम का विवेक सम्भव नहीं रहा--

रति रस रंग साने ऐसे अंग लपटाने,
परत न सुध कछु को है श्याम-गौर री।

तो दूसरी ओर गौर-श्याम की पारस्परिक आसक्ति की अद्भुतता का

१--परम पावन पुलिन भृङ्ग सेवित नलिन, कल्पतरु तीर बलबीर कृत रासुरी।
—हित-चौरासी, पद २६।

२--सदा वसंत रहत वृन्दावन, पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट।--हित-चौरासी, पद ६४।

३-- नेही नागरीदासजी, नागरी-अष्टक--६।

परिचय देते हुये वे कहते हैं कि श्रीश्यामसुन्दर अपनी प्रियतमा को स्थूल हाथों से स्पर्श करना तो दूर रहा 'मन के हाथों' से भी नहीं छूते--

छुवत न रसिक रँगीलौ लाल प्यारी जू कौं,
मन हू के करन सौं छुवत डरत है।
× × × × ×
अति ही आसक्त ताकी हित ध्रुव यहै वृति,
रीझि-रीझि दूर ही तैं पाइन परत है।

(श्रुति तात्पर्य का परामर्थ करने वाले कतिपय दार्शनिकों ने परसत्ता के परस्पर विरोधी लक्षणों का युगपत् ख्यापन करने वाली 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' जैसी श्रुतियों की संगति परतत्त्व को विरुद्ध धर्मों का आश्रय बताकर लगाई है। श्रीवृन्दावन की सघन कुञ्जों में नित्य लीलारत प्रेम का उक्त विरुद्ध धर्माश्रयत्व क्या उसकी परात्पर तत्त्वता की ओर इंगित नहीं करता ?)

श्रीवृन्दावन सम्पूर्ण प्रेम का धाम होने के कारण सम्पूर्ण सौन्दर्य का भी आश्रय है--वृन्दावन सोभा की सीवाँ। रसिक महानुभावों ने प्रेम और सौन्दर्य का अत्यन्त घनिष्ठ और सहज सम्बन्ध माना है। उन्होंने बताया है कि प्रेम के समुद्र में रूप-सौन्दर्य का जल भरा रहता है और रूप के सिन्धु में—अपने मन को हाथ में लेकर–गोता लगाने से प्रेम रत्न की प्राप्ति होती है। मनो वैज्ञानिक दृष्टि से भी मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति ही सौन्दर्य को ग्रहण करती है। देखा जाता है कि प्रेम असुन्दर में भी सौन्दर्य के दर्शन कर लेता है और इस आधार पर अनेक सौन्दर्यालोचक उसको केवल विषयी (द्रष्टा) गत मानते हैं। किन्तु वह विषय (दृश्य) गत भी होता है, यह पक्ष अब अधिक मान्य हो चुका है। रसिक महानुभावों ने भी सौन्दर्य की स्थिति द्रष्टा और दृष्य--प्रेमी और प्रेमपात्र--दोनों में मानी है। उन्होंने श्रीराधा-श्याम को परस्पर प्रेमी और प्रेमपात्र माना है और दोनों के दर्शन परम सौन्दर्य के अनन्य आश्रय के रूप में किये हैं। दोनों प्रेम-सौन्दर्य समान होते हुये भी रसिकजनों ने प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति श्रीश्यामघन में और रूप-सौन्दर्य का पूर्ण प्रकाश श्रीराधा में माना है[1] और इन दोनों की एक रस प्रीति को प्रेम और सौन्दर्य की एक रसता के रूप में अनुभव किया है। श्रीध्रुवदास ने कहा है कि अन्यत्र कहीं भी श्रीराधावल्लभ के समान एकरस प्रेमी नहीं है। यदि कोई अन्य किसी को बताता है तो उसे मिथ्याभाषी मानना चाहिये।

१—रूप बेलि प्यारी बनी प्रीतम प्रेम तमाल। —प्रेमावली

तीनों लोकों में कोई कितना भी ढूँढ़ले किन्तु श्रीवृन्दावन की कुञ्जों को छोड़कर प्रेम और सौन्दर्य दोनों एक रस बनकर कहीं निवास नहीं करते ।[1] श्रीश्यामा-श्याम किंवा प्रेम और सौन्दर्य की इस एक रसरूपता का द्योतन श्रीवृन्दावन के इन लता-पुष्पों से ही होता है जो यमुना कूल पर सहज रूप से एक रस रहकर झलमलाते रहते हैं—

> लता-लता सब कल्पतरु, पारिजात सब फूल ।
> सहज एक रस रहत हैं, झलकत जमुना कूल ॥
>
> —वृन्दावनसत

श्रीवृन्दावन का यमुना पुलिन जिस प्रकार श्रीश्यामा-श्याम के विलास-रस का केन्द्र है उस प्रकार यहाँ की कुञ्जों में उनका एकान्त प्रेम-विलास केन्द्रित है । सेवकजी ने इन कुञ्जों को प्रेम रस के पुञ्ज बताया है—श्री वृन्दावन नव-नव कुञ्जा-श्रीहरिवंश प्रेम रस पुञ्जा ।[2] इनके रूप में उनके प्रेम की निविड़ता और सघन शीतलता तो अभिव्यक्त हुई ही है, कुञ्जों के अस्तित्व का मुख्य प्रयोजन भी श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम-सौन्दर्य का पोषण और संवर्धन करना है । सम्प्रदाय के वाणी-साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं । श्रीध्रुवदास ने एक स्थल पर बताया है कि जैसी प्रेम-सौन्दर्य मूर्ति श्रीराधा हैं, वैसे ही छैल-छबीले श्रीश्यामघन हैं । दोनों में सहज प्रेम का अंकुर उत्पन्न हुआ है जिसको वे आसक्ति के जल से प्रतिक्षण सींचते रहते हैं । शय्या उस प्रेमांकुर के लिये आलवाल (थाँवला) बनी हुई है और कुञ्ज-गृह की छाया उसको विरह-धूप से बचाये रखती है । इसके साथ, निकुञ्ज-भवन के पत्र-पुष्प श्रीश्यामा-श्याम के ऊपर रूप-मेह की बौछारें डालते रहते हैं, जिससे उनकी मुख कान्ति का लावण्य अनुदिन हरा-भरा बना रहता है । सहचरीगण अपने नेत्रों की बाड़ बनाकर एकाग्रचित्त से इस अद्भुत दृश्य को देखती रहती हैं । इसके दर्शन से उनको अपनी देह की सुध भूल गई है और वे चित्रवत् खड़ी रह गई हैं ।[3]

१—एकै प्रेमी एक रस राधावल्लभ आहि ।
भूल कहै कोऊ और ठाँ झूठो जानो ताहि ॥
ढूंढ़ फिरै त्रैलोक में बसत कहूँ ध्रुव नाहि ।
प्रेम रूप दोऊ एक रस बसत निकुञ्जन माँहि ॥ —प्रेमावली

२—श्रीसेवक-वाणी, प्रकरण, ४-३

३—जैसी अलबेली बाल तैसे अलबेले लाल, दुहुँन में उलही सहज सोभा नेह की ।
चाहन के अंबु दै-दै सींचत हैं छिन-छिन, आलबाल भई सेज छाया कुंज गेह की ।।
अनुदिन हरी होत पानिप वदन जोत, ज्यों-ज्यों ही बौछार ध्रुव लागै रूप मेह की ।
नैनन की बार किये देखै सखी मन दिये, चित्र-सी ह्वै रही सब भूली सुध देह की ।।

आसक्ति का पोषण, आसक्ति के द्वारा होता है किन्तु पोषक आसक्ति जब महामोहक वेष में नेत्रों का विषय बनकर आसक्ति का पोषण संवर्धन करती है तो उसके आकर्षण की सीमा नहीं रहती। श्रीवृन्दावन की सघन कुञ्जों द्वारा श्रीश्यामा-श्याम के अद्‌भुत प्रेम का नागरतापूर्ण पोषण, इसीलिये, सखीजनों को आत्म-विस्मृतिकारक आह्लाद प्रदान करता है।

श्रीवृन्दावन की भूमि मण्डलाकार है। किसी भी मण्डल की परिधि का कोई भी बिन्दु उसका आदि और अन्त कहला सकता है। गोल वस्तु, वस्तुतः आदि अन्त विहीन होती है। अतः मूर्त आसक्ति रूप मण्डलाकार श्रीवृन्दावन श्रीश्यामा-श्याम की पारस्परिक रति की अनाद्यनंतता का द्योतक है।

वार्णिकारों ने श्रीवृन्दावन की अनेक विशिष्टताओं का रोचक परिचय अपनी रचनाओं में दिया है। विस्तार भय से हम यहाँ केवल मुख्य तीन का उल्लेख करेंगे। श्रीध्रुवदास ने बताया है कि वृन्दावन में सर्वत्र फूल ही फूल दिखलाई देते हैं। द्रुम, बेली, खग और सहचरी कोई भी फूलों से रहित नहीं है—

फूल जहाँ तहाँ देखिये श्री वृन्दावन माहिं।
द्रुम बेली खग सहचरी बिना फूल कोउ नाहिं॥
—नेह-मंजरी

श्रीवृन्दावन में फूलों का यह असामान्य समारोह श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम में भरी हुई अमित अपार फूलन (उल्लास) की सूचक हैं।

इसी प्रकार, श्रीसेवकजी ने श्रीवृन्दावन में शरद और वसंत की सार्वकालिक स्थिति बताई है—'नित सरद-वसन्त मत्त मधुकर कुल, बहु पतत्रि नादहि करणं।'[1] इससे द्योतित होता है कि श्रीश्यामा-श्याम का प्रेम-वासन्ती उल्लास और शारदीय शुभ्र सुषमा से मंडित है।

श्रीवृन्दावन की द्रुम बेलियों पर निवास करने वाले विविध विहग लय-ताल के साथ मधुर-मधुर कूजन करते रहते हैं—मानो विविध रागिनियाँ वृक्षों पर चढ़कर तान तरंग गा रही हैं।

मधुर-मधुर गति ताल सौं गावत विविध विहंग।
मनो द्रुमन चढ़ि रागिनी गावत तान तरंग॥
— सभामंडल

पक्षियों के कूजन की यह असामान्य विधा श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम की संगीतमयता को सूचित करती है। श्रीध्रुवदास ने बताया है कि श्रीराधा-

१—सेवक-वाणी, प्रकरण ११-१।

श्याम की अद्भुत अनंग केलि रागरंग युक्त प्रेम-रस है और उसमें प्रतिक्षण आनन्द सिन्धु के तरंग उठते रहते हैं,

राग रंग युत प्रेम रस अद्भुत केलि अनंग।
छिन-छिन आनन्द सिन्धु के उठिबौ करत तरंग॥

—सभामण्डल

इस अद्भुत श्रीवृन्दावन के दर्शन रसिक महानुभावों ने अपनी भाव-रंजित दृष्टि से भूतल स्थित प्रकट वृन्दावन में ही किये हैं। श्रीहिताचार्य ने अपने कई पदों में श्रीश्यामा-श्याम को भूतल वृन्दावन में नित्य विराजमान रहने की असीस दी है।[1] श्रीध्रुवदास ने कहा है कि यह अनुपम वृन्दावन जगत में प्रकट रूप में जगमगा रहा है। आँख रहते हुये भी वस्तु का दिखलाई न देना माया के कारण होता है।[2] वैदिक ऋषियों ने 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' 'नेहनानास्ति किंचन' आदि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों के प्रत्यक्ष दर्शन मायोपाधि को अपनी ज्ञान-दृष्टि से बाधित करके ही किये थे और उनको यह सम्पूर्ण दृष्य-प्रपंच ब्रह्म रूप में भासित हुआ था। उसी प्रकार रसिक सन्तों ने अपने प्रेमांजनच्छुरित भक्ति नेत्रों से मायिक आवरण को निरस्त करके अधिष्ठान रूप में स्थित नित्य वृन्दावन का प्रत्यक्ष अनुभव भूतल स्थित प्रकट वृन्दावन में किया था।

ज्ञान और भाव दृष्टियों की उपर्युक्त समानता कुछ दूर तक ही सम्भव होती है अन्यथा ज्ञान और भाव की प्रक्रियायें एक दूसरे से भिन्न हैं। ज्ञान-दृष्टि प्रपंच का सर्वथा निषेध करके अधिष्ठान का ग्रहण करती है। भाव-दृष्टि में प्रकट वृन्दावन का निषेध नहीं होता, केवल उसके मायिक आवरण का होता है। भाव की पुष्टि के लिये उसके विषय की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक होती है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही भाव के विषय बन सकते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष विषय भाव का पोषण कहीं अधिक कर देता है। अनुपस्थित व्यक्ति के प्रति क्रोध मन में कितना भी घुमड़ता रहे किन्तु उसके सामने आने पर वह उबल पड़ता है। अतः भाव-स्वरूप के मर्मज्ञ रसिकजनों ने भाव की पुष्टि के लिये प्रकट वृन्दावन का आश्रय अनिवार्य माना है। श्रीहिताचार्य ने प्रकट वृन्दावन में बहने वाली

१—जै श्रीहित हरिवंश विपिन-भूतल पर संतत अविचल जोरी।

—हित-चौरासी, पद ७०

जै श्रीहित हरिवंश असीस देत मुख, चिरजीवहु भूतल यह जोरी।

—हित-चौरासी, पद ५४

२—प्रगट जगत में जगमगै वृन्दाविपिन अनूप।
नैन अछत दीसत नहीं सो माया कौ रूप॥ —वृन्दावन-सत

यमुनाजी की ओर इंगित करके कहा है कि प्रफुल्लित नील-कमल के समान कान्ति वाली यह वही कालिन्दी है, जिसमें जल-केलि के आवेश में घुलकर छूटी हुई तथा अनूपम प्रेम रस प्रदान करने वाली श्रीराधा के कुच-कलशों पर लगी हुई केसर प्रवाहित हुई थी। इस श्रीवृन्दावनधाम में सदा मन्द रहने वाले मेरे हृदय का यह संदीपन करें।[1] अन्यत्र उन्होंने कहा है, मोहनांगी श्रीराधा का रति-कौशल इसी कुञ्ज में प्रकट हुआ था। अहो, उन रसनिधि ने अपने प्रियतम के साथ यहीं नृत्य किया था। इस प्रकार आपके चरितामृत की तरंगों को बार-बार स्मरण करता हुआ मैं, हे श्रीराधे, इस वृन्दावन भूमि में कब चकित बन कर रहूँगा?[2] लगभग पाँच सौ वर्षों से प्रकट वृन्दावन कई श्रीराधाकृष्ण भक्ति-सम्प्रदायों का केन्द्र बना हुआ है और प्रारम्भिक रसिकाचार्यों द्वारा लाड़-दुलार किये गये भगवद् विग्रह यहाँ विराजमान हैं। अतः यहाँ के तौर-तरीकों में, समय के प्रभाव से, अनेक परिवर्तन हो जाने पर भी श्रीवृन्दावन प्रेमभक्ति का दान अनवरत कर रहा है। अब भी यहाँ की गलियों में, घरों में, मन्दिरों में और आश्रमों में रासलीला, कथा, सत्संग और श्रीराधा-नाम की धूम मची रहती है। श्रीध्रुवदास ने ठीक कहा था—

चलत फिरत सुनियत जहाँ राधावल्लभलाल।
ऐसे वृन्दाविपिन में बसत रहौ सब काल॥

—वृन्दावन-सत

पुराण एवं तन्त्र में श्रीवृन्दावन का परिमाण पाँच योजन का बताया गया है किन्तु सेवकजी ने स्पष्ट कहा है कि मेरी लघुमति इसके परिमाण को ग्रहण नहीं कर पाती, उसको तो सर्वज्ञ श्रीहरिवंश ही जानते हैं।

हौं लघुमति नहिं लहौं प्रमाना। जानत श्री हरिवंश सुजाना॥

श्रीवृन्दावन के भाव-स्वरूप को ध्यान में रखकर सेवकजी ने उसकी सीमा निर्धारित करने में असमर्थता प्रकट की है। पुराणों में भौगोलिक वृन्दावन का परिमाण दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से श्रीवृन्दावन के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं—

१. श्रीवृन्दावन श्रीश्यामा-श्याम की पारस्परिक आसक्ति का मूर्तिमान रूप है। उसकी अतिशय रमणीयता में श्रीश्यामा-श्याम का अनुपम रूप-सौन्दर्य प्रतिबिंबित हुआ है।

१—श्रीराधासुधानिधि-स्तोत्रम्, श्लोक सं० २६३।
२—श्रीराधासुधानिधि-स्तोत्रम्, श्लोक सं० २१०।

२. श्रीवृन्दावन से सम्बन्धित श्रीयमुनाजी, लता-वृक्ष, कुञ्जों आदि के, रसिक महानुभावों द्वारा किये गये वर्णनों में श्रीराधाश्याम के अद्भुत प्रेम की विशिष्टतायें ध्वनित हुई हैं।

३. श्रीवृन्दावन का सिंचन करने वाली यमुनाजी शृंगार-रस रूपा हैं। उनके द्वारा श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम के साथ अनंग-केलि की नित्य संलग्नता सूचित हुई है।

४, श्रीश्यामा-श्याम द्वारा यमुना पुलिन के नित्य सेवन-आराधन से उनके प्रेम में रहा हुआ आराध्य-आराधक भाव प्रकट होता है।

५; श्रीवृन्दावन में शरद-वसन्त की नित्य स्थिति उक्त प्रेम की उज्ज्वलता और रंगीनी, वहाँ की कुञ्जें उस प्रेम की सघनता और वहाँ के गानरत विहंग उसकी संगीतमय रागरंगता को व्यञ्जित करते हैं।

६. श्रीवृन्दावन की मण्डलाकारता उसकी अनाद्यनन्तता की सूचक है।

७. भाव स्वरूप वृन्दावन और प्रकट वृन्दावन अभिन्न हैं।

हित-धर्म के साधन

व्याख्याधीन छन्द में सेवकजी ने इस धर्म के साधनों का संकेत केवल एक पंक्ति में कर दिया है। उन्होंने बताया है कि सम्पूर्ण भक्तियाँ इस धर्म की साधन हैं—साधन सकल भक्ति जा तनौं। 'सकल भक्ति' से सेवकजी का तात्पर्य नवधा भक्ति से है। अपनी वाणी में उन्होंने साधन रूप में नवधा भक्ति पर बहुत भार दिया है—यहाँ तक कि उन्होंने गुरु-उपासना के लिये भी नवधा का विधान किया है।[१] श्रीहिताचार्य की रचनाओं एवं सेवक-वाणी के आधार पर सम्प्रदाय में प्रेम-साधना के जिस संश्लिष्ट रूप का विकास हुआ है, उसका पूर्ण परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। उक्त उपासना के कुछ मौलिक तथ्यों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

१. इष्ट उपासना—प्राचीनकाल से भागवत-धर्म में उपासना की दो पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। एक वह है जिसमें भगवान के विभिन्न रूपों के प्रति समान श्रद्धा प्रेम रखकर उनका भजन, पूजन किया जाता है। प्रसिद्ध पंचदेवोपासना इस पद्धति का ही एक अंग है। इसके मर्यादामार्ग में कहा जाता है।

दूसरी पद्धति वह है जिसमें भगवान के किसी एक रूप को अपना इष्ट मानकर उनके चरणों में अपना सम्पूर्ण प्रेम अर्पित किया जाता है। प्रेमी हृदयों को इष्ट उपासना अधिक अनुकूल पड़ती है क्योंकि प्रेम स्वभावतः, एक में ही केन्द्रित होकर पूर्ण पुष्ट बनता है। श्रीनन्दनन्दन के वेणुनाद से आकृष्ट

१—श्रीसेवक-वाणी, प्रकरण ३-४।

होकर सम्पूर्ण व्रजांगनाएँ उनके निकट एकत्रित हुई थीं। आरम्भ में भगवान उनके समक्ष एक रूप में ही उपस्थित रहे किन्तु रास आरम्भ होते ही वे प्रत्येक गोपी के साथ पृथक् रूप से स्थित हो गये। उनका उद्देश्य दोनों ओर से प्रेम को एकनिष्ठ बनाकर पुष्ट बना देना था तभी उस प्रेम में से नृत्य संगीतमय वह उल्लास प्रकट हो सका था जिसका नाम रास है। इष्टोपासना में प्रेम की प्रधानता होने के कारण उसमें अनन्य बुद्धि की अनिवार्यता होती है। 'श्रीराधाकुञ्जवाटी' स्वरूप श्रीवृन्दावन में श्रीश्यामसुन्दर के अनन्य प्रेम का एक उदाहरण श्रीहिताचार्य ने श्रीराधासुधानिधि में दिया है। उन्होंने बताया है कि सृष्टि रचना की बात तो दूर रही अब तो वे अपने नारदादिक भक्तों को भी नहीं पहिचानते, श्रीदामा आदि मित्रों से नहीं मिलते तथा अपने माता-पिता के स्नेह को भी बढ़ावा नहीं देते। किन्तु प्रेम की एकान्त परावधि तथा मधुर रस सुधा-सिन्धु के सार की अगाध आश्रय एकमात्र श्रीराधा को ही जानते हुये श्रीश्यामसुन्दर निरन्तर कुञ्ज-गलियों की उपासना करते रहते हैं।[1] अपनी आध्यात्मिक अथवा लौकिक प्रगति के लिये उपासक को केवल अपने इष्ट के ही आश्रित रहना होता है—वह अन्य किसी देवी-देवता अथवा भगवद् रूप का आश्रय नहीं ले सकता। साधना के क्षेत्र में भी, वह प्रेम-वृद्धि में उपयोगी भक्ति-कर्मों के अतिरिक्त अन्य किन्हीं श्रौत स्मार्त कर्मों का आचरण नहीं करता। अनन्यता का मार्ग सामान्यतया लोक प्रिय नहीं होता। अनन्य प्रेमी अपनी उपासना में तथाकथित समन्वयवादिता एवं 'समझौता' का आश्रय नहीं ले पाता। किन्तु वह संकुचितता से कोसों दूर रहता है। प्रेम निसर्गतः अत्यन्त उदार भाव है और उसके विस्तार की इयत्ता नहीं होती। मर्यादामार्गीयभक्त अनेकता में एकता के दर्शन करता है और इष्टोपासक एकता में अनेकता के।

श्रीराधावल्लभीय उपासना का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग सखीभाव है। अन्य श्रीकृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में गोपियों के भाव का अनुगमन करके श्रीनन्दनन्दन से प्रेम किया जाता है। इस सम्प्रदाय की उपासना का विकास श्रीराधा किंकरियों किंवा सखियों की प्रीति का अनुसरण करके होता है। श्रीहिताचार्य ने अपनी रचनाओं में—विशेषतः श्रीराधासुधानिधि में—श्रीराधा-कैंकर्य का अनुपम यशोगान किया है। उन्होंने कहा है, घनीभूत प्रेम से निर्मित शरीर वाली जिन श्रीराधा के चरणों में नखचन्द्र की चाँदनी से धुले हुए हृदयों में कोई अनिर्वचनीय सरस एवं चमत्कारपूर्ण भक्ति उदित हो जाती है वे श्रीनन्दनन्दन का चित्त चुराने वाली किशोरी अपना वह दास्य मुझे कब प्रदान करेंगी जो सम्पूर्ण वेदों के शिरोभाग माने जाने वाले उपनिषदों का परम रहस्य है।[2]

१—श्रीराधासुधानिधि, श्लोक सं० २३५। २—श्रीराधासुधानिधि, श्लोक सं० २०४।

सखीभाव को भ्रान्तियों से बचाने के लिये इसके सम्बन्ध में व्यवस्था दी गई है कि श्रीराधाकिंकरी का भाव एक मानसिक धर्म है। अतः सर्व साधारण के सामने न तो उनका वर्णन करना और न उसका अनुकरण अपने शरीर पर धारण करना चाहिये। सब मुनिजनों ने भावना के अनुकूल सिद्धि मानी है। अतः इस प्रकार की भावना करने वाले को भी श्रीराधा की कृपा से उनकी दासी पद की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है।[1]

अन्यत्र, उपासक के सखीरूप को उसकी त्रिगुणात्मक देह से सम्बन्धित तीनों लिंगों से पृथक् बताया गया है—

त्रिगुण देह ते पृथक है सखी आपनौ रूप।
तामें स्थित ह्वै निरखि नित्यविहार अनूप॥
वामें स्थित ह्वै तजौ त्रिगुण देह अभिमान।
दुख-सुख, लाभ-अलाभ सम मानामान समान॥

—सुधर्मबोधनी

श्रीकृष्णोपासना के दो भाव प्रसिद्ध हैं—गोपीभाव और सखीभाव। व्रजगोपिकाओं के श्रीकृष्णाराधन का उद्देश्य श्रीनन्दनन्दन का अंग-संग-प्राप्त करना था और वह उनको रासलीला में प्राप्त हुआ था। इसके विपरीत सखियाँ श्रीश्यामा-श्याम के पारस्परिक प्रेम की आराधिका हैं—इन दोनों के साथ सेव्य-सेवक सम्बन्ध के अतिरिक्त उनका अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। नित्यविहार की उपासना में सखियों की स्थिति कुछ अंशों में नाट्यशास्त्र के सामाजिक किंवा सहृदय से मिलती जुलती है। वे श्रीराधाश्याम के प्रेम-विहार का आयोजन करके स्वयं उसमें कोई भाग नहीं लेतीं और लताओं की ओट में रहकर सामाजिक की भाँति तटस्थभाव से उसका रसास्वादन करती रहती हैं।

इस उपासना का तीसरा मौलिक अंग रसिकता है। यहाँ के उपास्य और उपासक दोनों ही रसिक हैं। श्रीहिताचार्य ने श्रीश्यामसुन्दर को 'रसिक रस सागर'[2] और श्रीराधा को 'रसिक रस युवती'[3] कहा है। इन युगल

१—धर्मोयं मानसोस्ति प्रभुवर ग्रहणीदासिकायास्तुभावो,
वक्तव्योनैव बाह्यं नतदनुकरणं स्वे शरीरेथधार्यं।
सिद्धिः सर्वत्र गीतासकलमुनिजनैर्भावनाया समाना,
श्रीमद्राधा कृपातोनियतमथभवेत्तत्पद प्राप्तिरस्य॥

— सेवाविचार, श्लोक सं० ६०

२—हित-चौरासी, पद ६३। ३—हित-चौरासी, पद १३।

रसिक शिरोमणियों की उपासना में, ध्रुवदासजी ने, अत्यन्त सरस हृदय व्यक्ति का ही अधिकार माना है—

जाकौ हियौ सरस अति होई–या रस रीतहिं समझै सोई ।

पूर्व जन्म के संस्कार लब्ध यह सरसता स्वभावतः बहिर्मुख होती है और बाह्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्श का ही आस्वाद करती है । इसमें से विषय-वासना सर्वथा नष्ट हो जाने पर ही यह रसिकता श्रीश्यामा-श्याम के अद्भुत-अलौकिक प्रेम-सौन्दर्य का आस्वादन कर पाती है । श्रीनागरीदास ने बताया है कि जब विषय-वासना को जलाकर उसकी राख को भी झाड़कर उड़ा दिया जाता है तभी उपासक का देह रसिक नरेश (श्रीहरिवंश गोस्वामी) के मार्ग के योग्य बनता है—

विषय वासना जारिकै झारि उड़ावै खेह ।
मारग रसिक नरेश के तब ढँग लागै देह ।।

अन्यत्र उन्होंने कहा है कि इस बहिर्मुख मन को मारकर इसे (अन्तर्मुखता के क्षेत्र में) पुनः जिला लेना होता है । रसिक नरेश के मार्ग में इस तैयारी के साथ ही चलना सम्भव है—

यह मन मारि जिबाईये जियत न आवै काज ।
गैल जु रसिक नरेश की चलनौ है तिहि साज ।।

इस प्रकार मरकर जियें हुयें मन में ही श्रीश्यामा-श्याम की अद्भुत प्रेम-परिपाटी प्रकाशित होती है और श्रीध्रुवदास उसको ही रसिक मानते हैं, जिसके हृदय में लाल-लड़ैती की प्रीति प्रतिक्षण झलकती रहती है—

रसिक तबहि पहिचानिये जाकै यह रस रीति ।
छिन-छिन हिय में झलकि रहै लाल-लाड़िली प्रीति ।।

—आनन्दाष्टक

श्रीश्याम-श्यामा की प्रीति श्रीवृन्दावन के रूप में नित्य प्रकट है—इस अविचल प्रतीति के साथ श्रीवृन्दावन का एकान्त आश्रय उक्त प्रीति को हृदय में प्रकाशित कर देता है । श्रीध्रुवदास ने कहा है कि श्रीवृन्दावन का चिन्तन रूपी दीपक यदि हृदय में जला लिया तो वह कोटि जन्म के पापजनित अन्धकार को काटकर प्रेम का प्रकाश हृदय में फैला देता है—

वृन्दावन कौ चिन्तवन यहै दीप उर बार ।
कोटि जन्म के तम अघहि काटि करै उजियार ।।

—वृन्दावअ-सत

श्रीवृन्दावन के निष्ठा पूर्ण चिन्तन से वहाँ के यमुना पुलिन की परम पावनता, द्रुमों की अनन्त मुकुलितता, लताओं की उन्मत्त उत्फुल्लता, पक्षियों का भाव-विभोर नृत्य और गान, वहाँ नित्य स्थित शरद-वसन्त की ज्योत्स्ना मंडित रंगीन मादकता, कुञ्जों की मसृण सघनता आदि उपासक की जन्म-जात सरसता में संचरित होकर उसका परिष्कार कर देते हैं और वह तभी श्रीश्यामा-श्याम के दिव्य प्रेम के आस्वादन की अधिकारिणी बनती है। असंस्कारित सरसता तो इस त्रिगुणातीत प्रेम-विहार के क्षेत्र में उत्पात और अनर्थ का ही कारण बनती है।

श्रीवृन्दावन के उक्त अद्भुत प्रकार को समझ कर श्रीध्रुवदास ने रसिक उपासकों को परामर्श दिया है कि यदि अविचल विश्राम की कामना है तो वृन्दावन का नाम रटो, वृन्दावन को देखो, वृन्दावन से प्रीति करो, वृन्दावन को हृदय में अंकित करो, सुख की खान वृन्दावन को प्रणाम करो और वृन्दावन को पहिचानो—

> वृन्दावन कौ नाम रट, वृन्दावन कौं देख।
> वृन्दावन सौं प्रीति करि, वृन्दावन उर लेख ।।
> वृन्दाविपिन प्रणाम करि, वृन्दावन सुख-खान।
> जो चाहत विश्राम ध्रुवं, वृन्दावन पहिचान ।।
>
> —वृन्दावनसत

उपासना के विविध अंगों और उनकी आचरण-प्रक्रिया का विशद परिचय सम्प्रदाय के सेवा ग्रंथों में उपलब्ध है और वहाँ देखा जा सकता है।

हित-धर्म का फल

सेवकजी के इस व्याख्याधीन छन्द में फलका निर्देश भी एक ही पंक्ति में किया गया है। उन्होंने कहा है कि इस धर्म के सम्यक् आचरण से श्रीहरिवंश का अपना सहज वैभव उपासक की दृष्टि में प्रकट हो जाता है। सेवकजी ने अपनी वाणी के पंचम प्रकरण में श्रीहरिवंश को हित का स्वरूप अर्थात् प्रकट विग्रह बताया है।[1] इसके साथ उन्होंने श्रीहरिवंश को आत्म-स्वरूप भी कहा है।[2] हम ऊपर देख चुके हैं कि हित ही चार रूपों में परिणमित होकर नित्य बिहार की सृष्टि करता है अतः नित्यविहार ही हित का वैभव है। चूँकि उपासक का आत्मा भी श्रीहरिवंश है अतः आत्मा भी हितरूप है और नित्यविहार उपासक के हित रूप आत्मा का सहज वैभव है।

हित सम्प्रदाय में वस्तुतः नित्यविहार के विधायक चारों व्यक्तित्वों को सहज स्वरूप बताया गया है। श्रीहिताचार्य ने अपने एक पद में श्रीश्याम-

१—सेवकवाणी, प्रकरण ५-४   २—सेवकवाणी, प्रकरण ५-२

सुन्दर को 'मुनियों के सघन परमानन्द का अनन्त गुण मंडित प्रकट रूप' बताकर उनकी सहज रूपता व्यंजित की है – मोहन मुनि सघन प्रगट परमानन्द गुन गंभीर गुपाला।[1] उधर सेवकजी ने श्रीराधा को स्पष्ट रूप से 'सहज रूप वृषभानुनन्दिनी' एवं 'सहजरूप श्रीवृन्दावन की नित्य उदित चन्द्रिका बताया है। श्रीराधा की प्रेम-केलि सहज है, उनके 'रंग सुख चैन' सहज हैं, उनका अंग माधुर्य सहज है और वे सहजानन्द का वर्षण करने वाली मेघमाला हैं।[2] श्रीध्रुवदास ने भी सेवकजी के इस कथन पर अपनी अनुभूति की मोहर लगाई है। उन्होंने कहा है,

सहज चंद निसि सहजही सहज वृन्दावन रास।
सहज पवन सुख सहजही दम्पति सहज विलास॥

—रसानन्द

यदि नित्यविहार के सम्पूर्ण क्षेत्र पर सहजता छाई हुई हैं तो यह देखना होगा कि रसिकगण 'सहज' शब्द के द्वारा किस अर्थ का सूचन करते हैं? रसिक-वाणियों में तो इस शब्द का प्रयोग विरल ही हुआ है किन्तु कबीर, दादू आदि निर्गुण शाखा के सन्तों ने अपनी रचनाओं में इसका प्रयोग उन्मुक्त रूप से किया है। और इसको परिभाषित करने की भी चेष्टा की है। रसिक साहित्य में इस प्रकार का कोई प्रयास लेखक की दृष्टि में नहीं आया। किन्तु कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनके सहारे उनके द्वारा प्रयुक्त 'सहज' शब्द के अभिप्रेत को कुछ अंशों में समझा जा सकता है। सहज शब्द की व्युत्पत्ति सीधी है – जो मनुष्य के साथ जन्म ले, सहजायते ते। मनुष्य का निर्माण जड़ और चैतन्य के मिलन से हुआ है–शुद्ध चैतन्य और उससे अनुप्राणित पाँच भौतिक तत्व। मनुष्य के साथ दोनों जन्म ग्रहण करते हैं और उसके लिए दोनों ही सहज हैं। सामान्यतया हम जिसे उसका सहज कहते हैं वह उसके चैतन्य विशिष्ट जड़ देह का लक्षण है और उसका निर्माण उसके पूर्व एवं वर्तमान जन्मों के संस्कारों से हुआ है। उसका चैतन्यांश वाला 'सहज' सामान्यतया सुप्त और आवृत रहा आता है। रसिक महानुभाव उक्त संस्कार जनित सहज का बदलना, मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के लिये, नितान्त आवश्यक मानते हैं। नागरीदासजी ने कहा है कि सहज के बदले बिना और सर्वत्र भाव का स्फुरण हुये बिना प्रेम पथ पर अग्रसर होने की सम्पूर्ण चेष्टायें बनावट मात्र होती हैं।

जब लगि सहज न बदलई फुरै न जहाँ-तहाँ भाव।
पंथ पावनों कठिन हैं कीन्हे कहा बनाव॥

१—हित चौरासी, पद ६३ २—सेवकवाणी. प्रकरण ७-६

उसके इस संस्कार जनित सहज के विपरीत मनुष्य का सहज चैतन्य सच्चिदानन्दघन होने के साथ प्रेम स्वरूप भी है। वृहदारण्यक उपनिषद् ने आत्मा को प्रियता का एकमात्र आस्पद बताया है।[1] तैत्तिरीय श्रुति ने उसको रसस्वरूप भी कहा है और अन्यत्र उसको 'रसेन तृप्तः' अर्थात् रसिक भी बताया गया है क्योंकि रसिक ही रस से तृप्ति लाभ करता है। कृपापात्र प्रेमी-भक्तों की दृष्टि में इस सहज चैतन्य का सहज रूप नामवाणी के माध्यम से प्रकाशित होता है। मोहनजी ने बताया है कि जिस प्रेमी भक्त के मुख से जो नाम निकलकर जगत् में प्रचलित हो गया 'बहुरंगी श्याम' वैसा ही रूप धारण करके उसको द्रष्टि गोचर हो गये।

जिहि मुख तैं जो नाम, निकसि जगत परगट भयौ।
सो बहुरंगी श्याम, ह्वै, स्वरूप नैनन लख्यौ॥

—केलि-कल्लोल

इसीलिए वैष्णव सिद्धान्त में नाम-नामी का सम्पूर्ण अभेद माना जाता है।

नाम-वाणी द्वारा प्रकाशित इस सहजरूप की कुछ विशिष्टताओं के संकेत रसिकों की वाणियों में मिलते हैं।

१ मनुष्य की बुद्धि द्वारा कल्पित भगवद्रूप से उक्त सहज रूप सर्वथा विलक्षण होता है। सेवकजी ने श्रीहरिवंश जनित प्रेम में ज्ञान-ध्यान को प्रयास मात्र, श्रम-मात्र-बताया है। तात्पर्य यह है कि जिस उपासक के हृदय में श्रीहरिवंश की कृपा से प्रेम जाग्रत होता है उसको सहजरूप श्रीवृन्दावन की स्फूर्ति सहजरूप से होने लगती है। यह स्फूर्ति ध्यान जैसी शुद्ध बौद्धिक क्रिया से सम्भव नहीं होती क्योंकि सभी शास्त्रों में आत्मा को बुद्धि से परे बताया गया है—यो बुद्धेः परतस्तु सः।[2] वस्तुतः बुद्धि के स्पर्शमात्र से ही यह सहज रूप सौन्दर्य उपासक की दृष्टि से ओझल हो जाता है। अतः मनुष्य की बुद्धि, इस सहज रूप-दर्शन को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हो पाती और दार्शनिक रीति से इसको समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। रूप दर्शन में अहर्निश उन्मत्त रहने वाले प्रेमाभक्ति के आचार्यगण, इसीलिये, इसको लेकर किसी विवाद में पड़ने को कभी तैयार नहीं हुए। प्रसिद्ध है कि श्रीरूप गोस्वामीपाद ने किसी पण्डित द्वारा शास्त्रार्थ के लिए ललकारे जाने पर, पूर्ण समर्थ होते हुये भी, उसको अपनी पराजय के हस्ताक्षर करके दे दिये थे। विवाद के लिये उद्यत श्रीहरिरामजी व्यास को स्वरचित एक पद सुनाकर श्रीहिताचार्य ने सदा के लिये उनकी विवाद प्रवणता को ही नष्ट कर दिया था। श्रीहिताचार्य ने इस प्रकार की मानसिक प्रवणता को अपने एक

१—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।—(वृह० उ० २-४-५)

२—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ३, श्लोक सं० ४२

पद में 'कुत्सित वाद विकार'[1] कहा है। चाचा हित वृन्दावनदासजी ने इसका पल्लवन इस प्रकार किया है—

रसमयधाम सृष्टि जहाँ रसमय कथा अलौकिक न्यारी।
रासेश्वरी कृपा तैं जानैं और नहीं अधिकारी॥
बुधिबल करत, करि गये, करिहैं पंडित और अनारी।
वृन्दावन हित रूप न परचे नीरस तर्क विकारी[2]॥

२; इस सहज रूप का अन्य लक्षण उसका अत्यन्त विस्मयकारी होना है। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान ने मनुष्य के आत्मा के अन्य लक्षणों के साथ उसका एक लक्षण 'आश्चर्य रूप' भी बताया है। उन्होंने कहा है कि कोई व्यक्ति इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है, कोई उसको आश्चर्य के समान कहता है, कोई उसको आश्चर्य के समान सुनता है, और कोई सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता।[3] श्रीहिताचार्य ने यही लक्षण सहज रूप श्रीवृन्दावन की अद्भुत महिमा का बताया है। उन्होंने कहा है कि जो श्रीराधाचरणों के दास्य को हृदय में धारण करने वालों को ही भली भाँति गोचर होता है, जिसकी उपासना श्रीराधा की कृपा के बिना संभव नहीं है और जो महापापियों को भी प्रेमामृत रस का दान करने वाला है, उस श्रीवृन्दावन की दुर्गम महिमा का आश्चर्य मेरे हृदय में प्रकाशित हो।[4] हित-चौरासी के अपने एक रास के पद के अंत में श्रीहिताचार्य ने उक्त अद्भुत प्रेम सौन्दर्य-मयी केलि के परमाद्भुत प्रभाव का वर्णन करते हुये कहा है कि उसको देखकर—

उडुगन चकित थकित ससि मण्डल, कोटि मदन मन लूटे[5]।

यहाँ सहजरूप के दर्शन से जड़सृष्टि को भी आश्चर्य चकित बनता दिखाया गया है।

३. इसकी तीसरी विशिष्टता यह है कि उपासक की बुद्धि से अतीत रहते हुए भी यह उसके नेत्रों का विषय बन जाता है। अतः इसको हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष दर्शन (Direct Perception) लब्ध कह सकते हैं। श्रीध्रुवदास ने कहा है कि कृपापात्र प्रेमी उपासक अपने चर्म चक्षुओं से ही श्रीवृन्दावन के सम्पूर्ण सुखों को देखता है और अपने जीवन की धन्यता का अनुभव करता है—

१—स्फुटवाणी, पद ८ २—जुगल सनेह पत्रिका, मांझ सं० १०२
३—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय, २ श्लोक सं० २९. ४—श्रीराधासुधानिधि, श्लोक सं० २६५
५—हित चौरासी, पद ६३

इनही आँखिन सब सुख देखै-जीवन जनम सफल करि लेखै।

श्रीनेहीनागरीदास ने श्रीराधा की अपनी प्रसिद्ध जन्म बधाई में कहा है कि उनके प्राकट्य से रसिकों का सहज सुख उनके नेत्रों का विषय बन गया। और उनको सम्पूर्ण सुकृतों की अनिर्वचनीय फल-सम्पत्ति मिल गई।

आजु उदौ वृषभान भवन कौ निज सुख निरख्यौ नैन।

सब सुकृतन की सम्पति पाई कहत बनै नहिं बैन।

सहज रूप अथवा सहज सुख की यह गोचरता केवल प्रेम मार्ग में ही सम्भव है और प्रेमियों का अनुभव ही इसका एकमात्र प्रमाण है।[1]

४. रसिक महानुभावों ने सहज रूप की चौथी विलक्षणता यह बताई है कि इसकी क्षणिक स्फूर्ति से ही तन और मन त्रस्त एवं विह्वल बन जाते हैं। सामान्यतया कृपापात्र उपासकों की दृष्टि में सहज रूप का अनावरण क्रमशः होता है और उनके हृदय में प्रेम की वृद्धि के साथ उनकी दृष्टि इस अद्‌भुत रूपसौन्दर्य पर ठहरती जाती है--प्रेम अंजन दियें दृष्टि ठहरी।[2] रसिकवर घनानन्दजी ने अपनी लाक्षणिक शैली में उपासक की दृष्टि की इस क्रमिक स्थिरता को एक उदाहरण देकर समझाया है। उन्होंने कहा है जिस प्रकार नदी का प्रवाह कूल को बढ़ाकर बढ़ता है, उसी प्रकार कृपा को कृपा-बल से सँभाला जाता है--

कूल बढ़ाइ प्रवाह बढ़ै त्यौं कृपा बल पाइ कृपाहि संभारौ।

नित्यविहार की रस प्रणाली में प्रेमी की भूमिका का निर्वाह श्रीश्यामसुन्दर करते हैं और उनमें ही प्रेम के सब लक्षणों का आविर्भाव दिखलाया जाता है। उनके श्रीअंग पर पड़ने वाले श्रीराधा के सहज माधुर्य के त्रासदायक प्रभाव का वर्णन श्रीहिताचार्य ने अनेक प्रकार से किया है। श्रीहित चौरासी के अधिकांश पद सखी भावाविष्ट चित्त से रचे हैं और इनमें वर्णित प्रेम प्रसंगों में उन्होंने हित सजनी के रूप में प्रत्यक्ष भाग लिया है। एक पद में उन्होंने बताया है कि श्रीराधा के अप्रतिम रूप सौन्दर्य के दर्शनमात्र से श्रीरसिकशेखर के मन की गति अनायास पंगु बन जाती है। श्रीराधा जब भृकुटि विलास पूर्वक अपने प्रियतम की ओर देखती हैं तब उनकी दशा ऐसी विचित्र बन जाती है कि उसका वर्णन करने में मैं असमर्थ हो जाता हूँ। श्रीहिताचार्य हित सजनी के रूप में अन्य सखी से यह कह ही रहे थे कि श्रीराधा ने मुस्कराते हुए केशपाश को संयमित करने के बहाने अपनी

१—तुलनीय,—नैन न मूदूं कान न रूधूं काया कष्ट न धारूं।
उघरे नैनन साहब देखूं सुन्दर वदन निहारूं॥—कबीरदास

२—श्रीनागरीदास, नागरी अष्टक ६

अतिशय और भुजायें ऊपर उठा दीं । उनको देखकर श्रीश्यामसुन्दर इतने अधिक व्याकुल बन गये कि उनकी दशा देखकर श्रीहिताचार्य हाहाकार कर उठे और अपनी प्राणनाथ स्वामिनी को उपालम्भ देते हुये कहने लगे कि हित की यह कैसी अनीतिमय रीति है कि आप अपने प्रियतम के शरीर पर इतना त्रास डाल रही हैं—

हा हरिवंश अनीत रीत हित कत डारत तन त्रास ।[1]

नेहीनागरीदासजी के एक प्रसिद्ध पद में श्रीश्यामसुन्दर हितसखीजी को सम्बोधित करके कहते हैं कि हे सखी, श्रीराधा के अंग-अंग की छवि पर बिके हुए मेरे ये नेत्र ही जानते हैं कि इन पर उनके दर्शन से कितनी भीर पड़ जाती है । श्रीप्रिया के अंग-अंग अगाध सौन्दर्य की अवधि हैं, मेरी विचारी रसना उनका क्या वर्णन कर सकती है ? श्रीप्रिया को देखते ही मेरे तन-मन उनके सौन्दर्य में डूब जाते हैं । यदि मैं इस छवि को अपने हृदय में प्रवेश पा जाने दूँ तो पता नहीं उसकी क्या स्थिति बन जाय ।[2] श्रीश्याम-सुन्दर स्वयं प्रेमघन स्वरूप होने के साथ रूप-सौन्दर्य के अगाध सागर हैं । उनके श्रीअंग में रूप-सौन्दर्य को झेलने की भी अमित क्षमता है । श्रीहिता-चार्य ने, इसीलिये, उनकी देह को वज्र का पंजर बताया है ।[3] इस प्रेम राज्य में उनकी जब यह स्थिति बन जाती है तो पाँच भौतिक देह वाले विचारे उपा-सक का क्या कहना । वह तो एक कण से ही उफन उठेगा ।

५. सहज रूप का उन्मेष स्वतः प्रमाण एवं आत्म प्रसादनकारी होता है । उसके आध्यात्मिक मूल्य के सम्बन्ध में उपासक के मन में कोई संदेह नहीं रहता । उसके स्थिर होने पर उपासक की हृदय-ग्रन्थियों का विमोचन हो जाता है । रसिक महानुभावों ने उपासक के जिस सहज स्वभाव का बदलना, उसकी आध्यात्मिक प्रगति के लिये नितान्त आवश्यक बताया है उसका बदलना असंभव जैसा माना जाता है । प्रेमाभक्ति के क्षेत्र में स्वभाव का आमूल परिवर्तन केवल सहज रूप के माध्यम से ही सम्भव माना गया

१—हित चौरासी, पद ५३

२—मेरे नैना ही यह जानै ।
जेतिक भीर परत अवलोकत ठौर-ठौर छवि माँझ बिकानैं ।
× × ×
रूप अगाध अवधि सखि, अँग-अँग, रसना वपुरी कहा बखानै ।
तन-मन बूड़ि जात देखत ही कहा होइ उर भीतर आनै ।।
श्रीनेहीनागरीदासजी की वाणी, पद ८६

३—हित चौरासी, पद ३७

है। मनुष्य स्वभाव का मूल उसके अवचेतन मन में होता है। चेतन मन के द्वार से उसको बदलने की चेष्टायें ऊपरी और सतही होने के कारण विफल होती रहती हैं। सहजरूप का उदय उपासक के उस प्रेम स्वरूप आत्मा में से होता है जो चेतन-अवचेतन दोनों का आश्रय है और उनसे परे है। अतः उक्त रूप का प्रकाश सहज में दोनों को उज्ज्वल बनाकर प्रेमोपासना के योग्य बना देता है। स्वभाव में परिवर्तन होने के पश्चात् रूप का स्फुरण निर्बाध होने लगता है और रसिक महानुभावों के अनुसार, उपासक क्रमशः रूप-सिन्धु में निमग्न होता जाता है। श्रीभोरीसखी ने बताया है कि सहजरूप के निरन्तर स्फुरण से उपासक की ज्ञानेन्द्रियाँ केवल रूप का ही ग्रहण करने लगती हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप में समा जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व का विलय रूप में हो जाता है और मन की चारों भूमिकायें-जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया—रूप में डूब जाती है।[1]

इस प्रकार उपासक के सहज प्रेम-रूप का अनावरण करके श्रीवृन्दावन के सम्पूर्ण प्रेम-सौन्दर्यवैभव को उसके मन और नेत्रों का विषय बना देना हित उपासना का फल है—प्राप्तव्य है। श्रीध्रुवदास ने कहा है कि 'प्रेमपंथ रस-रीति' की यह उपासना सबसे कठिन है क्योंकि सच्ची प्रीति वही है जिसका अनुभव एक क्षण के लिये भी मन से दूर न हो—मन यदि राई के समान भी विचलित होता है तो प्रीति भंग हो जाती है।[2] श्रीवृन्दावन की सघन

१—रूपहि दृष्टि समाय रही री, रूप हिराने नैना।
वानी रूप हिरानी मुख सौं, क्यौं कहि आवैं बैना।।
रूपहि श्रवन विमोहे ऐसे, शब्द न देत सुनाई।
नासा गन्ध न सूंघ सकैरी, रूप जु घ्राण समाई।।
तनु कौ परस रूप हरि लीन्हौ, शीत उष्ण नहिं कोई।
कहा खात कछु जीभ न जानत, स्वाद रूप में खोई।।
अचल भयौ मन रूप समानौ, सकल कल्पना त्यागी।
फुरत विचार-विवेक न कोई, बुद्धि रूप में पागी।।
चित चिन्तन हरि लियो रूप ने, कछू न आवत ध्यान।
अहं भाव हू रूप समान्यौं, को मैं, कहां, न जानं।
अखिल विश्व लय भयौ रूप में, जाग्रत रूप हरी है।
इक रस स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीया, रूपहि मैं धगरी है।।
+ + +
उछरि-उछरि कै डूबत फिर-फिर डूब-डूब कै उछरैं।।
पीवत तृषित रहै हित भोरी, जो हित कृपा करैं।। —प्रेम की पीर, पद १६६

२—सबतैं कठिन उपासना प्रेम पंथ रस रीति।
राई सम जो चलै मन छूटि जाइ ध्रुव प्रीति।। —श्रृंगारसत (व्या. ली)

कुञ्जों में होने वाली प्रेम-क्रीड़ा को इसलियें नित्यविहार कहा जाता है कि इसके माध्यम से श्रीश्यामाश्याम पारस्परिक प्रेम का अविच्छिन्न एवं एकरस उपभोग अनाद्यनंत रूप से करते रहते हैं। श्रीध्रुवदास ने अन्यत्र बताया है कि नित्यविहार प्रेमानुभव की एक अखंडित धारा है। इसीलिये युगल श्रीश्यामाश्याम का निकुञ्ज विहार सर्वोपरि माना जाता है।[1] स्वभावतः इस विहार के सम्यक् आस्वाद के लियें, हित उपासक द्वारा प्रेम-रूप का निरन्तर अनुभव नितान्त आवश्यक माना जाता है।

हित धर्म का आश्रय

सेवकजी ने इस धर्म का निवास श्रीराधा के युगल चरणों में बताया है--श्रीराधा युग चरण निवास।

श्रीहिताचार्य का यह उद्घोष प्रसिद्ध है--"मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा सपथ करौं तृन छियें।" हित चौरासी के सम्पूर्ण विहार वर्णन का उद्देश्य उन्होंने श्रीराधा के सुकुमार चरण-कमलों में रति प्राप्त कराना बताया है--

जै श्रीहित हरिवंश यथामति बरनत कृष्ण रसामृत सार।
स्त्रवन सुनत प्रापक रति राधा पद अंबुज सुकुमार॥[2]

अपनी संस्कृत रचना श्रीराधासुधानिधि के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा है कि मेरी यह 'गिरा' कोमल कुञ्ज पुञ्ज से शोभायमान श्रीवृन्दावन-मंडल से संलग्न है और इसमें नित्य-विहारिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी के चरण नख की ज्योति-छटा प्रायः छिटकी रहती है।[3] हित धर्म का श्रीराधाचरणाश्रय इतना सम्पूर्ण है कि नागरीदासजी ने श्रीवृन्दावन निकुञ्ज मन्दिर में स्थित हित-कल्पतरु के पत्र-फल-फूल ही नहीं सर्वांग ही गौरांगी श्रीराधा के चरण कमल बतायें हैं--

नागरी नवरंग निकुञ्ज हित-कल्पतरु
पत्र-फल-फूल सर्वांग गौरांग पद।[4]

नाभाजी ने, इसीलियें, श्रीहिताचार्य को 'राधाचरण प्रधान' कहा है। श्रीहरिलाल व्यास (विक्रम की उन्नीसवीं शती का मध्य) ने अपनी श्रीहरिवंश-वन्दना की एक कारिका में 'प्रधानता' की व्याप्ति को स्पष्ट करते हुए बताया है कि श्रीराधा ही जिनकी इष्ट हैं, श्रीराधा ही जिनके सम्प्रदाय की एकमात्र

१—नित्यविहार अखंडित धारा—नित सर्वोपरि युगल विहारा।
२—हित चौरासी, पद ३० ३—श्रीराधासुधानिधि, श्लोक सं० २६८
४—नागरीअष्टक ५

प्रवर्तक आचार्य हैं, जिनकी मन्त्रदाता सद्‌गुरु श्रीराधा ही हैं, जिनका मन्त्र भी श्रीराधा ही है, श्रीराधाचरणकमलों की प्रधानता रखने वाले उन श्रीहित हरिवंश की मैं वन्दना करता हूँ।

राधैवेष्टं सम्प्रदायैक कर्ताऽऽचार्यो राधामंत्रदः सद्‌गुरुश्च।
मंत्रो राधा यस्य सर्वात्मनैवं वन्दे राधा-पाद-पद्म-प्रधानम्॥

उक्त कारिका में व्यास जी ने श्रीराधा को हित सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य बताया है। इसका आधार स्वयं श्रीहिताचार्य की एक 'पत्री' है, जिसमें उन्होंने श्रीराधा को सम्बोधित करके कहा है कि व्रज-नव-तरुणि-कदम्ब चूड़ामणि हे श्रीराधे, तिहारे स्थापे गुरु मार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौं होत है।[1] श्रीराधा द्वारा श्रीहिताचार्य को मन्त्रदान तो प्रसिद्ध ही है।

श्रीकृष्ण की भाँति श्रीराधा भी संसार में अनेक रूपों में पूजित हैं। कोई उनको रायण गोप की पत्नी एवं श्रीकृष्ण की प्रेयसी के रूप में देखते हैं, कोई उनको स्वतंत्रा पराशक्ति मानते हैं, अन्य उनको श्रीकृष्ण की अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति मानते हैं। श्रीहिताचार्य ने श्रीराधानाम का नाता मानकर, श्रीराधा सुधानिधि में, संसार में प्रचलित श्रीराधा के सभी रूपों को स्वीकृति प्रदान की है और उसके साथ अपने आराध्य रूप का भी निर्देश कर दिया है। श्रीहिताचार्य का यह उदार दृष्टिकोण श्रीराधासुधानिधि के आलोचकों को भ्रम में डालता रहा है। श्रीध्रुवदास ने हित सम्प्रदाय के प्रारम्भिक काल में ही भक्ति-रस-साहित्य की आलोचना का एक मानक स्थापित किया था। उन्होंने कहा है, 'कि महापुरुषों ने अनेक प्रकार के रस कहे हैं। उनमें यह देखना चाहिए कि उनका मन किस पर केन्द्रित हो रहा है, और उसी को उनका मत मानना चाहिये।[2] श्रीहिताचार्य की रचनायें—विशेषतः श्रीराधा-सुधानिधि-उक्त मानक की सहायता से ही ठीक ढंग से समझी जा सकती हैं अन्यथा इनमें प्रकट किये गये परस्पर विरोधी भावों को समझने का कोई मार्ग नहीं रहता।

उदाहरण के रूप में श्रीराधासुधानिधि के ही दो श्लोक ले लीजिये। एक श्लोक में श्रीकृष्ण विहरिणी राधा का ध्यान किया गया है, जिसमें वे (श्रीराधा) हाथ में वीणा लेकर 'नागर शिरोमणि' की भावपूर्ण लीलाओं का गान करती हुई अपार अश्रु वर्षा कर रही हैं।[3] अन्य एक श्लोक में, श्रीहिताचार्य ने श्रीराधा माधव के प्रेम-सम्बन्ध को इससे भिन्न रूप में देखा है। उन्होंने कहा है, 'आश्चर्य कि शरीरों के एक दूसरे से पृथक् होने पर निमेषमात्र के वियोग

१—द्वितीय श्रीमुख पत्री पृष्ठ सं० २९७ २—सिद्धान्त विचार लीला, पृष्ठ स० २८०
३—श्रीराधासुधानिधि, श्लोक सं० ४८

की सम्भावना से जिनके बाहर और भीतर मानो करोड़ों प्रलयाग्नियाँ प्रज्वलित हो उठती हैं, ऐसे स्नेह के प्रगाढ़ सूत्र में बँधे, प्रेम की अद्‌भुत मूर्ति श्रीराधामाधव नामक उस युगल को मैं इस लोक में परम मधुर प्रकाश मानता हूँ।'[1] इन दोनों श्लोकों में दूसरा ही श्रीहिताचार्य के सामान्य प्रेम-सिद्धान्त के अनुकूल है अतः इसको ही उनका हार्द समझना चाहिये।

यह सुविदित है कि हित सम्प्रदाय में श्रीराधा को केवल प्रेम स्वरूप माना जाता है—शक्ति नहीं माना जाता। श्रीहित हरिवंश ने युगल को केवल पति-पत्नी रूप में देखा है। उनके श्रीकृष्ण शक्तिमान् नहीं हैं, उनकी श्रीराधा शक्ति नहीं हैं। वे केवल प्रेमी और प्रेमपात्र हैं और सहज दाम्पत्य बन्धन में आबद्ध हैं। उनमें प्रेम सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रेम. स्वरूपता से भिन्न कोई रूप नहीं है और शृंगारमयी प्रेम-क्रीड़ा के अतिरिक्त अन्य कोई लीला नहीं है। ये दोनों प्रेम के खिलौने हैं और प्रेम का ही खेल खेल रहे हैं—प्रेम के खिलौना दोऊ खेलत हैं प्रेम खेल। इनमें प्रेम जनित क्रिया एवं ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी क्रिया अथवा ज्ञान का अवकाश नहीं है। किन्तु श्रीराधासुधानिधि के एक श्लोक में उनको 'शक्तिः स्वतन्त्रा परा' कहा गया है। इस विरोध का परिहार भी उपर्युक्त रीति से सरलता पूर्वक हो जाता है। उक्त श्लोक को प्रथम पंक्ति में श्रीहिताचार्य ने अपने आराध्य रूप का संकेत करते हुए कहा है कि 'जो शुद्ध मधुरोज्ज्वल प्रेम की हृदयरूपा एवं शृंगार रस की लीला-कला वैचित्री की चरम सीमा है। इसके पश्चात् उन्होंने श्रीराधा के लोक—प्रचलित पाँच रूपों का उल्लेख किया है—वे हैं भगवान् की कोई अनिर्वचनीय पूज्य ऐश्वर्य शक्ति, पार्वती, इन्द्राणी, महासुख स्वरूपा स्वतन्त्र पराशक्ति और श्रीवृन्दावन-नाथ की पटरानी। स्पष्ट है कि श्रीराधा के उक्त सब रूप श्रीहिताचार्य के आराध्य नहीं हो सकते। इस श्लोक में इनके उल्लेख से केवल इतना ही सूचित होता है कि वे इनके सम्बन्ध में कोई बुद्धि भेद उत्पन्न करना नहीं चाहते।

हित सम्प्रदाय में श्रीराधा को शक्ति न मानने के तीन मुख्य हेतु हैं—

१, सम्प्रदाय में श्रीराधा की सम्पूर्ण प्रधानता है। यदि उनको स्वतन्त्रा या परतन्त्रा किसी प्रकार की भी शक्ति माना जाय तो सीधा शक्तिवाद स्थापित होता है और यह एक ऐसी बात है जिसको रसिक महानुभाव किसी प्रकार भी सहन करने को तैयार नहीं है। श्रीराधा की प्रधानता को अक्षुण्ण रख कर उनके सम्बन्ध में शक्तितत्व का भ्रम उत्पन्न न होने देने के लिये इन रसिकों ने अपनी वाणी एवं अपने आचरणों द्वारा शाक्तों का घोर विरोध किया।

१—श्रीराधासुधानिधि श्लोक सं० १७३

सेवकजी ने शाक्त (शक्ति उपासक) के संग को अग्नि ज्वाला[1] के समान दाहक बताया है। अन्यत्र उन्होंने कहा है कि जो रसिक उपासक श्रीहरिवंश के वचनों को प्रामाणिक मानकर उनके अनुसार भजन करते हैं वे भी शाक्तों के संग में पड़कर उनको सर्वथा भुला देते हैं।[2] और श्रीराधा को शक्ति मानने लगते हैं। सेवकजी के मित्र स्वामी चतुर्भुजदासजी ने भी अपने 'द्वादश यश' में शक्ति उपासकों के संग को त्याज्य बताया है।[3] चतुर्भुजदास जी के चरित्र में श्रीभगवत् मुदित ने बताया है कि अपनी प्रचार-यात्रा में वे जब किसी गाँव में पहुँचते थे तो वे वहाँ के कुँये का जल तभी ग्रहण करते थे जब गाँव वाले उनसे कह देते थे कि वह किसी शाक्त या शैव का बनवाया हुआ नहीं है।[4] श्रीहिताचार्य के समकालीन एवं सहयोगी श्रीहरिराम व्यास ने यहाँ तक कहा है कि यदि अपना भाई शाक्त हो तो उसको शत्रु के समान मानना चाहियें और उसका संग शीघ्र छोड़ देना चाहियें अन्यथा नरक में निवास करना होगा।[5]

२. शक्ति के साथ मातृत्व की भावना इतनी बद्धमूल है कि उससे उसको पृथक् नहीं किया जा सकता—लोक मानस में शक्ति माँ के रूप में ही प्रतिष्ठित है। अतः रसिक महानुभाव शुद्ध रस मूर्ति श्रीराधा को शक्ति मानकर उनके सम्बन्ध में मातृ-भाव को अवकाश देना नहीं चाहते।

श्रीराधा को शक्ति न मानने का तीसरा कारण, मनोवैज्ञानिक हैं। श्रीकृष्ण भक्त सम्प्रदायों में श्रीराधाको एक साथ श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति और प्रेम स्वरूपा माना जाता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव और शक्ति एक दूसरे से भिन्न होते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक ने मनुष्य के मन का बड़ी गहराई और वैज्ञानिकता से अध्ययन किया है। मनोवैज्ञानिकों ने मनोवृत्तियों के तीन पहलू माने हैं—ज्ञानात्मक और क्रियात्मक। संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, कल्पना और विचार ज्ञानात्मक पहलू के विभिन्न रूप हैं, वेदनात्मक पहलू संवेग (उद्दीप्तभाव) उमंग, स्थायीभाव और भावना-ग्रंथि के रूपों में प्रकट होता है। क्रियात्मक पहलू के भी पाँच भेद हैं—सहज क्रिया, मूल प्रवृत्ति, आदत, इच्छित क्रिया और चरित्र। मनोवैज्ञानिकों का

१—सेवकवाणी पद सं० १४-१५ २—सेवकवाणी पद सं० १३-३
३—तातें सब सत संगति करहु—साकत संग दूर परिहरहु। संत प्रतापयश—१५
४—रसिक अनन्यमाल, पृष्ठ सं० ३५
५—साकत भैया सत्रुसम वेगहि तजिये व्यास।
जो वाकी संगति करै करिहै नरक निवास ॥
भक्तकवि व्यासजी, पृष्ठ सं० ४१७

कथन है कि प्रत्येक मनोवृत्ति में उक्त तीनों पहलू विद्यमान रहते हैं--इनमें से किसी एक के अभाव में मनोवृत्ति का पूर्णरूप नहीं बनता।

मनोवृत्तियों में तीनों की विद्यमानता यह भी सूचित करती है कि धरातल की समानता के कारण इन तीनों में कुछ सामान्यतायें रही हुई हैं। उदाहरण के लिये प्राणी के अन्दर मूल प्रवृत्ति (Instinct) एक प्रकृति प्रदत्त शक्ति है। वह शक्ति मानसिक संस्कारों के रूप में उसके मन में स्थित रहती है और विशेष परिस्थितियों में उसको विशेष प्रकार के भावों की अनुभूति कराती रहती है। दूसरी ओर प्रत्येक भाव मनुष्य के शरीर में विशेष प्रकार की क्रियाएँ उत्पन्न करता है जिनको काव्यशास्त्र में अनुभाव कहा जाता है। जैसे भय का अनुभव होते ही मनुष्य भागने लगता है, क्रोध आते ही उसका मुख तमतमा उठता है इत्यादि। काव्यशास्त्रियों ने भाव को कारण और उनके द्वारा प्रेरित अनुभावों को कार्य बताया है।

इस प्रकार शक्ति भावों को व्यवस्थित करती देखी जाती है और भाव शक्ति के जनक बनते देखे जाते हैं। किन्तु शक्ति और भाव की उक्त पारस्परिक उपकारकता इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न ही सिद्ध करती है—एक ही नहीं। दोनों का आधार एक होते हुए भी दोनों की अपनी कुछ विशेषतायें हैं जिनके कारण दोनों का विकास एक दूसरे से सर्वथा भिन्न आकारों में होता है—ये विशिष्टतायें ही दोनों को एक दूसरे से भिन्न बनाती हैं। एक ही पृथ्वी से पोषण पाने वाले लता-वृक्षों का विकास भिन्न आकारों में ही होता है और यह भिन्नता ही उनके अस्तित्व को अर्थ प्रदान करती है। अतः यदि हम श्रीराधा को शक्ति के साथ भाव स्वरूप भी स्वीकार करें तो, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कार्य शक्ति पर भाव की विशेषताओं को आरोपित करके ही संभव हो सकता है।

मनोवृत्तियों के उक्त तीनों पहलू मनुष्य के मन में सामान्यतया विषम परिमाण में रहते हैं- किसी मन में ज्ञानात्मक पहलू प्रधान होता है, किसी में भावात्मक एवं अन्य में क्रियात्मक और इस प्रधानता को लेकर ही मनुष्यों के स्वभावों में भिन्नता बनी हुई है। अध्यात्म के तीनों मार्ग—ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग—भी मनुष्य स्वभाव की इस भिन्नता के कारण ही एक दूसरे से भिन्न आकारों में विकसित हुये हैं। तीनों मार्गों के साधकों ने अपने मार्ग को अन्य मार्गों के मिश्रण से बचाया है। श्रीरूप गोस्वामी पाद ने शुद्धाभक्ति का लक्षण करते हुए कहा है कि ज्ञान और कर्म से अमिश्रित श्रीकृष्णानुशीलन उत्तमा भक्ति कहलाता है।[1] श्रीरूप गोस्वामी के

१—अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति रुत्तमा॥ —हरिभक्ति रसामृत सिन्धु--१-११

उपास्य प्रेम-स्वरूप श्रीकृष्ण हैं। किन्तु पिछले पाँच हजार वर्षों में श्रीकृष्ण कई उपासना-मार्गों के केन्द्र रह चुके हैं। सात्वत किंवा भागवत धर्म के तो वे संस्थापक ही माने जाते हैं। किन्तु उनको उनकी पौराणिक समग्रता में ग्रहण करने से उनकी प्रेम स्वरूपता को पौराणिकता के साथ समझौते करने पड़े हैं। शक्ति--शक्तिमान् की योजना भी पौराणिक ही है।

राधावल्लभीय रसिक महानुभावों ने अपनी भावोपासना में ज्ञान-कर्म का मिश्रण तो नहीं ही होने दिया है उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण एवं श्रीवृन्दावन के पौराणिक रूपों को भी उतनी दूर तक ही स्वीकार किया है जहाँ तक वे इनकी शुद्ध प्रेमस्वरूपता में बाधक नहीं होते। इन महापुरुषों द्वारा 'श्रीकृष्णानुशीलन' के स्थान में 'प्रेमानुशीलन' को अपना ध्येय बना लेने से इनकी प्रेमोपासना का मार्ग सहजरूप से 'मिलौनी' (मिलावट) रहित बन गया हैं। सेवकजी ने अन्य उपासनाओं के साथ अपने प्रेम मार्ग का व्यतिरेक यह कहकर किया है कि जब श्रीश्यामा-श्याम अनाद्यनंतरूप से श्रीवृन्दावन में विहार कर रहे हैं तो इसमें किसी मिलौनी का अवकाश नहीं रहता—

'अब यामें मिलौनी मिलै न कछू जबखेलत रास सदा बन में'।[1]

अपने श्रीवृन्दावन-वन्दना के एक श्लोक में श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने पौराणिक मिलावट को निरस्त करके श्रीश्यामाश्याम के नित्य बिहारी रूप का परिचय इस प्रकार दिया है---जो श्रीश्यामाश्याम न तो वहाँ कहीं बाहर से आये है और न वहाँ से कही अन्यत्र जाने वाले हैं, ये दोनों पारावार विहीन प्रेमसागर में अनाद्यनंत रूप से आलोडन कर रहे हैं। इन दोनों की गौर-साँवल कान्ति दिव्य है तथा इनका सहज कैशोर अत्यन्त आश्चर्य पूर्ण है। परस्पर अंगों के मिलने पर ही जो जीवन धारण करते हैं ऐसे युगल जहाँ निवास करते हैं, मैं उस (भूतल स्थित) वृन्दावन की बन्दना करता हूँ।

आयातं न कुतश्चन क्वचन नोगन्तृ स्मरैकाम्बुधौ,
पारावार विवर्जितेति विषमे नाद्यन्त कालंलुठत्।
गौर श्यामल दिव्य कान्ति सहजात्याश्चर्य कैशोरकं,
यत्रास्ते मिथुनं मिथोऽङ्ग मिलनाज्जीवन्नुभ स्तद्वयम्[2]।

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य में श्रीराधा की प्रधानता निर्विवाद रूप से स्थापित है किन्तु कहीं भी उसे श्रीश्यामसुन्दर की गौणता का द्योतक

१—सेवकवाणी, ८-५
२--श्रीवृन्दाबन महिमामृतम्, ९-६८

नहीं बनने दिया गया है। श्रीराधाश्यामसुन्दर को सर्वत्र समान रूप-सौन्दर्य, वय, रुचि, प्रीति और मृदुल स्वभाव वाला बताया गया है—

एक रंग रुचि एक वय एकै भाँति सनेह।
एकै सील सुभाव मृदु रस के हित द्वै देह[1] ॥

श्रीध्रुवदास ने अन्यत्र श्रीराधा के अनुपम रूप का विशद वर्णन करने के पश्चात् कहा है कि कुँवर श्रीश्यामघन की रूपमाधुरी भी अनिर्वचनीय है। दोनों नेत्रों में जैसे किसी को भी छोटा-बड़ा नहीं कहा जा सकता वैसे ही श्रीराधाश्यामसुन्दर हर प्रकार से समान हैं—

कुँवर माधुरी रूप की सोऊ कहत बनै न।
घट-बढ़ कहे न जात हैं जैसे दोऊ नैन ॥[2]

तब फिर श्रीराधा की प्रधानता का आधार क्या है? श्रीलाड़िलीदास ने बताया है कि एक तो गौरांगी श्रीराधा श्रीव्यासनन्दन की प्राणधन हैं अतः उनकी मुख्य रति उनके चरणों में केन्द्रित है और दूसरे वे अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर की भी अत्यन्त प्रेमपात्र हैं। अतः इन दो कारणों से सम्प्रदाय में, श्रीराधा का प्राधान्य सहज रूप से बना हुआ है।[3]

इस प्रधानता के कारण श्रीराधा-रति इस सम्प्रदाय के अनुयायिओं का स्थायीभाव कहा जा सकता है और यह श्रीवृन्दावन रस के रूप में आस्वादित होता है। श्रीध्रुवदास ने कहा है कि श्रीहरिवंश चन्द्र ने वृन्दावन-रस के कथन के लिये अवतार ग्रहण किया था।[4] श्रीहरिराम व्यास ने बताया है कि मुझ को श्रीवृन्दावन रस ही अच्छा लगता है। कोई यदि मुझे वेद, पुराण-महाभारत और स्मृतियाँ सुनाता है तो मुझे नहीं सुहाता। मैं तो अपने ऊपर श्रीकृष्ण की कृपा तभी मानता हूँ जब रसिक अनन्यों का संग मिलता है, वस्तुतः बड़भागी वही है जिसके हृदय में यह रस प्रकाशित हो जाता है।[5] श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने अपने एक बसंत में श्रीराधा के रूप-सौन्दर्य का मार्मिक वर्णन करने के पश्चात् कहा है कि मैंने जो यहाँ श्रीराधा के रूप-

---

१– रति मंजरी   २—मन शृङ्गार

३—व्यासनंद के प्रानधन गौर वर्ण निजनाम।
तांके नाते नेह सौं प्यारो प्रीतम श्याम ॥
अति आसक्त लखि लाल की रीझे व्यास कुमार।
यह जोरी अविचल सदा कीन्ही निज उपहार ॥ सुधर्म बोधनी—२२-२३

४—प्रेमावली

५—भक्तकवि व्यासजी—पृष्ठ सं० २२२

रहस्य का परिचय दिया है इसका गान उन लोगों को अवश्य करना चाहिये जिनके मन में श्रीवृन्दावन रस की लालसा रही हुई है ।[1]

श्रीध्रुवदास ने भजनाष्टक में प्रसिद्ध पाँचों भक्ति-रसों का परिगणन करने के पश्चात् अपने छठे 'मधुर-रस' का उल्लेख किया है । पाँचवें भक्ति रस को उन्होंने 'किशोर' रस नाम से अभिहित किया है जो व्रजेन्द्रनन्दन और व्रजवनिताओं द्वारा अनुभूत श्रृंगार रस है । युगल किशोर श्रीश्यामाश्याम के विलास रस को उन्होंने मधुर रस कहा है और उसको किशोर रस से इसलिए श्रेष्ठ बताया है कि उसमें रसोल्लास कभी कम नहीं होता--सदैव एक ही कोटि पर अनुभूत होता रहता है ।[2] प्रसिद्ध मधुर रस संयोग वियोगात्मक है — इसमें प्रियतम के मिलने पर सुख और बिछुड़ने पर दुःख होता है । श्रीध्रुवदास की दृष्टि में इन दो प्रकार की अनुभूतियों से रस दो प्रकार का बन जाता है और उसको एक रस प्रेम नहीं कहा जा सकता--

जब बिछुरत तब होत दुख मिलतहि हियौ सिराइ ।
याही में रस द्वै भये प्रेम कह्यौ क्यौं जाइ ।।

--प्रीति चौवनी

श्रीध्रुवदास ने बताया है कि इससे सर्वथा विलक्षण वह महामधुर प्रेम रस है जिसमें न मिलना है न बिछुड़ना और दोनों प्रेमियों के जीवन का एकमात्र अवलम्ब परस्पर रूप-दर्शन होता है । इस प्रेम में दोनों प्रेमियों के तन-मन कभी वियुक्त नहीं होते और उनकी परस्पर चाह दिनरात बढ़ती रहती है । वे अपने को कभी संयुक्त भी नहीं मानते और एक दूसरे की ओर अश्रुपूरित नेत्रों से देखते रहते हैं । श्रीध्रुवदास ने कहा है कि इस प्रकार का प्रेम श्रीवृन्दावन से अतिरिक्त कहीं नहीं है--

महाप्रेम निज मधुर अति, सबतैं न्यारौ आहि ।
तहाँ न मिलिबौ बिछुरिबौ, जीवत रूपहि चाहि ।।

--ख्याल हुल्लास

तन मन कै बिछुरै नहीं, चाह बढ़ै दिन रैन ।
कबहुँ संजोग न मानहीं देखत भरि-भरि नैन ।।
एसौ प्रेम न कहूँ ध्रुव है वृन्दावन माहिं ।

--प्रीति चौवनी

१--संगीतमाधव, पृष्ठ सं०

२--सर्वोपरि है मधुररस जुगल किशोर विलास ।
ललितादिक सेबत तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास ।।

श्रीवृन्दावन रस जब गोपीजनों के 'किशोर रस' से ही विलक्षण है तो भरत प्रतिपादित नाट्य किंवा काव्य रस के साथ तो इसकी तुलना किसी अर्थ में भी संभव नहीं है। तो भरत की ख्याति उनके द्वारा प्रस्तावित रस निष्पत्ति की एक विशिष्ट विधा के कारण है और यही काव्य रस सिद्धान्त की आधार शिला बनी हुई है। श्रीवृंदावन रस एक विशेष प्रकार के प्रेम भजन के माध्यम से 'प्रत्यक्ष' होने वाला मूर्तिमान रस है--काव्य रस की भाँति किन्हीं उपकरणों की सहायता से इसकी निष्पत्ति' नहीं होती। श्रीध्रुवदास ने एक सुन्दर रूपक के द्वारा इस रस का वर्णन करते हुए कहा है कि एक कनकांगी प्रेमलता श्रीवृन्दावन में फूल रही है। वह श्याम तमाल के समान अपने प्रियतम के अंसों का आश्रय लेकर प्रेम क्रीड़ारत है। यह लता अपनी सखियों के जीवन का एकमात्र आधार है। इन लता-तमाल की महाछवि के दर्शन करके सखियों को अपनी सुधबुध भूली रहती है। मैंइस रस के एक कण की प्राप्ति के लिए इन सखियों की कृपा मनाता रहता हूँ।

प्रेम बेलि वृन्दावन फूली-प्रियतमाल अंसन पर झूली।
देख महाछवि सुधबुध भूली-सब सखियन की जीवन मूली।
तिन सखियन की कृपा मनाऊँ-या रस कौ कनिका जो पाऊँ।

—प्रेमलता

★

श्रीवृन्दावन महिमा

ऐसे हिं बसिये ब्रज-वीथिनि।
साधुन के पनवारे चुन-चुन उदर पोषियत सीथिनि।।
घूरनि में के बीन चिनगटा रक्षा कीजे सीतनि।
कुञ्ज-कुञ्ज प्रति लता लोटि उड़ रज लागे अंगींथिनि।।
नित प्रति दरस स्यामस्यामा कौ नित जमुना जल पीतनि।
ऐसे ही 'व्यास' होत तन पावन इहि विधि मिलत अतीतिनि।।

—रसिकवर श्रीहरिरामजी व्यास

व्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य की राधा प्रधान शाखा

पिछली ३-४ दशाब्दियों में व्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य का पर्याप्त आलोडन एवं विवेचन विद्वानों द्वारा हुआ है। साहित्यालोचन की प्रचलित मनोवैज्ञानिक पद्धति पर भी यह भक्ति-काव्य खरा उतरा है और इस निकष पर कसे जाकर उसकी कान्ति में वृद्धि ही हुई है। यह सम्पूर्ण साहित्य वस्तुतः विभिन्न सम्प्रदायों की ही देन है।

कृष्णभक्ति-लीला गायकों का परिचय उनके सम-सामयिक नाभाजी ने अपनी भक्तमाल में दिया है। उन्होंने इन सबके सम्बन्ध में यद्यपि एक-एक ही छप्पय लिखा है, तथापि उसमें प्रत्येक भक्त के व्यक्तित्व एवं उनकी रचनाओंमें रही हुई विशिष्टताओं को रेखांकित करने की सफल चेष्टा की है। उदाहरण के लिए नाभाजी ने सूरदास जी से सम्बन्धित छप्पय में लिखा है–'सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।' (भक्तमाल-७३) स्वामी हरिदासजीके सम्बन्धमें लिखा है—गान कला गंधर्व स्याम-स्यामा को तोषैं। (भक्तमाल-६१) तथा नन्ददास जी के सम्बन्ध में यह उल्लेख है—सरस उक्तिजुत जुक्ति भक्ति रसगान उजागर। (भक्तमाल-११०) इसी प्रकार श्रीहित हरिवंशजी का परिचय 'राधाचरण प्रधान' कहकर दिया है—राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी। (भक्तमाल-९०) अर्थात् उनकी उपासना में श्रीराधा की प्रधानता थी। यह एक ऐसी बात है जो श्रीहित हरिवंश की रचनाओं को उनके अनेक सम-कालीन अथवा उनके पूर्व के सभी श्रीकृष्ण-भक्तों के काव्योंसे थोड़ा विलक्षण बनाती है।

श्रीमद्भागवत में श्रीराधा का स्पष्ट रूप से नामोल्लेख न होने के कारण श्रीकृष्ण-लीला में श्रीराधा का अवतरण-काल विवादास्पद बना हुआ है। किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में श्रीराधाकृष्ण की शृङ्गार लीला का अत्यन्त मनोरम गान प्रथम बार जयदेव जी के 'गीतगोविन्द' में हुआ है और उसकी रचना के पश्चात् हम बंगाल के चंडीदास, विहार के विद्यापति और गुजरात के नरसी मेहता को श्रीराधाकृष्ण की प्रेम-लीला का गान करते पाते हैं। विक्रम की सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध में सूरदास आदि अष्टछाप के कवि श्रीकृष्ण की अनेकविध लीलाओं का गान आरम्भ कर देते हैं, जिनमें श्रीराधा-कृष्ण की प्रेमलीलाएँ भी हैं। इसी काल में स्थापित होने वाली चैतन्य सम्प्रदाय का व्रज-भाषा साहित्य अपेक्षाकृत कम समृद्ध है, किन्तु इसमें श्रीराधाकृष्ण की प्रेम-लीला का गान उच्च स्तर पर किया गया है। उक्त दोनों साहित्यों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्-भागवत है, जिसमें श्रीकृष्ण को केन्द्र में रखकर उनकी विविध लीलाओं का वर्णन हुआ है। इन लीलाओं में नन्द,यशोदा,गोपीगण, गोप आदि सबकी प्रीति के विषय श्रीकृष्ण ही हैं और सर्वत्र उन्हीं की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। फलतः इस साहित्य के आस्वादक

एवं अध्येता के मन में श्रीकृष्ण ही प्रधान रूप से अंकित होते हैं। लीला के अन्य पात्र तो उसके पूर्ण परिपाक में सहायक मात्र हैं।

श्रीकृष्ण प्रधान साहित्य की सर्जना के समकाल में ही वृन्दावन में एक अन्य व्रज-भाषा भक्ति-साहित्य की सृष्टि हो रही थी, जिसके रचयिताओं की प्रधान रति श्रीराधा पर केन्द्रित थी। श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं में से केवल रासलीला के साथ इस साहित्य का सम्बन्ध बताया जा सकता है क्योंकि उक्त लीला ही इस श्रृंगार लीला प्रधान साहित्य की प्रेरणा-स्रोत मालूम होती है। रासलीला भी श्रीकृष्ण एवं गोपियों के बीच की शृङ्गार लीला है, जिसमें प्रीति का जो स्वरूप प्रकट हुआ है वह द्वितीय धारा के रसिक गायकों को सन्तुष्ट नहीं कर पाया। अतः उन्होंने रासलीला में प्रदर्शित प्रेम का उन्नयन एवं संशोधन करके एक विशिष्ट प्रकार की लीलाओं को जन्म दिया है, जिनमें श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य सब पात्र भिन्न हैं और जिनके केन्द्र में श्रीराधा स्थित हैं। श्रीराधा की प्रधानता वाली इन एकान्त श्रृंगार रसमयी लीलाओं को 'नित्य विहार लीला' कहा जाता है। इस नये साहित्य की रचना में सैकड़ों छोटे-बड़े भक्त कवियों का योगदान है। इनमें श्री हरिवंश गोस्वामी का स्थान प्रमुख माना जाता है और जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, नाभाजी ने इनको राधाचरण की प्रधानता स्थापित करने वाला बताया है। व्रजभाषा में इनके पदों का एक संकलन 'हित चौरासी' के नाम से प्रसिद्ध है तथा इनके शेष २३ छंद 'स्फुट वाणी' के नाम से संकलित हैं। इनकी संस्कृत में भी दो रच-नाएँ उपलब्ध हैं—'श्रीराधासुधानिधि' एवं 'यमुनाष्टक'।

श्रीहरिवंश गोस्वामी का परिवार देववंद का रहने वाला था और उनके जीवन के ३२ वर्ष वहीं व्यतीत हुये थे। 'श्रीराधा रस सुधानिधि' उनके देववंद निवास काल की रचना मानी जाती है। वे जन्म से ही अगाध राधा प्रेम लेकर आये थे और यह उनकी उक्त संस्कृत रचना के प्रत्येक श्लोक में से प्रस्फुटित हो रहा है! संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य में श्रीराधा की वंदना से आरम्भ होने वाला यह कदाचित् प्रथम स्तोत्र ग्रंथ है। व्रजभाषा में भी उनका यह उद्घोष प्रसिद्ध है—

रहौ कोउ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा सपथ करौं तृण छिये॥

—स्फुट वाणी, पद सं० २०

यह ज्ञापन सम्पूर्ण नित्य विहार साहित्य में अनुगुंजित होता रहा है—परम धन राधा नाम अधार। (श्रीहरिराम व्यास) 'कहि हरिदास विचार देखौं- बिना विहा-रिनि नाहिं जस' (सिद्धान्त पद सं० ८) 'हमारे माई श्यामा जू कौ राज'। (श्रीबीठलविपुलदेव—पद सं० २६) 'मेरे विषै व्यसन वर वाम। तन गोरी मन भोरी, नवल किसोरी राधा नाम'। (श्रीविहारिनदास पद सं० १३२) इत्यादि।

श्रीहरिवंश के पदों में व्रजभाषा का श्रेष्ठतम समृद्ध एवं परिमार्जित रूप दिखलाई देता है। उनके द्वारा रचित 'हित चौरासी' के कई पद सूर सागर में सूरदास के नाम से संकलित हैं तथा वे सूरदास के शृंगारिक पदों के साथ इतनी सहजता के साथ मिल गये हैं कि भाषा शैली के पारखी विद्वान भी उनको सूर की ही कृति मान बैठे हैं। इन पदों के वास्तविक रचयिता का निर्धारण तब तक नहीं हो सकता जब तक सूर के पदों की संख्या अंतिम रूप से निर्णीत नहीं हो जाती। उधर श्रीहरिवंश गोस्वामी द्वारा रचित पदों की संख्या आरम्भ से ही निर्धारित है और इन पदों की अनेक टीकाएँ भाष्य, वृत्तियाँ आदि पिछले ४५० वर्षों में होते रहे हैं और उक्त विवादग्रस्त पदों का संकलन आरम्भ से ही श्रीहरिवंशजी की वाणी में ही होता रहा है।

श्रीहरिवंशजी की वाणी का प्रतिपाद्य श्रीश्यामाश्याम का प्रेम सौन्दर्य है, किन्तु इन दोनों के सम्बन्ध में उनकी कोई समीक्षात्मक रचना नहीं मिलती। उन्होंने जो कुछ भी कहा है वह अपने लीला के पदों में ही कहा है। प्रेम और सौन्दर्य दोनों ही अनिर्वाच्य तत्त्व हैं और इनको पूर्ण रूप से परिभाषित नहीं किया जा सका है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चिन्तामणि' में सौन्दर्य-दर्शन जनित मानसिक प्रभाव को लक्षित करके अन्य सम्वेदनों से उसकी विलक्षणता रेखांकित कर दी है। वे कहते हैं—"जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी–उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुन्दर कही जायेगी। सुन्दर वस्तु को देखकर अन्तः सत्ता की तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"

शताब्दियों पूर्व श्रीहरिवंश ने 'हित चौरासी' के एक पद में सौन्दर्य की ठीक यही परिभाषा दी है। 'देखौ माई अबला कै बल राशि।' से आरम्भ होने वाले पद में अबला श्रीराधा की बलशालिता को प्रमाणित करने के लिये उनके अद्भुत सौन्दर्य के प्रभाव को वर्णित करते हुये उन्होंने कहा है कि इसके दर्शन मात्र से श्रीश्यामसुन्दर के मन की गति बिना चेष्टा के अनायास ही पंगु हो गई है और वह निश्चल हो गया है—

"अब ही पंगु भई मनकी गति बिनु उद्दिम अनियास।
तब की कहा कहौं जब पिय प्रति चाहत भृकुटि विलास॥"

—श्रीहित चौरासी, पद सं०—५३

इसी प्रकार 'हित चौरासी' के एक लीला के पद में प्रेमोदय का बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन मिलता है। श्रीराधा अपनी सखी से कहती हैं कि नन्दलाल ने मेरा मन चुरा लिया है। एक दिन मैं बैठी हुई अपने मोतियों को पिरो रही थी तो उसने अचानक आकर उसमें कंकर डाल दिया। नव कैशोर के भोले-भाले भावों की शृंखला में अचानक किसी परम मधुर अपरिचित भाव का जाग उठना ही प्रेमोदय है। एकबार उदित हो जाने के पश्चात् क्या वह प्राणों में 'कांकर' की भाँति नहीं खटकने लगता?–

नंद के लाल हरचौ मन मोर ।
हौं अपने मोतिन लर पोवत काँकर डार गयौ सखि भोर ।'

—श्रीहित चौरासी, पद सं० १३

हित चौरासी के प्रथम पद में श्रीराधा के मुख से जिस प्रेम का परिचय दिया है, वह स्पष्टतः श्रीमद्भागवत में वर्णित और रासलीला में प्रकाशित होने वाले प्रेम के स्वरूप से सर्वथा विलक्षण है। उक्त पद में श्रीराधा ने बताया है कि मैं और मेरे प्रियतम एक दृष्टि एवं एक प्राण वाले दो शरीर हैं। अन्त में श्री हरिवंश ने कहा है कि पारस्परिक प्रेम के उक्त निरूपण से यह ध्वनित होता है कि यह दोनों प्रेमी जल और तरंग की भाँति एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं—

जोइ-जोइ प्यारौ करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई सोई करैं प्यारे ।
मोकों तौ भाँवती ठौर प्यारे के नैनन में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैनन के तारे ॥
मेरे-तन-मन-प्राण हूंतैं प्रियतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसौं हारे ।
जै श्रीहित हरिवंश हंस हंसिनी साँवल गौर,
कहौ कौन करै जल तरंगन न्यारे ॥

—श्रीहित चौरासी, पद सं० १

'हित चौरासी' के लगभग सभी पदों में प्रेम-सौन्दर्य के विविध अंगों का मार्मिक परिचय लीला के माध्यम से दिया गया है, जिनको इस छोटे से निबन्ध में देना संभव नहीं है। भाव पक्ष के समान 'हित-चौरासी' का कला पक्ष भी पूर्ण समृद्ध है। श्रीहरिवंश नागरी श्रीराधा के प्रशंसक हैं और यह नागरता ही उनकी वाणी का प्रधान लक्षण बनी हुई है। 'हित चौरासी' में वर्णित लीलाओं में पात्रों के परस्पर संभाषण अत्यन्त नागरता पूर्ण हैं। उदाहरण के लिये एक पद में श्यामसुन्दर अपनी सहज वामा प्रियतमा से कहते हैं—

नैंकु प्रसन्न दृष्टि पूरन कर नहि मोतन चितयौ प्रमदा तैं ।'

—श्रीहित चौरासी, पद सं० ७३

इसी प्रकार एक स्थान पर मानवती श्रीराधा अपने प्रियतम से कहती हैं—

'प्रिया कहत कहौ कहाँ हुते प्रिय नव निकुञ्ज वरराज ।
सुन्दर वचन रचन कत वितरत रति लंपट बिनु काज ॥'

—श्रीहित चौरासी, पद सं० ६६

श्रीराधाश्यामसुन्दर के समान उनकी सखियाँ भी अत्यन्त नागर हैं। श्रीराधा के मान मोचन का प्रयास करती हुई वे कहती हैं—

हौं जु कछु कहत निजु बात सुन मान सखि,
सुमुखि बिनु काज घन विरह दुख भरिबौ ॥
—श्रीहित चौरासी, पद सं० ८३

'हित चौरासी' के पदों में संस्कृत की मधुर, कोमल कान्त पदावली के साथ तद्भव शब्दों का प्रयोग बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। निम्नलिखित पंक्तियों में तत्सम शब्द समूह के साथ प्रयुक्त 'सुनत' शब्दों का प्रयोग दर्शनीय है—

हित हरिवंश यथामति बरनत कृष्ण–रसामृत–सार।
श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद–अंबुज सुकुमार ॥
—श्रीहित चौरासी, पद सं० ३०

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी की व्रजभाषा रचनाओं के सम्बन्ध में डा० विजयेन्द्र स्नातक का मन्तव्य द्रष्टव्य है—

"व्रजभाषा का जैसा समृद्ध और प्रांजल रूप हित हरिवंश की वाणी में प्रस्फुटित हुआ है, वैसा किसी अन्य भक्तकवि की रचना में नहीं हुआ। हमारे इस कथन को कदाचित् पक्षपात पूर्ण समझा जाय और सूरदास तथा नन्ददास जैसे सुप्रसिद्ध कवियों की व्रजभाषा को उनसे बढ़कर बताया जाय, किन्तु समीक्षा की कसौटी पर हमारा कथन खरा उतरेगा।"

लीला वर्णन का एक अनिवार्य अंग चित्रात्मकता है। इसके बिना लीला का प्रत्यक्ष सम्वेदन सम्भव नहीं है। 'हित चौरासी' के पद में वर्णित श्रीराधा के नृत्य का एक चित्र देखिये—

राग रागिनि जमी विपिन बरसत अमी
अधर बिंबन रमी मुरलि अभिरामिनी।
लाग कट्टर उरप सप्तसुर सों सुलप
लेत सुन्दर सुघर राधिका नामिनी ॥
तत्त थेइ-थेइ करत गतिव नूतन धरत
पलटि डगमग ढरत मत्त गज–गामिनी।
छाइ नवरँग धरी उरसि राजत खरी
उभय कल हंस हरिवंश घन–दामिनी ॥
—श्रीहित चौरासी, पद सं० ६८

एक अन्य छोटे से पद में विहार का सम्पूर्ण एवं संयत चित्रण देखिये—

आज देख व्रजसुन्दरी मोहन बनी केलि।
अंस-अंस बाहु दै किशोर जोर रूप राशि,
मनु तमाल अरुझि रही सरसकनक बेलि॥
नव निकुँज भँवर गुँज मंजु घोष प्रेम पुँज,
गान करत मोर पिकन अपने सुर सौं मेलि।
मदन मुदित अंग-अंग, बीच-बीच सुरत रंग,
पल-पल हरिवंश पिवत नैंन चषक झेलि॥

—श्रीहितचौरासी, पद सं० १७

इसी प्रकार 'नागरता की राशि किशोरी' से आरम्भ होने वाले पद की 'प्रीतम नैन जुगल खंजन खग, बाँधे विविध निवंधन डोरी।' पंक्ति में श्रीश्यामसुन्दर के चंचल नेत्रों को अनेक निबंधन डोरियों से बँधे युगल-खग बताकर श्रीराधा के विविध अंगों का समान आकर्षण मूर्तित किया गया है। खंजन के साथ खग का प्रयोग निरर्थक-सा प्रतीत होता है, किन्तु उसके द्वारा युगल खंजनों का विविध डोरियों से बँधे रहकर भी उड़ने की चेष्टा करना दिखलाया गया है।

'हित चौरासी' के पदों में अनेक सुन्दरता क्षणिक प्रयोग एवं उत्तम ध्वनि के उदाहरण मिलते हैं। निम्नलिखित छोटे से पद की अंतिम पंक्ति में श्रीराधा से नव निकुञ्ज में मिलने वाले श्याम को 'बड़भाग' कहकर श्रीराधा के अनुपम रूप सौन्दर्य को ही व्यंजित किया गया है। यहाँ वाक्य सर्वथा अतिशयित हो गया है। अतः यह उत्तम ध्वनि का उदाहरण हैः—

आज नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई,
सील सिंगार गुण सबन ते आगरी॥
कमल दक्षिण भुजा बाम भुज अंस सखि,
गावती सरस मिल मधुर स्वर राग री।
सकल विद्या विदित रहसि हरिवंश हित
मिलत नवकुँज वर श्याम बड़भाग री॥

—श्रीहित चतुरासी, पद सं० २५

सम्पूर्ण भक्तिसाहित्य गेय काव्य है। भक्ति और संगीत की परस्पर उपकारिता को एक पाश्चात्य भक्त ने एक रूपक के द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि भक्ति संगीत के स्वर ग्रहण करती है और संगीत भक्ति के पंखों का सहारा

लेता है। वे दोनों उस पक्षी की भाँति जो प्रातः सूर्य के स्वागत में ऊपर की ओर उड़ता है, मिलकर स्वर्ग की ओर उड़ते हैं और गीत गाते हैं—

Devotion borrows Musie's Tone,
And music took devotion's Wing,
And like the bird that hails the sun,
They soar to heaven and soaring sing.

[The Hermit of st. clement's Will
Quoted from Sir Walter Scotts.
Ivanhoe — Page-200]

यही कारण है कि अष्टछाप के अधिकांश भक्त उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे। कुम्भनदास जी का अकबर के द्वारा सीकरी बुलाया जाना उनके ही प्रसिद्ध पद 'संतन कौ कहा सीकरी सौं काम।' से सिद्ध है। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अष्टछाप के कवियों की नियुक्ति कीर्तनियों अर्थात् पूर्ण गायकों के रूप में की थी और वे लोग श्रीनाथजी की अष्टकालिक सेवा तथा विभिन्न उत्सवों के अनुरूप राग रागनियों में अपने पदों की रचना करके उन्हें गाते थे। भक्तिकाव्य की राधा प्रधान शाखा में भी भक्ति एवं संगीत का यही सहज सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। संगीत की ध्रुवपद शैली के प्रसिद्ध उन्नायक स्वामी हरिदासजी तथा उनके अनुयाइओं का सम्पूर्ण साहित्य इसी शाखा के अंतरमुक्त है। स्वामी हरिदासजी श्रीहरिवंश गोस्वामी के समसामयिक थे। उनके ११० पद 'केलिमाल' नाम से संकलित हैं तथा १८ पद 'सिद्धान्त के पद' कहलाते हैं। इनके काव्य में इनके संगीत प्रेम का प्रभाव अनेक रूपों में दिखाई देता है। 'केलिमाल' के अधिकाँश पदों में श्यामा कुंजविहारी के लोकोत्तर दिव्य नृत्य-गान का वर्णन है। स्वामीजी की दृष्टि में तो सम्पूर्ण प्रकृति ही नृत्य-गान में डूबी हुई है। एक पद में उन्होंने कहा है–

राधे चल री हरि बोलत, कोकिला अलापत स्वर देत पंछी राग बन्यौ।
जहाँ मोर काँछ बाँधे नृत्य करत, मेघ मृदंग बजावत बंधान गन्यौ॥

—श्रीकेलिमाल, पद सं० १४

इतना ही नहीं श्रीराधे के अंगों में सौन्दर्य के नित्य नवनवोन्मेष को भी उन्होंने संगीत के 'राग' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग करके बड़ी विदग्धता के साथ ध्वनित कर दिया है। वे पूछते हैं कि हे राधे तुमने अपने अंगों में कोटि-कोटि चन्द्र कहाँ छिपा रखे हैं जो नई-नई रागनियाँ छेड़ रहे हैं—

कोटि चन्द्र तैं कहाँ दुराये री, नये-नये रागत।

—श्रीकेलिमाल, पद सं० ३४

इसी प्रकार श्री श्यामा कुञ्जविहारी की एकान्त वसंत कालीन क्रीडा भी संगीत के द्वारा निष्पन्न होती दिखाई गई है। एक पद देखिये:—

अबकैं वसंत न्यारेई खेलैं, काहू सौं मिल न खेलैं, री तेरी सौं ।
दुचिते भये कछू न सचु पैंयत, तू काहू सखि सौं मिल न मेरी सौं ।।
देखैंगी जो रंग उपजैगौ परस्पर, रागरागिनीन के फेराफेरी सौं ।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा–कुंजविहारी राग ही में रंग उपजैगौ एरी सौं ।।

—श्रीकेलिमाल, पद सं० १०१

स्वामीजी के पदों की भाषा में आंचलिकता का गहरा पुट है। अनुप्रास योजना कहीं-कहीं अनेक ह्वै, स्वै, भोई, नोई आदि कम प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग से की गई है, किन्तु इस प्रकार के पदों में भी स्वामी जी की अनुभूति की सघनता एवं तीव्रता भाषा की सीमा को लाँघ कर विकरणित होती रहती हैं। ऐसा लगता है कि उनकी वेगवान भावानुभूति ने ही निसर्ग प्राप्त काव्य प्रतिभा के अभाव में भी उनको पद रचना के लिये वाध्य कर दिया और उनके अनेक पदों को काव्य गरिमा से मंडित कर दिया। भाषा में मसृणता के तथा अभिव्यक्ति में नागरता के अभाव की पूर्ति अनेक अंशों में उनकी वाणी की सहजता कर देती है। उदाहरण के लिये एक पद की यह पंक्ति देखिये—

ऐसी जिय होत जो, जिय सौं जिय मिलै–
तन सौं तन समाय लैंहुं, तौ देखौं कहा हो प्यारी।

—श्रीकेलिमाल, पद सं० ३५

एक अन्य पद में उन्होंने सौन्दर्य की प्रसिद्ध परिभाषा—"क्षणे-क्षणे यन्नवता मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' को एक लीला के पद में प्रयुक्त करके कितने सहज-स्वाभाविक ढंग से व्यक्त कर दिया है। इतना ही नहीं, उक्त पद में नित्य नूतन सौन्दर्य सम्वेदन के साथ विस्मय का योग करके प्राकृत एवं अप्राकृत दोनों सौन्दर्यों से उसकी विलक्षणता ध्वनित कर दी है —

यह कौन बात जु अबही और, अबही और, अबही औरें।
देवनारि नाग-नारि, और नारि ते न होहि और की औरें ।।
पाछैं न सुनी, अबहूँ, आगेहूँ ना ह्वै है यह गति अद्भुत–
रूप की और की औरें।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामाकुंजविहारी या ही रस बस भये
यह भई और की औरै ।।

—श्रीकेलिमाल, पद सं० ५४

'हित चौरासी' की भाँति 'केलिमाल' में भी प्रीति का विषय श्रीराधा हैं एवं आश्रय श्रीकुञ्जविहारी हैं। स्वामी हरिदास जी ने इस तथ्य को अपने एक प्रसिद्ध पद में बड़े सहज ढंग से स्पष्ट किया है—

जहाँ-जहाँ चरण परत प्यारी जू तेरे—
तहाँ-तहाँ मन मेरौ, करत फिरत परछाहीं।
बहुत मूरति मेरी चँवर ढ़ुरावति कोउ बीरी खबावत,
एकब आरसी लै जाहीं॥
और सेवा बहुत भाँतिन की जैसीयै कहैं कोऊ—
तैसीयै करौं ज्यौं रुचि जानौं जाहीं॥
श्रीहरिदास के स्वामी-स्यामा कौं भलैं मनावत दाउ उपाहीं॥

—श्रीकेलिमाल, पद सं० ५३

रस, गुण, नृत्य, संगीत आदि के क्षेत्र में श्रीराधा की प्रधानता का द्योतन भी स्वामीजी ने अपने सहज-स्वाभाविक ढंग से किया है। जैसे—

गुन की बात राधे तेरे आगे को जानें,
जो जानें सो कछु अनुहारि।
नृत्य गीत ताल भेदनि के विभेद,
न जानें कहूं जिते तिते देखे झारि॥
तत्त्व शुद्ध स्वरूप रेख परमान जे
विज्ञ सुर सुघर ते पचे भारि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा-कुञ्जविहारी
नैंक तुम्हारी प्रकृति के अंग-अंग और गुनी परे हारि॥

—श्रीकेलिमाल, पद सं० २३

श्रीराधा के अप्रतिम रूप सौन्दर्य का परिचय उन्होंने कोटि कामलावण्य विहारी के मुख से दिलाया है—

तुव जस कोटि ब्रह्माण्ड बिराजै राधे।
श्री सोभा बरनी न जाय अगाधे॥
बहुतक जनम विचारत हो गये साधे-साधे।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा
कहत री प्यारी ये दिन मैं क्रम-क्रम करि लाधे॥

—श्रीकेलिमाल, पद सं० ४१

इस पद में कुञ्जविहारी कहते हैं कि "हे राधे ! आपकी श्री शोभा का यश कोटि ब्रह्माण्डों में व्याप्त है। मैं इसका वर्णन करने में असमर्थ हूँ। मैंने तो तुम्हारी यह निकटता अनेक जन्मों की साधना के पश्चात् क्रम-क्रम से प्राप्त की है।" श्रीकुञ्ज-विहारी अपने अनेक जन्मों का उल्लेख करके एवं क्रम-क्रम वाली बात कहकर कदाचित् यह कहना चाहते हैं कि मेरे कच्छप, मीन, वराह, आदि मनुष्येतर अवतार, अर्ध मनुष्य नृसिंह अवतार तथा वामन, परशुराम, राम आदि मानव अवतारों का एक मात्र लक्ष्य तुम्हारी निकटता की प्राप्ति था और मैं उक्त सभी जन्मों में उसी के लिये प्रयास-शील था।

श्रीहरिवंश तथा स्वामी हरिदासजी से अतिरिक्त राधाप्रधान-साहित्य की सर्जना करने वाले इन दोनों के समसामयिक श्रीहरिराम व्यास थे। ये तीनों 'हरित्रयी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। व्यासजी के सैंकड़ों पद एवं साखियाँ उपलब्ध हैं—

राधिका सम नागरी प्रवीन को नवीन सखि,
रूप गुन सुहाग भाग आगरी ना नारि।
वरुण ओक नाग भूमि, देवलोक की कुमारि,
प्यारी जू के रोम ऊपर डारौं सब वारि ॥
आनंद कंद नंद नंदन जाके रस रंग रच्यौ।
अंग भर सुधंग नच्यौ मानत हँस हारि।
ताके बल गर्व भरे रसिक व्यास से ना डरैं,
कर्म-धर्म-लोक-वेद छाँड़ि मुक्ति चारि ॥

—श्रीव्यास वाणी, पद सं० ९३

विस्तार भय से हम यहाँ व्यासजी के साहित्य की समीक्षा नहीं कर रहे हैं। इन तीनों के (हरित्रयी) समवेत गान का प्रभाव तत्कालीन जन समाज एवं कृष्ण प्रधान शाखा के वाणीकारों पर समान रूप से पड़ा। सूरदास जी ने श्रीराधा की अपनी एक जन्म बधाई में उनके (श्रीराधा के) निरन्तर बढ़ते हुये प्रभाव को लक्षित किया है—'आज रावलि में वजत बधाई।' से आरम्भ होने वाली बधाई के अन्त में उन्होंने कहा है कि 'वृषभानु गोप की पुत्री का यश अब तीनों लोकों में मेरे प्रभु नन्द-नन्दन से अधिक बढ़ चला है—

'सूरदास स्वामी ते अधिक ह्वै चली तिहुँलोक बड़ाई।'

इसी प्रकार अपने एक होली के पद के अन्त में नन्ददासजी श्रीवृषभानु-सुता के चरणों का आश्रय लेकर रस निमग्न रहने वाले रसिक भक्तों पर बलिहार जाते हैं—

श्रीवृषभानु सुता पद अंबुज जिनके सदा सहाय।
यह रस मगन रहत जे तिन पर नंददास बल जाय ॥

उज्ज्वल प्रेमरस-संबंधी राधावल्लभीय दृष्टिकोण

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में हित किंवा मांगलिक प्रेम ही परात्पर तत्त्व है। यह अनन्त भावों एवं रूपों में नित्य क्रीडा करता रहता है। विभिन्न क्रीडाओं में हितस्वरूप के विभिन्न प्रकाशन को लेकर क्रीडावैचित्री का निर्माण होता है। जिस लीला में जितना और जिस प्रकार हित का प्रकाशन होता है,वैसा ही लीलाका स्वरूप बनता है। वात्सल्य, सख्य आदि रसों की लीलाएँ हित की लीलाएँ हैं किन्तु इनमें से किसी में हित के सहज पूर्णस्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं होती। सभी रसज्ञों को अनुभव है कि हित किंवा प्रेमका सहज एवं चरम परिपाक उज्ज्वल रस में होता है। उज्ज्वल रसमें प्रेम के जितने सुन्दर और समृद्ध रूप प्रगट होते हैं उतने अन्य किसी रस में नहीं। आलंकारिकों ने भी सम्पूर्ण काव्य-रसों में श्रृङ्गार-रस को रसराज माना है। श्रृङ्गाररस का स्थायी भाव रति है और रति मनुष्य की अत्यन्त मौलिक और प्रबल वृत्ति है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में अन्य आठ रसों के स्थायी भावों में से अनेक रति के ही विभिन्न विवर्त हैं। गौड़ीय वैष्णव-रस-शास्त्र में भी यह सब कृष्णरति के ही विभिन्न रूप माने जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक रति किंवा प्रेम ही विभिन्न कारण-कार्यों के योग से विभिन्न रसों के रूप में आस्वादित होता है।

रस (भाव) की स्थिति तीन स्थानों में देखी जा सकती है—लोक में, काव्य में और भगवद्भक्तों में। लोक का व्यक्तिगत एवं लौकिक कामभाव ही काव्य में कवि-प्रतिभा जन्य 'विभावन' नामक अलौकिक व्यापार का योग पाकर अलौकिक एवं सर्व-रसिक-संवेद्य श्रृंगार रस कहलाता है। लोक में अन्य व्यक्तियों की जिन काम चेष्टाओं को देखकर मन में जुगुप्सा का उदय होता है, वही काव्य और नाट्य में सत्कवि द्वारा निबद्ध होकर आनन्द-विधायक बन जाती है। लोक में रस (भाव) की निष्पत्ति उसके कारण, कार्य एवं सहकारी भावों के एकत्र मिलने से होती है। रस के यह कारण-कार्य और सहकारी भाव काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव कहलाते हैं। नाट्य-रस के लिए भरत का यह सूत्र प्रसिद्ध है, 'विभावानुभावसंचारियोगाद्रस निष्पत्तिः'—विभाव अनुभाव और संचारी भाव के योग से रस निष्पत्ति होती है। इसी सूत्र का ग्रहण काव्यरस के विवेचन के लिये कर लिया गया है।

आलंकारिकों ने काव्यरस को अलौकिक सिद्ध करने में बड़े पराक्रम का प्रदर्शन किया है। उन्होंने उसको स्वप्रकाश, चिन्मय एवं ब्रह्मास्वाद के समकक्ष बताया है,

और यह सब किया है सहृदयों के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर, जिससे किसी भी काव्य रस-रसिक को इसके स्वीकार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। सहृदयों का यह भी प्रत्यक्ष अनुभव है कि काव्यरस सब कुछ होते हुए भी नित्य नहीं होता और आलंकारिकों ने इसको स्वीकार किया है। काव्यरस की सत्ता उसके संवेदनकाल (ज्ञान काल) में ही रहती है, उसके पूर्व और उत्तरकाल में उसका अभाव रहता है। किन्तु-वस्तु की सत्ता उसके ज्ञानकाल के अतिरिक्त भी रहती है, जो नित्य है उसका ज्ञान हो या न हो, उसकी सत्ता तो रहेगी ही—

न खलु नित्य वस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसंभवः ।

देखना यह है कि चिन्मय, स्वप्रकाश आदि होते हुए भी काव्यरस नित्य क्यों नहीं बन पाता ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यह रस कई कृत्रिम व्यापारों के सहयोग से निष्पन्न होता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि मनुष्य की सहज रति को व्यक्तिगत एवं लौकिक आस्वाद से निकाल कर सार्वजनिक आस्वाद की वस्तु बनाने वाला एक 'विभावन' किंवा 'साधारणीकरण' नामक अलौकिक व्यापार है जो सत्-कवि की लोकोत्तर प्रतिभा-जन्य होता है। यह व्यापार अलौकिक भले ही हो किन्तु कवि-प्रतिभा-जन्य होने के कारण यह कृत्रिम होता है। मम्मट ने कविभारती को 'नियति कृत नियम रहित' कहकर उसकी कृत्रिमता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार लोक में विभावादिक यद्यपि रति के कारण-कार्य आदि होते हैं। किन्तु काव्यरस के उद्‌बोध में यह सब कारण ही माने जाते हैं क्योंकि यह सब मिलकर रस का उद्‌बोधन करते हैं—यह क्रिया भी कृत्रिम है।

इस प्रकार लोक का रस सम्पूर्णतया व्यक्तिगत एवं लौकिक होता है और काव्य रस सार्वजनीन एवं अलौकिक होते हुए भी कृत्रिम और अनित्य होता है। अब रहा भक्तों का भक्तिरस। प्रसिद्ध तैत्तिरीय श्रुति परमतत्व को रसस्वरूप बताती है। "रसौ वै सः" रसस्वरूप होने के कारण ही उसमें आनन्दकी स्थिति है--"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।" भगवद्‌भक्त अपने भगवान को 'निखिल रसामृतमूर्ति' मानते हैं और प्रेमोपासकों की दृष्टि में उनका नित्य-क्रीडा-परायण प्रेम ही रस-स्वरूप है। यह रस भगवत् स्वरूप होने के कारण नित्य होता है और भगवदंशजीव के लिये सहज भी। श्रुति ने परतत्व का रसरूप होना तो घोषित किया है किन्तु सम्पूर्ण श्रुति-साहित्य में यह कहीं नहीं बताया गया है कि यह रस रूपता किस प्रकार सिद्ध होती है। श्रीकृष्णलीला का गान करने वाले श्रीमद्‌भागवतादि पुराणों में कहीं इस रस की परिपाटी का वर्णन नहीं मिलता। केवल अग्निपुराण में इस विषय की चर्चा मिलती है किन्तु वह भरत की रस प्रणाली पर ही आधारित है।

सोलहवीं शताब्दी में कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों के उदय के साथ रस सम्बन्धी विशद ऊहापोह का प्रारम्भ होता है। भक्तिरस का विवेचन करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ भी

रूप गोस्वामी कृत 'हरिभक्ति रसामृतसिंधु' है जिसकी रचना शकाब्द १४६३ (सं० १५९८) में गोकुल में हुई थी। इस ग्रन्थ में भरत की रस विवेचन की प्रणाली को आधार बनाकर भक्ति रस का विशद विवेचन किया गया है एवं भक्तिरस को व्यक्त करने के योग्य बनाने के लिये उस प्रणाली में अनेक मौलिक परिवर्तन किए गए हैं। इन परिवर्तनों का विस्तृत वर्णन श्रीजीव गोस्वामी ने अपने विद्वत्तापूर्ण 'प्रीतिसंदर्भ' में किया है। भक्तिरस के साधारणीकरण के लिये कवि-प्रतिभा-जनित विभावन-व्यापार को उक्त ग्रन्थ में स्वीकार नहीं किया गया है। भक्तिरस के विभावादिक का स्वरूप ही ऐसा बताया गया है कि समान वासना वाले भक्त के हृदय में वे स्वयं विभावित हो जाते हैं। काव्य-रस-प्रणाली की जो दो कृत्रिमताएँ ऊपर दिखाई गई हैं उनमें से प्रथम का परिहार यहाँ हो जाता है। दूसरी कृत्रिमता जो लोक में अनुभूत रति के कारण, कार्य सबको काव्यरस का हेतु बनाने के कारण उत्पन्न होती है, उसका परिहार भरत की प्रणाली को स्वीकार करने के बाद असम्भव होता है।

काव्यरस सामाजिकनिष्ठ होता है। जिस रस के उद्‌बोध में रति के कारण, कार्य और संचारी भाव तीनों ही कारण बन जाते हैं, वह केवल सामाजिकनिष्ठ हो सकता है, अनुकार्य अथवा नायक-निष्ठ नहीं। अनुकार्य जिस कार्य रस का आस्वाद करता है उसमें उसकी रति के कारण-कार्य आदि अपनी लौकिक स्थिति में रहते हैं, अतः अनुकार्य-निष्ठ रस को अन्य कुछ भी नाम दें, वह काव्यरस नहीं कहा जा सकता। भक्तिरस अनुकार्य-निष्ठ भी होता है क्योंकि भगवान रसस्वरूप हैं। भगवान जिस प्रेम रस का आस्वाद करते हैं उसमें उनकी रति के कारण, कार्य और संचारी भाव अपने स्वाभाविक रूप को छोड़कर रस के कारण नहीं बनते। अतएव भगवत्-प्रेम-रस भरत की परिपाटी से निष्पन्न होने वाले काव्यरस से सर्वथा भिन्न होता है। भगवान को यदि काव्यरस का आलंबन बनाया भी जाय तब भी वह रस सामाजिकनिष्ठ ही रहेगा, इस विशेष प्रकार की योजना के कारण भगवद्‌निष्ठ नहीं बन सकता। भगवान् की सम्पूर्ण लीला लोकवत् होती है, उनको रसानुभव भी स्वाभाविक रीति से होता है। नन्दगृह में लोक के साधारण बालक की भाँति वे माता की वत्सल रति के कारण बनते हैं। लोक में बालक जिस वात्सल्य रस का विषय बनता है वह काव्यरस की भाँति कृत्रिम नहीं होता। उसमें रस के कारण, कार्य आदि यथावस्थित होते हैं। इसी भाँति अन्य रसों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

लोक के रस (भाव) एवं भगवद् रस में केवल इतनी ही समानता है कि दोनों सहज हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई समानता नहीं है। भगवान के रसास्वाद का अर्थ यह है कि रस ही रसास्वाद में प्रवृत्त है, और यह स्थिति सर्वथा अलौकिक है। लोक की संकुचित सीमाओं एवं अंतरायों के कारण यहाँ रस (भाव) का स्फुरण क्षणिक एवं अनित्य होता है। काव्यरस अपनी कृत्रिमता के कारण अनित्य है और लोक का रस (भाव) अपनी परिस्थिति के कारण। भगवद्-प्रेमरस कृत्रिमता एवं परिमितता दोनों

से मुक्त हैं अतएव वह नित्य है। उसका स्फुरण शाश्वत है। शाश्वत रसस्फुरण जैसी परमोज्ज्वल, मांगलिक एवं आनन्दमयी स्थिति दूसरी नहीं हो सकती, इसलिए भगवत्प्रेम रस को भगत्स्वरूप माना जाता है। अपरिमित, अलौकिक एवं अंतराय-शून्य होने के कारण यह रस सरस हृदय में स्वयं विभावित हो जाता है और भगवन्निष्ठ रहता हुआ भी भक्तनिष्ठ रहता है। भक्त और भगवान के बीच एक मधुर आत्मीय सम्बन्ध स्थापित रहता है जिसके कारण वह अपने-पराए का भेद भूलकर भगवत्प्रेमरस का निर्विघ्न आस्वाद कर सकता है। काव्य के इस क्षेत्र में इस सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती अतएव वहाँ कवि-प्रतिभाजनित 'विभावन' व्यापार की आवश्यकता होती है।

पंडितराज जगन्नाथ से पूर्व के आलंकारिकों ने रस को 'रसो वै सः' श्रुति से प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी दृष्टि में इन दोनों रसों का भेद स्पष्ट था और उन्होंने काव्यरस के लिये केवल 'सहृदय' को प्रमाण माना है। सर्वप्रथम पंडितराज ने काव्यरस को उपर्युक्त श्रुति से प्रमाणित करना चाहा है। उनके पूर्व गौड़ीय गोस्वामीगण भगवद्-प्रेमरस का व्याख्यान काव्यरस की परिपाटी से कर चुके थे और स्पष्ट है कि उनसे ही प्रभावित होकर पंडितराज ने दोनों रसों को एक करने का प्रयास किया था। इसके बाद के काव्य रसज्ञों ने जहाँ-तहाँ उनका पदानुकरण किया है किन्तु इस सम्बन्ध में प्राचीनों का मत ही ठीक है।

भरत की रस-परिपाटी के साथ उनके अन्यतम अंग नायक-नायिका-भेद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है और इसलिये गौड़ीय भक्तिरस-साहित्य में हम श्रीराधाकृष्ण का दर्शन नायक-नायिका के रूप में पाते हैं वहाँ इनके भेदों का प्रचुर वर्णन मिलता है और राधाकृष्ण को ही इनके उदाहरण में दिया गया है। श्रीकृष्ण-लीला के पौराणिक स्वरूप के वर्णन के लिए यह शैली उपर्युक्त सिद्ध हुई है और इसके द्वारा भक्तिरस के प्रचार एवं प्रभाव में वृद्धि हुई है, यह निर्विवाद है।

राधावल्लभीय रसिकों ने प्रारम्भ से ही अपने रस के व्याख्यान के लिये काव्य-रस-परिपाटी को किसी अंश में भी अंगीकार नहीं किया है और उन्होंने रस को जिस दृष्टि से देखा है उसके अनुसार वे कर भी नहीं सकते थे। रति किंवा प्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। यह प्रेम, इस सम्प्रदाय के अनुसार अद्वय युगल-स्वरूप हैं। प्रेम की रति अद्वय-युगल स्वरूप श्यामाश्याम हैं। यह प्रेम के कारण भी है और कार्य भी अतएव इनको आलंबन-विभाव, जो प्रेम का केवल कारण होता है, नहीं कहा जा सकता। साधारणतया नायक-नायिका शृङ्गाररस के आलंबन-विभाव एवं रसकेलि के प्रयोजक होते हैं, किन्तु जहाँ वे स्वयं रसस्वरूप भी हों वहाँ रस को ही रसकेलि का प्रयोजक मानना पड़ेगा। ध्रुवदासजी ने कहा है कि इस रस में नायिक-नायिका नहीं होते स्वयं रस ही केलि का प्रयोजक होता है।

'नायक तहाँ न नायिका रस करवावत केलि'

श्रीहित हरिवंशजी के उपास्य प्रेमस्वरूप श्यामाश्याम जलतरंगवत् एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं और जलतरंग की भाँति ही वे दो भिन्न रूपों में प्रगट रहकर क्रीड़ा करते रहते हैं। इनकी क्रीड़ा अनादि अनन्त एवं 'प्रेम-मदन-मयी' होती है। श्रीध्रुवदासजी बताते हैं कि श्यामाश्याम के हृदय में प्रेम और मदन के दो सिन्धु सदैव बहते रहते हैं। प्रेमरूपी सिन्धु के तरंग जब उन पर छा जाते हैं तब वे विवश हो जाते हैं और मदन-रूपी तरंगों के छा जाने पर चैतन्य लाभ करते हैं। कभी खेल खिलाड़ी के आधीन रहता हैं और कभी खिलाड़ी खेल के आधीन हो जाते हैं। यह दोनों प्रतिक्षण इस प्रकार मधुर रस का उपभोग करते रहते हैं। इनका प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म हैं और उसकी रीति-भाँति का वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रेम मदन के सिंधु द्वै बहत रहत दिन हीय।
कबहुँ बिवस चेतन कबहुँ छिन-छिन प्यारी पीय॥
छिन-छिन प्यारी पीय मधुर रस बिलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहौ कोऊ बरनै कैसे॥

यह सूक्ष्म मधुररस प्रेम और मदन किंवा प्रेम और नेम के नित्य योग से नित्य निष्पन्न रहता है। इस नित्य रस के दोनों तत्त्वों–प्रेम और नेम का स्पष्टीकरण श्री-ध्रुवदास ने इस प्रकार किया है। प्रेम स्वरूपतः अनादि अनन्त, एकरस, नित्य नूतन, उज्ज्वल, सरस, मादक, स्निग्ध एवं स्वच्छंद भाव है। नेम भी भावरूप है। वह आदि-अन्त युक्त और आकृतिरूप एवं परिणामरूप हैं। 'नेम' को समझाने के लिये तीन उदाहरण दिए गए हैं। पहिला उदाहरण रँगे हुए वस्त्र का है। लाल रँगा हुआ वस्त्र-वस्त्र ही रहता है, उसमें लाल रंग का योग हो जाता है। यहाँ पर वस्त्र प्रेम है और लाल रंग नेम है। दूसरा उदाहरण पात्र और उसकी आकृति का है। पात्र प्रेम है और आकृति नेम है, 'जो किया जाय और फलित हो' उसको नेम कहते हैं। तीसरा उदाहरण कनक-कुण्डल का है। कनक से कुंडल गढ़े जाते हैं, इसलिये वे नेम हैं और एक रस रहने वाला कनक प्रेम है। प्रेम के नेम के कुछ उदाहरण देखना, हँसना, बोलना, मान तथा कोक के विलासादिक दिए गए हैं। नित्य एकरस रहने वाले प्रेम के साथ यह सब बनने-मिटने वाली क्रियाएँ, आकृतियाँ एवं परिणाम 'यंत्रित' रहते हैं। नवधा भक्ति भी नेम है जो प्रेमलक्षणा भक्ति के उदय के बाद प्रेम में लीन होकर रहती है।

साधारणतया 'नेम' से उन विधिविधानों, क्रियाकलापों एवं क्रियापरिणामों का बोध होता है, जिनका नाश प्रेम के उदय के साथ हो जाता है। 'प्रेम में नेम नहीं होता' यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु श्रीध्रुवदास कहते हैं कि, प्रेम के उदय के साथ वही नेम नष्ट होते हैं जो उससे भिन्न होते हैं, जो उससे जुड़े हुये हैं (यंत्रित हैं) वे कैसे नष्ट हो सकते हैं? इन नित्य यंत्रित नेमों के कारण ही मधुर प्रेम मधुर रस बना रहता है और इसी से प्रेम और नेम को रस-पट का तानाबाना कहा गया है। श्रीध्रुवदास ने मधुर प्रेम से यंत्रित नेमों को 'मदन' किंवा काम भी कहा है। विद्वानों ने शृङ्गार शब्द की उत्पत्ति 'शृंग' से

बतलाई है जिसका अर्थ 'मन्मथ का उद्भेद' है। लोक के शृङ्गार की निष्पत्ति भी रति (प्रेम) और मन्मथ के योग से होती है किन्तु यहाँ यह दोनों प्राकृत होते हैं। प्राकृत काम का अवसान उपरति में होता है और उसके साथ रति भी उपरत-सी प्रतीति होने लगती है। इसलिये यहाँ का शृङ्गार अनित्य होता है। अप्राकृत प्रेम नित्य नूतन बनने वाला भाव है और उसके साथ नित्य यंत्रित रहने वाला काम भी उसी के समान नित्य नूतन बनता रहता है। नित्य नूतन बनने वाले काम को अप्राकृत काम कहा जाता है। अप्राकृत काम भी काम ही है। उसमें काम के अनेक लक्षण प्रकट रहते हैं। श्रीहित हरिवंश ने अपने एक पद में बताया है कि पशुपति ने काम को अपनी क्रोधाग्नि में भस्म कर दिया था, नागरी श्यामा ने उसको पुनः जीवित किया और उसको अङ्गीकार करके नित्य नूतन बना दिया। —श्रीहित चौरासी, पद सं० ५६

प्रेम और मदन (अप्राकृत) के नित्य योग से यह रस नित्य निष्पन्न रहता है। वास्तव में इन दोनों के योग से ही मधुर रस की सृष्टि होती है। प्रेम (रति) ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। मदन केलि योग से प्रेम आस्वाद्य बनता है। श्रीध्रुवदासजी कहते हैं कि प्रेम तृषा की वेलि के लिये मदनकेलि जल के समान है। परम रसिक-नागर-नवल इस जल का पान करके प्रेम-तृषा की बेलि को हरी बनाये रखते हैं—

प्रेम तृषा की बेलि कौं केलि अदन रस आहि।
परम रसिक नागर नवल पीवत जीवन ताहि॥

—भजन कुण्डलियाँ

परस्पर की काम-केलि के योग से जिस प्रकार श्यामाश्याम का प्रेम हरा बना रहता है, आस्वाद्य बना रहता है, उसी प्रकार रसिक उपासक का प्रेम इन दोनों की केलि के योग से रसरूप बना रहता है। श्रीहित हरिवंश ने केलि-रसपान को अपना चरमसुख बताया है। 'हित चौरासी के एक सुन्दर पद में प्रेमकेलि का वर्णन करके वे अन्त में कहते हैं कि 'उभय प्रेमस्वरूपों के संगम-रूपी सिंधु में शृङ्गारकेलि का जो कमल खिल रहा है, उससे अनवरत प्रवाहित होने वाले मकरंद का पान हरिवंशरूपी भ्रमर करता है।'

उभय संगम सिंधु सुरत पूषण बंधु
द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै।

—श्रीहित चौरासी, पद सं० ८१

प्रेम और मदन के जो सिंधु श्यामाश्याम के हृदयों में प्रवाहित रहते हैं, उन्हीं का एक कण उपासक के हृदय में भी बहता रहता है और इस प्रकार यह रस राधा-कृष्ण-

निष्ठ रहता हुआ भी उपासक-निष्ठ बना रहता है। इस रस के रसिकों का अनुभव ही प्रमाण है।

इस नित्य निष्पन्न रस का नाम 'श्रीवृन्दावन-रस' है। वृन्दावन-रति को इस रस का स्थायी भाव कहा जा सकता है। वृन्दावन-रति वास्तव में प्रेम-रति है। क्यों कि इस सम्प्रदाय के अनुसार, राधामाधव का अत्यन्त रमणीय पारस्परिक प्रेम ही वृन्दावन के रूप में मूर्तिमान हुआ है। रसिक उपासक एवं रसिक शिरोमणि श्यामा-श्याम समान रूप से इस प्रेम से आसक्त हैं और प्रेम-रति समानरूप से दोनों के रसानुभव का आधार बनी हुई है। वृन्दावन की प्रेमरति-रूपता के बड़े सुन्दर वर्णन राधावल्लभीय वाणियों में मिलते हैं। श्रीध्रुवदास एक स्थान पर कहते हैं 'वृन्दावन सुहाग का बाग है जो रस में पगा हुआ है। यहाँ की प्रीतिलता में रूप-रंग के दो फूल (श्यामा-श्याम) लग रहे हैं।'

बन है बाग सुहाग कौ राख्यौ रस में पागि।
रूप रंग के फूल दोउ प्रीति लता रहे लागि॥

—वृन्दावन शतक

उपासक के चित्त में वृन्दावन-रति का उद्‌बोध करने के लिये श्रीध्रुवदास ने यह उपाय बताए हैं—'उपासक को वृन्दावन का नाम रटना चाहिए, वृन्दावन का दर्शन करना चाहिए, वृन्दावन से प्रीति करनी चाहिए और वृन्दावन को अपने हृदय में अंकित करना चाहिए। उसको यदि विश्राम की चाह है तो उसे वृन्दावन को प्रणाम करना चाहिए और उसको पहिचानना चाहिए। इस प्रकार वृन्दावन का स्मरण करने पर उपासक के समस्त प्रतिबन्धक कर्म लुप्त हो जाते हैं और फिर रस-भजन की नेह-बेलि उसके हृदय में उत्पन्न हो जाती है'

इसी वृन्दावन-रस के कथन के लिए श्रीहित हरिवंश का जन्म हुआ था 'हित चौरासी' के पदों में उन्होंने इसी का गान किया है।

करुनानिधि और कृपानिधि श्रीहरिवंश उदार।
वृन्दावन रस कहनि कौं प्रगट धर्‌यौं अवतार॥

—श्रीध्रुवदास रचित-रसमंजरी

श्रीहिताचार्य के शिष्य श्रीहरिराम व्यास ने इस रस के प्रति अपना स्वाभाविक पक्षपात व्यक्त करते हुए इसको अन्य सब रसों से विलक्षण बताया है।

वृन्दावन रस मोहि भावै हो।
ताकी हौं बलि जाऊँ सखीरी जो मोहि आनि सुनावै हो।
बेद पुराण औ भारत भाखै सो मोहि कछु न सुहावै हो॥

मन वच क्रम स्मृ-हू कहत है मेरे मन नहिं आवै हो ।
कृष्ण कृपा तब ही भलै जानौ रसिक अनन्य मिलावै हो ।।
'व्यासदास' तेई बड़भागी जिनके जिय यह आवै हो ।।

—व्यासवाणी, पृष्ठ सं० ७३-७४

अन्यत्र उन्होंने कहा है—'इस रस का पान करके मेरा मन नवधाभक्ति एवं भागवत कथा की रति से ऊबने लगा है। इस रस के उपासक 'अनन्य' समुदाय की रहनि-कहनि सबसे भिन्न है।

यहि रस नवधाभक्ति उबीठी रति भागौत कथा की ।
रहनि कहनि सबही तें न्यारी 'व्यास' अनन्य सभा की ।।

—व्यासवाणी, पृष्ठ सं० ११०

श्रीललित लेखनी से

श्रीहिताचार्य ने अपनी जोरी (श्रीश्यामा-श्याम) को भूतल पर 'अभूत' बतलाया है। इसका अर्थ यह है कि नित्य अनादि अनन्त होते हुये भी यह जोड़ी उनसे पूर्व किसी को दृष्टि गोचर नहीं थी—किसी के नेत्रों का विषय बनाने का श्रेय श्रीहिताचार्य को है।

—

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी द्वारा प्रवर्तित नित्यविहार की उपासना सुख की, गोद की, और मोदकी आनन्द की उपासना है। इस उपासना में प्रेम-सौन्दर्य की अवधि रस-सागर श्रीश्यामाश्याम का परस्पर सुख और हर्ष ही उपास्य है।

—

प्रेमी और प्रेम पात्र के मन में सर्वथा एक रुचि होना श्री राधाश्यामसुन्दर के प्रेम में ही सम्भव है। लौकिक प्रेम में तो प्रेमी-प्रेम पात्र अपना-अपना सुख चाहते रहते हैं।

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय का हित तत्त्व

विक्रम की चौदहवीं-पन्द्रहवीं शतियों में उत्तर भारत की हिन्दू जाति का धार्मिक उत्पीडन पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था। इसके साथ ही उसकी सांस्कृतिक चेतना का गला घोटने के लिए उसके शिक्षा स्थानों, त्यौहार-पर्वों, उत्सव-उत्साहों पर कड़ी पाबन्दियाँ लगी हुई थीं। तीर्थ-यात्राओं द्वारा समग्र भारतवर्ष की एकता के स्वप्न को साकार बनाने की उसकी सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति अवरुद्ध कर दी गई थी ऐसे भीषण काल में किन्तु 'भारत भाग्य विधाता' सजग थे, वे देख रहे थे कि अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक कारणों से हिन्दू जाति की संगठनात्मक शक्ति नष्ट हो चुकी है। और उनके द्वारा किसी सामूहिक प्रतिरोध के लिये अवकाश नहीं रहा है, ऐसी हताश स्थिति में भारत की प्राचीन धार्मिक संस्कृति की रक्षा का एक ही उपाय रह गया था कि उसकी मौलिकता का घात किये बिना उसको तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल नया कलेवर प्रदान कर दिया जाय, और साथ ही सामूहिक चेतना के विकास को व्यक्ति की अस्मिता के पोषण से आरम्भ किया जाय।

पृथ्वी पर भगवान की मांगलिक के संवाहक संत होते हैं। इस अवसर पर सर्व-प्रथम स्वामी रामानन्दजी, भक्ति का अमृत-कलश लेकर दक्षिण भारत से उत्तर भारत में आये, और उन्होंने यहाँ एक व्यापक भक्ति-आन्दोलन की नींव रख दी। इसके बाद तो बंगाल से लेकर पंजाब तक एक से एक समर्थ भक्तों का आविर्भाव होता चला गया। आलम्बन की विविधता के कारण इन भक्तों द्वारा प्रचारित भक्ति भी विविधि रूपों में प्रकट हुई। निर्गुण आलम्बन पाकर यह ज्ञान और योग से मिश्रित हो गई, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र का गान करके उसमें अनिवार्यता, ज्ञान और कर्म घुल-मिल गये, और श्रीकृष्ण की मर्यादातीत प्रेम-स्वरूपता के आश्रय से वह 'ज्ञानक-र्माद्यनावृत' शुद्ध प्रेमाभक्ति के रूप में प्रकट हुई, किन्तु इस विविधता की एकसूत्रता को घोषित करने वाली इसकी कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ भी थीं। जिनमें मुख्य निम्न-लिखित हैं—

(१) भक्ति में प्रेम की प्रधानता।
(२) भगवान और भक्त की समक्षता।
(३) साधना में भगवत् शरणागति का असमोर्ध्व महत्त्व।
(४) भक्ति के क्षेत्र में चारों वर्णों की समानता।

(५) शास्त्रोक्त विधि-निषेधों का त्याग और उनके स्थान में भक्ति के विविध अंगों का आचरण।

इन सब प्रवृतियों का उद्गम स्थान एवं प्रेरक प्रेम था और वही इस मांगलिक आन्दोलन का मेरुदण्ड था। मनुष्य के जीवन में प्रेम के क्रान्तिकारी प्रभाव का प्रदर्शन प्रेम कथाओं द्वारा करने वाली एक अन्य धारा इस भक्ति-आन्दोलन के समानान्तर चल रही थी। इसके प्रवर्तक सूफी संतकवि थे। इन्होंने स्वयं मुसलमान होते हुए हिन्दुओं में प्रचलित प्रेम-कथाओं को सुन्दर प्रबन्ध काव्यों में ग्रंथित किया है, जिनमें जायसी का पद्मावत सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। सूफी लोग ईश्वर को 'अलख, अरूप, अबरन, बताते हैं। ये लोग लौकिक प्रेन में भगवत् प्रेम की छटा देखते हैं तथा प्रेम में विरह पर अधिक जोर देते हैं। सूफी लोग इस्लाम के अन्तर्गत होते हुए भी इस्लाम की आक्रामक धार्मिकता एवं अन्य धर्मों के प्रति उसकी सम्पूर्ण असहिष्णुता से दुःखी थे और विभिन्न धर्मों के मूल में सामान्य रूप से रही हुई मानवता के उद्‌बोधन के लिए प्रयत्नशील थे।

प्रेम मनुष्य के मन का अत्यन्त-मौलिक भाव है और इसमें विकास एवं उर्ध्वी-करण की अनन्त संभावनायें निहित हैं। परवर्ती बौद्धकाल में ही प्रेम की अमित शक्तियों की ओर साधकों का ध्यान जा चुका था और इधर-भागवत् किंवा सात्वत धर्म में भगवत्-प्राप्ति के सबल साधन के रूप में इसका महत्व बढ़ रहा था, दक्षिण के आलवार सन्तों में तो प्रेम की प्रतिष्ठा प्रधान साधन के रूप में हो ही चुकी थी।

भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यों एवं भक्त महानुभावों तथा प्रेम-कहानियों के रचयिता सूफी-सन्तों ने विक्रम की सोलहवीं-शती के अन्त तक उत्तर भारत में प्रेम की एक ऐसी सुशीतल मसृण धारा प्रवाहित कर दी कि वहाँ की सम्पूर्ण विभीषका, भेदभाव और पामरता उसमें डूबकर देशहीन हो गये, राजनीतिक क्षेत्र में भी, अप्रत्यक्ष रूप से, इन महानुभावों का युगान्तरकारी प्रभाव पड़ा।

श्रीकृष्ण-भक्त सम्प्रदायों के संस्थापकों में से श्रीबल्लभाचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु सोलहवीं-शती के अन्तिम दशकों में अन्तर्धान हो गये।

तीसरे श्रीहित हरिवंश गोस्वामी सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में निकुञ्ज पधारे। सं० १५९९ वि० में अकबर का जन्म हो गया और उसके राज्यकाल में हिन्दुओं पर होने वाले सम्पूर्ण अत्याचार बन्द ही नहीं हुए, हिन्दू और मुसलमानों में अभूतपूर्व सौहार्द वृद्धि भी हो गई। क्या यह सोलहवीं-शती में हुए सघन प्रेम-प्रचार का सीधा प्रभाव नहीं था।

श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के अन्तर्धान के कुछ ही वर्षों बाद रचित 'सेवकवाणी' में श्रीहिताचार्य के जन्म से पूर्व की धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति का परिचय देते हुए कहा है, "सब पृथ्वीपति धर्म रहित हो गये हैं, और पृथ्वी पर म्लेच्छों की वृद्धि हो गई

है, सब लोग आधुनिक धर्म कर रहे हैं, और वेद-विहित भक्ति का मर्म नहीं जानते। सब लोग भवसागर में डूबे जा रहे हैं। और उनका दम घुटा जा रहा है।

इसके बाद के छन्दों में प्राकट्य के पश्चात् की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

गये अशुभ सब विश्व के ॥
म्लेच्छ सकल हरिजस विस्तरहिं,
परम ललित बानी उच्चरहिं ॥
करहिं प्रजा पालन सबै ॥
अपनी-अपनी रुचिवस वास, जस बरनौं हरिवंश विलास ।
श्री हरिवंशहि गाइहौं ॥

तथा

छूटि गई कलिजुग की रीति, नित-नित नव-नव होत समीति ।
प्रीति परस्पर अति बढ़ी ॥
प्रगट होत ऐसी विधि भई, सब भवजनित आपदा गई ।
नई-नई रुचि अति बढ़ी ॥

—श्रीसेवक वाणी, प्रथम प्रकरण सं० ८-९

उत्तर भारत की इस सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में यहाँ हम केवल श्रीकृष्ण-भक्त सम्प्रदायों में प्रेम सिद्धान्त की विकास-यात्रा का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा करेंगे।

उक्त सम्प्रदायों में से केवल दो—श्रीचैतन्य एवं श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय में प्रेम के स्वरूप, स्वभाव एवं उसकी विभिन्न परिणतियों का विवेचन एक विशिष्ट पद्धति के रूप में उपलब्ध होता है। इनमें से श्रीचैतन्य सम्प्रदाय का भक्तिरस सिद्धान्त तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस निबन्ध में इसके साथ राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त का भेद दिखलाकर हित परिपाटी की कुछ विशिष्टताओं को उजागर करने की चेष्टा करेंगे।

बंगीय महानुभावों ने प्रेम को भगवान् की ओर से देखा है और स्वभावतः वह उनको भगवान् की स्वरूपाशक्ति आह्लादिनी के सार के रूप में लक्षित हुआ। इधर राधावल्लभीय रसिकों ने प्रेम को भक्त की ओर से देखा है और वह उनको मनुष्य के मन का एक सर्वाधिक मौलिक भाव प्रतीत हुआ। यह सार्वजनीन सहज भाव ही अच्युत भगवान् में विनियुक्त होकर भगवत् प्रेम किंवा भक्ति कहलाता है। इसके विरुद्ध गौडीय मत में भगवत्-प्रेम और लौकिक प्रेम परस्पर विरोधी एवं मूलतः भिन्न भाव हैं। सूफी भी इश्क मजाजी और इश्क हकीकी में मौलिक एकता मानते हैं और वे पन्द्रहवीं-सोलहवीं शतियों के भक्ति-आन्दोलन से शताब्दियों पूर्व उत्तर भारत में

सक्रिय भी हो गये थे। किन्तु प्रेम के स्वरूप से सम्बन्धित उक्त राधावल्लभीय पक्ष श्रीमद्भागवत एवं आलवार सन्तों के बचनों पर आधारित है, और ये दोनों सूफियों से पूर्ववर्ती हैं।

दूसरा भेद यह है कि श्रीरूप गोस्वामीपाद ने अपने भक्तिरस सिद्धान्त को भरत के रस सिद्धान्त पर आधारित किया है और उसमें कई आवश्यक संस्कार करके उसको अपने सिद्धान्त के कथन योग्य बना लिया है। इसीलिये उसमें शास्त्रीयता अधिक है और यही उसकी प्रसिद्धि का कारण है। इधर राधावल्लभीय रसिक महानुभावों ने अपने प्रेमरस सिद्धान्त का कथन स्वतन्त्र रीति से किया है और उसके विकास में किसी परम्परा प्राप्त पद्धति का सहारा नहीं लिया है, उनका सिद्धान्त प्रेमके स्वरूप एवं उसकी रस रूपता से सम्बन्धित प्रक्रिया का संक्षिप्त परिचय देकर विरत हो जाता है। इसका कारण राधाबल्लभीय रसिकों की उस अत्यन्त केन्द्रित उपासना पद्धति में निहित मालूम होता है जो श्रीमद्भागवत में वर्णित शृङ्गार रसमयी रासलीला से प्रेरणा तो ग्रहण करती है, किन्तु उसको उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार नहीं करती। वह तो केवल श्री वृन्दावन की निविड़ निकुञ्जों में अनाद्यनन्त रूप से होने वाली श्रीश्यामा-श्याम की प्रमत्त प्रेम केलि तक ही सीमित है। श्रीकृष्ण के अन्य लीला चरित्रों के लिये उसमें अवकाश नहीं है। श्रीलाल स्वामी (सत्रहवीं शताब्दी) कहते हैं कि जो साँवल-गौर केलि मन्दिर की कमल शय्या पर नित्य-विराजमान रहकर अविचल रूप से परस्पर गलवांहीं दिये रहते हैं, जिनके नेत्र परस्पर निर्निमेष दर्शन करते हुए भी सदैव तृषित बने रहते हैं और जो कभी कुञ्ज मन्दिर के बाहरी प्रांगण में भी नहीं आते उनके लिये यह कहना कि वे गायों को चराते हैं और मल्लों को पछाड़ते हैं, कहाँ तक ठीक है?"

केलि के मन्दिर सेज सरोजन लाडिली लाल दिये गरवाँहीं।
देखन मध्य निमेष महा दुखलोचन लोल तृषान सिराहीं।
साँवल उज्ज्वल केलि कला रस माधुरी सार सुधा बरसाहीं।
गाइन चारत मल्ल पछारत कुञ्ज के आंगन आवत नाहीं॥

—श्रीलाल स्वामी

लीला के क्षेत्र में विविधता का यह अभाव ही सर्वाङ्गपूर्ण रस-पद्धति के विकास में संभवतः बाधक बनता है। श्रीरूप गोस्वामी पाद ने अपने विश्रुत 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति के शान्त, दास्य आदिक पाँच प्रधान रस एवं शृङ्गार, दास्य करुण आदिक नौ गौण रसों का परिचय दिया है। श्री हिताचार्य द्वारा स्थापित नित्य-विहारोपासना में एक भाव-शृंगार किंवा मधुर रस गृहीत है और उसका विस्तार नायिका भेद, दशाभेद आदि द्वारा हो सकता था, जैसा कि श्रीरूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थ में किया है, किन्तु श्रीराधावल्लभीय रसिक अपने रस में श्रीराधा के

अतिरिक्त अन्य किसी नायिका को नहीं स्वीकार करते। श्रीध्रुवदासजी ने अपनी आनन्द दशा 'विनोदलीला' में तीन प्रकार की नायिकाओं—नवोढ़ा मध्या और प्रौढ़ा-का उल्लेख किया है और उनके लक्षण भी बताये हैं, किन्तु इन तीनों प्रकार के लक्षणों को एक श्रीराधा के अंग में ही चरितार्थ दिखाया है। और इनका वर्णन श्रीराधा के शरीर में भिन्न-कालों में उदित होने वाली प्रेमानन्द की विविध दशाओं के रूप में किया है, अपनी 'रंग विनोद लीला' में श्रीध्रुवदासजी ने नव रसों का भी उल्लेख किया है, किन्तु वे सब श्रीराधा-श्यामसुन्दर की दिव्य-प्रेम केलि और उसमें प्रकट होने वाले अनुभावों तक ही सीमित हैं।

श्री गौड़ीय एवं श्रीराधावल्लभीय प्रेम पद्धतियों में अन्तिम मुख्य भेद यह है कि जहाँ श्रीचैतन्य सम्प्रदाय की पद्धति प्रेम स्वरूपी भगवान् 'ब्रजेशतनय' को आराध्य मान कर विकसित हुई है वहाँ श्रीराधावल्लभीय पद्धति का विकास भगवत् स्वरूप प्रेम किंवा हित को परात्पर तत्त्व मानकर होता है। प्रथम योजना भगवान एवं उनकी विविध शक्तियों को आधार बनाकर चलती है और दूसरी-प्रेम के मनोवैज्ञानिक रूप पर आधारित है। उदाहरण के लिए श्रीराधा-श्यामसुन्दर के स्वरूपों को ही ले लीजिये। गौडीय पद्धति में ये दोनों शक्ति और शक्तिमान हैं—श्रीराधा आह्लादिनी शक्ति है और श्रीश्यामसुन्दर शक्तिमान राधाबल्लभीय रसिकों की मान्यता के अनुसार परात्पर प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति, उसके सहज भोग्य-भोक्ता श्रीश्यामा-श्याम हैं। इनमें श्रीश्याम-सुन्दर भोक्ता हैं और राधा भोग्य।

हम देखते हैं कि दो व्यक्तियों के बीच के एक मधुर सम्बन्ध का नाम प्रेम है। प्रेम एक नाता है। मानव समाज में चार नाते मुख्य माने जाते हैं—स्वामी और सेवक का नाता, माता और पुत्र का नाता, मित्र और मित्र का नाता एवं पति और पत्नि का नाता। इन चार नातों पर ही भक्ति के चार मुख्य रस—दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर आधारित हैं। प्रेम-बन्धन में आवद्ध दो व्यक्तियों में एक प्रेमी होता है और दूसरा प्रेमपात्र, एक भोक्ता होता है, और दूसरा भोग्य। प्रेम चाहे चैतन्य के प्रति हो या जड़ पदार्थ के प्रति हो या किसी भावनात्मक पदार्थ के प्रति हो भोक्ता-भोग्य का क्रम सर्वत्र विद्यमान रहता है।

अतः प्रेम के अस्तित्व के लिए 'दो' की आवश्यकता है। इसके साथ प्रेम का एक तीसरा अंग भी दिखलाई देता है और वह है 'प्रेम-सम्बन्ध'। सामान्यतया प्रेम-सम्बन्ध को ही प्रेम कहते हैं। यह प्रेम सम्बन्ध वस्तुतः प्रेम के अन्य दो अंगों से कई अंशों में अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि यह प्रेमी और प्रेमपात्र के स्वरूपों का नियामक होता है। जैसा प्रेम सम्बन्ध होता है, वैसे ही उसमें प्रेमी आवद्ध प्रेमी होते हैं ? प्रेमियों के स्तर का निर्धारण उनका प्रेम सम्बन्ध सरलता से कर देता है।

संसार में, पाशविक प्रेम से आरम्भ करके प्रेम की अनेक कोटियाँ देखने को मिलती हैं। प्रेम में स्वसुख वासना की अधिकता और न्यूनता के आधार पर उसकी

कोटियों का निर्णय होता है। जिस प्रेम में अपने सुख की कामना जितनी कम होती है, वह उतनी ही उच्चकोटि का माना जाता है। सर्वथा स्वसुख वासना शून्य प्रेम के दर्शन संसार के प्रेमियों में नहीं होते, कवि एवं दार्शनिक सभ्यता के आरम्भ से ही इस प्रकार के प्रेम की कल्पना करते आये हैं और अनेकों ने अपने पात्रों के माध्यम से इसका आचरण भी प्रदर्शित किया है, किन्तु प्लेटो से लेकर सान्तायन तक आदर्श प्रेम की जितनी कल्पनाएँ की गई हैं उनमें भाव की ऊष्मा के दर्शन नहीं होते और वे सहज दिमागी आयास बनकर रह गई हैं—भाव के स्वरूप को यथावत कायम रखकर उसे पूर्ण तत्सुखमय बना देने की क्षमता सांसारिक प्रेम में नहीं है। इसमें अपने सुख की कामना किसी न किसी रूप में रही ही आती है। अनेक रसिकों की दृष्टि में सम्पूर्ण तथा प्रियतम सुख के तात्पर्यमय प्रेम का आचरण व्रज की गोपिकाओं ने भगवान् श्री नन्दनन्दन के प्रति किया था, किन्तु राधावल्लभ-सम्प्रदाय के रसिक महानुभावों ने गोपियों के प्रेम से सखियों के प्रेम को अधिक निष्काम बताया है—

श्रीध्रुवदास जी ने कहा है—

गोपिन के सम भक्त न आँही, उद्धव विधि तिनकी रज चाहीं।
तिन तन कछु सकामता आई, तातें विच अन्तर पर्यो माई॥

—अनुरागलता २३-२४

इनकी दृष्टि में अत्यन्त मधुर सहज महाप्रेम अन्य सब प्रेमों में विलक्षण होता है। इसमें मिलना-बिछुड़ना नहीं होता और दोनों प्रेमी पारस्परिक रूप का दर्शन करके जीवित रहते हैं—

महाप्रेम निज मधुर अति, सबतें न्यारौ आहि।
तहाँ न मिलिबौ बिछुरिबौ, जीवत रूपहि चाहि॥

—ख्याल हुलास

सामान्यतया विरह के द्वारा संयोग सुख की पुष्टि मानी जाती है और आलंकारिकों तथा भक्तिरस के उन्नायकों ने समान रूप से प्रेम के चरमानुभव के लिए विरहानुभूति को अनिवार्य बताया है, किन्तु ध्रुवदास अपने 'सिद्धान्त विचार' में स्वोपासित प्रेम की प्रकृति का सुललित ब्रजभाषा गद्य में विवेचन करते हुए कहते हैं, "कोऊ कहै कि मान (विरह) तौ रस को पोषक है अरु रुचि बढ़ावै। सु यह प्रेम साधारण जानिवौ। इहाँ यों नाँहि। नित्य छिन-छिन प्रीतिरस-सिन्धुतें तरंग रुचि के उठत रहत हैं—नये-नये। तहाँ श्रीस्वामीजी कौ पद—जब जब देखौं तेरौ मुख तब तब नयौ-नयौ लागत। अरु श्रीजी की बानी—करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर। तातें प्रेम विरह अनेक भाँति है,—जैसौ जहाँ प्रेम है, तैसौ तहाँ विरह है, जहाँ स्थूल प्रेम, तहाँ स्थूल विरह, जो कोऊ कहे स्थूल कहा सूक्ष्म कहा ? सूक्ष्म प्रेम या सों

कहिये जो एक सेज पर रूप देखत-चन्द चकोर ज्यौं, नैनांचल ओट भये महा कठिन दशा होई। अरु देह न्यारी नांहि सहि सकत, यह हू विरह मानत है। तहाँ की बात श्रीगुसांई हू जू गाई। यहाँ श्रीजी की बानी—श्रुति पर कंज दृगंजन, कुच विच मृग मद ह्वै न समात। हित हरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात ।। अरु श्रीस्वामीजी को पद—

ऐसी जिय होत जो जिय सौं जिय मिलै,
तन सौं तन समाइ लेउँ तौ देखौ कहा हो प्यारो ।

यह प्रेम अति तीव्र है। जा पर श्रीजू के रसिक भक्तन की कृपा होइ, तब उर में आवै। ऐसे अद्भुत प्रेम में और भाँति कौ विरह न समावै। जो फूलन की माला देखे कुम्हिलाइ ताको असिवर कौ दिखाइबौ अनीत है। भ्रम हू कौ विरह कहत डर आवै। या प्रेम में न स्थूल प्रेम की समाई, न स्थूल विरह की समाई, न मान की। एक रस यह प्रेम ही विरह रूप है।"

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में इस पूर्ण तत्सुखमय अद्भुत प्रेम को 'हित' कहा जाता है। हित शब्द में अन्य का कल्याण और सुख निहित है। अतः प्रेम शब्द के अपर पर्याय के रूप में उक्त शब्द को सम्प्रदाय में ग्रहण किया गया है। यही अन्य सुखैक तात्पर्यमय प्रेम किंवा हित सम्प्रदाय में परात्पर तत्त्व माना जाता है। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में प्रेम स्वरूप भगवान् 'व्रजेशतनय' परात्पर तत्त्व हैं, और उनको लेकर ही सम्पूर्ण—गौड़ीय तत्त्व चिंतन और रस सिद्धान्त विकसित हुआ है। इधर राधावल्लभीय रस पद्धति एवं उपासना मार्ग का निर्माण भगवत् स्वरूप प्रेम को अन्तिम तत्त्व स्वीकार करके हुआ है। इस पद्धति के अनुसार एक हित किंवा पूर्ण तत्सुखमय प्रेम ही श्रीराधा, श्यामसुन्दर, श्रीवृन्दावन एवं सहचरी गण, के रूप में अभिव्यक्त होकर अनाद्यनंत प्रेम विलास में संलग्न है। इन चारों में श्रीवृन्दावन का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है, क्यों कि इसके रूप में श्रीश्यामाश्याम का नित्य प्रेम-सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है और भोक्ता भोग्य की पारस्परिक रति ही उनका प्रेम-सम्बन्ध कहलाती हैं। सेवकजी ने अपनी रचना के प्रथम प्रकरण में श्रीहिताचार्य के धर्म का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताया है कि इस धर्म की स्थिति उस वृन्दावन में है जहाँ प्रेम का सागर बहता रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस धर्म की आधार भूमि श्रीवृन्दावन हैं। इसीलिए सम्प्रदाय के वाणी ग्रन्थों में श्रीश्यामश्यामा की प्रेम लीलाओं का वर्णन बहुधा वृन्दावन के सरस वर्णनों से आरम्भ होता है। श्रीहिताचार्य के समकालीन रसिकवर श्रीहरिराम व्यास ने अपने एक पद में कहा है कि 'वृन्दावन हरिवंश प्रसंसत सुन गोरी मुसिकात'—श्री-हरिवंश के मुख से वृन्दावन की प्रशंसा सुनकर गोरी श्रीराधा हर्षित होती हैं। श्री-वृन्दावन के रूप में, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, श्रीराधा और उनके प्रियतम की प्रीति मूर्तिमती हुई है और अपनी प्रीति की प्रशंसा सुनकर श्रीराधा का हर्षित होना

स्वाभाविक है। श्रीश्यामाश्याम की अद्भुत प्रीति का दुलार सखियों की प्रेमोपासना का मेरुदण्ड है—'लाल लड़ैती का प्रेम सखी दुलरावहीं'।

रसिक महानुभावोंने श्रीवृन्दावन की प्रेम-मयता एवं अलौकिक सुषमा का वर्णन अनेक विधि से किया है। श्रीहिताचार्य ने अपने बसन्त और होली के पदों में तो वृन्दावन का वर्णन विस्तार पूर्वक किया ही है, उनके रास-विलास के पदों में भी श्री के बड़े वृन्दावन मार्मिक उल्लेख बिखरे हुए हैं, इनसे प्रेरणा ग्रहण करके श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती एवं ध्रुवदास ने स्वतन्त्र 'वृन्दावन शतकों' की रचना की है। इन महानुभावों की रचनाओं में श्रीवृन्दावन के स्वरूप से सम्बन्धित जो संकेत प्राप्त होते हैं, उनमें से कुछ का परिगणन नीचे किया जाता है।

(१) श्रीवृन्दावन रति स्वरूप है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने इसको अत्यन्त शुद्ध और अत्यन्त पूर्ण उन्मादक आद्यभाव (रति) का प्रकट रूप माना है। श्रीनेही नागरीदास ने अपने नागरी अष्टक में विपिन को 'आसक्ति हद' बताया है—रूप हद लाडिली, लाल लावण्य हद, नेह हद हरिवंश, विपिन आसक्ति हद।

(२) श्री वृन्दावन के चारों ओर शृङ्गार रस की सरिता प्रवाहित रहकर उसका सिंचन करती रहती है—'सरिता रस सिंगार की जगमगात चहुँ ओर।
—श्रीध्रुवदास

(३) श्रीवृन्दावन में सर्वत्र फूल ही फूल दिखाई देते हैं तहाँ का कोई भी द्रुम बेली पक्षी अथवा सहचरी फूल (फूलना) विहीन नहीं है।

(४) श्रीवृन्दावन में आनन्द सिन्धु के तरंग उठते रहते हैं और अनुराग के मेघ मंद-मंद वर्षन करते रहते हैं।

(५) श्रीवृन्दावन का यमुना पुलिन अत्यन्त पावन है। श्रीहिताचार्य ने अपने अनेक पदों में पुलिन की पवित्रता का उल्लेख किया है।

(६) श्रीवृन्दावन मंडलाकार है जो उसके अनादित्त्व और अनन्तत्त्व का सूचक है उसको चिन्मय धाम माना गया है और उसकी दृश्यमान जड़ता के अनेक कारण बताये हैं। उसको परात्पर प्रेम तत्त्व की एक विशिष्ट परिणति मानने वाले राधावल्लभ सम्प्रदाय में वृन्दावन की जड़ता को प्रेमरस की जड़िमा माना जाता है। श्रीहिताचार्य ने इस जड़ता को श्रीराधा के हृदय में लक्षित किया है—'श्री राधे हृदि ते रसेन जड़िमा ध्यानेस्तु मे गोचरः।' श्रीवृन्दावन धाम का 'धाम' शब्द 'हृदय' का ही अपार पर्याय है।

(७) श्रीवृन्दावन में शरद और वसंत ऋतुएँ नित्य वर्तमान रहती हैं।

श्रीवृन्दावन के उपर्युक्त स्वरूप लक्षणा स्वभावतः श्रीराधाश्यामसुन्दर की प्रीति के भी लक्षण हैं। रसिक उपासकों की प्रकट-उपासना के लिए ही मानों श्रीवृन्दावन ने

इन दिव्य लक्षणों को अपने तन में प्रकट कर रखा है। श्रीश्यामाश्याम की रति वृन्दावन के स्वरूप की भाँति उत्फुल्लता पूर्ण, श्रृंगार रस सिंचित, परम आनन्दमयी, अनुराग वर्षिणी, परम पावन अनादि-अनन्त चिन्मय होते हुए भी रस जड़िमा पूर्ण, रंगीन और उज्ज्वल है।

अपने अनाद्यनंत नित्य प्रेम विहार में श्रीराधा-श्यामसुन्दर इस अद्‌भुत रति का ही उपभोग करते रहते हैं। श्रीवृन्दावन के कण-कण में अपना रति का प्रतिबिम्ब देखकर उनकी प्रीति सहज रूप से उद्‌दीप्त होती रहती है। इसीलिये वे कृतज्ञता पूर्ण हृदय से उसका गुणगान करते हैं—गावत वृन्दाविपिन गुण नवल लाड़िली लाल।

—श्रीध्रुवदास

परात्पर हित की चौथी एवं अन्तिम परिणति सहचरीगण हैं। सहचरियों में भी श्रीश्यामा-श्याम की पारस्परिक रति ही मूर्तिमती हुई है। श्रीवृन्दावन में इस रति की जड़ता और सहचरियों के रूप में इसकी चपलता प्रकट-प्रत्यक्ष हुई है। सखियाँ ही श्रीश्यामा-श्याम की नित्य केलि की प्रयोजक और नियामक हैं।

ये सब श्रीराधा किंकरियाँ हैं और श्रीश्यामसुन्दर से उनका नाता उनके श्री राधापति होने के कारण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन दोनों के प्रति सखियों के प्रेम में कुछ तारतम्य है। इनकी आनन्दमयी उत्फुल्लता का कारण ही यह है कि दोनों वृन्दावन चन्द्र ही उनके एक मात्र जीवन हैं।

फूलीं अंग न मात हैं भरी रंग आनन्द।
जीवन सबके एक ही विवि वृन्दावन चन्द॥

—श्रीध्रुवदास

वस्तुतः सखियाँ श्रीश्यामाश्याम के पारस्परिक प्रेम से आसक्त हैं। श्रीहिताचार्य ने अपने एक पद के अन्त में बड़े सूक्ष्म प्रतीकों का उपयोग करके सखियों के सुखानुभव के स्त्रोत की ओर मार्मिक संकेत किया है। वे कहते हैं कि युगल श्रीश्यामाश्याम के मिलन रूपी सिन्धु में श्रृङ्गारिक-प्रेम का जो कमल खिल रहा है, उसके मकरन्द का पान मैं भ्रमर की भाँति करता हूँ।

श्रीध्रुवदास ने इसको स्पष्ट करते हुए बताया है कि नवल युगल-किशोर सहज प्रेम की सीमा हैं। सखियों का प्रेम उनके प्रेम के साथ है। अतः उनके सुख का छोर नहीं है—वह असीम है। रसिक महानुभावों ने सखियों के प्रेम को श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम से 'सरस' बताया है—लाल लाडिली प्रेम तें सरस सखिन को प्रेम, इसका कारण यह है कि प्रेम की अतृप्ति जनित पीड़ा तथा उसकी सहज वक्रगति सखियों की प्रीति का स्पर्श नहीं करती। ये दोनों तो श्रीश्यामाश्याम के प्रणय के अंग हैं और इनकी अनु-

भूति उन तक ही सीमित रहती है। लौकिक काव्य में निवद्ध करुणा कथानक जिस प्रकार सहृदय से निर्विघ्न करुण रस के रूप में आस्वादित होता है, सखियों द्वारा श्रीश्यामाश्याम के प्रेम-विहार का आस्वाद वैसा ही कुछ शुद्ध आनन्दमय समझना चाहिए। किन्तु सखियों की सहृदय अथवा सामाजिक के साथ तुलना यहीं समाप्त हो जाती है, क्योंकि सखियाँ प्रेमलीला की आस्वादक होने के साथ उसकी प्रयोजक भी होती हैं।

सखियों के अस्तित्व का एकमात्र प्रयोजन प्रेम और रूप के अनन्त अथाह सिन्धु श्रीश्यामाश्याम की लाड़-दुलार पूर्ण सेवा करना है। वे श्रीश्यामाश्याम की रुचि का पूर्णतमा अनुसरण करके रुचिपूर्वक उनकी सेवा करती हैं, इसीलिए उनकी परिचर्या सहज रूप से तत्सुखमयी बनी रहती है। इसीलिये महानुभावों ने सहचरियों की सेवा के स्थूल वर्णनों के उसके बड़े सूक्ष्म सरस प्रकार भी बताये हैं। चाचा वृन्दावनदास जी ने एक स्थान पर कहा है, कि सहचरियाँ श्रीश्यामाश्याम का उस प्रकार सेवन करती हैं जैसे वसंत ऋतु कुसुमों का बसन्त के आगमन के साथ पृथ्वी पर पुष्प सम्पदा खिल उठती हैं और उनमें नये-नये रंग फूटने लगते हैं। सखियों की प्रेममयी सेवा से सखियों की सद्यस्कता, उत्फुल्लता और रंगीनी में नित्य नई वृद्धि होती रहती है।

परात्पर हित की चारों परिणतियाँ स्वभावतः पूर्ण हितस्वरूप हैं जैसा हम ऊपर देख चुके हैं ये सब हित के विविध अंगों के सहज स्वाभाविक मूर्तरूप हैं।

श्रीध्रुवदास ने बताया है कि श्रीश्यामाश्याम प्रेम के ही खिलौने हैं और प्रेम का ही खेल खेल रहे हैं—'प्रेम के खिलौना दोऊ खेलत हैं प्रेम खेल।' श्रीवृन्दावन और सहचरीगण इस प्रेम खेल के प्रयोजक और उन्नायक हैं। इन चारों की परमानन्दमयी, परमरसमयी, पूर्णतत्सुखमयी, अत्यन्तप्रमत्त, 'जगतपावनी' श्रृङ्गार केलि का ही नाम 'नित्य-विहार' है। इस अद्भुत केलि में इसके चारों विधायक स्वरूप प्रतिक्षण नूतन प्रेम संभार का परस्पर दान-प्रतिदान करके उसको नित्य नूतन बनाये रखते हैं। इस केलि के नित्यत्त्व का अर्थ है इसका नित्य वर्तमान रहना। श्रीहिताचार्य के अनेक पदों का आरम्भ तो वर्तमान कालवाची 'आज' शब्द से होता ही है, उनके अतिरिक्त श्री स्वामी हरिदास जी, श्रीहरिराम व्यास जी आदि नित्य-विहार गायक रसिक महानुभावों ने भी अपने पदों में उक्त शब्द का यत्र तत्र प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त लीला के पदों में क्रियाओं के रूप तो सर्वत्र वर्तमान काल वाची तो हैं ही।

इस प्रकार नित्य-विहार नित्य-वर्तमान, अविच्छिन्न, एक रस एवं राग रंग युक्त प्रेमानुभव है। हितोपासक श्रीराधावल्लभीय रसिक महानुभाव, सदैव से हित-उदधि की परम रूप लावण्यमयी गौर-श्याम तरंगों के दर्शन करके उन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करते रहे हैं। सहचरि सुख 'हित उदधि' तरंगे गौर-श्याम बलिहार।

—o—

श्रीराधावल्लभीय रस-सिद्धान्त

लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व श्रीवृन्दावन में जिन युगल उपासक वैष्णव सम्प्रदायों का उदय हुआ था उनमें श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की प्रधानता है तथा श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीराधा को। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय की उपासना का परिचायक यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है—

आराध्यो भगवान् ब्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनम्,
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमो पुमर्थो महान्,
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

हमारे आराध्य भगवान नंदनंदन हैं और उनका धाम श्रीवृन्दावन है। व्रज गोपिकाओं द्वारा प्रदर्शित हमारी कोई रमणीय उपासना है। श्रीमद्भागवत हमारा निर्मल प्रमाण ग्रन्थ है और प्रेम हमारा परम पुरुषार्थ है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह मत है और इसके प्रति हमारा परम आदर है। उक्त श्लोक के रचयिता श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के समकालीन श्रीहरिलाल व्यास ने श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना का परिचय श्रीहित हरिवंश गोस्वामी की वन्दना के रूप में इस प्रकार दिया है,

राधेवेष्टं संप्रदायस्य कर्ताऽचार्यो,
राधा मन्त्रदः सद्गुरुश्च।
मंत्रो राधा यस्य सर्वात्मनैवं-
वंदे राधापाद-पद्म प्रधानम्॥

अर्थात् श्रीराधा ही जिनकी इष्ट हैं, श्रीराधा ही जिनके सम्प्रदाय की एकमात्र प्रवर्तक आचार्य हैं, जिनकी मंत्रदाता सद्गुरु श्रीराधा ही हैं, जिनका मंत्र भी श्रीराधा ही है—श्रीराधा-चरण-कमलों की प्रधानता रखने वाले उन श्रीहित हरिवंश को मैं वंदना करता हूँ।

उक्त कारिका श्रीहरिलाल व्यास ने श्रीमद्राधा रस-सुधा-निधि की अपनी प्रसिद्ध एवं अत्यन्त विशाल टीका 'रसकुल्या' के मंगलाचरण में दी है। इसमें उन्होंने श्रीहित हरिवंश गोस्वामी के सम्बन्ध में 'भक्तमाल' में दिये हुए नाभाजी के छप्पय के 'श्रीराधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी' की व्याख्या की है।

श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में आराध्य 'भगवान ब्रजेश तनय' होते हुए भी श्रीराधा का बहुत अधिक महत्त्व है और उनकी कृपा के बिना श्रीश्यामसुन्दर की प्राप्ति संभव नहीं मानी जाती। इस सम्बन्ध में श्रीजीव गोस्वामी का यह सुन्दर श्लोक प्रसिद्ध है,

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्मम्,
अनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत् पदांकाम्।
असम्भाष्य तद्भाव गंभीरचित्तान्,
कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः ।।

अर्थात् श्रीराधा के युगल चरण कमलों का आराधन किये बिना, उनके चरणों से अंकित वृन्दाटवी का आश्रय लिये बिना, उनके भाव से गंभीर बने चित्तवाले महानुभावों से संभाषण किये बिना श्याम सिंधु के रस का अवगाहन कैसे संभव है?

श्रीराधा श्रीकृष्ण की अन्तरंगाह्लादिनी शक्ति हैं। इस शक्ति के विकास से ही भगवान अपने स्वरूपगत आनन्द और प्रेम का आस्वाद करते हैं अन्यथा आनन्दस्वरूप होते हुए भी वे निरानंद रह जाते। गोविन्द लीलामृत (८-३२) में कहा गया है कि श्रीकृष्ण जब श्रीराधा के साथ सुशोभित होते हैं तभी वे मदन को मोहित करने वाले होते हैं अन्यथा स्वयं विश्वमोहन होते हुए भी मदन के द्वारा मोहित रहते हैं,

राधासंगे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः ।।

वैष्णव सिद्धान्त प्रधानतया पुराणों एवं वैष्णव तन्त्रों पर आधारित हैं। इनमें उपास्य तत्त्व का निर्वचन नाना शक्तियों से मण्डित भगवान के रूप में किया गया है। प्रेम भगवान की अन्तरंगाह्लादिनी शक्ति का सार माना जाता है अतः प्रेम को भी भगवान के अधीन ही होना चाहिये। किन्तु श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में उल्लिखित अनेक भगवद्वचनों से यह सिद्ध होता है कि भगवान सर्वतोभावेन प्रेम के अधीन हैं। इन दोनों अधीनताओं में से वास्तविक एक ही हो सकती है—या तो प्रेम भगवान के अधीन होगा या भगवान प्रेम के अधीन रहेंगे। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में इस विसंगति का अपने ढंग से प्रतिकार किया गया है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में इससे बचने के लिए प्रेमस्वरूप भगवान के स्थान में भगवत्स्वरूप प्रेम को परतत्त्व के रूप में स्थापित कर देने से शक्ति-शक्तिमान्, गुण-गुणी आदि की समस्त योजनायें निरस्त हो जाती हैं और सिद्धांत का विकास प्रेम की प्रकृति के अनुसार होने लगता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दो व्यक्तियों के बीच के एक परम मधुर सम्बन्ध का नाम प्रेम है। यह सम्बन्ध इस प्रकार का है कि दो व्यक्तियों के बीच उत्पन्न होकर, उन दो को एक बना देता है। जिन दो व्यक्तियों में प्रेम उत्पन्न होता है उनमें से एक प्रेमी होता है और दूसरा प्रेमपात्र। इन दोनों को दो से एक बनाने वाला इनका प्रेम

सम्बन्ध होता है और इस प्रकार प्रेम के तीन अंग प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं—प्रेमी, प्रेम-पात्र और उनका प्रेम-सम्बन्ध । इन तीनों की प्रधान वृत्तियों को लक्षित कराने के लिये, राधावल्लभीय प्रेम दर्शन में, इनको भोक्ता, भोग्य और प्रेरक-प्रेम कहा जाता है। भोक्ता और भोग्य के विभिन्न स्वरूपों का नियामक और प्रेरक उनका प्रेम-सम्बन्ध होता है इसीसे उसको प्रेरक-प्रेम कहा जाता है । परात्पर प्रेम के सहज भोक्ता श्रीश्यामसुन्दर, सहज भोग्य श्रीवृषभानुनंदिनी एवं प्रेरक-प्रेम की सहज मूर्ति सखीगण हैं । श्वेताश्वतर श्रुति ने त्रिविध ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया है और इस अद्वय ब्रह्म के तीनों अंगों में परस्पर भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता का सम्बन्ध माना है एवं बिलकुल इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है ।

> एतज्जेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं न किंचित् ।
> भोक्ता-भोग्यं-प्रेरितारंच मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।
>
> (श्वेता० १-१२)

साधारणतया भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता से क्रमशः जीवजगत् और ईश्वर को लक्षित माना जाता है और भोक्तृत्व, भोग्यत्व एवं प्रेरकत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित यह तीनों हैं भी । किन्तु इन सम्बन्धों की पूर्णता परात्पर प्रेम तत्त्व में ही प्रकाशित होती है । प्रेम में यह सम्बन्ध परस्पर परम आनन्द के विधायक होते हैं, क्योंकि प्रेम के भोक्ता और भोग्य अपने विभिन्न स्वरूपों में स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे के सर्वथा अधीन हैं और 'प्रेरिता' प्रेम इन दोनों की पारस्परिक रतिका रूप होने के कारण दास किंवा सखा के समान इनका प्रेरक होता है, ईश्वर के समान नहीं ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम को नीचे से ऊपर तक एक अखण्ड पदार्थ माना जाता है । कहा गया है कि जो रसरीति सबसे दूर है वही सम्पूर्ण विश्व में भरपूर है । इस दृष्टि से भगवान के प्रति नियोजित प्रेम एवं सांसारिक प्रेम तत्त्वतः एक ही भगवत् स्वरूप प्रेम की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं । सुनने में बात बहुत अटपटी लगती है । इसको तभी समझा जा सकता है जब हम इस सर्वमान्य दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार करें कि जीव और भगवान में किंवा आत्मा और परमात्मा में तात्त्विक एकता है । जब एक दूसरे से सर्वथा विपरीत दिखलाई देने वाले जीव और भगवान तत्त्वतः एक माने जा सकते हैं तो मायिक प्रेम और भगवत् प्रेम की मौलिक एकता को भी लक्षित किया जा सकता है । भगवद् अंश जीव भगवद् अभिमुख होकर ही अपने अंशी की निकटता प्राप्त करता है । उसी प्रकार सांसारिक प्रेम भी दिव्यातिदिव्य प्रेम सौन्दर्य सागर की ओर उन्मुख होकर अपने परम मांगलिक निरतिशय सुखमय स्वरूप को प्राप्त करता है ।

प्रेम की इस अखण्ड सार्वभौम सत्ता के ऊपर ही राधावल्लभीय रस-सिद्धान्त खड़ा हुआ है । इसमें श्रीश्यामाश्याम को परम प्रेमी के रूप में उपस्थित किया गया है । ये दोनों न शक्ति-शक्तिमान हैं, न प्रकृति पुरुष हैं और न अन्य कुछ हैं । ये तो शुद्धतम

प्रेम सौन्दर्य की एक ही साँचे में ढाली हुई दो मूर्तियाँ हैं। इनके रूप, गुण, वय, बल समान हैं और ये दोनों अनाद्यनन्त प्रेम-आस्वादन में निमग्न हैं। इनमें श्रीश्यामसुन्दर प्रेमी हैं और श्रीराधा प्रेमपात्र; श्रीश्यामसुन्दर प्रीति के आश्रय हैं और श्रीराधा उसका विषय। प्रेम में सदैव प्रेमपात्र के विषय की सहज रूप से प्रधानता होती है। पुराणों में एवं उन पर आधृत वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीराधा सहित समस्त गोपीजनों के प्रेमपात्र भगवान ब्रजेन्द्रनन्दन हैं। अतः उनकी वहाँ सहज प्रधानता है—श्रीराधा का गौरव तो उनके प्रेमाधिक्य के कारण है। गौड़ीय सिद्धान्त में मादनाख्य महाभाव की स्थिति केवल श्रीराधा में मानी गयी है। श्रीकृष्ण पूर्णानन्दमय चिन्मय पूर्ण तत्त्व हैं तथापि श्रीराधिका का प्रेम उनको भी सदा नचाता रहता है। श्रीचैतन्य चरितामृत में यह बात श्रीकृष्ण ने स्वयं कही है।

पूर्णानन्द मय आमि, चिन्मय पूर्णतत्त्व।
राधिकार प्रेमे आमाय कराय उन्मत॥
ना जानी राधार प्रेमे आछे कत बल।
ये बले आमारे करे सर्वदा विह्वल॥
राधिकार प्रेम गुरु, आमि शिष्य नट।
सदा आमा नाना नृत्य नाचाय उद्‌भट॥

हित सिद्धान्त में श्रीश्यामा-श्याम में समान रस की स्थिति मानी गई है। श्रीहित चौरासी के एक पद में दम्पति (श्रीयुगल) के रस को समतल बताया गया है—दम्पति रस समतूल। (हि० चौ० ३२) प्रेम के अतिरिक्त दोनों का सौन्दर्य भी समान कोटि का माना जाता है। श्रीध्रुवदास ने कहा है कि ललिता सखी आनन्द के रंग में भरी हुई श्रीयुगल की छबि को इस प्रकार देखती रहती हैं कि मानो अपने नेत्रों की तराजू बनाकर वे दोनों के रूपों को तौल रही हों और इनमें से अधिक रूपवान कौन है इसका निर्णय न कर पा रही हों। "ललिता आनन्द रंग भरी विविमुख चितै अनूप। मनहु नैन नरजा किये, तौल्यौ करत हैं रूप॥" अन्यत्र उन्होंने कहा है कि जैसे दोनों नेत्रों में किसी को छोटा या बड़ा नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार श्रीश्यामा-श्याम के सौन्दर्य में श्रेष्ठ कनिष्ठ का निर्णय नहीं हो सकता। 'घट बढ़ कहे न जात हैं जैसे दोऊ नैन।'

अतः श्रीराधा की प्रधानता का आधार उनका प्रेमाधिक्य किंवा सौन्दर्याधिक्य नहीं है। उनकी प्रधानता इसलिये है कि वे श्रीश्यामसुन्दर एवं सम्पूर्ण सखीजनों की एकमात्र प्रेमपात्र हैं और यह ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेमी और प्रेमपात्र में प्रधानता प्रेमपात्र की होती है अतः उनकी यह प्रधानता सहज है। श्रीहिताचार्य ने श्रीराधा की इस सहज प्रधानता को लेकर ही अपनी रचनाओं में श्रीवृन्दावन-रसरीति का विकास किया है जो गौड़ीय रस पद्धति से मूलतः भिन्न है। ▭

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी और रासलीलानुकरण

श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण प्रेममयी व्रजलीलाओं में रास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं रस-सिक्त लीला है। यह श्रृङ्गार रस की लीला है और सब रसों में श्रृङ्गार को रस-राज माना जाता है। यह लीला सबसे अधिक रहस्यपूर्ण भी है क्योंकि इसकी संगति न तो लोकमर्यादा के साथ बैठती है और न वैदिक अनुशासनों के साथ। आरम्भ से ही विभिन्न रुचि एवं मतों के लोग इसे समझने की चेष्टा करते रहे हैं। चाचा वृन्दावन-दास के शब्दों में पण्डित और अनाडी दोनों ही इस लीला के सम्बन्ध में बुद्धिबल का प्रयोग करते रहे हैं और करते रहेंगे 'बुद्धिबल करत कर गये, करि हैं पण्डित और अनारी' पंडित लोग जब इस पर विचार करते हैं तो उनको यह लीला एक भव्य रूपक प्रतीत होती है, जिसमें आत्मा-परमात्मा के मधुर मिलन को व्यक्त किया गया है। इसमें श्रृंगारिक चेष्टाओं के जो अत्यन्त रमणीक चित्र मिलते हैं वे इस रूपक को हृदय-ग्राही और आकर्षक बनाते हैं। विदेशी पण्डित भी प्रायः इसी सारिणी पर विचार प्रकट करते रहे हैं।

दूसरी ओर अनाड़ी लोग इस श्रृंगारमयी लीला को लौकिक श्रृंगार का धार्मिक संस्करण मात्र मानते हैं। इनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण और गोपीजनों का रास विलास लोक के नायक नायिकाओं के श्रृंगार सम्बन्ध जैसा ही है। यहाँ पर एक संस्मरण सुना देना अप्रासंगिक न होगा। एक बार काठियाबाड़ के एक राजघराने की एक वृद्ध एवं साधनारूढ़ महिला श्रीवृन्दावन आई थीं। वे एक लाख नाम लेने के बाद ही अन्न-जल ग्रहण करती थीं। मैंने उनकी सुदृढ़ धार्मिक रुचि देखकर उनको वृन्दावन का प्रमुख आकर्षण रासलीला देखने की सलाह दी, किन्तु उन्होंने कोई उत्साह नहीं दिखाया। दूसरे दिन पुनः यही आग्रह करने पर उन्होंने कुछ हिचकिचाते हुये कहा कि रासलीला में जो कुछ होता है वह तो संसारी जीव जीवन भर देखता सुनता और करता रहता है। इस लीला के दर्शन से तो मन की उन श्रृंगारिक वृत्तियों का ही जागरण होगा जिनको दमित करने की मैंने जीवन भर चेष्टा की है। मुझे तो आप किसी ऐसी जगह भेजिये जहाँ मुझे निर्वृत्ति प्राप्त हो। उनकी दृष्टि से बात ठीक थी। अस्तु मुझे अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा।

वास्तव में, रासलीला के मर्म को बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह शुद्ध भावमयी लीला है और जिन प्रेमी भक्तों का मन श्रीकृष्ण के रति अथवा श्रीराधा-रति के उन्मेष से अत्यन्त सरस एवं निर्मल बन गया है वे ही इस अद्भुत प्रेम-क्रीड़ा का 'आस्वादन' कर पाते हैं। पर इसे 'समझ लेना' इन लोगों की भी बुद्धि से बाहर की बात है।

सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में श्रीकृष्ण-प्रेम की जो परम पावन और उद्दाम लहर व्रज में उठी थी उसने कई प्रेमोपासक भक्ति सम्प्रदायों को जन्म दिया। इनमें से चैतन्य एवं वल्लभ सम्प्रदायों में भावानुशीलन के लिये श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण व्रज-लीलाओं का ग्रहण किया जाता है। श्रीहित हरिवंश गोस्वामी द्वारा, उसी काल में, स्थापित श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में केवल एक लीला रासलीला का ग्रहण है, अन्य लीलाओं का नहीं। श्रीहिताचार्य की रचनाओं में सबसे अधिक रास के पद मिलते हैं। इन पदों में उनकी रासलीला सम्बन्धी दृष्टि प्रतिबिम्बित है। नाभाजी ने उनको 'राधा चरण प्रधान हृदय कहा है और यह प्रधानता ही उनके सम्पूर्ण रस गान का मुख्य स्वर है। श्रीराधा की प्रधानता वाली अहैतुक श्रृंगार क्रीड़ाएँ नित्यविहार की लीलाएँ कही जाती हैं। रसौन्मेष की अविच्छिनता इन लीलाओं का प्रधान लक्षण है। श्रीध्रुवदास ने नित्य-विहार को अखण्डित रस धारा कहा है। "नित्य विहार अखण्डित धारा, एक वैस रस जुगल निहारा।" साथ ही ध्रुवदास जी ने नित्य-विहार की श्रृंगार केलि को राग रंग युक्त प्रेम रस बतलाया है जिसमें क्षण-क्षण में आनन्द सिन्धु के तरंग उठते रहते हैं—

राग रंग युत प्रेम रस, अद्भुत केलि अनंग।'
छिन-छिन आनन्द सिन्धु के, उठिवौ करत तरंग।।

रासलीला भी नृत्य संगीत युक्त 'अनंग केलि' है किन्तु नित्य-विहार के क्षेत्र में इसके ग्रहण के लिये दो बातें आवश्यक थीं। एक तो श्रीराधा की प्रधानता और दूसरी रसानुभव की अखण्डता। अपने रास के पदों में श्रीहिताचार्य ने प्रथम आवश्यकता की पूर्ति बड़े कौशल के साथ की है। उदाहरण के लिये हित चौरासी का एक अत्यन्त प्रसिद्ध रास का पद देखिये—

आज गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।
शरद विमल नभ चन्द्र विराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी।।
चंपक बकुल मालती मुकलित मत्त मुदित पिक कीर री सजनी।
देशी सुधंग राग रंग नीकौ व्रज जुवतिन की भीर री सजनी।।
मघवा मुदित निसान बजायौ व्रत छाँड्यौ मुनि धीर री सजनी।
जय श्रीहित हरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी।।

इस सुन्दर पद में रास क्रीड़ा का सजीव चित्रण करने के बाद वे कहते हैं कि व्रज वधुओं के साथ मदन गोपाल की इस प्रेम सौन्दर्यमयी क्रीड़ा का मुख्य हेतु उनके बाम पार्श्व में स्थित श्रीराधा का भावोद्दीपन करना था। रास में अनन्त प्रेम परायण गोपीजनों के रहते हुये भी श्यामसुन्दर की सघन प्रेम पीड़ा का अपनोदन मगन मन वाली श्रीराधा के द्वारा ही होता है। रास के अन्य पदों में श्रीहिताचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रीकृष्ण रासलीला आयोजन केवल श्रीराधा प्रसन्नता के लिये ही करते हैं। 'चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुखनिधान रास रच्यौ श्याम तट कलिंद नन्दिनीं ॥' इत्यादि।

प्रेम भाव के अखण्ड उन्मेष में श्रीहिताचार्य की दृष्टि में मिलना-बिछुड़ना-संयोग विरह प्रेमानुभव को विच्छिन्न बना देता है। श्रीध्रुवदास जी ने कहा है कि वियोग में हृदय दुख संतप्त बन जाता है और संयोग में शीतल। इस प्रकार प्रेमानुभव एक दूसरे से भिन्न दो प्रकारों में बँट जाता है और अखण्ड नहीं कहा जा सकता।

"जब बिछुरत तब होत दुख, मिलतहि हियौ सिराइ।
याही में रस द्वै भये, प्रेम कह्यौ नहिं जाय॥

हित चौरासी के एक पद में रासलीला का वेणुनाद से लेकर रास क्रीड़ा तक का वर्णन है किन्तु उसमें भगवान के अन्तर्धान एवं तज्जनित विरह की कोई चर्चा नहीं है। इस पद के प्रथम छन्द में श्रीकृष्ण के रासमण्डल मण्डन स्वरूप का बड़ा चित्ताकर्षक चित्र है—

मोहन मदन त्रिभंगी, मोहन मुनि मन रंगी॥
मोहन मुनि सघन प्रगट परमानन्द गुन गंभीर गुपाला।
शीश किरीट श्रवण मणि कुण्डल उर मंडित बनमाला॥
पीताम्बर तन धातु विचित्रित कलकिंकिणि कटि चंगी।
नख मणि तरणि चरण सरसीरुह मोहन मदन त्रिभंगी॥

इस प्रकार श्रीहिताचार्य ने रासलीला की एक नई विधा का दर्शन किया था और उसी का गान अपने रास के पदों में किया है।

श्रीहित हरिवंश ने वृन्दावन में सेवाकुञ्ज के साथ यमुना तट पर एक रास मण्डल की भी स्थापना की। वे अपनी उपासना में रासमण्डल को इतना महत्त्व देते थे कि उन्होंने अपनी भजनस्थली मानसरोवर में भी एक मण्डल की रचना कराई थी जो अब भी विद्यमान है। वे रास विलास के उपासक थे और उनके रास में विलास और विलास में रास विद्यमान था। सम्प्रदाय के साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार वृन्दावन के रास मण्डल पर उन्होंने व्रजवासी बालकों के द्वारा रासलीलानुकरण का प्रवर्तन किया था। अठारहवीं शती के मध्य में होने वाले जयकृष्ण ने अपने

इतिहास ग्रन्थ "हितकुल शाखा" में बताया है कि उस दिन कार्तिक बदी द्वितीया थी कार्तिक बदी दुतिया को रासमण्डल वेष स्वरूप प्रकाश।' इसीलिये आज भी श्रीराधावल्लभजी, के मन्दिर में दो शरदोत्सव होते हैं, एक आश्विन की पूर्णिमा को, दूसरा कार्तिक बदी द्वितीया को।

इनके सहयोगी श्रीहरिरामजी व्यास के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि प्रगट रासलीला में श्रीराधा के चरणों का नूपुर स्खलित होने पर उन्होंने सब लोगों के सामने अपने यज्ञोपवीत को तोड़कर उससे बांध दिया था। "नौगुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ महत सभा मधि रास के"

रासलीलानुकरण के प्रेमी रसिक सन्तों की एक अविच्छिन्न परम्परा सम्प्रदाय के 'रसिक अनन्य माल' 'रसिक परचयावली' आदि इतिहास ग्रंथों में मिलती है। जयमल जी मोहन माधुरीदास जी, किशोरीदास जी, सुलखान जी एवं हरिनाथ जी आदि के परिचयों में इनकी अन्य विशिष्टताओं के साथ एक विशेषता यह भी बताई गई है कि या तो वे लीलाभिनय में भाग लेते थे या लीला का आयोजन करते थे। खरगसैन जी की 'परचई' में यह बताया गया है कि उन्होंने पूर्णिमा के दिन रासलीला की रचना की और नृत्य के समय श्रीराधा चरणों के नूपुर नाद को सुनते ही शरीर त्याग दिया था—

'रास रच्यौ राका रजनि तन त्यागौ नूपुर नदत।'

उन्नीसवीं शती के एक रसिक सन्त प्रियादास जी ने अपने सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं। उसमें उन्होंने यह बताया है कि उनका जन्म व्रज के एक गाँव दनकौर में हुआ था और वे वहाँ 'हित रीति से रास की रचना करते रहते थे।' 'जन्म भूमि दनकौर रास' हित रीति रचावैं। इससे मालुम होता है कि उस समय हित रीति अर्थात् हिताचार्य की रीति की रासलीला प्रचलित थी। इसमें रासलीला के अतिरिक्त अन्य लीलाओं का अनुकरण नहीं होता था। कुछ दिनों के बाद दर्शकों के अनुरोध पर रासलीला के साथ अन्य लीलाओं का भी अनुकरण होने लगा परन्तु राधावल्लभीय रसिकों में रासलीला का वही एकांगी रूप प्रचलित था।

डॉ० विजयेन्द्र ने अपने ग्रन्थ में इस विषय पर उपलब्ध हित सम्प्रदाय के प्रमाणों का विस्तार से परीक्षण किया है। यहाँ तो इस सम्बन्ध में दो बातें ही कही जा सकी हैं।

०—०

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में सखीभाव

भक्ति भक्तों के हृदय में रहने वाला एक भाव विशेष है। साधारण बोलचाल में हम प्रायः भक्ति के साथ-साथ भाव शब्द लगाकर भक्ति भाव कहते हैं। इस भाव का विनियोग भगवान् के साथ रहता है और स्वयं भगवान् की अथवा उनके सच्चे भक्तों की कृपा इसके उदय में कारण मानी जाती है। भक्ति का इतिहास वेदों के समान ही अनादि है और वहाँ हम उपासना काण्ड के रूप में इसका प्रचलन पाते हैं। किन्तु भारतीय धर्म साधना में अवतारकाल की प्रतिष्ठा करने के बाद इस भाव का क्रमशः पल्लवन प्रारम्भ हो गया। विक्रम की सोलहवींशती तक आते-आते भक्तगण भक्तिभाव का आस्वाद भक्ति के मुख्य पाँचों रसों में करने लगे। वेदों में इन पाँचों रसों के बीज मिल जाते हैं और धार्मिक इतिहास के शोधकार्य में प्रवृत्त विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इनका दिग्दर्शन कराया है।

भक्ति के मुख्य पाँच भाव हैं - शान्ति, प्रीति, सेव्य, वात्सल्य और मधुरा रति। हमारी आज की चर्चा का विषय सखीभाव भी भक्तों के हृदय में रहने वाला भगवद्-विषयक एक भाव विशेष है और उसका अन्तर्भाव उपर्युक्त पाँच भावों में से सख्य में होना चाहिये। अनेक विद्वान ऐसा मानते भी हैं किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में सखियों के भाव का जिस रूप में निरूपण हुआ है उससे यह बात सर्वांशतः सिद्ध नहीं होती। वहाँ सखीभाव एक मिश्रभाव है जिसमें सेव्य तो है ही किन्तु उसके साथ कई ऐसे भाव संश्लिष्ट हैं जो सेव्य में अन्तर्मुक्त नहीं होते। इसके स्पष्टीकरण के लिये राधावल्लभ सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्त की संक्षिप्त रूपरेखा देना आवश्यक बन जाता है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम किंवा हित परात्पर भगवत्तत्त्व माना जाता है। इस सम्प्रदाय के उदय के समकाल में ही वृन्दावन में उदित होने वाली श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में भी श्रीभगवान् को प्रेम स्वरूप माना गया है। दोनों में भेद यह है कि जहाँ गौड़ीय सम्प्रदाय में परतत्त्व के रूप में 'प्रेम स्वरूप भगवान' की प्रतिष्ठा हुई है वहाँ हित सम्प्रदाय में 'भगवत् स्वरूप प्रेम' की। परिणामतः एक में भगवान को लेकर सम्प्रदाय के सिद्धान्त का विकास हुआ है तो दूसरी में प्रेम को लेकर।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम के स्वरूप का निरूपण सामान्य अनुभव के आधार पर हुआ है। हम देखते हैं कि प्रेम एक सम्बन्ध विशेष का नाम है। वह सदैव दो में रहकर उन दोनों को एक बनाये रखता है। प्रेम की परिभाषा देते हुये मोहनजी ने कहा है कि दो मिलकर जिस पथ का दर्शन कराते हैं वही जग में प्रेम कहलाता है।

द्वै मिलि एक पंथ दिखरावहि।
सोई जग में प्रेम कहावहि॥

इस प्रकार प्रेम का अद्वय पथ 'दो' के द्वारा प्रकाशित होता है और प्रेम की रचना इन दो एवं इन दोनों के अद्वय प्रेम सम्बन्ध के द्वारा होती है। साधारण तथा इन दो को प्रेमी और प्रेमपात्र एवं इनके प्रेम सम्बन्ध को प्रेम कहा जाता है। इन तीनों की प्रधान वृत्तियों को लक्षित कराने के लिये इस सम्प्रदाय में इनको भोक्ता, भोग्य और प्रेरक प्रेम कहा गया है। प्रेमी भोक्ता है, प्रेमपात्र भोग्य है और इन दोनों की पारस्परिक रति का मिलित रूप प्रेरक प्रेम है। प्रेरक प्रेम को हित सन्धि भी कहते हैं। भोक्ता और भोग्य की हित सन्धि ही उनके विभिन्न प्रेमस्वरूपों की प्रेरक एवं नियामक होती है। विशुद्ध भगवत् स्वरूप प्रेम के भोक्ता और भोग्य प्रतिक्षण एक दूसरे में डूब जाने के लिये उत्सुक रहते हैं किन्तु इनका अद्‌भुत प्रेम सम्बन्ध ही इनको भिन्न स्वरूपों में स्थित रखकर प्रेम की अनादि-अनन्त क्रीड़ा चालू रखता है। श्वेताश्वतर श्रुति ने त्रिविध ब्रह्म स्वरूप का वर्णन किया है और उस अद्वय ब्रह्म के तीनों रूपों में परस्पर भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता का सम्बन्ध माना है—

"एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परंवेदितव्यं न किंचित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारंचमत्वासर्वंप्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"॥

साधारणतया भोक्ता भोग्य और प्रेरिता से क्रमशः जीव, जगत और ईश्वर को लक्षित माना जाता है किन्तु इन सम्बन्धों की पूर्णता परात्पर प्रेम तत्त्व में ही प्रकाशित होती है। प्रेम में यह सम्बन्ध परस्पर परम आनन्द के विधायक होते हैं क्योंकि प्रेम के भोक्ता और भोग्य अपने विभिन्न स्वरूपों में स्वतन्त्र होते हुये भी एक अधीन है और प्रेरिता प्रेम इन दोनों की पारस्परिक रति का रूप होने के कारण दास किंवा सखा के समान इनका प्रेरक होता है ईश्वर के समान नहीं।

भगवत् स्वरूप प्रेम में जिन अनेक रूपों में पृथ्वी पर अवतार लिया है उनमें श्रीराधा-कृष्ण में ही प्रेम का सर्वातिशायी विशुद्ध रूप प्रकट हुआ है। इस प्रेम के उज्ज्वलतम भोक्ता भोग्य वही माने जाते हैं और यही इस सम्प्रदाय के एकान्त उपास्य हैं। प्रेरक प्रेम की मूर्तियाँ सखीगण हैं। भोक्ता भोग्य की स्वभावतः भिन्न वर्ण वाली दो प्रीतियों के मिलने से इस नवीन प्रकार के अत्यन्त मनोरम प्रीति स्वरूप की रचना हुई है जो दोनों से अभिन्न होते हुये भी भिन्न है, श्यामसुन्दर की अनन्त प्रेमतृषा

तथा श्रीराधा के परम उदार प्रीति सम्भार को अपने हृदय में समाविष्ट करके सखीगण इन दोनों की शुद्ध तत्सुखमयी सेवा में प्रवृत्त रहती हैं। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में भगवत् स्वरूप प्रेम के तीन विधायक तत्त्वों में से सखी अन्यतम हैं।

सखियों के जीवन का एकमात्र तात्पर्य युगल को सुख देना है। सुख देने की अभिलाषा सेवा द्वारा पूर्ण होती है। सखीगण स्वसुख वासना शून्य सेवा की मूर्ति हैं। इनकी सेवा का प्रयोजन सेवा ही है। श्रीध्रुवदास ने इनके सेवा के चाव का वर्णन करते हुये कहा है कि सखीगण अपने मन में सेवा का अमित चाव लिये हुये चारों ओर चकडोर-सी घूमती हैं, वे क्षण-क्षण में युगल श्रीश्यामाश्याम के श्रृंगार की नई-नई सामग्री तैयार करती रहती हैं और तनिक भी नहीं थकतीं। प्रेम के रंग में रंगी हुई वे युगल की अनुपम रूप माधुरी को अतृप्त नेत्रों से निरखती रहती हैं। उनको युगल के रूप छत्र की छाया में रहने के अतिरिक्त अन्य सब स्वाद फीके लगते हैं।

"सखी चहुँ ओर फिरैं चकडोर सी सेवा को चाव बढ़्यौ मन माहीं।
सौंज सिङ्गार नई - नई आनत बानत नेकहुँ हारत नाहीं।।
प्रेम पगी तिहि रङ्ग रंगी निरखैं तिनकौं तन कौन अघाहीं।
और सवाद लगै ध्रुव फीके रहैं विवि रूप के छत्र की छाहीं।।"

सखीगण चार भावों से युगल की सेवा करती हैं पुत्रवत् भाव से, मित्रवत् भाव से, पतिवत् भाव से और आत्मवत् भाव से।

"निशिदिन लाड़ लड़ावहीं अति-माधुर्य सुरीति।
पुत्र मित्र पति आतमवत् उज्ज्वल तत्सुख प्रीति।।"

प्रतिदिन प्रातःकाल युगल को जगाते समय सखियों की अद्भुत प्रीति वात्सल्य से रंजित हो जाती है। उन्मद प्रेम विहार का समस्त रात्रि उपयोग करने के बाद अरुणोदय से कुछ कालपूर्व श्रीराधामोहन शयन कुंज में पधारते हैं। शयन कुंज में केवल मुख्य सखियों को ही सेवा का अधिकार प्राप्त है। शेष सखियाँ बाहर रहकर दूसरे दिन की आवश्यक सेवाओं में व्यस्त रहती हैं और आकुलतापूर्वक दर्शनों की प्रतीक्षा करती रहती हैं। अरुणोदय होते ही वे ललिता आदि मुख्य सखियों से युगल को जगाने को कहती हैं। सब मिलकर जगाने का संकल्प करती हैं किन्तु असमोर्ध्व प्रेमावश से श्रमित नव-दम्पति को किसलय शय्या पर शयन करता देखकर उनके हृदय में वात्सल्य उमड़ आता है और वे किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाती हैं सखियों की इस परम अनुरागमयी द्विविधा के परम मनोहर चित्र राधावल्लभीय साहित्य में उपलब्ध हैं।

इसी प्रकार युगल को भोजन कराते समय तथा विवाह आदि विनोदों की रचना करते समय सखीगण वात्सल्य रंजित प्रीति का आस्वाद करती हैं। चाचा

हित वृन्दावनदास ने कहा है कि सखियों को युगल रूपी खिलौना मिल गये हैं और वे उनको अपना मन देकर उनका मन अपने हाथ में लिये रहती हैं। यह सांवल और गौर हंस सावक वृन्दाकानन रूपी छवि सरोवर में क्रीड़ा करते रहते हैं। यह दोनों क्षण-क्षण में नये-नये प्रेम कौतुक करते हैं और सखीगण नेत्रों की अञ्जलि में लीलामृत का पान करती रहती हैं।

"लिये दिये मन रहैं सहेली दम्पति मिले खिलौना।
कानन छविसर क्रीड़त सांवल गौर हंस मनौ छौना।।
नित-नित नये-नये अस कौतुक भये न हैं पुनि हौंना।
वृन्दावन हित रूप अमी नैनन की ओक अचौना" ।।

सखियों का युगल के साथ मित्रवत् भाव तो उनके नाम से ही व्यंजित है। किन्तु इनका सख्य सर्वथा सम्भ्रम शून्य है। हित चौरासी के एक पद में वे अपनी स्वामिनी से कहती हैं कि हे स्वामिनी, तू गर्व से मत्त बनकर गुमसुम रहती है और अपनी बात मुझसे नहीं कहती। हे राधिका प्यारी! मैं कहते-कहते थक गई, तू मुझसे रात्रि का विलास कहने में क्यों लज्जित होती है ?

अपनी बात मोसौं कहि री भामिनीं,
औंगी मौंगी रहत गरब की माती।
हौं तो सौं कहत हारी सुनरी राधिका प्यारी,
निशि को रङ्ग क्यों न कहत लजाती।।

राधामोहन के प्रति सखियों की प्रीति का यह तीसरा भाव पतिवत् भाव है। जिस प्रकार पुत्रवत् भाव एवं पुत्र भाव में भेद है, उसी प्रकार पतिवत् भाव में और पतिभाव में अन्तर है। गोपीजनों का नन्दनन्दन में पतिभाव था, वे सब श्रीकृष्ण-कान्ता थीं। सखीजन युगल की पतिवत् भाव से सेवा करती हैं किन्तु वे अपने को कृष्णकान्ता नहीं मानतीं। वास्तव में युगल उपासना में कान्ताभाव के लिये अवकाश नहीं हैं। कान्ताभाव वहीं सम्भव है जहाँ अकेले श्यामसुन्दर प्रीति के विषय होते हैं। जहाँ युगल का प्रेम माधुर्य प्रीति का विषय होता है वहाँ उसका आस्वाद सखीभाव के द्वारा ही शक्य है। राधावल्लभीय सिद्धान्त में एकमात्र नायक श्रीनन्दनन्दन और एकमात्र नायिका श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। किन्तु नायिका किंवा श्रीकृष्णकान्ता न होते हुये भी सखियों की प्रीति पातिव्रत्य से पूर्ण है। श्यामाश्याम सुहाग की मूर्ति हैं, सखीगण इन दोनों के सुहाग से सुहागवती हैं। युगल का सुरंग अनुराग सखियों की मांग का सिंदूर है। श्रीध्रुवदासजी ने कहा है कि सखियाँ युगल को देखकर आनन्द के रङ्ग से भरी हुई फूली नहीं समातीं। इन सबके एकमात्र जीवन दोनों वृन्दावनचन्द्र हैं।

"फूली अंग न मात हैं भरी रङ्ग आनन्द।
जीवन सबके एक ही विवि वृन्दावन चन्द॥"

सखियों की प्रीति का चौथा भाव आत्मवत् भाव है। मनीषियों ने आत्मा को सबसे अधिक प्रिय माना है। अन्य सब पदार्थों में आत्मा के कारण प्रियता रही हुई है। सखियों की आत्मा और युगल में कोई अन्तर नहीं है। हित अनूपजी ने कहा है कि प्रेम की प्रतीति का प्रताप ही ऐसा है कि प्रियतम आपमय हो जाता है और आप प्रियतममय हो जाता है, दोनों में कोई भेद नहीं रहता। दोनों के बीच में पराया करने का कोई कारण नहीं रह जाता। अपनपे प्रियतम के साथ अभिन्न बनते ही अपने सुख और प्रियतम के सुख में भेद नहीं रहता।

"आपमई प्रीतम जहाँ औ प्रीतममय आप।
रह्यौ न भेद कोऊ कहूँ प्रेम प्रतीत प्रताप॥
अपनो सुख नख सिख जहाँ प्रीतम मोद प्रतीत।
प्रीतम सुख नख सिख जहाँ है अपनी सुखरीत॥
अपुन पराई करन कौं कारन रह्यौ न कोइ।
तत्सुख कहौं तौ तत्सुखै स्वसुख कहौं तो सोइ॥"

सखियों के तत्सुख और स्वसुख में कोई भेद नहीं है। इनके द्वारा किया गया युगल की आसक्ति का उपभोग स्वरूप का ही उपभोग है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में सखियों के उपर्युक्त भावों का अनुगमन करके ही उपासना की जाती है। श्यामाश्याम की उपासना का क्रम बतलाते हुये श्रीध्रुवदास कहते हैं, उपासक को स्नानादिक से निवृत्त होकर अपने मस्तक पर तिलक धारण करना चाहिये और फिर स्त्री (सखी) के शरीर का भाव रखकर सेवा के निमित्त विविध शृङ्गारों को उस शरीर पर धारण करना चाहिये। युगल की महल की टहल का अधिकार तभी प्राप्त होता है। नारी किंवा पुरुष जिनके हृदय में भी यह भाव स्थिर हो गया है उनके चरणों की रज लेकर नित्य प्रति अपने मस्तक पर धारण करनी चाहिये।

"तिय के तन कौ भाव धरि सेवा हित शृङ्गार।
युगल महल की टहल को तब पावै अधिकार॥
नारी किंवा पुरुष हो जिनके मन यह भाव।
दिन-दिन तिन की चरण रज लै-लै मस्तक लाव॥"

सखी रूप के चिंतन से उपासक के चित्त में जिस भाव स्वरूप का निर्माण होता है वह उसका भाव-देह कहलाता है। जीव के प्राकृत देह का संचालन उसका मलिन अहंकार करता है। जिसके कारण वह अपने को अमुक जाति, कुल, वर्ण और सम्बन्धों

वाला मानता है। उपासक के भाव देह का संचालन उसका शुद्ध अहकार करता है जिसके कारण वह अपने को राधामाधव की दासी एवं उन्हीं के सम्बन्धों से सम्बन्धित व्यक्ति समझता है। भाव देह के पुष्ट होने से प्राकृत देह का प्रभाव क्षीण होने लगता है एवं उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण सम्बन्ध भी शिथिल हो जाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियाँ निसर्गतः वहिर्मुख हैं। अतः उसकी साधारण गति बाहर की ओर है। साथ ही मनुष्य में कोई एक ऐसी चीज है जो बाहर की गति से सन्तुष्ट नहीं होती है और उसको अन्दर की ओर जाने को प्रेरित करती है। सब साधना मार्ग मनुष्य की इस अन्तर्मुखता को प्रोत्साहित करके उसको एक परम तपोमय पद पर पहुँचाने की चेष्टा करता है। दासी किंवा सखीभाव की साधना मनुष्य की अन्तर्मुखता को श्रीराधा किंकरी के रूप में एक ऐसा आकर्षण एवं रुचिकर आधार प्रदान करती है जिसके सहारे वह क्रमशः बढ़ती चली जाती है। मनुष्य का अन्तर्मुख रूप ही उसका स्थायी एवं वास्तविक रूप है। श्रीलाड़लीदास कहते हैं, सखी रूप निर्गुण देह से प्रथक है। उसमें स्थित होकर ही अनुपम नित्य विहार के दर्शन होते हैं। उस रूप में स्थित होते ही विगुण देह का अभिमान छूट जाता है और सुख-दुःख, लाभ-अलाभ एवं मान-अमान में समता प्राप्त हो जाती है।

"विगुण देह तें प्रथक है सखी आपनौ रूप।
तामें स्थित ह्वै निरखि नित्य विहार अनूप।।
वामें स्थित ह्वै तजौ निगुण देह अभिमान।
दुःख सुख लाभ अलाभ सम मानामान समान।।"

—पुधर्मबोधनी

किन्तु इस भाव के उपासक को एक बात से सावधान कर दिया गया है। 'सेवा विचार' नामक प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ में कहा गया है, श्रीराधा किंकरी (सखी) का भाव मानसिक धर्म है। अतः सर्व साधारण के सामने न तो उसका वर्णन करना चाहिये और न उसका अनुकरण अपने शरीर पर धारण करना चाहिये। सब मुनिजनों ने भावना के अनुकूल सिद्धि मानी है। अतः इस प्रकार के भावुक को भी श्रीराधा की कृपा से उनकी दासी पद की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है।

"धर्मोयं मानसोस्ति प्रभुवर गृहिणीदासिकायास्तु भावो,
वक्तव्यो नैव बाह्ये न तदनुकरणं स्वे शरीरेथधार्यं।
सिद्धिः सर्वत्र गीता सकल मुनिजनैर्भावना या समाना,
श्रीमद्राधा कृपातो नियतमथभवेत्तत्पद प्राप्तिरस्य।।

—सेवा विलास-६०

सखीभाव इस सम्प्रदाय का एक अत्यन्य विशिष्ट भाव है और यहाँ से विपुल साहित्य में इसका वर्णन-विश्लेषण बहुत विस्तार से किया गया है। इस छोटी सी वार्ता में इसकी रूपरेखा मात्र देने का प्रयास किया गया है।

उपास्य रस का स्वरूप

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में रस की उपासना है। इस सम्प्रदाय के अतिरिक्त श्रीचैतन्य, श्रीवल्लभ एवं स्वामी हरिदास जी की सम्प्रदायों में भी उपासना के क्षेत्र में रस को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। देखना यह है कि रस का सामान्य स्वरूप एवं उसकी परिभाषा क्या है तथा रसोपासक भक्ति सम्प्रदायों में वह किस रूप में गृहीत है।

वैष्णव दर्शन में परिगणित चौबीस गुणों में रस भी एक गुण है। यह रस छः प्रकार का होता है—कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और कषाय। इसका ग्रहण 'रसन' नामक इन्द्रिय के द्वारा होता है जो जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है—इन्द्रियं रस ग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। गुण होने के नाते रस स्वभावतः वस्तुगत होता है और जिह्वा से सम्बन्धित होने के कारण आस्वाद रूप होता है। कटु, अम्ल आदि पदार्थों के द्वारा जिह्वा का द्रवण होता है अतः द्रवणशीलता रस का मुख्य धर्म माना जाता है। भगवद् गीता में भगवान ने 'अप्सु' अर्थात् जलीय पदार्थों में 'रस' को अपना स्वरूप बताया है—रसोऽहमप्सु कौन्तेय इस प्रकार रस के सम्बन्ध में तीन बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि वह विषयगत होता है, दूसरी यह कि वह आस्वाद रूप होता है और तीसरी यह कि वह नवशील होता है।

रस का दूसरा परिचय हमको भावों के क्षेत्र में मिलता है। मनुष्य के रति, उत्साह, विस्मय, हास्य, शोक, क्रोध, भय आदि सुख दुखात्मक भाव काव्य निबद्ध होकर अर्थात् शब्दार्थ का माध्यम ग्रहण करके कवि प्रतिभा के बल से एक अलौकिक आनन्दमय रस के रूप में अनुभूत होते हैं। इस रस का सर्व प्रथम व्याख्यान भरत के नाट्य सूत्रों में मिलता है और उसके बाद आलंकारिकों की एक लम्बी परम्परा अपने विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुसार इस काव्य रस के स्वरूप एवं उसकी निष्पत्ति प्रक्रिया का विवेचन करती रही है। अन्त में अद्वैतवादी अभिनव गुप्त का दृष्टिकोण इस क्षेत्रके अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित हो गया और आज वही रस सिद्धान्त के रूप में गृहीत है। चौदहवीं शती में होने वाले विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य दर्पण में पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का समन्वय दो कारिकाओं में कर दिया है—

"सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।।
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाय मास्वाद्यते रसः।।"

१—रस की अनुभूति सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होती है। चित्त राग द्वेष से मुक्त होकर समाहित हो जाता है तभी उसमें रस का आविर्भाव होता है।

२—रस अखण्ड है। इसका अर्थ यह है कि रसानुभव में आत्मा की तन्मयता पूर्ण होती है उसमें मात्रा भेद अर्थात् कोटियाँ नहीं होतीं।

३—रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि परानुभूति आत्म चैतन्य से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना है। इस आनन्द में ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रायः अभाव रहता है।

४—रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है अर्थात् उसके समान अनुभव है। ब्रह्मास्वाद जिस प्रकार अन्य संवेदना से शून्य होता है उसी प्रकार रसानुभव काल में तन्मयी भाव रहता है। रसानन्द विषयानन्द से भिन्न हैं, उसका अनुभव चिन्मय है।

५—रस लोकोत्तर चमत्कार प्राप्त हैं—रस न प्रत्यक्ष अनुभव है, न परोक्ष, न कार्य है, न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है, न निर्विकल्पक ज्ञान। इस प्रकार सभी लौकिक परिभाषाओं से मुक्त होने के कारण वह अलौकिक एवं अनिर्वचनीय हैं।

६—रस का अपने स्वरूप से अभिन्न रीति से आस्वादन किया जाता है—इसका अभिप्राय यह है कि रस आस्वाद रूप ही है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं। द्वितीय कारिका में जो 'अयमास्वाद्यते रसः' यह रस आस्वाद किया जाता है, कहा गया है वह उसी प्रकार है जैसे अद्वैतमत में, आनन्द आत्मा का स्वरूप होने पर भी व्यवहार में आत्मा आनन्द का भोग करता है, यह कहा जाता है।

इस प्रकार भौतिक वस्तुओं का एक सामान्य गुण रस मनुष्य के विविध भावों पर आधारित काव्य रचनाओं में ब्रह्मास्वाद के समान अतीन्द्रिय आनन्ददायक बन जाता है। उसका द्रवणशीलता धर्म तो काव्य में भी प्रकट या प्रच्छन्न किसी रूप में रहता है किन्तु वहाँ वह विषयगत विषयीगत हो जाता है।

रस का तीसरा परिचय हमको भक्ति रस के रूप में मिलता है। भक्ति के सुदृढ़ बीज वैदिक संहिताओं में ही मिल जाते हैं किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा सात्वत किंवा भागवत धर्म की स्थापना के साथ इसका विकास एक नया मोड़ ग्रहण कर लेता है जिसके दार्शनिक पक्ष की पुष्टि भक्ति वेदान्त सम्प्रदायों के संस्थापक श्रीरामानुज आदि

वैष्णवाचार्यों ने की है। इनके समानान्तर ही भक्ति की एक रस रुचिरा धारा श्रीकृष्ण एवं गोपीजनों अथवा श्रीकृष्ण एवं राधा के प्रेम सम्बन्धों को लेकर प्राचीन काल से ही चलती आई है जिसके पोषण एवं परिवर्धन में दक्षिण के आलवार सन्तों का योगदान बहुत महत्त्व रखता है। विक्रम की सोलहवीं शती तक आते-आते लीला शुक के श्रीकृष्ण-कर्णामृत, श्रीजयदेव के गीतगोविन्द एवं लोक भाषाओं में रचित श्रीकृष्णके लीला चरित्रों के सरस वर्णनों ने इस धारा को काफी गाम्भीर्य एवं वैविध्य प्रदानकर दिया था।

सोलहवीं शती में, उत्तर भारत में प्रेमभक्ति के कई सम्प्रदायों के उदय के साथ भक्ति रस के निर्वचन की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसकी पूर्ति श्रीचैतन्य सम्प्रदाय के श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु,' एवं उज्जवल 'नीलमणि' में की।

श्रीरूप गोस्वामी ने भरत की रस विवेचन परिपाटी को आधार बनाकर भक्ति रस का व्याख्यान किया है। रस की निष्पत्ति से सम्बन्धित भरत का प्रसिद्ध सूत्र है—

"तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।"

स्वयं भरत ने इस सूत्र के मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है। "यथाहि—नाना व्यंजनौषधि द्रव्य संयोगाद्रस निष्पातिर्भवति, यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यै र्व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसानिर्वर्तन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनोभावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।"

जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) 'रस' की निष्पत्ति होती हैं जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यञ्जनों एवं औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं उसी प्रकार (विभावादि) विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी 'रस' रूप प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि सहृदय के चित्त में वासना रूप में स्थित रति, उत्साह, हास्य, विस्मय आदि स्थायी भावों के साथ जब काव्य किंवा नाट्यगत विभावादि का संयोग होता है तो कवि-प्रतिभा-जनित साधारणीकरण किंवा भावकत्व व्यापार के बल से उक्त स्थायी भाव एवं विभावादि की व्यक्तिनिष्ठता एवं देशकाल परिच्छिन्नता नष्ट हो जाती हैं—विभावों को देशकाल के बन्धन से मुक्ति होती है और भावों को स्वपर चेतना से। इस प्रकार सर्व सामान्य एवं निर्विघ्न बन जाने पर उक्त स्थायी भाव सर्व सहृदय संवेद्य रसत्व प्राप्त कर लेते हैं।

अब हम भरत की इस रस निष्पत्ति प्रक्रिया पर आधृत भक्ति रस परिपाटी का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा करेंगे।

इस परिपाटी के सम्बन्ध में पहली बात तो यह ज्ञातव्य है कि श्रीरूप गोस्वामी ने भरतोक्त रति आदि आठ स्थायी भावों को स्वतन्त्र रूप से स्वीकृति प्रदान नहीं की है। उन्होंने अपने भक्ति रस का केवल एक ही स्थायी भाव माना है—श्रीकृष्ण ने रति और विविध सामग्री के द्वारा पुष्ट होने पर इस भगवद्रति की रसरूपता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा है कि विभाव अनुभाव सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा श्रवणादि की सहायता से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यता को प्राप्त हुआ यह कृष्ण रति रूप स्थायी भाव भक्ति रस बन जाता है।

"विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ।।"

रति और भाव समानार्थक माने जाते हैं। श्रीरूप गोस्वामी ने भाव का लक्षण किया है, प्रेम रूप सूर्य की किरणों के समान, अपनी कान्तियों के द्वारा चित्त केन्द्र वीभाव को उत्पन्न करने वाला शुद्ध सत्त्व विशेष की प्रकृति वाला वह 'भाव' कहा जाता है। यह भाव किंवा रति 'चित्त वृत्ति में आविर्भूत होकर उसके स्वरूप को प्रान्त करती हुई, स्वयं प्रकाश रूपा होने पर भी प्रकाश्य (कृष्णादिध्येयतत्त्व) के समान प्रतीत होती है।

शुद्ध सत्त्व विशेषात्मा प्रेम सूर्यांशु साम्याभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्य कृदसौ भाव उच्यते ।।
आविर्भूयमनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ।
स्वयं प्रकाश रूपाऽपिभासमाना प्रकाश्यवत् ।।

भक्ति रस के श्रीकृष्णरति रूप स्थायी भाव के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य शास्त्र के रति आदि स्थायी भावों से यह सर्वथा विलक्षण है। भरत ने रस निष्पात्ति काल में सत्वोद्रेक का उल्लेख किया है और यहाँ स्थायी भाव ही शुद्ध सत्त्व विशेषात्मा है। यह शुद्ध सत्त्व भगवान की स्वप्रकाशिका स्वरूप शक्ति ह्लादिनी का सार रूप होता है। श्रीमद्भागवत में शुद्ध सत्त्व की संज्ञा वसुदेव बताई गई है जो भगवान वासुदेव के जनक है—सत्वं विशुद्धं वसुदेव संज्ञितम्।

दूसरी बात यह है कि जिस द्रवणशीलता को हमने ऊपर रस का धर्म माना है वह इस श्रीकृष्ण रति रूप स्थायी भाव में आरम्भ से ही विद्यमान रहती है। भाव की इस विलक्षणताओं के कारण एवं विभाव रूप में अखिलानन्द सन्दोह श्रीभगवान की विद्यमानता के कारण श्रीकृष्ण रति से निष्पन्न होने वाला लोकोत्तर चमत्कारकारी भक्ति रस अपनी आनन्द गरिमा में 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' ही नहीं अपितु उसको तिरस्कृत करने वाला एवं नित्य स्फुरणशील बन जाता है।

श्रीरूप गोस्वामी ने भक्ति रस की स्थिति भक्त में ही मानी है किन्तु उनके भ्रातृव्य श्रीजीव गोस्वामी ने अपने 'प्रीति संदर्भ' में उसको अनुकार्य (श्रीकृष्ण) निष्ठ भी मान लिया है। भक्ति रस में भक्त का अपना भाव ही आस्वाद गोचर होकर रस-रूपता प्राप्त करता है अतः इसकी उत्पत्ति अनुकार्य अथवा अनुकर्ता (नट) में सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि भाव के उदय में श्रद्धा, साधु सङ्ग, भजन क्रिया आदि का क्रम स्वीकार किया गया है एवं रसानुभूति में कर्तृत्व भक्त की प्राक्तनी (पूर्व-जन्म की) और आधुनिकी (इस जन्म की) भक्ति वासना पर आधारित रहता है। अतः यह रस अनुकार्य निष्ठ नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण-लीला के क्षेत्र में इस रस का आश्रय व्रज के गोप गोपी एवं द्वारिका की महिषीगण होते हैं और उनका ग्रहण भी भक्त रूप में ही किया जाता है।

'उज्ज्वल नीलमणि' में श्रीरूप गोस्वामी ने श्रीकृष्ण को रसराज अर्थात् शृङ्गार रस रूप माना है और श्रीराधा को महाभाव स्वरूपिणी यह योजना भी भरत की भाव और रस सम्बन्धी कारिकाओं पर आधृत है। भरत ने रस और भाव में अत्यन्त-गाढ़ सम्बन्ध बताकर इनकी परस्पर कृता सिद्धि को ही अभिनय माना है—

न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जितः।
परस्पर कृत्तासिद्धिरनयोरभिनयो भवेत्॥

—नाट्य० अ० ६-४०

इसके साथ ही भरत ने रसों को मूल एवं भावों को उनके सहारे व्यवस्थित बताया है—

"यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥"

—नाट्य० अ० ६-४१

इन कारिकाओं से श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में स्वीकृत श्रीराधा-कृष्ण के स्वरूप एवं उनके परस्पर सम्बन्ध पर मार्मिक प्रकाश पड़ता है और उनको समझने में सुविधा होती है।

अब श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय की रस दृष्टि का विवेचन शेष रहता है। यह सम्प्रदाय सही अर्थों में रसोपासक है क्योंकि इसमें रसस्वरूप भगवान् के स्थान में भगवद् स्वरूप रस को उनका एक विशिष्ट धर्म, गुण किंवा शक्ति मानना होगा। इसके विपरीत रस को भगवद् स्वरूप मानने पर भगवान उसकी एक विशेष अभि-व्यक्ति किंवा प्रकाश माने जायेंगे। उपासना क्रम के विकास की दृष्टि से भी एक स्थान में उसका पल्लवन भगवान एवं उनकी विविध शक्तियों को लेकर होगा और दूसरे स्थान में रस एवं उसके विविध अङ्गों को लेकर।

तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रसिद्ध श्रुति में परतत्त्व को रस रूप घोषित किया गया है—'रसो वै सः। इसके साथ अथर्ववेद के मन्त्र में कहा गया है कि अकाम, धीर अमृत स्वयम्भू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है। वह किसी विषय में भी न्यून नहीं है, उस धीर, अजर, सदा तरुण आत्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।

"अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनः।
तमेव विद्वान न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरंयुवानम् ॥

—अथर्व० १०-५-४४

इस मन्त्र में आत्मा को 'रसेन तृप्तः' कहा गया है। रसिक ही रस से तृप्त होता है अतः आत्मा रस रूप के साथ रसिक रूप भी सिद्ध होता है।

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने अपनी रस पद्धति में परतत्त्व को 'रसिक रस' रूप ही माना है। हित चौरासी के एक रास के पद में उन्होंने श्रीकृष्ण को 'रसिक रस सागर' कहा है—

यमुना पुलिन रसिक रस सागर रास रच्यौ वन माहीं।

इसी प्रकार उक्त ग्रन्थ के एक पद में उन्होंने श्रीराधा को 'रसिक रस युवती' कहा है—

"जय श्रीहित हरिवंश रसिक रस युवती।
तू लै मिलि सखी प्रान अंकोर ॥

—श्रीहित चौरासी

श्रीहिताचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द गोस्वामी के शिष्य श्रीनागरीदास ने अपने प्रसिद्ध 'नागरी-अष्टक' में राधावल्लभीय रसोपासना परिपाटी का मार्मिक विवेचन किया है। उक्त अष्टक के अन्तिम छन्द में उन्होंने श्रीहरिवंश को 'रसिक रस रूपी सरस सरोवर का हंस' बतलाया है—

"रसिक रस सरस सर हँस हरिवंश जू।
केलि मुक्ता चुगत मन नैन दीने ॥

इसी दृष्टि का अनुसरण करते हुये प्रियादास शास्त्री ने श्रीराधावल्लभ को परतत्त्व रूप रस का आलम्बन मानने के साथ उनको रसिक और रस रूप भी माना है—

"योस्त्यालंबन रूपोऽपि रसिको रस रूपकः।
हृदयोद्दीपनोमेऽस्तु श्रीराधावल्लभो वरः ॥

यह रसिक रस श्रीश्यामा श्याम के रूप में नित्य मूर्तिमान रहता है। यह दोनों नित्य रस केलि के द्वारा नित्य रसास्वादन करते रहते हैं। श्रीश्यामा श्याम की इस मधुर रसमयी नित्य केलि का निर्माण प्रेम और नेम के संयोग से होता है सामान्यतया 'नेम' शब्द बाह्याचार से सम्बन्धित उन विधि-विधानों एवं क्रियाकलापों का बोध कराता है जो प्रेम के उदय के साथ स्वतः नष्ट हो जाते हैं। किन्तु श्रीध्रुवदास ने बतलाया है कि कुछ नेम ऐसे हैं जो प्रेम केलि की रचना के उद्देश्य से प्रेम के साथ नित्य यंत्रित रहते हैं। प्रेम स्वरूपतः अनादि अनन्त एक रस नित्य नूतन सरस मादक स्निग्ध एवं स्वच्छंद भाव है। 'नेम' आदि अन्त युक्त आवृति रूप एवं परिणाम रूप है। 'नेम' को समझने के लिये तीन उदाहरण दिये गये हैं। पहिला उदाहरण रंगे हुये वस्त्र का है। लाल रंग से रंगा हुआ वस्त्र वस्त्र ही रहता है उसमें केवल लालिमा का योग हो जाता है। यहाँ वस्त्र प्रेम है और लाल रंग नेम है दूसरा उदाहरण पात्र और उसकी आकृति का है। पात्र प्रेम है और आकृति नेम है, 'जो किया जाय और फलित हो उसको नेम कहते हैं। तीसरा उदाहरण कनक कुण्डल का है। कनक से कुण्डल बनते हैं इसलिये वे नेम है और एक रस रहने वाला कनक प्रेम है। प्रेम के नेमों के कुछ उदाहरण देखना, हँसना, बोलना मान तथा कोक के विलासादिक भी दिये गये हैं। श्रीध्रुवदास ने मधुर प्रेम से यंत्रित नेमों को 'मदन किंवा अप्राकृत काम भी कहा है और इन दोनों को रस पट का ताना बाना बतलाया है।

रसिक रस स्वरूप नित्य विहारी श्रीश्यामा श्याम के हृदय में प्रेम और मदन के किंवा प्रेम और नेम के दो सिन्धु सदा प्रवाहित होते रहते हैं। प्रेम रूपी सिन्धु के तरंग जब उनको अविभूत कर लेते हैं तब वे विवश बन जाते हैं और नेम रूपी सिन्धु के तरङ्ग उन पर छाते हैं तब वे सावधान हो जाते हैं। यह दोनों प्रतिक्षण इस प्रकार से मधुर रस का उपभोग करते रहते हैं। इनके अत्यन्त सूक्ष्म प्रेम का वर्णन सम्भव नहीं हैं।

प्रेम मदन के सिन्धु द्वै बहत रहत नित हीय।
कबहुँ विवस चेतत कबहुँ छिन-छिन प्यारी पीय ॥
छिन-छिन प्यारी पीय मधुररस विलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहौ कोऊ बरनै कैसे ॥

—श्रीध्रुवदास

रसिक रस के स्वरूप में आस्वादक और आस्वाद्य का सहज संयोग हुआ रहता है अतः इसकी निष्पत्ति के लिये किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। वैदिक साहित्य में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, जब एक आत्मा ही रस और रसिक के रूप में उल्लिखित हुआ है और उसके अतिरिक्त अन्य किसी की पारमार्थिक सत्ता वहाँ स्वीकृत नहीं है तो वह स्वभावतः अपने स्वरूप का ही आस्वाद करेगा और उसका रसानुभव नित्य सिद्ध होगा। रसिक रस रूप श्रीश्यामा श्याम (जो रसिकजनों के सम्पूर्णतः आत्मा स्थानीय है) का रसास्वाद भी, इसीलिये नित्य निष्पन्न है ऊपर वर्णित

प्रेम नैम की योजना के द्वारा श्रीश्यामा श्याम की रसास्वाद प्रक्रिया सूचित की गई है। रसिक होने के नाते इन दोनों में प्रेम तृषा की बेली नित्य वर्धमान रहती है जिसका पोषण वे श्रृङ्गार केलि रूपी जल का पान करके करते रहते हैं।

'प्रेम तृषा कौं बेलि कौं केलि अदन रस आहि।
परम रसिक नागर नवल पीवत जीवत ताहि ।।

—श्री ध्रुवदास

काम केलि के योग से जिस प्रकार रसिक शिरोमणि श्यामा श्याम का प्रेम आस्वाद्य बना रहता है, उसी प्रकार रसिक उपासक का प्रेम इस केलि के दर्शन से रस रूप बना रहता है। श्रीहिताचार्य ने केलि रस के पान को अपना चरम सुख बतलाया है। हित चौरासी के एक सुन्दर पद के अन्त में वे कहते हैं—'उभय रसिक रस स्वरूपों के संगम रूपी सिन्धु में श्रृङ्गार केलि का जो कमल खिल रहा है, उससे अनवरत प्रवाहित होने वाले मकरन्द का पान हरिवंश रूपी भ्रमर करता रहता है।

"उभय संगम सिन्धु सुरत पूषण बन्धु।
द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै ।।"

श्रीहित प्रभु की रसोपासना का मर्म समझाते हुये ध्रुवदास जी ने कहा है कि श्रीश्यामा श्याम का प्रेम विहार महासुख का सार है। अतः श्रीहरिवंश ने अपनी वाणी में श्रृङ्गार केलि का दुलार किया है।

"महासुख को ध्रुवसार विहार है श्रीहरिवंश जू केलि लड़ाई।

भरत की रस परिपाटी के साथ उसके अन्यतम अङ्ग नायक नायिका भेद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है और इसलिये गौड़ीय भक्ति रस साहित्य में हम श्रीराधा कृष्ण का दर्शन नायक नायिका के रूप में पाते हैं। उज्ज्वल नीलमणि में नायक नायिकाओं के भेदोपभेदों का प्रचुर वर्णन मिलता है।

साधारणतया नायक नायिका श्रृङ्गार रस के आलंबन विभाव और रस केलि के प्रयोजक होते हैं, किन्तु जहाँ वे स्वयं रस रूप हों वहाँ रस को ही रस केलि का प्रयोजक मानना होगा। ध्रुवदासजी ने इसीलिये कहा है कि इस रस में नायक नायिका नहीं होते, स्वयं रस ही केलि कराता रहता है और दोनों रस सिन्धुओं (श्रीश्यामा-श्याम) के संगम से उद्भूत रस का पान सखीजन अपने नेत्र पुटों से करती रहती हैं।

नायक तहाँ न नायिका रस करवावत केलि।
सखी उभय संगम सरस पिबत नैनपुट झेलि ।।"

भक्ति रस की सर्वश्रेष्ठ अधिकारी जिस प्रकार व्रज गोपिकायें मानी जाती हैं, उसी प्रकार रसिक रस की सर्वश्रेष्ठ प्रमाता सखीगण हैं। सखियों के प्रेम को ध्रुवदास

जी ने श्रीश्यामा श्याम के प्रेम से भी अधिक सरस बताया है क्योंकि उनके प्रेम के साथ 'नेम' यंत्रित नहीं होते। वे तो प्रेम और नेम के योग से निष्पन्न होने वाली उनकी श्रृङ्गार केलि का आस्वाद निरुपाधिक प्रेम रस के रूप में करती रहती हैं।

"लाल लाड़िली प्रेम सौं सरस सखिन को प्रेम।
अटकी हैं निज प्रेम रस परसत तिनहिं न नेम॥

इन सखियों के द्वार से ही अर्थात् सखी भावापन्न बनकर ही रसिक उपासक इस अद्भुत रस के आस्वाद का अधिकारी बनता है और उपासना की सिद्धि के साथ सखियों की भाँति ही, इस अनाद्यनन्त रस लीला का अविभाज्य अङ्ग बन जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं—

१—उपास्य रस की दो स्थिति होती हैं—अमूर्त और मूर्त। अपनी अमूर्त स्थिति में वह विशिष्ट रतिवान उपासक के चित्त में भावानुभूति के रूप में प्रकट होता है और अनुकूल संयोगों के प्राप्त हो जाने पर रस रूप में आस्वादित हो जाता है। अमूर्त रस के उद्‌बोधन में भक्त कवियों की रचनायें पूर्ण रूप से सहायक बनती हैं और उनके सहयोग से जिस अतीन्द्रिय रस की निष्पत्ति होती है उसका विवेचन अनेक अंशों में भरत की परिपाटी की सहायता से ही जाता है।

अपनी मूर्त स्थिति में उक्त रस उपासक की नेत्रादि इन्द्रियों का विषय बनता है, उसके चित्त में भाव-स्फूर्ति मात्र नहीं रहता। श्रीमद्भागवत (१०-१४-३३) में ब्रह्मा ने मूर्त रस स्वरूप श्रीकृष्ण के दर्शन करने के बाद अपने साथ एकादश इन्द्रियों के उन अधिष्ठातृ देवताओं के भाग की प्रशंसा की है जो व्रजवासियों की इन्द्रियों को चषक बनाकर भगवान मुकुन्द के चरण कमल मकरन्द का निरन्तर पान करते रहते हैं। सूरदास जी के भ्रमर गीत में गोपियाँ नन्दनन्दन के प्रकट दर्शन का ही आग्रह करती हैं और उद्धव द्वारा उपदिष्ट उनके अन्तर्यामी रूप से संतुष्ट नहीं होतीं।

"नैना नाहिनै ये रहत।
यद्यपि मधुप तुम नन्दनदन को निपटहि निकट कहत।
हृदय मांझ जो हरिहिं बतावत सीखौ नाहि गहत।
परी जु बानि प्रगट दरसन की, देखौई रूप चहत।
सूरदास प्रभु बिन अवलोके सुख कोऊ न लहत।

नेही नागरीदास जी ने भी कहा है कि यदि भजन बल से नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा मूर्त भाव का ग्रहण होगा तो सम्पूर्ण गुणों से युक्त उपास्य तत्त्व का दर्शन होता रहेगा।

"भजन बल इन्द्रिय हाथ जो फुरिवौ करिहै भाव।
सब गुन वस्तु विलोकि है नव नव-नित चित चाव॥"

श्रीध्रुवदास ने भी राधावल्लभीय उपासना की अन्तिम परिणति मूर्त रस स्वरूप श्रीश्यामा श्याम के प्रत्यक्ष दर्शन में ही मानी है।

"इनही नैनन सब सुख देखैं। जनम सफल अपनौ करि लेखैं।
नव मोहन श्रीराधा प्यारी। हित ध्रुव निरखि जाइ बलिहारी।।

स्वभावतः इस मूर्त रस के विवेचन में भरत की परिपाटी का उपयोग नहीं हो सकता। राधावल्लभ सम्प्रदाय में मूर्त 'रसिक रस' की शृङ्गार केलि की उपासना का विधान है और इसकी सफलता के लिये भजन प्रणालियों का निर्धारण किया गया है। ज्ञान मार्ग में साधना की प्रगति मूर्त एवं अमूर्त की ओर होती है, भाव मार्ग में अमूर्त से मूर्त की ओर।

२—उक्त साहित्य में रसिक रस का स्वरूप विवेचन प्रचुर मात्रा में हुआ है। वह आस्वाद रूप भी है और आस्वाद्य भी है। साहित्यिकों ने जिस प्रकार रसानुभव को निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान से भिन्न बतलाया है उसी प्रकार रसिक उपासकों ने अपने उपास्य रस को निर्गुण (निर्विकल्पक-ज्ञान का विषय) और सगुण (सविकल्पक ज्ञान का विषय) ब्रह्म से विलक्षण एवं लोक वेदातीत घोषित किया है।

"निर्गुन सगुन ब्रह्म तैं न्यारौ विहरत सदा सुहात।
'व्यास' विलास रास अद्भुत गति निगम अगोचर बात।।

उन्होंने बतलाया है कि इस रस का रस होने के बाद नवधा भक्ति एवं श्रीमद्-भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण कथाओं की रति (प्रेम) फीकी लगती है। इसीलिये रसिक रस के अनन्य उपासक समुदाय की रहन (आचरण) एवं कहन (कथन) सबसे न्यारे होते हैं।

"यह रस नवधा भक्ति, उबीठी रति भागौत कथा की।
रहन कहन सबही तें न्यारी 'व्यास' अनन्य सभा की।।"

रसिक रस की शृङ्गार केलि के निर्माण के लिये प्रेम नेम की योजना सर्वथा मौलिक एवं नवीन उद्भावना है। इसके द्वारा लौकिक शृङ्गार से इस दिव्य केलि की नितान्त भिन्नता भी सिद्ध हो जाती है। लौकिक शृंगार मनुष्य की सहज काम वासना पर आधारित उसी का उन्नयित रूप होता है। कामोदय काल में मनुष्य विवश एवं असावधान बन जाता है। इसके विपरीत श्रीश्यामा-श्याम के नित्य एक रस रहने वाले मधुर प्रेम के साथ आगमापायी काम विलासों का संयोग युगल की प्रेम विवशता को दूर करके उनको सावधान बनाता रहता है और उनकी शृङ्गार केलि को अक्षुण्ण बनाये रखता है। इसलिये अनुभवी रसिक उपासकों ने रसिक रस के स्वरूप को परम अद्भुत एवं उसकी अनंग केलि को परम आश्वर्यमयी बताया है।

"अद्भुत विहार हरिवंश हित
निरखि दासि सेवक जियत।"

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का स्वरूप

भारतवर्ष में आरम्भ से ही एक ही परतत्त्व अनेक नाम-रूपों में अभिहित और पूजित होता रहा है। एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—यह वैदिक धर्म शाश्वत उद्घोष है। धार्मिक क्षेत्र में अवतारवाद के प्रतिष्ठित होने के साथ तो परतत्त्व अनेक नामरूपों में पृथ्वी पर उतर आया और उसके साथ अनेक प्रकार के भाव-सम्बन्ध स्थापित करना सरल बन गया है। श्रीमद्भागवत में भगवान के असंख्य अवतार बताये गये हैं। (१-३-२६) वे सब अंशकला अवतार हैं और श्रीकृष्ण परम पुरुष के पूर्णावतार हैं—एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तुभगवान् स्वयम्।

भगवान ने कई बार मनुष्य रूप में जन्म ग्रहण किया था। इनमें से श्रीराम और श्रीकृष्ण मुख्य रूप से भक्ति के आलम्बन बने हैं और दोनों के भक्तगण अपने-अपने इष्टों को पूर्णावतार मानते हैं। किन्तु मनुष्य की समग्रता का जैसा उज्ज्वल वैभव श्रीकृष्ण के चरित्र में दिखलाई दिया वैसा अन्यत्र नहीं। मनुष्य के मन की ज्ञानमयी, भावमयी एवं कर्ममयी तीनों प्रकार की वृत्तियों का पूर्ण एवं कई अंशों में लोकातीत परिपाक श्रीकृष्ण के व्यक्तित्त्व में हुआ था। अतः ज्ञानियों, भावुक भक्तों एवं कर्मयोगियों के वे समानरूप से प्रेरणा स्रोत एवं प्रेम भाजन बनते रहे हैं और बने रहेंगे।

श्रीकृष्ण चरित्र की विविधता इतनी आश्चर्यजनक है कि उसको एक ही व्यक्तित्त्व में समन्वित करना—विशेषतः विदेशी विद्वानों के लिये बड़ा दुरूह हो जाता है। श्रीकृष्णोपासक भी श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों में प्रकाशभेद मानकर ही उनको एक सूत्र में ग्रथित कर पाते हैं।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में श्रीकृष्ण भक्ति के जिस अनुपम उत्थान ने उत्तर भारत को आन्दोलित किया था। वह मुख्यतः श्रीमद्भागवत पुराण पर आधारित था। इस ग्रन्थ के दशम स्कंध में श्रीकृष्ण की जन्म से लेकर परमधाम गमन तक की पूरी कथा कही गई है किन्तु इस महापुराण की रचना का मुख्य उद्देश्य उनकी व्रज-वृन्दावन से सम्बन्धित प्रेममयी लीलाओं का गान है—इस बात को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्णभक्ति के उक्त आन्दोलन का मेरुदण्ड यही लीलायें थीं।

इन लीलाओं का विस्तार उन कई श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधाकृष्ण भक्त सम्प्रदायों द्वारा हुआ, जिनकी स्थापना उक्त शती में हुई थीं। व्रज-वृन्दावन की लीलाओं में व्यंजित

होने वाले प्रेम का स्वरूप तथा श्रीकृष्ण की प्रेमस्वरूपता उक्त सम्प्रदायों के चिन्तन-अनुशीलन के मुख्य विषय बने। इसके फलस्वरूप प्रेमाभक्ति के एक नवीन सुपुष्ट शास्त्र का निर्माण हो गया जो भारत की धार्मिक संस्कृति का गौरव माना जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी बंगीय गोस्वामी गणों एवं श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके विद्वान वंशजों तथा अनुयायिओं ने संस्कृत व्रजभाषा और बँगला में प्रेमाभक्ति के सिद्धान्त एवं श्रीकृष्ण की प्रेमलीलाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य की रचना की।

श्रीमद्भागवत पर आधारित उक्त दो भक्ति सम्प्रदायों की स्थापना के समकाल में वृन्दावन में प्रेमाभक्ति की एक नई धारा का जन्म हुआ जिसमें उक्त भक्ति का एक नवीन तथा प्रथम धारा से कई बातों में विलक्षण प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ। इस धारा के प्रवर्तक श्रीहित हरिवंश गोस्वामी और उनके सहयोगी रसिक महानुभाव थे। स्वयं इन्होंने तथा इनके अनुयायी रसिक भक्तों ने संस्कृत और व्रजभाषा में विपुल साहित्य की रचना की है। श्रीमद्भागवत एवं उस पर आधारित सम्पूर्ण भक्ति साहित्यमें प्रीति के विषय श्रीकृष्ण हैं और आश्रय हैं व्रज के गोप-गोपी गण। उक्त द्वितीय धारा में श्रीकृष्ण प्रीति के आश्रय हैं और विषय है श्रीराधा। प्रेमाभक्ति का प्राणतत्त्व प्रेम है और प्रेम एक ऐसा भाव है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में होती है। उनमें से मनुष्य अपनी रुचि एवं सामर्थ्य के अनुकूल रूप को ग्रहण करता है—

प्रेम की छटा बहुत विध आही—समझि लई जिन जैसी चाही।

—नेह मंजरी

प्रेमाभक्ति की दोनों धाराओं का भेद मुख्यतया दोनों में ग्रहीत प्रेम की परस्पर भिन्न 'छटाओं' के कारण है। प्रथम धारा में श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण प्रेम लीलाओं का आचरण उनकी भगवत्ता की पृष्ठ भूमि पर हुआ है। भागवतकार पद-पद पर यह स्मरण दिलाते रहते हैं कि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम है और 'ब्रह्मा की प्रार्थना पर विश्व की रक्षा के लिये सात्वतों के कुल में उदित हुये हैं।' अतः इस धारा के साहित्य में श्रीकृष्ण का चित्रण प्रेमाधीन भगवान के रूप में हुआ है और स्वभावतः, उनकी व्रज लीलाओं से व्यंजित होने वाले प्रेम में भगवदैश्वर्य का काफी बड़ा पुट है। इसके अतिरिक्त भगवान के अवतार काल के लीला चरित्रों की रचना इस प्रकार की है कि उनमें देश-काल के अन्तरजनित संयोग-वियोग का चक्र प्रेम के अनुभव को दो प्रकार का बनाता रहता है। सुख और दुख के दो ध्रुवों के बीच में संचरित होने वाले प्रेम को, द्वितीय धारा के अन्यतम रसिक महानुभाव श्रीध्रुवदास एक रस प्रेम नहीं मानते—

जब बिछुरत तब होत दुख मिलतहि हियौ सिराइ।
याही में रस द्वै भये प्रेम कह्यौ क्यों जाइ॥

उक्त दो कारणों से द्वितीय धारा के प्रवर्तक रसिकाचार्यों के लिये श्रीकृष्ण चरित्र एवं श्रीकृष्ण स्वरूप को, उनके पुराणों में वर्णित रूप में, ज्यौं का त्यौं स्वीकारना संभव

नहीं था। उन्होंने प्रेम की जिस अखण्डित धारा के दर्शन किये थे उसका आस्वाद लीला के माध्यम से ही संभव था—प्रेम लीलाओं में ही प्रेम को आचरित होता दिखलाया जाता है। अतः प्रेम के स्वीकृत स्वरूप के अनुसार ही लीला की रचना होती है। द्वितीय धारा में प्रेम का स्वरूप श्रीमद्भागवत में वर्णित रूप से भिन्न है। अतः इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप का एवं श्रीराधा के साथ उनकी प्रेमलीला का बर्णन भी भिन्न प्रकार से किया गया है।

यहाँ तो हम उक्त धारा में स्वीकृत केवल श्रीकृष्ण के स्वरूप को समझना चाहते हैं। भगवद्गीता में भगवान ने अपने अवतार के तीन प्रयोजन बताये हैं—साधु परित्राण, दुष्कृतों का नाश और धर्म संस्थापन। इन तीनों प्रयोजनों की पूर्ति स्पष्टतः श्रीकृष्ण की भगवत्ता से सम्बन्धित है किन्तु द्वितीय धारा के प्रेमी सन्त उनके इस गुण के प्रति तनिक भी आकृष्ट नहीं है। वे तो जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, भगवत्ता की स्फूर्ति को अपने विशुद्ध-प्रेमानुभव में सर्वथा बाधक मानते हैं। अतः श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने श्रीनंदनंदन के प्राकट्य के गीतोक्त हेतु को शायद उसके एक विशेष काल और परिस्थिति से सम्बन्धित होने के कारण—अपनी नित्य-विहार उपासना में स्वीकार नहीं किया। श्रीनंदनंदन की जन्म बधाई के अपने पद में उन्होंने कहा है कि अनन्य दासों के भजन रस की प्राप्ति के लिये ये मनोहर ग्वाल प्रकट हुये हैं—

दास अनन्य भजन रस कारन प्रगटे लाल मनोहर ग्वार।

इस पद में प्राकट्य का प्रयोजन केवल भजन रस की प्राप्ति बतलाकर श्री हिताचार्य ने श्रीनंदनंदन की केवल प्रेमस्वरूपता को रेखांकित किया है। भजन में रसत्त्व आस्वादनीयत्त्व—प्रेम के योग से आता है और भगवान प्रेमी बनकर ही प्रेम का दान करने में सक्षम होते हैं।[1] श्रीश्यामसुन्दर के स्वरूप के सम्बन्ध में श्रीहिताचार्य ने दूसरी बात यह कही है कि वे मुनियों के मन में पूरित 'सघन परमानन्द' का प्रकट रूप—नेत्र-गोचर रूप हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीश्यामसुन्दर का प्राकट्य भगवान की व्यस्टि अर्थात व्यक्ति में निहित सत्ता में से हुआ है। इसके विपरीत अन्य आचार्यों ने उनका अवतरण समष्टि सत्ता (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निहित सत्ता) में से माना है—

व्यापि वैकुण्ठात् भगवतः प्रपंचे आगमनम् अवतणरम्।

—श्रीमद्वल्लभाचार्य

श्रीश्यामसुन्दर को मुनिजनों के सघन परमानन्द का मूर्तिमान विग्रह मानकर श्रीहिताचार्य ने उनमें ऐश्वर्य के प्रकाश की सम्भावना को समाप्त कर दिया है। साथ ही अवतार काल की उनकी आगमन-गमन की विवशता से भी वे मुक्त हो गये हैं और श्रीवृन्दावन की सघन कुञ्जों में अपनी अनाद्यनंत प्रेम क्रीड़ा में सहज रूप से निमग्न हो

१—प्रेमभजन बिनु स्वाद नहीं, कहा भजन बिनु स्वाद।

—श्रीध्रुवदास

गये हैं। तृतीय धारा के रसिकों जैसा कि हम देख चुके हैं नित्य विहारी युगल (श्री श्यामा-श्याम) के सम्बन्ध में कहा है कि यह युगल श्रीवृन्दावन में न तो कहीं बाहर से आये हैं और न यहाँ से कहीं अन्यत्र जायेंगे—

आयातं न कुतश्चन कुचन नो गन्तं।

श्रीमद्भागवत में वर्णित रासलीला में श्रीश्यामसुन्दर को हम अनेक गोपियों के साथ प्रेम केलि करते देखते हैं। इसीलिये श्रीहिताचार्य ने उक्त लीला को 'मधुकर केलि' कहा है जिसमें श्रीश्यामसुन्दर मधुकर की भाँति अनेक गोपियों के प्रेम-परिमल का अस्वाद करते हैं। किन्तु भ्रमर की पुष्प के प्रति आसक्ति पूर्ण प्रेम की कोटि तक नहीं पहुँच पाती क्योंकि पुष्प उसके जीवन का एकमात्र अवलम्ब नहीं होता—वह उसके बिना भी रह सकता है। इसके विपरीत जलमीन का जीवन होता है और वह उससे बिछुड़ते ही मर जाता है किन्तु जल से मीन की आसक्ति नहीं होती—उसका आस्वाद नहीं करता। श्रीहिताचार्य ने नित्य विहारी श्रीश्यामसुन्दर की पूर्ण प्रेमस्वरूपता में मधुप की रसिकता एवं मीन की एकान्त अधीनता के दर्शन किये हैं। हित चौरासी के एक पद में उन्होंने कहा है कि प्रीति की रीति को प्रेम में रँगे हुये एक मात्र श्रीश्यामसुन्दर जानते हैं। वे यद्यपि संपूर्णलोकों में सर्वोपरि हैं फिर भी स्वयं को दीन मानते हैं। यमुनापुलिनवर्ती निकुञ्जभवन में जब श्रीराधा मान ठान लेती हैं तो कोटि-कोटि कामिनियों के निकट रहते हुये भी उनको धैर्य नहीं बँधता। व्रजलीला में प्रकट होने वाले श्रीश्यामसुन्दर के अनेकाभिमुखी नश्वर मधुकर प्रेम की मर्यादा में रह-कर निकुञ्ज लीलाओं में प्रकट होने वाली उनकी पूर्ण प्रेमस्वरूपता का आकलन नहीं किया जा सकता। श्रीहित हरिवंश कहते हैं कि चतुर वह है जो उक्त मर्यादा से बाहर निकलकर श्रीविहारीलाल की प्रेमस्वरूपता को समझने की चेष्टा करता है। श्री ध्रुवदास ने इस पद के आशय को अपने एक दोहे में सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हुये कहा है कि प्यारी श्रीराधा प्रेम का सुन्दर, सुवासित और रंगीन फूल हैं। मधुप (रसास्वादी) विहारीलाल का वे जीवनावलंब ही नहीं हैं उनकी आसक्ति का एकमात्र विषय भी हैं। अतः वे एक क्षण के लिये भी उनका साथ नहीं छोड़ते—

प्रेम फूल प्यारी प्रिया, सुरँग सरूप सुवास।
एक जीवन आसक्त पुनि, मधुप लाल रहैं पास।।

—प्रेमावली

हम कह चुके हैं कि व्रज लीलाओं में श्रीकृष्ण का चित्रण प्रीति के रूप में हुआ है—आश्रय सम्पूर्ण व्रजवासी गण हैं। उपासना के क्षेत्र में आश्रय की प्रीति का अनुगमन किया जाता है। रागानुगाभक्ति में श्रीनंदनंदन के प्रति व्रजांगनाओं की प्रीति उपासकों

के लिये अनुकरणीय मानी गई है। नित्य-विहार उपासना में इसके विपरीत, श्रीश्याम-सुन्दर की प्रीति का अनुगमन उपासकों द्वारा किया जाता है। प्रेम राज्य में, श्री श्यामसुन्दर के इस भूमिका विपर्यय का रसिक महानुभावों ने बड़े रोचक ढंग से वर्णन किया है। सहचरिसुखजी ने कहा है कि व्रज में, जहाँ वे प्रेमपात्र की भूमिका में हैं, श्री श्यामसुन्दर किसी को अपनी छाया का स्पर्श भी नहीं करने देते थे, किन्तु श्रीवृन्दावन निकुञ्ज मन्दिर में जहाँ उन्होंने प्रेमी की भूमिका ग्रहण की है वे श्रीराधा की छाया का स्पर्श करना चाहते हैं और कर नहीं पाते। यहाँ तो सखियों ने उनको श्रीराधा के रंग में इतना गहरा रंग दिया है कि उन्होंने ब्रज की सम्पूर्ण गलियों को रंगीन बना डाला है।

छाँह छुवन नहिं देत हुते, अब चाहत छाँह छुवन नहिं पावत, रस चहले
फँसि भूले फैल ।
सहचरि सुख वारी ललिता ने ऐसे रँगे राधे के वरन सौं रँगत
चले सब व्रज की गैल ।।

निकुञ्जोपासक रसिक महानुभावों ने नित्य विहारी श्रीश्यामाश्याम के कैशोर को शैशव और तारुण्य की सन्धि बताया है। श्रीनागरीदास ने कहा है कि वैसन्धि इक वर्न एन वर्न बरनत बनैन तरुन संसव विभौविलसैं सौन्दर्य सद। (दोनों की वयः सन्धि किसी ऐसे अवर्णनीय प्रकार की है जिसमें वे शैशव और तारुण्य के सद्य सौन्दर्य-वैभव का उपभोग करते रहते हैं।)

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीराधा की सहज प्रधानता है। प्रेम के क्षेत्र में सदैव प्रेमपात्र की प्रधानता होती ही है और उपासक की प्रधान रति भी उसी में केन्द्रित रहती है। व्रज की लीलाओं में श्रीश्यामसुन्दर प्रेमपात्र हैं और वहाँ उनकी सहज प्रधानता है। निकुञ्ज लीलाओं में वे प्रेमी हैं अतः उनमें उपासक की प्रधान रति तो नहीं होती किन्तु रस पोषकता की दृष्टि से उक्त लीलाओं में उनकी भूमिका को गौण भी नहीं कहा जा सकता। श्रीहिताचार्य ने श्रीश्यामाश्याम में समान रस की स्थिति मानी है—दम्पयि रस समतूल। रस ही नहीं रूप-सौन्दर्य, वय, गुण में भी दोनों समान समान है। श्रीध्रुवदासजी श्रीराधा के अद्भुत रूप सौन्दर्य के वर्णन का असफल प्रयास करने के पश्चात् कहते हैं कि श्यामसुन्दर का रूप-माधुर्य भी वैसा ही अनिवर्चनीय है। अतः दोनों नेत्रों की भाँति इन दोनों में से किसी को भी कम या अधिक नहीं बताया जा सकता—

कुँवर माधुरी रूप की सोऊ कहत बनैन ।
घट बढ़ कहे न जात हैं जैसे दोऊ नैन ।।

श्रीसेवाकुंज

वृन्दावन के प्राचीनतम प्रसिद्ध स्थलों में सेवाकुंज किंवा निकुंज वन का विशिष्ट स्थान है। इसकी स्थापना सम्वत् १५९१ में श्रीहित हरिवंश गोस्वामी द्वारा हुई थी और तब से अब तक यह स्थल वृन्दावन का प्रमुख आकर्षण बना हुआ है। वृन्दावन अब वन नहीं रहा और वहाँ की सघन कुंजों के स्थान पर ईंट पत्थर की पुख्ता 'कुंजें' बन चुकी हैं किन्तु अभी दो स्थान ऐसे रह गये हैं जहाँ प्राचीन वृन्दावन की झलक मिल जाती है। (सेवाकुंज, निधिवन)

सेवाकुंज चमत्कारिक स्थान माना जाता है और इसके सम्बन्ध में कई अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें मुख्य यह है—कि वहाँ प्रतिदिन मध्य रात्रि के समय श्रीश्यामा-श्याम सहचरियों सहित रास क्रीड़ा करते हैं। यह अनुश्रुति कब से प्रचलित हुई यह कहना कठिन है। इस स्थान के संस्थापक श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने श्रीराधा-कृष्ण की अनेक लीलाओं में से रासलीला को ही अपनी उपासना का केन्द्र बनाया था और उनकी रचनाओं में उक्त लीला से सम्बन्धित पद ही सर्वाधिक मिलते हैं। वे नित्य प्रति सेवाकुञ्ज में बैठकर रासलीला का चिन्तन किया करते थे। सम्भव है कि उनके जीवन काल अथवा उनके अन्तर्धान के बाद किसी भक्त को वहाँ रासक्रीड़ा के दर्शन हुये हों और तब से यह अनुश्रुति चल पड़ी हो। जो भी हो, किन्तु यह निश्चित है कि यह सैकड़ों वर्षों से प्रचलित है और इस कालावधि में अनेक भक्तजनों ने सेवाकुञ्ज में रहकर रासलीला के दर्शन प्राप्त करने की चेष्टा की है।

विचित्र बात यह है कि जो भी व्यक्ति वहाँ रात्रि में रह जाता है वह दूसरे दिन प्रातःकाल या तो मृत मिलता है या मरणासन्न मिलता है। प्रबन्धकों ने वहाँ रात्रि निवास पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा रखा है और रात्रि को शयन आरती के बाद किसी को वहाँ ठहरने नहीं दिया जाता, फिर भी दो-चार साल में एक न एक घटना हो ही जाती है।

लगभग ६५ वर्ष की बात है। पण्डित लोकनाथ नामक एक ब्यक्ति काशी से वृन्दावन की यात्रा के लिये आये और कर्मचारियों की आँख बचाकर रात्रि में सेवाकुंज में रह गये। प्रातः मंगला सेवा के लिये शुकदेव नामक पुजारी जब वहाँ पहुँचा तो उसने उक्त पंडित जी को निकुञ्ज महल के द्वार पर अर्धचेतनावस्था में पड़ा देखा। पुजारी उनकी हालत देखकर घबड़ा गया और उनको डाटना शुरु किया किन्तु पंडित जी की वाचा लुप्त हो चुकी थी और वे कोई उत्तर नहीं दे पा रहे थे। अधिक डाटने-फटकारने पर उन्होंने लिखकर बताया कि उन्हें शंकरजी ने स्वप्न में आदेश दिया

था कि तू वृन्दावन चला जा और वहाँ सेवाकुंज में तुझे श्यामा-श्याम के दर्शन मिल जायेंगे। इस आज्ञा के अनुसार ही उन्होंने यह काम किया है और शंकर जी की कृपा से उनका मनोरथ पूर्ण हो गया है और वे बहुत आनन्द में हैं। पुजारी ने जब उक्त पंडितजी को पुलिस की तरफ से की जाने वाली संभावित जांच से अवगत कराया तो उन्होंने उस पण्डे का नाम दिया जिसके यहाँ वे ठहरे हुये थे और जिसको पूरा पता मालुम था। कुछ देर बाद पंडितजी का प्राणान्त हो गया और वृन्दावन वासियों का अपार समूह उनके दर्शनों के लिये उमड़ पड़ा। पंडित जी की शवयात्रा बड़ी धूमधाम से निकाली गई। कहते हैं इस जलूस में वृन्दावन-मथुरा के १०-१५ हजार व्यक्ति सम्मिलित हुए थे, जिनमें जिलाधीश एवं सुपरिण्टैण्डैण्ट पुलिस विशेष उल्लेखनीय हैं। इस शव यात्रा में सम्मिलित होने वाले कई वृद्ध लोगों ने बताया कि वैसा भव्य जलूस हमने वृन्दावन में फिर कभी नहीं देखा।

दूसरी घटना सन् १९३१ के जून महीने की बतलाई जाती है। उस समय एक बङ्गाली वैष्णव सेवाकुञ्ज में मंगला आरती के समय श्री जी के सामने वाली तिवारी में मरणासन्न स्थिति में पाया गया। कर्मचारियों ने भीड़ अधिक बढ़ती देखकर उसको निकुञ्जवन के बाहर जाकर पुराने नन्दभवन के सामने सड़क पर रख दिया। एक पंडे ने उसको अपना यजमान बतलाया जो ४-५ दिन पूर्व ही ढाका से वृन्दावन आया था। भक्तों ने उसको चारों ओर से घेरकर जब नाम कीर्तन आरम्भ किया तो उसने एक बार आँख खोली और लोगों को उसके जी जाने की कुछ आशा बँधी। सेवाकुञ्ज के कामदार ने उसके मुँह में श्रीराधारानी का चरणामृत डाला, किन्तु वह पुनः बेहोश हो गया और अपराह्न में तीन बजे के लगभग उसने शरीर छोड़ दिया।

तीसरी घटना ३० वर्ष पूर्व की बतलाई जाती है। उस समय २५-२६ वर्ष का एक युवा ब्राह्मण एक दिन संध्या को सेवाकुञ्ज में दर्शनार्थ पहुँचा। श्रीराधारानी के दर्शन करने के बाद उसकी दृष्टि मन्दिर की भीत पर बने हुये एक तैलचित्र पर जम गई, जिसमें वेणी-गूंथन लीला का दृश्य अंकित है। शयन आरती पर्यन्त वह अपलक नेत्रों से उस चित्र की ओर देखता रहा और अन्त में जब कर्मचारियों ने नित्य नियम के अनुसार मन्दिर के फर्श को गीले कपड़े से पोछना आरम्भ किया तब भी वह ब्राह्मण वहाँ से हटने को तैयार नहीं हुआ और उसकी दृष्टि यथावत् उस चित्र पर ही जमी रही। कर्मचारियों ने तंग आकर उसे डाटना आरम्भ किया तो वह जोर से हे राधे अब मैं कहाँ जाऊँ? कहकर बेहोश हो गया। कर्मचारी उसको हाथों पर उठाकर मन्दिर से बाहर ले गये और मुख्य द्वार के पास वाले कमरे में उसे लिटा दिया। युवा ब्राह्मण की आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित थी और उसके सारे कपड़े भीग जाने के बाद भी रुक नहीं रही थी। एकत्रित जन समूह उसकी यह हालत देखकर बेचैन हो रहा था और डाक्टर को शीघ्र बुलाने की मांग कर रहा था। स्थिति बिगड़ती देखकर कर्मचारियों में से एक व्यक्ति दौड़कर श्रीहितानन्द गोस्वामी को बुला लाया जिनकी निकुञ्जवन में उन दिनों सेवा चल रही थी। गोस्वामी जी ने आते ही

वृन्दावन की सरकारी डिस्पैंसरी के डाक्टर माथुर को बुलाने भेजा और डाक्टर के आने तक लोगों को समझाते बुझाते रहे। डाक्टर ने आकर युवा ब्राह्मण की जांच की किन्तु उसके शरीर को पूर्णतः निरोग पाया। अन्त में उसे अस्पताल भेज देने की राय देकर डाक्टर चले गये। लोगों ने उसे शीघ्र ही अस्पताल पहुँचा दिया, किन्तु वहाँ भी रात के ग्यारह बजे तक उसकी अश्रुधारा बहती रही। वहाँ उसकी परिचर्या में बाबा ध्रुवालिशरण नामक एक राधावल्लभीय साधु स्वयं नियुक्त हो गये। बाबा ने उसके मुख में चरणामृत डाला और उसके कानों के पास मुंह ले जाकर धीरे-धीरे श्रीराधा नाम का उच्चारण करने लगे नाम सुनकर युवा ब्राह्मण ने आँखें खोलीं और बाबाजी की ओर बड़ी स्निग्ध दृष्टि से देखा। बाबाजी ने हमको बतलाया कि जब भावावेश में मैंने उसका आलिंगन करना चाहा तो मुझे उसका शरीर माखन के समान कोमल लगा और मेरे बाहुओं में से वह जाने कैसे निकल कर चारपाई पर गिर गया। उसकी आँखों से अश्रुधारा अब भी प्रवाहित थी और बाबाजी उसके लिये दूध लाने के लिये अस्पताल के पास की एक दुकान पर दौड़कर चले गये किन्तु उनके वापस आने तक युवा ब्राह्मण अस्पताल से बाहर निकल चुका था और इधर-उधर बहुत दौड़ धूप करने पर भी कहीं उसका पता नहीं चला। दूसरे दिन सवेरे उक्त बाबाजी उसे खोजने के लिये जब सेवाकुन्ज पहुँचे तो वहाँ टहल करने वाली एक बाई ने उन्हें बतलाया कि कुछ ही देर पहले उसने उस ब्राह्मण को ललिताकुंड पर खड़ा देखा था। बाबाजी दौड़े हुये ललिता कुण्ड पर पहुँचे, किन्तु वहाँ उनको कोई नहीं मिला। इस घटना को सुनाते समय उक्त बाबाजी कई बार भाव विभोर हो गये थे।

बाबा ध्रुवालिशरण ने हमको आँखों देखी एक अन्य घटना भी सुनाई। उन्होंने बतलाया कि ८-९ वर्ष पूर्व में एक दिन मंगला आरती के दर्शनों के लिये जब सेवाकुंज पहुँचा तो मैंने देखा कि एक बंगाली साधु मन्दिर के सामने छाती के बल पर पड़ा हुआ है और अर्धचेतनावस्था में जीभ से रज चाट रहा है। कर्मचारी लोग उसे डांट फटकार रहे हैं एवं अवैध रूप से वहाँ रात में रह जाने के अभियोग में उसे पुलिस के हवाले कर देने की धमकी दे रहे थे। बंगाली साधु ने भयभीत होकर बंगला में लिखा हुआ एक पत्र बड़ी कठिनाई से अपनी जेब से निकाला और पुजारी के हाथ में दे दिया। किन्तु वहाँ उपस्थित कोई भी व्यक्ति उसको बांच न सका। साधु से बोला नहीं जा रहा था किन्तु उसने जैसे तैसे उसे पढ़कर सुनाया पत्र में लिखा था कि "मैं निकुंजवन में अपनी इच्छा से नहीं रहा हूँ। मुझे श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्वप्न में आदेश दिया था कि तू वृन्दावन चला जा और वहाँ सेवाकुंज में तुम्हें श्री जी के दर्शन हो जायेंगे। इतना कहते कहते उसके प्र.ण निकल गये।

थोड़ी-सी देर में यह समाचार सारी बस्ती में फैल गया और सैकड़ों लोग वहाँ एकत्रित हो गये। लोगों ने पहले तो साधु के शव पर खूब सेवाकुंज की रज डाली और फिर उसको बाहर लाकर धूमधाम से उसकी अर्थी निकाली। शिमला के निकटवर्ती राज्य की रानी साहिबा भी वहाँ उपस्थित थीं और उन्होंने अपने कैमरे से साधु की

फोटो ली। साधु के शव में एक विलक्षण बात यह थी कि मृत्यु के बाद भी उसमें रोमांच दिखलाई दे रहा था।

सातवीं घटना सन् १९६९ की है। इस वर्ष के अप्रैल मास की १६ तारीख को जब कर्मचारीगण प्रातः ५ बजे मंगला आरती की तैयारी के लिये निकुंजवन में पहुँचे तो उन्होंने महल के निकट वाले चबूतरे के नीचे एक मृत साधु को पड़ा देखा। साधु ने अपने ठाकुरजी का सिंहासन चबूतरे पर रख छोड़ा था। कर्मचारियों ने सेवाधिकारी गोस्वामी जी को बुलाया और उन्होंने आकर साधु को निकुंजवन से बाहर पहुँचवाया तथा उसके ठाकुरजी को वहाँ उपस्थित पं० खिलन बिहारी जी के सुपुर्द कर दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल वृन्दावनवास करने वाली एक अंधी बाई ने निकुंजवन में आकर कामदारजी से मृत साधु के ठाकुरजी मांगे। उन्होंने बतलाया कि आज रात्रि को साधु ने उसको स्वप्न में आदेश दिया है कि वह उसके ठाकुरजी को सेवाकुंज से लाकर अपनी सेवा में रख ले। बाई ने हठ पूर्वक यह भी कहा कि जब तक ठाकुरजी उसे नहीं मिल जायेंगे वह तो न अन्न जल ग्रहण करेगी और न ही निकुंजवन से बाहर जायेगी। अतः गोस्वामी जी को पुनः सूचना दी गई और उन्होंने उक्त पंडित जी से स्वप्न की बात कहकर मृत साधु के ठाकुरजी को वापस मांगा, किन्तु पंडित जी उन्हें एक पंजाबी को दे चुके थे। उन्होंने बताया कि जब से मैंने ठाकुरजी दिये हैं तब से मुझे अकारण मूत्रावरोध हो रहा है और मैं परेशान हूँ। पण्डित जी दौड़कर उस पंजाबी सज्जन के पास गये और ठाकुर जी लाकर उस अँधी बाई को दिये तभी उनको स्वस्थता प्राप्त हुई।

अन्य घटना लगभग ८-९ वर्ष पूर्व की है। उस समय पुराना शहर वृन्दावन में एक सिंधी रहता था, जो शाम को मूंगफली रेवड़ी बिस्कुट आदि ढकेल में रखकर बेचा करता था। वह दिन में नित्य सेवाकुंज में भजन किया करता था और वहाँ कुछ टहल भी कर देता था। पुजारी कामदार आदि उससे परिचित हो गये और उसके आने जाने पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। यह क्रम कई वर्षों तक चलता रहा। दर्शनों की अभिलाषा तीव्र बनने पर एक दिन वह सेवाकुंज की लताओं में छुपकर बैठ गया। दूसरे दिन प्रातःकाल कर्मचारियों को यह देख आश्चर्य हुआ कि उनका चिर-परिचित सिंधी भक्त एकदम अस्तव्यस्त स्थिति में मन्दिर के द्वार पर पड़ा है। उसकी वाणी लुप्त थी और वह पागलों जैसी चेष्टाएँ कर रहा था। लोगों ने उसे उठाकर उसको दूकान में पहुँचा दिया, फिर उसका कहीं पता नहीं चला।

इसी काल के लगभग मोहल्ला पानदरीबां, जयपुर के एक वकील सेवाकुञ्ज की प्रसिद्धि सुनकर रात्रि को वहाँ छुपकर रह गये। दूसरे दिन नितान्त जड़ स्थिति में वहाँ पड़े मिले और १५ दिन बाद उनका देहान्त हो गया।

इस अनुश्रुति से सम्बन्धित घटनाओं का उपसंहार हम एक आवेदन पत्र से करते हैं जो आज से लगभग पाँच मास पूर्व एक सज्जन ने मथुरा के जिलाधीश को

दिया था। आवेदन में कहा गया था कि वृन्दावन के सेवाकुंज नामक स्थान में पण्डों ने बड़ी धांधली मचा रखी है। अपने मन्दिर की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ये लोग रात्रि में श्रद्धालु यात्रियों की हत्या कर डालते हैं और फिर उनका जलूस निकाल कर लोगों की आँखों में धूल डालते हैं। अतः मुझको मेरे रिवाल्वर सहित वहाँ रात्रि में रहने की आज्ञा प्रदान की जाय। जिलाधीश ने इस आवेदन को सिटी मजिस्ट्रेट के पास भेज दिया और उन्होंने स्टेशन आफीसर वृन्दावन के पास। थानेदार साहब उसको लेकर गोस्वामी हितानन्दजी से मिले और उनकी अनुमति माँगी। गोस्वामी जी ने अनुमति देने में अपनी असमर्थता प्रकट की और कहा कि जिलाधीश यदि चाहें तो मन्दिर का ताला तोड़कर आवेदक को वहाँ प्रविष्ट करा सकते हैं। थानेदार हँसकर चले गये और दूसरे दिन आवेदक को गोस्वामी जी के पास भेज दिया गया। गोस्वामीजी ने उनको स्थान से सम्बन्धित परम्परागत बातें समझ कर कहा कि जहाँ से रात्रि के समय बन्दर और पक्षी भी स्वतः बाहर चले जाते हैं वहाँ रात्रि में रहने की अनुमति मैं आपको कैसे दे सकता हूँ। आवेदक महोदय की समझ में गोस्वामी जी की बातें आई या नहीं यह तो वही जानें किन्तु फिर उन्होंने सेवाकुञ्ज में रहने की चेष्टा नहीं की।

सेवाकुंज के सम्बन्ध में कुछ अन्य अनुश्रुतियाँ भी प्रसिद्ध हैं। जैसे वहाँ प्रतिदिन श्रीराधा रानी की जो पुष्प शय्या लगाई जाती है उसके फूल दूसरे दिन अस्तव्यस्त और मसले हुये मिलते हैं, निशीथ भोग मेवे भुक्त शेष मिलते हैं और जो दाँतन रखी जाती है वह चिरी मिलती है।

☆

श्रीललित लेखनी से

श्रीहिताचार्य ने अपनी जोरी (श्रीश्यामा-श्याम) को भूतल पर 'अभूत' बतलाया है। इसका अर्थ यह है कि नित्य अनादि अनन्त होते हुये भी यह जोड़ी उनसे पूर्व किसी को दृष्टिगोचर नहीं थी—किसी के नेत्रों का विषय नहीं थी। उसको नेत्रों का विषय बनाने का श्रेय श्रीहिताचार्य को है।

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी द्वारा प्रवर्तित नित्य विहार की उपासना हर्ष की, मोद की और आनन्द की उपासना है। इस उपासना में प्रेम सौन्दर्य की अवधि रस-सागर श्रीश्यामा-श्याम का परस्पर सुख और हर्ष ही उपास्य है।

भाव-मार्ग

विक्रम की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शतियाँ सम्पूर्ण भारत के लिये धार्मिक पुनरुत्थान काल थीं। इन शताब्दियों में अनेक समर्थ धर्माचार्यों एवं संतों ने प्रगट होकर देश के कोने-कोने में इस नवीन जागरण की पावन दुन्दुभी बजाई थी। इस काल में स्वामी रामानन्द जी, गुरु नानक, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने उत्तर भारत में नवीन उपासना पद्धतियों की स्थापना की इसी प्रकार दक्षिण भारत में भी अनेक सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने वहाँ के धर्म की काया पलट कर दी। धर्म के इस नवीन प्रस्थान में योग देने वाले महापुरुष स्वभावतः विभिन्न रुचियों एवं संस्कारों के थे और इसीलिये यह जागृति अनेक रूपों में दृष्टिगोचर हुई। किन्तु इन सब विधाओं में कुछ बातें सामान्य भी थी और उनमें से एक थी भगवत् प्राप्ति में ज्ञान के साथ और कहीं उनके स्थान में, भाव की उपयोगिता का सुदृढ़ प्रतिपादन।

उपनिषदों में ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ साधन घोषित किया गया है और वास्तव में वहाँ परतत्त्व के जिस निर्गुण-निराकार रूप का प्रधानतया वर्णन है वह ज्ञान द्वारा ही प्राप्त है। उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण, साकार, स-रस स्वरूप के भी वर्णन प्राप्त हैं जिसका पल्लवन पुराणों ने विविध प्रकार से किया है। श्रीशङ्कराचार्य ने उपनिषदों में वर्णित परतत्त्व के परस्पर विरोधी से दिखलाई देने वाले उपर्युक्त दोनों निर्वचनों में संगति बिठाने की चेष्टा की है। उन्होंने बतलाया है कि जो ब्रह्म माया स्पर्श शून्य स्थिति में निर्गुण निराकार है, वही माया-शवलित बनकर सगुण साकार हो जाता है।

वैष्णवाचार्यों ने पुराणों एवं आगम तन्त्रों के आधार पर, ब्रह्म को अशब्द, अरूप, अरस[1] आदि बताने वाली श्रुतियों में प्राकृतिक गुणों, रूप रस आदि का निषेध माना है और इस प्रकार परतत्त्व को सगुण, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस[2] बताने वाली श्रुतियों के साथ उनका समन्वय कर दिया है।

---

१. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगंधवच्च यत्।

—कठ० ३।१५

२. मनोमयः प्राण शरीरो भारूथः सत्य संकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरस।

—छन्दोग्य० ३।२

परतत्त्व के स्वरूप निर्णय में उक्त श्रुति विरोध एक अन्य प्रकार से भी मिटाया जा सकता है जिसको हम मनोवैज्ञानिक ढङ्ग कह सकते हैं। ज्ञान और भाव मनुष्य के मन के दो अङ्ग हैं। एक ही मन से सम्बन्धित होने के कारण इन दोनों को एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र तो नहीं माना जा सकता किन्तु मन में इनमें से एक जब उत्कर्ष पा लेता है तब दूसरे को उसके अनुगत बनना पड़ता है। ज्ञानमयी दृष्टि के मन में प्रकाशित होने के बाद सारे भाव उसके संकेत पर चलने लगते हैं इसी प्रकार मन में जब कोई भाव-काम, क्रोध, लोभ आदि वेग पूर्वक उत्थित हो जाता है तो वह उतने काल के लिये सम्पूर्ण ज्ञान को अपने में रंग डालता है। उदाहरण के लिये, प्रेमोदय काल का ज्ञान प्रेम विहीन स्थिति के ज्ञान से स्पष्टतः भिन्न होता है। मनुष्य के ज्ञान को इस प्रकार प्रभावित कर देने की उसकी अद्‌भुत शक्ति के कारण ही ज्ञान मार्ग में भावों को शुद्ध ज्ञान के उदय में अत्यन्त बाधक माना जाता हैं।

दूसरी ओर पुराणों एवं वैष्णव ग्रन्थों में इन भावों को भगवत् प्राप्ति का उत्तम साधन माना है। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि भाव जब श्रीहरि में सतत रूप से विनियोजित किये जाते हैं तब वे उनमें (श्रीहरि में) तन्मयता करा देते हैं। परतत्त्व के साथ भावों का यह विनियोग सोलहवीं शती में उदित होने वाली वैष्णव सम्प्रदायों में पूर्णता को प्राप्त हो गया।

भावों के स्वरूप पर विचार करने से मालुम होता है कि इनके प्रकाश के लिये इनका कोई विषय होना आवश्यक है। हमारे मन में रहा हुआ क्रोध भाव तभी प्रकाशित होता है जब उसका कोई मानसिक या प्रत्यक्ष विषय हमारे सामने उपस्थित होता है। यह विषय ही उस भाव का कारण कहलाता है। दूसरी बात यह है कि भाव की पुष्टि तभी होती है जब उसका विषय मानसिक न रहकर नेत्रों का विषय बनता है। यदि किसी व्यक्ति पर मन में क्रोध आ रहा है तो वह सम्बन्धित व्यक्ति के सामने न आने तक मन में ही घुटता रहता हैं और उसके सामने आते ही भड़क उठता है। यही बात प्रेम आदिक सात्विक प्रकृति के भावों के सम्बन्ध में समझनी चाहिये।

ज्ञान साधन की अन्तिम परिणति में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटकर एक मात्र ज्ञान शेष रह जाता हैं। भाव के पूर्ण उद्दीपन के लिये अन्त तक विषय की दृश्य की आवश्यकता होती है। यह बात अवश्य है कि जैसे-जैसे भाव का परिष्कार होता चलता है वैसे-वैसे इसका विषय भी शुद्ध भाव रूप बनता है किन्तु वह रहता है विषय ही। इसलिये भक्ति रस सिद्धान्त में भाव की दो स्थितियाँ मानी हैं आश्रय भाव और विषय भाव। गोपीजनों ने श्रीकृष्ण से प्रेम किया और वे शुद्ध प्रेम स्वरूप में उनके सामने उपस्थित हो गये। किन्तु वे अपने भाव के लिये श्रीव्रजेन्द्रनन्दन को अपने नेत्रों का विषय बनाये रखने के लिये सदैव लालायित रहीं। श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् गोपीजनों के उत्कट विरह ताप की शान्ति के लिये उद्धव जी व्रज में पधारे और उन्होंने श्रीकृष्ण के अन्तर्यामी व्यापक रूप को गोपियों के सामने रखा किन्तु इन

अद्‌भुत प्रेमिकाओं ने उनकी बात पूरी सुनी भी नहीं और पुष्पों पर मंडराते हुए एक भ्रमर में अपने प्रियतम के श्याम वर्ण एवं उनकी रस ग्राहकता को प्रत्यक्ष देखकर उसको अपना प्रेम निवेदन करने लगीं। नेत्रों के विषय रूप में प्रियतम की अङ्ग प्रभा एवं स्वभाव को पाकर गोपियों का प्रेम पारावार सहसा उमड़ पड़ा और उद्धवजी उसमें डूबने उतराने लगे।

परवर्ती काल में गोपीभाव भावित श्रीचैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में एक दिन समुद्र तट पर खड़े हुये थे। सहसा मेघाच्छन्न हो गया और बादलों की श्याम छाया समुद्र के जल पर पड़ गई। श्रीमहाप्रभु के नेत्रों के सामने उनके श्यामसुन्दर की छवि घूम गई और वे उनसे मिलने के लिये समुद्र की उत्ताल तरंगों में कूद पड़े और अचेतन हो गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव के सम्यक उद्दीपन के लिये सगुण साकार वस्तु की विषय रूप में आवश्यकता है। यह भाव जब परतत्त्व से विनियोजित होता है तो इसके द्वारा उसका ग्रहण जिस रूप में होता है वह स्वभावतः सगुण और साकार होता है। (कबीरदास जी का ही ऐसा एक उदाहरण है जिन्होंने निर्गुण निराकार के साथ भक्ति भाव का सम्बन्ध स्थापित किया था किन्तु उनका भक्ति मार्ग इसलिये योग-मार्ग के निकट अधिक रहा और अभी तक है।) अतः निर्गुण और साकार प्रतिपादन श्रुतियों का समन्वय इस मनोवैज्ञानिक आधार पर सरलता से और स्वाभाविक ढंग से हो जाता है कि ज्ञान दृष्टि से देखने पर जो तत्त्व गुण रहित, आकार रहित रस रहित, शब्द रहित रूप में अनुभूत होता है। वही भाव दृष्टि से सगुण साकार और रूप में दृष्टिगोचर होता है। यदि हम समन्वय की इस विधा को स्वीकार करलें तो ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग के बीच में लगी हुई श्रेष्ठता की प्राचीन होड़ समाप्त हो जाय। दोनों ही मार्ग अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ हैं और दोनों के द्वारा ही परम निर्वृत्ति की उपलब्धि होती देखी जाती है। किन्तु हो यह रहा है कि एक ओर तो ज्ञानमार्गी साधक गण अपने क्षेत्र में खड़े होकर और भाव परिपाटी का कुछ भी अनुभव न रखते हुये भावमार्ग को हीन, कोरी भावुकता पूर्ण और केवल माया शवलित ब्रह्म तक पहुँचने वाला मार्ग बतलाते हैं। दूसरी ओर भावुकगण ज्ञान मार्ग को महा भ्रमपूर्ण एवं जीव की दुर्गति कर देने वाला मार्ग घोषित करते हैं।

आधुनिक युग में भी जब नवीन ज्ञान के प्रकाश में प्रायः सभी प्राचीन विधाओं का मुल्यांकन लाभपूर्वक किया जा रहा है, हमने कुछ ही मास पूर्व ज्ञान मार्ग के एक नवोदित पत्र में एक भारत प्रसिद्ध संन्यासी विद्वान का लिखा लेख देखा था जिसमें उन्होंने भक्ति और योग मार्ग से ज्ञान मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। उन्होंने बतलाया था कि उक्त मार्गों में तत् पदार्थ (जगत्) को तो परमात्मा से अभिन्न रूप में देख लिया जाता है जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी की इस प्रसिद्ध चौपाई से प्रगट है—

"सिया राममय सब जग जानी।
करहु प्रणाम जोरि जुग पानी।।"

किन्तु अहं तत्त्व को परमात्मा के भिन्न उनके सेवक रूप में स्वीकार किया जाता है," मैं सेवक सचराचर रूप राशि भगवंत। "जबकि ज्ञान मार्ग में अहं और तत् दोनों को परमात्मा का ही रूप माना जाता है अतः यह मार्ग उक्त दोनों मार्गों से अधिक पूर्ण है।

जिस आधार से यह तर्क उपस्थित किया गया है वह स्पष्टतः ज्ञान दृष्टि के समाश्रित है और इसलिये अपने आप में अकाट्य है। किन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके है, भक्ति भाव पर आधारित है और आधुनिक मनोविज्ञान (जो प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित है) की दृष्टि में ज्ञान और भाव मन के एक दूसरे से भिन्न एवं लगभग स्वतन्त्र अङ्ग हैं। एक की दृष्टि से दूसरा स्वभावतः अपूर्ण है और इसका कारण यह है कि दोनों की उपलब्धियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। समान जाति और धर्म वाली वस्तुओं की ही तुलना करके उनकी श्रेष्ठता और कनिष्ठता का निर्णय किया जा सकता है। घोड़े की तुलना घोड़े के साथ और हाथी की तुलना हाथी के साथ ही हो सकती है। घोड़े और हाथी की तुलना करने पर तो दोनों के विशेष गुणों और धर्मों को ही अलग-अलग बतलाया जा सकता है।

ज्ञान मार्ग में आत्मा और परमात्मा की एकरूपता को बड़ी भारी उपलब्धि माना जाता है। भाव मार्ग में सेव्य सेवक भाव के आगे इसको अत्यन्त तुच्छ बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत में कपिलदेव की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।

सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्ति एवं परमात्मा के साथ एकत्व को भी भक्त गण मेरे सेवन के बिना ग्रहण नहीं करते। इसलिये श्रीरूप गोस्वामी पाद ने शुद्ध भक्ति उत्तमा भक्ति का लक्षण बतलाते हुये कहा है—

"अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञान कर्माधनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।"

अन्य अभिलाषा शून्य ज्ञान कर्मादि से अनावृत अनुकूलतापूर्वक श्रीकृष्ण का अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है।

एकत्व की अपेक्षा भगवत् सेवन अधिक आनन्दमय है, इस बात में भाव मार्ग का आश्रय लेने वाले भक्तजनों का अनुभव ही अन्तिम प्रमाण है और उनके जीवन में उस आनन्द की जो छटायें देखने को मिलती हैं वह आत्मानन्द के प्रकाश से किसी भी अंश में कम नहीं होतीं, प्रत्युत अधिक निबिड़ होती है।

नित्य-विहार-रस-पद्धति के कुछ मौलिक तथ्य

आज से लगभग पाँच दशक पूर्व श्रीवृन्दावन में नित्य विहारोपासना एक नितान्त रहस्यमय भजन-पद्धति मानी जाती थी और कतिपय रसिकजनों तक ही उसका ज्ञान सीमित था। इस उपासना की आधारभूत वाणियाँ भी उस काल में अप्रकाशित थीं और अत्यन्त दुर्लभ थीं। किन्तु अब धारा इससे विपरीत दिशा में बह चली है। लगभग सभी सम्बन्धित वाणियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और नित्य-विहार के आदि गायक तीनों रसिक महानुभावों—श्रीहित हरिवंश गोस्वामी, स्वामी श्रीहरिदास जी एवं श्रीहरिराम व्यास जी की वाणियों के विशद अध्ययन प्रकाशित हो चुके हैं। इन तीनों रसिकाचार्यों के भिन्न स्वभाव, संस्कार एवं जीवन-दृष्टि को लेकर इनके द्वारा गीत नित्य-विहार के वर्णनों में जो सतही भिन्नता रही हुई है उसको मौलिक, मानकर ही तीनों महानुभावों की स्वतन्त्र परम्पराओं की सृष्टि हुई है। जिस प्रकार एक ही रागिनी की अदायगी अभिव्यक्ति विभिन्न गायकों द्वारा अपनी भिन्न शिक्षा-दीक्षा एवं गायन प्रणाली के कारण भिन्न प्रकार से होती है और इसी को लेकर गायकों के विभिन्न 'घरानों' का जन्म हुआ है, उसी प्रकार नित्य-विहार के तीन 'घरों' को समझना चाहिये। हमने ४०-५० वर्ष पूर्व श्रीस्वामीजी के घर श्रीहितजी के घर एवं श्रीव्यासजी के घर का प्रचलन वृन्दावन में देखा था।

ध्रुवदासजी की 'बयालीस लीला' में 'सिद्धान्त विचार' नामक एक लीला व्रज-भाषा गद्य में है। उसमें उन्होंने नित्य-विहारोपासना के स्वरूप का विशद विवेचन किया है, और तीनों रसिकाचार्यों की वाणियों से उसको प्रमाणित किया है। हम इस समन्वित दृष्टिकोण को अपनाकर 'नित्य-विहार' रस पद्धति के मौलिक तत्वों का परिचय देने की चेष्टा करेंगे।

(१) श्रीराधा-चरणों की प्रधानता—विक्रम की सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में श्री राधाकृष्ण-भक्ति की जो दो धारायें वृन्दावन में केन्द्रित हुई थीं उनमें से एक श्रीकृष्ण की प्रधानता रखकर प्रवाहित हुई थी और दूसरी श्रीराधा की प्रधानता लेकर। एक श्रीचैतन्य सम्प्रदाय वालों का उद्घोष था 'अराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयः' और दूसरी हरित्रयी वालों का—'मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तृण छिये।' (श्रीहितजी) 'परम धन राधा नाम अधार' (श्रीव्यासजी) और 'हमारे माई श्यामाजू कौ राज' (श्री

बीठलविपुल जी) श्रीविहारिनदास ने बड़े काव्यात्मक ढंग से इस प्रधानता को व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि मेघ आकाश में रहते हैं और जब वे उमड़-घुमड़ कर पृथ्वी पर बरसने लगते हैं तो जल-प्रवाह बनकर कूल-किनारों को विदीर्ण करने लगते हैं, किन्तु पुल के नीचे से निकलने में उस प्रवाह की सारी उद्दण्डता समाप्त हो जाती है और सिमट कर ही निकलना पड़ता है। श्रीहरिदास ने श्यामाश्याम के परस्पर सम्बन्ध का जिस प्रकार वर्णन किया है वह उपर्युक्त प्रवाह और पुल के जैसा है और मैं उसी के अनुसार युगल की उपासना करता हूँ। हमारे मत में कुञ्जविहारिणी श्रीराधा सर्वोपरि हैं और व्रजराज श्रीश्यामसुन्दर भी उनके आश्रित हैं।

अम्बर संबर वास बसें,
उमड़ी घनघोर घटा घहरानी।
यद्यपि कूल करारन ठाहत,
आन बहै पुल ही तर पानी।।
दास बिहारी उपासन यों,
निरनै करि श्रीहरिदास बखानी।
है परजा व्रजराजहु लों,
सर्वोपरि कुञ्जविहारिन रानी।।

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने भी अपने लीला वर्णन का एकमात्र प्रयोजन श्री राधा के चरणों में रति उत्पन्न करना बताया है। एक सुन्दर निकुञ्ज-लीला का वर्णन करने के बाद वे कहते हैं—

हित हरिवंश यथामति बरनत, कृष्ण-रसामृत-सार।
श्रवण सुनत प्रापक रति राधा, पद अंबुज सुकुमार।।

अपने संस्कृत-स्तोत्र ग्रन्थ श्रीराधा रस सुधानिधि की समाप्ति पर अपनी इस रचना की विषय वस्तु का निर्देश करते हुये कहा कि मेरी 'गिरः' (वाणी) कोमल कुञ्ज पुञ्ज से सुशोभित श्रीवृन्दावन मण्डल से संलग्न है और उसमें श्रीवृषभानुनन्दिनी के चरण-नख की ज्योति-छटा प्रायः क्रीड़ा करती रहती हैं—

लग्नाः कोमल कुञ्ज पुञ्ज विलसद्वृन्दाटवी मण्डले।
क्रीडच्छ्री वृषभानुजा पदनखज्योतिश्छटा प्रायशः।।
—श्रीराधासुधा निधि, श्लोक सं० २६८

हरित्रयी की वाणियों में से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु विस्तारभय से श्रीस्वामीजी का एक पद और देकर हम सन्तोष करेंगे। उनके इस पद

में श्रीश्यामसुन्दर कहते हैं कि हे राधे, तुम्हारा यश कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में विराजमान है। तुम्हारी श्री शोभा अगाध है और मैं उसका वर्णन करने में असमर्थ हूँ। मेरे बहुत से जन्म श्री-शोभा का विचार करते व्यतीत हुये हैं। श्रीहरिदास के स्वामी श्री श्यामा से श्रीकुञ्जविहारी कहते हैं कि हे प्यारी मैंने अपनी साधना के ये दिन क्रम-क्रम करके पार किये हैं -

तुव जस कोटि ब्रह्माण्ड विराजै राधे।
श्रीशोभा वरनी न जाय अगाधे ॥
बहुतक जन्म विचारत ही गये साधे-साधे।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुञ्जविहारी,
कहत री प्यारी ये दिन मैं क्रम-क्रम करि लाधे ॥

—श्रीकेलिमाल, पद सं० ४१

(२) श्रीराधा की प्रधानता सामान्य-सी बात लगती है किन्तु रासलीला के क्षेत्र में इसके बड़े दूरगामी परिणाम हुये हैं। प्रथम तो श्रीकृष्णलीला का भावी भाव ही श्रीकृष्ण रति से बदलकर श्रीराधा रति हो जाता है तथा रस के आलम्बन में भी उलट फेर हो जाती है। श्रीकृष्ण प्रधान काव्य के विषयालंबन श्रीकृष्ण हैं और आश्रय श्री राधा आदि गोपीगण। इसके विपरीत नित्य-विहार के काव्य की विषयालंबन श्रीराधा हैं और आश्रय—श्रीकृष्ण। गोपियों के स्थान में यहाँ सखियाँ हैं जो सामाजिक की भाँति केवल रसास्वाद करती हैं। वे श्रीराधा की केवल किंकरियाँ हैं। उनका श्रीकृष्ण के साथ कोई शृङ्गारिक सम्बन्ध नहीं है। फिर भी श्रीश्यामाश्याम की प्रेम क्रीड़ा में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

किन्तु चाहे श्रीराधा की प्रधानता मानने वाले हों अथवा श्रीकृष्ण की, हैं दोनों युगल-उपासक ही। अतः प्रधानता का अर्थ है प्रधान रति। श्रीकृष्ण की प्रधानता मानने वालों की प्रधान रति श्रीकृष्ण में रहती है और गौण श्रीराधा में। इसी प्रकार श्रीराधा की प्रधानता वालों की प्रधान रति श्रीराधा में और गौण श्रीकृष्ण में होती है। अष्ट-छाप के महानुभावों ने श्रीराधा के रूप-सौन्दर्य के बड़े चटकीले वर्णन किये हैं किन्तु उनकी प्रधान रति श्रीकृष्ण में और तथ्य उनकी रचनाओं में सर्वत्र उजागर होता है। उदाहरण के लिये नंददासजी ने अपनी प्रसिद्ध होली धमार 'अरी चलि बेगि छबीली हरि सौं खेलैं जाँहि' में श्रीराधा के रूपगुण का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन किया है और यहाँ तक कह दिया है कि नंद कौ (नन्द नन्दन) सागर की भाँति उमड़ रहे हैं और तुम्हारी (श्रीराधा की) 'मेंड' से ही रुकते हैं—उमड़्यौ है निधि ज्यों नवल नन्द कौ रुकत रावरी मेंड। किन्तु धमार के अन्त में जब श्रीराधाकृष्ण की परम सौन्दर्यमयी उद्दाम क्रीड़ा देखकर 'शिव-सनकादिक-शारद-नारद' जय-जयकार करने लगते हैं तो नन्ददासजी अपने त्रिभुवन मोहन 'ठाकुर' की बलैया लेने लगते हैं और इस क्रीड़ा में भाग लेने वाले अन्य सब उनको उस समय विस्मृत हो जाते हैं।

शिव सनकादिक सारद नारद बोलत जैं-जैं-जैं ।
नन्ददास अपने ठाकुर की जियहु बलैया लैं ।।

दूसरी ओर अब श्रीहित चौरासी का एक पद देखिये। इसमें श्रीश्यामाश्याम के 'मत्त-मुदित' सुधग नृत्य का चित्रण किया गया है—'मोहनी मोहन रंगे प्रेम-सुरंगे मत्त मुदित कल नाचत सुधंगे' पद में नृत्य-परायण युगल के अद्भुत रूप-सौन्दर्य एवं कुशलता का समान वर्णन करने के बाद श्रीहितजी की दृष्टि अपनी 'प्राणनाथ' स्वामिनी पर टिक जाती है और वे कह उठते हैं कि नव तरुणि श्रीराधा सुधारस की वर्षा कर रही हैं। उनके कंकण, किंकिणि और नूपुर से उत्पन्न होने वाली ध्वनि को सुनो—

कंकन किंकिनि धुनि मुखर नूपुरन
सुन हित हरिवंश रस बरसै नव तरुनि

(३) नित्य-विहार की रस-पद्धति का तीसरी मौलिक तथ्य उनका सम्पूर्णतया प्रेम के मनोवैज्ञानिक रूप पर आधारित होना है। वैसे तो श्रीकृष्ण की प्रधानता वाली पद्धति भी प्रेम-पद्धति ही है किन्तु वह प्रधानता पुराणों पर आधारित है और भगवतत्त्व के पौराणिक विकास-क्रम को स्वीकार करके चलती है। पुराणों में भगवान और उनकी विविध शक्तियों का विशद वर्णन मिलता है। सोलहवीं शती में विशुद्ध प्रेमा-भक्ति का देशव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ होने पर उत्तर भारत में प्रेम को निर्गुण और सगुण दो धाराओं में प्रवाहित होना पड़ा। निर्गुण धारा की पृष्ठ भूमि में शांकर निर्गुणवाद, गोरखनाथी योग मार्ग और सूफीवाद थे। सगुण धारा में प्रेम को शक्ति-शक्तिमान् के फ्रेम में जड़ जाना पड़ा। इस धारा के अनुसार प्रेम भगवान् की अन्तरंगा ह्लादिनीर शक्ति का सार है–ह्लादिनी सार-प्रेम। स्पष्ट है कि दोनों स्थानों में प्रेम को स्वजातीय भूमि पर खड़ा होना पड़ा है और उसको उसकी स्वाभाविक मनोवैज्ञानि-कता में समझने की चेष्टा नहीं की गई।

पूर्वग्रह के बिना प्रेम को उसके स्वाभाविक रूप में समझने का प्रयास, हमारी दृष्टि में, हरित्रयी और उनके आश्रित महानुभावों की वाणियों में किया गया है। इन्होंने देखा कि प्रेम प्राणिमात्र से अन्दर नाना स्तरों में रहा हुआ एक अत्यन्त मौलिक भाव है जिसकी अभिव्यक्ति किसी विषय (object) को लेकर होती है। (वस्तुतः मनुष्य के अन्दर रहे हुये सभी भावों की जागृति विषयापेक्षी होती है।) इसीलिये कहा गया है कि दो मिलकर जिस एक पथ का प्रदर्शन करते हैं, वह संसार में प्रेम कहलाता है—'द्वै मिल एक पंथ दरसावहिं, सोई जन में प्रेम कहावहिं।' इन दो में से एक प्रेमी और दूसरा प्रेम पात्र कहलाता है, एक आश्रित होता है दूसरा आश्रय।

हरित्रयी रचनाओं में श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा को उनके पौराणिक परिप्रेक्ष्य से हटाकर शुद्ध प्रेमी और प्रेमपात्र के रूप में चित्रित किया गया है, और इन दोनों में प्रेम-

सम्बन्ध से अतिरिक्त अन्य किसी सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि श्रीश्यामाश्याम के रूप में स्वयं शुद्धतम प्रेम ही अपने सहज दो रूपों-प्रेमी और प्रेम पात्र—में नित्य प्रकट रहकर नित्य क्रीडा कर रहा है और प्रेम में प्रेम-सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किन्हीं–शक्ति–शक्तिमान् अथवा प्रकृति-पुरुष आदि की–कल्पना अस्वाभाविक है।

प्रेम का मनोवैज्ञानिक धरातल पर विचार करके हरित्रयी के महानुभावों ने उसके अनेक रहस्यों का उद्घाटन अपनी वाणियों में किया है। उदाहरण के लिये स्वामी हरिदासजी का एक रूप लीजिये। इसमें उन्होंने बताया है कि प्रेम के समुद्र में रूप का जल भरा हुआ है और यही कारण है कि उसका संतरण अत्यन्त दुरूह बना हुआ है—'प्रेम समुद्र रूप रस गहे कैसे लागे घाट। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेम का विषय रूप-सौन्दर्य ही होता है, प्रेम पूरित दृष्टि से सदैव रूप-सौन्दर्य ही दिखलाई देता है। यही कारण है कि अन्य लोगों को कुरूप दिखलाई देने वाला प्रेमपात्र भी अपने प्रेमी को सौन्दर्य मूर्ति दिखलाई देता है। (अपने प्रेमपात्र के मुख पर चेचक के गहरे दाग देखकर किसी प्रेमी की यह उक्ति दर्शनीय है—"आँख गड़ गड़ गई, गाड़ पड़ पड़ गये।" यह भी देखा जाता है कि प्रेम जितना सघन होता है, वह उतने ही गहरे रूप-सौन्दर्य को लक्षित करता है। श्रीश्यामसुन्दर का श्रीराधा के प्रति प्रेम अपार है तो श्रीराधा का रूप-सौन्दर्य अगाध है। नित्य-विहार-रस-पद्धति में श्रीश्यामा-श्याम परस्पर प्रेमी और प्रेमपात्र हैं अतः दोनों ही प्रेम और सौन्दर्य की अवधि हैं।

सौन्दर्य की परिभाषा के लिये 'हित चौरासी' का एक पद देखिये। इसमें श्री राधा के अद्भुत सौन्दर्य का एवं श्रीश्यामसुन्दर पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का वर्णन किया गया है। सखी कहती है कि श्रीराधा के दर्शनमात्र से ही श्रीश्यामसुन्दर के मन की गति बिना किसी उद्यम या आयास के पंगु हो गई है तो जब श्रीराधा अपने प्रियतम की ओर भृकुटि–विलास पूर्वक देखेंगी तब क्या होगा? इसमें श्रीहितजी ने सौन्दर्य की सर्वमान्य परिभाषा कर दी है—सौन्दर्य वह है, जिसको देखकर मन अनायास समाहित हो जाय। आधुनिक काल में श्रीरामचन्द्र शुक्ल ने इस परिभाषा को ही वरीयता प्रदान की है।

(४) नित्य-विहार रस-पद्धति का चौथा मौलिक तथ्य है उसका विरह-संयोग से सम्बन्धित दृष्टिकोण। संयोग श्रृङ्गार रस के दो पक्ष माने जाते हैं श्रृङ्गार की पूर्णता तो संयोग में ही मानी गई है किन्तु माना यह जाता है कि विरह के बिना संयोग पुष्ट एवं आस्वादनीय नहीं बनता और इसीलिये श्रृङ्गार रस के वर्णनों में विरह-वर्णन की प्रधानता रहती है। किन्तु हरित्रयी के रसिक महानुभावों ने प्रेमानुभव की अखण्डता का एवं एकरसता पर बहुत अधिक भार दिया है और विरह-संयोग के अनुभव से उनको प्रेम की एकरसता नष्ट होती दिखलाई देती है। श्रीध्रुवदास ने कहा है कि वियोग में

१- अब ही पंगु भई मन की गति बिनु उद्दिम अनयास।
तब की कहा कहौं जब पिय प्रति चाहत भृकुटि विलास॥

दुख होता है और संयोग में सुख। इसमें रस दो प्रकार का हो जाता है और उसको प्रेम-रस नहीं कहा जा सकता।[1] इसीलिये श्रीबिहारिनदासजी ने कहा है कि नित्य-बिहार में न श्रम है, न तम है, न गम है, न विरह है, न भ्रम है और न मान का लेश-मात्र भी प्रवेश है—तहाँ नहीं कछु श्रम तम न गम विरह भ्रम मान लव लेश प्रवेश न प्रसंगी।

नित्य-विहार श्रीश्याम-श्यामा की शृङ्गार केलि ही है और विरह के अभाव में शृंगार एकाँगी रह जायेगा तथा संयोग का पोषण भी नहीं होगा। इसका उत्तर देने को श्री ध्रुवदासजी कहते हैं कि श्रीश्यामाश्याम का प्रेम भिन्न प्रकार का है और उसके आस्वाद की रीति भी अद्भुत है। ये दोनों तन-मन से कभी वियुक्त नहीं होते और फिर भी इनकी परस्पर आसक्ति अहर्निश बढ़ती रहती है। नित्य-संयोग में रहते हुये भी स्वयं को कभी संयुक्त नहीं मानते और एक दूसरे को व्याकुल नेत्रों से देखते रहते हैं परस्पर सतत दर्शन को जो अदर्शन मानते हैं, उनकी प्रीति का वर्णन कोई क्या करे?[2]

किन्तु हरित्रयी के तीनों महानुभावों की वाणियों में मान-विरह के अनेक पद मिलते हैं। इनके सम्बन्ध में श्रीध्रुवदास के 'सिद्धान्त विचार' में यह स्पष्टीकरण मिलता है—'जो कोऊ कहै कि मान विरह महापुरुषन गायौ है सो सदाचार के लिये, औरन के समुझाइवे कौ कह्यौ है। पहले स्थूल प्रेम समझै तब आगे चलै जैसे, श्री भागवत की बानी। पहिले नवधा भक्ति करै तब प्रेम लच्छना आवै। अरु महापुरुषन अनेक भाँति के रस कहे हैं। एकै इतनौं समझनौं कै उनको हियो कहाँ ठहरानौं है, सोई गह्यौं।'

मान-विरह के पदों के अतिरिक्त भी इन महानुभावों की वाणियों में कई पद ऐसे मिलते हैं, जिनका नित्य-विहार की रस-पद से कोई सम्बन्ध दिखलाई नहीं देता। उदाहरण के लिये तीनों महानुभावों की वाणियों में 'दान के पद मिलते हैं। दानकेलि श्रीकृष्ण की प्रधानता वाली पद्धति में तो फब जाती है। इसमें नन्दनन्दन गोपियों से गोरस दान (टैक्स) माँगते हैं। किन्तु नित्य- विहार पद्धति में यह केलि नितान्त असंगत है। यहाँ तो श्रीराधा दान माँगने की स्थिति में हैं।

१- जब बिछुरत तब होत दुःख मिलतहि हियौ सिरात।
याही में रस द्वै भये प्रेम कह्यौ क्यों जाय॥

२- तिनकौ प्रेम और ही भाँति-अद्भुत रीति कही नहिं जाति।
(रहस्य-मंजरी)

तन मन कै बिछुरैं नहीं चाह बढ़ै दिन रैन।
कबहुँ संयोग न मानहीं देखत भर-भर नैन॥ प्रीति चौवनी
देखत ही अनदेखी मानैं-तिनकी प्रीतिहि कहा बखानैं।
—रहस्य-मंजरी

स्पष्टत: इन महानुभावों ने किसी प्राचीन 'सदाचार' के पालन के लिये ही ये पद कहे हैं। बाद के महानुभावों की वाणियों में यह परम्परा विच्छिन्न हो गई।

(५) इनके अतिरिक्त नित्य-विहार साहित्य की एक विशिष्टता है उसमें पाया जाने वाला 'सहज' शब्द निर्गुण साहित्य में प्रचुर रूप में मिलता है। अष्टछाप के कवियों ने भी इसका प्रयोग किया है किन्तु उसके 'स्वाभाविक' अर्थ में ही। निर्गुण साहित्य और रसिकों की वाणियों में 'सहज' शब्द परिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इसके कारण नित्य-विहार की रस-पद्धति में गौड़ीय पद्धति से कुछ विलक्षणता आ गई है। केलिमाल के प्रथम पद में श्रीश्यामा-श्याम की जोड़ी को 'सहज जोरी' कहा गया है—

माई री, सहज जोरी प्रगट भई,
रंग की गौर-श्याम घन-दामिनि जैसें।

'हित चौरासी' के एक पद में श्रीराधा के अङ्ग माधुर्य को 'सहज माधुरी' बताया गया है—सहज माधुरी अङ्ग-अङ्ग की कहि कासों पटतरियै।' श्रीव्यासजी अपने एक पद में श्रीवृन्दावन के माधुर्य को 'सहज माधुरी' कहते हैं—

'श्रीवृन्दावन सहज माधुरी रास विलास प्रसंस।'

श्रीस्वामीजी अपने उक्त पद में 'सहज जोरी' का परिचय देते हुये आगे कहते हैं कि यह जोरी पहिले भी थी और ज्यौं की त्यों आगे भी रहेगी। इसके अङ्ग-अंग की उज्ज्वलता, सुघरता और सुन्दरता सदैव ऐसी ही बनी रहेगी। श्री हरिदासजी कहते हैं कि मेरे स्वामी श्यामा-कुञ्जबिहारी समान वय के हैं अर्थात् उनमें रस का प्रकाश समान है।[१]

सेवकजी ने नित्यविहारिणी श्रीराधा को 'सहज रूप वृषभानु नन्दिनी' कहा है। इनका शृंगार और इनकी सर्वांग शोभा सहज है। ये सहजानन्द का वर्षण करती रहती हैं तथा वृन्दावन में नित्य उदित चन्द्रिका हैं। इनकी नित्य नवीन केलि सहज है, एवं सुख चैन सहज हैं तथा अनिर्वचनीय माधुरी से पूर्ण हैं।[२]

१—माई री सहज जोरी प्रगट भई जु रंग की गौर-स्याम घन-दामिनी जैसे।
प्रथमहुं हुती अबहूं आगेहू रहिहैं न टरिहैं तैसें॥
अंग-अंग की उजराई सुघराई सुन्दरता ऐसें।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुञ्जबिहारी सम वैस वैसें॥

२—सुभग सुन्दरी सहज सिंगार। सहज सोभा सर्वाङ्ग प्रति सहज रूप वृषभानुनंदिनी
सहजानन्द कदंबनी सहज विपिन वर उदित चंदिनी।
सहज केलि नित-नित नवल सहज रंग सुख चैन॥
सहज माधुरी अंग प्रति मोपै कहत बनै न॥

नित्य-विहार साहित्य में 'सहज' शब्द के इस प्रकार के प्रयोगों को देखकर ऐसा लगता है कि इस शब्द के द्वारा रसिक महानुभाव किसी ऐसी 'वस्तु' की ओर संकेत करते हैं जिसकी प्रतीति शास्त्रीय ज्ञान के आश्रित न होकर उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित है। यह 'वस्तु' नितान्त आनन्दमय, रसमय माधुर्य मय, सौन्दर्यमय, प्रकाश-मय, केलिविलासमय और नित्य नवीन हैं। यह निर्गुण सगुण ब्रह्म से विलक्षण है।[1] नित्य प्रेमधाम श्रीवृन्दावन में यह नित्य प्रकट होता है। यह मन-वाणी से अगोचर है। किन्तु इसके सम्बन्ध में सबसे विलक्षण बात यह है कि कृपाबल से इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव है। श्रीध्रुवदास ने कहा हैं—

इनही नैनन सब सुख देखै—जीवन जन्म सफल करि लेखै।
नव मोहन श्रीराधा प्यारी—हित ध्रुव निरखि जाइ बलिहारी॥

इस 'सहज वस्तु' की प्राप्ति का एक मात्र साधन सहज प्रेम हैं। श्रीव्याजी कहते हैं—

राधा मोहन सहज सनेही।
सहज रूप गुन सहज लाड़िले, एक प्राण दो देही॥
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति सहज बने बन गेही।
'व्यास' सहज जोरी सौं रे मन, सहज प्रीति कर लेही॥

—श्रीव्यासवाणी

श्रीहिताचार्य ने लौकिक एवं परमार्थिक प्रेमों में तात्त्विक एकता मानी है एवं उसमें दिखलाई देने वाले महान भेद को केवल उनके बाह्य स्वरूप तक सीमित माना है तथा श्रीनन्दनन्दन एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी को प्रेम तत्त्व का सहज नाम एवं सहज रूप माना जाता है।

× × × ×

परात्पर हित-तत्त्व के दो स्वरूप माने जाते हैं—एक 'ज्ञेय' और दूसरा 'ध्येय'। ध्येय (ज्ञान का विषय) रूप से वह अनन्त नाम एवं भावों में चराचर जगत् व्याप्त है। ध्येय (उपासना का विषय) रूप में वह नन्दनन्दन, वृषभानुनन्दिनी, सहचरी गण एवं वृन्दावन के रूप में नित्य प्रकट रहता है।

१— निर्गुन-सगुन ब्रह्म ते न्यारो विहरत सदा संघात।
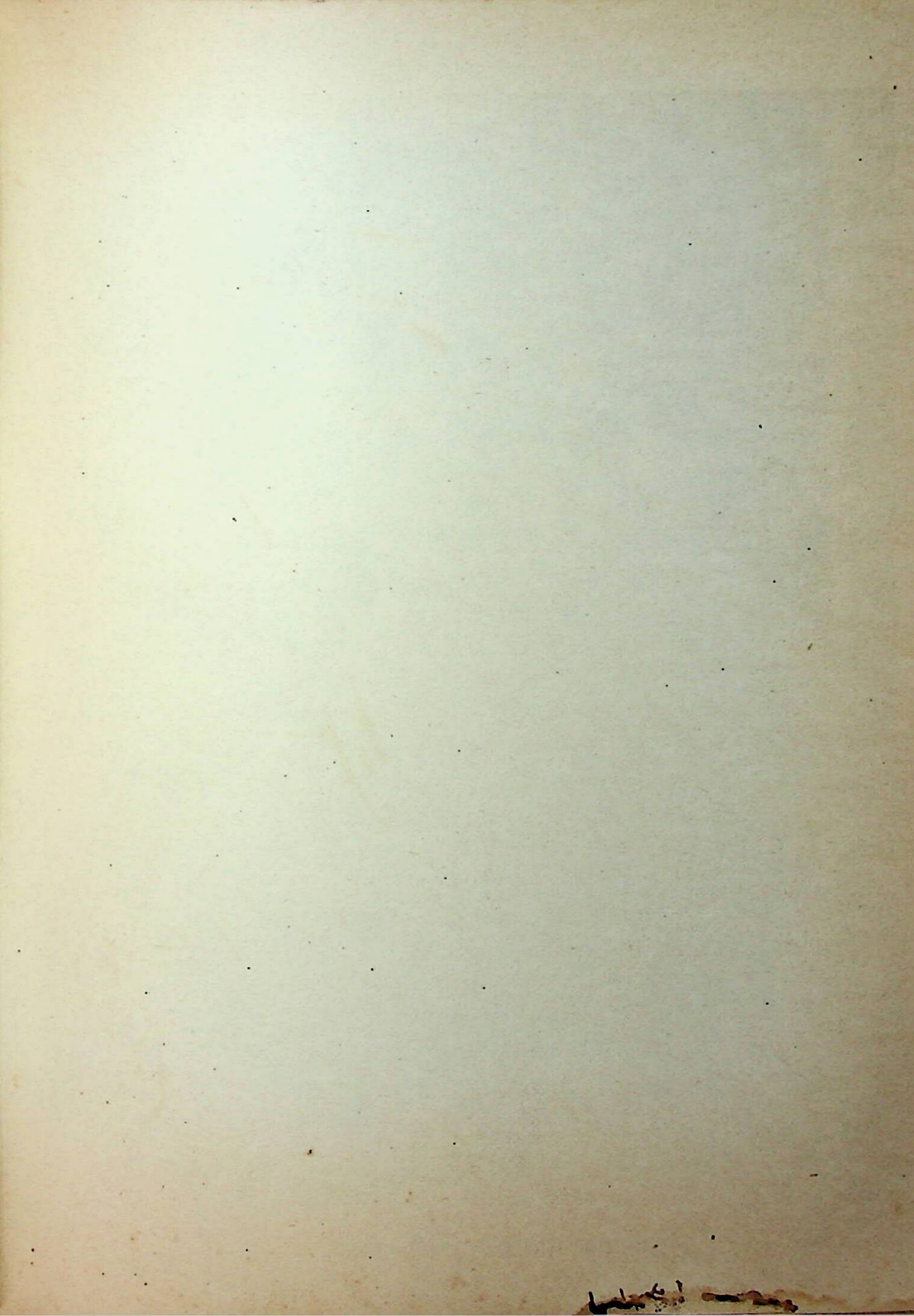
गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज

लीला-चिन्तन

[अपनी प्राणप्रिया ठकुरानी और प्यारे श्रीश्यामसुन्दर के नित-नूतन छाड़-चाव, उन्हें क्षण-क्षण प्रमुदित करने के लिए अंतरंगा सखिवृन्द द्वारा नित्य नवीन लीलाओं का सृजन, उन्हें लीला-क्रीड़ाओं में निमग्न कराकर उनके सुख में रंच मात्र भी निमित्त बनने की भावना सचमुच विलक्षण है—अनुपम है। प्रेमबिहार की इन्हीं लीलाओं का चिन्तन अपने-आपमें एक साधना है। ऐसी मान्यता है कि यह मानस-चिन्तन ही घनीभूत होकर एक दिन जब मूर्त होता है, तो भक्त अपने को सखी या गोपी के रूप में रूपान्तरित पाता है। श्रीराधा-श्यामसुन्दर की ऐसी ही कुछ प्रेमोन्मादिनी लीलाओं का चिन्तन इस रचना में विद्वान लेखक महोदय ने किया है। सं०]

व्रज से सम्बन्धित सम्पूर्ण भक्ति साहित्य का एकमात्र लक्ष्य उपासक के अन्दर सहज रूप से विद्यमान प्रेम और सौन्दर्य के अगाध-अनन्त सागर का अनावरण करके उसको अनुभव पथ में लाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही इस साहित्य में इस अपरिमित प्रेम-सौन्दर्य को श्रीराधा-श्याम-सुन्दर अथवा श्रीश्यामसुन्दर एवं व्रज-गोपिकाओं के रूप में मूर्त किया गया है। श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण-चरित में अनेक दानवों के वध के वर्णन मिलते हैं, किन्तु भागवत पर आधृत व्रज भाषा के लीला साहित्य में श्रीकृष्ण के असमोर्ध्व रूप-सौन्दर्य एवं गोपीजनों की अतुलनीय प्रेम माधुरी का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है। श्रीजयदेव से प्रारम्भ होने वाली राधा-माधव के प्रेम विहार की परम्परा का भी पूर्ण विकास इसी काल में व्रज-साहित्य में हुआ था। अपने एक पद में इस साहित्य के मुख्य वर्ण्य विषय एवं उसके वर्णन की दुरूहता की ओर संकेत करते हुए व्यासजी ने कहा है कि इस मर्म-वेधक छवि का कोई कवि वर्णन नहीं कर पाता। इस श्रुति अगोचर, अति अगाध रस-सिन्धु माधुरी का जो गान करते हैं, वे उसका पार नहीं पाते। जयदेव के समान कोटि-कोटि रस-सिद्ध कवीश्वर इसका कथन-श्रवण करते नहीं अघाते। इस रसके श्रवण की मेरी अभिलाषा तो एक श्रीहरिवंश ही पूर्ण करते हैं,—

पै न छवि कोऊ कवन बखाने।
जीव कुकात प्रीति कहिबे कौं, व्याकुल होत अयाने॥

अति अगाध रस सिन्धु माधुरी वेई पै कहि जानैं ।
ताकौ वार पार नहिं पावत, विधि-सिव-सेस धरत स्तुति ध्यानैं ।।
कोटि-कोटि जयदेव सरीखे, कहत सुनत न अघानैं ।
व्यास आस मन की को पुजवै श्रीहरिवंश समानैं ।

—श्रीव्यास वाणी पद सं० २०

श्रीश्यामा-श्याम की प्रेम-रूप-माधुरी का गान करने वाले इस साहित्य में श्रीश्यामसुन्दर की ब्रज-लीलाओं की भाँति क्रिया बहुलता को स्थान नहीं है । जहाँ श्रीराधा की मन्द मुसकान ही सम्पूर्ण विलासों का सार मानी जाती है, वहाँ किस लीला को अवकाश रहेगा ? नैकुही कौ हास सखी सार है विलासन कौ जाकौ हरै और सब सुख बिसरत है । प्रेम-विहार के पदों की तो यही स्थिति है, किन्तु उत्सवों के पदों में वाणीकारों की प्रतिभा को कुछ नवीन उद्‌भावनाएँ करने का अवसर मिल गया है । राधावल्लभ सम्प्रदाय में जिस उत्सव का सर्वाधिक प्रचलन है वह 'बिहावला' किंवा श्रीश्यामाश्याम का विवाहोत्सव है । पुष्टि सम्प्रदाय के मंदिरों में वैष्णवों द्वारा जिस प्रकार पालना उत्सव के मनोरथ किये जाते हैं अथवा श्रीचैतन्य सम्प्रदाय के मंदिरों में 'राई राजा' का मनोरथ किया जाता है, उसी प्रकार राधावल्लभीय मंदिरों में विहावला का मनोरथ होता है । सम्प्रदाय के प्रायः सभी प्रमुख वाणीकारों ने विहावले के पदों की रचना की है, जिनमें श्रीध्रुवदास कृत विहावले के दो पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और इन्हीं का गान मन्दिरों में विहावले के समय क्रिया जाता है । यह विहावला श्रीवृन्दावन के नित्य-निकुंज मंदिर से सम्बन्धित है । इसके अतिरिक्त चाचा वृन्दावनदास जी ने नन्द और वृषभानु गृहों से संबंधित विहावलों की भी रचना की है, जिसमें विवाह की लोक प्रचलित रीतियों का अनुकरण किया गया है । नीचे दोनों प्रकार के विहावलों की कुछ लीलाएँ दी जाती हैं ।

सखियां दूलह-दुलहिन को 'तख्ते खां' (चलने वाले तख्त) पर विराजमान करके गाती बजाती हुई विवाह मंडप में ले जा रही हैं । उन्होंने दुलहिन (श्रीराधा) को नख से शिखा पर्यन्त कौशेय वस्त्रों से ढक रखा है । उनको भय है कि दुलहिन के अद्‌भुत गौर अङ्ग की एक छटा भी प्रकाशित हो गयी तो दूलह (श्रीश्यामसुन्दर) सहित पूरी बारात उनके दर्शन में निमग्न हो जायगी और विवाह मंडप तक पहुँचना असंभव हो जायगा । किन्तु भवितव्य भिन्न था । श्रीवृन्दावन के सहज चंचल पवन ने दुलहिन के एक चरण पर से परदा थोड़ा-सा हटा ही दिया और नखमंडल की अद्‌भुत प्रभा चारों ओर फैल गयी । सबसे पूर्व दूलह की दृष्टि उस पर पड़ी और उनके नेत्र वहीं टिके रह गये । दूसरे क्षण में ही उनके नेत्र मुद्रित हो गये और वे छवि-प्रमत्त होकर झूमने लगे । सखियों ने उनकी जब यह स्थिति देखी तो कारण का पता लगाने के लिए व्याकुलतापूर्वक इधर-उधर दौड़ने लगीं । 'तख्तेखां' एक जगह खड़ा रह गया और सारी बारात आकर

उसके चारों ओर एकत्रित हो गयी। अन्त में दुलहिन का ध्यान उस ओर गया और उन्होंने निकटवर्ती सखी से कहा कि मेरा पैर ढंक दो। चरण ढकते ही आभा निकलना बन्द हो गयी और स्थिति सामान्य हो गयी।

श्रीवृन्दावन की नित्य-नवल कुञ्जों के प्रांगण में विवाह-मंडप की रचना सखियों ने की है और चारों ओर हित की वन्दनवारें बांधी हैं। उन्होंने प्रांगण को कुमकुम से लीपकर उस पर अद्भुत प्रकार के मोतियों से चौकों की रचना की है तथा अनेक भाँति के चित्र बनाये हैं। दूलह-दुलहिन के हाथों में रूप की सुदृढ़ डोरी में पोये हुए सहज प्रेम के कंकण बँधे हुए हैं। उनके कर और चरण मेंहदी के रङ्ग से रंजित हैं। उनके चरणों और कटि में नूपुर एवं किंकिणी धारण हो रहे हैं, जिनमें अनेक राग-रागिनियाँ सहज रूप से झंकृत हो रही हैं। सखियाँ शय्या रूपी वेदी पर दूलह-दुलहिन को विराजमान करके उनसे 'नेह की देवी' का पूजन कराती हैं और वेद मन्त्रों का सस्वर, उच्चारण करती हुई 'पाछे पिय आगे प्रिया विधि सौं भाँवर दीन'—दुलहा को पीछे तथा दुलहिन को आगे रखकर विधिवत् फेरों की क्रिया सम्पन्न करती हैं।

इसके पश्चात् सखियां दुलहिन श्रीराधा से अपने त्रिभुवनमोहन प्रियतम के साथ 'दूधा भाती' (एक थाली में भोजन) करने की प्रार्थना करती हैं। इस प्रस्ताव को सुनकर श्रीराधा लज्जापूर्वक घूंघट कर लेती हैं और ग्रीवा झुकाकर बैठ जाती हैं और दूलह-दुलहिन में प्रेम-कलह छिड़ जाती है। श्रीध्रुवदास इस आनंदमय प्रसंग का वर्णन करते हुए कहते हैं—

ललितलाल की बात जबहिं सखियन कही।
लाज सहित सुकुँवार ओट पट दे रही॥
नमित ग्रींव छवि सींव कुँवरि नहीं बोलहीं।
बुधि बल करत उपाय घूंघट पट खोलहीं॥
कनक कमल कर नील कलह अति कल बनी।
हंसत सखी सुख हेरि सहज शोभा धनी॥

दूलह की प्रत्येक चेष्टा विफल होती देखकर सखियाँ प्रेम के खेल में विजय लाभ करने के एकमात्र उपाय—पराजय की स्वीकृति का अवलंब लेने का परामर्श उनको देती हैं—'जो हारै तो पाईये प्रेम खेल में जीत।' 'शृङ्गार-रस-सर्वस्व' प्रेम-मूर्ति दूलह श्रीश्यामसुन्दर सखियों की बात सहर्ष मान लेते हैं और सखियां उनके मस्तक को दुलहिन के चरणों से स्पर्श कराती हैं तथा 'छवि सींव' दुलहिन पर जल वार कर उनको पिलाती हैं किन्तु इसका भी कोई प्रभाव लज्जाभिभूत दुलहिन पर नहीं पड़ता और वे घूंघट हटाने को तैयार नहीं होतीं। सखियाँ दुलहिन का उच्छिष्ट दूलह को प्राप्त कराने का अन्य कोई उपाय न देखकर एक पान के बीड़े में श्रीराधा के चर्बित पान को रखकर दूलह को खिला देती हैं और विजयोल्लास से खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं। प्रेम की विचित्र महिमा है कि जो श्रीराधा अपने प्रियतम से अविजित रहीं वे अपनी

सखियों के हाथों पराजित होकर अत्यन्त आनंदित हो गयीं और सखियाँ अपनी अनुपम स्वामिनी की अद्भुत दास-वत्सलता देखकर गद्गद हो गयीं। वे अपना अंचल फैलाकर असीस देती बोलीं, हे स्वामिनी, आपका सुहाग पल-पल में बढ़ता रहे और हम इसी प्रकार नेत्र सुख प्राप्त करती रहें।

अंचल ओटि असीस सखी सब दैंहिरी।
पल-पल बढ़हु सुहाग नैन सुख लैंहि री॥

विवाहोपरान्त नृत्य-संगीत आदिक कलाओं के अथाह सागर दूलह-दुलहिन को रिझाने के लिए सखियाँ उनके सन्मुख अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करती हैं। सखियों का एक यूथ नावों में बैठकर नाचता-गाता यमुनाजी में निकलता है। उनको आनंदमग्न देखकर दूलह को नटखटपन सूझता है। वे वंशी हाथ में लेकर ऐसी तान बजाते हैं कि यमुना जी का जल जम जाता है और सखियां नावों में से कूदकर उस पर नृत्य करने लगती हैं। यह देखकर श्यामसुन्दर दोबारा वंशी में तान लेते हैं और इस बार यमुनाजी द्रवित होकर पुनः प्रवाहित होने लगती हैं। सहसा जल उमड़ आने से सखियां उसमें डूबने-उतराने लगती हैं। गिरती-पड़ती हुई वे जैसे-तैसे किनारे पर पहुँचती हैं और वहाँ दूलह को उनकी दुर्दशा पर हँसता देखकर उनका क्रोध उमड़ पड़ता है। एक सखी आगे बढ़कर श्यामसुन्दर के हाथों में से वंशी छीन लेती है और उसको न बजाने की, अपनी स्वामिनी की, 'आन' देकर वापिस दे देती है। श्रीश्याम-सुन्दर वंशी बजाने की बहुत चेष्टा करते हैं किन्तु उसमें से एक भी स्वर नहीं निकलता। वे व्याकुल हो उठते हैं और दीनता पूर्वक सखियों की खुशामद करने लगते हैं। सखियों का हृदय प्रतिशोध से पूर्ण है और वे अनेक ताने मारती हुई हंसती रहती हैं। वंशी के स्वर बन्द हो जाने से श्रीश्यामसुन्दर के श्रीराधा-नाम के प्रतिक्षण जाप में अन्तर पड़ रहा है और उनकी अधीरता बढ़ती जाती है। अनेक सखियां करुणा-विगलित हो जाती हैं और उनमें आपस में मतभेद पड़ जाता है। ललिताजी सखियों को समझा-बुझाकर शान्त कर देती हैं और श्रीश्यामसुन्दर से कहती हैं कि अब तो वंशी में स्वर-संचार करने का एक ही उपाय है कि आप इसे दुलहिन के चरणों से स्पर्श कराइये। श्रीश्यामसुन्दर वैसा ही करते हैं और वंशी अनेक राग-रागनियों में श्रीराधा-नाम की झड़ी लगा देती है।

विवाह के बाद श्रीराधा दुलहिन अपने प्रियतम के साथ नंदगृह में पहुँचती हैं। (अब चलिये, देखें वहाँ क्या आनन्द विनोद हो रहा है!)

नन्द भवन में दोनों ओर की सखियों ने कंगना छोड़ने की लीला रच रखी है। उन्होंने मणिमय स्वर्ण चौकियों पर दूलह-दुलहिन को एक दूसरे के सामने विराजमान कर रखा है वे पहले श्रीश्यामसुन्दर से दुलहिनी का कंगना खोलने का प्रस्ताव करती हुई कहती हैं—

कंगन छोड़ौ लाल दुलहिनी पानि को।
अब बल परिहै जानि सुमाखन खान कौ॥

उधर नव दुलहिन के अतिशय गौर मृदुल हाथ को देखकर रसिक-शिरोमणि नंदलाल का सम्पूर्ण अङ्ग काँपने लगता है और जब पवन के वेग से श्रीराधा का घूंघट हिल उठता है तो उनके नेत्र चंचल बन जाते हैं। उनकी इस स्थिति में कंगना कैसे खुल सकता है ? इधर सखियां उनका मखौल उड़ाये जा रही हैं। वे कहती हैं कि यदि आपसे अकेले कंगना नहीं खुलता तो अपनी बड़ी मां रोहिणी जी को या अपने रैंता, पैंता, सुबल, मनसुखा आदि मित्रों को सहायता के लिए बुला लीजिये। यह आपकी मुरली का मंत्र ही है, जिसने सारे गाँव को बावला बना दिया था और न ही वृन्दावन की साँकरी गलियां हैं, जहाँ तुम रास्ता रोककर दान मांगा करते थे। यह गिरि गोवर्धन भी नहीं है 'जिसको तुमने हँसते-हँसते उठा लिया था। यह तो श्रीवृषभान की कुलमणि के हाथ का कंगना है' जिसमें बहुत गहरी गाँठ लगी हुई है। सखियों के तानों से मदनमोहन की प्रेम-खुमारी कुछ कम होती है और वे सम्भल कर कंगना खोल देते हैं।

जब सखियाँ त्रिभुवन-मोहन-मोहिनी अपनी स्वामिनी से अपने प्रियतम के हाथ का कंगना खोलने को कहती हैं। नागरता की राशि श्रीराधा कंगना की गांठ की ओर देखकर अपने प्रियतम का हाथ अपने हाथों में ले लेती हैं। किन्तु दूलह नटखट है। गांठ खुलती देखकर वे जोर से अपना हाथ हिला देते हैं और सब सखियां हँस पड़ती हैं। यह खेल कुछ देर चलता रहता है और कंगना की गांठ नहीं खुल पाती अपनी परम चतुर स्वामिनी को दूलह के नटखटपन के कारण विफल होता देखकर ललिताजी उनको सम्बोधित करके कहती हैं, 'हे कीर्ति-वृषभानु की अतिलड़ी। तुम तो सब प्रकार से अत्यन्त चतुर हो, तुम असावधानी न करो। यह तो जूआ जैसा खेल है और इसे युक्ति-पूर्वक ही जीतना चाहिए। ये व्रजराजकुमार छलिया है। इनको तो सुदृढ़ प्रेम नाम से ही बांधना चाहिए। इतना ऊँचे स्वर में कहकर श्रीललिता जी दुलहिन के कान में धीरे से कहती हैं कि तुम तनिक अपना घूँघट तो इनकी ओर मोड़ो, फिर देखो क्या होता है। श्रीराधा थोड़ा-सा घूमकर तिरछी चितवन से अपने प्रियतम की ओर देख लेती हैं कि रसिक-शिरोमणि के अङ्ग-प्रत्यंग शिथिल हो जाते हैं और कंगना बिना प्रयास के खुल जाता है।

धनि कीरति-वृषभान सुजाई अतिलड़ी।
तुम न गहर अब करौ चतुर सब विधि बड़ी॥
यह जूआ को खेल जुगत करि जीतिये।
छली सुवन व्रजराज बांध दृढ़ प्रीतिये॥
बांधि दृढ़ये प्रीति उर में डोरना कौं छोरिये।
कान लगि कै कह्यौ ललिता तनिक घूंघट मोरिये॥
दृग कोर लखि बिक गये छूटयौ डोरना बिन जतन है।
वृन्दावन हित रूप बलि वारत जसोमति रतन है॥

ब्रज के श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण-चरित्र की विविधता एवं बहुमुखता इतनी आश्चर्यजनक है कि बुद्धि-शाली बहुश्रुत भी उसका एक व्यक्तित्व में समन्वय नहीं कर पाते। क्रान्तदर्शी राजनीतिज्ञ, अपराजेय योद्धा, महायोगी एक नवीन धर्म के संस्थापक, महान संगीतज्ञ, असमोर्द्ध्व-प्रेम सौन्दर्य-मूर्ति, निरपेक्ष शाखा, परम धर्मज्ञ आदि से लेकर अद्भुत चिकित्सक एवं अश्व परिचायक तक एक श्रीकृष्ण थे। अन्य लोकोत्तर चेता महापुरुषों की भाँति उनमें विरुद्ध धर्मों का समाश्रय हुआ था वे कुसुम से कोमल और बज्र से भी कठोर थे। उनका प्रभाव भारतीय संस्कृति साहित्य, समाज, धर्म राजनीति आदि सबके ऊपर पड़ा और अनेक अंशों में आज भी विद्यमान है। उन्होंने जिस महान् किंवा भागवत धर्म की स्थापना की वह नाना विधाओं और रूपों में पल्लवित होकर आज भारतवर्ष का प्रधान धर्म है।

श्रीकृष्ण पूर्ण मानव थे। श्रीमद्भागवत में उनको भगवान का पूर्ण अवतार, स्वयं भगवान ही, माना गया है। उधर चंडीदास ने कहा है कि 'सावार ऊपर मानुष सत्य ताहार ऊपर नाई' सबसे ऊँचा सत्य मनुष्य है इससे ऊँचा कुछ नहीं है। यदि इस उक्ति को सारगर्भित माना जाय तो पूर्ण अवतार और पूर्ण मानव में भेद नहीं रहता।

पूर्ण मानव उसी को कह सकते हैं जिनके मन की सब वृत्तियाँ सहज रूप से पूर्ण विकसित हों। मनोवैज्ञानिकों ने मनोवृत्तियों के तीन प्रकार माने हैं। कुछ मनोवृत्तियां ज्ञान प्रधान, कुछ क्रिया प्रधान और कुछ भाव प्रधान होती हैं। साधारणतया लोगों में इनमें से किसी एक की प्रधानता होती है—कोई ज्ञान प्रधान होते हैं, कोई कर्म प्रधान और भाव प्रधान। धार्मिक क्षेत्र में इन तीनों के उदाहरण ज्ञानयोगी, कर्मयोगी और भक्तियोगी हैं। श्रीकृष्ण में मन के ये तीनों अंग पूर्णता को प्राप्त थे, यह उनके लीला चरित्र एवं उनकी अमर कृति भगवद्गीता से स्पष्ट है। गीता को उपर्युक्त तीनों प्रकार के साधन अपना समर्थक ग्रंथ मानते हैं।

श्रीकृष्ण का जन्म मथुरा में हुआ था और उनका पालन-संवर्धन मथुरा के आस-पास बसे हुये ब्रज गोष्ठों में हुआ था। ब्रज में उनकी बाल, पौगंड एवं नवकिशोर अवस्थायें व्यतीत हुई थीं। श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का वर्णन विष्णुपुराण एवं हरिवंश पुराण में मिलता है किन्तु उनका सबसे अधिक विस्तृत एवं सरस रूप श्रीमद्भागवत में

उपलब्ध होता है। इनमें से कुछ लीलायें तो असुर संहार की हैं और शेष शुद्ध भावमयी हैं जिनमें श्री ब्रजराज कुमार की भाव स्वरूपता का चरम विकास दिखलाई देता है। भाव प्रधानता के कारण ही श्रीकृष्ण की इन ब्रज लीलाओं को अनुपम वैशिष्ट्य प्राप्त है और इसी के कारण ये लीलायें सहस्राब्दियों से परस्पर प्रतिकूल चर्चा का विषय बनी हुई है।

इन लीलाओं में माखन चोरी लीला, चीर हरण लीला तथा रासलीला विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष से सर्वत्र आदर्श आचरण की अपेक्षा रखने वाले लोग स्वभावतः इन लीलाओं में नीति सदाचार की अवरुद्धता और लोक कल्याण की भावना ढूँढ़ते हैं और कई अंशों में वह उनको मिल भी जाती है। उदाहरण के रूप में माखन चोरी लीला ही ले लीजिये। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के आठवें अध्याय में इस लीला का उल्लेख केवल तीन श्लोकों में हुआ है। उनमें गोपियाँ यशोदाजी के पास यह शिकायत लेकर पहुँचती हैं कि उनका बालक उनके घर से दूध दही चुराकर बन्दरों को खिला देता है और उनके भांड़ों को फोड़ डालता है। इस लीला के सम्बन्ध में बंकिम बाबू ने अपने 'कृष्ण-चरित्र' में लिखा है कि—'बालक कृष्ण सबके हितैषी थे और सबका दुख दूर करने के लिये सतत उद्यत रहते थे। बन्दर जैसे पशुओं के लिये भी उनकी कैसी ममता थी, यही भागवतकार ने बताया है, बात ठीक है। किन्तु श्रीकृष्ण की माखन चोरी का प्रयोजन यदि केवल बन्दरों का हित साधन ही होता तो इस कार्य को वे अपने घर के दूध दही से भी कर सकते थे। इसके लिये पड़ोसियों के यहाँ चोरी करना और उनके भाँड़े फोड़ना महापुरुषोचित कार्य नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यशोदा कुमार की यह शुद्धभावमयी लीला है और इसका उद्देश्य उनसे निरतिशय प्रीति रखने वाली गोपीजनों के प्रेम भाव का पोषण करना है। सूरदासजी आदि भावुक भक्त महानुभावों ने इस लीला का वर्णन इसी रूप में किया है और इसको परम प्रेम और सौन्दर्य का आश्रय बना दिया है।

सूरसागर में इस लीला से सम्बधित तिरानवें पद है। प्रथम पद में ही सूरदास जी इस लीला के प्रयोजन को स्पष्ट कर देते हैं। श्यामसुन्दर अपनी मैया से कह रहे हैं—

मैया री, मोहि माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहत तू, मोहि नहिं रुचि आवै।
ब्रज जुवती इक पाछै ठाड़ी, सुनत श्याम की बात।
मन-मन कहत कबहूं अपने घर, देखौं माखन खात।
बैठे जाटू मथनियाँ के ढिंग, मैं तब रहौं छुपानी।
सूरदास प्रभु अन्तरयामी, ग्वालिन मन की जानी।

ग्वालिन के मन की बात समझकर श्यामसुन्दर दूसरे दिन अकेले उनके घर पहुँच जाते हैं। उनको दरवाजा खुला मिलता है और वे इधर-उधर देखकर भीतर चले जाते हैं। ग्वालिन उनको आया देखकर छुप जाती है और वे माखन से भरी कमोरी में से माखन खाने लगते हैं। सहसा उनकी दृष्टि मणिखम्भ में पड़े हुये अपने प्रतिबिम्ब पर पड़ती है और वे उसे अन्य बालक समझ कर उससे बातचीत करने लगते हैं। वे कहते है कि आज मैं प्रथम बार चोरी करने आया हूँ यहाँ तुम खूब मिल गये, लो जरा सा माखन तुम भी खा लो ! वे अपने प्रतिबिम्ब को माखन खिलाना चाहथे हैं परन्तु वह नीचे गिर जाता है इस पर श्यामसुन्दर प्रतिबिम्ब से कहते हैं कि तुम माखन गिरा रहे हो तो क्या तुम्हारी इच्छा पूरी कमोरी लेने की है ? मैं तो तुमको प्रेम-पूर्वक दे रहा हूँ और तुम न जाने क्या सोच रहे हो ? यह मुग्ध वार्तालाप सुनकर ब्रजनारी को जोर से हँसी आ जाती है और श्यामसुन्दर उसका मुख देखकर वहाँ से भाग खड़े होते हैं।

इसी प्रकार की सुन्दर लीलाओं की उद्‌भावना सूरदासजी करते चले गये हैं। इनमें गोपियों के प्रेमोपालंभ एवं कपट कोप ने यशोदामें जो प्रेम प्रतिवाद एवं पंचवर्षीय श्यामसुन्दर से चौर्य चातुर्य के साथ मिलकर प्रेम सौन्दर्य की सृष्टि कर दी है।

चीर हरण लीला वास्तव में रासलीला की प्रस्तावना है। श्रीमद्‌भागवत के टीकाकार श्रीधरस्वामी ने रासलीला का हेतु काम विजय बतलाया है। इस सम्बन्ध में उनकी यह कारिका प्रसिद्ध है।

'ब्रह्मादि जय संरूढ़ दर्प कंदर्प दर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपी रासमण्डल मंडनः।।

काम के पराभव का कार्य चीर हरण लीला में प्रारम्भ होकर रासलीला में पूर्ण हुआ है। दोनों लीलायें भावमयी हैं। विभिन्न धर्म सम्प्रदायों एवं नाना रुचि के लोगों ने इनको समझने की चेष्टा की है और कर रहे हैं। आजकल विदेशों में भारतीय धार्मिक साहित्य का प्रचार प्रसार बढ़ रहा है और अनेक विदेशी लोग रासलीला को समझने के लिये उत्सुक हैं किन्तु इस लीला के मर्म को नहीं समझ पाते हैं जिनके मन में भगवत् कृपा के बल से शुद्ध भगवत् प्रेम उदित हो गया है और जिनकी हृदय ग्रंथियों का विमोचन हो गया है। सूरदास जी ने गाया है—

रास रसरीति नहि बरनि आवैं,
कहाँ यह चित जिय भ्रम भुलावै।
जो कहौ कौन मानें निगम अगम जो,
कृपा बिन नहीं या रसहि पावै।

भाव सौं भजै, बिनु भाव में ये नहीं,
भाव ही मांहि भावहि बसावैं ।
यहै निज मन्त्र यह ज्ञान, यह ध्यान है,
दरस दम्पति भजन सार गाऊँ ।
यहै मांगौं बार-बार प्रभु सूर के
नैंन दोऊ रहैं नर देह पाऊँ ।

नागरीदासजी ने रासलीला की दुर्ज्ञेयता का बड़ा मार्मिक वर्णन एक कवित्त में किया है—

'एक रात में ही कोटि कलप अलप जाने
ऐसी केलि कमनीय इनहीं सों ही सकै ।
एक बाँसुरी की धुनि थिर चर मोहि डारे,
त्रिभुवन में कौन सुनि धीर धारि जो सकै ।
एक नट नागर की मुकुट लटक माँहि,
अटक पर्‌यौ है मन छूटि नाँहि सो सकै ।
एक भ्रुव भंग में अनंग मान भंग होत,
ताके रास रंग कौ बखान करि को सकै'।

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी द्वारा प्रवर्तित नित्य-विहार की उपासना सुख की, हर्ष की, मोद की और आनन्द की उपासना है। इस उपासना में प्रेम-सौन्दर्य की अवधि रस-सागर श्रीश्यामाश्याम का परस्पर सुख और हर्ष ही उपास्य है ।

× × × ×

प्रेमी और प्रेम पात्र के मन में सर्वथा एक रुचि होना श्री राधा-श्यामसुन्दर के प्रेम में ही सम्भव है । लौकिक प्रेम में तो प्रेमी-प्रेम पात्र अपना-अपना सुख चाहते रहते हैं ।

मध्ययुग काव्य और श्रीकृष्ण

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक के हिन्दी-साहित्य पर श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की विलक्षण और सर्वतोमुखी छाप देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। साहित्यों के इतिहास में यह घटना अद्वितीय है। संसार की प्रत्येक जाति में वीर-पूजा (Hero-worship) की प्रथा अनादिकाल से प्रचलित है। दुनिया की प्रत्येक भाषा में, जिसका कि अपना साहित्य है, वीर-गाथाओं की रचना हुई है। परन्तु भारतवर्ष में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को लेकर जिस लोकोत्तर काव्यरस की अखण्ड मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है, उसने इस लोक को ही नहीं, तीनों लोकों को ही नहीं, वरन् इनके भी परे यदि चैतन्यता के कोई धाम हैं, तो उनको भी पुनीत करने की चेष्टा की है। विचार करने पर मालुम होगा कि मात्र वीर-पूजा की भावना काव्य के यह करिश्मे नहीं दिखला सकती। यह सच है कि इस भावना ने कभी-कभी समर्थ कवियों को मानव की महत्ता के उच्चतम प्रदेश का दर्शन कराया है; परन्तु महत्ता के सौन्दर्य-चयन में ही तो कविता की सम्पूर्ण सार्थकता सिद्ध नहीं हो जाती। यदि विभु सुन्दर है, तो अणु भी तो उतना ही सुन्दर है। अन्य भाषाओं के कवि जब साधारण (Common place) के सौन्दर्य की ओर आकर्षित हुए हैं, तब उनके आदर्श वीर उनका साथ नहीं निभा सके हैं, फलतः उनको अपने काव्य के लिए किसी साधारण (Common place) आलम्बन का आश्रय लेना पड़ा है; परन्तु श्रीकृष्ण को काव्य का आलम्बन बनाकर चलने वाले हमारे मध्ययुग कालीन कवियों को अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं पढ़ी थी। श्रीकृष्ण के चरित्र में साधारण और असाधारण का विरल योग ही हमारी मध्ययुगकालीन काव्य-समृद्धि का सबसे जबर्दस्त पोषक था।

एक बात और भी है। कविता को यदि 'जीवन की समीक्षा' (Criticism of life) ही मान लें, तब तो वह वीर-गाथा में पूर्णता को प्राप्त हो सकती है, परन्तु वास्तव में कविता की यह परिभाषा एकांगी और अपूर्ण है। कवितामात्र जीवन की समीक्षा ही नहीं, 'जीवन आविष्कर्त्री' (Discovery of life) है। मानव-जीवन और विस्तृत विश्व में ओतप्रोतआनन्द और रस का आविष्कार इसी के द्वारा होता है। श्रीकृष्ण के चरित्र कोआनन्द और रस का एकान्त अधिष्ठान बनाकर हमारे कवियों ने जो अपूर्व रस-हिलोरें हमारे काव्योदधि में उत्पन्न की हैं, उनके अनुभव से कौन-सा साहित्यिक वंचित है?

× × × ×

श्रीकृष्ण योद्धा थे या राजनीतिज्ञ, रसिक शिरोमणि थे या तत्त्वचिन्तक— ये प्रश्न हमारी इस चर्चा के लिए असंगत है। उनके चरित्र की ऐतिहासिक भूमिका किस प्रकार की है और कितनी सबल है, इसका उत्तर भी उनके चरित्र के लेखक ही दे सकते हैं। हम तो यहाँ उनको अपने कवियों की आँखों में ही देखना चाहते हैं। जो श्रीकृष्ण भक्त कवियों को प्रेरणा प्रदान किया करते थे, जो श्रीकृष्ण उनकी हृत्तन्त्री के प्रत्येक तारको अपनी एक अबोध मुसकान से झंकृत कर देते थे, जिन श्रीकृष्ण की वंशी में हमारे कवियों को 'वेद्यान्तर स्पर्श शून्य' और 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' रस का अनुभव कराने की विलक्षण शक्ति थी, वह श्रीकृष्ण भावुक कवियों की दिव्य कल्पना के बाहर और कहाँ निवास करते थे, इसका पता कोई क्या बतलाये ? भक्त कवियों के कृष्ण को मानव-इतिहास की अँधेरी गलियों में ढूँढ़ना उतना ही व्यर्थ है, जितना सौन्दर्य के मूलकारण को वस्तु-विज्ञान के अटपट सिद्धान्तों में ढूँढ़ना ! कवि 'सत्य' की शोध नहीं करता, वह 'सुन्दर' की तलाश में रहता है, और सत्य का व्यक्त रूप ही तो सुन्दर है (Truth expressed is Beauty)। कृष्ण के व्यक्तित्व में मध्ययुग के कवि ने पूर्ण सौन्दर्य की झाँकी देखी थी—उस सौन्दर्य की, जिसमें विभु और अणु, साधारण और असाधारण सब एकाकार होकर एकरस हो जाते हैं। यह सब कवि की कल्पना थी, इसमें तो सन्देह ही नहीं; परन्तु कवि की कल्पना कोरी कल्पना ही होती है या सत्य, इसका भी तो निर्णय अभी तक हमारा संसार नहीं कर पाया है।

कवि स्वर्ग और मर्त्य की मध्य भूमिका वासी होता है; उच्च कविता भी पार्थिव और अपार्थिव के सुन्दर सामंजस्य में ही कृतकृत्य होती है; स्पष्ट और अस्पष्ट की सीमा-रेखा को क्रमशः धुँधली बनाने में ही कवि-कर्म सार्थक होता है; कृष्ण और गौर की पुण्याभिसन्धि में ही कवि-कौशल पूर्ण बनता है। मध्ययुग के महान कवि ने भी स्वभावतः कवित्व की इसी दिशा की ओर प्रयाण किया था। पार्थिव और अपार्थिव के पुण्य संगम पर ही उसको श्यामसुन्दर के दर्शन हुए थे; इस संगम पर विश्व के प्रत्येक कवि को पड़ाव डालना पड़ा है और पड़ाव डालना पड़ेगा। उच्चतम भूमिका-पर प्रवेश करने के लिए उसको—यहीं इसी संगम पर—किसी न किसी का आश्रय लेना पड़ता है, फिर चाहे वह श्यामसुन्दर हों, या रहस्यवाद का अज्ञात प्रेमी या प्रियतम, बात एक ही है। भक्त कवि को एक सुभीता था, वह यह कि वह अपने प्रियतम के रूप की कल्पना के कष्ट से बच जाता था; उसको एक अड़चन भी थी, वह यह कि प्रियतम के चुनाव में जो रुचि-स्वातन्त्र्य का आनन्द है, वह उसके भाग्य में नहीं था; परन्तु एक श्रीकृष्ण ही भिन्न-भिन्न हृदयों में भिन्न भिन्न रूप और सजधज के साथ प्रकाशित होकर इस अड़चन को बहुत-कुछ दूर कर दिया करते थे। भक्तवर सूरदास और श्रीहित हरिवंश के कृष्ण में वस्तुतः भेद न हो, रूपतः तो है ही। भक्त कवि को श्रीकृष्ण के श्याम वर्ण में छाया और प्रकाश की अन्तर्क्रीड़ा का दर्शन होता था; उनके पीतपट की 'फहरन' का अनुभव करके उसके हृदय के भाव-चांचल्य को सान्त्वना मिलती थी; उनके 'त्रिभंग ललित' रूप को देखकर उसको अपने हृदय की रस-ग्रन्थियों का भान होता था और उनकी 'मुसकान-माधुरी' से उसका भाव-प्रदेश आलोकित हो उठता

था—उनका 'वंशीनाद' तो उसको रह-रहकर कवित्व के अन्तिम लक्ष्यपूर्ण आनन्द—का स्पर्श कराता रहता था। धीरे-धीरे वह अपने प्रियतम (श्रीकृष्ण) के साथ एक-रूपता का अनुभव करने लगता था; परन्तु इस स्थिति पर पहुँचकर रस जम न जाय, भावना की तीव्रता कहीं गति शून्यता (Complete deadlock) में परिणित न हो जाय, इसका उसको खास ध्यान रखना पड़ता था। गतिशून्यता की इस स्थिति से बचने के लिए—वह स्वयं ही प्रियतम के प्रेम-सौन्दर्य में कहीं विलीन न हो जाय, इस भय से—उसको, प्रत्येक युग के कवि की भाँति, अपने प्रियतम को अपने भाव में, अपने प्रेम की महत्ता और व्यापकता में, लीन करने की चेष्टा करनी पड़ती थी!

उसके प्रेम क्षेत्र में नन्दनन्दन खेलते रहें, उसके हृदय में ही उनका अखंड नृत्य होता रहे, इस कल्पना को वह जाग्रत करता था। महाकवि देव ने इसी युक्ति का सहारा लेकर, देखिये, किस विलक्षण सौन्दर्य की सृष्टि कर दी है—

"हौंही ब्रज वृन्दावन, मोही में बसत सदा,
यमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की,
चहूँ ओर सुन्दर सघन वन देखियतु,
कुँजन में सुनियतु गुँजन अलीन की।
वंशीवट-तट नटनागर नटतु मोमें,
रास के विलास की मधुर धुनि बीनकी,
भरि रही भनक बनक ताल तानन की,
तनक तनकता में झनक चुरीनकी।"

× × ×

कवि, तत्त्वचिन्तक और विज्ञानवेत्ता ये तीनों एक ही पथ के पथिक होते हैं; तीनों का ही लक्ष्य अंड और ब्रह्माण्ड के रहस्यों को उद्घाटित करने का होता है, भेद तीनों की कार्यशैली में है। कवि कल्पना और अन्तप्रेरणा (Intuition) का सहारा लेकर जड़ और चेतन में व्याप्त शुद्ध और नित्यमुक्त आँनन्द का दर्शन करना चाहता है; तत्त्वचिन्तक विश्व के परस्पर विरोधी-से दिखलाई देनेवाले विभिन्न तत्त्वों को एक अविभाजित और अन्तर्विरोधहीन तत्त्व के रूप में लाने की चेष्टा करता है; भौतिक विज्ञानशास्त्री अपनी विश्लेषणात्मक शैली द्वारा सृष्टि के आदि रहस्य को जानने के लिए प्रयत्नशील होता है। कवि भी तत्त्वचिन्तक और विज्ञानवेत्ता की तरह सत्य का ही शोधक कहा जा सकता है; भेद इतना ही है कि उसका 'सत्य' साथ में 'शिव' और 'सुन्दर' भी होता है। जो सुन्दर नहीं, वह उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। एक बार सत्य का सौन्दर्य कवि की कल्पना में आना चाहिए, फिर तो जिस सत्य को सिद्ध करने के लिए तत्त्व चिन्तक और वैज्ञानिक तर्क और प्रयोगों के पिरामिड रच डालते हैं; मगर फिर भी उसको निर्विवाद स्थिति पर पहुँचाने के लिए समर्थ नहीं होते, उसी को कवि अपने रंगीन कैमरे में उतारकर इस रूप में उपस्थित कर देता है

कि तार्किकों और युक्तिपरायणों के छक्के छूट जाते हैं, और उनको झेंप मिटाने के लिए यही कहते बनता है कि 'यह तो कवि-कल्पना है।' गोया झूठ है! कवि सत्य की सिफारिश सत्य को सुन्दर रूप में उपस्थित करके ही करना जानता है, और इस कार्य-में उसको आनन्द आता है।

नन्ददास के 'भ्रमर-गीत' में जब गोपिकाएँ उद्धव को तर्क-युद्ध में परास्त न कर सकीं, तब उन्होंने षट्पदको फरीक बनाकर सौन्दर्य और संगीत का वह दृश्य उद्धव के सामने उपस्थित कर दिया कि बेचारे का सारा ज्ञान-नशा काफूर हो गया।

श्रीकृष्ण का चरित्र भारतीय संस्कृति की एक अमर समस्या है, अनेक तत्त्व-चिन्तकों और नीति-धुरन्धरों को इस चरित्र की गुत्थियों को सुलझाने के लिए व्यर्थ परिश्रम करना पड़ा है। मध्ययुग के कवि के सामने यह समस्या अपने असली रूप में पेश थी, परन्तु वह इसको देखकर घबराया नहीं और न उसने इसको सुलझाने की ही व्यर्थ चेष्टा की। उसने इस उलझन को अपने प्राण-रक्त में रङ्गकर उस रूप में उपस्थित कर दिया, जिसको देखकर तर्क मूक और युक्ति वंध्या हो जाती है। उदाहरण के लिए, कृष्ण की रासलीला को ही लीजिए। यह 'लीला' मानव- नीतिशास्त्र के किसी भी सिद्धान्त की कसौटी पर सही-सलामत पार नहीं उतरती; परन्तु देखिये, कविवर नागरीदास इसको किस रूप में जनता के आगे रखते हैं—

"एक रात ही में कोटि कलप अलप जाने,
ऐसी केलि कमनीय इनहीं सों हो सकै,
एक बाँसुरी की धुनि थिर चर मोहि डारे,
त्रिभुवन में कौन सुनि धीर गहि जो सकै ?
एक नटनागर की मुकुट लटक माँहि,
अटक परचौ है मन छूटि नाँहि सो सकै,
एक भुव-भंग में अनंग मान भंग होत,
वाके रासरङ्ग कौ बखान करि को सकै ?

नागरीदास जी के इस संगीतमय शब्द-चित्र के अन्तिम 'बखान करि को सकै, में कितना 'बखान' (व्याख्यान) भरा हुआ है, इसका अनुभव करने के लिए मनुष्य को स्वयं भी महाकवि होने की आवश्यकता नहीं है।

श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का आश्रय लेकर ब्रजभाषा के महाकवियों की सरस्वती ने काव्य के जो-जो रंग दिखलाये थे, उन सबका समावेश इस छोटे-से लेख में हो जाता है, यह कहना तो मात्र साहस है, परन्तु उपर्युक्त पंक्तियों के वाचन से कदाचित हमारे पाठक कविवर नागरीदास के इस निर्णय से सहमत हो जायँगे कि यदि श्रीकृष्ण का चरित्र हमारी पौराणिक संस्कृति में न होता, तो कम से कम हमारे इतिहास के मध्य-युग में तो—

"छाय जाती जड़ता, विलाय जाते कवि सब,
जरि जातौ रस 'तौ' रसिक कहा गावते ?"

□

श्रीकृष्ण सौन्दर्य और वेणुनाद

ब्रज के रसिक सन्तों ने अपनी वाणियों में श्रीश्यामसुन्दर के शुद्ध भावात्मक स्वरूप का चित्रण किया है। इन सबका आकर-ग्रंथ श्रीमद्भागवत ही रहा है, किन्तु रसिकों की वाणियों में बीज और वृक्ष जैसा सम्बन्ध है। भागवत में जो लीला बीज रूप में है, वाणियों में उनका पल्लवन नाना रूपों और विधाओं में हुआ है। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण के वेणु के अद्भुत आकर्षण का मार्मिक किन्तु संक्षिप्त वर्णन श्रीमद्-भागवत में मिलता है किन्तु ब्रज के महानुभावों ने उसके आधार पर वेणुनाद के सम्बन्ध में जो उद्भावनाएँ की हैं वे ब्रजवाणी का शृङ्गार हैं और भारत की धार्मिक संस्कृति का गौरव है।

श्रीमद्भागवत में श्रीश्यामसुन्दर को प्रेम और सौन्दर्य के अपार-अथाह सागर के रूप में चित्रित किया गया है। वे 'साक्षात् मन्मथ मन्मथः' हैं अर्थात् कामदेव के मन को मंथन करने वाले हैं। कामदेव को भारत में ही नहीं, सर्वत्र सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता है। कामावेशित नेत्रों से जैसा रूप-सौन्दर्य दिखाई देता है, वैसा सामान्य नेत्रों से नहीं। फ्रायड ने इसीलिए कामवृत्ति को सौन्दर्य-दर्शन का आधार माना है। श्रीश्याम-सुन्दर का सौन्दर्य कामदेव को मथित कर डालता है, इसका अर्थ यह हुआ कि उसके अद्भुत रूप के द्वारा कामवृत्ति का मथन हो जाता है। श्रीध्रुवदास ने बताया है कि पाँच बाण रखने वाले कामदेव ने एकबार त्रिभुवन मोहन को रास-बिहार करते देख लिया तो उसके बाणों ने उलटकर उसके शरीर को ही जर्जरित कर डाला। महा अनंग उस समय ऐसा लज्जित हुआ कि फिर उसका सिर श्रीश्यामसुन्दर के सामने कभी उठा ही नहीं।

पंच वान जेहि पान हैं देख गयो यह रंग।
तेइ वान तेहि फिर लगे जर्जर भयो सब अंग।।
बिवश भयो सुधि रहि न कछु मोह्यो महाअनंग।
लज्जित ह्वै रह्यो नमित अति करत न सीस उतंग।।

कामवृत्ति का मंथन होने से उसकी सम्पूर्ण गन्दगी और जलन निकल जाती है और वह श्रीश्यामसुन्दर के अलौकिक प्रेम-सौन्दर्य का दर्शन और रसास्वादन करने

योग्य बन जाती है। वास्तव में यह रूप वर्णनातीत है किन्तु उसके अनुभव में कुछ विवशता है कि बोले बिना रहा भी नहीं जाता। अपनी इस विवशता को इन रूप-रसिक महानुभावों ने अनेक स्थलों पर बड़े कलात्मक ढङ्ग से व्यक्त किया है और आश्चर्य यह है कि ऐसा करके उन्होंने इस परात्पर रूप की बड़ी समर्थ व्यंजना कर दी है अपने होली के पद में नन्ददासजी ने कहा है कि पिचकारी की धारों से श्रीश्याम-सुन्दर और गोपीजन के वस्त्र भींगकर उनके अंगों से लिपट गये। गीले वस्त्रों के अंगों से लिपटते ही अंगों की ढंकी हुई अद्‌भुत शोभा झिलमिला उठी। नंददासजी के नेत्र चौंधिया गये और कुछ क्षणों के लिए उनका मन उस शोभा में डूब गया। जब वे सावधान हुए और उन्होंने उस शोभा का वर्णन करना चाहा तो उनके नेत्रों ने हा हा खाकर रोक दिया। नेत्र यह जानते हैं कि जो छवि हमने देखी है, वह अनुपम है और उसकी उपमा देने से उसका घात हो जायगा।

भीज बसन तन लपटाने रंग होरी खेलैं।
बरनत बरनि न जाय अहो हरि होरी खेलैं।।
उपमा दैन न दैहि नैंन रंग होरी खेलैं।
गहि राखत हा हा खाय अहो हरि होरी खेलैं।।

ध्रुवदासजी ने इस अद्‌भुत रूपके कथन के प्रयास को ही गँवारपन की चेष्टा बताकर उस रूप की अत्यन्त नागरपूर्ण व्यञ्जना कर दी है। उन्होंने कहा है कि वाणी का तो कहना ही क्या, मन भी जिस रूप-छटा में प्रवेश नहीं कर पा सकता है, उसको कौन-सा लौकिक उदाहरण देकर प्रमाणित किया जा सकता है, समझाया जा सकता है? वास्तव में समझाने की चेष्टा वैसी ही होगी जैसी बहुमूल्य रत्न का भेदन करने से किसी गँवार द्वारा उसे पत्थर से तोड़ने की चेष्टा—

औरकौ प्रवेश कहाँ मनहूँ न भेदी जहाँ,
ऐसी रूप-छटा काहे काहे ले प्रमानिए।
हित ध्रुव जोई कछु कहिबो ऐसी भाँति,
जैसे आलो पाहन सौं मानिक लै भानिए।।

दास कवि ने एक गोपी के मुख से श्रीकृष्ण-सौन्दर्य के भुवन-मोहन अद्‌भुत प्रभाव का सुन्दर वर्णन एक सवैया में किया है। इसमें गोपी ने यह कहकर कि यहाँ श्रीकृष्ण-सौन्दर्यता 'दिख-साध'-देखने की इच्छा को रोके रखने में ही भलाई है, श्री श्यामसुन्दर के मनोहारी रूप की ओर मार्मिक संकेत कर दिया। दास कवि ने कहा है—

वाही दिना ते न सान रहै न गुमान रहै न रहै प्रभुताई।
दास न लाजकौ साज रहै न रहै तनको घर-काज की घाई।
ह्याँ दिख साध निहारे रहो तबहीं लौ भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्ह न चित्त रहै नहिं चेत रहै न रहै चतुराई।।

रसिक महानुभावों ने श्रीकृष्ण-सौन्दर्य के अनेकानेक मनोरम चित्र अपनी वाणियों में उपस्थित किये हैं। उनमें से केवल एक यहाँ दिया जा रहा है—

लालकी रूप माधुरी नैनन निरख नेकु सखी
मनसिज मनहरत हास, साँवरो सुकुमार राशि,
नख सिख अङ्ग अङ्गनि उमंगि सौभग सींव नखी।
रंगमगी सिर सुरँग पाग, लटकि रही वाम भाग,
चंप कली कुटिल अलक बीच-बीच रखी।
आयत दृग अरुण लोल, कुण्डल मण्डित कपोल,
अधर दसन दीपति की छवि, क्यों हूँ न जाय लखी।
अभयद भुज दण्ड मूल, पीन अंस सानुकूल,
कनक निकष लसि दुकूल दामिनी धरखी।
उर पर मंदार हार, मुक्ता लर वर सुढार,
मत्त दुरित गति तियन की देह दशा करखी।
मुकुलित वय नवकिसोर, वचन रचन चितके चोर,
मधु रितु पिक शाव नूत मंजरी चखी।
(जैश्री) नटवत हरिवंश गान, रागिनी कल्याण तान,
सप्त स्वरन कल, इते पर मुरलिका बरखी॥

इस पथ में श्रीहित हरिवंश गोस्वामी श्रीकृष्ण-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे सखी, तू अपने नेत्रों से लाल की रूप माधुरी को तनिक देख तो सही। सुकुमारता की राशि श्रीश्यामसुन्दर की मुस्कान कामदेव के मन का हरण करने वाली है। उनके नख से शिखा पर्यन्त विभिन्न अंग इतने सुन्दर हैं मानो उन्होंने उमंगकर सुन्दरता की सीमा का उल्लंघन कर दिया है।

उनके सिर पर लाल पाग बँधी है जो बाँई ओर (श्रीराधा की ओर) झुकी हुई है उनकी घुँघराली अलकों के बीच-बीच में चम्पा की कली शोभायमान है, इनके कपोलकुण्डल से मण्डित हैं और उनके अधर एवं दशनों की कांति-छटा पर किसी प्रकार भी नेत्र नम नहीं पाते।

उनकी भुजायें अभय प्रदान करने वाली हैं और वैसे ही पुष्ट कंधे हैं। उनके श्याम शरीर पर पीताम्बर इस प्रकार सुशोभित हैं जैसे कसौटी पर स्वर्ण-रेखा खिंच रही हो और उसको (पीताम्बर) देखकर दामिनी दब गयी है।

उनके वक्षस्थल पर मंदार (स्वर्गीय पुष्प) का हार सुशोभित है और उसके साथ सुडौल मोतियों की माला धारण हो रही है। उनकी मत्त गजराज जैसी चाल देखकर महिलाओं ने देह-दशा विसार दी है।

उनकी खिलती हुई नव किशोर अवस्था है, उनकी वाणी चित्त को चुराने वाली है (जिसको सुनकर ऐसा मालूम पड़ता है) मानो वसंत ऋतु में आम की मंजरी को चखकर कोयल का बच्चा बोल रहा है।

श्रीहित हरिवंश कहते हैं कि सुन्दर सप्तस्वरों का आश्रय लेकर वे तानें सेते हुए भाव प्रदर्शन पूर्वक कल्याण रागिनी का गान कर रहे हैं। इतना सब करने पर भी वे वंशी के द्वारा (अमृतमय) स्वरों की वर्षा कर रहे हैं।

ऊपर उद्धृतदासके सवैये में श्रीकृष्ण-रूपका जैसा प्रभाव-दर्शन किया गया है बिल्कुल वैसा ही प्रभाव रसिक सन्तों ने उनके वेणु का वर्णन किया है। वंशी-ध्वनि के श्रवण से ब्रज सीमंतिनियों को अपने देह विस्मृत हो गये थे और वे श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन के लिये दौड़ पड़ी थीं। वंशी-ध्वनि का यह क्रांतिकारी प्रभाव केवल गोपियों पर नहीं पड़ा था, जड़ और चेतन समान रूप से इससे प्रभावित हुए थे। श्रीहरिराम व्यास ने अपनी व्रजभाषा रासपञ्चाध्यायी में इस प्रकार का विशद वर्णन किया है—

धुनि कोलाहल दस दिसि जात,
कलप समान भई सुख रात
जीव जन्त मैमंत सब।
उलटि बह्यौ जमुना को नीर
बाल बचछ न पीवत छीर
राधारवन ठगे सबै।
गिरिवर तरुवर पुलकित गात,
गोधन धन तैं दूध चुवात
सुनि खग मृग मुनि व्रत धर्‍यौ।

—श्रीव्यास वाणी

स्वयं श्रीकृष्ण एवं उनके वेणु के प्रभाव में सम्पूर्ण समानता देखकर रसिक संतों ने यह निर्णय किया कि श्रीश्यामसुन्दर ने वेणु द्वारा अपने स्वरूपभूत अनन्त प्रेम सौंदर्य का ही विस्तार किया था और उनका जो रूप नेत्रों का विषय था उसको कानों का विषय भी बना दिया था। इस प्रकार श्रीकृष्ण के वेणु में वही माधुरी है जो श्रीकृष्ण के रूप में है। वेणु में विशिष्टता यह है कि उसमें अद्भुत नाद-सौंदर्य भी मिला हुआ है

जो उसके आकर्षण को और अधिक बढ़ा देता है। रसिकवर घनश्यामजी वेणु ध्वनि के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जलके, थलके, नभके जु किये बस बांसुरी ।
सुनिकै, छविकै, कविकै न रहै तन मांसुरी ।।

वंशी ने जल, थल और नभ के निवासी तो अपने वश में कर ही लिये किन्तु जिन सहृदय व्यक्तियों ने वंशी में ध्वनित छवि को सुना, उनके शरीर का तो सारा मांस ही सूख गया।

इसी से श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने वंशी-ध्वनि के श्रवण का फल श्रीकृष्ण-दर्शन बतलाया है। उन्होंने कहा है—

मैं जु मोहन सुन्यौ वेणु गोपाल कौ ।
ब्योम मुनियान सुर नारि विथकित भईं ।
कहत नहीं बनत कछु भेद यति ताल कौ ।।
श्रवन कुण्डल छुरित, रुरत कुन्तल ललित ।
रुचिर कस्तूरि चन्दन तिलक भाल कौ ।।
चंद गति मंद भई निरखि छबि काम गई ।
देख हरिवंश हित वेष नन्दलाल कौ ।।

मैंने मदन गोपाल के मोहक वेणुनाद को सुना है,

इस अद्भुत नाद को सुनकर आकाश में स्थित मुनि-यानों (विमानों) में बैठी हुई देवाङ्गनाएँ थकित हो गयीं। अतः इस नाद की यति और ताल का भेद कहना सम्भव नहीं है।

श्रवण कुण्डलों से भूषित हैं, उनकी अलकें छूट रही हैं, और कस्तूरी मिश्रित चन्दन का सुन्दर तिलक उनके भाल पर सुशोभित है।

नन्दलाल का दर्शन करके चन्द्र की गति मंद हो गयी है और काम छविहीन हो गया। श्रीहित हरिवंश कहते हैं कि नन्दलाल के इस त्रिभंगललित वेष को देखो।

इस दृष्टि से विचार करने पर श्रीकृष्ण-सौन्दर्य का संस्कृत, ब्रजभाषा या अन्य भाषाओं में वर्णन करने वाले महानुभावों की रचनाओं को वेणुनाद कहा जा सकता है क्योंकि उनके द्वारा हजारों भक्तों को श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं और हो रहे हैं।
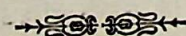
रूप तौ गुपाल ही कौ : वेणु माधुरी

ब्रज के रसिक सन्तन ने अपनी वाणीन में श्रीश्यामसुन्दर के शुद्ध भावात्मक स्वरूप कौ चित्रण कियौ है। इन सबकौ आधार ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ही रह्यौ है, किन्तु रसिक वाणी और श्रीमद्भागवत में बीज और वृक्ष जैसौ सम्बन्ध है। भागवत में जो लीला बीज रूप में है रसिकन की वाणी में वाकौ पल्लवन नाना रूपन में और विधान में भयौ है। उदाहरण के लिये श्रीकृष्ण की वेणु के मधुर और अद्भुत आकर्षण कौ बड़ौ मार्मिक किन्तु संक्षिप्त वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलै है किन्तु ब्रज के महानुभावन ने वाके आधार पै वेणुनाद के सम्बन्ध में जो उद्भावनाएँ करी हैं वे ब्रजवाणी कौ शृंगार है और भावुक भक्तन के हृदय कौ हार है।

श्रीमद्भागवत में श्रीश्यामसुन्दर कू प्रेम और सौन्दर्य के अपार.अथाह सागर के रूप में उपस्थित कियौ गयौ है। वे 'साक्षान्मन्मथ मन्मथः, हैं अर्थात्-कामदेव के मन कौहू मथन करन वारे हैं। कामदेव कू भारत में ही नहीं सर्वत्र परम सौन्दर्य कौ प्रतीक मान्यौ जाय है। मनोविज्ञान की रीति सूँ विचार करें तौ कामावेशित नेत्रन सूँ काहू स्त्री या पुरुष कौ जैसौ रूप-सौन्दर्य दीखै है वैसौ सामान्य नेत्रन सूँ नाँय दीखै। मनो-वैज्ञानिक फ्रायड ने याही सूँ मनुष्य के सौन्दर्य दर्शन कौ आधार वाके अन्दर रही भई काम वृत्ति कूँ मान्यौ है। श्रीश्यामसुन्दर कौ सौन्दर्य कामदेव के मन कूँ मथित कर डारै है। याकौ अर्थ यह भयो कि या अद्भुत सौन्दर्य के द्वारा लौकिक सौन्दर्य-दर्शन की आधारभूत कामवृत्ति कौ मंथन ह्वै जाय है। श्रीध्रुवदास ने बतायौ है कि पाँच बाण रखवे वारे कामदेव ने एक बार त्रिभुवन मोहन कू ब्रज में रासबिहार करते देख लियो तौ वाके बाणन ने उलट कै वाके सरीर कू ही जर्जरित करि डारचौ। महाअनंग सरम के मारै झुक गयो और वा दिना ते फिर वाकौ माथो श्रीश्यामसुन्दर के सामने उठ्यौ नहीं।

पंचबान जेहि पान हैं देखि गयौ यह रंग।
तेई बान तेहि फिरि लगे जरजर भयो सब अंग ॥
विवस भयौ सुध रही न कछु मोह्यौ महाअनंग।
लज्जित ह्वै रह्यौ नमित अति करत न सीस उतंग ॥

कामदेव किंवा कामवृत्ति कौ मंथन होयबे ते वाकौ सम्पूर्ण मैलमक्कड़ और गरमी निकसि जाय है और वह श्रीश्यामसुन्दर के अलौकिक प्रेम-सौन्दर्य कौ दर्शन और रसास्वादन करबे के योग्य बन जाय है।

वास्तव में यह रूप वर्णनातीत है किन्तु वाके अनुभव में कछु ऐसी विवशता रहीं होय है कि बोले बिना रह्यौ हू नाँय जाय। अपनी या विवशता कूँ इन रूप-रसिक महानुभावन ने अनेक स्थलन में बड़े कलात्मक ढंग सूँ व्यक्त कियौ है और अचरज या-बात कौ है कि या ढंग सूँ वा अगोचर रूप की बड़ी समर्थ व्यंजना कर दीनी है। अपने होरी के एक पद में नन्ददास जी ने कह्यौ है कि पिचकारिन की धारन सौं श्रीश्यामसुन्दर और गोपीजन के वस्त्र भींज कै उनके अंगन तें लपटि गये। गीले वस्त्रन के अंगन ते लिपटते ही अंगन की ढकी भई अद्भुत शोभा झलमलाय उठी। नन्ददास जी के नेत्रन में चकचौंधी सी लगी और कछु क्षणन के लिये उनके नेत्र और मन वा शोभा में डूब गये। जब वे कछु सावधान भये और उनने वा शोभा कौ वर्णन कियौ चाह्यौ तो उनके नेत्रन में हा-हा खाय कै उनकूँ रोक दियौ। नेत्र जि जानैं है कि हमने जो छवि देखी है वह अनुपम है और वाकी उपमा दैवे तौ वाकौ घात है जायगौ।

भींजि वसन तन लपटाने, रङ्ग होरी खेलैं।
बरनत बरनी न जाय, अहो हरि होरी खेलैं॥
उपमा दैंन न दैंहि नैंन, रङ्ग होरी खेलैं।
गहि राखत हा-हा खाय, अहो हरि होरी खेलैं॥

श्रीध्रुवदास जी ने या अद्भुत रूप के कथन के प्रयास कूँ गँवारपने की चेष्टा बताय कै या रूप की अत्यन्त नागरता पूर्ण व्यंजना कर दीनी है। उनने कह्यौ कि वाणी की तौ कहा चलाई मनहूँ जा रूप छटा में प्रवेश नाँय पावै वाकूँ कौन सौ लौकिक उदाहरण दै कै प्रमाणित कियौ जाय सकै, समझायो जाय सकै? वास्तव में समझायबे की चेष्टा वैसी ही है जैसी बहुमूल्य रत्न कौ भेदन करबे के लिये काहू गंवार द्वारा वाय पत्थर ते तोड़बे की चेष्टा!

और को प्रवेस कहाँ मनहू न भेदी जहाँ।
"ऐसी रूप छटा ताहि काहि लै प्रमानिये॥
हित ध्रुव जोई कछु कहिबो है ऐसी भाँति।
जैसे आली पाहन सों मानिक लै भानिये॥"

दास कवि ने एक गोपी के मुख सौं श्रीकृष्ण सौन्दर्य के सर्वहारा अद्भुत प्रभाव कौ सुन्दर वर्णन एक सवैया में कियौ है। गोपी कौ यह कहनौ कि यहाँ श्रीकृष्ण रूप की 'दिखसाध' देखने की इच्छा—कू रोके रखने में ही भलाई है। और या प्रकार सू श्रीश्यामसुन्दर के मनोहारी रूप की ओर मार्मिक संकेत करदें हैं। दास ने कह्यौ है—

वाही दिना ते न सान रहै न गुमान रहै न रहै प्रभुताई।
दास न लाज कौ साज रहे न रहै तनकौ घर काज की धाई॥

ह्याँ दिखसाध निवारे रहो,
तबही लौं भट्ट सब भाँति भलाई।
देखत कान्ह न चित्त रहै,
नहीं चेत रहै, न रहै चतुराई ।।

या सवैया में श्रीकृष्ण रूप कौ जैसो प्रभाव वर्णन कियौ है बिलकुल वैसौ ही प्रभाव रसिक संतन ने उनकी वेणु कौ बतायौ है। वंशीध्वनि श्रवण करते ही गोपी-जनन कू उनके देह-गेह विस्मृत है गये हुते और श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन कूं दौर परी हुतीं। अकेली गोपीन पै ही नहीं वंशी ध्वनि कौ क्रान्तिकारी प्रभाव जड़ और चेतन पै समान रूप ते परचौ हुतौ। श्रीहरीराम व्यास नै अपनी रासपंचाध्यायी में याकौ विशद वर्णन कियौ है। वे कहैं हैं—

धुनि कौलाहल दस दिसि जात-
कल्प समान भई सुखरात।
जीव जन्त मैं मंत सब।
उलटि बह्यौ जमुना कौ नीर,
बालक बच्छ न पीवत छीर,
राधारवन ठगे सबै।
गिरिवर तरुवर पुलकित गात,
गोधन धन तैं दूध चुचात
सुनि खग मृग मुनि व्रत धर्यौ।

स्वयं श्रीकृष्ण एवं उनकी वेणु के प्रभाव में संपूर्ण समानता देख कै अनुभवी संतन ने यह निर्णय कियौ कि श्रीश्यामसुन्दर ने वेणु द्वारा अपने स्वरूपभूत अनन्त प्रेम-सौन्दर्य कौ ही विस्तार कियौ हुतौ। और उनकौ जो रूप नेत्रन कौ विषय हुतौ वाय श्रवणन कौ विषय हूँ बनाय दियौ। या प्रकार सूं श्रीकृष्ण की वेणु में वो ही माधुरी है जो श्रीकृष्ण के रूप में भरो भई है। वेणु में विशेषता जि है कि वामें अद्भुत नाद-सौन्दर्य हू मिल्यौ होय है जो वाके आकर्षण कूँ और अधिक बढ़ाय देय है। रसिकवर घनश्याम जी वेणुध्वनि के प्रभाव कौ वर्णन करत भये कहैं हैं—

जल के थल के, नभ के जु किये बस बाँसुरी।
सुनि कै छवि कै, कवि कै न रहै तन माँसुरी ।।

वंशी ने जल, थल और नभ के निवासी तौ अपने वश में करही लिये किन्तु जिन सहृदय व्यक्तीन ने वंशी में ध्वनित होयवे वारी छवि कूँ सुनि लीनी उनके सरीरन कौ तौ सबरौ माँस ही सूख गयौ!

याही सूँ श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने वंशी ध्वनि के श्रवण को फल श्रीकृष्ण दर्शन हू बतायौ है—

मैं जु मोहन सुन्यौ वेणु गोपाल कौ।
व्योम मुनियान सुरनारि विथकित भई,
कहत नहीं बनत कछु भेद यति ताल कौ।।
स्रवन कुण्डल छुरित, रुरत कुन्तल ललित,
रुचिर कस्तूरि चन्दन तिलक भाल कौ।
चंद गति मंद भई निरखि छवि काम गई,
देखि हरिवंश हित वेष नन्दलाल कौ।।

या दृष्टि सौं विचार करबे ते श्रीकृष्ण-सौन्दर्य को वर्णन करन हारे महानुभावन की रचनान कू वेणुनाद कह्यौ जाय सकै है क्यों कि उनके पदन नें हजारन भक्तन कू श्रीकृष्ण के दर्शन कराये हैं और करामत रहैंगे।

श्रीहिताचार्य श्रीराधा चरणों की प्रधानता स्थापित करने के लिये संसार में अवतरित हुए थे। परकीया भाव इस प्रधानता में बाधक है अतः उन्होंने श्रीराधा को स्वकीया रूप में स्वीकार किया। ब्रज के रास में श्रीराधा, पुराणों के अनुसार, परकीया हैं। अतः श्रीहिताचार्य का पहला कार्य यह था कि वे इस रास में श्रीकृष्ण की स्थापना राधापति के रूप में करें और इसको श्रीराधा की प्रसन्नता के लिए की हुई श्रीराधापति की लीला घोषित करें।

☆

वृन्दावन की नित्य प्रकट लीलाओं में प्रेम अपने अत्यंत सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहता है और संयोग-विरह भी सूक्ष्म बनकर एक ही काल में उदित रहकर शृंगार रस के अनुभव को पुष्ट करते रहते हैं। राधावल्लभीय सिद्धान्त में संयोग और विरह दोनों को अपने आप में अपूर्ण माना गया है।

वृन्दावनीय भक्ति :
एक तात्त्विक अध्ययन

वृन्दावन की भक्ति साधना उस पुरातन वटवृक्ष के समान विशाल है जो पिछली चार शतियों में काफी फैल फूट चुका है। इसका सर्वाङ्गीण वर्णन इतने अल्प समय में संभव नहीं है। अतः यहाँ इस साधना के कतिपय मौलिक तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन ही प्रस्तुत किया जाता है।

भक्ति का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। जहाँ से मनुष्य ने 'अहं' और 'इदं' के परस्पर सम्बन्धी एवं घात-प्रतिघातों पर विचार करना आरम्भ किया है वहीं से दार्शनिक चिन्तन का जन्म मानना चाहिये। बहुत दिनों तक वह इन दोनों को एक दूसरे से स्वतन्त्र मानता रहा, किन्तु इससे उसका चिन्तन संतुष्ट नहीं हो रहा था, उसकी चिन्तन धारा को विश्रांति तब मिली, जब उसने 'अहं' और 'इदं' के अपने और जगत् के अन्दर अनुस्यूत एक स्वतन्त्र सत्ता के दर्शन कर लिये।

ज्ञान, भाव और क्रिया में त्रिविध अभिव्यक्ति पाने वाला चेतन मन मनुष्य को प्राप्त था और उसने इन तीनों के योग से इस नवोन्मेषित स्वतन्त्र सत्ता का अनुसंधान आरम्भ किया। ज्ञान की सहायता से उसने बस सत्ता की विशालता, चिन्मयता, सर्व-समर्थता आदि को समझा, भाव के द्वारा उसने उसके साथ पिता, माता, बन्धु, सखा आदि को समझा व सम्बन्ध स्थापित किये एवं क्रिया द्वारा उसको प्रसन्न करने के लिये यज्ञादिक की योजना की।

वैदिक-साहित्य के संहिताकाल में मनुष्य के तत्त्व दर्शन को हम इसी रूप में स्थित पाते हैं। ज्ञान भाव और कर्म की विभिन्न उपलब्धियों ने एक साथ मिलकर पर-तत्त्व का एक संश्लिष्ट रूप मनुष्य के सामने उपस्थित कर दिया था, जिसकी महनीयता को लक्ष्य करके वह चकित बनता था, जिसकी करुणा का अनुभव करके वह भाव विगलित होता था और यज्ञादिक कर्मों के द्वारा जिसे संतुष्ट करने की वह चेष्टा करता था।

धीरे-धीरे दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति विशिष्टीकरण की ओर ले गई और उप-निषद् काल में हम ज्ञान को भाव और कर्म से अधिक महत्त्व प्राप्त करके देखते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन माने जाने वाले उपनिषदों में प्रधानता ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा का उद्यम लक्षित होता है। फिर भी भाव को सर्वथा उपेक्षित नहीं किया गया है और इन्हीं उपनिषदों में हमको भाव दृष्टि की वे उपलब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं जिनके सहारे आगे चलकर स्वतन्त्र भावमार्ग की स्थापना सम्भव हुई। उदाहरण के रूप में तैत्तरीय की 'रसो वै सः' श्रुति एवं बृहदारण्यक का प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद दिये जा सकते हैं जिसमें महर्षि याज्ञवल्क्य ने सारे जागतिक पदार्थों की तुलना में आत्मा को सर्वाधिक प्रियसिद्ध किया है और उसी को सम्पूर्ण प्रियता का मूलाधार बताया है।

ऐसी स्थिति में ऋषियों एवं मनीषियों द्वारा स्वभावतः ज्ञान के स्वरूप एवं शक्ति का ही मनोवैज्ञानिक एवं गहन चिन्तन उपस्थित किया गया, जो हमारे वाङ्मय की अमूल्य निधि हैं। भाव को ज्ञान की विशाल परिधि में समेट लिया गया और उसके सम्बन्ध में पृथक चिन्तन एवं विवेचन आवश्यक नहीं समझे गये। यही स्थिति भक्ति के वेदान्त सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीरामानुज, मध्व आदि आचार्यों तक रही। इससे पूर्व श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से काम, क्रोध, भय आदि भावों को ज्ञान के समान ही भवत्प्राप्ति का स्वतन्त्र साधन बताया गया था—

कामं क्रोधं, भयं, स्नेहं, ऐक्यं, सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥"

किन्तु शायद, दार्शनिक धरातल पर भावों की कोई स्वतन्त्र विवेचन पद्धति उपलब्ध न होने के कारण श्रीरामानुज ने अपने वेदार्थ-संग्रह में भक्ति को ज्ञान का ही एक प्रकार बताया है और उसको ज्ञान विशेष कहा है। उनके अनुयायी श्रीवेदान्तदेशिक ने भक्ति और प्रीति को अभिन्न माना है किन्तु प्रीति को ज्ञान विशेष ही कहा है। श्री मध्वाचार्य ने अपने अणु आख्यान में भक्ति और ज्ञान के परस्पर सम्बन्ध का विशद विवेचन करने के बाद दोनों को अभिन्न ही सिद्ध किया है। उन्होंने बताया है कि हम भक्ति-भाव को ज्ञान इसलिये कहते हैं कि ज्ञान इस भाव का एक भाग है अर्थात् भक्ति-भाव के साथ ज्ञान सहज रूप से ही रहता है, इसीलिये भक्ति को ज्ञान का ही एक 'विशेष' कहा जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान भी ज्ञान और भाव को एक ही मनोवृत्ति के दो पहलू मानता है जो एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। ऐसा करने से मनोवृत्ति का स्वरूप नष्ट हो जाता है। किन्तु मनोविज्ञान के अनेक पण्डितों ने ज्ञान की तरह भाव का भी एक स्वतन्त्र अध्ययन करने की चेष्टा की है और भाव विवेचन की एक वैज्ञानिक सारिणी का निर्माण भी उनके द्वारा हुआ है।

अपने यहाँ भावों का सर्वप्रथम विवेचन नाट्यशास्त्र के सन्दर्भ में भरत द्वारा दिया गया। उसमें स्थायी भावों के स्वरूप का वर्णन वैज्ञानिक ढङ्ग से न होते हुये भी भावों के सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध होते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भक्ति-भाव की स्वतन्त्र पद्धति की आवश्यकता उस समय से प्रतीत होने लगी। जब भक्ति के साथ प्रेम का योग हुआ। भक्ति के विकास में प्रेम-लक्षणा भक्ति का उदय महत्त्वपूर्ण घटना है। सामान्य भक्तिभाव के साथ प्रेम के योग ने इस क्षेत्र में क्रान्ति ला दी और भक्ति की स्वतन्त्र पद्धति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भक्ति एक संश्लिष्ट भाव है और इसमें अनेक मूल प्रवृत्तियों एवं भावों का योग रहता है। इन भावों में प्रेम भी एक भाव होता है। किन्तु भक्ति के अन्दर रहे हुये अन्य प्रभावशाली भाव इस भाव को संयमित रखते हैं।

प्रेमाभक्ति में यह प्रेम अन्य भावों से प्रधान हो जाता है एवं अन्य सब उसके अनुगत हो जाते हैं। भक्तिभाव की तुलना में प्रेम-भाव अधिक सार्वजनिक भी होता है। सहज भक्ति कुछ लोगों में देखी जाती है, प्रेम भाव का अनुभव किसी न किसी रूप में सभी करते हैं। अतः प्रेम के योग से भक्तिभाव काफी दूर तक सार्वजनीन बन गया और भक्ति मनुष्य के सामान्य मनोविज्ञान के कुछ और निकट आ गई।

ऐतिहासिककाल में दक्षिण के आलवार सन्तों ने भक्ति को एक विशिष्ट भाव के रूप में ग्रहण किया था और यत्र-तत्र उनके द्वारा किये इस भाव के विवेचन भी प्राप्त होते हैं। डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने "भारतीय दर्शन" नामक ग्रन्थ में "द्रमिणोपनिषद" का एक श्लोक उद्धृत किया है, जो आलवारों द्वारा स्वीकृत भक्ति के स्वरूप पर मनो-वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रकाश डालता है। इसमें कहा गया है कि अविवेकियों की जो प्रीति च्युतिशील विषयों में होती है, वही जब अच्युत में लगती है, तब उसका नाम 'भक्ति' हो जाता है। वास्तव में भगवान् के कमनीय रूप में प्रीति का नाम ही 'भक्ति' है, इसी-लिये श्रीशुकमुनि ने गोपियों की भक्ति के वर्णन में कामुक वाक्य-भंगी का प्रयोग किया है।'

"या प्रीतिरस्ति विषयेष्वविवेक माजां,
सैवाच्युते भवति भक्ति पदाभिधेया।।
भक्तिस्तु प्रीतिरिह तत्कमनीय रूपे।
तस्मान्मुने रजनि कामुक वाक्य भंगी।।"

विक्रम की सोलहवीं शती में प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन में इस भक्ति का पूर्ण विकास हुआ और तभी इस भाव की पद्धतियाँ बनीं। यह नवीन उत्थान व्रज और विशेषतः वृन्दावन में केन्द्रित हुआ था। श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय के केन्द्र गोवर्धन और गोकुल बने और श्रीराधावल्लभ एवं चैतन्य सम्प्रदाय का विकास वृन्दावन में हुआ। यहाँ इस भक्ति की दो पद्धतियों का निर्माण हुआ। एक का निर्माण श्रीहित हरिवंश गोस्वामी के सम्प्रदाय में हुआ और दूसरी के निर्माता श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीजीव

गोस्वामी हैं। दोनों पद्धतियों का आधार स्वभावतः प्रेमी भक्तों की भावानुभूति है किंतु श्रीरूप गोस्वामी ने भरत की परिपाटी का आश्रय लेकर उसको अभिव्यक्ति दी है और राधावल्लभीय परिपाटी स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है। श्रीरूप गोस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्ति रसामृत सिन्धु' के आरम्भ में ही प्रेमलक्षणा भक्ति–उत्तमा भक्ति को ज्ञान कर्मादि से अनावृत बतलाया है और यहीं से शुद्धभाव पद्धति की नींव रख दी है।

जिसे हम दार्शनिक विचार पद्धति कहते हैं, वह मनुष्य की बुद्धि अथवा प्रज्ञा का विलास है और बुद्धि के नियमों से शासित है। यह पद्धति भावों से जितनी अस्पृष्ट रहती है, उतनी ही तत्त्व चिन्तन में सक्षम होती है। इसके विपरीत भाव चिन्तन भावाविष्ट चित्त से ही सम्भव होता है। भाव में, कम से कम स्वस्थ भाव में, बुद्धि की क्रियायें अस्तमित नहीं होती। उनमें केवल एक ही विकृति आती है और भाव द्वारा ही शासित होती है। चित्त की संवेगशून्य स्थिति का ज्ञान भावाविष्ट स्थिति के ज्ञान से स्पष्टतः भिन्न होता है। ज्ञान से निरावृत भाव वही होता है, जिसमें ज्ञान की क्रियायें भावानुगत होती हैं।

भाव एक ऐसा सम्वेदन है, जिसकी उत्पत्ति एवं स्थिति के लिये विषय की आवश्यकता होती है। आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों की भी यही मान्यता है और जीव गोस्वामी ने भी अपन 'प्रीति-सन्दर्भ' में प्रीति और सुख का भेद बतलाते हुए इस तथ्य को लक्षित किया है। उन्होंने कहा है कि सुख किंवा आनन्द उल्लासात्मक होता है अतः उसका केवल आश्रय होता है, विषय नहीं होता। किन्तु प्रीति का आश्रय भी होता है और विषय भी होता है। यह प्रीति जब परतत्त्व के प्रति विनियुक्त होती है, तब वह उसको विषय रूप में ही ग्रहण करती है। इसीलिये प्रेमभाव के द्वारा परतत्त्व का विषयगत सगुण साकार रूप गृहीत होता है। श्रुति-साहित्य में मिलने वाले परतत्त्व के परस्पर भिन्न वर्णन भाव और ज्ञान की भिन्न प्रकृतियों को लेकर हैं, उनसे कोई तत्त्वगत भिन्नता व्यञ्जित नहीं होती।

हिन्दी के भक्ति-साहित्य में प्रेमाभक्ति की दो प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं। कबीरदासजी आदि सन्तों का प्रेम भगवान् के अन्तर्यामी रूप के साथ है। उनके अन्तर्यामी 'राम' निर्गुण, अरूप, असीम और अत्यन्त रहस्यमय तत्त्व हैं। अतः कबीर-दासजी आदि के प्रेम में उनके प्रेमास्पद के अनुरूप, विशालता, अतीन्द्रियता और रहस्य-मयता दिखलाई देती है। इस प्रेम का गठन ज्ञान की विशाल भूमिका पर होता है और दोनों के मिलने से प्रेम का एक विशिष्ट रूप प्रकट होता है, जो अनेक लोगों को अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है। किन्तु इसलिये सन्तों का भक्ति-मार्ग योगमार्ग के अधिक निकट रहा और अभी तक है।

भगवान् के प्रकट रूप को ग्रहण करने वाले भावुक भक्तों को इस प्रकार के प्रेम से सन्तोष नहीं होता। उनकी दृष्टि में, इस प्रेम में विरह की पीड़ा, मिलन का सुख, सम्पूर्ण आत्म समर्पण आदि सब कुछ होता है, किन्तु प्रेमास्पद का 'लाड़-दुलार' नहीं

होता। आलम्बन की विशालता और अरूपता इसमें बाधक बनी रहती है। लाड़-प्यार के निकट आलम्बन की आवश्यकता होती है, जो स्वयं देहवान् हो और जिसका ग्रहण प्रेमी अपनी नेत्रादिक इन्द्रियों से कर सके। (श्रीमद्भागवत (१०-१४-३३) में ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण के दर्शन के बाद अपने साथ एकादश इन्द्रियों के उन अधिष्ठातृ देवताओं के भाग्य की प्रशंसा की है जो व्रजवासियों की इन्द्रियों को चषक बनाकर भगवान मुकुन्द के चरण कमल मकरन्द का निरन्तर पान करते रहते हैं। सूरदास के 'भ्रमर गीत' में उद्धव जी गोपियों की विरह ज्वाला की शान्ति के लिये उनको श्रीकृष्ण के अन्तर्यामी रूप का भजन करने को कहते हैं, किन्तु गोपी विवश हैं। यह जानते हुये भी कि भगवान् अन्तर्यामी रूप से सबके निकट हैं उनके नेत्र प्रकट रूप के दर्शन के लिये ही व्याकुल बने रहते हैं। प्रकट दर्शनों के बिना, अन्तर्यामी रूप के चिन्तन में उनको कोई सुख नहीं मिलता।

नैना नाहिनैं ये रहत।
यद्यपि मधुप तुव नन्दनन्दन कौं, निपटहिं निकट रहत।
हृदय मांझ जो हरिहिं बतावत, सीखौ नाहिं गहत।
परी जु प्रकृति प्रगट दर्शन की देखौई रूप चहत।
'सूरदास' प्रभु बिन अवलोके सुख कोई न लहत॥

श्रीकृष्ण के इन्द्रिय गोचर होने के कारण गोपियों के प्रेम में 'प्यार' जाग उठा था और वे नन्दनन्दन का इतना दुलार कर सकी थीं। गोपियों की श्रीकृष्ण में प्रेमाभक्ति थी। इस भक्ति की ध्वजा-गोपियाँ ही मानी गई हैं—

गोपी प्रेम की धुजा।
जिन गोपाल किये बस अपने उर धरि श्याम भुजा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वृन्दावन की भक्ति-साधना सम्पूर्णतया प्रेमभाव पर आधारित है। इस साधना में उपास्य, उपासक, उपासना, उपकरण आदि सब भावरूप हैं और सबका नियामक एकमात्र प्रेमभाव है। श्रीध्रुवदासजी ने यहाँ के उपास्य प्रेम विहार का परिचय देते हुये कहा है—

"प्रेम के खिलौना दोऊ खेलत हैं प्रेम खेल,
प्रेम फूल फूलन सौं प्रेम सेज रची है।
प्रेम ही की चितवन, मुसिकन प्रेम ही की,
प्रेम रंगी बातैं करैं प्रेम-केलि मची है।
प्रेम की तरंगनि में प्रीतम परे हैं दोऊ,
प्रेम प्यार भार प्यारी पिय हिय लची है।
'हित ध्रुव' प्रेम भरी प्यारी सखी देखें खरी,
हित चितवन छबि आनि उर सची है।
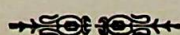
व्रज संस्कृति और आगम तन्त्र

'हित वाणी' के द्वितीय वर्ष के २-३ अङ्क में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का "व्रज की सांस्कृतिक चेतना : आगमों के आलोक में" शीर्षक विद्वत्ता पूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। 'हितवाणी' के संचालक महोदय ने मुझसे अनुरोध किया है कि मैं उक्त लेख की स्थापनाओं के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करूँ मुख्यतः श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय की प्रेमोपासना के संदर्भ में।

उक्त लेख में विद्वान लेखक की मुख्य स्थापना, उन्हीं के शब्दों में, है कि 'अंततः इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि व्रज की सांस्कृतिक चेतना को तन्त्रवाद के आलोक में ही ठीक-ठीक समझा और परखा जा सकता है।' यह निर्विवाद है कि वैष्णव धर्म की सभी वेदान्त सम्प्रदायों—श्रीरामानुज, श्रीनिम्बार्क, श्रीमध्व एवं श्रीविष्णुस्वामी (श्रीवल्लभ) में आगमों का प्रभाव किसी न किसी रूप में लक्षित होता है। किन्तु व्रज की वर्तमान धार्मिक संस्कृति के निर्माण में केवल वेदान्त सम्प्रदायों का ही योगदान नहीं है। उनकी बुनावट में उन विशुद्ध प्रेममार्गीय सम्प्रदायों के ताने-बाने भी दिखलाई देते हैं जो अपने ध्येय रूप को 'आगम-निगम अगोचर' बताते हैं,

आगम-निगम अगोचर राधे चरन सरोज 'व्यास' अवतंस।

अन्यत्र कहा गया है कि श्रीहिताचार्य से उपासकों को वह रसभक्ति प्राप्त हुई जो जगत में प्रत्येक युग में गूढ़रूप से विद्यमान रहती है, जो शिवजी, ब्रह्माजी तथा इन्द्रादि देवों को भी दुर्लभ है, जो आगम, निगम और पुराणों को अगोचर है और जिसमें रूप-सौन्दर्य की सागर रूपा सहज माधुरी का उन्मेष (उपासक के मन और नेत्रों में) होता है,

पाई रस भक्ति गूढ़ जुग-जुग जग दुर्लभ भव इन्द्रादि विधि।
आगम अरु निगम पुराण अगोचर सहज माधुरी रूप निधि॥

उधर श्रीस्वामी श्रीहरिदासजी की परम्परा में श्रीविहारिनदासजी श्रीवृन्दावन की नव निकुंज में संतत विराजमान 'सहज जोरी' को शुक, नारद एवं नित्य मुक्त

सनकादिकों से भी अलक्ष्य बताते हैं। भक्त होने के साथ श्रीशुकदेवजी श्रुतियों पर आधारित अद्वैत ज्ञानधारा के मूल आचार्य माने जाते हैं तथा वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माने जाने वाला पांचरात्र तन्त्र नारदजी के नाम से प्रसिद्ध है। विहारिनदास जी ने इन दोनों का नामोल्लेख करके अपनी 'सहज जोरी' को निगमों के ज्ञानमार्ग एवं आगमों के पारम्परिक भक्ति-मार्ग के द्वारा अनिर्देश्य व्यंजित किया है,

श्रीवृन्दावन नव निकुंज में संतत सहज विराजत जोरी।
अति अगाध महिमा रस जिनकौ सो पैयत इक कृपा किसोरी॥
शुक-नारद से भक्त मुक्त सनकादिक सुहृदन हूँ तैं थोरी।
विहारीदास जस कहै कहा लौं रसना सहस तौऊ मति थोरी॥

—श्रीविहारिनदास जी की वाणी

ऊपर उद्धृत उद्गार नित्यविहारोपासना के प्रारंभिक काल के उन रसिक महानुभावों के हैं जिन्होंने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उक्त उपासना के प्रेम सिद्धान्त को एक निश्चित और अनन्य सामान्य आकार प्रदान किया है अतः इनको अर्थवाद नहीं माना जा सकता। व्रज संस्कृति पर आगमों के प्रभाव का परीक्षण करने से पूर्व उनके प्रतिपाद्य का संक्षिप्त परिचय दे देना लाभप्रद रहेगा—

१—इष्टभेद से आगम तीन प्रकार के माने जाते हैं—वैष्णवागम, शैवागम और शाक्तागम। इनमें से वैष्णवागमों में विष्णु की शैवागमों में शिव की और शाक्तागमों में शक्ति की प्रधानता है। शाक्तागमों में शक्ति को ही परब्रह्म माना गया है।

२—विद्वानों की राय में आगमों की भित्ति निगम ही हैं। दोनों में भेद यह है कि निगमों में जहाँ तात्विक विवेचन की प्रधानता है, वहाँ आगमों में साधना और धर्म पर विशेष भार दिया गया है। दूसरा भेद यह है कि वेदों ने जहाँ अपने अनुशीलन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रियों तथा वैश्यों को दिया है वहाँ आगमों ने अपना द्वार शूद्र और स्त्रियों के लिये भी उन्मुक्त कर रखा है।

३—पांचरात्र मत में परब्रह्म अद्वितीय एवं निर्गुण-सगुण उभयरूपों से युक्त है। सगुण ब्रह्म किंवा भगवान में छः गुण हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य बल, वीर्य तथा तेज। जगत् के उपादान कारण को शक्ति कहते हैं। भगवान की शक्ति का सामान्य नाम लक्ष्मी है। शक्ति दो प्रकार की होती है शुद्ध और शुद्धेतर। शुद्ध शक्ति की सहायता से भगवान अपने चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार और अन्तर्यामी अवतार। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के समन्वित रूपों वाला 'चतुर्व्यूह सिद्धान्त' पांचरात्र की विशिष्टता मानी जाती है। विभव के अन्तर्गत मुख्य और गौण भगवदवतार आते हैं, पांचरात्र विधि से प्राण प्रतिष्ठा किये हुये भवगद् विग्रह अर्चावतार माने जाते हैं और सब प्राणियों के हृदयस्थ भगवान का रूप उनका

अंतर्यामी रूप कहलाता है। शुद्धेतर शक्ति शुद्ध सृष्टि के आधार पर दृश्य प्रपंच की रचना करती है।

४—आगम क्रिया प्रधान है। पांचरात्र पद्धति में शरणागति किंवा 'न्यास' भगवान की अनुग्रह शक्ति के उद्बोधन में प्रधान उपाय मानी जाती है। शरणागति की छः विधायें प्रसिद्ध हैं। वैखानस आगम में विष्णु के समाराधन के चार प्रकार हैं—जप, हुत (अग्नि होत्रादि हवन), ध्यान (अष्टांग योगमार्ग से परमात्मा का चिन्तन) और अर्चना (प्रतिमा पूजन)। इनमें अर्चना पर सर्वाधिक भार दिया गया है।

५—दार्शनिक सिद्धान्त के विभेद से, श्रीरामानुजके अनुसार, वैष्णवागम विशिष्टाद्वैत प्रतिपादक हैं, शैव आगम में तीनोंमतों - द्वैत, अद्वैत तथा द्वैताद्वैत—की उपलब्धि होती है और शाक्तागम सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

६—शैव सिद्धान्त में शिव की दो शक्तियाँ मानी गई हैं—समवायिनी और परिग्रह रूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी है। इसके साथ शिव का तादात्म्य सम्बन्ध है, यह शिव की स्वरूप शक्ति है। परिग्रह शक्ति अचेतन एवं परिणाम शालिनी है। शैव सिद्धान्त का सर्वाधिक समृद्ध और परिष्कृत रूप 'प्रत्यभिज्ञा' किंवा त्रिक दर्शन में दिखलाई देता है।

त्रिक दर्शन तथा शाक्त दर्शन के मत में एक ही अद्वय परमेश्वर परमतत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का—कामेश्वर और कामेश्वरी का—सामरस्य रूप है। परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनमें पाँच विशेष रूप से उल्लेख्य हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया।

७—शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अंतर्मुख होने पर शिव हैं—और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तर्मुख और बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं। शिवतत्त्व में शक्तिभाव गौण और शिवभाव प्रधान है—शक्तितत्त्व में शिव भाव गौण और शक्ति भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है, न शक्ति की—प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैव लोग परमशिव के नाम से पुकारते हैं और शाक्त लोग पराशक्ति के नाम से। शाक्तमत में पराशक्ति से शिव उत्पन्न होकर जगत् का उन्मीलन करते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो तत्त्व शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के नाम से अभिहित हैं; वे ही त्रिपुरामत में कामेश्वर और कामेश्वरी हैं तथा गौड़ीय वैष्णवमत में श्रीकृष्ण और श्रीराधा।[1]

८—त्रिपुरामत में कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य का नाम त्रिपुरा सुन्दरी है और सर्वाधिष्ठान रूपा सच्चिदानंद विग्रहा ललिताम्बिका हैं। श्रीबलदेव उपाध्याय ने

---

१. भारतीय दर्शन—पृष्ठ ५८१

सेवा हू तें दूर किये विधि-निषेध जंजार।

इस प्रकार व्रज प्रदेश को केन्द्र बनाकर प्रचलित होने वाली श्रीराधा कृष्णोपासक सम्प्रदायों में—श्रीचैतन्य सम्प्रदाय की केवल प्रकट सेवा को छोड़कर-अन्यत्र कहीं भी आगमों की अर्चना-पद्धति का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। लगता तो ऐसा है कि उक्त सम्प्रदायों की सेवा प्रणालियाँ आगमों में विरोध में ही विकसित हुई हैं।

श्रीत्रिपाठी जी के आलोकित लेख में अब उनका एक अभिप्राय ही शेष रहता है जिस पर हमको अपना मन्तव्य देना है। उन्होंने अपने लेख के पृष्ठ तीन पर रूपसखीजी का एक दोहा उद्धृत किया है जिसमें बताया गया है कि श्रीहित हरिवंश ने वृन्दावन गाया और श्रीस्वामी हरिदास ने नित्यविहार।

रूप सनातन व्रज कह्यौ वृन्दावन हरिवंश।
नित्य विहार उपास में श्रीहरिदास प्रसंस।।

इससे यह भ्रम उत्पन्न होता है कि मानो श्रीवृन्दावन और नित्यविहार एक दूसरे से भिन्न हैं। किन्तु दोनों रसिक महानुभावों की रचनाओं के अध्ययन से वास्तविकता इससे सर्वथा विपरीत दिखलाई देती है।

यह सत्य है कि स्वामी श्रीहरिदासजी ने श्रीहिताचार्य की भाँति पृथक् रूप से अथवा लीला के साथ मिलाकर श्रीवृन्दावन का गान उतना नहीं किया। किन्तु जहाँ श्रीहित ने अपनी रचनाओं में श्रीश्यामसुन्दर को अनेक नामों से अभिहित किया है जैसे राधारमण, राधामोहन, नन्दनन्दन, नन्दलाल आदि वहाँ स्वामी हरिदासजी ने उनका केवल एक ही नाम 'कुञ्जविहारी' अपने लगभग प्रत्येक पद में दिया है। इससे यह स्पष्ट व्यंजित होता है कि श्रीस्वामी जी को श्रीराधापति का वही नाम सर्वाधिक प्रिय है जिसका सम्बन्ध श्रीवृन्दावन के साथ है—जो श्रीवृन्दावन की नित्य नवीन सघन कुञ्जों के दिव्य विहार—सौरभ से सुरभित बना हुआ है। क्या श्रीवृन्दावन की परम अनुरागमयी परम रसज्ञ चिद्घन कुञ्जों के अतिरिक्त अन्य कोई श्रीविहारीलाल के दिव्य प्रेम विहार को नित्यता प्रदान करने में समर्थ है? क्या उद्वेलित आनन्द सिन्धु की आधार भूमि एवं निरन्तर अनुराग वर्षण करने वाले श्रीवृन्दावन के अतिरिक्त कहीं भी छवि के ये दो फूल—श्रीश्यामा कुञ्जविहारी—नित्य उत्फुल्ल रह सकते हैं?[१]

श्रीस्वामी हरिदासजी के सम्प्रदाय में श्रीगुरुदेव के सार्थक नाम से प्रसिद्ध एवं श्रीस्वामीजी के प्रशिष्य श्रीविहारिनदासजी के 'सहेली' के नाम से विश्रुत पद में श्रीश्यामा अपनी और अपने प्रियतम की ओर से बोलती हुई कहती है कि श्रीवृन्दावन

---

१. श्रीवृन्दावन माँहि आनन्द सिन्धु तरंग उठैं।
घन अनुराग चुचाँहि फूले छवि के फूल द्वै।।

कृपा करें तभी हमारे मन में हमारा सहज सुख समा सकता है तभी हमारा मन उस सुख को झेलने में समर्थ बन सकता है। इस निज 'सुख की प्राप्ति के लिए हमारे मन में इनकी ही (श्रीवृन्दावन की ही) आशा लगी रहती है। हमको अन्यत्र कहीं का सुख स्वप्न में भी नहीं सुहाता। श्रीवृन्दावन को जब-जब हम देखते हैं तब वह नया लगता है। इसीलिये वह हमारे मन में सदैव नवीन प्रेम की उत्पत्ति कर लेता है। इसके नवीन रस रंग में हम दोनों के मन झूम उठते हैं और हमको हमारा पूर्वानुभूत सुख विस्मृत हो जाता है।

श्रीवृन्दावन जो सु कृपा करै तौ निज सुख मननि समाइ।
हम इनही को आस अनत सुख सुपने हू न सुहाइ॥
श्रीवृन्दावन जब देखौं तबही नयौ नित्य लेत प्रेम उपजाइ।
या रंग रस में मन झूमई तो भूलि पाछिलौ जाइ॥

श्रीश्यामा कुञ्जविहारी के नित्यविहार के प्रति श्रीवृन्दावन की उपकारता का इससे बड़ा समर्थन और क्या हो सकता है? इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण अष्टाचार्यों की वाणियों में भरे पड़े हैं। उनमें से केवल एक उदाहरण और देना पर्याप्त होगा। श्रीविहारिनदासजी के शिष्य श्रीनागरीदासजी ने अपनी प्रसिद्ध धमार 'चलि सखि देखन जाहि कौतुक आज भलौ री' के आरम्भ में श्रीवृन्दावन की अनन्य सामान्य दिव्य सुषमा का झमकदार वर्णन करने के पश्चात् चार-छः पंक्तियों में ही श्रीश्यामाश्याम के विहार का सर्वाङ्गपूर्ण और मार्मिक वर्णन कर दिया है। पद के अन्त में अपनी प्राणाधार स्वामिनी को सम्बोधित करते हुये नागरीदासजी कहते हैं 'आपका यह अद्‌भुत प्रेम-फाग, अपने प्रियतम के प्रति यह नवीन अनुराग एवं आपका यह सुहाग (प्रियतम का आपके प्रति अद्‌भुत अनुराग) अकथनीय है। नित्यविहार रूप इस श्रीवृन्दाविपिन विनोद के सुख सिन्धु का संवरण भला कौन कर सकता है?

यह फाग नयौ अनुराग सुहाग बह्यौ न परै री।
श्रीवृन्दाविपिन विनोद कौन सुख सिन्धु तरैरी॥

इस उदाहरण में तो नित्य विहार और 'श्रीवृन्दावन विनोद' को सर्वथा अभिन्न ही बता दिया गया है और यही वास्तविक स्थिति है। वस्तुतः श्रीवृन्दावन के बिना नित्यविहार की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी एवं स्वामी हरिदासजी की उपासना एक ही थी इसके लिये एक बाह्य साक्ष्य भी देख लेना चाहिये। श्रीहरिराम व्यास वृन्दावन की प्रसिद्ध हरित्रयी में से अन्यतम हैं और श्रीहित हरिवंशजी एवं श्रीहरिदासजी के समकालीन हैं। वे इन दोनों रसिक महानुभावों के निकट सम्पर्क में रहे थे। इन दोनों की रस सम्बन्धी

आध्यात्मिक उपलब्धियों को अपने व्यक्तिगत अनुभव के परिप्रेक्ष्य में समझने-परखने का उनको पूर्ण अवसर मिला था। अपनी व्रजभाषा रास पंचाध्यायी के अन्त में उन्होंने श्रीराधा से प्रार्थना की है कि आप करुणा करके मुझे नित्यविहार का आधार देकर प्रेम की उस भूमिका पर स्थित कर दें जहाँ हरिवंशी-हरिदासी स्थित हैं।[1]

श्रीव्यासजी ने अपने अन्य कई पदों में श्रीहरिवंशजी एवं हरिदासजी का समवेत उल्लेख किया है। अपने ऐसे ही एक पद में, उन्होंने कहा है कि श्रीहरिवंश जब गोरी श्रीराधा के सम्मुख श्रीवृन्दावन की प्रशंसा करते हैं तो वे मुस्करा देती हैं। श्रीहरिदास ने जब राग-रागनियों सहित कहा तो अथाह रस नदी बह निकली—

वृन्दावन हरिवंश प्रसंसत, सुनि गोरी मुसकात।
राग सहित हरिदास कही, रस नदी बही न थहात॥[2]

यहाँ भी दोनों का वर्ण्य एक ही व्यंजित हो रहा है।

"किन्तु यह भी सत्य है कि दोनों रसिक शेखरों के निकुञ्ज गमन के पश्चात् उनके समर्थ अनुयायियों ने आरम्भ से ही, दोनों के नित्यविहार गान को, उनकी वाणियों के आधार पर, एक विशिष्ट आकार और एक स्वतन्त्र पद्धति प्रदान कर दी जो एक दूसरे से कुछ बातों में भिन्न है; किन्तु नित्यविहार उपासना के मौलिक तथ्य दोनों में सामान्य ही बने रहे। ठीक उसी प्रकार, जैसे संगीत के दो घरानों में एक ही राग दो भिन्न वंदिशों में गाया जाता है। राग के स्वर और वादी सम्वादी एक ही बने रहते हैं किन्तु दोनों घरानों के समर्थ गायक उसको अपनी विभिन्न वंदिशों में ऐसा ढाल देते हैं कि सर्व साधारण के लिये उसको पहिचानना कठिन हो जाता है। आज से लगभग ५०-५५ वर्ष पूर्व वृन्दावन में नित्यविहार उपासना के दो घराने प्रसिद्ध थे—एक श्रीहितजी का घर और दूसरा श्रीस्वामीजी का घर।

इसीलिये श्रीहिताचार्य के चरणों में हमारा सम्पूर्ण आत्म-समर्पण होते हुए भी हम दोनों ही 'घरों' को परमाभिवन्दनीय और नित्यविहार उपासना के लिये प्रेरणा के एकान्त स्रोत समझते हैं।

श्रीत्रिपाठीजी ने अपने निबन्ध के अन्तिम पृष्ठों में कहा है कि "इसी राधावल्लभ मत में दो प्रवाह हैं—गृहस्थों की बिन्दुधारा और विरक्तों की नादधारा। बिन्दु और नाद की यह शब्दावली तन्त्रों को ही तो उपजीव्य सिद्ध करती है।" त्रिपाठीजी ने इस तथ्य को गलत ढंग से उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय में बिन्दु-नाद शब्दों का प्रचलन उन्नीसवीं शती से पूर्व कहीं नहीं मिलता अतः इसे सम्प्रदाय का प्रतिनिधि दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता।

---

१. हरिवंशी हरिदासी जहाँ, मोहि करुना करि राखौ तहाँ, नित्यविहार अधार दै।
—भक्तकवि व्यासजी, पृ० ४०

२. भक्तकवि व्यासजी, पृ० १६५

इस सम्पूर्ण निबन्ध में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि वर्तमान व्रज संस्कृति का मूल स्वर 'प्रेम' हैं। इस संस्कृति के निर्माता श्रीराधाकृष्ण भक्त सम्प्रदायों ने सर्वत्र श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधाकृष्ण की प्रेमस्वरूपता को ही अधिक से अधिक उभारा है और उनकी प्रेम प्रधान लीलाओं का विस्तार से गान किया है। इसके साथ, प्रेम के स्वरूप का तलस्पर्शी विवेचन करके उन्होंने प्रेमाभक्ति का जो विशद सिद्धान्त निर्मित किया है वही भारतीय संस्कृति को इन सम्प्रदायों की अनुपम देन है।

प्रेम एक भाव है और उसको किसी प्रकार की शक्ति नहीं माना जा सकता। इसके लिये किसी बड़े मनोवैज्ञानिक की गवाही की जरूरत नहीं है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति भाव और शक्तिजनित अनुभूतियों की भिन्नता को आसानी से समझ सकता है। नित्यविहार में प्रेमभाव की दो घनीभूत मूर्तियाँ—प्रेम के दो खिलौने—प्रेम की फूलन द्वारा रचित प्रेम की शैया पर प्रेम के अनाद्यनंत खेल में निमग्न हैं,

प्रेम के खिलौना दोऊ खेलत हैं प्रेम खेल,
प्रेम फूल फूलन सौं प्रेम सेज रची है।

शुद्ध प्रेममूर्ति श्रीराधा-श्यामसुन्दर में अनन्य दाम्पत्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। उनमें शक्ति-शक्तिमान, प्रकृति-पुरुष, विशेष्य-विशेषण आदि सम्बन्धों की कल्पना उनकी भावरूपता को बाधित करती है। भावक्षेत्र के चार सम्बन्ध—दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य-भक्ति शास्त्रों में परिगणित हुए हैं और इन सम्बन्धों अथवा इनके अवान्तर भेदों के अन्दर रहकर ही भाव के शुद्धरूप की रक्षा सम्भव है। शक्ति-शक्तिमान आदि सम्बन्ध भावक्षेत्र के लिये सर्वथा विजातीय हैं और भाव के साथ इनका संयोग न तो भाव को ही अपने शुद्ध रूप में रहने देता है और न इनको ही।

इसके साथ ही अपनी प्रेमोपासना में श्रीराधा की शुद्ध भाव रूपता में एकान्त विश्वास रखने वाले श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के उपासक, श्रीराधा नाम का नाता मानकर, श्रीराधा के लोक में प्रचलित शक्ति आदि सभी रूपों को अपने लिये बंदनीय मानते हैं। श्रीहिताचार्य ने श्रीराधारससुधानिधि के एक श्लोक की आरम्भिक डेढ़ पंक्तियों में श्रीराधा के, अपने द्वारा स्वीकृत रूप का परिचय देकर शेष पंक्तियों में उनके लोक में प्रचलित रूपों का उल्लेख कर दिया है और अन्त में कहा है कि इन सब रूपों वाली श्रीराधा ही मेरी सेव्य हैं।

प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं शृङ्गारलीलाकला
वैचित्री परमावधिर्भगवता पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा,
श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषीराधैव सेव्या मम॥

श्रीराधारससुधानिधि-७८
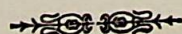
श्री हरिवंश नाम

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय में श्रीहरिवंश नाम का अत्यधिक महत्त्व है। इस सम्प्रदाय की संस्थापक इष्ट मन्त्र दाता गुरु अर्थात् सर्वस्व ही श्रीराधा हैं। स्वयं श्रीहरिवंश महाप्रभु ने श्रीराधा नाम के जप की आज्ञा दी है। अपनी वाणी का उद्देश्य भी उन्होंने श्रीराधा के सुकुमार चरण-कमलों में रति उत्पन्न करना ही बतलाया है—

जै श्रीहित हरिवंश यथा मति बरनत कृष्ण रसामृत सार।
श्रवण सुनत प्रापक रति राधा पद अम्बुज सुकुमार॥

फिर सेवक जी ने और उनके बाद के रसिक महानुभावों ने श्रीहरिवंश नाम के अनुशीलन का अपनी वाणियों में क्यों परामर्श दिया है? सम्प्रदाय के अनुयायियों के सामने उपासना पद्धति का यह तथ्य प्रश्न बनकर खड़ा नहीं होता और वे लोग श्रद्धा-पूर्वक प्राचीन रसिकों का अनुसरण करते रहते हैं किन्तु बाहर के लोगों की बुद्धि में यह योजना बड़ी कठिनता से बैठती है। वे कहते हैं कि आपके सिद्धान्त के अनुसार यदि श्रीराधा की प्रधानता सहित श्रीराधावल्लभलाल के चरणों का अनुराग ही आपका प्राप्तव्य है तो आपको श्रीराधा नाम का ही उच्चारण करना चाहिये। श्रीहित हरिवंश मार्ग दर्शक हैं, श्रीराधा नाम के दाता हैं, रस पद्धति के प्रतिष्ठापक हैं अतएव उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं सम्मान का भाव रखना चाहिये किन्तु मार्ग बताने वाले को लक्ष्य समझना, साधन को साध्य मान लेना समझ में नहीं आता।

सामान्य दृष्टि से देखने पर उक्त शंका किसी हद तक ठीक मालूम देती है किन्तु किसी भी प्राचीन एवं प्रतिष्ठित सिद्धान्त किंवा योजना के औचित्य का निर्णय उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विकास क्रम एवं अनुभवी साधकों द्वारा उसके अनुमोदन पर विचार किये बिना नहीं किया जा सकता। नीचे की पंक्तियों में इन सबके सन्दर्भ में उक्त सिद्धान्त को समझाने की चेष्टा की जाती है।

भगवान् के साथ माहात्म्य (तादात्म्य) ज्ञान पूर्वक भाव सम्बन्ध का नाम भक्ति है। भक्त और भगवान् के बीच का यह भाव सम्बन्ध क्रमशः सहज और निविड़ बनता जाता है और इसकी प्रगति में एक ऐसी स्थिति आती है जब भक्त के अगाध एवं अनुपम प्रीति संभार का आदर करते हुये भगवान् उसके सर्वथा आधीन बन जाते हैं। भारत के ही नहीं संसार के सम्पूर्ण धार्मिक-साहित्य में जहाँ कहीं भी अनुभवी भक्तों ने भक्तिभाव

के विकास क्रम पर प्रकाश डाला है उन्होंने भक्तिभाव की उक्त परिणति को अवश्य लक्षित किया है। अपने यहाँ के आगमों एवं पुराणों में अनेक स्थलों पर इसकी पुष्टि स्वयं श्रीभगवान् के वचनों के द्वारा हुई है। भक्ति के क्षेत्र में सबसे ऊँचा स्थान व्रज-गोपिकाओं का माना जाता है जिन्होंने श्रीभगवान् को अपने अद्भुत प्रेम के बल पर 'छछिया भर छाछ' पर नाच नचाया था। इसके साथ यह भी देखा जाता है कि भक्तिभाव के विकास के साथ अनेक दिव्य-भगवद्गुण भक्त के अन्दर सञ्चारित हो जाते हैं और उसका मन सर्वथा एक भिन्न धरातल पर स्थित हो जाता है। उसका सम्पूर्ण दृष्टि-कोण परिवर्तित हो जाता है और लोक व्यवहार पर इसका बड़ा स्वस्थ एवं मांगलिक प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः इस प्रकार के भक्त के व्यक्तित्त्व में स्वयं भगवान् ही प्रकाशित हो जाते हैं और इसीलिये वैष्णव धर्म में आरम्भ से ही भक्त और भगवान् में सेवक सेव्य सम्बन्ध होते हुये भी भाव क्षेत्र में समानता मानी जाती रही है।

विक्रम की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में उत्तर भारत में जो प्रबल भक्ति आन्दोलन आरम्भ हुआ था उसका तो यह भक्त और भगवान् की समानता वाला भाव मेरुदण्ड ही था। इस काल से कुछ ही पूर्व भक्तवर चण्डीदास इस भाव को यह कहकर चरम अभिव्यक्ति दे चुके थे कि सबसे ऊपर मानव ही सत्य है इसके ऊपर अन्य कोई तत्त्व नहीं है—'सबार ऊपर मानुष सत्य तहार ऊपर नाई'। इस दृष्टि से भक्त ही अन्तिम सत्य ठहरता है और भगवान् उसी की एक परिणति सिद्ध होते हैं। चण्डीदास के बाद उदित होने वाली निर्गुण और सगुण सम्प्रदायों में उपासना क्षेत्र में भक्त का स्थान सर्वाधिक गौरव पूर्ण बना रहा। राधावल्लभ सम्प्रदाय की भाँति उसके सम-कालीन श्रीवल्लभ एवं चैतन्य सम्प्रदायों में भी इष्ट के नाम के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से श्रीवल्लभ एवं श्रीचैतन्य का नाम स्मरण करने का प्रचलन है। श्रीहिताचार्य के जिस पद को सुनकर श्रीव्यासजी को परम सन्तोष और शान्ति प्राप्त हुई थी, उसमें श्यामा-श्याम के चरण कमलों के वन्दन के स्थान में उनका सङ्ग करने वाले रसिक भक्तों के चरणों का वन्दन करने का परामर्श दिया गया है। चौरासी जी के एक अन्य पद में भी श्रीहिताचार्य ने अपनी परमाराध्या श्रीराधा से कहा है कि संसार में मुझे भक्त का भजन करने वाले ही अच्छे लगते हैं—"मोकौं तौ भावै माई जगत भगत भजनी।" इसी का अनुसरण करते हुये श्रीकृष्णचन्द्र गोस्वामी (श्रीहिताचार्य के द्वितीय पुत्र) ने अपने 'कर्णानन्द' नामक ग्रन्थ में श्रीवृन्दावनाधीश्वर से प्रार्थना की है कि क्रीडा माधुर्य लुब्ध श्रीवन रसिकों से मेरा किसी प्रकार संयोग कराकर आप भी मेरी ओर से निश्चिन्त होकर सो जायें—

> निश्चिन्त वा शयीथा त्वमपि परम शुद्धानन्द वृन्दावनात्मा।
> क्रीडा माधुर्य लुब्धा वनरसिक मया संयोजयित्वा कथंचिद्॥

सेवकजी ने अपनी वाणी में श्रीहिताचार्य के इस हार्द को प्रकट करने की सफल चेष्टा की है और उन्होंने उसमें 'भक्त भजन' नामक एक स्वतन्त्र प्रकरण लगाकर इस

सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकरण के कई छन्द 'राधावल्लभ भजत भज भली-भली सब होय' पंक्ति से आरम्भ होते हैं जिसका अर्थ है राधावल्लभ का भजन करने वाले भक्तों का भजन करने से सर्वत्र मङ्गल होता है। अन्यत्र (पाके धर्मी प्रकरण) उन्होंने श्रीहिताचार्य के धर्म का रहस्य-मर्म बतलाते हुये कहा है कि श्रीहरिवंश के प्रसिद्ध धर्म को अल्प तप वाला व्यक्ति नहीं समझ पाता। इसका कारण यह है कि इस धर्म में धर्मियों का जाप किया जाता है। धर्म स्वयं एक तात्त्विक वस्तु है। उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति तभी सम्भव बनती है जब कोई भाग्यशाली व्यक्ति उसका सम्यक आचरण करके उसको अपने व्यक्तित्व में मूर्तिमान एवं प्रकट करता है। धर्मी के बिना धर्म का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता और धर्म के बिना धर्मी का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। सेवक जी कहते हैं कि धर्मी के इस मार्मिक स्वरूप को मर्मी लोग ही समझ पाते हैं और वे धर्म की उपलब्धि के लिये धर्मी का सेवन भजन करते हैं। सेवक जी कहते हैं कि मुझको धर्मियों से प्रेम करने वाले इन रसिक भक्तों की शरण में ही सुख मिलता है।

श्रीहरिवंश प्रसिद्ध धर्म समुझै न अलप तप।
समुझौ श्री हरिवंश कृपा सेवहु धर्मिन जप।।
धर्मी बिनु नहिं धर्म नाहिं बिनु धर्म जु धर्मी।
श्री हरिवंश प्रताप मर्म जानहिं जे मर्मी।।
हरिवंश नाम धर्मी जु रति तिन शरण्य संतत रहै।
सेवक निशिदिन धर्मिन मिलै श्रीहरिवंश सुजश कहै।।

सेवक जी ने धर्मी और धर्म में जैसा सम्बन्ध माना है उसी प्रकार का सम्बन्ध भक्त और भगवान् के बीच में है। इन दोनों में केवल शब्दावली का अन्तर है। भगवान् सर्वाधार होने के कारण धर्म स्वरूप हैं और उनकी प्रत्यक्ष-प्रतीति भक्त के स्वरूप में ही सम्भव होती है।

श्रीहिताचार्य की श्रीराधा सर्वस्व थीं। उन्होंने अपने एक प्रसिद्ध पद में शपथ पूर्वक इस तथ्य की घोषणा की है—

रहौ कोऊ काहू मनहि दिये।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा शपथ करौं तृन छिये।।

नाभाजी ने अपनी भक्तमाल में इस बात की पुष्टि उनको 'राधा करण प्रधान हृदय' बतलाकर की है। अतः श्रीहिताचार्य के व्यक्तित्व एवं रचनाओं में श्रीराधा रूप और श्रीराधा प्रेम ने एक अनुपम वैशिष्ट्य रसिक उपासक श्रीराधा चरण-कमलों का अनुराग प्राप्त करने को उत्सुक हैं वे सीधा श्रीराधा नाम का आश्रय ग्रहण करके, समय आने पर, उसको प्राप्त तो कर लेंगे किन्तु इसमें उनको क्लेश अधिक होगा। भगवद्-गीता में अव्यक्त की उपासना को अधिक क्लेश कारक बतलाया है—'क्लेशोधिकतर-

स्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।' श्रीराधा चरणों का अनुराग श्रीराधा में तो व्यक्त हो नहीं सकता । वह तो इन चरण कमलों का अनन्याश्रय ग्रहण करने वाले रसिक भक्तों में ही व्यक्त होता है—प्रकट होता है और इन सबमें अग्रणी श्रीहित हरिवंश हैं । वे श्री राधा प्रेम की मूर्ति हैं अतः उनके नाम के आश्रय से यह प्रेम जैसा सुलभ होता है वैसा अन्य किसी उपाय से नहीं । इसी प्रकार श्रीराधा की प्रेम रूप गरिमा जितनी भव्यता एवं स्पष्टता से श्रीहिताचार्य की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है, वैसी सर्वत्र नहीं और उसका ग्रहण इनके अनुशीलन से ही सम्भव होता है ।

इस बात को मोटे तौर पर एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है । किसी भी दूर स्थित अस्पष्ट वस्तु को दृष्टि क्षेत्र में लाने के लिये हम दूरवीक्षण यन्त्र का उपयोग करते हैं । इसकी सहायता से वह वस्तु निकट आकर स्पष्ट हो जाती है और यदि उस दूरवीन में अनेक रंगों वाला लैंस लगा हो तो वह वस्तु नाना वर्णों वाली दिखलाई देती है । श्रीराधा-रूप अत्यन्त दुर्गम एवं दुराराध्य है । स्वयं श्रीनन्दनन्दन भी उसको सम्पूर्ण आकलन नहीं कर पाते तो विचारे सामान्य जीव की तो बात ही क्या है ? इस अद्भुत रूप को किसी राधा चरणानुरागी रसिक शिरोमणि की दृष्टि (लैंस) के सहारे ही देखा जा सकता है । श्रीहिताचार्य ने अपने एक दोहे में स्वयं कहा है कि श्रीराधावल्लभ के मुखकमल को मेरे नेत्रों से देखो—

निकसि कुञ्ज ठाड़े भये भुजा परस्पर अंस ।
राधावल्लभ मुख कमल निरखि नैन हरिवंश ।।

उनके नेत्रों में उनकी अनुपम रसिकता से अनेक अलौकिक रङ्ग धुले हुये हैं जिसके कारण श्रीराधावल्लभ का सहज रंगीन रूप यथावत दिखलाई देता है । राधा-वल्लभ उपासक गण श्रीहरिवंश नाम रूपी दूरवीन की सहायता से श्रीराधावल्लभ की रूप माधुरी को देखते हैं और दूरवीन में रहे हुये असामान्य गुणों का लाभ उनको अनायास मिल जाता है । उपासना के क्षेत्र में श्रीहरिवंश नाम की यह सबसे बड़ी उपयोगिता है ।

इसके अतिरिक्त, सम्प्रदाय में श्रीहरिवंश को इस परात्पर प्रेमतत्त्व का प्रकट अद्वय रूप माना जाता है जो श्रीवृन्दावन की सघन कुञ्जों में श्रीश्यामा-श्याम के दो रूपों में प्रकट रहकर अनाद्यनंत प्रेम क्रीडा में रत हैं । प्रेम एक सम्बन्ध विशेष का नाम है जो प्रेमी और प्रेमपात्र के बीच में स्थित रहकर उन दोनों को एक बनाये रखता है । प्रेमी श्रीश्यामसुन्दर हैं, प्रेमपात्र श्रीराधा हैं और प्रेम सम्बन्ध श्रीहरिवंश हैं । प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये इन तीनों का एक साथ प्रकाशन अनिवार्य है और प्रेम जहाँ उपास्य के रूप में प्रतिष्ठित होता हैं वहाँ भी इन तीनों का एक साथ ग्रहण एवं आस्वादन किये बिना प्रेमोपासना पूर्ण नहीं बनती । इस दृष्टि से श्रीहरिवंश नाम साधन कोटि से ऊपर उठकर साध्य का अङ्ग बन जाता है और प्रेम में यह बात दूषण न होकर भूषण ही होती हैं । यह सुप्रसिद्ध है कि प्रेमोपासना में प्रेम ही स्तवन है और वही साध्य है, प्रेम ही मार्ग है और वही लक्ष्य है ।
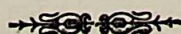
श्रीराधावल्लभ मन्दिर का निर्माण काल : एक पुनर्विचार

ग्राउस ने अपने मथुरा मेमोमर्स में श्रीराधावल्लभ जी के मन्दिर का निर्माण काल सं० १६८४ अनुमानित किया है। उनका आधार उक्त मन्दिर के प्रवेश द्वार के बायें स्तम्भ पर उत्कीर्ण उक्त संवत् है। इस मन्दिर के सम्बन्ध में ग्राउस ने यह भी लिखा है कि एच० विलसन ने कुछ दिन पूर्व इसके प्रवेश द्वार पर लगा हुआ एक पत्थर देखा था जिस पर इसका निर्माण काल सं० १६४१ लिखा हुआ था। विलसन ने अपने ग्रंथ Hindu Religions में अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है।[१]

ग्राउस साहब के समय तक सं० १६४१ का ख्यापन करने वाला शिलालेख नष्ट हो चुका था। अतः उन्होंने सं० १६८४ को ही उक्त मन्दिर का निर्माण काल मान लिया। किन्तु सम्प्रदाय का इतिहास इस संवत् के सर्वथा विपरीत है। उसके अनुसार यह मन्दिर श्रीहित हरिवंश गोस्वामी के ज्येष्ठ पुत्र श्री बनचन्द्र गोस्वामी ने अब्दुल रहीम खानखाना के दीवान सुन्दरदासजी के द्वारा बनवाया था। श्रीवनचन्द्र गोस्वामी का निधन काल सं० १६५५ सुनिश्चित है, अतः उनके द्वारा बनवाये मन्दिर का संम्वत् १६८४ में बनना प्रसिद्ध है। सं० १७१५ के लगभग रचित राधाबल्लभ सम्प्रदाय के इतिहास ग्रन्थ रसिक अनन्यमाल) में सुन्दरदास जी का चरित्र दिया गया है जिसमें उक्त मन्दिर की निर्माण-कथा विस्तार से दी गई है उसके अनुसार उक्त मन्दिर का निर्माण उस काल में हुआ जब रहीम खानखाना अपने जीवन के चरमोत्कर्ष पर थे। उन्होंने मन्दिर की बात सुनकर सुन्दरदास जी से कहा था तुम कोई 'ओछा' काम न करना और जितने रुपये की आवश्यकता हो हमारे खजाने से ले लेना। रहीम की जाहो जलाली अकबर के शासन काल तक रही थी। सं० १६६३ में अकबर की मृत्यु के पश्चात जहाँगीर ने रहीम का सर्वस्व हरण करके उनको दिल्ली से निर्वासित कर दिया था। सं० १६८३ में उनकी मृत्यु हो गयी।[२]

1- He also erected temple there that still exists and indicates by an inscri ption over the door that is was dedicated to Shri Radhavallabh by Harivansh in Samrat 1641 Or A.D. 1585.
(Hindu Religions, H. Wilson, P. 116-121)

२- ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास : श्री प्रभुदयाल मीतल पृ० ४५५

पिछले कुछ दिनों में उक्त सं० १६८४ के सम्बन्ध में जो शोधकार्य हुआ है उसमें श्रीराधावल्लभ जी जैसा ही आलेख वृन्दावन के अकबर कालीन अन्य तीन मन्दिरों में पाया गया है। इन सब आलेखों की प्रतिलिपि नीचे दी जा रही हैं—

श्रीगोविन्ददेव जी के पुराने मन्दिर के प्रवेश द्वार के दाहिने स्तम्भ का शिलालेख संवत् १६८४ वर्ष श्रावण प्रथम........

मुगरपुर वासाय पं० लहका, पं० भीणजी सलाट उका सलाट नाका सं० भोजा सं० रतना जात्रा सफलं।

श्रीमदनमोहन जी के पुराने मन्दिर के जगमोहन के प्रवेश द्वार के दाहिने स्तम्भ का शिलालेख—

सं० १६८४ वर्ष श्रावण वदी ११ सकेरे पं० लहका पं० भीणजी सलाट उका नाका भोजा रतना मुंगेरपरा जात्रा सफलं।

श्रीजुगल किशोर जी के मन्दिर के प्रवेश द्वारके दाहिने स्तम्भ का शिलालेख—

संवत् १६८४ वर्ष श्रावण वदी १० पं० लहका पं० भीणजी सु० उका० सु० नका भोजा सु० रतना सा० मुंगेरपुर बासी—श्रीराधावल्लभ जी पुराने मन्दिर के प्रवेश द्वार के बांये स्तम्भ का शिलालेख—सं० १६८४ वर्ष श्रावण वदी ११ सक्र पं० लहका पं० भीणजी सलाट।

इन चारों आलेखों से निम्नलिखित तथ्य प्रकाशित होते हैं—

१- चारों मन्दिरों के आलेखों को सं० १६८४ के श्रावण वदी में लिखा गया है। श्रीगोविन्दजी के मन्दिर के शिलालेखों में कुछ अक्षर पढ़ने में नहीं आये हैं, किन्तु उसमें आये हुये 'प्रथम' शब्द के बाद अनुमानतः 'पक्ष' शब्द है और उसके पश्चात तिथि। अन्य मन्दिर के शिलालेखों में 'श्रावण वदी' है और प्रस्तुत में श्रावण प्रथम पक्ष' लिखा गया है।

२-इन चारों के उत्कीर्ण करने वाले सलाट (संगतराश) पं० लहका और पं० भीणजी थे।

३-श्रीगोविन्दजी और श्रीमदनमोहन जी मन्दिरों के आलेखों के अन्त में 'जात्रा सफलं' लिखा गया है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि मुंगेरपुर (बिहार) निवासी संगतराशों का एक परिवार, उक्त संवत् में वृन्दावन की यात्रा पर आया था और उसने मन्दिरों में उक्त आलेखों को उत्कीर्ण करके अपनी यात्रा को 'सफल' बनाया था।

४-श्रीराधावल्लभ जी तथा श्रीमदनमोहन जी के पुराने मन्दिर के आलेखों को उक्त 'सलाटों' ने एक ही दिन श्रावण वदी में उत्कीर्ण किया था और दोनों स्थानों में उक्त तिथि के आगे क्रमशः सक्र और 'सकेरे' लिखा है। ये 'सक्र' और 'सकेरे' शक के ही संस्कृत रूप हैं। उक्त सलाटों ने अपने नाम के आगे पण्डित भी लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि ये लोग ब्राह्मण थे ओर पुराकाल के ब्राह्मणों की भांति पंडितम्मन्य थे।

फलतः उन लोगों ने 'शक' शब्द को प्राकृत भाषा का शब्द मानकर उसका शुद्ध 'सक्के' आलेखों में उत्कीर्ण कर दिया है।

५-उक्त सलाटों की वृन्दावन यात्रा का काल विक्रम सं० १६८४ होना संभव नहीं लगता क्योंकि उस समय उक्त चारों मन्दिरों में सेव्य स्वरूप यथावत विराजमान थे और उनकी सेवापूजा पूर्ण समारोह के साथ चल रही थी। मन्दिरों के उस स्वर्णकाल में कोई भी सेवाधिकारी सलाटों को अपने मन्दिर में प्रवेश द्वार पर छैनी हथौड़ा चलाने की इजाजत न देता और इनकी यात्रा असफल ही रह जाती। अतः ये लोग १६८४ शकाब्द में ही वृन्दावन आये थे और उस काल में अर्थात् विक्रम संवत् १८१९ में ये मन्दिर भग्नावस्था में वीरान पड़े हुये थे। साथ ही उस काल में अहमदशाह अब्दाली के सैनिक पाँच छः वर्ष पूर्व ही वृन्दावन में लूटपाट, आगजनी और हत्याकांड मचा चुके थे। जिससे त्रस्त होकर यहाँ की आबादी उजड़ चुकी थी। यह पूरा माहोल सलाटों के अनुकूल था और उन्होंने अपने आलेख उत्कीर्ण करके उक्त मन्दिरों के इतिहास को भ्रमित कर दिया।

[सम्पादकीय : रहीम के निधन की तिथि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सं० १६८३ वि० लिखी है। (दे० हिंन्दी साहित्य का इतिहास, सं० २००६ वि०, पृ० २१८) डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार रहीम सन् १६२६ ई० (सं० १६८३ वि०) में दिवंगत हुए। दे० हिन्दी कोश, द्वितीय भाग सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, सं० २०२० वि० पृष्ठ ४५५)

डॉ० मनमोहन गौतम के अनुसार इनकी निधन तिथि सन् १६३८ ई० (१६९५ वि०) है। (दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं० डॉ० नगेन्द्र, सन् १९७३ ई०, पृष्ठ २८३) इतिहास ग्रन्थ इस प्रकरण पर मौन है। एच० एच० विलसन के उल्लेख (सं० १६४१ वि०) को अमान्य ठहराने का कोई साक्ष्यौचित्य दिखाई नहीं देता। इस लेखक के उक्त प्राधिकृत उल्लेख को ग्राउस ने भी विवादास्पद नहीं ठहराया है। एफ० एस० ग्राउस ने तत्कालीन 'उल्लेख' को ही आधार मान लिया प्रतीत होता है। एच० एच० विलसन के समक्ष यह 'आलेख' लगाया ही नहीं गया प्रतीत होता अन्यथा वह लेखक भी इसका 'नोटिस' अवश्य लेता और उल्लिखित करता। विलसन के आँखों देखे साक्ष्य प्रमाण को चुनौती नहीं दी जा सकती। रहीम का ऐहिक अस्तित्व विवादास्पद हो सकता है, किन्तु मन्दिर-निर्माण काल-प्रदर्शक शिला साक्ष्य (भले ही वह ग्राउस काल में दृष्टव्य न रहा हो) मन्दिर निर्माण काल का अकाट्य और तर्कातीत साक्ष्य प्रमाण माना जाना तर्क सम्मत और सर्वथा समीचीन होना चाहिये। 'व्रजभारती' श्रद्धेय श्री ललिता चरण जी गोस्वामी महाराज की मान्यता से सहमत है।
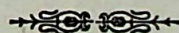
श्रीसुन्दरदास कायस्थ

यह एक सुखद संयोग था कि विक्रम की सोलहवीं शती में उदित होने वाले भक्ति आन्दोलन के लगभग सायंकाल में ही उत्तरी भारत के शासन की बागडोर सम्राट अकबर जैसे सशक्त एवं उदारचेता बादशाह के हाथ में आ गई। अकबर से पूर्व के मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं की धार्मिक प्रवृत्ति का गला घोटने के लिये उस पर अनेक प्रकार के धार्मिक कर लगा दिये थे। उनके लगभग सभी महत्त्वपूर्ण प्राचीन देवस्थान नष्ट कर दिये गये थे और नवीन निर्माण पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। उस विकट काल में एक नवीन भक्ति-सम्प्रदाय प्रवर्त्तन करने वाले श्रीवल्लभाचार्य ने अपने प्रसिद्ध 'श्री कृष्णाष्टक' में अपने समय के धार्मिक उत्पीडन का करुण उल्लेख किया है। इसी प्रकार उस काल में स्थापित होगे वाले अन्य भक्ति सम्प्रदायों में तत्कालीन धार्मिक विभीषिका प्रतिबिम्बित हुई है।

इस काल का विशाल भक्ति प्रवाह दो पुष्ट धाराओं—कृष्णोपासना एवं रामोपासना में प्रवाहित हुआ था। इनमें से श्रीकृष्ण भक्तिधारा व्रजमण्डल में केन्द्रित हुई थी। इस धारा के प्रवाहक कई आचार्य गण अकबर के जन्म (सं० १५९९ वि०) से पूर्व अन्तर्हित हो चुके थे किन्तु वे अपने उपास्य भगवद् विग्रहों को छोड़ गये थे, जो गोवर्धन की कन्दरा में अथवा वृन्दावन के लतागृहों में विराजमान थे। अकबर ने सिंहासनारूढ़ होने के थोड़े दिन बाद ही हिन्दुओं के विरुद्ध लगे हुये धार्मिक प्रतिबन्धों को दूर कर दिया और अपने हिन्दू सरदारों एवं मनसबदारों को देवालयों के निर्माण के लिये प्रोत्साहित करने लगा।

वृन्दावन में उस समय एक ओर चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी श्रीसनातन, श्रीरूप आदि बंगीय गोस्वामी गण एवं दूसरी ओर राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीहित हरिवंश गोस्वामी के ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द्र गोस्वामी, स्वामी हरिदासजी एवं हरिराम व्यास अपने उपास्य भगवत् स्वरूपों की सेवा अर्चना में प्रवृत्त थे। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्राचीनतम इतिहास ग्रन्थ श्रीभगवत् मुदित कृत 'रसिक अनन्यमाल' के अनुसार वृन्दावन के मन्दिर निर्माण के लिये सर्वप्रथम अकबर के एक मनसबदार गोपालसिंह जादौ, श्रीवनन्द्र गोस्वामी से मिले थे। गोस्वामी जी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुये उनको बतलाया कि 'हमारे यहाँ की एक बात बहुत अटपटी है कि जिस दिन हमारे ठाकुरजी नवनिर्मित मन्दिर में विराजमान होंगे उसके एक वर्ष के अन्दर निर्माता की मृत्यु हो जायेगी और वह भवसागर से तर जायगा।

जब ठाकुर मन्दिरहि पधारैं ।
कर्त्ता मरै बरस मधि तारैं ।।

गोपालसिंह यह सुनकर डर गया । इसके बाद राजा मानसिंह यही प्रस्ताव लेकर श्रीवनचन्द्र गोस्वामी से मिले किन्तु उनकी उपर्युक्त शर्त के कारण उन्होंने भी अपना विचार छोड़ दिया और श्रीरूप गोस्वामी के पास जाकर उनके ठाकुर श्रीगोविन्ददेव जी के लिये मन्दिर निर्माण कराने का निश्चय कर लिया राजा मानसिंह का बनवाया हुआ श्रीगोविन्ददेवजी का मन्दिर सं०१६४८ में बनकर तैयार हुआ । 'रसिक अनन्यमाल' के अनुसार अन्य अनेक लोग भी उक्त गोस्वामी जी के पास मन्दिर का निर्माण का प्रस्ताव लेकर आये थे किन्तु किसी का साहस उनकी उपर्युक्त अटपटी शर्त के कारण श्रीराधावल्लभ जी के लिये मन्दिर बनवाने का नहीं हुआ ।

थोड़े दिन बाद श्री वनचन्द्र गोस्वामी अपने एक शिष्य के आग्रह पर दिल्ली गये । वहाँ उनकी भेंट दिल्ली के प्रतिष्ठित नागरिक भक्तहृदय सुन्दरदास जी से हुई । सुन्दरदास जाति के भटनागर कायस्थ एवं रहीम खानखाना के दीवान थे । वनचन्द्र गोस्वामी के कनिष्ठ भ्राता श्रीगोपीनाथ गोस्वामी के वे शिष्य थे । उन्होंने वनचन्द्र गोस्वामी को अपने घर पधराया और एक लाख रुपया उनको भेंट किया । सुन्दरदास को वनचन्द्र गोस्वामी का राधावल्लभ जी की सेवा छोड़कर इस प्रकार भ्रमण करना अच्छा नहीं लगा था और इसका कारण उन्होंने यह समझा कि गोस्वामी जी को सेवा में द्रव्य का संकोच रहता होगा । अतः उस अभाव की पूर्ति के लिये ही उन्होंने इतनी बड़ी धनराशि गोस्वामी जी को भेंट दी थी । भेंट रखने के बाद उन्होंने श्री वनचन्द्र जी से प्रार्थना की कि वे स्थायी रूप से वृन्दावन रहकर निर्विघ्न राधावल्लभ जी की सेवा करें और उसमें जो कमी रहे वह उनसे मँगा लें ।

सुन्दरदास जी की बात सुविधाजनक थी किन्तु गोस्वामीजी के मन में इसकी सर्वथा प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई । उनको ऐसा लगा कि सुन्दरदास उस विवशता को नहीं समझ रहे हैं जो उनको दिल्ली लाई है । वे खीझकर सुन्दरदास से बोले कि तुम मंदमति हो जो इतना भी नहीं समझ पाते कि राम-कृष्ण भी भगवान की तरह प्रेम परवश होते हैं और वास्तविक प्रेमी के आह्वान का निरादर नहीं कर सकते । इतना कहकर गोस्वामी जी वृन्दावन की ओर चल पड़े और सुन्दरदास की कुछ भी भेंट स्वीकार नहीं की । सुन्दरदास को इस घटना से बड़ा आघात लगा और वे अन्न त्याग कर केवल दूध पर रहने लगे । उनकी इस स्थिति की सूचना जब उनके गुरु के पास पहुँची तो वे उन्हें लेकर अपने अग्रज के पास वृन्दावन पहुँचे । सुन्दरदास को देखकर वनचन्द्र गोस्वामी उनसे प्रेमपूर्वक मिले । किन्तु उनका धन स्वीकार करने को तैयार नहीं हुये । इस पर सुन्दरदास ने उनसे उक्त धन के द्वारा मन्दिर निर्माण करा देने की आज्ञा चाही । वनचन्द्र गोस्वामी ने उनको मन्दिर निर्माण से सम्बन्धित अपनी शर्त सुनाई तो सुन्दरदास ने स्वीकार कर ली । उन्होंने कहा कि मन्दिर की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद एक

वर्ष तक ठाकुरजी के पूरे उत्सव देखकर यदि मेरी मृत्यु होती है तो उससे बड़ा वरदान मेरे लिये दूसरा नहीं हो सकता।

मन्दिर का निर्माण कार्य आरम्भ कर दिया गया और सुन्दरदास मुक्तहस्त होकर खर्च करने लगे। कुछ दुर्जनों ने रहीम खानखाना से चुगली खा दी कि आपका दीवान खजाने से धन चुराकर वृन्दावन में मन्दिर बनवा रहा है। खानखाना ने उसी समय सुन्दरदास को पत्र लिखा कि तुम मुझसे सम्बन्धित हो। अतः मेरी प्रतिष्ठा के अनुकूल ही मन्दिर बनवाना और तुमको जितने धन की आवश्यकता हो यहाँ से मँगा लेना। इस पत्र के साथ खानखाना ने बहुत सा धन एवं बहुमूल्य वस्त्रादिक भेजे जिनका उपयोग सुन्दरदास जी ने मन्दिर के प्रसाधन में किया। मन्दिर की पूर्ति पर सुन्दरदास ने कथा, कीर्तन एवं प्रसाद वितरण आदि का विशाल आयोजन किया। उन्होंने एक वर्ष तक श्रीठाकुरजी के सम्पूर्ण उत्सवों को बड़ी धूमधाम से सम्पन्न किया और वर्ष की समाप्ति पर जब मन्दिर की प्रतिष्ठा का दिन लौटकर आया तब सन्त-महन्तों एवं गुरुजनों की उपस्थिति में उन्होंने सबको दण्डवत् प्रणाम करके देह त्याग दिया। श्रीवनचन्द्र जी ने सुन्दरदासजी की इच्छा के अनुसार उनकी समाधि मंदिर के सामने एक ऐसे स्थल पर बनवा दी जहाँ से श्रीराधावल्लभ जी के दर्शन होते थे। यह समाधि अब भी विद्यमान है।

वृन्दावन की भूमि पर शताब्दियों के बाद बनने वाला यह पहला मन्दिर था। प्रोफेसर विलसन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दू रिलीजन्स' (पृष्ठ ११६) में इस मंदिर का निर्माणकाल सं० १६४१ बताया है लिखा है कि मन्दिर के मुख्य द्वार पर लगे एक शिला लेख को देखकर समय निर्धारित किया है। मथुरा मैमोयर्स के लेखक ग्राउस ने मन्दिर की दीवाल पर उत्कीर्ण एक लेख के आधार पर इसका निर्माण सं० १६८४ में माना है। प्रो० विलसन वाला शिलालेख अब नष्ट हो चुका है किन्तु ग्राउस वाला शिला लेख मंदिर के द्वार के चौखूटे खम्भ पर विद्यमान है। इस लेख में सं० १६८४ के साथ दो संगतराशों के नाम खुदे हुए हैं और इसके ऊपर पुनः दो संगतराशों के नाम उत्कीर्ण हैं। इस लेख में प्रो० विलसन द्वारा उद्धृत शिलालेख की भाँति कहीं भी मन्दिर के निर्माण की बात नहीं कही गई है। अतः यह लेख बाद के हैं और अनुमानतः इनमें मन्दिर की मरम्मत करने वाले संगतराशों के नाम का उल्लेख है।

इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय के इतिहास में श्री वनचन्द्र जी का निधन काल सं० १६६५ सुनिश्चित है और इस दृष्टि से भी मन्दिर का निर्माणकाल सं० १६४१ ही ठीक जँचता है।

मथुरा गजेटियर (सन् १६११) में उक्त मंदिर के स्थापत्य का संक्षिप्त विवेचन दिया हुआ है। इसके अनुसार उक्त मंदिर का प्लान गोवर्धन स्थित हरदेव जी के मंदिर से मिलता जुलता है, किन्तु उससे कहीं अधिक विशाल है। मन्दिर का मध्य

भाग तीन स्तरों में बना है जिसमें ऊपर नीचे के स्तर शुद्ध हिन्दू शैली में बने हैं और मध्य स्तर शुद्ध मुसलमानी शैली में। मन्दिर के स्थापत्य की विशेषता इस बात में है कि यह हिन्दू मुस्लिम मिश्रित स्वतन्त्र शैली (Ecleche style) का अन्तिम एवं उत्कृष्ट नमना है। गजेटियर के अनुसार औरंगजेब ने इसके गर्भ मन्दिर को सम्पूर्णतया नष्ट करा दिया था, अतः इसके वर्तमान रूप से इसकी आरम्भिक भव्यता का अनुमान लगाना कठिन हो गया है इस मन्दिर का विनाश इस कारण भी बहुत अधिक हुआ कि इसको तोड़ने के लिये जो फौजी दस्ता भेजागया था उसका मन्दिर के गोस्वामियों एवं साधुओं ने डटकर मुकाबला किया और उसमें दस्ते का सेनापति मारा गया। मन्दिर के बगल वाले एक खाली स्थान पर उसकी कब्र थोड़े दिन पूर्व तक विद्यमान थी। उस स्थान पर मकान बन जाने से अब वह नष्ट हो गई है।

अकबर के राजकाल में उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थ स्थलों में अनेक लोगों ने देव मन्दिरों का निर्माण कराया था किन्तु सुन्दरदास जी जैसे निष्ठावान एवं साहसी भक्त इनमें बहुत कम हुये हैं। इनके सम्बन्ध में अनेक प्रशस्तियाँ उपलब्ध हैं जिनमें से दो यहाँ दी जाती हैं। श्रीध्रुवदास ने अपनी 'भक्त नामावली' में उनके सम्बन्ध में लिखा है।

सुन्दर मन्दिर की टहल कीन्हो अति रुचि मानि।
सफल करी संपति सकल, लगी ठिकाने आनि॥
अंगीकृत ताको कियौ, परम रसिक सिरमौर।
करुनानिधि बहुकृपा करि दीनी सनमुख ठौर॥

चाचा हित वृन्दावनदास ने अपनी 'रसिक अनन्य परचावली' में लिखा है—

मन्दिर विसद बनाइ तहाँ प्रभु लै बैठाये।
अलंकार वर वसन भोग बहुविध भूंजाये॥
भाजन कनक बनाइ राधिकापति दुलराये।
गुरुकुल संत महंत मान दै सब पहिराये॥
राधावल्लभ छबि छक्यौ, निर्तंत तन त्याग न करी।
अति मति सुन्दरदास नै प्रीति जुगल चरनन धरी॥

श्रीध्रुवदास कृत बयालीस लीला
(वर्णन शैली और प्रेम सिद्धान्त)

अब से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व प्रेमावतार श्रीहित हरिवंश गोस्वामी ने प्रेम धाम श्रीवृन्दावन में नित्य विहार की उपासना का प्रवर्तन किया था। उसी काल में श्रीचैतन्यदेव ने अपने प्रेम मार्ग का स्थापन किया था। दोनों ही महानुभावों का जीवन अत्यन्त भाव विभोर स्थिति में व्यतीत हुआ था और इसीलिये दोनों ही अपने द्वारा स्थापित प्रेमा भक्ति सिद्धान्त का विवेचन विश्लेषण विशद रूप में नहीं कर पाये थे। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में यह कार्य श्रीसनातन गोस्वामी एवं श्रीरूप गोस्वामी पाद ने किया और श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीसेवकजी एवं श्रीध्रुवदास जी ने किया। इसीलिये नित्य विहार की उपासना एवं रस पद्धति को समझने के लिये सेवक वाणी एवं बयालीस लीला का ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। यह दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं।

सेवक वाणी सिद्धान्त ग्रन्थ है उसमें मुख्यतः श्रीहित चौरासी के पदों में निहित नित्य विहारोपासना एवं वृन्दावन रस रीति से सम्बन्धित सूत्रों को एकत्रित करके एक सुरेख प्रेम सिद्धान्त की रचना की गई है। लीला गान की दृष्टि से इसमें बहुत कम कहा गया है। इसके विपरीत बयालीस लीला, जैसा उनके नाम से स्पष्ट है, मुख्यतः लीला ग्रन्थ है। इसकी लीलाओं में प्रेमा भक्ति सिद्धान्त का विशद एवं मार्मिक विवेचन किया गया है और इनके नाम के साथ 'लीला' शब्द का प्रयोग उपलक्षण मात्र है। शेष लीलाओं में शुद्ध लीला ज्ञान है किन्तु वह एक ऐसी विशिष्ट एवं अनुकरणीय शैली में किया गया है जिससे उन लीलाओं में आचरित प्रेम का स्वरूप और उसकी सामर्थ्य स्पष्ट होते चलते हैं और लीला के प्रवाह में कोई अन्तर नहीं पड़ने पाता। श्रीश्यामा-श्याम की प्रेम लीला का वर्णन करते-करते प्रेम छटा के दर्शन से ध्रुवदास जी का प्रेमी मन जब चकित विभोर हो जाता है तब उनकी वाणी प्रेम की विलक्षणता, उज्ज्वलता, महार्घता दुर्लभता आदि की ओर अनायास संकेत कर देती है। इन संकेतों से उस लीला में प्रकाशित प्रेम के स्वरूप पर वेधक प्रकाश पड़ जाता है और रसिक पाठक को लीला का मर्म समझने में देर नहीं लगती।

श्रीसेवकजी एवं श्रीध्रुवदासजी श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के आरम्भ के ऐसे दो रसिक महानुभाव हैं, जिन्होंने श्रीहिताचार्य जी की रचनाओं के आधार पर इस सम्प्र-

दाय के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रदान की थी। सम्प्रदाय के प्रेम सिद्धान्त और रस-पद्धति के निर्माण में श्रीध्रुवदास जी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

श्रीध्रुवदास देवबंद जिला सहारनपुर के रहने वाले थे और इनका जन्म वहाँ के एक ऐसे कायस्थ कुल में हुआ था, जो आरम्भ से ही श्रीहिताचार्य के सम्पर्क में आ गया था और उनका कृपाभाजन बन गया था। इनके पिता श्यामदास जी श्रीहित प्रभु के शिष्य थे और ये स्वयं उनके तृतीय पुत्र श्रीगोपीनाथ गोस्वामी के कृपापात्र थे। इसी से इनके चरित्रकार महात्मा श्रीभगवतमुदित जी ने इनको परम्पराई 'अनन्य उपासी' लिखा है।

श्रीहित हरिवंश कृपा से वे अल्पवय में ही गृहस्थ से विरक्त होकर श्रीवृन्दावन-वास करने लगे थे। आरम्भ से ही उनका एक ही मनोरथ था कि मैं कृपाभिसिक्त वाणी से प्रेम स्वरूप श्रीश्यामाश्याम के अद्भुत अखण्ड प्रेम-विहार का वर्णन करूँ। किन्तु हृदय में नित्य विहार का प्रकाश हो जाने पर भी वह वाणी में प्रस्फुटित नहीं हो रहा था। निरुपाय होकर उन्होंने अन्न जल त्याग दिया और श्रीहिताचार्य द्वारा स्थापित रास-मंडल पर जाकर पड़ गये। दो दिन तक ध्रुवदास जी वहाँ पड़े रहकर अजस्र अश्रुपात करते रहे। उनकी इस करुण स्थिति को देखकर श्रीराधा का नवनीत-कोमल हृदय विगलित हो उठा और उन्होंने तीसरे दिन मध्य रात्रि में प्रकट होकर अपने चरण कमल का स्पर्श ध्रुवदास जी के मस्तक से करा दिया। चरण का आघात होते ही उसमें धारण किये हुए नूपुर बज उठे और उनकी दिव्य ध्वनि श्रीध्रुवदासजी के तन मन में पूरित हो गई। इसके साथ ही उनके ये शब्द सुनाई दिये:

वानी भई जु चाहत कियौ उठि सो वर तोकौं सब दियौ।

धन्यता के पूर्ण अनुभव के साथ श्रीध्रुवदास जी ने वृन्दावन-विहारी श्रीश्यामा-श्याम की नित्य-लीला का गान मुक्त कंठ से आरम्भ कर दिया और एक ऐसी प्रभाव-शाली वाणी की रचना हो गई जो, उनके चरित्रकार के अनुसार, थोड़े ही दिनों में चारों दिशाओं में समुद्र पर्यन्त प्रचलित हो गई और रसिकजन उसका अनुशीलन अपनी परमनिधि मानकर करने लगे। इस वाणी के प्रभाव से अनेक लोग घर बार छोड़कर वृन्दावन-वास करने लगे। श्रीभगवत मुदित ने लिखा है—

वाणी श्रीध्रुवदास की, सुनि जोरी मुसिकात।
भगवत अद्भुत रीति कछु, भाव भावना पाँति॥

श्रीध्रुवदास जी से पूर्व एवं उनके समकालीन प्रायः सभी श्रीराधाकृष्णोपासक महानुभावों ने फुटकर पदों में लीला गान किया था। ये पद अपने आप में पूर्ण होते हैं किन्तु उनमें लीला के किसी एक अङ्ग की ही पूर्णता होती है, अन्य अङ्गों की अभि-व्यक्ति के लिये दूसरे पदों की रचना करनी होती है। ध्रुवदास जी ने नित्य विहार लीला को एक अखण्डित धारा बताया है।

"नित्य विहार अखण्डित धारा।
एक वैस रस जुगल विहारा।।"

इसकी धारावाहिकता का निर्वाह करने के लिये ध्रुवदास जी ने पद शैली का आश्रय न लेकर दोहा चौपाईयों में लीला वर्णन किया है। उनसे पूर्व केवल प्रबन्ध काव्यों में दोहा चौपाईयों का उपयोग किया जाता था। ध्रुवदास जी ने पहली बार लीला वर्णन में इसका उपयोग किया और बड़ी सफलता पूर्वक किया। इनकी लीलाओं में प्रेम की विभिन्न दशायें समुद्र में तरङ्गों की भाँति उन्मज्जन निमज्जन करती रहती हैं जिससे लीला की अखण्डता की सहज व्यंजना होती चलती है।

श्रीराधा-कृष्ण को रस स्वरूप किंवा प्रेम स्वरूप माना जाता है। प्रेम एक भाव है अतः यह दोनों भाव स्वरूप हैं। श्रीहिताचार्य के सिद्धान्त में हित किंवा प्रेम ही परात्पर तत्त्व है जो एक साथ मूर्त और अमूर्त दोनों हैं। हित के सहज मूर्त रूप श्रीराधाकृष्ण हैं। इनके श्रीअङ्ग तथा इनसे सम्बन्धित धाम, वस्त्राभूषण आदि सम्पूर्ण वस्तुयें प्रेम की ही विभिन्न मूर्त परिणतियाँ हैं। उनमें प्रेम भाव के अतिरिक्त अन्य किसी भाव या अन्य किसी तत्त्व, का स्पर्श नहीं है। स्वयं परात्पर प्रेम का एक कण उद्‌भासित होता है कुछ अत्यन्त विरल महा भाग्यशाली उपासकों को छोड़कर, वह एक अमूर्त भावानुभूति किंवा स्फूर्ति के रूप में होता है। उपासक का प्रथम परिचय इस कृपोपलब्ध अमूर्त भाव के साथ होता है और फिर वह रसिकाचार्यों की वाणियों के सहारे श्रीश्यामा श्याम के मूर्त प्रेम स्वरूप को हृदयंगम करने की चेष्टा करता है। अन्य सब वाणियों की तुलना में ध्रुवदासजी की वाणी उपासक की अमूर्त-भाव से मूर्त भाव तक की इस प्रगति में सबसे अधिक सहायक बनती है।

ज्ञान मार्ग में अमूर्त को मूर्त की सहायता से समझाया जाता है। ध्रुवदासजी अपने भाव मार्ग एवं उपासक की सहज भावानुभूति के अनुकूल रहकर मूर्त प्रेम (श्रीश्यामा श्याम) की अमूर्त प्रेम के साथ तुलना करके उसको स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिये श्रीश्यामा श्याम के सुन्दर भालों पर लगी हुई लाल और काली वेंदियों की शोभा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि दोनों भालों पर दोनों रङ्गों की अनुपम वेंदियाँ इस प्रकार सुशोभित हैं जैसे अनुराग और शृङ्गार की सरूप जोड़ी बनी हो। इस प्रकार श्रीराधा के वक्षःस्थल पर धारण की हुई मोतियों की माला हीरावली और रतनावली को देखकर वे कहते हैं कि ऐसा मालुम हो रहा है मानो अनुराग के सरोवर में रूप तरङ्ग उठ रहे हैं।

"विवि भालन विवि वरन की, वेंदी दई अनूप।।
मनु अनुराग सिंगार की, जोरी प्रेम अनूप।।
जलज हार हीरावलो, रतनावली सुरंग।
अनुराग सरोवर में मनौं, उठत हैं रूप तरङ्ग।।"

'रहस्य मञ्जरी लीला में, ध्रुवदास जी ने श्रीराधा का वर्णन इसी शैली से करते हुये उनकी भावमूर्तता को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं कि सखियाँ श्रीराधा के अङ्गों में प्रेम रूपी उबटन लगाकर उनको आनन्द से स्नान कराती हैं फिर उनको लाज रूपी साड़ी पहनाकर उनके वक्षःस्थल पर प्रीति रूपी अंगिया खींचकर बांध देती हैं। श्रीराधा के अङ्गों में हाव भाव रूपी आभूषण सुशोभित हो रहे हैं और उनमें से अनेक भांति के सौरभों की उद्गारें उठ रही हैं। सखियों ने शृङ्गार रस का अञ्जन उनके नेत्रों में डाला है और अनुराग की मेंहदी से उनके कर और चरण रंगे हैं। उनकी रससिक्त बङ्क चितवन से मानो करुणा की वर्षा हो रही है। उनके मुख पर सुहाग की ज्योति जगमगा रही है और नाक में लावण्य का मोती सुशोभित है। उनके केश स्नेह के फुलेल से भींगे हुए हैं जिनमें फूलन (उल्लास) के फूल गुँथे हुए हैं।

"सखी हेत उदवर्तन लावैं। आनन्द रस सौं सबै न्हवावैं।
सारी लाज की अतिही बनी। अंगिया प्रीति हिये कसि तनी।।
हाव भाव भूषन तन बने। सौरभ गुन गन जात न गने।
रस पति रस कौं रचि पचि कीन्हौ। सो अंजन लै नैनन दीन्हौ।
मेंहदी रङ्ग अनुराग सुरंगा। कर अरु चरन रचे तेहि रंगा।।
बंक चितवनी रस सौं भीनी। मो करुना की बरखा कीनी।।
झलमल रही सुहाग की जोती। नासा फबि रह्यौ पानिप मोती।
नेह फुलेल बार वर भीने। फूल के फूलन सौं गुहि लीने।।

इस प्रकार के वर्णन श्रीश्यामा श्याम की प्रेम स्वरूपता को हृदयंगम करने में बहुत सहायक होते हैं। इनके द्वारा उपासक का मन जागतिक प्रेम की स्थूलताओं का परित्याग करके दिव्य भगवद् प्रेम की सूक्ष्मताओं का आकलन करने लगता है। ध्रुवदास जी की वर्णन शैली की उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखने से उनकी इस वाणी के अवगाहन में सहायता मिलेगी।

हम ऊपर कह चुके हैं कि ध्रुवदास जी ने अपनी इस कृति में श्रीहिताचार्य द्वारा अनुमोदित प्रेम सिद्धान्त का विशदीकरण किया है। यहाँ इस ग्रन्थ के आधार से उक्त प्रेम सिद्धान्त की संक्षिप्त रूप रेखा देने का प्रयास करेंगे।

भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में, बहुत प्राचीनकाल में ही, भगवत् प्राप्ति के साधन के रूप में प्रेम का महत्व स्वीकार किया जाने लगा था। धीरे-धीरे साध्य के रूप में भी उसकी प्रतिष्ठा होती गई और वह भगवत्तत्त्व का एक आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग माना जाने लगा। दक्षिण के आलवार सन्तों के अभ्युदय काल से लेकर विक्रम की सोलहवीं शती तक आते-आते वह एक ओर श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में, भगवान की अन्तरंगा ह्लादिनी शक्ति का सारभूत पदार्थ माना गया तो दूसरी ओर, श्रीराधा-

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में वह परात्पर तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया और भगवत्ता को उस का प्रधान गुण किंवा विशेषण माना गया। दूसरे शब्दों में, जहाँ श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में भगवान श्रीकृष्ण को शक्तिमान एवं प्रेम को उनकी शक्ति माना जाता है, वहाँ श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में उनको धर्मी एवं प्रेम को धर्म माना जाता है। प्रेम धर्म के अनन्य धर्मी हो सकते हैं किन्तु उनमें पूर्णतम एवं उज्ज्वलतम धर्मी श्रीकृष्ण किंवा श्रीराधा-कृष्ण हैं। परात्पर प्रेम तत्त्व की अनन्त परिणतियाँ होती हैं जिनमें प्रथम एवं निर्मलतम श्रीश्यामा श्याम के स्वरूपों में हुई हैं।

महाकवि देव ने अपने एक कवित्त में राधावल्लभीय प्रेम सिद्धान्त के उपर्युक्त तथ्य को बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि प्रेम के मद में मत्त बने हुये व्यक्ति की मत्तता कभी नहीं छूटती तथा जिसके शोभा सिन्धु में डूबा हुआ न तो कभी उछलता है और न कभी संतरण कर पाता है। जिस प्रेम का पान करके जो मर जाता है वह अमर हो जाता है। संसार के लोग उसको पागल समझते हैं किन्तु वह अपने को पूर्ण सुखी मानता है। जो ऐसा सुस्वादु है कि उसे नेत्रों के प्यालों में भरकर चाखने के बाद अमृत चाखने की इच्छा नहीं होती, वही अनुपम प्रेम ब्रज में दम्पति श्रीश्यामा-श्याम के रूप में अवतरित हुआ है और संसार के जीव इनके प्रेमरस को देखकर प्रेम स्वरूप समझे हैं।

"जाके मद मान्यौ उमात्यौ न कहूँ कोई जहाँ,
बूड़यौ उछर्‌यो न तर्‌यौ शोभा सिन्धु सामुहै॥
पीवत ही जाहि कोई मर्‌यौ सो अमर भयौ,
बौरान्यौ जगत जान्यौ मान्यौ सुख धामु है॥
चख के चषक भरि चाखत ही जाहि फिरि,
चाख्यौ न पियूष कछु ऐसौ अभिरामु है॥
दंपति स्वरूप ब्रज औतर्‌यौ अनूप सोई,
'देव' कियौ देखि प्रेमरस प्रेम नामु है॥

ऐसे परमाद्भुत प्रेम पदार्थ की पूर्ण व्याख्या, उसका निर्वचन, असंभव है। नारद भक्ति सूत्र में प्रेम के स्वरूप को गूंगे के स्वाद के समान अनिर्वचनीय बताया है—अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपम् मूकास्वादनवत्। सत्य नारायण कविरत्न ने ठीक कहा है,

"उलटा पलटी करहु निखिल जग की सब भाषा।
मिलै न पै कहुँ एक प्रेम पूरी परिभाषा॥

फिर भी अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अनेक प्रेमियों एवं प्रेमोपासकों ने प्रेम की व्याख्या करने की चेष्टा की है तथा उसके अंतरंग एवं बाह्य लक्षणों का निर्देश किया है। ध्रुवदास जी से पूर्व संस्कृत, हिन्दी, बंगला, तमिल आदि भाषाओं में प्रेम से

सम्बन्धित मार्मिक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं किन्तु विस्तार भय से उनका यहाँ देना सम्भव नहीं है। ध्रुवदास जी के समसामयिक रसिकवर रसखान जी की 'प्रेमवाटिका' एवं उनसे लगभग एक शताब्दी बाद में होने वाले नागरीदास जी (नागरिया जी) का "इश्क चमन' प्रेम का परिचय देने वाली छोटी-छोटी स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। यह दोनों इनसे पूर्व की अनेक फुटकर सूक्तियाँ सभी उत्कृष्ट कोटि की हैं किन्तु प्रेम को परात्पर तत्त्व मानकर उसके अनुसार अपनी उपासना का स्वरूप निर्धारण करने वाले ध्रुवदास जी का प्रेम स्वरूप वर्णन अधिक योजनाबद्ध तात्त्विक एवं विशद है।

ध्रुवदास जी ने अपने उपास्य प्रेम का प्रधान लक्षण बतलाते हुये कहा है कि संसार में प्रेम की अनेक छटाएँ देखने में आती हैं और जिसको जो रुचिकर होती है वह प्रेम का स्वरूप वैसा ही मान लेता है। हम तो उसी प्रेम को अद्भुत और सरस समझते हैं जिसके उदय के साथ चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है और एकमात्र प्रेमपात्र पर केन्द्रित हो जाता है।

"प्रेम की छटा बहुत विधि आही, समुझि लई जिन जैसी चाही।
अद्भुत सरस प्रेम निज सोई, चित्त चलन की जेहि गति खोई।।

—नेह मंजरी लीला

इसलिये ध्रुवदास जी 'प्रेम पन्थ' की रस रीति मयी उपासना को सबसे कठिन बताते हैं क्योंकि मन के एक राई के दाने के बराबर भी इधर-उधर चलने पर प्रीति भंग हो जाती है और उपासना में अन्तर पड़ जाता है।

सबतैं कठिन उपासना, प्रेम पन्थ रसरीति।
राई सम जो चलै मन, छूटि जाइ ध्रुव प्रीति।।

—तृतीय भजन श्रृङ्खला

इस अद्भुत प्रेम की उक्त एकाग्रतामयी सहज प्रवृत्ति के कारण प्रेमी के हृदय में अन्य किसी बात के लिये अवकाश नहीं रह जाता। श्रीध्रुवदास कहते हैं कि जिस भाग्यशाली प्रेमी के शरीर रूपी वन में यह अद्भुत प्रेम सिंह गर्जना करता रहता है वहाँ नेम रूपी गज, मृग-विहंग रहने नहीं पाते। जहाँ प्रेम का राज्य होता है वहाँ अन्य रस रहने नहीं पाते। जिस प्रकार बाज पक्षियों के समूह को दलित कर डालता है उसी प्रकार यह प्रेम सब सांसारिक सुखों को श्रीहीन बना देता है। मन पंछी तभी तक विषय वासनाओं के फेर में रहता है जब तक वह प्रेम बाज की झपट में नहीं आता। प्रेम के उदय के साथ यदि शरीर के विषय विलास नष्ट नहीं होते और सूर्य के उदय के बाद यदि अन्धकार बना रहता है तो यही मानना होगा कि न तो वह प्रेमोदय है और न वह सूर्योदय।

"जेहि तन-वन गरजत रहै, अद्‌भुत केहरि प्रेम ।
तामें पावै रहन क्यों, गज विहंग मृग नेम ॥
रहन न पावत और रस जहाँ प्रेम को राज ।
सकल सुखन को दलमलै, ज्यौं पंछिन कौं बाज ॥
मन पंछी तब लग उड़ै विषय बासना माँहिं ।
प्रेम बाज की झपट में जब लगि आयो नाँहिं ॥
तन विलास जे विषय के जो न प्रेम ते जाँहिं ।
भानु उदै जो तम रहै तो वह भानुहि नाँहिं ॥

प्रेम का उपर्युक्त लक्षण श्रीराधावल्लभीय अनन्य रसिक उपासकों द्वारा अनुभूत एवं व्याख्यात प्रेम छटा को प्रेम के अन्य प्रचलित रूपों से विलक्षण एवं सारवान बना देता है। साथ ही परम निवृत्तिमय रसानन्द की प्राप्ति के लिये साधन के रूप में प्रेम की सर्वश्रेष्ठता को रेखांकित कर देता है। हम जानते हैं कि भगवत् प्राप्ति के संपूर्ण साधनों का प्रथम लक्ष्य मन की एकाग्रता प्राप्त कराना होता है जिसकी सिद्धि बड़ी कठिनाई से होती है। किन्तु इस प्रेम छटा के मन में प्रकाशित होने के साथ ही वह सहज रूप से एकाग्र बन जाता है और उपासक को उसके निरोध के लिये अलग से कोई साधन नहीं करना पड़ता।

ध्रुवदास जी इस प्रेम को पूर्णतम मानते हैं। इसके स्वरूप का वर्णन करते हुये कहते हैं—'प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, आधीनता, उज्ज्वलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एक रस रुचि तरङ्ग बढ़त रहैं सहज स्वच्छन्दता, मधुरता, मादकता जाकौ आदि अन्त नाँहि (अनाद्यनंतता) एवं छिन-छिन नूतनता स्वाद ? अन्यत्र उन्होंने इन लक्षणों को छन्दोबद्ध रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है :

जहाँ लगि उज्ज्वल निर्मलताई । सरस सनिग्ध सहज मृदुलाई ।
मादिक मधुर माधुरी अङ्गा । दुर्लभता के उठत तरङ्गा ॥
नौतन नित्य छिनहिं छिन माँहीं । इक रस रहत घटत रुचि नाहीं ।
अतिहि अनूपम सहज सुछन्दा । पूरन कला प्रेम वर चन्दा ॥

प्रेम के इस स्वरूप का ही पल्लवन ध्रुवदासजी ने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में किया हैं—कहीं सिद्धान्त कथन के रूप में और कहीं लीला के माध्यम से हम यहाँ उपर्युक्त लक्षणों में से कतिपय को उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

प्रेम की चाह और चटपटी को ध्रुवदासजी उसका प्रथम मौलिक लक्षण मानते हैं। हृदय में 'चाह' के उदय होने के बाद ही मनुष्य का प्रेम राज्य में प्रवेश होता है। इस स्थिति में प्रेमी के नेत्रों में प्रियतम की मूर्ति बसी रहती है और वह उसी के रस में

डूबा रहता है। वह प्रेममद में मत्त बना घूमता रहता है और उसे अन्य कोई बात नहीं सुहाती। उसका अपने देह और कुटुम्ब से पूर्णतया नाता छूट जाता है और वह उन स्थानों की खोज में घूमता रहता है जहाँ उसके प्रियतम की चर्चा होती है। इस स्थिति में उसके नेत्र क्षण-क्षण में जल पूर्ण होते रहते हैं।

नैनन पिय मूरत बसै तेहि रस रहै समाय।
यह लक्षन सुनि प्रेम के और न कछू सुहाय।।
और न कछू सुहाय फिरै अपने मदमातौ।
कुटुम्ब देहि सौं जाइ टूटि सबही बिधि नातौ।।
जहाँ जहँ पिय की बात सुनै खोजत तिन गैनन।
छिन-छिन प्रति ध्रुव लेत प्रेम जल भरि-भरि नैनन।।
कहा कहौं गति प्रेम की बढी चाह की पीर।
लोचन भूखे रूप के भरि-भरि ढारत नीर।।

'चाह' की चरम परिणति 'चटपटी' के रूप में होती है। ध्रुवदाससी कहते हैं कि जिसके हृदय में प्रेम की चटपटी लगी होती है वही प्रेम की नितांत चटपटी (विचित्र) रीति के मर्म को समझता है,

प्रीत की रीति निपट अटपटी। सोई जानै जिहि लगी चटपटी।

ऐसे प्रेमी के पास न तो कोई आता है, और न कोई उसे बुलाता है और वह कहाँ बैठा है इसका भी कोई ध्यान नहीं रखता। वास्तव में चटपटी-युक्त प्रेमी को घर और वन गृहस्थ जीवन और विरक्त जीवन दोनों ही विस्मृत हो जाते हैं।

को आवै, बुलवैव को, कोव कहै उठि जाहि।
प्रेम चटपटी जासु उर गृह बन भूल्यौ ताहि।।

'आधीनता' को तो ध्रुवदास जी प्रेम का प्राण ही मानते हैं और इसके विविध अङ्गों और परिणतियों का वर्णन उन्होंने इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर किया है। आधीनता का अर्थ है दीनता, निरहंकारिता, निर्मानता और इसके बिना कोई व्यक्ति प्रेमी बन नहीं सकता, प्रेमी के मन की गति सदैव दीनता पूर्ण होनी चाहिये और उसे प्रेमी रसिकों की चरण रज में सदैव लोटते रहना चाहिये। प्रेम और जल का यह सहज स्वभाव होता है कि वे सदैव निचाई की ओर दौड़ते हैं। अद्भुत प्रेम फल सबसे ऊँचा है किन्तु हाथ तक तभी पहुँचता है जब सिर को पैरों के नीचे रख लिया है।

मन की गति यों चाहिये क्यों रहै दिन दीन।
रसिकन की पद रज तरैं लुटत सदा है लीन।।

सहजहिं जल और प्रेम कौ एक सुभावहिं जान।
चलत अधिक जेहि ठौर कौं पावत जहाँ निवान।।
देखो अद्भुत प्रेम फल सबते ऊँचौ आहि।
सीस करैं जब चरन तर तब कर पहुँचे ताहि।।

लीला के क्षेत्र में आधीनता की बड़ी परिणतियाँ होती हैं जिसका मनोहारी वर्णन ध्रुवदास जी ने इस ग्रन्थ की अनेक लीलाओं में किया है।

उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता और सरसता प्रेम के स्वभाव गत गुण हैं। प्रेम के उदित होते ही वह उज्ज्वल, कोमल, स्निग्ध और सरस बन जाता है। ध्रुवदास जी कहते है कि प्रेमी का हृदय उज्ज्वल होता है और उसमें कभी मलिनता नहीं आती क्योंकि उसमें परम प्रेमी श्रीश्यामा श्याम सदैव निवास करते रहते हैं।

"प्रेमी मलिन न होहि ध्रुव, जाकौ उज्ज्वल हीय।
इक रस जाके उर बसैं, रसिक लाड़िली पीय।।

प्रेम की रस स्वरूप गत उज्ज्वलता के कारण ही प्रेमी के हृदय में सदैव उल्लास बना रहता हैं उसकी चिन्ताऐं नष्ट हो जाती हैं और आनन्द का दीपक अहर्निश उसके हृदय में जगमगाता रहता हैं। श्रीश्यामा श्याम के परमोज्ज्वल प्रेम विलास का जो प्रेम पूर्वक चितन करते रहते हैं उनको यह स्थिति सहज प्राप्त होती है।

यह विलास जो चितवत चिंता मन मिटि जाहिं।
आनन्द को दीपक दियैं निशि दिन तेहि उर माहिं।।

प्रेम की सहज कोमलता और स्निग्धता के कारण ही प्रेमियों के आँसू कभी नहीं सूखते और इसीलिये लोक में 'सब जग सोवै, प्रेमी रोवै' वाली उक्ति प्रसिद्ध हो गई है। ध्रुवदासजी कहते हैं कि युगल किशोर के अद्भुत रूप विलास में यदि नेत्र प्रेमाश्रु पूर्ण न बन गये और यदि मन मोम की तरह कोमल न बना तो मनुष्य जन्म ही व्यर्थ गया,

"विवि किशोर छवि रङ्ग जो, नैनन भीजे नेह।
अरु मन भयो न मैंन सौं, तो निष्फल गई देह।।

अन्यत्र उन्होंने अभिलाषा की है कि युगलकिशोर की छवि को देखकर मेरे नेत्रों से रात दिन, जाग्रत और सयन में प्रेम वारि धारा चलती रहे।

चलत रहौ दिन रैंन प्रेम वारि धारा नयन।
जाग्रत अरु सुख सैन, चितै-चितै विव कुँवर छवि।।

प्रेमियों में परदुख कातरता, तीव्र सहानुभूति, परसुखसुखित्व आदि गुण प्रेमी की उक्त दोनों वृत्तियों के कारण ही होते है।

प्रेम की सरसता तो प्रसिद्ध ही है। नीरस कभी प्रेमी नहीं बन सकता और प्रेम कभी नीरस नहीं होता। प्रेम की उज्जवलता की भाँति उसकी सरसता भी प्रेमी को निर्भय और निर्द्वन्द्व बनाती है। चित्त के प्रेम प्रवाह में पड़ते ही वह सदैव सरस रहने लगता है। सम्पत्ति और विपत्ति के सुख-दुख उस प्रवाह में तृण के समान बह जाते हैं और उनकी प्रतीति नहीं होती।

परतहि प्रेम प्रवाह में रहत सरस दिन चित्त।
सुख दुख सम्पति विपति के तृन सम पैयत कित्त।।

इसके साथ ही सौन्दर्य बोध का आधार भी सरसता ही होती है। सरस चित्त में ही सौन्दर्य ग्रहण करने की क्षमता होती है—चाहे वह संगीत का सौन्दर्य हो या साहित्य का या कला का, या मनुष्याकृति का या प्रकृति का। ध्रुवदास जी कहते हैं कि राग ध्वनि सुनकर जो मोहित नहीं होता और जिसका हृदय कभी छवि बाण से विद्ध नहीं हुआ, उसको पत्थर में बने हुये भोंड़े चित्र के समान समझना चाहिये - नीरस, और निर्जीव।

मोह्यौ नहिं सुनि राग धुनि, बिंध्यो न उर छवि वान।
ताकौ ऐसे समुझि तू, पाहन चित्र समान।।

नूतनता—शुद्ध और सहज प्रेम नित्य नूतन होता है कभी पुराना नहीं पड़ता। प्रेम की यह स्वभाव सिद्ध नूतनता उसको अजर अमर बनाये रखती है। प्रेम के समुद्र में रूप का, सौन्दर्य का जल भरा होता है और सौन्दर्य किंवा रमणीयता का स्वरूप ही क्षण-क्षण में नवीन होता है—क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः। जल के नित्य नूतन बने रहने के कारण समुद्र की नूतनता सिद्ध और स्वाभाविक है। श्रीश्यामा-श्याम के प्रेम विहार में प्रेम की यह नित्य नूतनता बड़ी चमत्कृति उत्पन्न करती रहती है। इस प्रेम विहार में प्रेम के आश्रय-विषय, धाम लीला के सम्पूर्ण उपकरण आदि प्रेम स्वरूप हैं और वे सहज रूप से क्षण-क्षण में नवीन बनते रहते हैं। ध्रुवदासजी ने इस तथ्य की व्यंजना नाना मनोरम भंगिमाओं से अनेक लीलाओं में की है। शृंगार सत लीला की द्वितीय शृंखला में वे कहते है कि इस अनाद्यनंत एक रस विषद प्रेम विहार में सदैव नई रुचि होती है नया रूप होता है और नया नेह होता है और अलबेले एवं अति सुकुमार नेही (श्रीश्यामा-श्याम) भी नये होते हैं। यहाँ नई लाज, नया रंग, नई नेह पूर्ण चितवन और नई प्रेम केलि का नवीन शृंगार होता है। यहाँ प्रेमी श्रीश्याम सुन्दर के हृदय में क्षण-क्षण में तृषा बढ़ती रहती है जिसके कारण उनके अंगों में सदैव अनुपम लावण्य प्रस्फुटित होता है और प्रेम पात्र श्रीराधा सदैव इतनी नवीन रहती हैं कि मानो प्रेमी के मन के द्वारा कभी उनका स्पर्श नहीं किया गया है,

नई सेज नई रुचि नयो रूप नयो नेह,
नेही नये अलबेले अति सुकुमार री।
नई लाज, नयो रङ्ग, नेह रंगी चितवन,
नई केलि कौ सिंगार सोहै उर हार री।
छिन-छिन तृषा बढै, पानिप अनूप चढै,
मधुर विमल निज यहै प्रेम सार री।
हित ध्रुव प्यारी मानो छुई है न मनहू कै,
एकै रस घन जहाँ विशद विहारी॥

ध्रुवदास जी ने यहाँ नूतनता को 'मधुर विमल प्रेम का सार' बताया है और अन्यत्र कहा है कि जिसकी इस नित्य नवल प्रेमरस के प्रति सहज ढरन होती है उसके हृदय में सुख प्रवाह की धारा रहती है,

नवल विमल रस प्रेम कौ जिनके सहजहि ढार।
तिनके हिये चलत रहै सुख प्रवाह की धार॥

एकरसता प्रेम का अत्यन्त दुर्लभ और महत्वपूर्ण अङ्ग है। सांसारिक प्रेम में एकरसता की कल्पना करना भी कठिन है, यहाँ तो वह एक आदर्श मात्र है। अलौकिक प्रेम का एक रस निर्वाह होना सम्भव नहीं होता क्योंकि उसमें अपने सुख की आकांक्षा कहीं न कहीं बनी रहती है। ध्रुवदास जी ऐसे प्रेम को प्रेम कहने के लिये तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में जिसका आदि अन्त होता है वह न प्रेम है, न रूप है क्योंकि छाया और धूप की तरह उसका आना जाना मालुम नहीं होता।

आदि अन्त जाकौ भयौ सो सब प्रेम न रूप।
आवत जात न जानिये जैसे छाँह रु धूप॥

संसार में संयोग और वियोग को दो भिन्न कालों में अनुभूत होने वाले प्रेम को दो रूपों में माना जाता है, किन्तु ध्रुवदास जी इनके इस प्रकार के अनुभव को प्रेम की एकरसता में बाधक मानते हैं उनता कहना है कि जब वियोग होता है तब दुःख होता है और संयोग होते ही हृदय शीतल हो जाता है। इसमें रस दो प्रकार का बन जाता है और उसको एक रस प्रेम नहीं कहा जा सकता।

जब बिछुरत तब होत दुख, मिलतहि हियो सिराइ।
याही में रस द्वै भये, प्रेम कह्यौ क्यों जाइ॥

वे उस प्रेम को एक रस मानते हैं जिनमें प्रेमियों के तन और मन कभी वियुक्त नहीं होते फिर भी चाह दिन रात बढ़ती रहती है। इसके साथ ही उसमें संयोग की प्रतीति भी कभी नहीं होती और दोनों प्रेमी एक दूसरे को सदैव प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रों से देखते रहते हैं,

तन मन के बिछुरै नहीं, चाह बढ़ै दिन रैन।
कबहूँ संजोग न मानहीं, देखत भरि-भरि नैन ।।

ध्रुवदास जी कहते हैं कि प्रेम धाम श्रीवृन्दावन को छोड़कर ऐसा प्रेम अन्यत्र कहीं नहीं है। यहाँ निवास करने वाले प्रेमी युगल श्रीश्यामा श्याम के बीच में कभी एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता। इनके प्रेम, रूप और वय कभी घटते नहीं है और न कभी इनका संयोग मिटता है। यह दोनों सदैव आदि अन्तहीन सहज प्रेम का भोग करते रहते हैं,

ऐसौ प्रेम न कहूँ ध्रुव, है वृन्दावन माँहि।
तिन बिच अन्तर निमिष कौ होत जु कनहूं नाहि ।।
प्रेम रूप वह घटत नहिं मिटत न कबहुँ संजोग।
आदि अन्त नाहिन जहाँ, सहज प्रेम को भोग ।।

सहज स्वच्छन्दता और मादकता प्रेम के दो ऐसे गुण हैं जो उसकी हर छटा में थोड़े बहुत अंशों में प्रकाशित हुए बिना नहीं रहते। अत्यन्त स्थूल जागतिक प्रेम सम्बन्धों में भी प्रेमियों की स्वच्छाचारिता एवं निरंकुशता प्रसिद्ध है। यहाँ भी प्रेमी गण प्रेममत्त स्थिति में जब सामाजिक एवं शास्त्रीय मर्यादाओं का निस्संकोच उल्लंघन करते देखे जाते हैं तो ध्रुवदास जी जिस अत्युज्ज्वल एवं सर्व सीमाविर्वजित प्रेम छटा की बात कर रहे हैं उसकी स्वच्छंदता एवं मादकता का क्या कहना ! इस अद्भुत प्रेम के प्रवाह में जिन रसिकों के चित्त पड़ गये हैं उनकी स्थिति का वर्णन करते हुये वे कहते हैं कि जिनके मन श्रीवृन्दावन के अनुपम प्रेम विलास में रंग गये हैं उनके सुख को वही समझते हैं और प्रेम मद में मतंग बने घूमते रहते हैं उनके मन गज ने लोक वेद की सुदृढ़ सांकल तोड़ डाली है और यह प्रेम का विचित्र चरित्र है कि, वह बिना बंधन के बँधा फिरता है।

"जिनके मन ध्रुव रचि रहे वृन्दावन सुख रङ्ग।
तेहि सुख को जानत सोई, डोलत भये मतङ्ग ।।
लोक वेद सकल सुदृढ़ मन गज डारी तोरि।
देखौ प्रेम चरित्र यह बँध्यौ फिरै बिन डोरि ।।"

परात्पर प्रेम तत्त्व के स्वरूप लक्षणों के वर्णन के साथ ध्रुवदास जी ने उसके तटस्थ लक्षणों का भी परिचय इस ग्रन्थ में दिया है, प्रेम के उदय होने के बाद प्रेमी में जो विशिष्टताएँ दृष्टिगोचर होती है उनका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है, जिसके हृदय में प्रेमरस उपजता है वह सदैव उदास रहता है। वह हँसना-खेलना, खान-पान

एवं समस्त सुख साधनों को भूल जाता है। अद्‌भुत रूप छटा का दर्शन करके उसकी वाणी चकित हो जाती है और इसके नेत्रों को रोता छोड़कर उसके प्राण प्रियतम को रूप माधुरी में निमग्न हो जाते हैं। प्रियतम की अद्‌भुत रूप जब बलपूर्वक उसके हृदय में धँस जाता है तब उसके शरीर का रंग बदल जाता है, मुँह पर पीलापन छा जाता है और सम्पूर्ण अङ्ग शिथिल हो जाता है। जिस पर प्रेम की बेल चढ़ जाती है उसको सब सुध भूल जाती है और उसके हृदय में एकमात्र चाह का कमल फूला रहता है,

जेहि उर उपज्यौ प्रेम रस सो नित रहत उदास।
भूल्यौ हँसिबौ खेलिबौ खान पान सुख वास।।
रूप छटा अद्‌भुत निरखि थकित भये सुख बैन।
प्रान तहाँ पहिले गये रोवत छाड़े नैन।।
रूप धसक हिय धसि गयौ, शिथिल भये सब अंग।
मुख पियराई फिर गई, बदल पर्‌यौ तन रंग।।
प्रेम बेल जेहि पर चढ़ी, गई सबै सुध भूल।
एक कमल ध्रुव चाह कौ ताके उर रह्यौ फूल।।

प्रेम के विभिन्न अंगों के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सबका एक साथ पूर्ण निर्वाह इस संसार में संभव नहीं है। यहाँ की स्थूलता जड़ता और निर्गुणात्मकता प्रेम की उज्ज्वलता को धूमिल बना देती है और उसकी एकरसता को बाधित करती रहती है। प्रेम की उपासना वस्तुतः प्रेमी की उपासना है और इस उपासना की पूर्णता एवं सफलता के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि प्रेमोपासक का उपास्य ऐसा हो जो स्वयं प्रेम स्वरूप हो और जिसके द्वारा प्रेम की सहज पूर्ण निर्बाध अभिव्यक्ति होती हो। प्रेम की प्रतीति दो के बिना सम्भव नहीं है। अतः प्रेमोपासना अनिवार्य रूप से युगल की उपासना ही होती है और श्रीध्रुवदास जैसे नीर क्षीर विवेकी मर्मी प्रेमोपासक की दृष्टि में प्रेम का उज्ज्वलतम एकरस निर्वाह करने वाले युगल एकमात्र श्रीराधावल्लभ हैं। उनकी राय में यदि कोई भूलकर पूर्ण प्रेम की एकरस स्थिति इनसे अतिरिक्त कहीं अन्यत्र बताता है, वह झूठा है,

एकै प्रेमी एकरस श्रीराधावल्लभ आहि।
भूलि कहैं कोऊ और ठाँ झूठौ जानौ ताहि।।

नित्यविहारी श्रीराधावल्लभ की प्रीति रीति की तुलना अन्य किसी प्रेम छटा के साथ तो सम्भव नहीं स्वयं श्रीश्यामसुन्दर एवं ब्रज गोपिकाओं की परमोदात्त प्रेम परिपाटी भी इसके आगे फीकी एवं अपूर्ण लगती है। नारद सनकादि उद्धव एवं ब्रह्मा ने जिन 'गोपियों' के सुख के आगे अपने भजन को तुच्छ माना था। उनके लिये भी यह सहज सुखदाई नित्य विहार दुर्लभ है,

"नारदादि सनकादि सब, उद्धव अरु ब्रह्मादि।
गोपिन को सुख देखि कियौ, भजन आपनौ वादि ।।

—नेह मंजरी लीला

ध्रुवदास जी इसीलिये दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि इन दोनों नवल रसिक प्रियतम (श्रीश्यामा-श्याम) का मन है, एक हृदय है और एक ही बात दोनों के मन को सुहाती है। इन दोनों की एक ही किशोर वय है, एक ही जोड़ी है, एक से पट भूषण हैं और एक-सी छबीली छवि से दोनों के तन सुशोभित हैं। यह दोनों अपने लोचनों को चकोर किये हुए रूप के ही रङ्ग में भीग रहे हैं एवं जल और मीन की भाँति एक दूसरे का सङ्ग चाहते हैं। ऐसे रसिक शिरोमणि युगल के बिना अन्य कोई प्रेम व्रत का एक रस निर्वाह नहीं कर सकता।

"नवल रसिक पिय एक मन एक हिय,
एकै बात है सुहात दुहुँन के मन कौं।
एक वैस एक जोर एक से भूषन पट,
एक सी छबीली छवि राजत है तन कौं।
रूपही के रङ्ग भीने लोचन चकोर कीन्हें,
एक सङ्ग चाहैं ऐसै जैसे मीन बन कौं।
हित ध्रुव रसिक शिरोमणि युगल बिन,
आली को निबाहै एक रस प्रेम पन कौं।

इस अनुपम प्रेमी युगल की अनोखी प्रीति एवं अद्भुत सौन्दर्य के परम रमणीय एवं मार्मिक वर्णनों से ध्रुवदास जी का यह अनुपम प्रेम ग्रन्थ ओतप्रोत है। विगत लगभग चार सौ वर्षों से प्रेमी उपासक इस ग्रन्थ का अवगाहन करके प्रेम पन्थ की रस-रीति को पहचानते रहे हैं और आशा है कि भविष्य में भी यह उनका पथ प्रदर्शक बना रहेगा।

"कही प्रेम की गति ध्रुव यातैं,
सुनतहि सरस होत हिय तातैं।
अरु रस रीति पंथ पहिचानैं,
तन या रस के स्वादहि जानैं।

हित सौरभ

जड़ और चेतन में आकर्षण और विकर्षण दो क्रियायें दृष्टिगोचर होती हैं। जड़ जगत की संहति गुरुत्वाकर्षण के कारण ही है, यदि प्रकृति में यह आकर्षण न होता तो यह विश्व ब्रह्माण्ड कभी का बिखर गया होता।

चेतन सृष्टि के जिन जीवों में सदसदात्मक ज्ञान का अभाव होता है उनमें भी यह आकर्षण यथावत् दिखलाई देता है। पशु-पक्षी ज्ञान हीन होते हुये भी प्रेमवश अपने बच्चों के लिये और कहीं-कहीं एक दूसरे के लिये प्राण न्यौछावर करते देखे जाते हैं। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह परस्पर का आकर्षण यह प्रेमभाव जीव जगत का ज्ञान से भी अधिक मौलिक तत्त्व है ?

भरत खण्ड जैसी पुण्य भूमि में ज्ञान सहित नर देह को प्राप्त करके यदि प्रेमी भाव को नहीं समझता है, उसका उपयोग अपने परम कल्याण में नहीं करता है तब इससे बड़ी दुख और निराशा की बात दूसरी नहीं हो सकती।

" ज्ञान सहित नर देह वर, भरत खंड में होय !
जो नहि समुझै प्रेम रस, ताकों रहिये रोय ॥"

मनुष्य जीवन में उसको अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हैं और वह उन्हीं के पीछे दौड़ता रहता है, किन्तु खूब विचार करके देख लो कि प्रेम की समानता यहाँ का अन्य कोई सुख नहीं करता। अरे, तीन लोक के राजसुख जैसे महान् सुख को भी यदि तराजू के एक पलड़े में चढ़ा दिया जाय और दूसरे पलड़े में प्रेम सुख का एक कण रख दिया जाय तो वह उससे भारी बैठेगा।

तीन लोक कौ राजसुख, देखौ तुला चढ़ाय।
रंच प्रेम सुख गरुव अति, तिहि आगे झुकि जाय ॥

मनुष्य समाज में शुद्ध स्वार्थमय पाशविक प्रेम से लेकर स्वसुख वासना शून्य भगवत् प्रेम तक प्रेम के अनेक स्तर दृष्टिगोचर होते हैं। प्रेम में जब तक प्रेम पात्र के सुख की कामना का प्रवेश नहीं होता तब तक वह प्रेम कहलाने योग्य नहीं बनता।

जिस प्रेम में अन्य का सुख प्रधान होता है, वह हित कहलाता है। हित के कारण ही समाज की प्रतिष्ठा है। यदि मनुष्य अन्य के सुख को न देखता तो समाज की

रचना ही सम्भव न होती। पर-दुःख कातरता ही मनुष्यता का चिन्ह है। जो दूसरे के दुःख को देखकर दुखी नहीं होता वह मनुष्य के आकार में पशु है।

संसार में सम्पूर्ण सुख शान्ति का आधार हित है। समाज में जब हितैषिता का ह्रास होता है और आपाधापी बढ़ जाती है, जब मनुष्य अपनपे में सीमित होकर रह जाता है और अन्य के सुख दुःख का उसकी कोमल भावनाओं का, विचार एवं आदर उसके चित्त से निकल जाता है, तभी उसे महायुद्धों की भीषण ज्वालाओं में झुलसना पड़ता है और उसकी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

यदि अपने तथा लोक के कल्याण की कामना है तो प्रेमी बनो। अतुल धन संपत्ति विविध विदग्धता एवं अपरिमित शक्ति सम्पन्नता विश्व को विनाश की ओर ही धकेलते रहे हैं। प्रेमियों-सरस चित्त वाले व्यक्तियों के द्वारा ही इसको त्राण एवं नव-जीवन मिला है। एक प्रसिद्ध सूक्ति है कि साक्षर (पढ़े लिखे लोग) जब विपरीत आचरण पर उतर आते हैं तो राक्षस बन जाते हैं। 'साक्षरा' को उलट कर पढ़ने से 'राक्षसा' पढ़ा जाता है। किन्तु 'सरस' व्यक्ति विपरीत परिस्थिति में भी सरस बना रहता है। (सरस को उलट कर पढ़ने से सरस ही पढ़ा जाता है।)

"साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम्।
सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुञ्चति ॥"

मनुष्य के सम्पूर्ण भावों में प्रेम के समान उदार भाव अन्य कोई नहीं है। प्रेम के उदय के साथ सहज रूप से चित्त का विस्तार होता है और उसकी संकुचितता नष्ट हो जाती है। संकुचित मनोवृत्ति ने ही मनुष्य-मनुष्य के बीच एवं मनुष्य और जगत् के बीच दीवारें खड़ी कर रखी हैं और हम इन दोनों में सहज रूप से रहे हुये मांगलिक तत्त्व का दर्शन नहीं कर पाते। प्रेमी बनकर उदार बनो और जगत में व्याप्त अमङ्गल को दूर कर दो।

संकुचितता असहनशीलता की जननी है। असहनशीलता अनेक प्रकार की होती है। अन्य व्यक्ति के अपने से भिन्न विचारों को, उसके धन वैभव को अथवा मान-प्रतिष्ठा को देखकर ईर्ष्या अथवा क्रोध करना उसका एक प्रकार है। शीत-उष्ण, सुख दुःख, लाभ, हानि, जय, पराजय, निन्दा, स्तुति आदि नैसर्गिक द्वन्द्वों के द्वारा उद्विग्न बन जाना उसका अन्य प्रकार है। असहनशीलता के कारण सामान्य व्यक्ति अनेक मानसिक एवं शारीरिक क्लेशों का अनुभव करता रहता है और भाग्य को कोसता रहता है। प्रेमी की सहज उदार वृत्ति, मलिन मन के द्वारा कल्पित, उपर्युक्त विविध तापों से उसकी रक्षा करती रहती है और उसको सदैव प्रसन्न चित्त बनाये रखती है। यदि सुखी होना है तो प्रेमी बनो।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति सुख की कामना को लेकर ही वह प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होता है और सुख न मिलने पर विफलता का अनुभव करता है किन्तु जिस सुख के

पीछे वह पागल बना फिरता है वह क्षण स्थायी एवं दुख परिणामी होता है। उसके आदि और अन्त में तो दुःख लगा ही रहता है, सुख के विरल क्षणों में भी दुःख की मनहूस छाया पड़ती रहती है। चिरस्थायी एवं विमल सुख वह है जो दूसरे को सुख देकर मिलता है। उदार प्रेमीजन ही इस मर्म को समझते हैं और वे दूसरे को सुखी बनाकर उसके नेत्रों में अपने निर्मल और अनपायी सुख के दर्शन करते रहते हैं। उनका कथन है,

"जो सुख चाहौ नैनन तो सुख दीजिये ।।"

उदारता और सहन शीलता के समान दीनता भी प्रेम का सहज गुण है। प्रेम का उदय होते ही प्रेमी के हृदय में उक्त गुणों के साथ दैन्य का प्रादुर्भाव भी होता है। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति प्रेम तभी उत्पन्न होता है जब मन उसके रूप अथवा गुण द्वारा प्रभावित हो जाता है, परास्त हो जाता है, अभिभूत चित्त में सहज रूप से अहंत्व का विगलन होता है और प्रेमी अपने प्रेम पात्र के सामने दीन बन जाता है।

प्रत्येक धर्म साधना मनुष्य के सहज उद्दाम अहंकार को संयत एवं दमित रखने के लिये प्रयत्नशील है। अहंकार की अमर्यादित वृद्धि मनुष्य समाज के लिये सदैव से सिद्ध होती रही है। वास्तव में, अहंकार के समान विघटनकारी तत्त्व मनुष्य के अन्दर दूसरा नहीं है। इसके द्वारा छिन्न भिन्न बनाये गये समाज का पुनर्गठन प्रेम के द्वारा ही संभव होता है। प्रेम के द्वारा दीन एवं अहंकार शून्य बने हुए प्रेमियों ने ही सर्वाधिक लोक कल्याण किया है, इसका साक्षी इतिहास है।

दैन्य प्रेम की एक अत्यन्त उदात्त वृत्ति है और इसकी चरम परिणति आत्म परिणति आत्म समर्पण में होती है। भगवत् प्रेम में यह वृत्ति ही प्रेमी भक्त के अहंकार का दमन करके उसको भगवान का दास बना देती है और वह किसी बदले की आशा रखे बिना अपने इष्ट के चरणों पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। अपनपे के मिट जाने से वह अपने से सम्बन्धित सभी लौकिक एवं पारलौकिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। मन को यह परम सुखमई स्थिति प्रेमी उपासक को अपने सहज दैन्य के द्वारा प्राप्त हो जाती है।

प्रेम की इस मांगलिक वृत्ति जैसी एक अन्य वृत्ति मनुष्य के अन्दर होती है जो दैन्य ही कहलाती है। यह वृत्ति मन के दौर्बल्य एवं हीनता में से जन्म लेती है और मनुष्य के आत्म सम्मान एवं अन्य सद्गुणों को नष्ट करके उसको पामर बना देती है। इन दोनों वृत्तियों को एक मानकर अनेक लोग भक्तों के सहज दैन्य का उपहास करते है किन्तु दोनों में रात दिन का अन्तर है। एक भक्त के चित्त को अमित बल एवं विश्वास प्रदान करता है तो दूसरा मनुष्य को निर्बल एवं दया का पात्र बना देता है।

लौकिक प्रेम तथा भगवद् प्रेम दोनों ही एक परात्पर प्रेम तत्त्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसमें से लौकिक प्रेम मायिक, मर्यादित एवं दोष पूर्ण है तथा

भगवद् प्रेम माया गंध रहित निर्मल एवं निर्बंधन है। इन दोनों की मौलिक एकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि दोनों के मूल गुण एक ही हैं, जो लक्षण सामान्य प्रेम में दिखलाई देते हैं वही अपने अमायिक दोष रहित एवं तीव्रतम रूप में भगवद् प्रेम में दिखाई देते हैं। इन दोनों प्रेमों में यह समानता न होती तो मनुष्य भगवत् प्रेम का न आस्वाद कर पाता और न उसका वर्णन कर पाता।

प्रेम अत्यन्त अद्‌भुत पदार्थ है। उसकी दृष्टि में जीव और ईश का भेद नहीं होता है। प्रेम का उदय होने पर जो लक्षण मनुष्य के हृदय एवं शरीर में प्रकट होते हैं वही प्रेम स्वरूप भगवान् में भी व्यक्त होते हैं। प्रेम का अत्यन्त मौलिक एवं मांगलिक गुण दैन्य जीव और ईश में समान दिखलाई देता है। प्रेमी जीव का थोड़े बहुत अंश में दीन, विनीत निरहंकारी बन जाना अनिवार्य है। भगवान् में प्रेम की पूर्णता है तो उनका तो दैन्य भी सम्पूर्ण है। श्रीहिताचार्य ने कहा है कि प्रीति की रीति को प्रेम रंग में रंगा हुआ ही जानता है। प्रेम मूर्ति श्यामसुन्दर पूर्णतया प्रेम राग रंजित हैं, इसलिये वे 'सकल लोक चूड़ामणि' होते हुये भी अपने को दीन मानते हैं।

"प्रीत की रीत रंगीलौई जानैं।
यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानैं ।।"

प्रेम के मार्ग में भगवान् का यह सहज दैन्य ही उनका माधुर्य कहलाता है और वह उनके ऐश्वर्य से सर्वथा विपरीत होता है। भगवान् के ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों रूपों के उपासक देखे जाते हैं। प्रेमजनित होने के कारण माधुर्य अत्यन्त, नयनाभिराम एवं आनन्ददायक होता है। इसमें रस का सागर भरा होता है जिसमें प्रेम और सौन्दर्य की तरंगें उठती रहती हैं। माधुर्य के उपासक इसलिये रसिक कहलाते हैं।

रसिकों ने बतलाया है कि जल और प्रेम का स्वभाव इस बात में एक होता है कि ये दोनों उसी ओर अधिक चलते हैं जिधर नीचा होता है। प्रेम का अद्‌भुत फल सबसे ऊँचा होता है किन्तु इस तक हाथ उन्हीं का पहुँचता है जो सिर को पैरों के नीचे भूमि पर रख लेते हैं। वास्तव में प्रेम राज्य में दैन्य के बिना, निरहंकारिता के बिना गुजर नहीं होती, अतः प्रेम प्राप्ति के लिये दीन बनो।

दीनता, उदारता और सहिष्णुता की भाँति प्रेम की अंतरंग प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाला उसका एक अन्य गुण है ऋजुता सरलता किंवा सीधापन। निष्कपट मन ही सरल होता है और यह सबके अनुभव की बात है कि प्रेम के उदय के साथ कम से कम उतनी देर के लिये, मन सरल और निष्कपट बन जाता है। पत्नी, पति, पुत्र आदि स्वजनों के साथ मनुष्य का सहज प्रेम होता है और वह इनके प्रति सदैव निष्कपट और सरल रहता है।

जो लोग स्वभावतः प्रेमी होते हैं वे प्रायः सरल देखे जाते हैं। भगवत् प्रेम में प्रीति के सम्पूर्ण नैसर्गिक गुण अपनी शुद्धतम स्थिति में प्रकाशित रहते हैं, इसलिये

भगवद्‌भक्तों में आदर्श सरलता पाई जाती है। अनुभवी भक्त महानुभावों ने बताया है कि सीधा मन सीधे वचन और सीधे कर्म भगवत् प्रेम की 'प्रसूति हैं, उसमें से निकलने वाली वस्तुयें हैं। जहाँ भगवत् प्रेम होता है वहाँ सम्पूर्ण सरलता होती है।

सरलता मनुष्य का बहुत दुर्लभ गुण है। मन, वाणी और कर्मों के सरल बने बिना शान्ति नहीं मिलती और न इन्द्रियों में प्रकाश होता है। अशान्त और प्रकाश हीन व्यक्ति भगवत् मार्ग में प्रगति नहीं कर पाता और उसको अंधों की तरह टटोलकर रास्ता तय करना पड़ता है। सेवकवाणी में इसी को 'टटोरा की रीति' कहा गया है।

प्रेम की स्थिति का पता उसमें से प्रकाशित होने वाले उपर्युक्त गुणों से मिलता है। कोई व्यक्ति प्रेमी है इसका निर्विवाद प्रमाण एक ही है कि उसके अन्दर प्रेम के दिव्य गुणों का स्थाई प्रकाश और प्रभाव दिखलाई देता है। वह सहज रूप से निरहंकार, उदार, सहनशील और सरल होता है। रसिक प्रेमी इन या इनके समान अन्य गुणों से विहीन उपासक को प्रेमी मानने को तैयार नहीं हैं। श्रीध्रुवदास कहते हैं कि यदि प्रेम के उदय के साथ शरीर के मायिक विलास नष्ट नहीं होते तो हम उसको उसी प्रकार प्रेमोदय नहीं मान सकते जैसे सूर्य निकलने के बाद अन्धकार रहने पर उसको सूर्योदय नहीं माना जाता।

"तन विलास जे विषय के जो न प्रेम ते जाँय।
भानु उदय जो तम रहै तो वह भानुहिं नाँय॥"

अनन्त भावों एवं गुणों का आकर सहज प्रेम जब प्रेमी भक्तों अथवा प्रेम स्वरूप भगवान् की कृपा से भगवत् चरण कमलों में लग जाता है तब उसको भगवत् प्रेम कहते हैं।

मनुष्य के हृदय में भगवत् प्रेम का उदय महाभाग्य के परिपाक स्वरूप होता है। इस प्रेम के उदय की बात तो बहुत दूर की है, हृदय में इसका आभास मात्र पड़ते ही मनुष्य की गतिविधि में परिवर्तन होने लगता है। उसके मन में वासनाओं का वेग कम होने लगता है तथा जागतिक पदार्थों के प्रति वितृष्णा होने लगती है।

प्रेमाभास की स्थिति सुख-दुखमयी होती है। इसमें उपासक के हृदय में प्रेम भजन की सुदृढ़ रुचि तो उत्पन्न हो जाती है किन्तु संसार के प्रति उसका अभ्यासजनित आकर्षण निःशेष नहीं हो पाता। एक ओर उसका मन प्रेम भजन के सुख के लिये सदैव लालायित रहा आता है और दूसरी ओर जगत् व्यवहार की दारुण चिन्ताएँ उसको दुःख की ओर घसीटती रहती हैं।

इस स्थिति में श्रीगुरु एवं इष्ट के चरणों में अनन्य निष्ठा एवं तज्जनित धैर्य ही उसका सहायक बनता है। इस काल में उपासक को सदैव सावधान और जागरूक रहना पड़ता है। प्रमादग्रस्त बनने से उसकी दृष्टि से हृदय ओझल हो जाता है और

प्रेम के उदय का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस काल में उपासक की मनः स्थिति का वर्णन करते हुये श्री ध्रुवदास कहते हैं कि कभी तो उसका भजन अल्प रह जाता है और कभी वह विशाल बन जाता है। उपासक को इस स्थिति में सदैव अपने लक्ष्य को दृष्टि में रखकर धैर्य पूर्वक साधना करनी चाहिये।

"कबहूँ तौ थोरौ भजन, कबहूँ होत विशाल।
मन कौ धीरज छुटै नहीं, गहै न दूजी चाल॥"

भगवत् प्रेम अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ है। इस प्रेम के उदय में दो कारण माने जाते हैं – एक तो स्वयं भगवान् की कृपा, दूसरा उनके अनन्य रसिक भक्तजनों की कृपा। इस प्रेम का हृदय में उन्मेष हो जाने के बाद यदि रसिकजनों का संग मिलता चला जाय तो जीव धीरे-धीरे साधना-पथ पर आरूढ़ हो जाता है।

कृपा द्वारा उद्भूत प्रेमांकुर के पोषण एवं संवर्धन के लिये दो साधन प्रसिद्ध हैं– नाम और वाणी। अपने प्रियतम के नाम का प्रेम सहित अधिक से अधिक जप एवं उनके रूप गुण का रसिक महानुभावों की वाणियों के द्वारा, अनुशीलन यदि बनने लगे तो कुछ ही दिनों में भगवत् प्रेम के निरहंकारिता (दीनता), उदारता, सहिष्णुता, निष्कामता, निर्भयता आदि अमोघ गुण हृदय में प्रकाशित होने लगते हैं।

इन गुणों के उदित होने के साथ ही प्रेमी उपासक के स्वभाव में परिवर्तन होने लगता है। अनुभवियों ने स्वभाव के स्थायी परिवर्तन को उपासक के हृदय में प्रेम वृद्धि का मानदंड माना है। उन लोगों की दृष्टि में स्वभाव के बदले बिना प्रेम पथ में प्रगति संभव नहीं है।

स्वभाव का परिवर्तन बहुत दुर्घट कार्य है किन्तु सभी धर्म संप्रदायों में आध्यात्मिक प्रगति के लिये यह अनिवार्य माना जाता है। मनुष्य के सामान्य विषयोन्मुख स्वभाव में भगवद् भाव को अपने अंदर स्थिर रखने की तनिक भी क्षमता नहीं होती और इसीलिये भगवद्मार्ग का ग्रहण कर लेने पर भी उसको शान्ति नहीं मिलती। पूर्ण लगन एवं सावधानता से भजन में प्रवृत्त होने पर ही इस दिशा में कुछ प्रगति संभव बनती है और स्वभाव में परिवर्तन आरम्भ होता है।

इसीलिये नेही नागरीदास जी ने कहा है कि जब तक स्वभाव नहीं बदलता और हृदय में भगवद् भाव स्थिर नहीं होता तब तक प्रेम पंथ का पाना कठिन है बनावट करने से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

"जब लग सहज न बदलई, फुरै न जहाँ तहाँ भाव।
पंथ पावनौ कठिन है, कीन्हो कहा बनाव॥"

हरि का मार्ग शूरवीरों का मार्ग है और इसमें कायरों का काम नहीं है—'हरि कौ मारग छै शूरानौ, नहिं कायरनौ काम रे।' भगवद्मार्ग में शूरवीरता का प्रदर्शन बाह्य त्याग के द्वारा नहीं होता। यह तो कोई भी व्यक्ति आवेश में आकर किसी समय भी कर सकता है।

इस मार्ग की सच्ची शूरवीरता अपने सहज स्वभाव के परिवर्तन में है। स्वभाव परिवर्तन का अर्थ है उपासक का जीवन एवं जगत के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदल जाना। प्रत्येक व्यक्ति जीवन और जगत को एक विशेष दृष्टि से देखता है। इस दृष्टि का निर्माण उसके प्राकृत संस्कार एवं उसके जीवन के आरम्भिक वर्षों में उस पर पड़े हुये प्रभाव करते हैं। यह विशिष्ट दृष्टि ही उसका व्यक्तित्व कहलाती है।

अपने सहज व्यक्तित्व को लेकर ही मनुष्य भगवद्मार्ग में प्रवेश करता है और सत्संग एवं स्वाध्याय के द्वारा यहाँ की रीतिभाँति को समझने की चेष्टा करता है। यदि वह बुद्धिमान और कृपापात्र है तो आरम्भ में ही उसको यह स्पष्ट हो जाता है कि वह उनसे सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण वाले लोगों की दुनियाँ है।

वह देखता है कि भजन मार्ग में प्रगतिशील भक्तजन उसी के समान जीवन जीते हैं और इसी जगत में रहते हैं, किन्तु इन दोनों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया सर्वथा विलक्षण है। वे कर्म करते हुये भी नहीं करते सुख दुःख भोगते हुये भी नहीं भोगते, जीते हुये भी नहीं जीते। वह देखता है कि इसीलिये इन भक्तजनों की प्रेममत्ता निरवधि है, इनका सुख चिरस्थायी है।

वह समझ लेता है कि इन लोगों के लिये यह सब केवल एक बात को लेकर सम्भव हुआ है कि इन्होंने अपना दृष्टिकोण बदल डाला है, अपने स्वभाव को जीत लिया है।

वह इन भक्त महानुभावों के चरणों का आश्रय लेकर उनके दिखाये हुये मार्ग का सर्वतोभावेन वरण करता है और अपने स्वभाव के, अपने दृष्टिकोण के परिवर्तन के लिये प्रयत्नशील हो जाता है।

लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में सफलता की पहली शर्त मन की एकाग्रता है। संसार में जितने सफल व्यक्ति हुये हैं या हैं उनमें अपनी इच्छानुसार किसी एक बिन्दु पर मन को एकाग्र करने की शक्ति सहज रूप से विद्यमान होती है। राजनीति, अर्थनीति, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में मनुष्य ने जो विभूतियाँ उपलब्ध की हैं वे सब एकाग्रता के ही परिणाम हैं।

धार्मिक क्षेत्र में एकाग्रता की उतनी ही और उससे कहीं अधिक आवश्यकता है। संसार के सम्पूर्ण धर्मों की साधन पद्धतियों का निर्माण इस एक लक्ष्य की प्राप्ति को ध्यान में रखकर किया गया है। भारत में जन्म लेने वाले प्रायः सभी धर्मों में मन के विरोध के लिये योगिक क्रियाओं को बहुत प्रभावशाली माना जाता है। भक्ति के क्षेत्र

में भी पांचरात्रादिक उपासना पद्धतियों में उक्त क्रियाओं को बहुत महत्त्व दिया गया है और मनोनिग्रह के लिये उनको अनिवार्य बताया गया है।

उपासना के क्षेत्र में प्रेमाभक्ति के विकास के साथ यौगिक क्रियाओं की उपयोगिता संदिग्ध बन गई। प्राणायामादि क्रियाओं के द्वारा मन एकाग्र तो बन जाता है किन्तु इस भक्ति (प्रेमाभक्ति) में मन की एकाग्रता के साथ उसकी प्रेमपूर्णता भी अपेक्षित है और योग की किसी भी क्रिया के द्वारा प्रेम की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। प्रेम एक भाव है और भावों को योगादिक दर्शनों में मन की चञ्चलता का हेतु और एकाग्रता का विरोधी माना जाता है। अतः भाव मार्ग में यौगिक क्रियाओं के द्वारा एकाग्रता सम्भव ही नहीं बनती।

सांसारिक प्रेम से अनन्त गुणशाली भगवत् प्रेम जब किसी भाग्यशाली के हृदय में उदित हो जाता है तो उसको अपने इष्ट के रूप-गुण के चिन्तन के अतिरिक्त कुछ नहीं सुहाता। वह उन्हीं को कहता है, उन्हीं को सुनाता है और सदैव उन्हीं के ध्यान में निमग्न रहना चाहता है। प्रेम का अमित बल वैभव ही इस प्रकार के प्रेमी के मन को सहज रूप से एकाग्र बनाये रखता है और उसके द्वारा अनायास ही विषय त्याग करा देता है।

इस प्रेम को प्रेमियों ने, निःस्साधन एवं कृपालभ्य माना है किन्तु प्रेमी रसिकों के संग एवं नाम वाणी के आश्रय को प्रेम पथ में प्रगति कारक स्वीकार किया है। अतः प्रेमा भक्ति के उपासकों को अन्य किसी साधन के फेर में न पड़कर प्रेम की ही वृद्धि के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। सम्पूर्ण हित साधन इसी के द्वारा होगा।

कतिपय भाग्यशालियों को छोड़कर संसार में अधिकांश लोग रुग्ण मन लेकर जन्म लेते हैं यहाँ जिनको स्वस्थ परिवेश और वातावरण मिल जाता है वे संभल जाते हैं, शेष बच्चों की मानसिक रुग्णता बढ़ती जाती है और वयस्क होते-होते उनका जीवन और जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण स्वार्थनिष्ठ, वक्र और संकुचित बन जाता है।

समाज में चारों ओर फैली हुई इस मानसिक रुग्णता को ज्यों की त्यों अपने अन्दर पाकर अधिकांश लोग इसे मनुष्य के मन की स्वाभाविक स्थिति समझ लेते हैं और इसी के अनुरूप अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के निर्माण की सिफारिश करते हैं। इस प्रकार के लोग कहते हैं कि हमें आदर्शों के चक्कर में न पड़कर मनुष्य स्वभाव की वास्तविकताओं को पहिचानना चाहिये और उसी के अनुकूल जीवन पद्धति की रचना करनी चाहिये, तभी वह व्यावहारिक और स्थायी होगी।

यह बात वैसी ही है जैसे किसी भवन का निर्माण करते समय यह कहना कि हमको इसकी सुदृढ़ता के लिये नींव खोदने के चक्कर में नहीं पड़ना। हमको तो जैसी स्वाभाविक भूमि प्राप्त है उसकी सतह पर ही हम इसको खड़ा कर देंगे। भवन के

स्थायित्व की दृष्टि से जितनी यह बात हास्यास्पद है उतनी ही रुग्ण मन के विचारों को लेकर उन पर जीवन दर्शन खड़ा करने वाली बात है।

हमारे सम्पूर्ण प्राचीन दर्शनों की नींव मनुष्य के अन्दर रहे हुये नित्य शुद्ध मुक्त अविनश्वर तत्त्व पर लगी हुई है और वे सब उसको आधार बनाकर मनुष्य स्वभाव की आहार्य एवं अर्जित रुग्णता को दूर करने के उपायों का विधान करते हैं।

शुद्ध धर्माचरण एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये मन की स्वस्थता नितान्त आवश्यक है। इसको प्राप्त करने के अनेक साधन शास्त्रों में वर्णित हैं किन्तु इस कठिन कलिकाल में इसका सर्वोत्तम उपाय प्रेमा-भक्ति का आश्रय ग्रहण करना है। भक्ति के केवल दो अङ्गों भगवान् के दिव्य लीला चरित्रों का कथन और श्रवण का ही अनुष्ठान यदि श्रद्धा विश्वासपूर्वक किया जाय तो कुछ ही दिनों में मन का शोधन होकर वह स्वस्थ बन जाता है और उसमें सहज प्राप्त भगवत् प्रेम का सम्यक् अनुभव करने की योग्यता का उदय हो जाता है।

श्रीमद्‌भागवत में स्वयं श्रीभगवान् का उद्‌घोष है कि मेरे परम पावन लीला चरित्रों के श्रवण कथन से जैसे-जैसे मन का मार्जन होता जाता है वैसे-वैसे उसमें, अंजन लगी आँखों के समान, सूक्ष्म वस्तु को देखने की सामर्थ्य आती जाती है।

भगवान् के विविध रूपों की भाँति प्रेम की भी अनेक छटायें संसार में देखी जाती हैं। जिस प्रकार अनेक रूपों में प्रकट होने वाले भगवान् एक ओर अखण्ड हैं इसी प्रकार अनेक आस्वादों में आस्वादित होने वाला प्रेम भी एक ओर अखण्ड होता है।

भगवान् की अनेक रूपता के मूल में विभिन्न स्वभाव, गुण धर्म वाले भक्तों किंवा साधकों की विभिन्न रुचियाँ एवं इच्छायें हैं उसी प्रकार प्रेम की विविधता के प्रेरक प्रेमी के विभिन्न लोगों के साथ, अनेक विध भाव सम्बन्ध होते हैं। एक ही व्यक्ति को उसके आश्रितजन उसकी संतति उसके मित्रगण एवं उसकी पत्नी भिन्न जातीय प्रेमों की प्रेरणा देते हैं। अतः आश्रितजनों के प्रति उसका प्रेम करुणापूर्ण, सन्तान के प्रति वत्सलतापूर्ण, मित्रों के साथ प्रियतापूर्ण एवं पत्नी के साथ शृङ्गारपूर्ण होता है।

भगवत् प्रेम भी, इस प्रेम की प्रेरणा देने वाले प्रेमी भक्तजनों के भाव के अनुसार अनेक प्रकार का होता है। इन सबमें कुछ बातें तो स्वभावतः सर्वसामान्य होती हैं और कुछ विशिष्ट होती हैं जो उस प्रेम स्वरूप के प्रेरक महानुभाव के विशेष दृष्टिकोण पर आधारित होती हैं।

प्रेमावतार श्रीहित हरिवंश गोस्वामी प्रेम की एक नई विधा के स्थापन के लिये पृथ्वी पर पधारे थे। उनके द्वारा जनित प्रेम किसी लौकिक किंवा वैदिक बन्धन को स्वीकार नहीं करता। वह स्वयं ही साधन और स्वयं ही साध्य है। अतः उसकी प्राप्ति के लिये किसी व्रत, संयम, नियम, ज्ञान, ध्यान, आचार एवं कर्मानुष्ठान की आवश्यकता

नहीं होती। इन सबमें श्रद्धा रखने का परिणाम इस प्रेम की प्राप्ति के लिये घातक सिद्ध होता है और इस प्रकार के लोग उसको पाने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं।

शुभ अशुभ मान अपमान सुदिन कुदिन वाद, विवाद, स्वर्ग नरक की भावना के लिये इस प्रेम में कोई स्थान नहीं होता। ये सब प्रेम की प्रकृति के विरुद्ध हैं और जिस उपासक के चित्त में इन सबकी प्रतीति होती है वह प्रेम प्राप्ति के अयोग्य होता है।

श्रीहित हरिवंश द्वारा जनित प्रेम के सर्वसाधन शून्य मार्ग का अधिकार केवल उन्हीं को प्राप्त होता है जिन पर वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा की कृपा होती है और नागरी श्रीराधा तब कृपा करती हैं जब श्रीहरिवंश उस जीव के सिर पर अपना कर कमल रख देते हैं। अतः श्रीध्रुवदास कहते हैं कि इस प्रेम की प्राप्ति के लिये अहर्निश श्रीहरिवंश के चरण कमलों का भजन करना चाहिये और उसके प्रताप से युगल श्रीश्यामाश्याम की अद्‌भुत छवि का नेत्र भर-भर कर पान करना चाहिये।

प्रेम का प्राण समर्पण है। समर्पण भाव के उदय हुये बिना प्रेम अपनी उच्च एवं परम सुखमयी कोटियों को स्पर्श नहीं करता। प्रेमपात्र के प्रति आत्म समर्पण करके ही प्रेम में वह ज्योति जागती है जो प्रेमी के सम्पूर्ण जीवन को आलोकित करके उसको निर्भय बना देती है।

प्रेम जितना बलवान होता है, उसमें समपण भाव उतना ही प्रबल होता है। सामान्य जागतिक प्रेम में भी समर्पण दिखलाई देता है मनुष्य अपने परिवार एवं प्रिय-जनों के लिये अपने सुख दुःख की परवाह नहीं करता और हर प्रकार से उनको सुखी बनाने की चेष्टा करता है। संसार में माता का प्रेम अपने उत्कट समर्पण भाव के लिये प्रशंसित है।

भगवत् प्रेम में शरणागति का बहुत महत्त्व है। सर्वतोभावेन भगवान् की शरण ग्रहण किये बिना कोई भगवन्मार्ग में प्रगति नहीं कर सकता और समर्पण के बिना शरणागति का कुछ अर्थ नहीं रहता।

समर्पण का अर्थ है प्रेमपात्र के हाथों विना मोल बिक जाना। संसार-व्यवहार में भी किसी न किसी के हाथों बिकना तो पड़ता ही है, उसकी आधीनता तो स्वीकार करनी ही पड़ती है किन्तु वह किसी न किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष लाभ के बदले में किया जाता है। बिना मोल बिकना, बिना किसी बदले की आशा के आत्म समर्पण करना प्रेमी ही जानता है।

अनेक प्रकार के लौकिक पारलौकिक लाभों की आशा रखकर भगवान् का भजन स्मरण करना संसारियों की रीति है। इस प्रकार के भजन में व्रत उपवास, पूजा पाठ, दानदक्षिणा आदि बाह्य विधानों की प्रचुरता होती है किन्तु भाग्य की थोड़ी प्रति-कूलता होते ही उनका सारा श्रद्धा विश्वास बालू की भीत की तरह ढह जाता है और विपत्ति का दायित्व वे भगवान् के ऊपर डाल देते हैं।

इसके विपरीत श्रीश्यामा श्याम के चरण कमलों में आत्म समर्पण करने वाला भक्त हर स्थिति में प्रसन्न रहकर उनसे उनके लिये ही प्रेम करता रहता है। वह यह समझता है कि अप्रिय आचरण करने पर भी प्रिय तो प्रिय ही रहता है। अनेक दोषों से दूषित भी अपना शरीर किसको प्रिय नहीं होता ?

"कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः।
अनेक दोष दुष्टोपि कायः कस्य न वल्लभः ।।"

श्रीहितजी महाराज का धर्म एक फूलों के बगीचे के समान है इसमें श्याम और गौर रंग के अनेक फूल खिले हुये हैं श्रीबिहारी लाल श्याम हैं उनकी सब सखियाँ श्याम हैं श्रीप्रिया गौर हैं और उनकी सब सखियाँ गौर हैं इसके अतिरिक्त श्रीयमुनाजी श्याम हैं और पुलिन गौर है। कुछ कुंजें श्याम पुष्पों से छाई हुई हैं कुछ कुंजें गौर पुष्पों से छाई हुई हैं श्रीवृन्दावन में सर्वत्र गौर श्याम पुष्प खिले हुये हैं कहना यह चाहिये श्रीवृन्दावन फूलों का ही धाम है। इस धाम की उपासना उन्हीं के द्वारा संभव होती है जिनके हृदय में कोई उत्तेजना नहीं होती और शान्ति छाई रहती है। इसके साथ सदैव प्रेम प्यार की फूलन छाई रहनी चाहिये। श्रीध्रुवदास जी ने इस बात को अपने एक दोहे में बड़ी सुन्दरता से कहा है—

फूल जहाँ तहाँ देखिये, श्रीवृन्दावन माँहि।
द्रुम बेलि खग सहचरी, बिना फूल कोऊ नाँहि ।।

चित्त की फूलन के बिना यह उपासना इसके असली रूप में बननी नहीं है और यह फूलन अनेक प्रकार की उत्तेजनाओं से गर्म बने हुये हृदय में आती नहीं है क्योंकि आग के ऊपर बाग नहीं नहीं लग सकता है अतः घर में तथा अन्यत्र इस प्रकार से व्यवहार करना चाहिये कि हमारे द्वारा दूसरों को उत्तेजना न हो और दूसरों के द्वारा हमको न हो। इसके लिये अपनी आन-बान और अभिमान को धीरे-धीरे छोड़ देना पड़ता है। किसी एक पक्ष को दृढ़पूर्वक पकड़कर उस पर जगे रहने पर भी शान्ति भंग नहीं होती है।

इसके अभ्यास के लिये एक डायरी रख लो और तुम्हारे मन में क्रोध और अभिमान उत्तेजना जब-जब हो उस डायरी में नोट करलो या तुम्हारे किसी आचरण से दूसरे को उत्तेजना आई हो तो उसे लिखो। सोने से पहले अपनी डायरी देखो और इस प्रकार के व्यवहार के लिये गहरा पश्चाताप करो, तो कुछ दिनों में मन की गति बदलने लगेगी और श्रीव्यासनन्दन के भजन का अधिकार प्राप्त होने लगेगा। उपासकों को अपना भवन बुहारना है। दूसरा क्या करता है यह नहीं देखना है। कृपा वैसे निरंकुश मानी जाती है और वह उपासक के अन्दर किसी योग्यता की अपेक्षा नहीं रखती किन्तु यदि सम्पूर्ण रूप से इष्ट के ऊपर निर्भर हो जाया जाय और तन मन को

सम्पूण चेष्टायें उनके चरणों में अर्पित कर दी जाँय तो कृपा प्राप्ति के संयोग अधिक बन जाते हैं।

जितने जाग्रत स्वप्न व सुषुप्ती तीनों अवस्था में भजन न हो उतने भजन अधूरा है। तथा भजन में चित्त द्रवीभूत अवश्य रहना चाहिये। द्रवीभूत चित्त में ही भगवत् प्रतिबिंब पड़ता है। और भगवत् चिन्तन से ही चित्त द्रवीभूत होता है तथा हल्के फुल्के भजन से कुछ नहीं होता। भजन डीप होना चाहिये, बाहरी वातावरण से मनको बचाना चाहिये। भजन से ज्यादा दूर नहीं जाना चाहिये भजन के घेरे में ही रहना चाहिये और बात तो क्या दूसरी उपासना की बात भी सुनने से मन अपने भजन से दूर हो जाता है अपने ही भाव की बात कहनी सुननी चाहिये जिससे भजन में गहराई आवे। महापुरुषों ने अपनी सारी श्रद्धा सब तरफ से समेटकर एकमात्र श्रीराधालाल के चरणों में लगादी उसे एक बाल भर कहीं से नहीं निकलने दिया तभी तो उन लोगों ने सब सुख पाये। भजन के क्षेत्र में गुरु की बताई क्रियाओं के सम्बन्ध में कोई प्रश्न मन में नहीं उठने देना चाहिये और पूर्ण श्रद्धा के साथ उनकी बताई बातों का पालन करना चाहिये। तभी सफलता मिलती है किसी भी स्थिति में उस समय को तथा उन मालाओं को छूटने नहीं देना चाहिये। ईश्वर का प्रेम ही बुद्धि का प्रारंभ हैं यह सत्य है। गीता में भगवान् ने कहा है जो लोग अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं उनकी बुद्धि को मैं प्रकाश प्रदान करता हूँ।
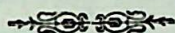
★ प्रेम ही सम्पूर्ण कुशलता का मूल है, इसको अन्य किसी के द्वारा रक्षा की अपेक्षा नहीं है तथा यही पूर्ण सुख सम्पत्ति है।

★ प्रेमी अनन्यों को प्रकट भाव की उपासना में ही सुख मिलता है। श्रीहरिवंश प्रेम का प्रकट रूप हैं इसीलिए सेवकजी ने सर्वत्र प्रेम भाव के स्थान में श्रीहरिवंश नाम का उपयोग किया है।

★ श्रीहित हरिवंशचन्द्र की उपासना नित्य संयोगमयी है, उसमें स्थूल विरह के लिए स्थान नहीं है।

★

धर्म और समाजवाद

समाजवाद को एक नितान्त मौलिक और क्रान्तिकारी योजना होने का यश प्राप्त है, और वास्तव में वह इस योग्य है भी। भौतिक विज्ञान के दायरे में जो स्थान आइन्सटाइन के सिद्धान्तों का है, वही स्थान, प्रायः उन्हीं कारणों से, समाजशास्त्र में मार्क्स के सिद्धान्तों का है। आइन्सटाइन ने जिस प्रकार न्यूटन आदि पूर्ववर्ती धुरन्धर वैज्ञानिकों द्वारा निबद्ध भूमिका का संशोधन करने के बजाय एक नई वैज्ञानिक भूमिका की क्रान्तिकारी कल्पना पर ही अपने 'वाद' (सापेक्ष्यवाद) की नींव रखी, उसी प्रकार मार्क्स ने भी समाजशास्त्र की रूढ़िपूत भूमिका का आश्रय न लेकर एक नवीन और व्यापक अपने 'वाद' की इमारत खड़ी की और फिर जो असली अर्थ में मौलिक है, उसका क्रान्तिकारी होना तो अनिवार्य है ही।

आइन्सटाइन और मार्क्स के सिद्धान्तों में एक और प्रकार का भी साम्य है। जैसे आइन्सटाइन ने भौतिक विज्ञान की मूल भूमिका पर किये गये संशोधन के विशाल ढेर को एक-बारगी ही निराधार और संकुचित सिद्ध कर दिया, उसी प्रकार मार्क्स और एंजेल्स ने समाज-रचना की तमाम कल्पनाओं को एक साथ ही व्यर्थ और प्रत्याघाती साबित कर दिया।

सापेक्ष्यवाद और समाजवाद की प्रस्तावना में जितना साम्य है, उतना ही उनकी प्रतिपादन प्रणाली की मर्यादाओं में अन्तर भी है। भौतिक विज्ञान (सापेक्ष्यवाद) का क्षेत्र पदार्थ-शक्ति, देश और काल आदि के कार्य-नियमों को 'जानने' तक ही सीमित है, और समाजशास्त्रका क्षेत्र मानव-जीवन को 'समझने' और साथ-साथ उसको व्यवस्थित और कल्याणगामी बनाने तक फैला हुआ है। दोनों शास्त्रों का प्रतिपादन प्रणाली का भेद स्पष्ट है। एक तो अपने तत्त्वों के क्रिया-कलाप को समझकर अपने को कृतकृत्य मान लेता है, उसके 'स्वरूप' को जानने की न तो उसे इतनी बड़ी चिन्ता ही है और न उसके साधनों में इस कार्य की क्षमता ही। दूसरा मानव-जीवन के 'स्वरूप' को समझे बिना आदर्श सामाजिक व्यवस्था की कल्पना ही नहीं कर सकता।

समाजवाद का जन्म वैज्ञानिक युग में हुआ है और इसका हेतु भी समाज में से उस अन्यायपूर्ण विषमता को दूर करने का है, जिसका घृणिततम रूप वैज्ञानिक साधनों के द्वारा ही विकसित हो पाया है। परन्तु समाजवाद इसके लिए विज्ञान या वैज्ञानिक

साधनों को दोषी नहीं ठहराता। उसकी राय में यह दोष उस सामाजिक व्यवस्था का है, जो केवल विज्ञान का दुरुपयोग ही सहन नहीं करती, उसको प्रोत्साहित भी करती है। समाजवाद का विश्वास है कि जब हम मानव-जीवन की जाँच वैज्ञानिक ढंग में करेंगे, तभी हम किसी आदर्श और कल्याणप्रद योजना का दर्शन कर सकेंगे। किन्तु विज्ञान इस महान कार्य के लिए सर्वांश में तैयार नहीं है। इसका कारण यह है कि विज्ञान का कार्यक्षेत्र समाजशास्त्र के कार्यक्षेत्र से भिन्न है। भौतिक विज्ञान सम्बन्धों (Relations) के आधार पर ही कार्य कर सकता है; पर समाजशास्त्र को मानव-जीवन को उसके समाज से सम्बन्धित रूप में भी अध्ययन करना पड़ता है और उसके सम्बन्ध-हीन वैयक्तिक रूप में भी।

कुछ वर्ष पूर्व तक विज्ञान अपने को सर्वसामर्थ्यवान मानता था। उसने अपना एक मापदंड बना रखा था, और उसी से नापकर वह किसी वस्तु को सत्य या असत्य करार दे देता था। किन्तु आज ज्ञानकी वृद्धिके साथ उसमें सौम्यता का उदय हो रहा है, और उसका पहला प्रमाण यह है कि पहले उसने जिन बातों को अपने नवीन ज्ञान की धुन में अवैज्ञानिक या मिथ्या बतला दिया था, आज उनके प्रति यह आदरयुक्त तटस्थवृत्ति रखने को तैयार है। वह अपनी मर्यादाओं से अभिज्ञ होता जा रहा है, और यह उसके तथा संसार के कल्याण की दिशा है।

जिन कई बातों को समझने में विज्ञान अपने को असमर्थ पा रहा है, उनमें से एक मनुष्य की वह अन्तरवृत्ति भी है, जिसे हमें उसके एक रूप में धार्मिक भावना कहते हैं। यह मानव-व्यक्तित्व का सम्बन्धहीन अङ्ग है, और सम्बन्धहीन कहने से हमारा तात्पर्य इतना ही है कि इसमें वैसे स्थूल सम्बन्धों की गुंजाइश नहीं है, जिनका विश्लेषण करके विज्ञान किन्हीं निर्णयों पर पहुँच सके।

इस अन्तरवृत्ति को समझना तो दूर रहा, अभी तक विज्ञान मानव-मस्तिष्क के विश्लेषण-कार्य में ही उलझा हुआ है। मानसशास्त्र का सुप्रसिद्ध व्यवहारवाद (Behaviourism) जो सबसे अधिक वैज्ञानिक होने का दावा करता है, अपने कार्य में कितना सफल हो सका है, यह विद्वानों से छिपा नहीं है। उसके द्वारा किये गये कितने ही साधारणीकरण (Generalisations) हास्यास्पद बनते जा रहे हैं। किन्तु यही वह 'वाद' है, जिसका इस दिशा में समाजवाद को सबसे अधिक आश्रय है। व्यवहारवाद धर्म को मानव की सहज वृत्ति नहीं मानता; किन्तु हमको उसकी इस बात पर आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह तो मस्तिष्क की भी कोई विशिष्ट सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उसकी राय में जिनको हम मानसिक प्रक्रियाएँ कहते हैं, वे केवल शारीरिक हरकतें ही हैं। जब हम यह कहते हैं कि हम विचार कर रहे हैं, तो इसका वास्तविक अर्थ यह होता है कि हमारा शरीर एक विशेष प्रकार से 'व्यवहार' कर रहा है। जब हम यह कहते हैं कि हम किसी वस्तु को देख रहे हैं, तो इसका अर्थ इतना ही होता है कि हम उस वस्तु पर अपनी पुतलियों को नियोजित कर रहे हैं।

ये बातें जितनी बेतुकी पहली बार सुनने पर लगती हैं, उतनी ही बाद में अच्छी तरह जाँच करने पर भी यह सम्भव हो सकता है कि हम दूसरे व्यक्ति के किसी कार्य विशेष – मसलन, व्याख्यान आदि देने—को शारीरिक प्रतिक्रिया का ही परिणाम मानें; किन्तु यह कैसे सम्भव है कि हम स्वयं अपने अन्दर भी विचार-जैसी किसी चीज को स्वीकार न करें। हममें से प्रत्येक का यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि हमारे अन्दर भाव, कल्पना और विचारशक्ति का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है, और मानवमात्र के अन्दर ये शक्तियाँ विद्यमान हैं। व्यवहार में हमें इस बात पर कभी अविश्वास नहीं होता। कम्पास की सुई, जो चुम्बक की गति का अनुसरण करती रहती है, व्यवहार-वादी की राय में चुम्बक को देखती रहती है; किन्तु हम यह जानते हैं कि हमारे देखने में कम्पास की सुई के देखने से और कुछ अधिक अपेक्षित है, और वह अपेक्षा उन चीजों की है, जिनको हम भाव, कल्पना किंवा विचारशक्ति कहते हैं। व्यवहारवाद इन तमाम मानसिक क्रियाओं को शारीरिक हरकतों के रूप में परिणित कर देना चाहता है; परन्तु उसका यह प्रयास कितना विवेक शून्य है, इसको प्रसिद्ध मानस शास्त्री डॉ० ब्रॉड निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—"हम दलील के लिए यह स्वीकार किये लेते हैं कि जब-जब हम एक लाल धब्बे का अनुभव करते हैं, तब-तब हमारे मस्तिष्क के किसी भाग में अणुओं की हरकत होती रहती है। कम-से कम एक स्थल ऐसा है, जहाँ इन दो (मानसिक और शारीरिक) बातों को एक-दूसरे के रूप में परिणित करना स्पष्टतया निरर्थक है। इन दोनों में एक चीज तो ऐसी है, जिसे हम लाल धब्बे का ज्ञान कह सकते हैं, और दूसरी ऐसी है, जिसे हम 'अणुओं की हरकत' कह सकते हैं। अत्यन्त प्रगतिशील विचारक को भी, जिसने कभी मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में काम किया है, यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये दोनों चीजें एक नहीं, दो हैं; क्योंकि इन दोनों में दो प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं। यह कहा जा सकता है कि ये दोनों एक ही लक्षण के लिए दो नाम हैं, उसी प्रकार जैसे एक सम्पन्न व्यक्ति के लिए अमीर और धनवान; किन्तु यह स्पष्ट है कि बात ऐसी नहीं है। प्रथम दृष्टि में समझ में न आने पर भी यह बात इस ढंग से विचार करने पर फौरन ध्यान में आ जाती है। कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जो अणुओं की हरकत' वाले लक्षण के सम्बन्ध में पूँछे जा सकते हैं; परन्तु उनको 'ज्ञान' वाले लक्षण के बारे में पूँछना मूर्खतापूर्ण होगा। 'अणुओं की हरकत' वाले लक्षण के सम्बन्ध में यह मजे से पूछा जा सकता है कि वह हरकत तेज है या धीमी, सीधी है या वर्तुलाकार? किन्तु लाल धब्बे के ज्ञान वाले लक्षण के सम्बन्ध में यह पूछना कि वह तेज है या धीमा, सीधा है या वर्तुलाकार, कितना बेडौल है। इसी प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध में यह पूँछना कि वह स्पष्ट है या धुँधला, बिलकुल युक्तियुक्त है; किन्तु अणुओं की हरकत के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि वह स्पष्ट है या धुँधली, कितना बेमौजूँ है। अतः यह सिद्ध करने की कोशिश कि 'इस-इस ढ़ंग का ज्ञान होना' और 'इस-इस किस्म की शारीरिक चेष्टा होना'—ये दोनों एक ही बात हैं, स्पष्ट तथा भ्रमपूर्ण हैं, और यही वह बात है, जो व्यवहारवादके अनुयायी को करनी पड़ती है।"

जब व्यवहारवाद मस्तिष्क जैसे मानव के अपेक्षाकृत स्थूल भाग को समझने में इस प्रकार की मौलिक भूलें करता है, तो हम उससे क्या आशा करें कि वह कभी मानव की अत्यन्त सूक्ष्म अंतरवृत्तियों को समझ पायेगा? धार्मिक वृत्ति को उसका अमौलिक करार देना भी, इसीलिए, हमारी नजर में कोई वजन नहीं रखता। फिर व्यवहारवाद धर्म को सर्वसाधारण वृत्ति (Universal trait) मानता है; पर सहज वृत्ति तथा सर्वसाधारण वृत्ति की सीमा-रेखा कहाँ है, इसका निर्णय आज तक नहीं हो सका है। वास्तव में मानव-प्राणी का स्नायुमंडल (Nervous System) तथा मस्तिष्क इतना विकसित और जटिल हो चुका है कि पैवलौव आदि व्यवहारवादी मानस-शास्त्रियों द्वारा पशु-प्राणियों पर किये गये प्रयोग मानव-मस्तिष्क की निम्नतम क्रियाओं पर प्रकाश डालने के सिवाय कुछ अधिक नहीं कर सकते और उपर्युक्त पद्धतियों का आश्रय लेकर मानव-प्रकृति को समझने का प्रयास समाजवाद जैसे लोक-मंगलकारी 'वाद' के अनुरूप नहीं है। इस पद्धति के द्वारा मानवव्यक्तित्व को सरल बनाया जा सकता है—भय, काम आदिक इनी-गिनी मौलिक वृत्तियों में सीमित किया जा सकता; किन्तु सन्तोषजनक रीति से उसे सुलझाया नहीं जा सकता, और वह सरलता, जो व्यक्तित्व-नाश का मूल्य देकर प्राप्त होती है, कभी आदरणीय नहीं हो सकती।

हम यह समझते हैं कि समाजवाद को एक नये समाज की रचना करनी है और साथ-साथ मानव प्रकृति में से उन घृणित तत्वों को भी निकालना है, जिनसे सृष्टि का यह नन्दन-कानन नरक बना हुआ है। हम यह भी समझते हैं कि धर्म का ऐतिहासिक रेकार्ड कलंकहीन नहीं है, और संसार का ऐसा कोई पाप नहीं है, जो धर्म के नाम पर नहीं किया गया हो; किन्तु फिर भी हम कम-से कम विज्ञान की दुहाई देकर इस वृत्ति को मानव के अन्दर से निकाल नहीं सकते। संसार के बड़े-बड़े अनुभवी विद्वानों की राय में यह एक स्वतन्त्र वृत्ति है। जैसा कि कुछ लोगों का विश्वास है, भय किंवा आश्चर्य इस वृत्ति के जनक नहीं हैं। हाँ, किसी अंश में ये दोनों या इस प्रकार के और कोई भाव इस वृत्ति को जाग्रत करने वाले माने जा सकते हैं।

रूस में, जहाँ आजकल समाजवाद व्यावहारिकता की कसौटी पर कसा जा रहा है, प्रारंभ से ही धर्म को प्रगति विरोधी और निरर्थक घोषित कर दिया गया है; किन्तु जिस प्रकार मार्क्स के सिद्धान्तों का निर्णय वहाँ कितने ही स्थलों में मानव-स्वभाव और परिस्थितियों के आधार पर करना पड़ा है, उसी प्रकार धार्मिक प्रश्नों का भी। चार वर्ष पूर्व वहाँ किसी भी धर्म का अनुयायी होना गुनाह था यहाँ तक कि धार्मिक विचार के व्यक्तियों को वहाँ किसी प्रकार का मताधिकार भी नहीं दिया गया था; किन्तु सोलह-सत्रह वर्ष के अनुभव ने वहाँ के सूत्रधारों के आगे इस प्रकार के दमन की निरर्थकता साबित कर दी है, और अब वहाँ धार्मिकता समाजद्रोह होते हुए भी कानून की दृष्टि में अपराध नहीं है। अब वहाँ प्रचार के द्वारा 'धर्म के विष' को मारने की कोशिश की जा रही है, और यह समझकर कि अनेक व्यक्ति महज तफरीह के लिए ही

गिरजाघरों में जाते हैं, वहाँ सिनेमा, नाटक आदि मन बहलाने वाले साधनों का प्रचार प्रचुर रूप से किया जा रहा है।

सिनेमा नाटक बशर्ते कि वे सुरुचिपूर्ण हों, स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक वस्तुएँ हैं। पर इस बात को स्वीकार करते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि 'धर्म का विष' मारने के लिए ये सर्वत्र असमर्थ ही रहेंगे। कारण, प्रत्येक समझदार व्यक्ति को गिरजाघर और सिनेमा हाल दोनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। भारतवर्ष में तो आधीरात तक सिनेमा देखने के बाद प्रातःकाल ही किसी मन्दिर की प्रार्थना में शामिल होते हुए लोगों को देखना, साधारण अनुभव की बात है। सिनेमा या अन्य इस प्रकार के साधनों का मोहक वातावरण अधिक काल तक मानव की सौन्दर्य-पिपासा को शान्त नहीं कर सकता। मानव तो स्वभाव से ही अनन्त सौन्दर्य, अनन्त सत्य और अनन्त कल्याण का उपासक है, और उसे इससे कम में शान्ति नहीं है। धर्म इन्हीं तीनों का शुद्धतम रूप उसके सामने रखने की चेष्टा करता है। हिन्दू-धर्म की तीन धाराएँ—भक्ति, ज्ञान और कर्म—इन्हीं तीन अनन्त शक्यताओं की ओर प्रवाहित होती हैं। यदि हम यह कहें कि मानव-व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना ही धर्म का लक्ष्य है, तो अत्युक्ति न होगी।

'स्व' और 'पर' की व्यावहारिक भिन्नता का मान मानव की बुद्धि के उदय के साथ ही हुआ था, और यहीं से वह पशु-जगत से जुदा होने लगा था। यहीं से उसके हृदय में उन प्रश्नों का विकास भी शुरु हुआ था, जिन पर पैर रखता हुआ वह सभ्यता के शिखर की ओर बढ़ रहा है। किन्तु उसका यह दुर्भाग्य है कि पशुता से उसको 'विलक्षण' बनाने वाली उसकी यह दिव्य शक्ति ही उसकी अधिकांश चिन्ताओं और व्यथाओं का कारण बनी हुई है। वह जिस बुद्धि के बल पर 'मानव' बना है, वह 'स्व' और 'पर' के विसंवाद से परे जाना नहीं चाहती; उधर उसके अन्तर के स्वर 'संवाद' की खोज में व्याकुल बने रहते हैं। कला में, साहित्य में और धर्म में उसके अन्तर के उसी संवाद का विकास भरा है, और उसी विकास की अनन्तता का दर्शन हमको 'रसोवैसः' में होता है। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि समाजवाद, जिसका जन्म ही समाज के भिन्न-भिन्न अङ्गों में स्थायी और सच्चा 'संवाद' (Harmony) उत्पन्न करने के लिए हुआ है, मानव की इस संवादाभिमुख वृत्ति को प्रोत्साहित करने के बजाय उसका शत्रु बना हुआ है!

मनुष्य की अन्तर-प्रकृति के लिए धर्म उतनी ही आवश्यक वस्तु है, जितनी उसकी बाह्य-प्रकृति के लिए रोटी। क्रान्ति की जितनी ताकत आज हम रोटी के प्रश्न में महसूस कर रहे हैं, उससे कहीं अधिक हमारा इतिहास धर्म के प्रश्न पर अनुभव कर चुका है। आज हम उस इतिहास को 'अन्धकार-युग' का इतिहास बतलाते हैं, तो पूर्ण सम्भव है कि कोई आने वाला युग हमारे इस एकमात्र रोटी के प्रश्न वाले युग को 'बर्बरता-युग' बतलावे!

धर्म ने अपने स्वर्ण काल में भारतवर्ष को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी रोटी के प्रश्न को हल करने की स्वतन्त्र और वैज्ञानिक चेष्टा नहीं की। उसने केवल इस प्रश्न को अपने रङ्ग में रँगकर इसको 'सरल' बनाने की चेष्टा की, किन्तु वह इसमें सफल नहीं हो सका। क्यों समाजवाद आर्थिक प्रश्न की परिधि में सारे मानव-जीवन को सीमित करके फिर वही गलती नहीं कर रहा है?

मानव-प्रकृति के पाशविक तत्त्वों को दबाने की चेष्टा समाजवाद को करनी पड़ रही है, और यही चेष्टा बड़े पुराने काल से धर्म भी करता चला आया है। वह सर्वत्र विशाल सामाजिक योजना नहीं बना सका, यह तो स्पष्ट ही है; किन्तु वह उन वृत्तियों को शमन करने की कोशिश सदैव करता रहा है, जिन्हें भड़काने से समाज में हृदय-हीनता और विषमता का उदय होता है। अन्धसंग्रह की वृत्ति का वह सदैव विरोधी रहा है, और उसने धनवानों को सदैव घृणा की नजर से देखा है। भारतीय पुराणों ने लक्ष्मी की सवारी के लिए उल्लू को तजवीज किया है, और बाइबिल ने अपने स्वर्ग में धनवानों का प्रवेश द्वार सुई के छेद से भी छोटा मान रखा है।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमें अपने काल में धर्म का वह रूप देखने को मिला है, जो उसका शव कहा जा सकता है। यह इतना विकृत है कि इसे देखकर धर्म के शुद्ध रूप की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन हो गया है। धर्म प्रचलित रूप से किसी भी समझदार व्यक्ति को घृणा हो जाना स्वाभाविक है, और वर्तमान धर्म-विरोधी आन्दोलन का बीज है भी इसी सात्विक घृणा में। किन्तु किया क्या जाय?

हम यदि चाहें तो सारे विश्व से दूर रह सकते हैं; परन्तु अपने-आपसे बचना—दूर रहना—हमारे लिए असम्भव है। धर्म हमारे अन्तर की माँग है, और हमारी बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम अपनी इस अनिवार्य वृत्ति को उज्ज्वल बनाये रखने की चेष्टा करें। वैज्ञानिक शिक्षा ने हमें बहमों के पार ले जाकर शुद्ध तत्त्व-दर्शन का तरीका बतलाया है। क्या यह तरीका इस दिशा में लाभ पूर्वक आजमाया नहीं जा सकता?

श्रीश्यामा श्याम का नित्य विहार एक अनादि और अनन्त लीला है और इसमें एक ही भाव अविचल रूप से स्थित रहता है। इस भाव-समुद्र में श्रीश्यामाश्याम की विभिन्न प्रेम लीलायें तरङ्गों की भाँति उन्मज्जन-निमज्जन करती रहती हैं।

रसिकवर श्रीवंशीअलि जी

उत्तर भारत में, विक्रम की सोलहवीं सत्रहवीं सदी में, सगुण भक्ति का जो अद्भुत पुनरुज्जीवन हुआ उसमें एक ओर सीताराम और दूसरी ओर राधाकृष्ण इष्ट रूप में प्रतिष्ठित हुये। इन दोनों युग्मों को लेकर अवधी और व्रजभाषा में जिस परमोत्कृष्ट भक्ति साहित्य का सृजन हुआ वह आज हिन्दी साहित्य का गौरव एवं उसकी अक्षय थाती माना जाता है। रामाश्रयी शाखा के साहित्य से कृष्णाश्रयी शाखा का साहित्य अधिक विपुल एवं वैविध्यपूर्ण है। इस शाखा का साहित्य आरम्भ से ही दो धाराओं में बँट गया—एक में श्रीकृष्ण की प्रधानता थी और दूसरी में श्रीराधा की। वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदायों के साहित्यों में श्रीकृष्ण की प्रधानता है और हरिवंश गोस्वामी एवं स्वामी हरिदास के सम्प्रदायों के साहित्य में श्रीराधा की। प्रथम धारा के साहित्य का स्थायी भाव श्रीकृष्ण रति है और द्वितीय धारा का श्रीराधा रति। इन साहित्यों का वास्तविक आस्वादन तो उक्त विशिष्ट रतियों से युक्त भक्तगण ही करते हैं किन्तु राधाकृष्ण की सम्पूर्ण लीला मानव धरातल पर निष्पन्न होती है। अतः सामान्य रतिवान काव्य रसिक भी इनके पठन श्रवण से भावायित और आनन्दित हो जाते हैं।

आज की वार्ता में हम जन अल्प ज्ञात कवि श्रीवंशीअलि का परिचय दे रहे हैं वे भक्ति-साहित्य की राधा प्राधान्य वाली धारा से सम्बन्धित थे। वंशीअलिजी के पूर्व पुरुष श्री मिश्रनारायण थे जिनका परिचय नाभाजी ने छप्पय संख्या १३४ में दिया है। इसके अनुसार इनके वंश का नाम नवला वंश था और ये श्रीमद्भागवत के प्रितम वक्ता थे श्री मिश्रनारायण जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे और लाहौर के रहने वाले थे। बाद में ये मथुरा में आकर बस गये थे। इन्हीं के वंश में नयी पीढ़ी पर श्रीवंशीधर उत्पन्न हुये जिनकी वाणी रचना नाम वंशीअलि था। श्रीवंशीअलि का जन्म दिल्ली में, आश्विन शुक्ला १, सं० १७६४ को हुआ। उनके पिता प्रद्युम्नजी का औरंगजेब के पुत्र बहादुर शाह के दरबार में विशेष सम्मान था वे दिल्ली के प्रतिष्ठित नागरिक माने जाते थे।

उनके वंशधरों में प्रचलित एक कथा के अनुसार श्रीवंशीअलिजी का श्रीराधा के प्रति संस्कारगत प्रेम था। कहा जाता है कि जन्म लेने के बाद वे कतई रोये नहीं और मौन पड़े रहे। इस असमान्य बात से उनके माता पिता बहुत चिन्तित हुये और उनको

अपने बालक का जीवन संदिग्ध प्रतीत होने लगा। कई दिन बाद बरसाने से एक महात्मा उनके घर आये और उन्होंने बालक की शय्याके निकट बैठकर श्रीराधा का गुण गान किया जिसको सुनते ही बालक श्रीराधा-राधा कहकर रोने लगा और उसके माता पिता की चिन्ता दूर हुई।

वंशीधर कुशाग्र बुद्धि और मेधावी बालक थे और थोड़े दिनों में ही उन्होंने संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। आरम्भ से ही उनकी श्रीमद्-भागवत के अध्ययन में अधिक रुचि थी और आगे चलकर वे उसके सुप्रसिद्ध वक्ता हुए। जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह के श्रीमद्भागवत से सम्बन्धित एक प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस चातुर्यपूर्ण पाण्डित्य के साथ दिया कि राजा मुग्ध हो गया और जब तक जीवित रहा उनका सम्मान करता रहा।

पन्द्रह वर्ष की आयु में उनका विवाह कर दिया गया और बीस वर्ष की अवस्था में उनके पुत्र पुण्डरीकाक्ष का जन्म हुआ। दिल्ली में रहते हुये वे राधा-जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से करते थे और अपनी पैतृक सम्पत्ति से और मन्दिर से जो आय होती थी वह उस पर खर्च कर देते थे। उनके जीवन में वैराग्य क्रमशः बढ़ता गया और अपनी तीस वर्ष की आयु में वे वृन्दावन चले गये और वहीं रहने लगे। चार वर्ष पश्चात् वे विरक्त हो गये और अपना सम्पूर्ण समय भजन और कथा कीर्तन में लगाने लगे। सं० १८१२ में ५८ वर्ष की अवस्था में गोविन्द घाट पर स्थित 'ललित कुञ्ज' में उन्होंने देह त्याग किया।

वंशी अलिजी ने संस्कृत में 'राधा-तत्त्व प्रकाश' और 'राधा-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें उन्होंने राधातत्त्व सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को शास्त्र प्रमाण और सबल युक्तियों के द्वारा स्थापित किया है। उन्होंने संस्कृत के ग्रन्थ 'मोक्ष-वाद' शक्ति स्वातन्त्र्य परामर्श और 'राधिकोपनिषद्' की टीका भी की। ब्रज भाषा में वे सरल पद रचना करते थे। उनके दो छोटे-छोटे ग्रंथ 'हृदय सर्वस्व' और 'रास पंचाध्यायी प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उनके विभिन्न उत्सवों से सम्बन्धित सैकड़ों पद उपलब्ध हैं।

'हृदय सर्वस्व' में वंशी अलि जी ने अपनी उपासना का विशद परिचय दिया है। वे राधाकृष्ण के नित्य-विहार के उपासक हैं जिसमें श्रीराधा की सहज रूप से प्रधानता रहती है। अपनी उपासना का आरम्भ उन्होंने श्रीहित हरिवंश गोस्वामी से माना है। जिन्होंने श्रीराधा चरणों की माधुरी का संसार के जीवों को परिचय दिया। स्वामी हरिदासजी को उन्होंने श्रीहरिवंश का ही दूसरा स्वरूप माना है जिन्होंने नित्य-विहार की अंतरंग लीलाओं का गान किया।

श्रीललिता हरिवंश वपु प्रगटो रसनिधि आइ।
राधाचरनन माधुरी दीनी सबन जनाइ॥

श्रीहरिवंश स्वरूप हैं श्री हरिदास उदार ।
जे-जे बातें महल की बरनी नित्य विहार ।।

—हृदय सर्वस्व १६-१७

'नित्य-विहार' की उपासना में सेव्य श्रीराधिका हैं और सेवक नन्दकुमार और सहचरी गण हैं तथा 'विपिन विहार' की सेवा है—

सेव्य सदा श्रीराधिका सेवक नन्दकुमार ।
दूजे सेवक सहचरी सेवा विपिन विहार ।।

—हृदय सर्वस्व ५

श्रीवंशी अलि अनन्य राधाभक्त हैं। उनकी दृष्टि में अखिल ब्रह्माण्ड में श्रीराधा के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है राधा ही वृन्दावन हैं, राधा ही श्यामसुन्दर हैं, राधा ही सहचरी गण हैं और वे स्वयं भी राधारूप हैं—

राधा मेरी वनथली राधा ही है लाल ।
ललिता राधारूप हैं हौं हूं राधा बाल ।।

—हृदय सर्वस्व—२६

उनके प्राणधन, जीवन, नेत्र, नासिका, मन, वाणी, जिह्वा, कर्ण आदि सब राधा हैं। इसी प्रकार उनका नृत्य, गान, रूठना झगड़ना सब राधा के साथ है।

नैंन नासिका राधिका राधा मन वच आहि ।
विसरत नाहीं राधिका मोकौं पर्यौ सुभाइ ।।
राधा के संग नाचिहौं गाऊँ राधा संग ।
राधा जूंठन खाइहौं मो मन रंग अभंग ।।
राधा अङ्ग सिंगारिहौं जावक दै हौ पाँइ ।
राधा ही सौं झगरिहौं महि नहीं कहूं ठाँइ ।।

— हृदय सर्वस्व–३०-३५-३८

वंशी अली जी श्रीराधा के किशोरी रूप के आराधक थे किन्तु उनको श्रीराधा का बालरूप भी अत्यधिक प्रिय था उन्होंने अनेक सुन्दर पदों में इस रूप का गान किया है उनकी अभिलाषा है कि—

परी रहौं वृषभान के द्वारे जहां मेरी लाड़िली श्रीराधा ।
खेलत आवै सुख बरसावै नैनन की यह साधा ।।
कीरत कुल उजियारी प्यारी हिय को चैन अगाधा ।
ठौर नहीं वंशी अलि हिय में और लगै सब बाधा ।।

'राधिका महारास' वंशी अलि का अनोखा ग्रंथ है। उसमें उनका अद्भुत सिद्धान्त राधा प्रेमरस की मर्यादाओं का भी अतिक्रमण कर गया है। 'रास' शृङ्गारिक लीला

और भरत ने प्रमदायुक्त पुरुष को ही शृङ्गार कहा है—पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति कथ्यते। राधिका महारास में श्रीभागवत वर्णित रासलीला का सम्पूर्ण अनुकरण है, केवल श्रीकृष्ण के स्थान में श्रीराधा को प्रतिष्ठित कर दिया गया है। इसमें श्रीराधा वेणुवादन करती हैं और सखियाँ (गोपियाँ) गृह व्यवहार छोड़कर उनके पास पहुँच जाती हैं। इसके बाद अन्तर्धान और रासविलास आदि सब श्रीराधा द्वारा ही सम्पन्न होते हैं किन्तु नायक के अभाव में रस निष्पत्ति नहीं होती।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के वाणीकार गोस्वामी चन्द्रलाल जी ने। 'वृन्दावन प्रकाशमाला' नामक अप्रकाशित ग्रंथ की रचना सं० १८२४ में की। इसमें उन्होंने तत्कालीन वृन्दावन के देव स्थानों एवं सन्त-महन्तों का कवित्वपूर्ण परिचय दिया है। इनमें गुसांई वंशीधर जी भी हैं।

आगे वट कूप कुञ्ज सोहैं सीतारामजू की—
अष्ट सखी जुत पिय राजत किशोरी जू।
तहाँ श्री गुसांई वंशीधर रहैं सुख लहैं—
जिन राधा नाम ही सों सांची रति जोरी जू॥
राधा अष्टमी कौ उत्सव करैं नीकी भांति—
यह सुख कैसे कहौं मेरी मति थोरी जू।
हित अनुराग वस्तु करी निरधार लोक वेद—
कुल शृंखला अनेक दृढ़ तोरी जू॥१॥
सबको सुखद प्यार बड़ौ है रंगीलौ वह—
जाके हिय मांझ प्रीति नित ही नवीन है।
पंडित सुशील गुन गनन को आलय है—
श्रीमत्सुधानिधि के रस मांझ लीन है॥
गान तान नृत्य सेवा पूजा सब बातनि में—
ताकी तौ समान आन देख्यौ न प्रवीन है।
सब गुन सेवैं जाहि कैसी भाँति कहूं ताहि—
राजसी में राजसी औ दीनन में दीन है॥

इन कवित्तों से ज्ञात होता है कि गोस्वामी वंशीधरजी असाधारण प्रतिभा सम्पन्न रसिक भक्त थे। राधा प्राधान्य धारा के आरम्भिक आचार्यों से इनका श्रीराधा सम्बन्धी दृष्टिकोण कुछ भिन्न था और उसको लेकर एक सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ जो 'ललित-सम्प्रदाय' कहलाता है। इस सम्प्रदाय के दो प्रसिद्ध मन्दिर जयपुर और दिल्ली में हैं। दोनोंमें राधा-जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम और लाड़ चाव से मनाया जाता है। इस सम्प्रदाय में कई वाणीकार हुये हैं, जिनमें वंशी अलिजी के शिष्य किशोरी अलि जी प्रमुख हैं।

सारस सर-विछुरंत कौ जो पल सहय सरीर ।
अगनि-अनंग जु जिय भखैं तौ जानै पर-पीर ।।
तौ जानै पर पीर धीर धरि सकहि वज्र तन ।
मरत सारसहि फूट पुनि न परचौ जु लहत मन ।।
(जैश्री) हित हरिवंश विचार प्रेम विरहा बिन वा रस ।
निकट कंत नित रहत मरम कह जानै सारस ।।

अथ कथा भूमिका

—प्रो० गोविन्द शर्मा

आचार्य श्रीललितावरण गोस्वामी की साहित्यिक प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने साहित्यकी प्रायः समस्त विधाओं पर लेखनी आजमायी और आजमायी भी बड़ी कुशलता सफलता के साथ। उनकी लिखी दो कहानियाँ भी प्राप्त हुई हैं। एक कहानी 'दर्शन'-कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले सुप्रसिद्ध समसामयिक मासिक पत्र 'विशाल भारत' के अगस्त, १९४२ के अङ्क में प्रकाशित हुई थी। दूसरी 'अछूत' उनके परम सुहृद आचार्य गोस्वामी श्रीहितानन्द जी महाराज के संग्रह से प्राप्त हुई है। यह कहानी मूल पाण्डुलिपि के रूप में उनके अपने हस्तलेख में है। आचार्य श्रीहितानन्द जी गोस्वामी ने कृपापूर्वक इसकी प्रतिलिपि कराने की स्वीकृति देकर इसे प्रकाशनार्थ सुलभ करा दिया है। सम्भवतः यह अब तक अप्रकाशित ही रही आई थी। यदि 'स्थालीपुलाक न्याय' से इन दोनों कहानियों का विवेचन करें तो इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि आचार्य श्री को एक कुशल कहानीकार के सभी गुण प्रचुर परिमाण में प्राप्त थे। निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने केवल दो कहानियाँ ही लिखीं या और अधिक। 'विशाल भारत' तथा अन्य समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें छानने पर भी 'दर्शन' के अतिरिक्त उनकी अन्य कोई कहानी उपलब्ध नहीं हुई। अप्रकाशित रचनाओं में भी 'अछूत' के अलावा और कोई कथा-कृति नहीं है। किन्तु आभास यह होता है कि आचार्य श्री ने कुछ और कहानियाँ अवश्य लिखी होंगी क्योंकि 'अछूत' और 'दर्शन' की कहानी-कला में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। 'अछूत' उनकी प्रारम्भिक कृति प्रतीत होती है जिसकी रचना तत्कालीन प्रेमचन्द–युगीन कथा-कहानियों की शैली पर हुई है। 'दर्शन' की कहानी-कला पर्याप्त प्रौढ़ है। इसका कथ्य बड़ा सूक्ष्म—महीन है एवं तदनुरूप प्रचछन्न व्यंग्य-मयी प्रौढ़ भाषा शैली कथावस्तु नाम मात्र को अर्थात् आधुनिक कहानी की विशेषताएँ उसमें विद्यमान हैं। तो 'अछूत' से 'दर्शन' तक कहानी लेखन-कला की यात्रा सीधी 'हवाई' यात्रा है अथवा 'सड़क यात्रा, जिसमें मील के पत्थर भी होंगे और पड़ाव भी? अनुमान तो यही होता है कि इनके बीच की या बाद की कुछ और कथा-कृतियाँ अवश्य रही होंगी या हैं, जो आज अप्राप्य हैं।

उक्त दोनों कहानियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। 'अछूत' की पाण्डुलिपि के नीचे आचार्य श्री के हस्ताक्षर तो हैं किन्तु तारीख नहीं, जिससे लेखन काल का निश्चय

किया जा सके। किन्तु उसका कथ्य और थीम बड़ा महीन एवं मौलिक है, जो 'अछूत' समस्या तथा उसके भावनात्मक पहलू पर एक नया प्रकाश फेंकता है। सचमुच 'अछूत' कौन है—चतुरा, चतुरी या उनका ग्रेजुएट विलायत रिटर्न पुत्र—श्यामसुन्दर, जिसके प्रवेश के बाद मन्दिर धोया जाता है? हमारी परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में अछूत भी श्रद्धा और प्रेम के पात्र हैं, जिन्हें आधुनिक शिक्षा सचमुच 'अछूत' बनाती जा रही है। इसका विघटनकारी कुपरिणाम आज प्रत्यक्ष है, जिसे आचार्य श्री ने दशाब्दियों पूर्व संकेतित कर दिया था। थीम के अनुरूप ही चरित्र वातावरण आदि का चित्रण है।

'दर्शन' कहानी में आधुनिक नगर-सभ्यता, उसकी दुमुँही रीति-नीति और हृदयहीनता का मार्मिक अङ्कन है। बेरोजगारी की समस्या की सनातनता भी मुखरित है। मनोविज्ञान और मानव चरित्र की जटिलताओं का सूक्ष्म चित्रण है। पात्र केवल दो ही हैं। 'काल' के दार्शनिक विवेचन में विचार तत्त्व भी विद्यमान है। इसी 'काल दर्शन' का प्रयोग शर्माजी कहानी के नायक को निरुत्तर करने या उसका मजाक उड़ाने के लिए करते हैं। सारी कहानी व्यंग्यमयी भाषा-शैली में लिखी गई है, जो बंगला के श्रेष्ठ कथाकार परशुराम की शैली का स्मरण दिलाती है।

इन दोनों कहानियों की विशेषता है इनका अन्तिम वाक्य। एक पाश्चात्य कथा-आलोचक ने लिखा है कि कहानी का डंक उसके अन्त में होता है। फ्रांस के विश्वविख्यात कथा-लेखक मोपासाँ की सभी कहानियाँ इसी विशेषता से विभूषित हैं। आचार्य श्री की कहानियों के अन्तिम वाक्य—"नहीं तू मेरा पुत्र नहीं है, तू है—तू है अछूत..........तैंने कृष्ण तो भजौ ही नाहीं गत कैसे होय"। (अछूत)

"वाकई, यहाँ साथ तो कुत्तों के डर से ही होता है।" (दर्शन) बड़े मार्मिक हैं, जो अन्त से लेकर आदि तक सारी कहानी के आधार बिन्दु को उजागर कर देते हैं।

आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी की और भी कुछ कहानियाँ प्राप्त होतीं तो वे हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि होतीं, ऐसा हमारा विश्वास है।

कहानी—

अछूत

१

चतुरा आगरा जिले के एक गाँव का रहने वाला था—वह जाति का चमार था और उसने अपनी जवानी में चमड़े के व्यौपार से पर्याप्त धन संचय कर लिया था। वह भगवान् श्रीकृष्ण का अनन्य भक्त था और वृद्धावस्था में यमुना तट पर व्रज के एक छोटे से गाँव में जा बसा था। उसके पास धन था और धन में बड़ी विलक्षण शक्ति होती है। कुछ लोग तो उसकी प्रगाढ़ कृष्ण भक्ति पर मुग्ध होकर ही उसके पास आते थे और कुछ केवल सिर हिला-हिला कर "धन्य है, बलिहारी" कहकर पुआ-पूड़ी उड़ाने के लिये जा पहुँचते थे !! इसमें सन्देह नहीं कि चतुरा के भजनों में एक विलक्षण माधुर्य था। उसने आवाज बहुत सुरीली पाई थी किन्तु उससे बहुत अच्छा गाने वाले भी अपने भजनों में वह बात पैदा नहीं कर सकते थे। जो बात चतुरा के भजन में थी। उसके स्वर में जीवन्मुक्त आत्मा का अल्हड़ आह्लाद था; उसके भजनों में देह बन्धन से मुक्त होने की याचना का सार था। आस पड़ौस के गाँव वाले उस पर श्रद्धा करने लगे थे और उससे चतुरा भगत कहते थे।

उसकी वृद्धा पत्नी का वास्तविक नाम हम नहीं जानते, किन्तु लोग उसको चतुरी कहकर पुकारते थे। वह कृष्ण भक्ति में अपने पति से किसी प्रकार भी कम न थी और जिस समय चतुरा अपनी खंजरी पर गद्‌गद कंठ से व्रज के रसिया गाता तो वह आनन्द से विह्वल होकर रोने लगती थी। श्रीकृष्ण का 'मथुरा गमन' और 'गोपी उद्धव संवाद' के भजनों को गाते समय दोनों प्राणियों को देहानुसन्धान नहीं रहता था भजन प्रारम्भ होते ही चतुरा की पुतलियाँ चंचल हो उठती थीं, उसकी अँगुलियाँ खंजरी पर किसी विलक्षण स्वर की, किसी समय गमक की खोज में धीरे-धीरे फिरने लगती थीं, उसका स्वर भक्ति के उल्लास और हृदय की अतृप्ति से व्यथित होकर काँप उठता था। धीरे-धीरे उसकी आँखें ठहर जातीं, अँगुलियाँ एक ही स्वर को पकड़कर उसको बार बार मसलने लगतीं—उसका स्वर स्थिर होकर किसी अलोकिक झनकार से गूँज उठता—चतुरा की आँखों से अश्रुधारा बह निकलती वह एक ही 'तुक' बार-बार दुहराता न अस्थाई, न मात्रा, न मीड़, न तान, न राग, न रागिनी लेकिन भक्त मंडली व्याकुल हो उठती – आत्मा को देह बोझ प्रतीत होने लगती – हृदय में पीतपट की झलक दिखलाई दे जाती—भावनाएँ, वासनाएँ, आकाँक्षाएँ सबकी सब एक ही केन्द्र के चारों ओर घूमकर लिपट कर रह जाती—भक्त मण्डली तन्मय हो

जाती—सहसा चतुरा की अँगुलियाँ कुछ भूली सी हो जातीं—आँखें चंचल हो उठतीं—स्वर काँपने लगता—उसके चेहरे, पर घबराहट दौड़ जाती—पास बैठी हुई भक्त मंडली चौंक कर चारों ओर देखने लग जाती अरे किधर गयी यहीं तो थे। दूर खड़े हुए लोग कहते—चतुरा का रसिया खत्म हो गया। वाह कैसा सुरीला गला है, कैसी अच्छी खंजरी बजाता है धन्य है।

चतुरा के केवल एक सन्तान थी—वह भी तीसरे पन की वृद्ध दम्पती उसको बहुल प्यार करते थे उसका नाम उन्होंने श्यामसुन्दर रखा था। श्यामसुन्दर बड़ा सुन्दर बालक था, साथ में चतुरा की भावुकता का बीज भी उसमें यथेष्ट रूप से दिखलाई देता था। जब चतुरा खंजरी पर मस्त होकर "वारौ सौ कन्हैया कालीदह पै खेलन आयौ मेरी वीर वारौ सौ कन्हैया"...... ......, अलापता तब श्यामसुन्दर नाचने लगता था—चतुरी उसके पैरों में घुंघरू बाँध देती थी भावावेश में मंडली के भक्त ब्राह्मण लोग उसको गोद में उठा लेते थे। चमार दम्पती ठिठक कर रह जाते।

चतुरा पर बहुत से लोग श्रद्धा करने लगे थे। शिक्षित हो या अशिक्षित हृदय का भोलापन और आत्मा की सच्ची लगन सबको प्रिय होती है। आगरा जिले के बहुत बड़े जमींदार बाबू दीनानाथ चतुरा को बहुत दिनों से जानते थे और उस पर उन की बड़ी भारी कृपा थी—जब चतुरा ब्रजवास करने लगा तब वह भी उसके स्थान पर हफ्तों रहे आते थे और चतुरा के रसियों का आनन्द लूटा करते थे वह श्यामसुन्दर को बहुत प्यार करते और बहुधा चतुरा से कहा करते थे कि हम तुम्हारे लड़के को पढ़ा लिखाकर कलक्टर बनावेंगे—चतुरा का मन इतने बड़े प्रलोभन से किंचित भी विचलित न होकर कह देता—नहीं बाबू, चमार का लड़का चमार ही तो रहेगा। उसका धरम न छुड़ाना" बाबू दीनानाथ भोले हृदय को आघात न करने के विचार से 'अच्छा' कहकर चुप हो जाते और चतुरा फिर अपनी खंजरी उठाकर सुर भरने लगता था।

२

अन्त में एक दिन चतुरा भगत भी कालकवलित हो गया। मृत्यु ने उसके प्रियतम-वियोग का अन्त कर दिया। लोग कहते हैं कि अन्त तक खंजरी उसके हाथ से नहीं छूटी थी, एक दिन रात को गाते-गाते भावावेश में ही उसके प्राण पखेरू उड़ गये थे—पाँच थेगरियों (पैवन्दों) की वह जीर्ण शीर्ण उस महान रत्न को न सम्भाल सकी। चतुरी रोई थी या नहीं यह तो नहीं मालुम किन्तु उसने अपनी निवृत्ति को एक और गहरा धक्का दे दिया। और अब वह चतुरा की खंजरी पर, उसी के रसियों को उसी के स्वर में गाया करती थी। श्यामसुन्दर को तो बाबू दीनानाथ ने आगरे ले जाकर एक स्कूल में भरती करा दिया था और अब वह चतुरी की इच्छानुसार उस गाँव में एक कृष्ण मन्दिर बनवाने के उद्योग में थे।

श्यामसुन्दर बड़ा मेधावी बालक था, उसकी धारणा शक्ति भी असाधारण थी, वह प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर अँग्रेजी स्कूल में प्रविष्ट हो गया था, बाबू दीनानाथ उसको पुत्र के समान प्यार करते थे और वह उनके कुटुम्ब में बिलकुल हिलमिल गया था। सब लोग चतुरा भगत को जानते थे, इसलिये अच्छे दकियानूसियों को भी अँगुली उठाने का साहस नहीं होता था। श्यामसुन्दर को ग्राम्य जीवन से सहज प्रेम था और छुट्टियों में वह अपनी माँ के पास जाकर रहता था। गाँव के लोग चतुरा भगत की जीती जागती स्मृति के रूप में उससे स्नेह करते थे।

३

भारत में अँग्रेजी राज्य के शैशव काल का जमाना था; देश नई भावनाओं, नई प्रवृत्तियों, नये आदर्शों से झंकृत था। प्राच्य सो रहा था, पाश्चात्य जगा रहा था, जो जाग उठे थे वे किंकर्तव्य विमूढ़ होकर देख रहे थे कि क्या करें? जिसको जो सूझ पड़ता था वही करता था, पाश्चात्य के भाव स्वर प्रकाश में गुणावगुण सब कचम उठे थे। जिन्होंने अवगुण पर ही सारी दृष्टि डाल दी वे पाश्चात्य के साथ हो लिये, जिन्होंने गुणों पर सारी दृष्टि डाली वे "राम राम घोर कलियुग आगया" कहकर फिर सो गये। ऐसे कम थे जो गुणावगुण का विचार करके अपना मार्ग निश्चित करते। श्यामसुन्दर भी तो नवयुवक था। उसके कान में भी पाश्चात्य ने कुछ कह दिया—वह उठा—पाश्चात्य की बाह्य एकता ने उसे मुग्ध कर दिया, उसके पाश्चात्य के हृदय में जो अनेकता के कीटाणु थे उन्हें वह न देख सका; प्राच्य की अनेकता में भी एकता से पाश्चात्य की एकतामयी अनेकता अधिक आकर्षक अधिक भावमयी प्रतीत हुई। कॉलिज में प्रविष्ट होने के पश्चात् जब वह अपने गाँव गया तब लोगों को उसमें परिवर्तन दिखलाई दिया; अब ग्राम्यजन उसको प्रेम करने की अपेक्षा उससे भय करने लगे; स्नेह का स्थान भय पूर्ण सम्मान ने ले लिया; श्यामसुन्दर प्रसन्न हुआ—चतुरी दुखी " ... . "

बाबू दीनानाथ के परिश्रम से गाँव में चतुरी की आराधना के लिये एक कृष्ण मन्दिर बनकर तैयार हो गया। चतुरी मन्दिर के बाहर एक स्थान से देव-प्रतिमा के दर्शन करती थी; श्यामसुन्दर को यह बात बहुत खलती थी; उसके पिता के धन से बने हुए मन्दिर में उसकी माँ न जा सके, यह बात उसको बड़ी बेदलील लगती थी। उसके आश्चर्य और क्षोभ की सीमा न रही जब उसने यह देखा कि उसकी माँ तो गाँव वालों के अनेक अनुनय विनय पर भी अन्दर नहीं जाती थी और उसके मन्दिर प्रवेश करने पर मन्दिर की शुद्धि की जाती थी। यह तो अपमान था—अपमान नहीं तो और क्या था? नहीं तो एक गँवार, अपढ़ चमार वृद्धा को तो हिन्दू धर्म के संरक्षक देव-मन्दिर में आदर पूर्वक ले जाने को तैयार और एक सुशिक्षित उन्नतिशील युवक के अन्दर जाने पर शुद्धि की जाय! कैसा आश्चर्य?

श्यामसुन्दर ने बी० ए० पास करके विलायत जाने के लिये गवर्नमेन्ट स्कॉलरशिप प्राप्त कर लिया; उसको केवल यही धुन थी कि किसी भी प्रकार हिन्दू समाज की इस भेद भाव भरी प्रथा का समूल नाश कर दिया जाय—भारत की परतन्त्रता, दरिद्रता, दुर्बलता, कायरता, इन सब की जड़ इसी प्रथा में जमी मालुम होती थी, उसका हृदय हिन्दू-धर्म की इस दुर्बलता पर नौ-नौ आँसू रोता था।

विलायत जाने के पूर्व श्यामसुन्दर अपनी माँ से मिलने के लिये गाँव गये, माँ ने अपने सहज विरक्त भाव से आज्ञा दे दी। श्यामसुन्दर को आश्चर्य हुआ उन्होंने झुककर माँ के चरणों की रज ली। चतुरी की नजर अपने निकट अन्तिम समय पर पड़ी; उसने धीरे से पूछा कि "कब आओगे बेटा"? श्यामसुन्दर ने अपने गर्वोन्नत वक्षस्थल पर हाथ रखकर दृढ़तापूर्वक कहा कि "जब मैं हिन्दू समाज से इस छुआ छूत की कुप्रथा का समूल नाश करने के लिये अपने को समर्थ पाऊँगा तब···· माँ·······।" भावावेश से श्यामसुन्दर का गला रूँध गया—उन्होंने धीरे-धीरे कहा "माँ कैसा अन्याय है। हम क्या उसी भगवान की सन्तान नहीं हैं, जिसकी कि उच्च जातियाँ हैं? फिर यह भेदभाव कैसा? हमको पतित समझा जाता है, हमको अछूत समझा जाता है! माँ ऐसा आशीर्वाद दो कि मैं इसका बदला ले सकूँ।" चतुरी को जैसे अपने "कब आओगे बेटा" कहने पर ग्लानि आ रही हो। उसने हाथ में चतुरा की खंजरी उठा ली और भावाविष्ट होकर आवाज लगादी "तैंने कृष्ण तो भजौही नाँहि कैसे गत होय!" श्यामसुन्दर अपराधी की भाँति कुटिया मेंसे निकलकर मोटर में जा बैठे।

४

विलायत पहुँचकर श्यामसुन्दर ने वहाँ की सामाजिक व्यवस्था का खूब अनुभव किया; वहाँ उनको अपनी सी प्रवृत्ति वाले अनेक भारतीय तथा अन्य देशीय सज्जनों से विचार विनिमय का अच्छा अवसर मिला; उन्होंने अपनी आदर्श-प्राप्ति के लिये कुछ उठाकर नहीं रखा। यहाँ तक कि वर्ण व्यवस्था को एक गहरी सी ठोकर लगा देने के लिये उन्होंने एक गौराङ्गी नवयुवती के साथ विवाह भी कर लिया; वहाँ उन्होंने एक ऐसी पार्टी का भी संगठन किया जो उनको इस काम में सहायता दे—वह वहाँ अभी कुछ दिन और भी रहते मगर सहसा उनको बाबू दीनानाथ का तार मिला कि तुम्हारी माँ बहुत बीमार है और तुम को देखने के लिये ही जीवित है। श्यामसुन्दर के सब बड़े-बड़े प्रोग्रामों में सबसे महत्वपूर्ण प्रोग्राम यह था कि सबसे पहिले अपने पिता के मन्दिर को उच्चवर्णों के हाथ से लेकर उसको सब वर्णों के लिये खोल दें तथा उसके उद्घाटन कार्य के लिये येनकेन प्रकारेण अपनी माँ को ही तैयार करें। इस तार से श्यामसुन्दर को अपने इस प्रोग्राम में गहरा धक्का लगता दिखलाई दिया और वे फौरन ही सपत्नीक भारत के लिये चल पड़े।

बम्बई का नवयुवक दल उनके स्वागत के लिये तैयार था। एक बहुत बड़ी सभा का आयोजन किया गया था। श्यामसुन्दर के व्याख्यान ने लोगों के दिलों को दिला दिया;

उनकी दलीलों का जवाब देना असम्भव था देश में अछूतो द्धार की लहर सी आ गई; जगह-जगह मन्दिरों के दरवाजे तथा कुओं के ढकने अछूतों के लिये खोले जाने लगे—परन्तु श्यामसुन्दर को तो गाँव पहुँचने की धुन लगी थी। वे सीधे आगरे पहुँचे और गौराङ्गी पत्नी के साथ मोटर में बैठकर वृद्धा माँ की कुटिया पर जा पहुँचे। वर-वधू ने जाकर चतुरी को प्रणाम किया। चतुरी ने गौराङ्गी पुत्र वधू को देखा और वह सारी परिस्थिति भाँप गई—वह अपने श्यामसुन्दर को जानती थी—विलायत जाने के पूर्व जब वे उसका आशीर्वाद लेने उसके पास आये थे तब उनके प्रतिहिंसा पूर्ण हृदय का तो नग्न स्वरूप उसने देख ही लिया था; परन्तु उसने यह कल्पना कभी नहीं की थी कि उसका पुत्र इतना आगे बढ़ जायगा—उसने दम्पति को आशीर्वाद देकर दूर रहने का संकेत किया—श्यामसुन्दर समझे कि बीमारी के कारण माँ ने उनको पहिचाना नहीं, उन्होंने पास जाकर कहा "पहिचानी नहीं माँ ? मैं हूँ तुम्हारा पुत्र श्यामसुन्दर……… … ………… "

चतुरी अपनी अवशिष्ट जीवन शक्ति को एकत्रित करके एक बारगी उठ बैठी और चिल्ला उठी, 'नहीं' तू मेरा पुत्र नहीं है, तू है, तू है अछूत ………."

दोनों प्राणी पीछे हट गये; चतुरी ने भक्त मण्डली की ओर देखा—खंजरी बज उठी "तैंने कृष्ण तो भजौ ही नाहि गत कैसे होय"—

"चतुरी की आँखों में आँसू थे और देह के बाहर प्राण।"

~

श्रीश्यामाश्याम का काम सर्वथा अप्राकृत और असाधारण भाव है और कृपा-बल से मन की असाधारण स्थिति प्राप्त होने पर ही रसिक भक्तों के हृदय में प्रति-बिम्बित होता है।

▭

श्रीहिताचार्य श्रीराधाचरणों की प्रधानता स्थापित करने के लिये संसार में अवतरित हुए थे। परकीया भाव इस प्रधानता में बाधक है अतः उन्होंने श्रीराधा को स्वकीया रूप में स्वीकार किया। व्रज के रास में श्रीराधा, पुराणों के अनुसार, परकीया हैं अतः श्रीहिताचार्य का पहला कार्य यह था कि वे इस रास में श्रीकृष्ण की स्थापना राधापति के रूप में करें और इसको श्रीराधा की प्रसन्नता के लिए की हुई श्रीराधापति की लीला घोषित करें।

कहानी–

दर्शन

बहुत दिन पहले की बात नहीं है। मैं जीवन के ऐसे क्षणों में से गुजर रहा था, जब साधारण मनुष्य को भी संसार की निर्दय चोटें खाकर एक प्रकार की दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है और उसका अन्तरङ्ग द्रवित होकर जीवन की साधारण घटनाओं में अपरिचित तत्त्वों का दर्शन कर लेता है। सुना है, बाल्मीकि क्रौंच-मिथुन को चोट खाता देखकर महाकवि बन गए थे। यह तो बड़ी बात है। मेरी राय है कि द्रष्टा बनने का मौका हर एक को जीवन में एकाधिक बार मिलता है–शर्त है 'चोट'। ऐसी ही चोट मुझे एक बार लगी थी और उसके क्षणिक आलोक में मानवीय सम्बन्ध के एक अद्भुत पहलू का अपरोक्ष दर्शन मुझको प्राप्त हो गया था।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि बात बहुत पुरानी नहीं है। लगभग १॥ वर्ष पूर्व मैं रात्रि के आठ बजे भारतवर्ष के एक बड़े नगर की एक छोटी-सी गली में से गुजर रहा था। उस गली के दूसरे सिरे पर एक विशाल मकान का एक कमरा मैंने किराए पर ले रखा था और वहाँ रहकर नित्यप्रति सुबह से लेकर शाम तक अपनी बेकारी मिटाने की कोशिश किया करता था। मुझको वहाँ रहते एक मास व्यतीत हो चुका था; मगर किसी मिल, कारखाने या आफिस में मेरी बल्ली थाह नहीं खाती थी। मैं रोज नई उमंग और नई ड्रेस धारण करके घर से निकलता और शाम को दोनों को मलिन करके वापस लौट आता।

आप मानें या न मानें, बेकारी का समय तात्त्विक विवेचन के लिए बहुत श्रेष्ठ होता है। उन दिनों मैं सार्वजनिक पुस्तकालय में बैठकर 'कालतत्त्व' (Time) का बड़ा गहन परिशीलन किया करता था। परदेशी विद्वानों के मत में 'काल' को सर्वथा जड़ पाकर मुझे बड़ी निराशा होती थी। जो स्वयं जड़ है, वह सृष्टि के सबसे प्रबल चैतन्य को इस प्रकार कैसे विवश कर देता है? काल की एक अखंड और अविच्छिन्न धारा हमको भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीन रूपों में कैसे विभक्त हुई प्रतीत होती है? काल की धारा जब हमारी चेतना द्वारा ही विभाजित होती है, तब वह हमारे द्वारा सम्पूर्णतया शासित क्यों नहीं है? ऐसे-ऐसे न जाने कितने ही प्रश्न मेरे दिमाग में इस अध्याय के द्वारा प्रविष्ट हो गए थे और किन्हीं निश्चित उत्तरों के एकान्त अभाव में भी उन निरर्थक दिनों में एक प्रकार की सार्थकता का भाव हृदय में बनाए रखते

थे। उत्तर-रहित प्रश्नों में सार्थकता मानने वाली बात शायद आपकी समझ में न आ रही हो; मगर मैं अत्यन्त संजीदगी के साथ कहूँगा कि अप्रतिम विद्वान् बर्ट्रण्ड रसलके मतानुसार फिलसुफी का काम सिर्फ प्रश्न उपस्थित करना है; उत्तर देना नहीं। आपको रसल साहब की बात पर भी विश्वास न होता हो, तो एक बार—स्ववश या परवश—बेकार बन जाइए, फिलसुफी की सारी बातें ध्यान में आने लगेंगी ?

जिस दिन मुझे अपने मित्र का प्रथम परिचय हुआ था, उस दिन मैं लाइब्रेरी से सीधे ढावे में चला गया था और कुछ काम न होने के कारण भोजन करने बैठ गया था। भोजन करके मैं अपने कमरे की तरफ आ रहा था कि पीछे से आवाज आई—'बाबू साहब !' बेकार होने के साथ ही मैं अपने दिल से सिर्फ 'बाबू' रह गया था, 'साहब' मिट गया था। मगर बहुत दिनों के बाद यह आदर पाकर मैं सानन्दाश्चर्य घूमना ही चाहता था कि आगन्तुक सज्जन ने नजदीक आकर बड़े मधुर स्वर से पूछा—'क्या आप इस गली में होकर ही जा रहे हैं ?'

मैंने इन महरबान के आकार प्रकार को समझने की चेष्टा की; मगर दुर्भाग्य से हमारी गली में किसी म्युनिसिपल मेम्बर किंवा कर्मचारी का मकान नहीं था. अतः ७००-८०० फीट की लम्बाई में सिर्फ दो ही बत्तियों से काम निकाल लिया गया था। प्रारम्भ में मेरी समझ में सिर्फ इतना ही आया कि आगन्तुक आदमजाद है और सुभूषित। मैंने उस अर्द्ध अन्धकार में उनको देखने का व्यर्थ प्रयास छोड़कर नम्र भाव से उत्तर दिया—'जी हाँ।'

'क्या आप यही कहीं रहते हैं ?' दूसरा प्रश्न हुआ। 'जी हाँ, मेरा मकान इस गली के दूसरे सिरे पर है। आगन्तुक को यह सुनकर प्रत्यक्ष प्रसन्नता हुई है, यह मैं उस अन्धकार में भी देख सका। मैं इस प्रसन्नता का कारण समझने की चेष्टा कर ही रहा था कि प्रफुल्लित स्वर में तीसरा प्रश्न हुआ—'तब तो आप रोज इसी टाइम पर इस गली को "पास" करते होंगे ?'

इस प्रश्न से मैं बड़े चक्कर में पड़ गया। आखिर इन सज्जन का मकसद क्या है ? बेकारों की टाइम की पाबन्दी कैसी ? मैं सज्जनता के नाते कुछ कह देने की तैयारी में था कि एक काली सी चीज दुम हिलाती हुई मेरे साथी के पैरों के पास से निकली। जैसे उनको बिजली का तार छू गया हो, वे एक हाथ से मुझको मजबूती से पकड़कर दूसरे हाथ से अपनी पतली-सी 'स्टिक' को जमीन पर फटकारने लगे। उनके इस बेवक्त के जोश को देखकर एक ओर तो मैं घबरा गया और दूसरी ओर बेचारा कुत्ता कें कें करता हुआ भाग खड़ा हुआ। मैदान साफ देखकर मेरे साथी ने अपने-आपको संभाला और दबी हुई घबराहट के साथ बोले—'Nuisance....!'

मैं उस समय समझ न पाया कि इस शब्द का अभिप्रेत क्या—मैं, कुत्ता या म्युनिसिपैलिटी !

धीरे-धीरे हम लोग बत्ती के नीचे आ पहुँचे। मेरे साथी पूर्ण भद्र पुरुष थे—सशक्त और सुसंस्कृत। उनका वर्ण खास हिन्दुस्तानी और अवस्था प्रौढ़ थी। उनके मुख पर आत्म-श्रद्धा और आँखों में अनुभव की गहराई भरी थी। उन्होंने अपनी बारीक नजर से एक क्षण में मुझे छान डाला और सस्मित कहने लगे—'भाई, यहाँ की म्युनिसिपैलिटी से तो तौबा! जिधर देखो, उधर अँधेरा, और उस पर गलियों का यह सूनापन, मानो चारों तरफ भूत रहते हों! आपका मकान कहाँ है?'

मैंने हाथ का इशारा करते हुए बतलाया कि मैं अगली बत्ती के नजदीक गली के बिल्कुल सिरे वाले मकान में रहता हूँ।

'मेरे साथी को यह सुनकर सन्तोष हुआ और उन्होंने पूछा—'आप यहाँ किस आफिस में काम करते हैं?'

एक बेकार के लिए इस प्रश्न का क्या असर है, यह बेकार ही समझ सकता है। मुझसे जब-जब यह प्रश्न होता था, तभी मैं एक बार तो बुरी तरह सिटपिटा जाता था। मैंने गला साफ किया और कहा—'जी····जी····मैं आजकल ···'

'ओहो, समझा। भाई, आजकल यह बड़ी मुसीबत है! किसी को इतना काम है कि दम लेने की भी फुरसत नहीं और किसी को इतनी फुरसत है कि उसका दम फूला जा रहा है। आप कितने दिन से यहाँ हैं?'

'करीब एक महीने से।'

मेरे साथी कुछ विचार करने लगे और फिर गम्भीर स्वर में बोले—'अच्छा... देखिए, मैं यहाँ एक मिल में सेक्रेटरी हूँ। वक्त तो बड़ा बेढव है, मगर मैं आपके लिए कोशिश करूँगा। आपने तालीम कहाँ तक पाई है?'

'मैं कलकत्ता यूनिवर्सिटी का ग्रेजुएट हूँ।'—मैंने इत्मीनान के साथ कहा।

'फिर तो आपको नौकरी मिलना मुशकिल नहीं है।' उन्होंने मेरी डिगरी से प्रभावित होते हुए कहा।

'जी हाँ, मुश्किल तो नहीं होना चाहिए; मगर वक्त की बात है। मैं आपका बड़ा अहसानमन्द····'

"That's all right, मैं आपके लिए दिल से कोशिश करूँगा।'—उनकी आवाज में सहानुभूति और आश्वासन दोनों थे। हम [लोग गली के दूसरे सिरे पर आ पहुँचे। अपने मकान के पास आकर मैं कुछ ठिठका। मेरे साथी समझ गए और खड़े होकर मेरा हाथ अपने हाथ में लेते हुए बोले। 'मैं कल ही आपके लिए कोशिश शुरू कर दूँगा। आप कल मुझे आज वाली जगह पर इसी टाइम पर मिलें।'

'बहुत अच्छा। मुझे बड़ी खुशी होगी।'—मैंने सोत्साह कहा।

उन सज्जन ने बड़े स्नेह के साथ मुझसे 'शेक हैण्ड' किया और फिर तेजो से सामने वाली सड़क पर चले गए।

मैं उस दिन प्रथम बार हलका दिल लेकर अपने कमरे में पहुँचा और कुछ इधर-उधर का वाचन करके सो रहा। दूसरे दिन मैं टाइम से कुछ पहले जाकर अपनी गली के सिरे पर खड़ा हो गया। बिलकुल ठीक वक्त पर मेरे नवीन मित्र ने गली में प्रवेश किया। उस दिन मैंने उनको प्रभावित करने के लिए अपने दार्शनिक अनुशीलन का परिचय उनको कराया और कालतत्त्व के सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों के मुख्य प्रत्यय उनके सामने पेश किए। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि 'काल' के सम्बन्ध में उनकी 'समझ' बड़ी निश्चित और अनुभव प्रेरित है। उन्होंनें मुझे बतलाया कि भारतीय विचारकों ने इस तत्त्व को जगत की अन्तिम सत्ता नहीं, तो उसका समकक्ष अवश्य माना है। उन्होंने कहा कि वे तो काल को सदैव 'काल भगवान' के रूप में मानते आए हैं और उसका रुख देखकर अपनी जीवन नौका की दिशा निर्धारित करते रहे हैं। इसी सिलसिले में उन्होंने मुझे अपनी जिन्दगी के अनेक उतार चढ़ाव सुनाए और वैयक्तिक सुख-दुःख की बातें करके मेरे बेकारी-जन्य खेद को कम-से-कम उस वक्त के लिए तो बिलकुल भुला दिया।

तीसरे दिन उन्होंने मुझे अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया और मैं नियत समय पर अपने सर्वश्रेष्ठ 'सूट' में उनके बँगले पर हाजिर हो गया। वे तथा उनकी पत्नी बड़े सौजन्य से मेरे साथ पेश आए। नाश्ता करते हुए अनेक घनिष्ठ बातें हुईं। मुझे यह जानकर सन्तोष हुआ कि शर्माजी मेरी ही उपजाति के ब्राह्मण हैं तथा मेरे ही जिले के एक गाँव के मूल निवासी हैं। उनकी पत्नी ने तो मेरे गाँव में अपनी रिश्तेदारी भी बतलाई और मेरे ऊपर खास नजर रखने के लिए शर्माजी से आग्रह किया।

शर्माजी के व्यवहार तथा बातों से मुझे पूरा यकीन हो गया था कि मैं अब बेकार नहीं रहा हूँ, और मेरा रहन सहन भी मेरी इस आन्तरिक वृत्ति के अनुकूल बन गया था। शहरी जीवन के जिन सुलभ सुखों के लिए मैं दिल मसोसकर रह जाता था, उनका उपभोग मैंने खुले मन से करना शुरू कर दिया।

शर्माजी के साथ मेरी मैत्री के सात दिन बहुत आनन्द में निकल गए। आठवें दिन जब उनसे मेरी भेंट हुई, तब वे मुझे अत्यन्त प्रसन्न प्रतीत हुए। मेरी सारी आशा सिमटकर उनकी मुखाकृति पर केन्द्रित हो गई। धीरे-धीरे मुझे मालुम हुआ कि शर्मा जी की असाधारण प्रसन्नता का कारण कल रात की एक फिल्म थी, 'जिसमें चार्ली चैप्लिन कमाल काम करता है।' सारे रास्ते वे चार्ली की उछल-कूद और 'टेब्लो' की बातें करते रहे। मैंने एक-दो बार विषयान्तर करने की चेष्टा भी की; मगर व्यर्थ। उनको फिल्म का नशा चढ़ा था और सूखा-गीला झोके जा रहे थे। उस दिन वह मेरी छोटी गली बेहद छोटी हो गई, और हम लोग देखते-देखते उसके दूसरे सिरे पर जा पहुँचे। रोज की भाँति शर्माजी मेरे मकान के सामने ठहर गए और मुस्कराकर

उन्होंने मेरी ओर हाथ बढ़ाया । चेष्टा करने पर भी मैं अपना हाथ न लम्बा कर सका । देर करने का मौका नहीं था ।

'मेरी सर्विस के बारे में.... ।' मेरी जवान लड़खड़ा गई ।

'ओहो, वह तो मैं आपसे कहना ही भूल गया । मुझे दुःख है कि हमारी मिल में आपके लिए कोई जगह नहीं हो सकती ।'

'मगर आपने तो मुझसे वादा किया था ।'

'माफ कीजिए, नौकरी का मामला ही आजकल ऐसा है ! मैंने आपके लिए कोशिश करने में किसी बात की कमी नहीं रखी; मगर मैंने देख लिया कि इस मामले में काल आपके विरुद्ध है ।'

मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो शर्माजी मेरे दार्शनिक अध्ययन का मजाक उड़ा रहे हैं; किन्तु कार्यार्थी बनकर मैंने एक बार फिर उनसे धैर्य पूर्वक प्रार्थना की—'एक बार और चेष्टा कर देखिए । मैं आपके बँगले पर.... ।'

'इस बात की जरूरत नहीं है । किसी को धोखे में रखना मुझे पसन्द नहीं । आप अन्य किसी जरिये को आजमाइए ।'

'आपके साथ परिचय होने के बाद मैंने हर तरफ से अपना ध्यान हटा लिया था । आपको मालूम है कि मैंने पिछले आठ दिनों में आपके विश्वास पर अपनी शहर में टिके रहने की शक्ति को भी नष्ट कर दिया है ।'

'यह आपकी न तजुर्बेकारी है । एक रास्ते-चलते आदमी पर इस तरह "डिपेण्ड" नहीं करना चाहिए ।'

'रास्ता-चलता आदमी ! यह आप क्या कह रहे हैं ? आप तो रोज मुझको टाइम देकर इस रास्ते से गुजरते थे । आपने मुझे अपने बँगले पर बुलाकर भी विश्वास........,

मेरी इस क्षुब्ध दलील के जबाब में उन्होंने एक लम्बा अट्टहास किया और मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर कहने लगे—'अरे भई, यह तो आपकी गली में रोशनी कम रहती है और मुझे जरा कुत्तों से डर ज्यादा लगता है, इसी से मं आपको साथ ले लेता था । भला, इसमें आपका क्या बिगड़ गया ?'

'कुत्तों के डर से साथ ले लेते थे !'

लाख सँभलने पर भी मेरे मुँह से एक चीख-सी निकल गई और फिर मेरे शून्य दिमाग में एक बिजली सी कौंधी ! 'वाकई, यहाँ साथ तो कुत्तों के डर से ही होता है ।'

मानवीय सम्बन्ध के इस पहलू का अपरोक्ष दर्शन होते ही मैं विगत-ज्वर हो गया । मुझे सहसा स्वस्थ होता देखकर मेरे साथी सकपका रहे थे और मैं उनकी ओर देखकर मुस्करा रहा था !

श्रीललिताचरण गोस्वामीजी रचित नाटक

—डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ

श्रीललिताचरण जी ने 'चिन्तामणि' नामक अपने नाटक संग्रह में चार धार्मिक एकांकी नाटक लिखे। इनमें पहला एकांकी 'यह जु एक मन, श्रीहित हरिवंश जी की जीवनी पर आधारित है। उसी को नाटक का रूप दे दिया गया है। दूसरा एकांकी 'अनन्य निष्ठा' नाहरमल जी के उद्धार की कथा पर आधारित है। तीसरा एकांकी 'रसिकवर नरवाहनजी' नरवाहन नामक डाकू के रूपान्तरण की कथा पर आधारित है। चौथा एकांकी 'आयो ब्रज में राज रे भैया' श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा के जन्मोत्सव पर आधारित है।

श्रीललिताचरणजी गोस्वामी महाप्रभु श्रीहित हरिवंशजी की वंश परम्परा में थे। अतः हित हरिवंश जी से सम्बन्धित प्रसंगों पर ही उन्होंने उन पाँचों नाटकों की रचना की है। इनकी भाषा या तो विशुद्ध व्रजभाषा है अथवा शुद्ध खड़ी बोली। हित हरिवंश संप्रदाय के इन नाटकों में व्रजभाषा के कारण संप्रदाय संबंधी सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करने में स्वाभाविकता आ गई है। नाटकीयता में कहीं कोई कमी नहीं आई है। कथानक, कथोपकथन अर्थात् संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य नाटक के इन सभी तत्त्वों का समावेश इनमें प्राप्त होता है।

'यह जु एक मन' नाटिका में श्रीहित हरिवंश की जीवनी पर प्रकाश डालते हुए एक मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग का समावेश किया गया है। श्रीहरिराम व्यास महापंडित थे। काशी जीतकर आये थे। श्रीहित हरिवंश जी के एक पद का गायन सुनकर उन्हें उनके दर्शन की इच्छा हुई और वे अपनी पोथियों का विशाल संग्रह एक बैलगाड़ी पर लदवाकर टेकड़ी के ऊपर छोटे-से राधावल्लभ जी के मन्दिर में बैठे श्रीहित हरिवंशजी के पास आये। प्रेरणा श्रीनवलदास जी की थी जो ओरछा राज्य में कार्यरत थे। श्री हरिवंश जी ने मन की एकाग्रता पर जोर देते हुए कहा—"कोई काम पूरौ मन लगाये बिना सिद्ध नायँ होय है" इसी भाव का पद भी गाकर सुनाया—

"यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनैं सचु पायौ ॥"

इस नाटक का शीर्षक अर्थात् नामकरण भी इसी पंक्ति के आधार पर किया गया है। अंत में श्रीव्यासजी ने अपनी सारी पोथियाँ जमुना जी में विसर्जित कर दीं और वे हित हरिवंश जी के अनन्य अनुयायी बन गये।

यह छोटी सी नाटिका श्रीराधा वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीहित हरिवंश जी के प्रभाव को पूरी तरह स्थापित करती है। इसको ऐतिहासिक एकांकी कहा जा सकता है। इसकी भाषा शिष्ट व्रज भाषा है तथा संकलन त्रय को इसमें पूरी तरह निर्वाह किया गया है।

'चिन्तामणि' पुस्तक का दूसरा एकांकी 'अनन्य निष्ठा' नाम से संकलित है। इसमें चार दृश्य हैं। यह परम भक्त नाहरमल जी के प्रायश्चित एवं बीठलदास जी की अनन्यनिष्ठा पर आधारित है। यहाँ "श्रीगुरुदेव उपासना के मौलिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किसी भी स्थिति में किसी भी व्यक्ति के साथ समझौता करने को तैयार नहीं होते" प्रथम दृश्य में ही वे श्रीहित हरिवंश के पुनः कृपापात्र बन जाते हैं। अन्य तीन दृश्यों में बीठलदास जी की अनन्य निष्ठा प्रतिष्ठापित होती है। वे गुजरात के प्रशासक बना दिये जाते हैं। जहाँ वे द्वारिका में श्रीरणछोड़ जी के दर्शनों को नहीं जाते इसके कारण वहाँ के धर्माचार्यों के कोप का भाजन भी बन जाते हैं। वस्तुत: द्वारिका के ठाकुर तो द्वारिका लीला के इष्ट हैं जबकि हित हरिवंश जी के सिद्धान्तों के अनुसार युगल लीलाओं में द्वारिका लीला का कोई स्थान नहीं है। द्रष्टव्य है बीठलदास जी की अनन्य निष्ठा सम्बन्धी वार्ता—

"मैं सनातन वैदिक धर्म की एक शाखा श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी हूँ। मेरे गुरु श्रीहित हरिवंश चन्द्र हैं, धाम श्रीवृन्दावन है और जीवन सर्वस्व द्विभुज श्रीराधावल्लभ लाल हैं। इनके रास विलास का प्रकाश मेरे रोम-रोम में पूरित है। मेरे तन-मन में गौर श्याम बस रहे हैं और वहाँ चार भुजाओं के लिए अवकाश नहीं है।"

तत्पश्चात् वे अर्ध चेतनावस्था में हो जाते हैं और सभी उपस्थित जन उनके शरीर में ही रासलीला, बाँसुरी वादन एवं मृदंग की थापों का दर्शन एवं श्रवण करके धन्य होते हैं। इसी नाटिका में श्रीराधावल्लभ संप्रदाय सम्बन्धी एक गूढ़ बात भी श्रीहरिराम व्यास द्वारा कही गयी है —

"अपना यह रहस्यपूर्ण लोकातीत धर्म कभी भी भीड़ का धर्म नहीं बन सकेगा। इसको समझने वालों की संख्या सदैव कम रहेगी और इसका सर्वांगीण पालन तो बिरले पुण्यशालीजन ही कर पायेंगे।" इस धार्मिक नाटिका का उद्देश्य तो निज धर्म के सिद्धान्त का संवेश है किन्तु ऐतिहासिक नाटिका होने के कारण एक ओर तो अत्यन्त रोचक बन पड़ा है तथा दूसरी ओर ऐतिहासिकता का अर्थात् देशकाल का भी निर्वाह भली प्रकार हुआ है। अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए नाटक में श्रीहित हरिवंश जी द्वारा लिखे गये एक पत्र का अविकल रूप प्रकट कर दिया गया है। इसकी भाषा खड़ी बोली है किन्तु संवादों में चुस्ती एवं रोचकता बनी हुई है।

तीसरा एकांकी 'रसिकवर नरवाहन जी' के चरित्र एवं उनके जीवन की एक मार्मिक घटना पर आधारित है। नरवाहन डाकू थे। श्रीहित हरिवंश जी की यशो-

गाथा एवं चमत्कारिक बातें सुनकर उनके दर्शन को आये और उनके अनन्य भक्त बन गये। उन्होंने अपने राज्य में हिंसा समाप्त करदी किन्तु इसी समय एक घटना हो गई। नाव पर सामान लादकर लाये हुये एक जैन व्यापारी ने चुंगी मांगने पर पच्चीस कर्मचारियों का वध कर दिया। नरवाहन ने जघन्य अपराध का दंड जैन बनियाँ को फांसी देने की आज्ञा देकर किया। जब वह कारावास में ही था—एक भक्त दासी ने उसे बचाने की दृष्टि से उसे समझाया कि वह अपने को हित हरिवंश का शिष्य घोषित कर दे। जैन बनियाँ द्वारा ऐसा कहते ही नरवाहन जी ने उसे अपने हृदय से लगा लिया। इस घटना से उनकी हित हरिवंश जी के प्रति अनन्य निष्ठा का परिचय मिलता है।

यह एकांकी भी अभिनय करने योग्य है। इसमें घटनाओं की उद्‌भावना एवं निर्वाह भली प्रकार हुआ है। संवाद चुस्त एवं छोटे हैं, भाषा खड़ी बोली है। दृश्यों का विभाजन नाटक के अनुकूल है। एक भावुक भक्त अपने गुरु भाई के जघन्य अपराध को भी क्षमा कर देता है, उसे फांसी के तख्ते से उतार लेता है जबकि अपराधी अपनी मुक्ति के लिए ही श्रीहित हरिवंश नाम का मात्र सहारा ले रहा था। धीरे-धीरे वह नकली सहारा असली बन जाता है और वह हित हरिवंश जी की शरण में आ जाता है उनका भक्त बन जाता है।

"चिन्तामणि का चौथा एकांकी 'आयो ब्रज में राज, रे भैया' है। इसकी कथा वस्तु अत्यन्त रोचक है। जब नन्दराय जी के घर कृष्ण का जन्म हुआ और बधाई बजने लगीं तो ग्वाल बालों को कृष्ण का अद्‌भुत रूप निहारकर यह चिन्ता हुई कि इस अद्‌भुत बालक की दुलहन कैसी होगी, कौन होगी? जब वृषभानुजी के घर बधाई बजती है तो कन्या श्रीराधा को देखकर इन्हें विश्वास हो जाता है कि कृष्ण कान्हा के लिए तो यही दुलहन उपयुक्त होगी। इस एकांकी ने किंचित हास्य नाटिका का रूप ले लिया है। इसमें एक ओर नारदजी, पृथ्वी और धर्म जैसे पात्र हैं तो दूसरी ओर गोपा, पैमा, नन्दरायजी, वृषभानु जी आदि व्रज क्षेत्र के पात्र भी हैं। नारद, पृथ्वी और धर्म सारगर्भित खड़ी बोली बोलते हैं तथा 'जय जगदीश हरे' अष्ट पदी का गान करते हैं कृष्णावतार का कारण एवं उसकी भविष्य वाणी होती है तो गोपा और पैमा ठेठ ब्रज भाषा में बातें कर रासलीला के दृश्यों को साकार कर देते हैं। लेखक के समय में बोली जाने वाली मधुर ब्रजभाषा में ब्रजवासी बात करते हैं। उनके ये संवाद अत्यन्त प्रिय जान पड़ते हैं। उसमें ब्रजवासी फक्कड़पन का भी समावेश हुआ है जो रोचकता और माधुर्य आदि से अन्त तक बना रहता है।

'अनन्यनिष्ठा' नाम से धार्मिक एकांकी नाटकों का संग्रह वेणु प्रकाशन वृन्दावन ने छापा है। इसमें 'चिन्तामणि' नाटक संग्रह से एक एकांकी अधिक है। इसका नाम 'निजसुख निरख्यौ नैन' है। इसमें भक्त प्रवर नागरीदासी की भक्ति गाथा है। वे अपना राज्य छोड़कर रानी भागमती के साथ श्रीहित हरिवंश जी द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभ

सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे। ईर्ष्या द्वेष संसार में इतना फैला है कि वह धार्मिक स्थानों पर रहने वाले लोगों पर भी अपना प्रभाव जमा लेता है। युगलदास ऐसे ही राधावल्लभ संप्रदायी हैं। वे नागरीदासजी की भावुकता, श्रीराधा एवं उनके वल्लभ श्रीकृष्ण की भक्ति तथा उनके भावुक रचना संसार की भी अवज्ञा करते हैं। छोटे बड़े प्रसंगों के माध्यम से नागरीदास जी की भक्ति का स्वरूप खड़ा करना ही नाटककार का उद्देश्य है। एकांकी में चार दृश्य हैं। पहले में युगलदास और भगत जी की बातचीत है। इसमें युगलदासजी वहीं अपने सामने किसी को भी सहन न करने वाले ईर्ष्यालू स्वभाव के भक्त हैं। वे नागरीदास जी को नया आया हुआ कच्चा भक्त समझते है जबकि वृन्दावन की भक्ति से आकर्षित होकर ही वृन्दावनधाम में आये थे। भगतजी यद्यपि गृहस्थ हैं पर उनमें भावुक भक्त को भावना के साथ पहचानने की अपूर्व क्षमता है। वे 'कनक पत्रावली झूमतघूंघट' पूरे पद के इस अंश को सुनकर ही नागरीदासजी की पद-रचना के प्रति भावुक हो उठते हैं। बीच-बीच में 'मुझे पद सुन लेने दो' अथवा धन्य हो, नागरीदासजी बोल पड़ते हैं। पद की दूसरी पंक्ति "केसर की आड़ जराय कौ बेंदा तैसीये मुख पर रुरत ललित लट" को वे बड़े ही मनोयोग से सुनते हैं तथा नागरी दास जी के भक्ति भाव भरे पद की रचना धार्मिकला की प्रशंसा करते हैं। युगलदास मुड़ते हैं और कहते है" इस तुकबंदी का अर्थ करके क्यों मगन हो रहे हो भगतजी ? जाओ अपने घर जाकर 'हित चौरासी' में मन लगाओ।"

द्वितीय दृश्य में नागरीदासजी के द्वारा उत्सवों का आयोजन करने की चर्चा है। पंगत से साधु लोग प्रसन्न हैं। परन्तु युगल दास अब भी अप्रसन्न हैं। अब तो कुछ कारण भी बन पड़ा है। नागर वर जी द्वारा कही जा रही दशम स्कंध की कथा नागरी दास जी मन से नहीं सुनते वे जैसे कहीं और रहते हैं। कथा के बीच में उठकर चल देने का कारण पूछने पर वे बताते हैं—"आप जब कथा कह रहे थे तब मैं चौरासी जी के 'आज निकुञ्ज मंजु में खेलत नवल किशोर, नवीन किशोरी' पद की भावना कर रहा था और परम सुख में निमग्न था। भगतजी तथा अन्य कुछ श्रोता 'धन्य है,— धन्य है' कहते हैं। तात्पर्य यह कि निकुञ्ज लीला में श्रीमद् भागवत की बाल अथवा किशोर लीलाओं का कोई स्थान नहीं है। इस ग्रंथ में तो श्रीराधा नाम भी नहीं है। वस्तुतः नागरीदास जी सच्चे राधावल्लभी संत थे। नागरवरजी भी स्वीकार करते हैं कि श्रीहिताचार्य ने श्रीकृष्णनाम का फल श्रीराधा तथा श्रीराधा नाम का फल श्रीकृष्ण कहकर समाधान कर दिया है।

तृतीय दृश्य में नागरीदास जी द्वारा कतिपय चमत्कारों का वर्णन है। फुत्ते और छिद्दा, कारे और बल्लो द्वारा नागरीदास जी की कुटी पर एक सिंह के पालतू होने की चर्चा की गई है। उस पर सामान लादकर जब वे चलते हैं तो कुत्ते की तरह दुम हिलाता हुआ शेर पीछे-पीछे चलता है यह दृश्य नागरीदास जी के विषय में किंवदंतियों को समर्पित है।

चतुर्थ दृश्य में नागरीदास जी का बरसाना आगमन तथा वहाँ रहकर वृन्दावन की भावना करने का आयोजन है, इस दृश्य में नागरीदास की निकुञ्ज-भावना भक्ति

पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाती है। भगतजी के द्वारा उनके पद की अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार सुनाई जाती हैं—

> पूरन करी कामना सब विधि रसिक सुरस आनन्दे।
> नागरीदास वास बरसाने गौर चरन रज बन्दे।।

इस पर स्वामीजी सहसा उठकर नागरीदास जी के पैर पकड़ लेते हैं तथा कृपा की अभिलाषा करते हैं। श्रीराधाजी की जन्म बधाई के साथ प्रेमोन्मत्त होकर सब लोग नृत्य करने लगते हैं, नृत्य करते हुये श्रीसुन्दरवर जी नागरीदास जी को हृदय से लगा लेते हैं। नागरीदास जी विह्वल होकर उनके चरणों में गिर जाते हैं।

एकांकी अभिनय योग्य है। अपने उद्देश्य में सफल है। देशकाल का वर्णन सटीक है। वार्तालाप कथा के अनुकूल हैं। दो दृश्यों की भाषा हिन्दी तथा शेष दो दृश्यों में ब्रजभाषी पात्रों से ब्रजभाषा बुलवाई है। इस आयोजन से नाटक में और भी स्वाभाविकता आ गई है।

'यवनोद्धार नाटिका' का स्थान भी सम्प्रदायिक नाटकों की श्रेणी में है। इसमें गंगाबाई और जमुनाबाई दो भक्त बालिकाओं की कथा है जो अन्ततोगत्वा अजीज बेग यवन के उद्धार का कारण बनती है। यह नाटिका उस समय तक चली आती हुई परम्परा का निर्वाह करती है। अर्थात् सूत्रधार और नटी की चटपटी बातचीत से नाटक आरम्भ होता है तथा अन्त में भरत वाक्य से यवनिका पतन होता है। आरंभ में दोनों बालिकायें एक डाकू की पुत्री थीं परन्तु उचित सत्संग और अविचल भक्ति के कारण प्रभु के चरणों में आ पहुँची। नटी के ऐसा परिचय देने पर सूत्रधार बोल पड़ता है—"वाह प्रिये क्या ही उत्कृष्ट विषय चुना है, चलो अब शीघ्र तैयार हो जाओ।" यह नाटक सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ था। उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'चन्द्रावली नाटिका' लिखी जा रही थी। इसमें एक चरित्र चिरानन्द महन्त का है जो गंगाबाई और जमुना बाई को आश्रय देने के बाद अजीज बेग फौजदार के हाथों बेच देता है। पत्नी की तरह रखी हुई लक्ष्मी को अत्यन्त दुःख देता है तथा अन्त में उसकी गर्भावस्था में हत्या भी करा देता है। जब अजीज बेग उन दोनों बालिकाओं के साथ बलात्कार करने का प्रयत्न करता है तो उनकी प्रार्थना पर वहाँ सिंह प्रकट हो जाता है। इस चमत्कार के बाद चिरानन्द और अजीज बेग श्रीहित हरिवंश जी की शरण ग्रहण करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे पात्र भी हैं जो मुख्य कथा को मोड़ देकर तिरोहित हो जाते हैं। चिरानंद गंगाबाई तथा जमुना बाई शुद्ध खड़ी बोली बोलती हैं तो अजीज बेग उर्दू या हिन्दी बोलता है। संवादों में स्वाभाविकता लाने के लिए ऐसा किया गया है। इस नाटिका में चार अंक हैं। पहले और दूसरे अङ्क में पाँच-पाँच दृश्य हैं तथा तीसरे और चौथे अङ्क में प्रत्येक में चार-चार दृश्य हैं। नाटिका में कहीं-कहीं नौटंकी जैसे संवाद सम्मिलित हुए हैं। समयानुकूल गीतों का भी समावेश है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये गीत भी श्रीललिताचरण गोस्वामी द्वारा विरचित है। अधिकांश

भक्तिगीत हैं तथा हित हरिवंश जी की भक्ति में गाये गये हैं। अतः नाटिका के सौन्दर्य को बढ़ाते ही हैं।

श्रीललिताचरण गोस्वामी श्रीहित हरिवंश द्वारा प्रवर्तित श्रीराधावल्लभ संप्रदाय के अनन्य भक्त एवं गोस्वामी थे अतः सम्प्रदाय से सम्बन्धित सभी अनुष्ठान, भेद, प्रभेदों का उन्हें पूरी तरह ज्ञान था इसी कारण उनके ये पाँच एकांकी नाटक तथा यवनोद्धार नाटिका प्रामाणिक कथानक को लेकर लिखे गये हैं। इनमें काल्पनिक कुछ भी नहीं, केवल नाटकीयता देने में कल्पना से काम लिया गया है। इन नाटकों की महत्ता इस कारण और भी अधिक बढ़ जाती है। ये आधुनिक मंच पर खेलने वाले नाटक बने हैं। इन्हें रासलीला की नाटिकाओं से अलग इन्हें परिनिष्ठित रूप प्रदान किया गया है।

श्रीललिताचरण गोस्वामी एक श्रेष्ठ नाटककार थे। उन्होंने केवल अपनी संप्रदाय से सम्बन्धित धार्मिक नाटक ही नहीं लिखे अपितु अन्य प्रकार के आधुनिक विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई है। उनमें प्रतिभा थी। यदि वे नाटक में ही अपनी लेखनी का प्रयोग करते और जमकर लिखते तो निश्चय ही आधुनिक युग के श्रेष्ठ नाटककारों में उनका ऊँचा स्थान होता। उनके शेष चार एकांकी चिंतन-परक हैं।

उनका एक सामाजिक एकांकी 'विशाल भारत' के भाग १८, अङ्क ६, सितम्बर, १९३६ में छपा था। इसका नाम 'पहेली' है। नारी को स्वतंत्रता किस सीमा तक देनी चाहिए तथा पूरब और पश्चिम की नारियों में क्या अन्तर है इस विषय को लेकर यह नाटक लिखा गया है। नवीनचंद नामक सुन्दर युवक नाटक लिखता भी है तथा अभिनय भी करता है। नारी स्वतंत्रता को पसन्द करता है। उसकी पत्नी सरला सीधी सादी पतिव्रता स्त्री है। वह नवीनचन्द के पूछने पर अपने को उसकी दासी बताती है तो वह कहता है कि "तुम्हारे अन्दर कोई रोमान्स नहीं ····मैं चाहता हूँ कि तुम मेरे साथ आकाश में विहार करो। सहचरी बनकर जिस तरह वे दो पक्षी एक दूसरे से पंख मिलाकर एक ही स्वर में बोलते हुये एक ही दिशा में उड़े चले जाते हैं उसी तरह।"

वह पतिव्रता पत्नी पति की इच्छा पूरी करने के उद्देश्य से रमण नाटक निर्देशक के साथ मिलकर नवीन के अनुसार आधुनिक होने का दिखावा करती है. किन्तु नवीन का भारतीय संस्कारी मन इसको सहन नहीं कर सकता। वह लिलि को स्वच्छन्दता पूर्वक रमण करते देखकर प्रसन्न होता था। उसके विचारों से प्रभावित होकर ही उसने सरलाको आधुनिक नारी बनाने का सपना देखा था परन्तु अपनी पत्नी के रमण के साथ मंच पर प्रेम करते देखकर वह विचलित हो गया। नाटककार का उद्देश्य यही सब दिखाने का है। इस नाटक को उन्होंने बड़े सशक्त पात्रों से संयुक्त किया है। नवीन, सरला, लिलि और रमण सभी अपनी भूमिका में निपुण हैं। इसकी प्रस्तुति में भी नाटक-

कार ने बड़ा परिश्रम किया है। 'पहेली' एकांकी में श्रीललिताचरण गोस्वामी ने अपनी एक अलग ही पहचान बनाई है।

'प्रमाद' एकांकी श्रीललिताचरण गोस्वामी का एक पौराणिक नाटक है। यह 'विशाल भारत' पत्रिका में सन् १६३७ अगस्त को छपा था। इसकी कथा पुराण कवि ब्रह्मदेव की कथा है जिसमें सहयोगी पात्र नारद तथा सरस्वती हैं। ब्रह्मदेव सृष्टि कर्ता हैं किन्तु भ्रमित हैं। वे कहते हैं—किसी अज्ञात पुरुष के नाभि कमल से जन्म लेने के पश्चात् न जाने कितने दिन मैंने अपने अस्तित्व की वाह्य शोध में व्यतीत कर दिये—कितना पुरुषार्थ, कितनी लगन; ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर; यही क्रम वर्षों तक चलता रहा। देर में—बहुत देर में समझ में आया कि मैं एक वर्तुल का सिरा ढूंढ़ रहा हूँ।'' मरीच आदि तथा नारद को उन्होंने सर्जन कार्य में नियुक्त किया है। उन्हें वे आत्म-मंथन की सलाह देते हैं। वे कहते हैं कि प्रयोगों की परम्परा का नाम ही सृष्टि है किन्तु 'भाव-समृद्धि' उनके लिए शाप हो गई। सृष्टि रचना में प्रयोग करते तीसरा प्रयोग उन्होंने सरस्वती के रूप में व्यक्त कर दिया। इससे उन्हें बड़ी शांति मिली। कवि को वाणी की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और क्या चाहिए। सरस्वती की वीणा स्वर ब्रह्म का आविष्कार करती है।

किन्तु दुर्बलता मानव स्वभाव में है उससे ब्रह्मदेव भी अछूते नहीं रहे। सरस्वती के रूप में अपनी ही सृष्टि पर वे मुग्ध हो गये तथा भावावेश में भी आ गये। वे कहते हैं—"मेरा विचार तो मको--नारी को—समग्र सर्जन का आधार बनाने का है।" सरस्वती उत्तर देती है—"इसके लिए आपको किसी विकृत नारी तत्त्व की सृष्टि करनी होगी; मैं तो विकार का शमन करने को उत्पन्न हुई हूँ, न कि सर्जन! तातपाद! मुझको मलिन भावों का आश्रय नहीं बनाया जा सकता।" अन्त में ब्रह्मदेव कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए नारद से कहते हैं—"वत्स, उस दिन वाणी ने और तुमने मेरी सृष्टि को एक महान विप्लव से बचा लिया। यदि सरस्वती के प्रति मेरा दुर्भाग्य सफल हो जाता, तो मेरा यह तीसरा प्रयोग भी व्यर्थ जाता।" अन्त में अपने भाव शरीर के घोर श्याम वर्ण को वे दिशाओं को सौंप देते हैं। कहते हैं—देवि, तुम्हारा सर्जन करके मैं कृतकृत्य हुआ। सरस्वती भी कहती हैं—भगवन्! आपका आश्रय पाकर वाणी धन्य हुई। इस एकांकी का उद्देश्य ब्रह्मा तथा सरस्वती के सही सम्बन्धों को उजागर करके स्थापित करना है ताकि सरस्वती के प्रति शंका न रहे। संवाद चुस्त हैं। भाषा परिनिष्ठित हिन्दी है। देशकाल की कल्पना सटीक है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वर्णित तपोवन जैसा दृश्य रखा गया है।

'विशाल भारत' के जुलाई १६३८ के अङ्क में गोस्वामी जी का 'प्रतीक' नामक एकांकी छपा था इसमें तथाकथित देश भक्तों की कहानी है। लेखक का उद्देश्य गांधी जी की डांडी यात्रा के समय मध्य वर्ग के कुछ ऐसे व्यक्तियों के देश प्रेम का पर्दाफाश करना है जो मनुष्य से अधिक अपने कुत्तों की पीड़ा समझते हैं तथा दिखावे के लिए देश

प्रेमी बन जाते हैं। तीन साथी एक बंगले में वर्षों से रह रहे हैं। इनमें एक उत्तर प्रदेश के, दूसरे राजस्थान के तथा तीसरे गुजराती हैं। तीनों एक साथ रहते हैं परन्तु एक दूसरे पर छींटाकशी किये बिना नहीं रहते। गुजरातियों के नाम पर व्यंग्य करते हैं। शर्मा कहते हैं—"गुजरातियों का नाम तो इस वक्त सारे हिन्दुस्तान की जुबान पर है।" संकेत गांधी जी की ओर है। ये लोग आजाद होने का भी मजाक उड़ाते हैं। एक वृद्ध महिला से पूछते हैं—"क्यों माँ! आप आजाद हैं न? उस समय आजादी के लिए जो धुआँधार आन्दोलन चल रहा था उसी का इन तीनों पर प्रभाव है। ये स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए सक्षम नहीं हैं। केवल एक झंडा लगा लेना ही वह भी घर में देश प्रेम अथवा स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़ना नहीं कहलाता। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि गाँधी जी की डांडीयात्रा का ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि अंग्रेजों के गुलाम भी स्वतन्त्रता आन्दोलन में जुड़ने का अभिनय करने लगे। चलो यह भी क्या कम है?

कथानक के अनुसार ही नाटक के संवाद हैं। इनकी भाषा बोलचाल की हिन्दी है। तथाकथित देश प्रेमियों का चित्रण भली प्रकार किया गया है। १९३८ में छपे इस एकांकी ने अपने समय में पर्याप्त यश अर्जित किया होगा। संभव है ऐसे नाटक उन्होंने और भी लिखे होंगे। यदि लिखे होंगे तो ये उनकी विचारधारा की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम बन सकते हैं।

सन् १९३९ में दूसरा विश्व युद्ध हो रहा था इसी संदर्भ से प्रेरित 'उलझन' एकांकी गोस्वामी जी ने लिखा होगा जो विशाल भारत के जुलाई अङ्क सन् १९३९ में छपा था। इसमें हिटलर के अत्याचार दिखाने का प्रयत्न किया गया है तथा भीषण युद्ध की समीक्षा की गई है। इसको परलोक के एक उपवन में रङ्गभूमि बनाकर वहाँ सभी मृत पात्रों को अभिनय में प्रवृत्त दिखाया गया है। एक पात्र शुशनिग मरने के बाद जब परलोक पहुँचता है तो वहाँ भी वह हिटलर के विरुद्ध लावा उगल रहा है तथा मरने से भयभीत है। आगन्तुक उसे समझाता है कि वह नाजियों के द्वारा मारा जा चुका है तथा अब वह परलोक में है। वहीं विलियम स्टैंड उससे परिचय प्राप्त करते हैं तथा वे बताते हैं कि "यह स्थान एक से विचार के व्यक्तियों लोक शासन वादियों के लिए बना हुआ है।" प्रेसिडेंट विलसन का नाम सुनकर वह परलोक के इस स्थान को स्वर्ग पुकारने लगता है। रूस की क्रांति के जन्मदाता लेनिन से भी शुशनिग और विलियम स्टैंड की भेंट होती है जहाँ नाजीवाद अर्थात् तानाशाहों के विरुद्ध लोकतंत्र की व्याख्या ही समयानुकूल प्रतीत होती है। लेनिन कहते हैं—"प्रत्येक कार्य को उसके परिणाम से ही समझा जा सकता है। मैं मानता हूँ कि यह विग्रह रूस की कसौटी का समय है। इस युद्ध में उसको अपने एक विरोधी का उपयोग दूसरे विरोधियों के खिलाफ करना पड़ रहा है। मुझे विश्वास है कि यदि वह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा, तो अन्त में विजय उसको ही मिलेगी और सारे संसार में श्रमजीवी सरकार का मेरा स्वप्न सत्य हो सकेगा।" लेनिन आगे कहते हैं कि दृष्टिकोणों में मौलिक भेद होते हुए भी हम लोग सहानुभूति पूर्वक वार्तालाप कर सके हैं" इन परस्पर मतभेदों को

प्रकट करने का धरती पर कोई स्थान न था इसीलिए ललिताचरण जी ने परलोक में इन शीर्ष पुरुषों के मिलने की जगह दिखाई है। यह अनोखा रंगमंच है। इसमें ईसा-मसीह भी प्रकट होते हैं उनसे युद्ध के सम्बन्ध में विचार पूछे जाते हैं जिसका उत्तर वे यह कहकर देते हैं कि "युद्ध सम्बन्धी मेरे विचार बाइबिल में दर्ज हैं।" युद्ध की तत्कालीन राजनीति को वे शैतान का काम बताते हैं। जिज्ञासुओं का समाधान नहीं होता तो ईसामसीह यह बात श्रीकृष्ण से पूछने को कहते हैं। शुशनिका और स्टैंड दोनों श्रीकृष्ण के पास जाते हैं। उनका वैभव और व्यवस्था देखकर स्टैंड कहते हैं—"यह हमारे भारतवर्ष के एक महान राजपुरुष का निवास-स्थान है। इसी से तो हम लोग भारतवर्ष को ब्रिटिश ताज का सर्वश्रेष्ठ रत्न मानते हैं।" अब कृष्ण के दर्शन होते हैं तथा वे इन लोगों से कहते हैं कि "आप लोग वर्षों से अति उत्साह पूर्वक जिसके आगमन की तैयारी कर रहे थे, वहीं (युद्ध) आज झोली पसारकर आपके द्वार पर खड़ा । अब आप उससे मुँह नहीं छुपा सकेंगे।" श्रीकृष्ण आगे की वार्ता में कहते हैं—"आपने महाभारत युद्ध का वृत्तान्त पढ़ा है?" दोनों के हाँ कह देने पर महाभारत युद्ध का कारण बताते हुये स्टैंड कहते हैं "तत्कालीन भारत सम्राट का अन्याय और हठ" श्रीकृष्ण कहते हैं "ओ हो, यह तो उसका तात्कालिक और राजनैतिक कारण था। इसके अतिरिक्त एक प्राकृतिक कारण भी था। प्राकृतिक कारण को समझाते हुये कहते हैं कि इसको पृथ्वी का बढ़ जाना कहते हैं। जो बात मानव के चैतन्य गुणों को दबा देने में समर्थ हो सकेगी, उससे पृथ्वी भी भारान्वित हो जायगी। आज जड़ता के भार से दबी हुई चेतनता की करुण और दुर्बल चीत्कार स्पष्ट सुनाई दे रही है। यान्त्रिक सेनाओं के भार से पीड़ित पृथ्वी की विषम वेदना मेरे हृदय को व्यथित कर रही है।"

स्टैंड श्रीकृष्ण से फिर पूछते हैं कि साम्यवादी रूस इस विग्रह में अपने कट्टर शत्रु नाजी जर्मनी के साथ क्यों सहयोग कर रहा है? तो श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं—"विनाश को पूर्ण बनाने के लिए श्रीललिताचरण गोस्वामी द्वारा विरचित इस एकांकी का उद्देश्य यह एक वाक्य ही प्रकट कर देता है। युद्ध की विभीषिका ने नाटककार के मन को मथा होगा। परिणाम स्वरूप यह नाटक लिखा गया। इससे सूत्रधार अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण ही बने। महाभारत युद्ध तथा गीता के उपदेश का यह प्रभाव नाटक को भी प्रभावित कर गया है। यहाँ पर श्रद्धेय गोस्वामीजी के सभी नाटक प्रकाशित किये जा रहे हैं।

'सरोज निलयम्'
डैम्पियर नगर, मथुरा २८१००१

समर्पण

हितकुल भूषण !

श्री १०८ गोस्वामी श्रीमनोहरलाल जी महाराज
चरणकमलेषु ।

भगवन् !

शिशु सुलभ बातें तोतली कुछ हैं न विद्वत्तामयी ।
है कुछ अनूठापन न इनमें है न कुछ प्रतिभा नयी ।।
फिर भी न जाने हृदय में विश्वास का क्यों वास है ।
निश्चय हुआ, यह आपके स्नेह का उच्छ्वास है ।।
हे पूज्यवर ! यह आपका वात्सल्यमय सम्मान है ।
हम बालकों को सदा उत्साह करता दान है ।।
यह नाटिका है आपका आदेश पालन, लीजिये ।
हे देव ! अपनाकर इसे कृतकृत्य मुझको कीजिये ।।

आपका–
स्नेह से पुकारा हुआ–
'नन्नौ'
(श्रीललिताचरण गोस्वामी)

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी महाराज

यवनोद्धार नाटिका

अंक प्रथम

दृश्य प्रथम

स्थान—रङ्ग मञ्च

प्रार्थना

जय प्रेमनिकुञ्जविहारी, गिरिधारी, कंसारी,
भक्तन के हितकारी ।।
राधावल्लभ प्राणपियारे, निशिदिन फेरत नाम तिहारे,
राखो लाज हमारी ।। गिरिधारी० ।।
द्रुपद सुता जब टेर सुनाई, झट से आ पहुँचे ब्रजराई,
भक्त टेक नहिं टारी ।। गिरिधारी० ।।
प्रेम शून्य संसार सकल है, पाप पङ्कमय महिमण्डल है,
भक्तन सङ्कट भारी ।। गिरिधारी० ।।
आवहु श्रीब्रजराजदुलारे, दर्शन आकुल नयन हमारे,
चक्र सुदर्शनधारी ।। गिरिधारी, भक्तन के हितकारी ।।

(प्रस्थान)

(सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—(स्वगत) आज यह क्या बात है ? इस समारोह और धूमधाम का क्या कारण है ? ऐसे ऐसे महानुभाव जिसमें विद्वन्मण्डली भी दीख पड़ती है, आज मेरी दीन कुटिया में कैसे पधारे हैं ? (चारों ओर देखकर)—ओहो ! यह तो मैं टहलता हुआ अपनी रंग भूमि में आ पहुँचा, इस कौशल और चतुरता से सजी हुई तो मैंने इसको कभी नहीं देखा, आज तो मैं प्रत्येक वस्तु में विशेषता देख रहा हूँ । भगवान् ही जानें आज कौनसा अभिनय होगा ? अवश्य ही यह

मेरी प्रिया के हस्तलाघव का ज्वलन्त उदाहरण है। अवश्य उसी ने किसी नाटक के अभिनय की घोषणा की है। उसी से पूछना चाहिये।

(नटी को आवाज देता है)

(नैपथ्य में से) अभी आती हूं।

(प्रवेश)

(सूत्रधार दो तीन कदम पीछे हट जाता है)

नटी— कहिये प्राणनाथ ! दासी को क्या आज्ञा होती है ?

सूत्रधार—ओहो ! आप आई हैं ! आज तो मेरी आँखें बिलकुल धोखा खा गईं। एक तो आपके रङ्गमंच की विचित्र छटा को देखकर मैं अपने नेत्रों को सफल कर रहा था, दूसरे आपके भुवनमोहन लक्ष्मीस्वरूप के दर्शन करके तो कृतार्थ हो गया ! अब आप क्या यह बताने का कष्ट करेंगी कि इस समारोह का कारण क्या है ?

नटी— प्राणनाथ ! मुझे तो आज कोई विशेषता ज्ञात होती नहीं, और यदि कुछ है भी तो वह इसलिये कि हम अपने आचार्यवर श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी महाराज के जीवन की एक लीला का अभिनय करने को प्रस्तुत हुए हैं। इसीलिये मैंने आपके अनुशासन की भी आवश्यकता न समझी और जनता को घोषित कर दिया।

सूत्रधार—धन्य है ! प्रिये ! तुम सचमुच ही लक्ष्मी का अवतार हो, तुमने खूब सोचा, हमारे इष्टदेव भगवान् राधिकावल्लभ के अनन्योपासी वंशीस्वरूप आचार्य्य-वर श्रीमद्हितहरिवंशचन्द्र गोस्वामी जी की जीवन लीला का तुमने खूब विचार किया। अब इतना और बतला दो कि तुमने उसमें श्रीहितजी के जीवन की किस लीला को चित्रण करने का प्रयास किया है।

नटी— प्राणाधार ! मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि आपने इस अभिनय के विषय में सहर्ष स्वीकृति दे दी है। हमने इस छोटी-सी नाटिका में आचार्य्य प्रभु की अनन्य भक्ता स्त्रीकुलमुकुटमणि गंगाबाई यमुनाबाई के चरित्र को चित्रण करने की चेष्टा की है।

यह दोनों बालिकायें एक डाकू की पुत्री थीं, परन्तु उचित सत्संग और अविचल भक्ति के कारण, यह प्रभु के चरणों में आ पहुँचीं। उस डाकू के मरने के समय से लेकर इन बालिकाओं के प्रभु के चरणों में अर्पित होने तक की कथा इसमें वर्णित की गई है। साथ में ही श्रीहित प्रभु का श्रीवृन्दावन पधारना भी दिखलाया गया है। आशा है कि आपको यह कथा पसन्द आवेगी।

सूत्रधार–वाह प्रिये ! क्या ही उत्कृष्ट विषय चुना है, चलो अब शीघ्र तैयार हो जाओ।
नटी— प्रियतम ! तब तो हमारे नाटक को सफलता में कुछ भी सन्देह नहीं है। चलिये अब चलें।

(प्रस्थान)

दृश्य दूसरा—समय (सन्ध्या)

स्थान—श्रीवृन्दावन यमुना तट

(नारदजी का हाथ में वीणा लिये हुए प्रवेश)

नारदजी--भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं, भज मूढमते ! हे नारायण, भारी कर्त्तव्य का बोझ सिर पर लदा हुआ है, सारे संसार में तुमुल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। कई बार ध्यान करके देखा है, जहाँ तक मानसिक शक्ति पहुँच सकती है, अच्छी तरह मनन करके देखा कि सारा संसार प्रतिहिंसा की तीव्र आग में धक-धक जल रहा है। भाई-भाई को, माँ बेटे को, पत्नी पति को हड़प करने का प्रयत्न कर रहे हैं। संसार से स्वाभाविक विश्वास, प्रेम और सहानुभूति का अस्तित्व तक मिटा जा रहा है। एक दुर्दमनीया पैशाचिकी शक्ति बड़े वेग से भगवान् के समुज्ज्वल मुख पर घोर कलंक का तिमिरावृत आवरण डालना चाहती है। एक ओर वह देखो यवनगण हिन्दू धर्म का सत्यानाश करने के लिए बड़े वेग से चले आ रहे हैं, दूसरी ओर भारतवासियों के दुर्बल हृदय उनकी विश्वविजयनी भैरव हुंकार के सम्मुख नतजानु हो रहे हैं। पुष्पोज्ज्वला, ब्रह्मादि देवर्षिगण पूजिता, पवित्र भारत भूमि इस समय वीभत्स श्मशान बन रही है। नारायण ! एक बार तो अपनी इस क्रीडास्थली भारतभूमि के ऊपर दृष्टि पात करो। अब विशेष अवहेलना करने से कार्य नहीं चलेगा। अब आपकी एक ही नींद में हिन्दु जाति का अस्तित्व तक मिट सकता है, परन्तु हाँ, याद आता है उस दिन आपने मुझसे कहा था कि जिस प्रेम का प्रचार आप अनेक अवतार धारण करने पर भी सांसारिक बाधाओं के कारण इस लोक में नहीं कर सके थे, उसी श्रीप्रिया प्रियतम के अखंड प्रेम को आपने मूर्तिमान करके एक आचार्य के रूप में इस पृथ्वी पर भेजा है। उन्हीं के पवित्र दर्शनों के लिए मैं आज श्रीवृन्दावन में आया हूं क्योंकि मुझे ज्ञात हुआ है कि वे अपने स्वभावतः श्रीप्रिया प्रियतम की निकुंजोपासना में ही मग्न रहते हैं। उनका विचार प्रेम के गूढ़ सिद्धान्तों को प्रचार करने का नहीं है, तो फिर इस अवतार से संसार को क्या लाभ ? परन्तु नहीं, मैं उनसे प्रार्थना करूँगा।

(पीछे की ओर पद ध्वनि । नारद जी सहसा चौंक कर देखते हैं । कुंजों में श्रीहितजी दिखाई पड़ते हैं)

अवश्य वही हैं, अवश्य वही श्रीहित स्वरूप श्रीहितजी महाराज हैं, मुख पर कैसा तेज है, नेत्र कैसे रसीले हैं, कैसी सुन्दर सुडौल देह है, प्रत्येक अङ्ग से साकार प्रेम की झाँकी हो रही है, ऐसा कौन मनुष्य होगा जिसके हृदय में दर्शन करते ही इनके प्रति श्रद्धा का उद्रेक उत्पन्न न हो । अब निकट जाकर अपना परिचय देना चाहिये (निकट जाकर) महाराज के चरणों में नारद प्रणाम करता है ।

श्रीहित०--कौन ? महात्मन् ! आप हैं, कहिए आज आपको कैसे इस व्रजधरा की सुधि आ गई ?

नारद— महाराज यह न समझिये कि हम निश्चेष्ट होकर बैठे हैं । पृथ्वी पर इस अनाचार, अन्याय और हिंसा का इतना प्रभाव देखकर हमारा हृदय सदैव अनुताप की तीव्र अग्नि में जलता रहा है; परन्तु ... प्रभो ! हमारे भीतर इसको हटाने की शक्ति नहीं है वह शक्ति तो आप में ही है । देव ! आप अन्तर्य्यामी हैं परन्तु जब-जब पृथ्वी पर आपने अवतार लिया है, तब-तब आपके निर्दिष्ट कार्य का निदर्शन हमारे द्वारा ही कराया गया है, देखिये प्रभो ! सारी भारत भूमि एक विशाल नरककुण्ड बन गई है, जिसके ऊपर पिशाचगण ताण्डव नृत्य कर रहे हैं । काश्मीर से लेकर रामेश्वरम् तक और बंगाल से सिन्ध तक देश के कोने-कोने में से एक मर्मभेदी करुण चीत्कार निकलकर हृदय को विदीर्ण किये डाल रही है । स्त्रियां विधवा हो रही हैं, बालक अनाथ हो रहे हैं, ब्राह्मण पैरों के नीचे कुचले जा रहे हैं, गायों का बलिदान किया जा रहा है, हिन्दू हिन्दुओं का सर्वनाश कर रहे हैं, भाई-भाई के गले पर छुरी चला रहा है, एक छोर से दूसरे छोर तक देश में आग लगी हुयी है, निखिल संसार हिंसामय है । प्रभो ! संसार पर कृपादृष्टि कीजिये, प्राणीमात्र को प्रेम का पाठ पढ़ाईये, संसार के प्रत्येक पुरुष को पवित्र प्रेम-पथ का आदर्श पथिक बनाइये ।

श्रीहित०--महात्मन् ! मेरे हृदय में भी संसार की पतित अवस्था पर दुःख और करुणा के भाव उत्पन्न हुए हैं । मैं प्राणी मात्र में प्रेम का संचार करूँगा ।

नारद०—धन्य है (आकाश से पुष्प वृष्टि)

(नारद स्तुति करते हैं ।)

॥ गान ॥

(ताल आडा चौताला)

हित प्रभु प्रेम के अवतार ।
हित है सुदृढ़ नाव रसिकन कौ श्रुति स्मृति कौ सार ।

हितमय करिये जगतीतल को कर निज शक्ति प्रचार ॥
करिये सुगम अगम्य ब्रह्म को हो जग में उपकार ।
जिसको वेद अरूप बतावें हित में वह साकार ॥
टूटे तार हृदय-तन्त्री के गूंजें सुन गुञ्जार ।
हिन्दू जाति अभ्युदित होवे हो जीवन सञ्चार ॥
शेषशुकादिक नेति नेति कह महिमा अपरम्पार ।
करिये कृपा ललित भक्तन पर होवे बेड़ा पार ॥

(प्रस्थान)

दृश्य तीसरा—समय (रात्रि)

स्थान—भैंगांव में राजमहल

(नरवाहनजी और उनके सेनापति वृक्ष के नीचे बैठे हैं)

नरवाहन–(सेनापति से) क्यों सेनानी, आज के युद्ध में मुझको कितनी सफलता हुई, कोई अपना आदमी तो नहीं मारा गया, किसी प्रकार की चोट तो नहीं आई और कितना धन हाथ लगा ।

सेना०— महाराज ! बड़ी लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि आज हमको बुरी मुँह की खानी पड़ी, यद्यपि हमारा कोई आदमी नहीं मारा गया, परन्तु हमें बहुत आफतें उठानी पड़ीं ।

नरवाहन–इसमें तो कोई चिन्ता की बात नहीं है । सेनानी ! जय-पराजय की तो मुझे कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि जो जीतता है वह हारता भी है, परन्तु इतना अवश्य है कि ऐसे विकट शत्रु का दमन अवश्य करना चाहिये । क्या तुमको मालुम है कि रात्रि को शत्रु सेना कहाँ डेरा डालेगी ?

सेना०— महाराज ! हमने यह खबर लाने के लिये गुप्तचरों को भेजा है, आने पर सेवा में भेज दिये जायेंगे ।

नरवाहन–अच्छा तुम जाओ, गुप्तचरों के आने पर खबर देना । हाँ ! मन्त्रीजी को भेज देना ।

(सेनापति का प्रस्थान)

(मन्त्री का प्रवेश)

नरवाहन—(मन्त्री से) आइये मन्त्रिवर, मैंने आपको इस समय इसलिये बुलाया है कि--मैं कल एक युद्ध में जा रहा हूँ, न जाने उसका क्या फल हो, क्योंकि शत्रु बहुत प्रबल है, और जैसा कि तुमको ज्ञात हो गया होगा कि आज के युद्ध में हमको हार खानी पड़ी है, इसलिये तुम अपने धन और कैदियों को किसी गुप्तस्थान में छिपा दो। यदि कुछ धन रह जाय तो जाने देना, परन्तु सावधान, कोई कैदी छूटने न पावें, यदि कैदियों की संख्या अधिक हो तो जिनसे कुछ मिलने की आशा नहीं है उनको कत्ल करवा देना। अच्छा अब जाओ।

मन्त्री— जो आज्ञा।

(मन्त्री का प्रस्थान)

(सेनापति का पुनः प्रवेश)

सेना०— महाराज ! हमारे गुप्तचरों ने लौटकर खबर दी है कि शत्रु सेना भाण्डीर वन में डेरा डालेगी—वह लोग हमारी ओर से बिलकुल निश्चिन्त हैं। उन्होंने समझ लिया है कि वह लोग हमारा सर्वनाश कर चुके हैं।

नरवाहन—बहुत ठीक, हम उनको कल इस बात का परिचय दे देंगे। अब तुम सब सैनिकों को सूचित कर दो कि कल प्रातः काल चार बजे ही धावा बोला जायगा, साथ में मसालें भी न रहेंगी।

(दो सैनिकों का प्रवेश)

पहिला सैनिक—महाराज ! आज हमको वन में आखेट नहीं मिला।

नरवाहन—क्यों क्या हुआ ? क्या वन में जानवर ही नहीं मिलेंगे अथवा सब वन छोड़कर और कहीं भाग गये या दावाग्नि में भस्म हो गये—स्पष्ट कहो।

पहि० सै०-नहीं महाराज ! आज हमको वन में आखेट के योग्य जानवर ही नहीं मिले, जो जानवर हमारा मुँह देखकर प्राण लेकर भागते थे, वही आज आकर हमारा हाथ चाटने लगे। पहिले तो हम डरे और एक पेड़ पर चढ़ गये, परन्तु पीछे मालुम हुआ कि उनकी नीयत खराब नहीं है। विकराल भेड़िये गायों के साथ घास चर रहे थे, मोरों के बच्चे साँपों के साथ खेल रहे थे। हमको बड़ा आश्चर्य हुआ और हम गाँव की ओर भाग कर गये, परन्तु वहाँ और भी विचित्र दृश्य देखा। सब लोग एक ही ओर को दूध दही की मटकियां भर कर लिये जा रहे थे, सब प्रेम में मग्न थे। कोई पूछने पर बतलाता भी नहीं था, बहुत पूछने पर मालुम हुआ कि कोई महात्मा वृन्दावन में पधारे हैं। उनका नाम हरि.........हां ऐसा ही कुछ बतलाया है (दूसरे से पूछता है) क्या था भाई ?

दूसरा— श्रीहरिवंशजी महाराज !

नरवाहन–अच्छा अब तुम जाओ। अभी तुम्हारे खाने का प्रबन्ध कर दिया जायगा। (सेनापति से) सेनानी ! अब तुम भी जाओ कल ठीक समय पर तैयार रहना।

(सबों का प्रस्थान)

नरवाहन–(स्वागत) हरिवंशजी ! कैसा सुन्दर नाम है। नाम सुनते ही हृदय में कैसे भाव उठने लगे, ऐसा ज्ञात होता है कि किसी के कोमल कर स्पर्श से युगों के सोये हुए हृदय संगीत के मधुर सुर एकदम काँप गये हों। चिरन्तन स्मृति की भाँति, अदृश्य छायाचित्र की भांति एक पारलौकिक विचित्र चित्र हृदय के किसी अन्धकारमय कोने में से निकाल कर सारे हृदय को ढक लेता है, परन्तु सहस्त्रों उपाय करने पर भी मैं उसको नहीं देख पाता, देखने का प्रयास करते ही वह फिर उसी अनन्त अंधकार में विलीन हो जाता है। (सहसा चौंक कर) यह कोई दूर पर मुझे हाथ से कुछ इंगित कर रहा है। परन्तु न तो मुझको कुछ सुनाई ही पड़ता है और न कुछ उसके रहस्यमय संकेतों का अर्थ ही समझ में आता है। भगवान् जाने दूर रहने को कहता है या पास आने को। कभी तो हृदय मयूर की भाँति नाच उठता है और कभी वियोगी चक्रवाक की भाँति अधोमुख होकर बैठ रहता है। समझ में नहीं आता कि यह क्या मांगता है। जिसके नाम में ऐसा जादू है उसके दर्शन अवश्य करने चाहिये, उनके चरणों तक पहुँचने की चेष्टा अवश्य करूंगा चाहे पहुँच सकूँ या नहीं।

चौथा दृश्य—समय (रात्रि)

स्थान – कामाँग्राम में कोतवाल का घर

(कोतवाल बैठे हैं तीन ग्रामवासी हाथ जोड़े खड़े हैं।)

१ ला. गा.–हजूर मेरी सिगरी गैया भैंसन कू डांकू लोग हाँक लै गये। हम लोग उन्हें छुड़ायबे गये तो हमारे तीन आदमीन नैं जानतें मार गये, और लौट के हमारे छप्पर में आग दै गये, और हमारे चक्की चूल्हे तक ढोय लै गये, हजूर हमैं चालीस सेरा नंगौ कर गये। दुहाई है हजूर की !

२ दूसरा०–हजूर मेरी मैयाकूं और बेटाकूं जान ते मार गये। हाय मैया हाय बेटा ! (रोता है)

फोजदार—शान्त होओ ग्रामवासियो ! मैं उनको गिरफ्तार करने को फौज भेजता हूं, तुम्हारी यह दशा देखकर मेरा हृदय फटा जाता है, तुम्हारे गर्म आंसुओं ने मेरे हृदय में पहुँचकर मुझे पागल बना दिया है, परन्तु क्या करूं उन डाकुओं ने सिपाहियों को ऐसा डरा दिया है कि वे लोग उसके पास जाने तक का साहस नहीं करते ।

(नैपथ्य में कोलाहल—भागो भागो और बन्दूक छूटने का शब्द)

(एक सिपाही का प्रवेश)

सिपाही—(कांपते हुए) भागिये हुजूर ! डाकू लोगों ने आपके दौलतखाने पर हमला कर दिया है । हमारे सब आदमी मारे गये, हम सिर्फ तीन आदमी रह गये हैं, वे लोग अब भी पाँच से ज्यादा हैं (नैपथ्य में चरण की आवाज) वह सुनिये सदर फाटक तोड़ दिया गया । भागिये-भागिये (भागना चाहता है)

कोतवाल—कहाँ भागता है वे नमकहराम पाजी-मर सामने खड़ा होकर मर—(ग्राम वासियों से) सम्हाल लो भाई, तुम भी अपनी लाठियाँ सँभाल लो । भगवान ने तुमको अपने धन, परिवार, माता, पिता और पुत्रों के बदला लेने का अपूर्व मौका दिया है । सावधान, देखो वे डाकू आ रहे हैं, एक भी बचकर न जाने पावे—(नैपथ्य में पकड़ो पकड़ो का शोर, और सशस्त्र पांच डाकुओं का प्रवेश, युद्ध, डाकुओं का भागना और कोतवाल की गोली से डाकुओं के सरदार का घायल होकर गिरना ।)

कोतवाल—पापी कुछ भी युद्ध नहीं कर सका—जा घोर नरक में जाकर, अपने पापों का प्रायश्चित कर ।

डाकू - कोतवाल साहिब जाता हूँ, मगर एक प्रार्थना है उसे पानी·······पानी···· ··· पा·· ····नी···· ।

कोतवाल—(अपने नौकर से) जल्द पानी लाओ ।

(नौकर पानी लाता है)

(कोतवाल डाकू को पानी पिलाता है)

डाकू— (बड़े कष्ट से) भगवान तुम्हारा कल्याण करें, कोतवाल साहिब, यद्यपि प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु निश्चित है और मैं भी कभी मरता ही, परन्तु-सच पूछिये तो मैं अभी नहीं मरना चाहता था । कारण यह है कि मेरे ग्यारह और नौ वर्ष की दो कन्यायें हैं, जो मातृ विहीना हैं, उनका मेरे सिवाय और कोई नहीं है, क्योंकि कौन मनुष्य मुझ जैसे भयानक डाकू के साथ सम्बन्ध रखने का साहस करेगा । आज वे बालिकायें अनाथ हो गई, उनको आप कृपा करके वृन्दावन भिजवा देना, वे अपने इष्टदेव को वहाँ जाकर स्वयं खोज

लेंगी—मैंने ये ही शब्द कहने के लिए आपकी गोली लगे हुए घाव पर हाथ रख छोड़ा था, और रक्त को प्रवाहित होने से रोक रक्खा था। अब मैं जाता हूँ, (घाव पर से हाथ हटा देता है और रक्त बड़े वेग से बहने लगता है) मेरा जीवन इस रक्त के साथ बहा जा रहा है। बेटी गंगा... ....ज........मु —ना.... (मृत्यु)

कोतवाल०-(साश्चर्य) कैसा आश्चर्य है, भगवान तुम्हारी लीला अपरंपार है, इसके कन्यायें हैं, सो भी बड़ी पुण्यमयी ! बबूल के पेड़ में गुलाब के फूल लगे हैं—! ओफ इस नरपिशाच के पाषाण हृदय के अलक्षित कौने में वात्सल्य रस की पतली धारा प्रवाहित हो रही थी, जो समय पाकर प्रस्फुटित हो गई, कौन कल्पना कर सकता है, कि जो मनुष्य विचार किये बिना ही हँसते हुए ग्रामवासियों के निरीह निस्साहस और निरपराध बच्चों की हत्या कर सकता है, मनुष्यों को जीते ही जला सकता है, उसके भी हृदय होगा— उसके भी स्नेह होगा—अच्छा—मैं उन कन्याओं को वृन्दावन पहुँचा दूंगा, इसमें हानि ही क्या है। मरणासन्न शत्रु की भी इच्छा पूर्ण करूंगा।

(प्रस्थान)

दृश्य पांचवाँ—समय (सन्ध्या)

स्थान—महन्त चिरानन्द का मकान

चिरानंद- (चिन्तित भाव से टहल रहा है) विकट समस्या है एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा, हे भगवान् ! जाने यह तांता कब टूटेगा ? अब तो श्रीवृन्दावन में आचार्यों ने आ आकर अड्डा जमाना प्रारम्भ कर दिया है। एक ही महीने में इन लोगों की चरण कृपा से मन्दिर की भेट आधी ही रह गई। जो कुछ चैन की वंशी बजती भी थी, उसमें भी बाधा पड़ने लगी। गांवों से लगान के दो सौ रुपये मासिक आते हैं, इसमें से आधा तो बाइयों के संग्रह निमित ही व्यय कर दिया जाता है, और आधे में घर का, मन्दिर का और गाय भैंसों का खर्च चलता है, अब महन्तजी रह गये चालीस सेरे बाबाजी ! फिर हमारे ऊपर भगवान की अनुकम्पा का दूसरा उदाहरण यह है कि हमको बाईजी ऐसी गोवर गणेश मिली हैं कि जन्म से हँसना तो उनको किसी ने सिखाया ही नहीं। जो कभी हँसने की महान् कृपा भी करती हैं तो ऐसा मालुम होता है मानों फूट-फूट कर रो रही हैं। यदि अणुवीक्षण यंत्र से भी उनको ऊपर से नीचे तक छान बीन कर देखा जाय तो भी हृदय का पता तो कहीं चलने का नहीं, परन्तु हाँ ईश्वर है

न्यायी, कि ऐसे हृदय हीनों को बहुधा सुन्दर रूप से आच्छादित कर देता है, नहीं तो ऐसी को कोई दो कोड़ी में भी तो पूछे नहीं, क्या बेजोड़ जोड़ मिलाया है।

हमारा सिद्धान्त है --वे मौत चाहैं मरजाना।
जीवन भर मौज उड़ाना ॥

और उनका सिद्धान्त है—जोड़ जोड़ मर जाओ।
पैसा एक न खाओ ॥

हम स्वर्ग तो वे नर्क, हम पूर्व तो वे पश्चिम।

(नेपथ्य में जय राधे, जय राधे की आवाज होने पर)

स्वागत— यह क्या बाबा, ये क्या बला आई।

प्रकट— यहाँ कोई नहीं है भाई ! महन्तजी के पास जाओ। (उठकर नेपथ्य में देखता है) अच्छा हुआ बला टली, आगये राधे राधे करते, मानों इनके बाबाजी हमारे पास धन रख गये थे कि जब हमारे बेटाजी आवें तो उनकी भेट कर देना। ऐसे तो दिन में सैकड़ों यम के दूत आते हैं, यदि प्रत्येक को दूं तो दो रुपये के पैसे तो, इनके लिये ही चाहिये। दो-दो रुपये करके एक महीने में साठ रुपये होते हैं, उनकी यदि बाईजी के लिए चूड़ियाँ बनबाई जांय तो क्या बात है।

(नेपथ्य में फिर राधे-राधे की आवाज)

चिरानंद- (स्वागत) अरे यह तो फिर आगया।
(प्रगट) क्या है भाई ! अन्दर आओ।
(वैष्णव के आने पर) यहाँ कुछ नहीं मिलने का बाबा जी, और कहीं देखो मालिक।

वैष्णव— आप इतने व्याकुल क्यों होते हो ? मालुम होता है कि आप कोई स्वप्न देख रहे हैं। मैं आपके पास कुछ माँगने नहीं आया हूँ, कुछ दिलाने ही आया हूँ।

चिरानंद- आइये, बैठिये, क्षमा कीजिये। क्या बतलाऊँ महाराज ! रोज इतने भिख-मंगे आते हैं कि मैं देते-देते तंग आजाता हूं। कहिये आपका पधारना कैसे हुआ। दास पर बड़ा अनुग्रह किया (नौकर से) ऐ लड़के ! श्रीमहाराज के लिये एक कुर्सी लाओ।

वैष्णव— क्षमा कीजिये, मुझको बैठने का समय नहीं है। अन्य स्थानों पर भी निमन्त्रण देने जाना है। आपको विदित होगया होगा कि आचार्य वर श्रीहित हरिवंश जी महाराज नाम के एक महात्माजी श्रीवृन्दावन में पधारे हैं। उन्हीं के

मन्दिर में कल एक विराट ब्रह्म भोज होगा, उसी में आपका सब शिष्यों सहित निमंत्रण है।

चिरानंद– (स्वागत) ब्रह्मभोज होगा ? आचार्य महाराज के मन्दिर में विराट ब्रह्म-भोज होगा ! अभी दो दिन भी आये हुए नहीं हुए कि मन्दिर बन गया और ब्रह्मभोज भी होने लगे। ठीक है जो कुछ भी हो सब थोड़ा है। अच्छा, अब इससे यह तो पूछ लेना चाहिये कि ये सब महात्मा लोग जो भी वृन्दावन में पधारते हैं तो घर से ही रुपये बनाते आते हैं कि श्रीवन की ठंडी-ठंडी हवा लगते ही वे रुपये बनाने लगते हैं। बाबा ! कहीं यह कला मुझे मालुम हो जाय तो फिर क्या चिन्ता है ? दो नहीं दो सौ बाईजी पड़ी रहो। (प्रगट) बहुत अच्छा महाराज ! मैं तो किसी निमन्त्रण में जाता नहीं, परन्तु अपने चेलों को अवश्य भेज दूंगा, परन्तु महात्माजी (निकट जाकर) एक बात तो बतलाइये कि इन आचार्यों के पास इतना धन कहाँ से आ जाता है ? इतना तो मुझे मालूम है कि घर से तो ये लोग कोरे ही आते हैं, परन्तु यहाँ आते ही धन बरसाने लगते हैं "सहचारी विजानीयात् चरित्रं सहचारिणम्" आप साथ रहते हैं, भला आपको तो पता ही होगा। यदि आप कृपा करके मुझे यह भेद बतला दें तो मैं आजन्म ऋणी रहूँ और दास की तरह आपकी सेवा करता रहूँगा।

वैष्णव— (अलग हटकर हँसते हुए) आप विज्ञ होकर कैसी पागलों की सी बातें करते हैं। आचार्य लोगों के तो नजर दौलत है, जिस तरफ देखें उधर धन ही धन है। फिर हमारे हिताचार्य महाप्रभु तो बिल्कुल ही विरक्त महानुभाव हैं। उन्होंने तो एक बार आई हुई लक्ष्मी को भी लौटा दिया है, उनके लिये तो केवल "राधा" नाम ही सर्वस्व है और यदि कोई वैष्णव ब्रह्मभोजादि कराता है तो वे उसमें हस्तक्षेप भी नहीं करते।

चिरानंद– (स्वगत) हे नारायण ! लक्ष्मी आई थी और उन्होंने लौटा दी ! कैसा आश्चर्य है। (प्रगट) तो भी महात्माजी कम से कम तुमको वह मंत्र तो मालुम होगा ही, जिसके जप से इतनी बड़ी सिद्धि हो जाती है।

वैष्णव— हां, वह मन्त्र तो मुझे अवश्य मालूम है, परन्तु तुम स्वयं जाकर उनसे इस मन्त्र की दीक्षा क्यों नहीं ले लेते ? वे निःसंकोच होकर योग्य पात्र को वह मंत्र बता देते हैं ? अब मुझे आज्ञा मिले, अन्य जगह भी मुझको निमन्त्रण देने जाना है। आप शिष्य मण्डली सहित अवश्य पधारियेगा। भोज का समय मध्याह्नोत्तर है। (जय जय श्रीहरिवंश करके प्रस्थान)

चिरानंद– (थोड़ी देर सोचकर) सब झूंठ है, सब धोखा है, कहीं यह भी सम्भव हो सकता है। मैं सबेरे ८ बजे से १० बजे तक जाने कितने पोथाओं को आदि से अन्त तक देख जाता हूं, परन्तु कुछ नहीं, सब धोखे की टट्टी है—

इस असार संसार में दो चीजें हैं सार।
खाना पीना मौज से करना केलि विहार ।।

पर किसी रोज जाऊँगा अवश्य, कुछ हाथ पल्ले पड़ गया तो क्या बात है, अब चलूं जरा उधर भी ...

(आँख मिचकाकर प्रस्थान)

अङ्क द्वितीय

दृश्य पहला—(संध्या के ५ बजे)

(कुञ्ज में ध्यान मग्न बैठे हैं)

श्रीहित जी–(स्वगत)

ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूह पदारविन्द, श्रीमत्पराग परमाद्भुत वैभवायाः ।
सर्वार्थसार रसवर्षिकृपार्द्र दृष्टे स्तस्या नमोस्तु वृषभानु भुवो महिम्ने ।।१।।

यद्राधापद किंकरी कृत हृदां सम्यग्भवेद्गोचरम् ।
ध्येयं नैव कदापि यद् हृदिविना तस्याः कृपा स्पर्शतः ।
यत् प्रेमामृत सिंधुसार रसदं पापैक भाजामपि ।
तद् वृन्दावन दुष्प्रवेश महिमाश्चर्यं हृदि स्फूर्जतु ।।२।।

(धीरे २ बाहर पधारकर } (स्ववत) कैसी सुहावनी है, यही वह अतीत काल की सुरम्य वृन्दाटवी है, वह देखो ! निकट ही कज्जल जला भानुतनया चिरकाल से प्रेम के अनादि संगीत को अपनी सुमधुर कल-कल ध्वनि द्वारा अलापती हुई शस्य श्यामला, ब्रह्मादिक अर्चिता, प्रिया-प्रियतम की केलिगेह व्रजधरा की भी वृद्धि करती हुई अनन्त में विलीन हुई जा रही है। कैसी हृदयानन्ददायक मन्द सुगन्धित मलय समीर बह रही है। तटस्थ वृक्षों की शोभा कैसी मनोहारिणी है। वृक्षों में से असंख्य पुष्पों के गिरने के कारण यमुना जल कैसा सुरभित हो गया है। ज्ञात होता है कि विटपगण अपने पुष्पों द्वारा कलिन्दजा के प्रति कृतज्ञता निदर्शन का कार्य कर रहे हैं। अहा ! एक ओर पक्षीगण अपने कंठ-माधुर्य से नभधरा के छोरों को मिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं—सघन लता गुल्म गुम्फित कुंजों के भीतर मयूर-मयूरी आँख मिचौनी खेल रहे हैं। एक ओर वह देखो ! भ्रमर गण अपनी मत्त गुञ्जार द्वारा अपने अखण्ड प्रेम का संदेश भेज रहे हैं। कैसा सुन्दर

है ! प्रत्येक चर-अचर प्रेममय है, प्रत्येक अविकसित कली के हृदय पटल पर यही प्रेम के ढाई अक्षर अङ्कित हैं। धन्य है, यह सब तुम्हारी ही महिमा है।

(एक व्यक्ति का प्रवेश)

एक व्यक्ति–महाराज व्रज के राजा नरवाहन जी आपके दर्शनों के लिये पधारे हैं।

श्रीहित जी–क्यों ? अच्छा आवें ना !

(नरवाहनजी का प्रवेश)

नरवाहन— (साष्टाङ्ग प्रणाम के बाद) श्री महाराज को मेरे आगमन से अवश्य आश्चर्य हुआ होगा; क्योंकि सारे व्रज मण्डल में मैं पाप की मूर्ति के नाम से प्रसिद्ध हूँ। जन समुदाय मेरा नाम सुनते ही कांप उठता है। परन्तु, प्रभो ! जिस दिन से मैंने आपका नाम सुना, उसी दिन से मेरी प्रकृति में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा, मुझे युद्ध और व्यर्थ रक्तपात से घृणा होने लगी, मेरा हृदय किसी अज्ञात वस्तु के लिये लालायित रहने लगा, दिन प्रतिदिन विकलता बढ़ने लगी, मैं पागलों की भांति दौड़ता हुआ आपके चरणों तक आ पहुँचा। प्रभो ! शरण दीजिये।

श्रीहित जी–वत्स ! इतने व्याकुल क्यों होते हो ? मैं तुमको स्वयं बुलाने वाला था। मुझे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि तुम बटोहियों को लूटकर उनके प्राण तक ले लेते हो, और गाँवों में आग लगाकर उनको नष्ट भ्रष्ट कर देते हो। अब तुम्हीं बतलाओ कि यह काम क्या क्षात्र धर्मोचित है ? मनुष्यों जैसा है ? राजन् ! यदि तुमको मुझसे तनिक भी प्रेम हो तो तुम इस हिंसा का, इस अन्याय का, नाश करने का यत्न करो।

नरवाहन—नहीं, महाराज, यह तो कौन मनुष्य कह सकता है कि यह मानुणिक कार्य है, परन्तु प्रभो ! यह कुसंस्कारों का भयंकर परिणाम है। सच्चे पथ प्रदर्शक रहित समाज का ज्वलन्त उदाहरण है, परन्तु प्रभो ! मैं देख रहा हूं कि आपके नाम में वह शक्ति है कि पाषाण में भी पवित्र प्रेम की धारा प्रवाहित हो जाय। मैं देख रहा हूँ कि आपके मत्त प्रेम संगीत ने भोले-भाले व्रज-वासियों के हृदय पर रंग जमाना प्रारम्भ कर दिया है। प्रेम लहरी के मधुर स्वरों का आलिङ्गन करके हृदय तन्त्रों के टूटे तार एकदम थिरक उठे हैं, और उनमें से निकली हुई अस्पष्ट मृदुल ध्वनि ने व्रजमंडल को मन्त्र मुग्धसा कर दिया है····आकाश में मेघ घिर रहे हैं। अवगुण्ठन रहित नव-वधू की भांति चन्द्रदेव सलज्ज मन्द-मन्द मुसकराते हुये चले आरहे हैं, पीछे-पीछे तारिकाएँ सहेलियों की भाँति अठखेलियाँ करती हुई भागी चली आ रही हैं। दूर पर कोई रमणी अपने किन्नर कलकंठ से मलार अलाप रही है। सारा संसार प्रेममय है, सारा संसार आपके चरणों की ओर भगा चला

आ रहा है, परन्तु प्रभो ! सहस्रों उपाय करने पर भी आपके चरण कमलों का स्पर्श नहीं कर पाते। महाराज ! प्रेम में कठोरता का भाव कैसा ? चिर शान्ति में अकारण क्रोध की सम्भावना कैसी ?

श्रीहितजी—वत्स ! धैर्य रक्खो, एक बार फिर देखो, जहाँ तक दृष्टि जा सके। अच्छी तरह विचार कर देखो कि संसार में चिर शान्ति और वास्तविक प्रेम कहाँ है ? सब बिडम्बना मात्र है ! प्रेम और शान्ति की ओट में बैठ कर आखेट खेलना है ! जानते हो आज संसार में क्या हो रहा हैं ? जानते हो, आज कितने निरपराधों को इन दो नामों पर बलिदान होना पड़ रहा है ?⋯भाई बड़े प्रेम से अपने भाई को दूध का कटोरा भर कर देता है, परन्तु हा दुर्भाग्य! उस अभागे को उस कटोरे का मूल्य अपने जीवन से चुकाना पड़ता है। स्त्री बड़े प्रेम से अपने पति का आलिङ्गन करती है, परन्तु वह विचारा उस आलिङ्गन का बदला नहीं दे पाता, फिर तुम कहते हो कि संसार में प्रेम प्रतीत होता है ! मुझे तो यह सब बातें दुराशा मात्र है मरणासन्न प्रेम की करुण चीत्कार-सी ज्ञात होती है।

नरवाहन—तब फिर प्रभो ! प्रेम और शान्ति कहां हैं ? आप आदेश करिये और मैं वही करने का प्रयास करूँगा। महाराज ! यद्यपि मेरा हृदय वर्षों से हिंसा की तीव्र अग्नि में जलते-जलते भस्म हो गया है, परन्तु मैं देख रहा हूं कि आपके दर्शन मात्र से उसमें से नया अंकुर फूट निकला है प्रेम की इस प्रबल बाढ़ में मैं बहा चला जा रहा हूं, चारों ओर महान् प्रकाश है, यहाँ की प्रत्येक वस्तु सौ-सौ सूर्य की भाँति भास्कर है। गुरुदेव ! मैं चौंधिया गया हूं, कुछ समझ में नहीं पड़ता कि मैं कहाँ किस अवस्था में हूं।

श्रीहितजी—वत्स ! मनुष्य प्रेम के द्वार पर खड़ा हुआ है। द्वार खुला है, कोई रोक टोक नहीं है; परन्तु एक पग नहीं बढ़ाया जाता, नीचे से मदिरा की तीव्र दुर्गन्ध आ रही है, और वह उसी में मत्त खड़ा है। यदि कभी प्रेमोद्यान से सुगन्धित मलय समीर का एक झोंका भी आया, तो उस झोंके को भी मदिरा की सुगन्ध का कोई असाधारण विकास समझ कर वह फिर उसी में मत्त हो जाता है.... सारा ससार एकटक उसी की ओर देख रहा है, उन सबों का उससे किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध है। यह लो ! देखते ही देखते वह गिरता है, परन्तु हैं ! यह क्या ? उसकी ओर से सबों ने मुंह फेर लिया, और वह अनन्त विस्मृति में पानी के बबूले की भांति बिलीन हो गया। देखा पुत्र ! यही सांसारिक प्रेम का उदाहरण है, उसका सर्व नाश हो गया, परन्तु संसार के किसी कार्य में भी बाधा न पड़ी, उसके सब कार्य पूर्ववत् ही चलते रहे।

नरवाहन—तब फिर प्रभो ! फिर प्रेम की खोज में किस लोक में जाना होगा ?

श्रीहितजी—(हंसकर) वत्स ! धैर्य रक्खो, तुमको 'प्रेम' के लिए कहीं भटकना न पड़ेगा। केवल साधना करो, हृदय में पवित्र प्रेम की स्थापना के लिये उचित स्थान की योजना करो। उलझनों को सुलझा दो, गाँठों को जला दो, चालों की, कूटता को अनन्त के चरणों में लीन कर दो, एक बार हृदय को पवित्र बना कर देखो तो सही कि जिस प्रेम के लिये तुम निखिल संसार में चिल्लाते हुये फिर रहे हो, वही निर्मल और अखंडनीय प्रेम तुम्हारे हृदय सिंहासन पर मूर्तिमान होकर बैठा है, परन्तु वत्स ! केवल मूर्ति स्थापना से ही कार्य नहीं चलेगा, तुमको और भी साधना करनी होगी ...आकाश में मेघ बड़े वेग से घिर रहे हैं, चारों ओर गहन अन्धकार छाया हुआ है, तुम एक पुल पर खड़े हुए हो, पुल नीचे से टूटा जा रहा है, विद्युत बड़े वेग से तुमको निगलने के लिये चली आ रही है, सारा संसार तुमको भगाने का आदेश दे रहा है, तुम अब भी बाल-बाल बच सकते हो,परन्तु तुम्हारा हृदय, तुम्हारा पवित्र प्रेम कह रहा है कि यहाँ से भागना पाप है, प्रेम को पीठ देना है, उस समय प्रिय वत्स ! मेरा तो यही आदेश होगा कि वहाँ से मत हटो, तिल भर मत हटो, और सारे संसार के देखते ही देखते एक क्षण भर के लिये प्रेम की नित्यता में विलीन हो जाओ, फिर तुम देखोगे कि दूसरे क्षण में तुम स्वयं प्रेम स्वरूप होकर प्राणी मात्र के हृदय सिंहासन पर विराजमान हो। पुत्र ! प्रेम चिर है, और प्रेमी भी प्रेम के स्वरूप से चिर है। अतएव प्रिय वत्स ! एक बार फिर कहता हूं, कि साधना करो, कम से कम प्रेम की प्राप्ति के लिये तो साधना से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है। अब जाओ पुत्र ! निकट भविष्य के लिये यही उपदेश पर्याप्त होगा, अब जाकर स्वच्छन्दतया प्रेम और भक्ति की साधना करो।

नरवाहन—(गद्गद् कण्ठ) तब फिर, अब कब दर्शन मिलेंगे गुरुदेव !

श्रीहितजी—वत्स ! अब दर्शनों की क्या चिन्ता है ? अब तो मैंने तुमको मंत्र बतला दिया, जिसके प्रभाव से तुम मुझे क्या स्वयं प्रिया-प्रियतम को भी जिस समय चाहो उस समय बुला सकते हो, इसके लिये तो प्रेम का मूक आह्वान ही पर्याप्त होगा। जाओ, वत्स ! अब मेरी सेवा का भी समय हो गया।

नरवाहन—(गद्गद् स्वर) महाराज ! आज इस महापातकी नरवाहन का उद्धार हो गया।

(प्रस्थान)

दृश्य दूसरा—समय (प्रातःकाल)

स्थान—कामा गाँव का वन।

गंगाबाई चिंतित भाव से टहल रही है।

गंगा— अंधकार है, चारों ओर घोर अंधकार है! सागर की ओर अविराम बहने वाली रवितनया की भाँति हमारी गति भी संसार के किसी अलक्ष्य और अंधकारमय प्रदेश की ओर बड़ी शीघ्रता से बही जा रही है...... आकाश में चारों ओर मेघ घिर आये हैं, जिन्होंने अंधकार को और भी भयानक बना दिया है, कभी-कभी आकाश के इस छोर तक चपल चपला कौंध जाती है, जिसके प्रकाश में हमको अपनी भयानक परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है। हमने भी अपनी पतवार रहित आधारहीन जीवन-नौका को केवल भगवान् के सहारे ही इसमें डाल दिया है। आर्तनाद करते हैं, पर भला कौन सुनता है—हम अनाथ अभागिनी बालिकाओं के आर्तनाद को कौन सुनता है। भगवान! क्या हमारी दुःखजनित गर्म श्वास में भी वह शक्ति नहीं दी जो धनाढ्यों की गर्म श्वासों में होती है। धनवान के एक-एक बार भी ऊँचा उच्छ्वास लेने से संसार में कोलाहल मच जाता है, मुख पर चिन्ता की काली रेखा दौड़ जाती है, परन्तु कृपानिधि हम-सी असंख्य दुखियों की गर्म आहें आकाश की शून्यता से टकराकर उसी में विलीन हो जाती हैं, और आपके कर्णपुटों तक नहीं पहुँच सकतीं, परन्तु भगवान् क्या यही आपके इस विशाल साम्राज्य की अत्युत्तम न्याय प्रणाली का उदाहरण है, भगवान् क्या इसी पर आपको दयालु और समदर्शी होने का अभिमान है?

(यमुना बाई का प्रवेश)

यमुना— अब तो नहीं चला जाता बहिन, बतलाओ तो कहाँ चलना है?

गंगा— (ऊँची साँस भरकर) क्या बतलाऊँ बालिके! कि कहाँ चलना है–हे भोली-भाली बाले! क्या तुम्हें यह नहीं मालूम है कि आज हम अनाथ हैं, आज हम संसार में किसी को अपना कह कर नहीं पुकार सकतीं, हमारा भविष्य शून्य और नितान्त अन्धकारमय है, सच पूछो तो हमारी गणना ही मानव समाज में नहीं हो सकती। अच्छा, बहिन! तुम्हीं बतलाओ कि संसार में कोई भी तुम्हारा अपना है।

यमुना— ना बहिन! बड़ी प्यास लगी है, शीघ्र पानी लाओ, दम निकला जाता है—शीघ्र पानी लाओ, ओफ कैसी गर्मी है, पानी-पानी (मूर्छित हो जाती है।)

गंगा— (व्याकुलता से) यह क्या किया, यह क्या कर दिखाया भगवान् सारे संसार से बंधन टूट जाने पर भी इस बालिका का मुख देख कर ही जीवित थी।

आज यही बालिका मेरे सारहीन जीवन की सारथी, मेरी भग्न जीवन नौका का ध्रुव तारा थी, भगवान् ! निर्धन का यह धन भी तुमसे नहीं देखा गया, इस पर भी तुमको डाह उत्पन्न हो गया ! जाओ—जाओ बालिके समदर्शी दयालु भगवान् की इच्छा पूर्ण हो ! मैं तुम्हारे लिये रोऊँगी, नहीं नहीं रोऊँगी अवश्य, परन्तु इस स्वार्थी हिंसक संसार के सम्मुख नहीं रोऊँगी, आँसुओ, हृदय में ही अनुताप की तीव्र अग्नि में जलकर भस्म हो जाओ और मेरे दुःखार्त हृदय तू भी संसार की निस्सारता में विलीन हो जा ! रह जाय प्रकृति के हृदय पटल पर लिखा हुआ गंगाबाई यमुनाबाई का नाम, और भगवान् के मुख पर लगी हुई घोर कलंक की कालिमा, जिससे भविष्य में भी लोग समझलें कि किस तरह दो अनाथ बालिकायें तृषार्त होकर मरी हैं ! चलो बहिन मैं भी आई, [मूर्छित हो जाती है ।]

(चिरानंद के दो चेलों का प्रवेश)

ज्ञानानंद– नमोनारायण, बाबाजी ! कहिये कल निमंत्रण में गये थे कि नहीं ? सुना है बहुत भारी ब्रह्म भोज हुआ है, उसमें दूर-दूर के ब्राह्मण और महन्त लोग आये थे, कहिये हमारे महन्तजी गये थे कि नहीं ?

विशुद्धानंद–भाई मुझे तो काम ही ऐसा दिया है कि दम लेने की भी छुट्टी नहीं मिलती । आज इसको पकड़ा तो कल उसको पकड़ा । आज दो महीने घर से निकले हो गये, परन्तु कोई भी हाथ नहीं आता, जिधर जाता हूं उधर ही मुँह की खानी पड़ती है । इधर इन आचारियों ने ऐसा सत्यानाश किया है कि कोई बात भी नहीं करता, जिधर जाते हैं उधर ही वह लोग पीछा करते हैं, आज दो दिन से एक भूत मेरा पीछा कर रहा है, जब देखता हूँ तब पीछे ही खड़ा मिलता है वह देखो ! वह रहा !! उस पेड़ के पीछे खड़ा है ।

ज्ञानानंद– कहाँ है ? यहाँ तो कोई भी दिखलाई नहीं पड़ता, मालुम होता है कि आपको उसने बहुत डरा दिया है ।

विशुद्धानंद–भाई ! मेरा सारा जीवन ही इस काम में व्यतीत हो गया । मैंने २५ वर्ष की अवस्था में इन महन्त चिरानन्दजी की नौकरी की थी और मुझे २० वर्ष इनकी सेवा करते-करते हो गये, परन्तु आश्चर्य यह है कि मैं लाते-लाते थक गया, परन्तु इनकी तृप्ति न हुई, किन्तु भाई मुझे अब इस कार्य से बड़ी घृणा हो गई है, दुखियों के ··· (पीछे से आह का शब्द, दोनों का चौंक पड़ना)

विशुद्धानंद–देखो वह आया, हाँ वही है अवश्य ··· ·· (भागना चाहता है गंगाबाई से ठुकरा कर गिर पड़ता है) (उठकर साश्चर्य स्वगत) वाह ! वाह !! यह तो दो सुन्दरी पड़ी हैं, जिनकी खोज में मैं सारे संसार में घूम आया हूं, वह तो पैरों के निकट ही पड़ी हैं (प्रगट) देखिये बाबाजी ! यहाँ तो दो बालिकायें पड़ी हुई हैं, नारायण की कैसी लीला है ।

ज्ञानानन्द- ज्ञात होता है कि दोनों मूर्छित हैं। मैं इनको पंखा करता हूँ, आप मेरी कुटिया में से शीघ्र पानी ले आइये।

विशुद्धानंद-(स्वगत) जी हाँ ! ले आऊँगा ! ! मैं इधर आपकी कुटिया को जाऊँ, उधर आप इन्हें लेकर चम्पत हो जाँय ! वाह ! क्या कहना है ? आपको झाँसा देने के लिये भी एक मैं ही मिला, खूब ! (प्रगट) महात्माजी ! पानी लाने का कष्ट आप ही करिये, मैं यहाँ इनकी अन्य सेवा सुश्रूषा करता रहूँगा। अपनी कुटिया से आप ही शीघ्र पानी ला सकेंगे।

ज्ञानानन्द- बहुत अच्छा ! मैं ही जाता हूं, आप इनके निकट रहिये।

(प्रस्थान)

विशुद्धानंद-(चारों ओर देखकर) चला गया चण्डूल हा, हा, हा, मुझको सिखाने आया था—

हमको मूर्ख बनाने आया जो जग गुरू कहावें।
कोई से नहीं डरें जगत में सबको डाट बतावें॥
पकड़-२ कर अबलाओं को सबला शीघ्र बनावें।
और भला क्या काम हमारा इसकी रोटी खावें॥

परन्तु इनको अब शीघ्र ही किसी झाड़ी में छिपाना चाहिये, वह आता ही होगा।

(दोनों को छुपाकर प्रस्थान)

(ज्ञानानन्द का पुनः प्रवेश)

ज्ञानानन्द—हैं ! यहाँ तो कोई नहीं दिखलाई पड़ता। बाबाजी कहाँ चले गये ! ज्ञात होता है मेरे आने में देर हो जाने के कारण ··· ·······

(मनोहरदास का प्रवेश)

मनोहरदास—कहिये बाबाजी ! किस चिन्ता में खड़े हैं ?

ज्ञानानन्द—आहा ! आप हैं, नमस्कार, कहिये इधर कैसे भूल पड़े ?

मनोहरदास—वैसे ही टहलता हुआ आ गया, कहिये आप कैसे खड़े हुए हैं ? क्या मामला है ?

ज्ञानानन्द—अजी मामला वामला तो कुछ भी नहीं है ? अभी मैं और विशुद्धानन्दजी टहलते हुए इस जगह पर आ निकले थे, यहाँ पर दो बालिकाएं मूर्छित अवस्था में पड़ी हुई थीं, मैं उनके लिये पानी लेने गया था, लौट कर आया तो देखा कि यहाँ पर कोई भी नहीं हैं। मैं इसी विचार में खड़ा हुआ था कि आप आ गये।

मनोहरदास—(हंसकर) हा हा हा । आप भी किसके चक्कर में आ गये, बाबाजी ? अजी श्रीमहाराज ! यह तो उस स्त्री चोर चिरानंद के यहाँ स्त्री चोरी का काम करता है, फिर भला वह कभी दो बालिकाओं को छोड़ सकता है, अब तक तो दोनों बालिकायें चिरानन्द के शयनागार के किसी पर्य्यङ्क को सुशोभित कर रहींहोंगी ।

ज्ञानानन्द—हैं ! तब वह क्या ऐसा करेगा ? नहीं नहीं यह कभी नहीं हो सकता अभी अभी तो वह मुझसे कह रहा था कि इस निंदित कार्य से घृणा हो गई है और वह इस कार्य को छोड़ चुका है । नहीं, यह असम्भव है, वह यहीं कहीं पानी की खोज में गया होगा ।

मनोहरदास—(हंसकर) इन बातों को आप क्या समझें, बाबाजी ! इसी का नाम है, व्यापार के चतुर हथकंडे, तुमको भोला-भाला तपस्वी जानकर वह धूर्त तुम्हारी आंखों में धूल डालकर भाग गया, परन्तु चलिये उन दोनों बालिकाओं का उद्धार करना होगा, अब विशेष आश्चर्य करने का समय नहीं है । चलिये।

(प्रस्थान)
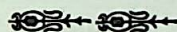
दृश्य तीसरा—समय [सन्ध्या]

स्थान—चिरानन्द जी की बैठक

(लक्ष्मी का प्रवेश)

लक्ष्मी— प्रभो ! दीनबन्धु, क्या संसार में सदैव अधर्म की ही जीत होती है, क्या सर्वत्र ही सत्य का गला घोटा जाता है ? पहिले मेरा घर वार छुड़ाया, अल्पकाल में ही मुझे वैंधव्य का बाना पहिनाया, सारे संसार को छोड़कर इस नरक कुण्ड में लाकर पटका, परन्तु मुझे इस पर भी सन्तोष रहा, मैंने कभी भाग्य को दोष नहीं दिया, इस नरक को स्वर्ग बनाने की चेष्टा की, कुमार्गगाभी पति को सुमार्ग पर लाने के लिये अपने कई निरपराध अबोध बालकों को नष्ट हो जाने दिया, हृदय पत्थर से भी अधिक कठोर कर लिया, आँखों से एक भी आँसू नहीं गिरने दिया, परन्तु प्रभो ! फिर भी परीक्षा में सफल न हो सकी, फिर भी पति को सुमार्ग पर न ला सकी । सब नीतियों से काम लिया, समझाया, दबाया, परन्तु सब निष्फल हुआ और अब क्या करूं भगवान्, मुझे किसी ओर का भी न रक्खा—उधर आपने हाथ छोड़ दिया,

इधर पति का बुरा बना दिया। तब फिर क्या दयामय ! मैं भी आपका आसरा छोड़कर पति के स्वर में स्वर मिलादूं ? गिरते हुये पति का हाथ पकड़कर पाप के गहरे आवर्त में जा कूदूं ?... ...परन्तु नहीं, भगवान् ! यदि मेरे सारे जीवन को आपने एक भयानक संग्राम बना दिया है, तो अन्त समय में मुझे भागने का आदेश मत दो, सर्वस्व छिन जाने दो, परन्तु मैं इससे तनिक भी न डरूँगी। मैं अपने कर्तव्य पथ पर अटल रहूँगी। जब तक शरीर में प्राण हैं तब तक पति को सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करूँगी। आज तीन दिवस से नगर में मन्दिर की जाँच को राज्य कर्मचारी आये हुए हैं, परन्तु वह तो मदिरा पीकर मत्त पड़े रहते हैं। मन्दिर का ताला लगा हुआ है—ठाकुर के शरीर पर एक सोने का तार तक नहीं है, ...आज स्वामी को बचाना होगा, कुछ चिन्ता नहीं, मैं अपनी सहेली से आभूषण मांगकर उनको पहिना दूंगी—लो, वह झूमते-झामते आरहे हैं। हे भगवान् ! कैसी विचित्र दशा है।

(प्रस्थान)

(चिरानंद का प्रवेश)

चिरानंद– आफत है, चारों ओर आफत ही आफत है। एक ओर महाजन लोग रुपयों की धूम मचा रहे हैं और दूसरी ओर राज्य कर्मचारी मन्दिर की जाँच करने के लिये चक्कर काट रहे हैं। मंदिर में ठाकुरजी का सब गहना तो बंधक रख दिया है, अब भला उनको दिखलाऊँ क्या ? परन्तु अभी से इसकी क्या चिन्ता है, जब आयेंगे तब देखा जायगा।

(चिमल लाने के लिये लड़के से कहना) ए लड़के ! चिलम लाओ—

(लड़के का चिलम लेकर प्रवेश)

चिरानंद– (हाथ में चिलम लेकर)

जय जय आश्रयदायनी जय महेश सेवंत।
जय भगवती प्रचंडिके जिसको नवते संत॥
दुखियों की रक्षक सदा आहत को दे मोद।
माते दुखी महन्त को अब तू ही ले गोद॥

जय नारायण, जय, जय (दम लगाता है)

(एक नौकर का प्रवेश)

नौकर— महाराज ! राज्य कर्मचारी आपसे मिलना चाहते हैं।

चिरानन्द-(सहसा चौंक कर) हत्तेरा सत्यानाश जाय ! (चिलम को फेंक देता है) कमबख्त किस अवसर पर आये हैं। अच्छा आने दो मैं भी सँभलकर बैठे जाता हूँ, देखना है कैसे चालाक हैं। किस विरते पर राज्य कार्य चलाते हैं (नौकर से) अच्छा आने दो।

(नौकर का प्रस्थान)

महन्त— ए लड़के ! मेरा पूजा पाठ का सामान ले आओ। (लड़के का सामान लाकर महन्त के सन्मुख लगा देना)

महन्त— ए ! उस चिलम को इस जगह रख दो (वह चिलम को एक पोथी पर रखकर जाता है। महन्त जी आँख मीचकर ध्यान लगाते हैं)

(नौकर का तीन कर्मचारियों के साथ प्रवेश)

नौकर— (कर्मचारियों से) इस समय महाराज भगवद् ध्यान में है, आप लोग यहाँ बैठें, थोड़ी देर में चैतन्य होंगे। (महन्त जी का "नमो नारायण, नमो नारायण" कहते हुए आँखें खोलना और सबों का प्रणाम करना)

महन्त— (साश्चर्य) आहाहा ! धन्य है !! आप लोग आये हैं, क्षमा करिये, मैं भगवद् चरणों में लीन था, इसलिये आप लोगों का उचित सत्कार न कर सका) नौकर से) कैसे मूर्ख आदमी हो, शीघ्र तीन कुर्सियाँ लाओ।

पहिला कर्म-नहीं महाराज ! कुर्सियों की कोई आवश्यकता नहीं है, जब आप पृथ्वी पर विराजते हैं तो हम क्या कुर्सियों पर बैठेंगे ?

महन्त— जैसी नारायण की इच्छा, परन्तु हाँ कहिये ! कैसे-कैसे आना हुआ ? जय नारायण, जय नारायण !

पहिला कर्म-महाराज ! आपके शत्रुओं ने राज दरबार में आपके विषय में बहुत-सी शिकायतें उपस्थित की हैं, इसलिये महाराजा साहब ने हमको आपकी सेवा में भेजा है, परन्तु हमने सब प्रबन्ध उचित रूप से चलता हुआ पाया है।

महन्त— वत्स ! बात यह है कि संसार में ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जिसके समुचित रूप से शत्र अथवा मित्र न हों, "परन्तु साँच को त्रिकाल में भी आँच नहीं" जो सत्य है उसका नाश असम्भव है, इसी एक विश्वास पर मैं नितान्त निश्चित होकर बैठा हूँ—और जो कुछ धन अथवा वैभव मेरे पास है वह आपको दृष्टि के सन्मुख है ही और मैं भी तुम्हारे सामने [illegible]। मेरी दिनचर्या आदि तुम लोग मेरे भृत्य आदि से पूंछ सकते हो, मुझको इस विषय में कुछ नहीं कहना है।

पहिला-कर्म-महाराज ! हमको किसी से कुछ नहीं पूछना है, जो कुछ देखना था सो देख लिया है, हम आपके कार्य प्रबन्ध से अत्यन्त सन्तुष्ट हैं।

दूसरा-कर्म-(चिलम को इंगित करके) महाराज ! यह क्या वस्तु है ?

महन्त— (हंसकर) पुत्र ! इसको ' मदन दहन" कहते हैं। इसमें हम एक प्रकार का विषैला पदार्थ भरकर और उसका अग्नि संस्कार करके उसको श्वासा द्वारा मस्तिष्क के उस गुह्यतम स्थान तक खींच ले जाते हैं, जहाँ वीर्य रहता है; इसके प्रभाव से वह कार्य भस्म हो जाता है और कामदेव के पुष्पबाण हमारे हृदय को नहीं वेध सकते। इस क्रिया के करने की आवश्यकता स्पष्ट ही है कि हम लोग जब गद्दी पर बैठते हैं, उस समय हमको निखिल देवों को साक्षी करके यह शपथ खानी पड़ती है कि हम आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे। इसी से स्त्री का दर्शन मात्र भी हमारे लिये पापमय है।

पहला-कर्म-धन्य हैं महाराज ! आप सच्चे योगी हैं, हम आपके दर्शन पाकर कृत्यकृत्य हो गये। कृपया हमारी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कीजिये।

(पाँच सौ रुपया भेंट करता है)

महन्त— (हँसकर) पुत्र ! हमको तो धन छूना भी पाप है, क्योंकि सांसारिक वासनाओं का मूल कारण यह धन ही है। संसार में तुमको जितने राग-द्वेष, क्रोध, मत्सरता, आदि पापाचार दृष्टि पड़ते हैं—यह सब इसी एक धन के प्रभाव से हैं। हां ! यदि तुम इस धन को "श्रीनारायण भण्डार" में देना चाहते हो तो उसकी सामग्री भगवान् को भोग लगवाकर सन्तजनों को बाँट दी जायगी।

दूसरा-कर्म-बहुत अच्छा महाराज ! जैसी आपकी इच्छा हो वैसा करिये। अब हम लोगों को आज्ञा मिले।

महन्त— बहुत अच्छा वत्स ! तुम लोग अब अपने स्थान को जाओ। महाराजा साहब से हमारा आशीर्वाद कहना, और कहना कि मंदिर की आजीविका कुछ विशेष कर दी जाय। भंडारी से ज्ञात हुआ है कि पन्द्रह सौ रुपया कम पड़ते हैं।

पहला कर्म-बहुत अच्छा महाराज ! हम अवश्य प्रयत्न करके बढ़वा देंगे।

महन्त— (नौकर से) इन लोगों का भण्डार से खाने-पीने का प्रबन्ध कर दो और इन रुपयों को भण्डार में जमा करादो।

(महन्तजी के अतिरिक्त सबका प्रस्थान)

महन्त— (साश्चर्य) कैसा आश्चर्य है। लक्ष्मी तुम मुझको आज भी बाल-बाल बचा ले गयीं। कई बार विचार करके देखा है कि तुम मानवी नहीं हो। तुम सचमुच स्वर्गीय देवी हो, परन्तु मैं तुमको नहीं देख पाता, तुम्हारे दिव्य तेज से चमचमाते हुये मुखमंडल पर मेरी यह ज्योति हीन आँखें नहीं ठहर सकतीं।

दृश्य चौथा—समय (रात्रि के ९ बजे)

फौजदार साहब का मकान

(अजीज बेग बैठे हैं और सामने शराब रक्खी है, नर्तकी नाच रही हैं)

डालो पियाला सुधा का खिली है शुभ चन्द्रिका शरद की।
नाचो, गाओ, रिझाओ पिया को, आओ हृदय से लगाओ ।।
खिली है शुभ चन्द्रिका शरद की ।।
यह जोवन - घन की परछाईं, पिओ, पिलाओ, लुटाओ ।।
खिली है शुभ चन्द्रिका शरद की ।।
पिय बिन शून्य जगत है सारा, नयनों से नयना लगाओ ।
खिली है शुभ चन्द्रिका शरद की ।।

(एक सिपाही का प्रवेश ।)

सिपाही—हुजूर ! महन्त चिरानन्द जी दरवाजे पर खड़े हुए हैं ।

अजीज— इज्जत के साथ ले आओ । (नर्तकियों से) अन्दर जाओ ।

(चिरानन्द का प्रवेश)

चिरानन्द— अदावअर्ज जनावेमन !

अजीज— तसलीमात अर्ज, ओहो ! आज आफताब किधर को निकला ! आज कैसे इस गरीब खाने की रौनक बख्शी ? जमाना गुजर गया जबकि आप और हम बच्चे थे, और एक साथ खेला करते थे, इसके बाद मैंने सुना कि आप किसी मन्दर के महन्त हो गये हैं, इससे मुझे अजहद खुशी हुई थी, लेकिन पता न मालुम होने की वजह से लाचार था ।

चिरानंद— मित्र ! आज मुझे यह देखकर कि मैं अपने बाल्य मित्र अजीजबेग के सामने बैठा हूँ अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है, परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि वर्षों व्यतीत हो जाने पर भी मुझे तुम्हारे अन्दर कोई परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ता—वही चाँद सा हँसता हुआ चेहरा और वही शिशु सुलभ मंद मृदुल मुसकान जो पहिले भी हृदय को हर लेती थी, अब भी वही कार्य कर रही है ।

अजीज— (हँसकर) लो दोस्त ! तुमतो अब शायरी करने लगे । यह तो है ही, मगर इस बात को पाकर तुमको और भी ताज्जुब होगा कि मेरी आदतों में कोई फर्क नहीं हुआ है । दोस्त, बचपन की उस बुरी लत की वजह से मैं अब भी सैकड़ों रुपये यों हीं रंडियों को खिला देता हूँ ।

चिरानंद— यह कौन से आश्चर्य की बात है ? यहाँ दो सौ रुपये महाबार की जीविका है, परन्तु शरीर पर एक लँगोटी के सिवाय और कुछ भी नहीं है, यह सब उसी एक व्यसन का फल है, और मैं उसी सम्बन्ध में एक सूचना देने आया हूँ कि आज दो दिन जब हुए कि मेरा एक चेला नौ और ग्यारह वर्ष की दो अत्यन्त रूपवती कन्याओं को जंगल में से बेहोश उठा कर लाया था। इस बात को खबर कहीं मनोहरदास नामी एक गवैये को हो गई और वह मुझ से झगड़ कर उन लड़कियों को अपनी बता कर ले गया। मैंने भी यह विश्वास करके कि जब ये पूर्ण युवती हो जांयगी तो अपने मित्र फौजदार साहब की सहायता से इनको छुड़वा लूँगा उनको जाने दिया—फिर मुझको यह चिंता हुई कि कम से कम एक बार तो अपने मित्र से मिलकर उनको इस रहस्य का पता दे ही देना चाहिये, इसीलिये मैं तुमसे मिलने आया हूं।

अजीज— खूब ! इसमें पहिले ही खबर करने की क्या जरूरत थी ? जरा इशारा करते कि फौरन फौज भेजकर उनको पकड़वा लिया जाता, भला यह भी तो ख्याल किया होता कि मैं तुम्हारे लिये कुछ उठा रक्खूंगा।

चिरानंद—नहीं मित्र ! मुझको तुम पर पूर्ण विश्वास है, परन्तु पहिले सूचित करने का यह अर्थ है कि मैं यह चाहता हूं कि जब तुम उनको पकड़वाओ तो लोगों को यह ज्ञात न हो कि इस घटनाचक्र में मैं भी था।

अजीज—(हंसकर) बल्लाह ! कैसी बातें कर रहे हो, दोस्त ! विरज का बादशाह मैं हूं या और कोई ? अगर चाहे तो एक लहमे के अन्दर सारे मुल्क को खाक में मिला सकता हूं, मगर तुम्हारी ऐसी मर्जी है तो यह बात किसी से जाहिर न की जायगी।

चिरानंद—हाँ ! बस यही इच्छा है। मैं तुमको उचित समय पर सूचना दूँगा अब मुझे आज्ञा मिले, बहुत दूर जाना है।

अजीज—(उठकर) बहुत अच्छा दोस्तमन, वक्त बहुत तंग हो गया है और तुमको दूर जाना है, इसलिये मैं तुमको नहीं रोक सकता, मगर वक्त-वक्त पर आकर जरूर मिल जाना।

(प्रणामानंतर प्रस्थान)

दृश्य पांचवाँ—समय (रात्रि)

स्थान........ कामा गाँव में मनोहरदास का घर

(गंगाबाई अकेली बीणा लिये बैठी हैं)

'गायन'

गंगा-वंशी की ध्वनि सुना दो वंशी बजाने वारे।
संगीतमय सुध का प्याला पिला दो प्यारे॥
हो खिन्न चित्त बन में घूमूं मैं मारी-मारी।
हे दीनबन्धु होवै दीनों की ऐसी ख्वारी॥
वृन्दा विपिन वही है वेही हैं कुञ्ज पुंजें।
संग षट्पदी को लिये अलिवृन्द यहाँ गुञ्जें॥
यद्यपि कलिन्दजा भी कलकल निनादिनी है॥
सब बिटप वृन्द फूले शुभ शरद यामिनी है॥
पिक वृन्द कूकते हैं कल कण्ठ माधुरी से।
हैं गुञ्जरित दिशायें ऋतुराज चातुरी से॥
यद्यपि प्रमोद की यह सामग्रियाँ हैं प्यारी।
तेरे बिना ललित ये सिकतामयी हैं सारी॥

गंगा— (खिड़की खोलकर) कैसा सुन्दर है। आज पूर्णिमा है आज चन्द्रदेव बड़े भारी दाता की तरह हंसते हुए प्रसन्न चित्त से अपनी स्निग्ध शीतल चाँदनी को निखिल संसार के ऊपर डाल रहे हैं .. आकाश कैसा स्वच्छ है—ऐसा ज्ञात होता है कि स्वच्छ चाँदनी से धुल कर वह और भी गाढ़ नीला हो गया है—यत्र तत्र बादलों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ दीख पड़ती हैं .. वह देखो! वह टुकड़ियाँ चन्द्रदेव का आलिंगन करने को बड़ी शीघ्रता से उन्हीं की ओर चली आ रही हैं, परन्तु देख पड़ता है कि वे भाग नहीं रहे हैं। वे भी प्रेम विह्वल होकर अपनी प्रणयिनियों का स्वागत करने के लिये उन्हीं की ओर चले जा रहे हैं। यह लो! उन्होंने आकर चन्द्रदेव को बिलकुल ढक ही लिया, परन्तु हा! वायु इनके प्रतिकूल है, उससे यह मिलन न देखा गया, वह फौरन बदलियों को उड़ाकर ले गया .. ....परन्तु हैं! यह क्या चन्द्रदेव? तुमको इसका कुछ भी क्षोभ नहीं हुआ! तुम तो पूर्ववत ही हंस रहे हो! निष्ठुर!! इस वियोग का तुम्हारे ऊपर कुछ भी असर नहीं हुआ, बेचारी बदलियों के हृदय से एक बार तो पूछ लिया होता (कुछ देर

सोचकर) परन्तु इसमें तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं है, ऐसी तो पुरुष की प्रकृति ही है। ओफ! भगवान्, यदि तुमने पुरुषों को अन्य इतनी शक्तियाँ दी हैं तो एक प्रेममय स्नेहार्द्र हृदय क्यों न दिया? यदि ऐसा होता तो दयालु हम स्त्रियों का नाम आज अबला न होता। (सहसा चुप हो जाती है)।

(यमुना बाई का प्रवेश)

यमुना—क्यों जीजी? क्या कर रही हो? क्या है? वहाँ क्या है? उन पेड़ों की ओर ऐसे ध्यान से क्या देख रही हो, बहन? (निकट जाकर) जीजी!

गंगा— (चौंक कर) बहन यमुना! तुम आई हो—देखो बहन आज कैसी चांदनी फैल रही है? वह देखो! दूर पर कैसा सुहावना मालुम होता है, सारी पृथ्वी स्वर्ग बन गई है—देखो बहन! उस पेड़ में मोती लग रहे हैं, कैसा सुन्दर है?

यमुना— जीजी! तुम तो यहाँ बैठी हुई प्रकृति के इस अनुपम सौन्दर्य पर भाष्य कर रही हो, और वहाँ पिताजी तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहे हैं। न जाने दो वर्ष से तुम्हारी प्रकृति कैसी हो गई है, सदैव निर्जन में ही रहना पसन्द करती हो—पिताजी तुम्हारे इस स्वभाव से कुछ क्रुद्ध से हैं।

गंगा— क्यों बहिन? मुझ से कोई अपराध तो हुआ नहीं। फिर क्रुद्ध होने का कारण क्या है? केवल निर्जन में बैठना तो क्रोध का कारण नहीं हो सकता, मैं अभी उनसे जाकर पूछती हूँ। (जाने को उद्यत होती है)

(मनोहरदास का बाबा परमानन्द जी के साथ प्रवेश)

यमुना— लो! पिताजी ही आगये।

मनो०— क्यों बेटी! कहाँ जा रही हो?

गंगा— पिताजी, मैं आपके पास ही जा रही थी। अभी मुझसे जमुना ने कहा था कि आप मुझसे कुछ क्रुद्ध हैं, इसीलिये मैं आपको मनाने को जा रही थी।

मनो०— (गंगा के सिर को चूमकर) भला बेटी मैं तुमसे क्रुद्ध क्यों होने लगा, परन्तु इतनी बात अवश्य है कि तुम्हारे स्वभाव में मैं यह आश्चर्यजनक परिवर्तन देखकर कुछ चकित अवश्य हूँ—न जाने तुम्हारी वह चपलता और हास्यमयता कहाँ गई?

गंगा— (हँसकर) पिताजी, इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं है। आप ही बतलाइये कि गम्भीर आयु के साथ हृदय में गम्भीरता वाँछनीय है कि नहीं? हमारी बराबर की लड़कियों को चपलता शोभा नहीं देती, परन्तु यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो आपके सामने मैं कुछ चपल हो जाया करूँगी।

मनो०— नहीं, बेटी ! जैसा मन चाहे वैसा करो ! संसार जिसे भला कहे वही करना तुमको उचित है, परन्तु बेटी ! हमारे लिये तो तुम सदैव ही वही छोटी सी चपल गंगा हो, माता पिता के लिये तो सन्तान सदैव ही शिशु रहती है, न कभी युवा होती है और न कभी वृद्ध। हाँ बेटी ! मैं तुमसे एक बात कहना चाहता था, मैं कल प्रातःकाल महाराजा मानसिंह के दरबार में जाऊँगा। घर पर रहते बहुत दिवस व्यतीत हो गये हैं। अब जाकर कुछ धनोपार्जन करूंगा, मेरे साथ हरीहरदास भी जायगा। मेरी अनुपस्थिति में तुम्हारे पास हमारे वयोवृद्ध मित्र हजारी मन्सबदार राजा परमानंद जी (उनकी ओर देखकर और कुछ हँसकर) नहीं, नहीं अनन्य वैष्णव बाबा परमानंददासजी रहेंगे। यह तुम्हारे पास रहकर धर्मोपदेश किया करेंगे। हमारे बाबाजी श्रीमद् हिताचार्य हरिवंश जी महाराज के सर्वप्रिय शिष्य और श्रीराधा-वल्लभी सम्प्रदाय के अनन्य वैष्णव हैं (परमानंदजी से) बाबाजी, मैं आज से इन बालिकाओं को आपके हाथ में सोंपता हूं, आशा है कि जब तक मैं लौटकर न आ जाऊँ आप इन पर कृपा बनाये रखेंगे (कन्याओं से) बेटियों ! बाबाजी के चरण स्पर्श करो। (चरण छूती हैं)

परमानंद – (उन्हें उठाकर) आप निश्चिन्त रहें, मैं अपनी संतान की तरह इनका लालन पालन करूंगा।

मनोहर—(कन्याओं से) अच्छा जाओ बेटियो, जाकर सो रहो, रात्रि अधिक हो गई है। (दोनों का प्रस्थान)

परमानंद—यदि आज्ञा हो तो मैं भी अपने स्थान को जाऊँ।

मनोहर—(हँसकर) धन्य है, आपको यही शब्द शोभा देते हैं। आज्ञा का प्रश्न कैसा महाराज ! यदि इच्छा हो तो पधारिये, दास क्या आज्ञा देगा (जै श्रीहित हरिवंश कहकर परमानंद जी का प्रस्थान)

मनोहर—विकट समस्या है ! एक ओर हैं दो अबोध आश्रित बालिकाओं का अकाट्य प्रेम और दूसरी ओर है धन का विषाक्त प्रलोभन ! हृदय की भी विचित्र गति है, कभी इधर झुकता है तो कभी उधर। अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि सबेरे क्या करना होगा। एक ओर है स्वर्ग का आलोकमय दिव्य सौन्दर्य और दूसरी ओर है नर्क की दुर्गन्धमय तीव्र ज्वाला। एक ओर है नवजात शिशु की आनन्दमयी हास्यछटा और दूसरी ओर है पति के शव-दाह पर सती का करुण रोदन। परन्तु फिर भी एक पैशाचिक प्रवृति हृदय को उधर ही खींचे लिये जा रही है, क्या करूँ, किधर जाऊँ, कुछ भी निश्चय नहीं कर सकता, परन्तु ....(कुछ देर ठहरकर) परन्तु कुछ भी नहीं है केवल विडम्बना मात्र है। कहाँ है? वह नरक की ज्वाला, वह सती का

करुण रोदन, वह पैशाचिक प्रवृत्ति ? सब स्वप्न है, सब दुराशा है, कैसा सुन्दर है ! मलय समीर से भी अधिक शीतल, उषा से भी अधिक हृदयानंद-दायक और स्वर्ग से भी अधिक दिव्य है। मैं वृद्ध हूँ और यह बालिकायें पूर्ण युवती हैं, इनको अब अपने पास अधिक रखना उचित नहीं है। वैसे भी तो इनको किसी के साथ प्रणय सूत्र में बांधना ही होगा तो फिर इनको महाराजा मानसिंह के हाथों क्यों न बेच दिया जाय, जिससे इनका भी जीवन सानन्द कटे, और मेरी वृद्धावस्था भी आनन्द से कट जाय—किसी के द्वार पर भटकना न पड़े। परन्तु—फिर वही—विष है तो केवल इसी "बेचने" शब्द में। यही हृदय में शूल की भाँति चुभता है, अपनी पुण्यमयी कन्याओं को अनाथ की तरह बेचूंगा ? मैं ब्रजवासी हूँ ! मैं ब्राह्मण हूँ !! मैं वैष्णव हूँ !!! नहीं—कभी नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा, अपनी जाति को, अपने धर्म को कभी कलंकित नहीं करूँगा। कल राज दरबार में भी नहीं जाऊँगा कि कहीं मुझको धन का मधुर विष न चखना पड़े। (गंगा को पुकारता है)

मनोहर—बेटी गंगा ! क्या कर रही हो ? (नेपथ्य में से आवाज) अभी आती हूँ. पिताजी !

मनोहर—बेटी, मैं कल नहीं जा सकूंगा, मेरी तबियत कुछ खराब हो गई है—तुम जाकर सो रहो। (गंगा जाने को उद्यत होती है)

मनोहर—परन्तु.......... ठहरो बेटी, तुम जाकर तैयारियां करो, मैं जाऊँगा—जाओ शीघ्र चली जाओ—हट जाओ यहाँ से, मुझको तुमको देखने का भी अधिकार नहीं है, जाओ। (शीघ्रता से प्रस्थान)

(गंगा बाई का साश्चर्य प्रस्थान)

पटाक्षेप

अङ्क तीसरा

दृश्य पहला—समय (संध्या के ८॥ बजे)

स्थान—चिरानन्द की बैठक।

लक्ष्मीबाई—(टहलती हुई) प्रभो ! संसार में पाप की भी कोई सीमा निर्दिष्ट की है या नहीं ? क्या मनुष्य, स्वच्छन्दता पूर्वक जीवन भर पाप वासना में लिप्त रह सकता है ? क्या आपके इस विशाल साम्राज्य में अपराधी को दण्ड देने के लिये कोई राज्य विधान नहीं है ? या स्वयं यमराज भी महापापी को दण्ड देने में डर जाते हैं ? प्रभो ! मैंने तो जन्म से ही पुण्य के उज्ज्वल राज्य पर

पाप की काली ध्वजा को फहराते हुए देखा है। मैंने तो पुण्यात्माओं को ही अल्पकाल में कालपाश में बँधते हुए देखा है। तभी तो दीनबन्धो! दिन प्रतिदिन क्षण प्रतिक्षण, संसार पाप की कुत्सित कालिमा के नीचे दबा चला जा रहा है। तभी तो मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये संसार में नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं, पाप को ढकने के लिये विडम्बनाओं की सृष्टि की जा रही है। फिर प्रभो! फिर भी हृदय में वही प्रश्न उठता है कि इस पापाचार की—इस अन्धेर को क्या सीमा नहीं है?

(चिरानंद का प्रवेश)

चिरानंद-क्यों प्रिये! आज किसको कोस रही हो?

लक्ष्मीबाई—महाराज, अपने भाग्यों के अतिरिक्त और भला कोसूंगी भी किसको? यद्यपि मैंने किशोरावस्था से ही आत्मनिग्रह का कठोर पाठ पढ़ा है, यद्यपि मैंने उस समय से अब तक आँखों में से एक भी आँसू नहीं निकलने दिया है, मुँह से एक आह भी नहीं निकलने दी है, परन्तु अब नहीं सहा जाता। पात्र लबालब भर गया है, अब उमड़ना चाहता है। हृदय में जमे हुए आँसुओं के और दबी हुई आहों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

चिरानंद— प्रिये! आज कैसी बहकी बात कर रही हो! ज्ञात होता है कि कोई वैष्णव तुम्हें बहका गया है, समझ में नहीं आता कि क्या कह रही हो!

लक्ष्मीबाई-तुम इसे क्या समझो महाराज, तुम हृदय की इस भाषा को क्या समझो? तुमने तो जन्म से केवल एक ही पाठ पढ़ा है—तुमने तो केवल कामिनियों के कटाक्षों पर हृदय को वार देना ही सीखा है। तुम सतीत्व का मूल्य क्या समझो जो मनुष्य दूसरों की स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा नहीं कर सकता है वह अपनी स्त्री के सतीत्व की रक्षा क्या कर सकेगा! प्रभो! एक बार देखो तो सही कि तुम किस घोर नरक कुण्ड में पड़े हुए हो! जो तुम्हारे सन्मुख मित्रता का दम भरते हैं, वे ही जानते हो, पीछे से तुम्हारे लिये छुरी पैना रहे हैं। महाराज! बड़ी शीघ्रता से अधःपतित हो रहे हो। मैं सहस्रों उपाय करने पर भी तुमको नहीं बचा सकती। देखो प्रार्थना करती हूँ, अब भी सँभल जाओ।

चिरानंद— कैसा विचित्र स्वप्न देख रही हो!

लक्ष्मीबाई-(हँसकर) महाराज! यह ध्यान रक्खो कि मैं तुम्हारी अर्धाङ्गिनी हूं। यद्यपि तुमने मुझे शास्त्रोक्त रीति से ग्रहण नहीं किया है, परन्तु फिर भी तुमने मुझे मेरे घरबार से वञ्चित कर अपने हृदय में स्थान दिया है और मैंने भी तुम्हें अन्य पति न समझ कर वास्तविक पति समझा है, क्योंकि जिस

समय में यहाँ लाई गई थी, बिलकुल अज्ञान थी। मैंने बाल्यकाल से अब तक केवल तुम्हीं से प्रेम करना सीखा है। मेरे हृदय में और किसी के प्रेम के लिये तनिक भी स्थान नहीं है, इसी लिये महाराज ! परोक्ष में भी किया हुआ तुम्हारा काम मुझसे नहीं छिप जकता। याद है तुमने मुझे उस दिन क्या वचन दिया था ?

चिरानंद—क्या ?

लक्ष्मी— यही न कि मैं भविष्य में स्त्री जाति पर श्रद्धा और प्रेम करूँगा।

चिरानंद—और वह मैं करता भी तो हूं ! मेरे हृदय में जितना स्नेह स्त्री जाति के प्रति हैं, उतना संसार में शायद ही किसी दूसरे के लिये हो।

लक्ष्मी— (हंसकर) प्रेम और भक्ति शब्दों को भी क्यों कलङ्कित करते हो नाथ ? जिसे तुम "प्रेम" कहते हो भक्ति कहते हो, वह तो नरक की दुर्गन्धमय निःश्वास है, कङ्काल का ताण्डव नृत्य है, स्वार्थ का अट्टहास है और कामी का प्रलोभन है। क्या दो अनाथ बालिकाओं को बन में से बहका कर मँगाने को तुम स्त्री जाति पर प्रेम करना कहते हो ? क्या किसी अबला के अमूल्य 'रत्न सतीत्व का निर्दयता पूर्वक नाश करने को तुम स्त्री जाति पर भक्ति करना कहते हो। यदि यही तुम्हारे प्रेम और भक्ति के नमूने हैं तो बलिहारी है तुम्हारे उस प्रेम और भक्ति की !

चिरानंद—सब झूठ है, सब मिथ्या है।

लक्ष्मी— (चिरानन्द की ओर देखकर और साँस लेकर) महाराज ! पाप को पाप से ढकने का व्यर्थ प्रयास क्यों करते हो ? मुझको असत्य मालूम हो गया है। क्या यह बात सब झूठ है कि तुमने उस दुष्ट अजीज वेग को दो कन्याओं के सर्वनाश करने का कार्य सोंपा है ? क्या यह झूठ है कि तुमने ही उनको पकड़-वाया था ? बोलो, बोलो महाराज ! उत्तर क्यों नहीं देते ? क्या आत्मा में कुछ भी बल नहीं है ?

चिरानंद—कैसी पागलों की सी बातें कर रही हो ?

लक्ष्मी— सच है पागलों की सी बातें तो अवश्य कर रही हुँ आज मैंने तुम्हारे सामने अपने हृदय का वह दुःख प्रकाशित कर दिया है जिसको मैं दस वर्ष से दबाए हुए थी। तुम्हारा आचरण देख देखकर मेरा हृदय सदा से जलता रहा है, परन्तु मैंने कभी मुंह से चूँ तक नहीं की। तुमको पाप में लिप्त देखकर मेरा हृदय रो उठा और उसमें से ये शब्द निकल पड़े। मैंने आज तुम्हारे सामने पट खोलकर रख दिया है, अब तुम मुझसे पागल कहो—पिशाचिनी कहो, मुझे अपने घर से निकाल दो, मेरा अस्तित्व मिटा दो—पुरुषत्व का विकास ही स्त्री जाति के हाथ में है !!

चिरानंद—अब मैं समझ गया। मेरा अजीजबेग के पास जाना ही बुरा लगा है, पहिले तो मेरा ऐसा कोई मतलब नहीं है। और यदि है भी तो तुमको इस विषय में बोलने की क्या आवश्यकता है ? मैं अपने आचरणों को स्वयं सुधार लूंगा।

लक्ष्मी— ठीक है, मेरा सर्वनाश किया जाय और मैं चुप रहूं ! मेरे गले पर छुरी चलाई जाय, मेरे बच्चों की हत्या की जाय और मैं कुछ न बोलूं। यह इसलिये कि हम स्त्री हैं, हम अबला हैं, हमारे हृदय नहीं है, हमारे बुद्धि नहीं है, हम पशु हैं. महाराज ! स्त्री जाति बड़ी विलक्षण है. इसके बराबर सहनशीलता और किसी में भी नहीं होती है, परन्तु यह भी ख्याल रहे कि जब इसका हृदय फट पड़ता है तो उसमें से निकली हुई अग्नि में संसार को भस्म करने की शक्ति रहती है। महाराज ! सावधान रहिये, कहीं मुझे और किसी मार्ग का अवलम्ब न लेना पड़े।

चिरानंद—चुप रह पापिन ! मुझे डराने का प्रयत्न करती है। जान पड़ता है तेरे भी दिन निकट आ गये हैं—समझ ले कि तेरी भी यही गति होगी जो तेरी और बहिनों की हो चुकी है।

लक्ष्मी— महाराज ! भूल मत जाओ कि तुम किसकी दी हुई रोटी खा रहे हो, किसी का हृदय में भय रक्खो, अपने आचरण को सुधारो, मुझे लाञ्छन लगाकर दूर न करो। यदि मेरा कुछ भी अपराध हुआ हो तो मुझे दण्ड दो, मृत्यु दण्ड दो-परन्तु विश्वास रक्खो कि यदि अपने आचरणों को नहीं सुधारोगे यो बड़ा भयानक परिणाम होगा।

(प्रस्थान)

(चिरानन्द भौंचक्का-सा रह जाता है)

चिरानंद—(थोड़ी देर ठहर कर) मृत्यु के समय चींटी के पर निकल आते हैं।

(प्रस्थान)

□

दृश्य दूसरा—समय संध्या के ४ बजे

स्थान····· राजा मानसिंह का दरबार

(सभासद बैठे हुये हैं)

पहिला सभासद—मंत्री जी ! आज क्या कारण है कि महाराजा साहब अभी तक नहीं पधारे ?

मंत्री—कोई विशेष कारण तो ज्ञात होता नहीं है, मालुम होता है कि किसी कारण विशेष से रनवास में देर हो गई है।

दूसरा सभासद—महाराजा साहब नित्य ठीक समय पर सभा में पधारते हैं। मालूम होता है कि आज तबियत कुछ खराब हो गई है, इसके लिये कोई आदमी भेजकर खबर ……)

(चार चोवदारों के साथ महाराजा मानसिंह का प्रवेश। सब सभासद कोरनिश करते हैं।

मंत्री—महाराज की जय हो! आज हम लोग बहुत चिंतित थे कि श्री महाराज को इतनी देर कैसे हो गई? और किसी सेवक को कुशल पूछने के लिये भेजने ही वाले थे कि धर्मावतार आ गये।

राजा—हाँ मंत्रीजी! आज देर अवश्य हो गई। मैं यहाँ आने को ही था कि मुझे अकबर शाह का एक गुप्तचर मिला उसने कहा सम्राट छद्म वेष से श्रीवृन्दावन जा रहे हैं। उन्होंने सुना है कि हिताचार्य श्रीहरिवंश चन्द्र गोस्वामी नाम के एक महात्मा का वहाँ पर प्रादुर्भाव हुआ है, उन्होंने अपने साथ मुझको भी निमंत्रित किया है, और मैंने स्वीकृति भी दे दी है, क्योंकि एक पंथ दो काज हैं—एक श्रीवन की तीर्थ यात्रा और दूसरे एक महात्मा का दर्शन लाभ, अस्तु, मैं कल प्रातःकाल ही यहाँ से चला जाऊँगा। दो सप्ताह के लिये मैं राज्य भार को आप पर छोड़ता हूं, कहिये मंत्री जी आपकी क्या सम्मति है?

मंत्री— महाराज सानंद तीर्थ यात्रा करें, हम लोगों के रहते राज्य में किसी प्रकार की भी गड़बड़ी न हो पावेगी।

(एक चोबदार का प्रवेश)

चोबदार—श्रीमहाराज! एक मनोहर दास नामक गवैया सेवा में अपनी कला प्रदर्शित करना चाहता है।

राजा— ले आओ।

(चोबदार का प्रस्थान)

राजा— अच्छा है, मनोविनोद हो जायगा, क्यों मंत्री जी!
(मनोहरदास का एक अपने शिष्य के साथ प्रवेश)

राजा— तुम लोग कहाँ के रहने वाले हो?

मनोहर—(हाथ जोड़कर) महाराज! हम व्रजवासी हैं। महाराज की धर्मनिष्ठा तथा गायन प्रियता की चर्चा सुनकर हमारी भी इच्छा श्रीमान् की सेवा में अपनी चिरसंचित कला को प्रदर्शित करने की हुई, इसीलिये हम राज दरबार

में उपस्थित हुए हैं। महाराज ! यह बालक मेरा सर्वप्रिय शिष्य है। पहिले यह आपके सन्मुख अपनी परीक्षा देगा। (बालक से) सुनाओ बेटा ! महाराज को कोई समयोचित रागनी सुनाओ।

बालक-- (रागदेश--ताल पंजाबी)

छबि दिखला जा बांके समलिया, अरे ध्यान लगा मोय तोरारे।
ऐ छबि दिखला ।।
बाकी चितवन नैना रसीले चाल चलत मतवाली रे।
कहा करूँ कित जाऊँरी आली ना मानें जिया मोरा रे।।
ऐ छबि दिखला ।।

राजा— क्या खूब ? शाबाश, जीते रहो बेटे ! कोषाध्यक्ष जी, इसको पाँच सौ रुपया इनाम दो।

मनोहर— वाह बेटा ! निहाल हो गये। अच्छा श्रीमहाराज ! यदि आज्ञा हो तो दास भी कुछ सुनावे।

राजा— मैं तुम लोगों से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ, परन्तु खेद इस बात का है कि मेरे पास आज विशेष समय नहीं है। यदि तुम लोग किसी और अवसर पर आओ तो मैं तुम्हारा यथोचित सत्कार करूँ।

मनोहर— जो आज्ञा महाराज, परन्तु मुझे एक आवश्यक निवेदन करना है।

राजा— निस्संकोच कहो।

मनोहर— परन्तु, महाराज (चारों ओर देखकर) मैं निरंजन ....

राजा— बहुत अच्छा ! मैं समझ गया, अभी(—...........सभासदों से) समय अधिक हो जाने के कारण मैं अब सभा विसर्जन करता हूं। आप लोग अब अपने घरों को जा सकते हैं।

(सबों का प्रस्थान)

मनोहर— धर्मावतार ! मेरे दो लड़कियाँ हैं, वे अत्यन्त रूपवती और गाने में अत्यंत प्रवीण हैं, यदि महाराज मुझे दो सहस्र मुद्राओं की आज्ञा करदें तो मैं उनको सेवा में कर जाऊँ।

राजा— (साश्चर्य) क्या तुम उन्हें बेचना चाहते हो ?

मनोहर— (सातंक) हाँ महाराज !

राजा— फिर, क्या तुम अपनी कन्याओं को बेचोगे ?

मनोहर— (काँपते हुए) हाँ, श्रीमहाराज !

राजा— (सिंहासन पर से उठकर) क्या कहा ? हां ! ओफ ! कैसा आश्चर्य है ? कैसा घोर अँधेर है, भगवति वसुन्धरे ! सुनती हो न, आकाश के चंद्र, ग्रह, सूर्य, तारा गणो ! सुन रहे हो न ! क्यों मुँह क्यों, छिपा लिया ? मेघो ! तुमने आकर भगवान् दिनकर के गौरवान्वित उज्ज्वल मुख को क्यों ढक लिया ? हट जाओ, देखने दो, उनको भी जगतीतल के इस अलौकिक भीषण कार्य को देखने दो । मनोहर दास ! तुम व्रजबासी हो, तुम भगवान् राधा कृष्ण के लीलाक्षेत्र व्रज के रहने वाले हो, तब भी अपनी अबोध कन्याओं को बेचते हो ! जिस व्रज को वेद पुराण एक स्वर से मुक्तिदायक तीर्थस्थान बतलाते हैं, ओफ ! किसको इस बात की स्वप्न में भी आशा हो सकती है कि उस व्रज में तुम जैसे नर-पिशाच भी रहते हैं ! निकल जाओ यहाँ से अधम ! पापी !! पाखंडी !!! (लात मारकर गिरा देते हैं) कोई है रे ! (सशस्त्र दो सैनिकों का प्रवेश) इस मनुष्य के साथ पांच अश्वारोही भेज दो, और आज्ञा दे दो कि वे इसकी अन्याओं को लेते आवें, नहीं तो यह नीच उनको और कहीं बेच देगा ।

मनोहर— (खड़े होकर) महाराज ! ये दोनों मेरी खास कन्यायें नहीं हैं—मैंने उनको मृत्यु से बचाकर उनका पालन पोषण करके तथा उनको गाना सिखाकर इतना बड़ा किया, इसीलिये मुझे उनको बेचने आदि का पूर्ण अधिकार है ।

राजा— पापी ! तो क्या तू यह कहना चाहता है कि तू इस कन्या विक्रय का व्यौपार करता है, अब तू राजदंड का भी अधिकारी है ।

(सैनिकों से) इसको शीघ्र ले जाओ ।

(ले जाना चाहते हैं)

मनोहर— (घुटने के बल बैठकर) महाराज ! जाता हूँ, किन्तु प्रार्थना है कि आप मेरे साथ अश्वारोही न भेजें, मैं कन्याओं को स्वयम् भिजवा दूँगा । महाराज ! मैं जानता हूं, अच्छी तरह जानता हूं, कि मैं इस समय एक पैशाचिक कर्म कर रहा हूँ । धर्मावतार ! मैंने आपकी सेवा में आने के पूर्व ही अपने हृदय में यह भली भाँति विचार लिया था कि मेरे इस नीच और निन्दित कार्य से सारे ब्रज की चिर संचित कीर्ति को एक भारी धक्का लगेगा, मैं जानता था कि मेरे इस कार्य से भोले-भाले व्रजवासी लोग सभ्य संसार के सन्मुख अपना मुँह दिखाने के योग्य नहीं रहेंगे । संसार उनको पाखंडी, धूर्त और विश्वास-घातक कहेगा, परन्तु एक बलवती अमानुषिक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मैं यहाँ चला आया, मुझको कुछ भी ज्ञात नहीं है कि मैं अब तक क्या करता रहा हूं ? मेरे हृदय में आज एक मास से लोभ और स्नेह के बीच में अविराम युद्ध चल रहा था, एक ओर था दो सहस्र मुद्राओं का लोभ और दूसरी ओर

था दो शुद्ध और पुण्यमयी कन्याओं का निष्कपट प्रेम, परन्तु राजन्, आप देखते हैं कि अन्त में लोभ की ही जीत हुई, ओह ! यह मैंने क्या किया ? भगवान्, जाने मुझे घोर नरक में भी स्थान मिलेगा या नहीं, महाराज ! मुझे जलती हुई आग में डलवादो ! हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दो! फिर भी शान्ति नहीं है, कैसा भयानक है, कैसा कुत्सित है !! (बेहोश हो जाता है)

राजा— इसे शीघ्र ले जाओ, स्वस्थ होने पर घर पहुँचा देना ।

(प्रस्थान)

(दो सैनिक आते हैं और ले जाते हैं)

दृश्य तीसरा—समय (सन्ध्या के ६ बजे)

मनोहरदास का घर

(गंगाबाई अकेली गाती है)

कृपानिधि आप हैं पर दीन पतित क्या जानें ।
तेरी माया को हे भगवान् ! कहाँ तक छानें ।।
सुना है आपने गजराज को बचाया था ।
हो सकय, आओ बचाओ तो ग्रसित भी जानें ।।
धर्म की ग्लानि जब होगी तब अवतरित होंगे ।
कह गये पार्थ से पर सत्य हरे क्यों मानें ।।
निखिल संसार के मुख पर है पाप की छाया ।
फिर भला तुम ही कहो कैसे ललित पहिचाने ।।
है अन्धकारमय अन्तर्जगत हमारा सब ।
वाह्य में आओ हरे दूध मलाई खाने ।।
देखलो कृष्ण मुरारे ! दशा व्रजवासिन की ।
सत्य तो यह है लगा तुम से हृदय पछताने ।।
क्या कहे, किस से कहें, कौन सहायक होगा ?

(आकाश वाणी)

पुत्रि, क्यों होती हो विकल भक्त मुझे हित मानें ।।

(सहसा चौंक कर) हैं ! यह शब्द किसने कहे, यहाँ तो कोई दृष्टि भी नहीं पड़ता। फिर क्या भगवान् हमारी आहें तुम्हारे कानों तक पहुँच गयीं ? क्या हमारे करुणरोदन ने भगवान् तक के हृदय को हिला दिया ? क्या हमारे आँसुओं ने क्षीर सागर में पहुँच कर लक्ष्मीपति की आनन्द निद्रा को भंग कर दिया, आश्चर्य ! महाश्चर्य !! परन्तु यह आशातीत है, फिर यह किसकी आवाज है ? (कुछ देर सोच कर) ठीक है, याद आता है, उस दिन बाबा परमानन्द जी आज के दिन आने की कह गये थे, शायद उन्होंने ही घर के अन्दर से यह शब्द कहे हैं, परन्तु यह आवाज उनकी तो नहीं हो सकती। वाह, किसी ने कैसे मृदुल स्वर से आश्वासन दिया था, तब तो धन्य हैं, दीन-बन्धो ! आपने दीन के लिये स्वयं कष्ट किया था फिर भी पहिले यमुना से तो पूछ लेना चाहिये। लो वह आ ही गयी।

(यमुनाबाई का प्रवेश)

यमुना—जीजी ! तुम यहाँ अकेली क्या कर रही हो ? मैं बड़ी देर से खिड़की में से देख रही थी कि बाबाजी वन से चले आ रहे हैं लो वह आ ही गये।

(परमानन्दजी का प्रवेश)

परमानन्द—बेटी ! आज ऐसी विमनस्क क्यों हो ?

गंगा— महाराज, आज मेरे साथ एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना घटी है, मैं बड़े चक्कर में हूँ, कुछ समझ में नहीं आता।

परमानंद—बात क्या है बेटी ? स्पष्ट कहो।

गंगा— महाराज ! मैं बैठी हुई वीणा पर एक भजन गा रही थी, जिस समय मैंने उस भजन का अन्तिम चरण कहा जो इस प्रकार था कि "क्या कहूँ जिससे कहूँ कौन सहायक होगा" तो सहसा एक मृदुल ध्वनि मेरे कानों में पड़ी और उसने बहुत ही मधुर स्वर में यह शब्द कहे कि "पुत्री ! क्यों होती विकल भक्त मुझे हित मानें" मैं सुनकर भौंचक्की सी रह गई। पहिले तो मैंने समझा कि यह शब्द आपके होंगे। परन्तु पीछे मुझको यमुना द्वारा ज्ञात हुआ कि आप उस समय मार्ग में ही थे। वे शब्द अभी तक कानों में गूँज रहे हैं और वह मधुर ध्वनि अभी तक हृदय में चुभी हुई है, अहा कैसा शिशु तुल्य कल कण्ठ था ! परन्तु गुरुदेव ! मैंने बहुत विचार किया, लेकिन इन शब्दों का अर्थ मेरी समझ में नहीं आता।

परमानन्द—(गद्‌गद् स्वर में) बेटी तुम धन्य हो, और धन्य हैं तुम्हारे माता पिता ! यदि आज संसार में किसी की साधना सार्थक हुई है तो वह तुम्हारी है । आज तुमने अपने निष्कपट और सरल प्रेमपाश में वृषभानुजा राधिका को भी बाँध लिया । धन्य है तुम्हारी इस अविचल दृढ़ भक्ति को, धन्य है तुम्हारे सरल प्रेममय व्यंगों को और धन्य है तुम्हारी इस पुण्यमयी कुटिया को ! (रज उठाकर मस्तक में लगाते हैं) बेटी ! मुझे अपने चरणों की रज दो जिससे मैं अपने क्षुद्र जीवन को सार्थक कर लूं ।

गंगा —(अलग हटकर) यह क्या करते हैं महाराज । एक अधम पापी को इतना महत्व क्यों देते हैं ? महाराज ! मैंने ऐसा कौन सा महापुण्य किया है, जिसके कारण कि मैं इतनी श्रद्धा की पात्री हो रही हूँ ? गुरुदेव ! इस बात को कृपा करके स्पष्ट शब्दों में कहें ।

परमानन्द—आश्चर्य है बेटी ! कि तुम अभी तक नहीं समझीं । सुनो ! स्पष्ट शब्दों में सुनो, कि तुम्हारे भगवान् ने तुम्हारे आर्तनाद को सुन लिया है, तुम्हारी करुणध्वनि ने करुणा वरुणालय भगवान् राधिकावल्लभ के हृदय को करुणार्द्र कर दिया और बेटी, उन शब्दों का अर्थ यह है कि "पुत्री ! मेरे भक्त लोग मेरा दर्शन श्रीहितजी के स्वरूप में करते हैं ।"

गंगा — महाराज ! यह श्रीहितजी कौन हैं ?

परमानन्द—(हँसकर) पगली अभी तक यह भी ज्ञान नहीं है, उनकी इतनी कथा सुनी, परन्तु पूछती हो कि वे कौन हैं । सारी रामायण पढ़ गई परन्तु पूछती हो कि राम कौन थे और सीता कौन थी । पगली यह श्रीहितजी (गद्‌गद् स्वर में) मेरे पूज्य गुरुदेव हैं ।

गंगा —ठीक है महाराज ! मैं बड़ी अभागिनी हूँ, जो ऐसे महात्मा को देखकर भी नहीं पहिचान पायी । चलिये महाराज ! अब हमको शीघ्र ही श्रीवन ले चलिये, हम उनका दर्शन करके अपना जीवन सफल करेंगी ।

परमानन्द—ठहरो बेटियो !...अपने पिताजी को आ जाने दो, फिर मैं उनकी अनुमति लेकर तुमको श्रीवन ले चलूंगा । अब तुम लोग जाकर सो रहो, मैं भी जाकर भगवद् स्मरण कर लूं ।

दोनों —जो आज्ञा ।

(प्रस्थान)
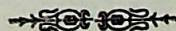
दृश्य चौथा—समय (संध्या के ४ बजे)

(स्थान—कामा गाँव के निकट का वन)

(मनोहरदास और उनके शिष्य का प्रवेश)

हरीहरदास—कहाँ चल रहे हो महाराज ?

मनोहरदास—बता नहीं सकता कि कहाँ चल रहे हैं बेटा ! जिस तरह मैं अर्द्धनिद्रावस्था में जैपुर चला गया था, उसी तरह ज्ञात नहीं होता कि मेरे पैर मुझे कहाँ लिये जा रहे हैं (चारों ओर देखकर) परन्तु यह स्थान तो परिचित सा ज्ञात होता है, मालूम होता है कि हम घर के निकट आ गये ।

हरिहरदास—हाँ, महाराज ! हम घर के बिलकुल निकट आ गये, परन्तु हम अब थोड़ी देर से अपने गाँव की पगडंडी छोड़कर दूसरी ओर चल पड़े हैं, इसीलिये मैंने पूछा था कि अब किधर चल रहे हैं ?

मनोहरदास—तब फिर तुम अपने घर को लौट जाओ। बेटा ! मैं तो इसी ओर को जाऊँगा । जिन बालिकाओं को मैं घर के कूड़े करकट की भाँति फेंक चुका हूँ उनको अब मुझे देखने का भी अधिकार नहीं है । जाओ बेटा ! अपने वृद्ध गुरु की आज्ञा मानो, शीघ्र अपने घर को लौट जाओ ।

हरीहरदास—तब फिर आप कहाँ जायेंगे गुरुजी ?

मनोहरदास–फिर वही शब्दों का शुष्क प्रश्न ! मैं तुम्हें क्या बतलाऊँ कि कहाँ जाऊंगा । क्या मुझे संसार में कहीं भी स्थान न मिलेगा ? क्या भगवती वसुन्धरे ! अपने एक कलंकी पुत्र को अपने उदरमें नहीं छिपा सकेगी (सहसा चिल्लाकर) हरीहर ! कहाँ हो, वह देखो, क्या देखो ! चारों ओर से भयानक दावाग्नि मुझे निगलने के लिए बड़ी शीघ्रता से चली आ रही है । भागो ! भागो !! (ठोकर खाकर गिर पड़ता है) (लड़का साश्चर्य खड़ा रह जाता है)

हरीहरदास—कैसा सत्यानाश है ! गुरुजी ने भी मरने के लिये कौन-सा स्थान पसन्द किया ! । कैसा सुन्दर है ! चारों ओर देखता हूँ, परन्तु हे भगवान् ! कोई भी तो नहीं देख पड़ता, फिर इनकी दाह क्रिया कौन करेगा ? स्पष्ट बात है, मैं तो उनको छूने का नहीं, नहीं तो मेरी मां मुझसे लड़ेगी, परन्तु अब यह विचार करना चाहिये कि मेरा कर्तव्य क्या है ? (कुछ देर सोचता है) बहुत विचार कर लिया, बस यही ठीक है, इस महा संकट में पलायन ही सबसे उचित उपाय है अतः हे गुरुदेव ! मैं आपके चरण कमलों में अन्तिम बार प्रणाम करता हूँ (चरण पकड़ कर) क्षम्यताम्य क्षम्यताम्य (सहसा मनोहर-दास सचेत हो जाता है और उठ बैठता है) (हरीहरदास घबड़ाने का नाटच करता है ।)

मनोहरदास—बेटा हरीहरदास !

हरीहरदास—(संभलकर) हाँ गुरू ज़ी !

मनोहरदास—क्या कर रहे थे बेटा ? मुझे कुछ निद्रा आ गई थी !

हरीहरदास—हाँ महाराज ! आपको निद्रित जानकर मैं आपके चरण दबा रहा था ।

मनोहरदास—अच्छा बेटा चलो अब चलें । (उठना चाहता है, परन्तु सहसा गिर पड़ता है) नहीं, नहीं उठूंगा, मुझे······ (गिर पड़ता है) (हरीहरदास अरे मैया रे" कह कर भाग जाता है)

(परमानन्द जी के साथ गंगा, यमुना का प्रवेश)

यमुना—बाबा जी ! हमको वृन्दावन कब ले चलियेगा ?

परमानन्द—पुत्री ! धैर्य रक्खो अपने पिता जी को आ जाने दो, मुझको उनकी बड़ी चिन्ता है ।

गंगा —हां, बाबाजी ! मैं उनके लिये रात दिन चिंतित रहती हूँ, पन्द्रह दिवस से मुझे बड़े भयङ्कर अशकुन हो रहे हैं, न जाने अदृष्ट की क्या इच्छा है (मनोहरदास 'आह' भरता है ।)

गंगा —(चौंक कर) हैं ! यहाँ पर कौन है (चारों ओर देख कर) देखिये बाबाजी ! यहाँ तो कोई मनुष्य मालूम पड़ता है (जाकर देखते हैं)

गंगा —(चौंक कर दो कदम पीछे हटती है) हैं, यह क्या ? बाबाजी ! देख रहे हो न, स्वप्न है या पहेली ? यह तो पिताजी हैं, कैसा आश्चर्य है ! ओह ! इनकी ऐसी दशा कैसे हो गई, और वह हरीहरदास कहाँ है, वह भी तो दिखलाई नहीं पड़ता है । ज्ञात होता है कि इस संकट में वह भी इनको छोड़ कर भाग गया ।

(हरीहरदास का प्रवेश)

हरीहरदास—नहीं, जीजी ! मैं भागा नहीं हूँ, मैं तुम्हीं लोगों को बुलाने गया था (मनोहरदास सचेत हो जाता है)

मनोहरदास—कौन बेटा ! हरीहरदास, यह कौन ?

गंगा —क्यों पिताजी ?

मनोहरदास—बेटी गंगा, यमुना ! तुम लोग बेटा आँखें ढक लो, मुझ पापी के मुँह की ओर न देखो । कहाँ हो बाबाजी, परमानन्ददासजी ! मुझको अपने चरणों की रज दे दो जिससे पापी सानन्द मर सके ।

परमानन्द—क्यों भाई क्या हुआ ? तुम्हारी ऐसी दशा कैसे हो गई ? किस नीच ने एक बृजवासी की आत्मा को दुःख देने का साहस किया है। बोलो, बोलो, मित्रवर ! किसने तुमको दुःख दिया है ? मैं जानता हूँ कि आज संसार में हम निश्छल निष्कपट बृजवासियों को कैसी हीन दृष्टि से देखा जाता है। आज विदेशी सभ्यता की डींग मारने वाले सज्जन हमारे वेश-विन्यास पर हमारी भाषा पर और हमारे निष्कपट सदाचरण पर मुँह में रुमाल दबाकर भगवान् ही जाने किस पैशाचिक आनन्द का उपभोग कर लेते हैं और हमको असभ्य और मनहूस कहते हैं, परन्तु उनको यह नहीं मालूम है कि इस कूड़े करकट के नीचे, इस वाह्याडम्बर रहित असभ्यता के नीचे कैसी प्रबल अग्नि दबी हुई है, जो समय पाकर अवश्य प्रस्फुटित होगी, और अपनी अनिरुद्ध अग्नि से संसार के सब पापाचारों को और मानव जीवन की अस्वाभाविकताओं को भस्म करके फिर उसी प्राकृतिक, निर्मल और शुद्ध जीवन का संचार करेगी।

मनोहरदास—बाबाजी, मित्रवर ! शान्त होइये, मुझको न किसी ने सताया है और न मेरा अपमान किया है। मैं तो केवल अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ, मुझसे मेरी पाप कथा न कहलाइये ! ओफ ! हृदय काँपता है ? वह कैसा कुत्सित है ?

परमानन्द—कैसी विचित्र दशा है, कुछ समझ में नहीं आता।

मनोहरदास—ठीक है महाराज, मेरे इस कर्म पर स्वयं यमराज भी चक्कर में होंगे। ओह ! मैंने क्या किया ! धन के लोभ में पड़कर अपनी कन्याओं को बेच दिया। मेरा मुँह मत देखो, हट जाओ, यहाँ से चले जाओ।

परमानन्द—कैसा आश्चर्य है !

गंगा —हमको बेच दिया ? किसके हाथों पिताजी ! राजा मानसिंह के हाथों ? तब फिर इसमें दुःख करने की कौन सी बात है ! हम आपके लिये अपने जीवन को भी तुच्छ समझती हैं, फिर इसमें तो ऐसा कोई स्वार्थ-त्याग भी नहीं है। हम कल चली जायेंगी और वहीं बैठकर अपने भगवान् को याद करेंगी। वाह इतने विह्वल क्यों होते हैं ? जरा-सी बात पर इतनी व्याकुलता, आश्चर्य है !

मनोहरदास—(ऊँची सांस भर कर) ठीक है बालिके ! तुम इन बातों को क्या समझो। पूछो, निकट खड़े हुए इन महात्माजी के हृदय से, पूछो इस कलंकित ब्रजधरा से, पूछो उस दृश्य के साक्षी चन्द्र ग्रह सूर्य तारागणों से, और पूछो इस आहत हृदय की आहों से बेटी ! तुम इस दाह की इस अनुताप की कल्पना भी नहीं कर सकतीं। ओह कैसी जलन है !

परमानन्द—शान्त होओ भैया ! अधिक पश्चाताप करने से लाभ क्या है।

मनोहर—हां मित्र ! अब अवश्य शान्त होऊंगा, अब और उपाय ही क्या है । अब मेरी शांति चिरस्थायिनी होगी, इस शान्ति को भंग करने वाली अब कोई भी शक्ति संसार में नहीं है ! हां यह दो हजार मुद्रायें जो मैं राजा मानसिंह से तुमको बेचकर लाया हूं, उन्हीं के यहाँ पहुंचा देना, और एक रहस्य है कि घर के बाईं ओर को दीवार में तीन हजार मुद्राएँ गढ़ी हैं उनमें से एक हजार मुद्रायें तो अपने लिये रख लेना और दो हजार मुद्रायें गरीबों को बांट देना । बेटियो, मित्रवर ! जीवन प्रदीप का सारा तेल जल चुका है, वह देखो दूर पर काला समुद्र लहरा रहा है, कैसी भयंकर बाढ़ें आ रही हैं, वह आ रही है, वह आ रही है, मुझ को अपनी जीवन नौका इसमें ही डालनी होगी, ओफ ! कितनी भयंकर है । बेटियो ! जाता हूं, गंगाबाई, य-मु-ना-बा-ई ....

(मृत्यु)

(गंगाबाई मूर्छित होकर गिर पड़ती है, शेष दोनों भौंचक्के से खड़े रह जाते हैं ।)

परमानंद–जाओ बेटी ! शीघ्र ग्राम से दो आदमियों को बुलालाओ थोड़ा सा पानी भी लेती आना ।

(यमुना का प्रस्थान)

परमानंद–(कम्पित स्वर में) जाओ मित्रवर, भगवान् राधिका वल्लभ तुम्हारे सरल हृदय को शान्ति प्रदान करें । धन्य है तुमको और तुम्हारे सरल शिशु तुल्य हृदय को । तुम आज सारी मनुष्य जाति के लिये एक भारी आदर्श उपस्थित कर चले हो। अपने किये हुए पाप पर वास्तविक पश्चाताप करने वाले महात्मा संसार में बहुत दुर्लभ हैं ।

दृश्य पाँचवां—समय (रात्रि के १० बजे]

स्थान—चिरानन्द की बैठक, महन्तजी अकेले खड़े हैं ।

महन्तजी–(स्वगत) समय की भी कैसी विचित्र गति है, जो किसी समय हमारी मित्रता का दम भरते थे, जिन्होंने हमारे लिये अपने हृदय को हथेली पर रख दिया था, जिनके लिये किसी समय हमारा आदर और प्रेम सौभाग्य स्वरूप था, वही आज समय के कुचक्र में फँसकर हमारे खून के प्यासे हो गये हैं । यही नहीं, जिनको हमने अपना सर्वस्व दे डाला था, जिनकी एक मृदुल मुसकान हमारे अनन्त, अतीत और भविष्य को संकुचित वर्तमान में विलीन कर देती थी, जिनके एक एक प्रेममय व्यंग को हम कृपण के धन की भाँति

हृदय के अगम्य स्थान में बड़ी सावधानी से रखते थे, वही आज हमारे हृदय को निर्दयता पूर्बक ठुकरा कर दूसरों को अपना प्रेम पात्र बना रहे हैं । बड़ा ही घृणित है, बड़ा ही कुत्सित है ! अब तो नहीं सहा जाता, परन्तु अब तो पूर्ण रूप से व्यवस्था भी करदी है, अब तो वह पापिन इस संसार से पयान कर गई होगी, लो ! वे काम समाप्त करके आ ही गये ।

(दो चेलों का प्रवेश)

प० चे०—लाइये महाराज ! हमारा इनाम दीजिये । आपके काम को जितनी सफलता पूर्वक हमने किया, उतना शायद ही कोई कर सके ।

महन्तजी-आओ बैठो भाई ! कोई विशेष घटना तो नहीं हुई उस कार्य को कैसे समाप्त किया ।

प० चे०—महाराज ! यद्यपि हमने ऐसे बहुत से कार्य किये हैं, परन्तु ऐसा भयानक कार्य कभी नहीं किया । जिस समय हमने उसको आपकी आज्ञा सुनाई तो वह वीरबाला रोने लगी । सच कहते हैं कि हमने उसकी सुन्दर निडर आँखों में अश्रुकण कभी नहीं देखे थे । सान्त्वना दिखाने पर वह सिसक-सिसककर कहने लगी कि मेरी कड़ाई महन्तजी के आचरण सुधारकर उनको सतपथ पर लाने के लिये ही थी । उनके इन आचरणों को देखकर मेरा हृदय सदैव से जलता रहा , इसी कारण मैंने उनको सच्चे मार्ग पर लाने के लिये इस पथ का अनुसरण किया था, परन्तु दुःख इस बात का है कि मैं अपनी बलि देकर भी उनको न सुधार सकी । फिर महाराज ! उस वीर रमणी ने अपनी आँखों से आँसु पोंछकर हम लोगों को आघात करने को कहा (महन्त सहसा खड़ा हो जाता) महाराज ! उसके अन्तिम शब्द अभी तक हृदय में चुभ रहे हैं कि महन्तजी से जाकर प्रार्थना कर देना कि यह दासी सदैव से ही उनकी शुभचिंतक रही है, और स्वर्ग में भी जाकर शुभ चिंतना ही करेगी । भगवान् उनको सुमति दे ! फिर हमको ज्ञात नहीं है कि हमने क्या किया, आपकी आज्ञानुसार टुकड़े-टुकड़े करने पर ज्ञात हुआ कि वह गर्भवती थी, हम उसे कुँए में डालकर चले आये ।

महन्तजी- (सहसा चौंककर) ओफ ! गर्भवती ! यह क्या किया ? (सिर पकड़कर बैठ जाता है) (थोड़ी देर बाद) अच्छा तुम लोग आज जाओ कल प्रातः- आना ।

(चेलों का प्रस्थान)

महन्तजी- ऐ लड़के ! सोमरस तो लाओ, (लड़का एक बोतल और गिलास लेकर आता है ।

महन्तजी– शीघ्र दो गिलास भरकर दो (लड़का भरकर देता है, महन्त पीता है)

(लड़के का प्रस्थान)

महन्तजी– (स्वयम्) कुछ देर टहलकर) अच्छा ही तो हुआ, बिल्कुल डाकिन थी। आहा हा हा ! मरने के समय कैसी सीता सती बन गई। वाह, कैसी चाल चली ? परन्तु मैंने पकड़ ही लिया। आहा हा हा ! डाकिन थी, पिशाचिन थी।

(नौकर का प्रवेश)

नौकर— महाराज ! बाबा विशुद्धानंद जी आये हैं।

महन्तजी– आने दो।

(प्रवेश विशुद्धानंद जी)

महन्तजी– (निकट जाकर आनन्द से) कहिये क्या खबर लाये हैं।

विशुद्धानंद–महाराज ! खबर तो अच्छी है, परन्तु अब मामला जरा टेढ़ा हो गया है। अब वह दोनों श्रीहरिवंश चन्द्रजी के पास जा पहुँची हैं और उन दोनों ने उनकी दीक्षा लेली है। वे उन्हीं की सेवा में रहती हैं, अब उनको उनके पास से निकालना जरा टेढ़ी खीर है।

महन्तजी–आहा हा हा ! मित्र कैसी बातें कर रहे हो। जब तक मेरा बाल्य मित्र अजीज वेग मेरे संग में है, तब तक मुझे कोई टेढ़ी खीर नहीं है। (हाय पकड़कर) चलो अब शयन करें। रात्रि अधिक हो गई है।

(प्रस्थान)

अङ्क चौथा

दृश्य पहला–समय (सन्ध्या के ५ बजे)

स्थान––श्रीहितजी की बैठक

श्रीहितजी शिष्य मंडली में विराजे हैं।
(गंगा यमुना बाई गाती हैं)
(गायन ताल दादरा)

जय जय आनन्दकंद राधिका विहारी।
शरद चन्द्रिका विकास, वन वन पलास॥
भ्रमर मत्त लेत वास, ग्रीष्म दियो जारी॥ जय जय० ॥

उडुगन विरच्यौ वितान, चन्द्र भयौ भासमान,

महि मंडल रूप खान, मंद चल वयारी ।।जय जय०।।

भानुजा अलाप गान, मलय देत ताल तान,

उडु शशि दे मान 'ललित, जय जय कंसारी ।।जय० जय०।।

कलिका सम मधुर बाल, अवगुण तव भय विहाल,

खोल रही नेत्र जाल, है अति सुखकारी ।।जय० जय०।।

विहरत वन श्यामा श्याम, लज्जित कर कोटि काम,

व्यापि रहे धरा धाम, जाऊँ बलिहारी ।।जय० जय०।।

हितजी— रसिको ! इन दोनों बालिका का विशेष परिचय देने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, इनको स्वामिनीजू के शरण में आये कई दिवस व्यतीत हो गये हैं । मैं इनसे अत्यन्त प्रसन्न हूं ।

गंगा— (हाथ जोड़कर) महाराज ! मुझे एक प्रार्थना करनी है आज्ञा हो तो दासी कुछ कहैं ।

हितजी म०—बेटी ! निस्संकोच होकर कहो ।

गंगा— महाराज को हमारे डाकू पिता और हमारे पालक पिता का हाल तो बाबा परमानन्द दास जी से मालूम हो ही चुका है । महाराज को यह भी मालूम हो गया होगा कि हमारे पालक पिता की कैसी शोचनीय मृत्यु हुई है, अस्तु । कल जब मैं महा प्रसाद लेकर सो गई थी तो स्वप्न में मेरे पालक पिता मनोहर दास जी की आत्मा मुझे दिखलाई दी, उसने कहा कि मेरी गति नहीं हुई है और मैं मथुरा में गौ घाट के पीपल पर प्रेत योनि में हूँ । बेटी ! तुम किसी प्रकार मेरा उद्धार करो इस स्वप्न के पश्चात् महाराज मुझे नींद नहीं आई तारे गिन-गिन कर ही रात्रि बिताई, महाराज ! इन चरणों को छोड़ कर भला हम और किसका सहारा लें । प्रभो ! 'हमको इसका उपाय बताने की कृपा कीजिये ।'

हितजी महाराज—बेटी इसमें ऐसे विकल होने की बात ही क्या है, जिस पर श्रीराधिका बल्लभ लाल की कृपा है, जिसने उनके चरण कमल पकड़ रखे हैं, उसके लिये संसार में कौन कार्य असाध्य है किन्तु तत्सुखसुखी भाव वाले महानुभाव प्रभु चरणों से कभी अभिलाष नहीं करते यदि करें तो विचारी प्रेत योनि क्या वस्तु है, यदि सारा संसार उसके विपक्ष में हो—और केवल राधा नाम उसके साथ में हो तो वह प्रवल वायु की भाँति छोटी-छोटी मेघों की टुकड़ियों के समान अनेक बाधाओं को क्षण भर में दूर कर देगा । अब तुम जाकर नित्य स्मरण करो, प्रातःकाल उस प्रेत को मथुराजी जाकर युगल सरकार का

चरणामृत पिला देना, वह शीघ्र ही उस योनि से मुक्त हो जायगा और बाबा परमानन्दजी साथ में चले जांयगे।

(शिष्य मण्डली से) भावुको! अब आप भी अपने स्थानों को जाओ. सेवा समय हो गया है।

(सबों का प्रस्थान)

卐

दृश्य दूसरा—(रात्रि)

(स्थान मथुरा में चिरानन्द जी का घर)

(प्रवेश)

चिरानन्द—यह मैंने क्या किया, वह गर्भवती थी! वह मुझ को प्यार करती थी! वह मुझे सुधारना चाहती थी! नही, नहीं यह उन लोगों का ही कौशल है. उन्होंने ही मेरे हृदय पर चोट पहुँचाने के लिये यह बातें गड़ेली हैं। सब झूठा है, सब मिथ्या है, जो स्त्री अपने पति के आचरणों की आलोचना कर सकती है, जो अपने पति की मानि हानि देखकर प्रसन्न हो सकती है. वह क्या उसे प्यार कर सकती है? परन्तु न मालुम क्यों रह-रह कर मुझे किसी की याद आजाती है, हृदय के किसी अलक्ष्य कौने में से कोई परिचित सी मूर्ति निकल कर अपने गगन भेदी अट्टहास द्वारा मेरे सुख स्वप्न को सहसा नष्ट कर देती है! वही रहस्य पूर्ण भोला चहरा, वही रहस्य पूर्ण सरलमंद मुसकान दृष्टि के सामने से बारबार फिर जाती है। उसकी प्रत्येक बात में, प्रत्येक अर्थ भंगी में रहस्य था। प्रत्येक मधुर शब्द के नीचे हलाहल था, परन्तु कुछ भी हो। वह मेरी हृदय से शुभचिन्तक थी, वह चली गई, हाय! मैंने ही उसे मरवा डाला, ओफ! (कुछ देर आकाश की ओर देखकर सहसा) वह रही, अवश्य वही है, स्वर्ग में भी जाकर मेरी ही ओर देख रही है, निर्वाणोन्मुख दीपक की तरह उसकी आँखें कैसी मन्द हैं! परन्तु फिर भी उनमें श्रद्धा, करुणा और प्रेम के भाव कैसे स्पष्ट झलक रहे हैं! पलक कैसे कांप रहे हैं! ज्ञात होता है कि वह मेरी इस पतित अवस्था पर अश्रु पात कर रही है, लक्ष्मी! तुम सचमुच लक्ष्मी ही थी? देवी! मुझे सुधारने के लिये तुम स्वयम् पृथ्वी पर आईं, परन्तु मुझे न सुधार सकीं अब मुझे कौन पाप की इस महान दल-से निकालेगा? देवी! शापदो, स्वर्ग में ही बैठे हुए मुझ पापी को भस्त करदो, (चुप हो जाता है।)

(नौकर का प्रवेश)

नौकर— महाराज ! आपसे फौजदार साहब मिलना चाहते है (चिदानन्द चुप रहता है)

नौकर— श्री महाराज ! अजीज वेग साहब आप से मिलना चाहते हैं ।

चिरानन्द—(चौंक कर) कौन अजीज वेग ? वह क्या चाहते हैं ? क्या मुझे गिरफ्तार करना चाहते हैं ?

नौकर— नहीं महाराज ! आपके दर्शन करना चाहते हैं ।

चिरानंद– नही, नहीं, लौटा दो, द्वार बन्द कर दो, मैं उनसे मिलना नहीं चाहता, वह डाकू है, चोर है, मेरी सम्पति हरण करने आया है, जाओ सीधा जाकर कह दो कि मेरी तबियत खराब है, मैं इस समय नहीं मिल सकता ।

नौकर – महारास ! फौज ... .

(नौकर का प्रस्थान)

चिरानंद—यही है इसी ने मेरी लक्ष्मी की हत्या करवाई है यदि यह मेरा पृष्ठ पोषक न होता तो मेरा इतना साहस कभी नहीं हो सकता था ।

(नौकर पुनः प्रवेश)

नौकर— महाराज ! वे दो ही मिनट के लिये मिलना चाहते हैं । बहुत आवश्यकीय कार्य बतलाते हैं ।

चिरानंद –(स्वगत) कम से कम सुन तो लूं क्या बात है (प्रगट हो) आओ ।

(फौजदार का प्रवेश)

चिरानंद--(उठकर) आओ मित्र बहुत दिन के वाद मिले, इतने दिनों तक कहाँ रहे ?

फौजदार– दोस्त ! किसी मुल्क पर हुकूमत करना मजाक नहीं है, सारे मुल्क की जिम्मेदारी हुक्काम के सिर पर ही रहती है, अगर कोई किसी मुल्क के बारे में सवाल करना चाहे तो वह उस मुल्क के हुक्काम से ही करेगा । इन्हीं झगड़ों में पड़कर मैं तुम्हारे पास न आ सका । मगर कम से कम तुमको तो उधर आना चाहिये था ?

चिरानंद– मित्र ! जबसे मैंने उसकी हत्या करवाई है तब से मेरा हृदय बहुत उद्विग्न रहता है, मैं अपने हृदय को बहुत ही समझाता हूँ, अनेक लालच देता हूं परन्तु यह अपना हठ नहीं छोड़ता । यह किसी ऐसी वस्तु को माँगता है, जिसका यह स्वयं ही सर्वनाश कर चुका है । मित्र मैं पागल हो रहा हूँ—मेरे हृदय में आग लगी हुई है, बहुत आगे बढ़ आया हूँ, पीछे लौटना चाहता हूँ, परन्तु मार्ग भूल गया हूँ !

फौजदार– दोस्त ! इन फिजूल की बातों से क्या फायदा ? अगर तुम रास्ता भूल गये हो तो चलो मैं तुमको रास्ता दिखलाऊँगा। एक नाचीज पैर की जूती के लिये इतना रंज, ताज्जुब है ! अगर तुमने एक बदसूरत औरत को कत्ल करवा दिया तो चलो मैं तुमको बोतियों कमसिन परियाँ दिलवाता हूं। जब तक मैं जिन्दा हूँ तब तक तुमको औरतों के बारे में फिक्र करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

चिरानंद– मित्र ! मुझे स्त्रियों के विषय में कुछ भी चिन्ता नहीं है। तुमको ज्ञात है ही कि मैंने अपनी काम वासना में कितनी सती साध्वी स्त्रियों की आहुती दे दी है, और सबों को अन्तिम गति वही हुई है, जो मेरी इस स्त्री की हुई है, परन्तु मुझे किसी के लिये भी अपने हृदय में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं हुआ। परन्तु न जाने उस दिन से मेरा हृदय इतना व्याकुल क्यों रहता है ? मेरे कानों के पास आकर सहसा कोई चिल्ला उठता है कि "वह तुमको हृदय से प्यार करती थी, तुम्हारी भलाई के लिये उसने अपनी बलि देदी है। मित्र ! मैं काँप उठता हूँ, मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, और उसकी छाया मेरी ओर दीन नेत्रों से देखती हुई दिखलाई पड़ती है। मित्र ! अब मुझसे किसी बात की आशा न रक्खो, मेरा हृदय जल चुका है, और मैं भी मृतकप्राय हूँ।

फौजदार– कैसा अजीब ख्वाब देख रहे हो, दोस्त ? मुझको ताज्जुब होता है कि एक ही दिन में तुम्हारा क्या हाल हो गया, एकदम सब बातें बदल गईं, यहाँ तक कि चेहरे में भी फर्क आगया, खुदा ही जाने तुम किस बला के पाले पड़े हो ? लाओ अपना वाला रस तो पिलाओ, बड़ा तेज है, पीते ही पीते इन्सान गर्क हो जाता है। (चिरानन्द सोमरस मँगवाता है) (लड़का एक बोतल और ३-४ गिलास लेकर आता है)

चिरानंद—जनाव को एक गिलास भरकर दो।

फौजदार—क्यों दोस्त ! क्या तुम नहीं पियोगे ? साकी तो तुमको ही बनाना पड़ेगा।

चिरानन्द—नहीं मित्र ! मैं तो उसी दिन से सोमरस नहीं पीता, यहाँ तक कि सब बोतलें भी तोड़ डाली हैं। यह बोतल तो इस लड़के के पास थी, इसीलिये बची रही, मुझे क्षमा करो।

फौजदार—(गिलास रखकर) नहीं दोस्त ! यह तो कभी नहीं होगा, मैं तुम्हारे घर पर आया हूँ तुम मेरे साथ रस पीकर मुझ को इज्जत नहीं बकसना चाहते। बहुत अच्छा, मैं भी नहीं पीऊँगा, और आयन्दा से इस बात का खयाल रखूँगा।

चिरानंद—(स्वागत) हे भगवन् ! अब मैं क्या करूँ, अगर यह मुझ से क्रुद्ध हो गया तो मेरे बचने की कोई आशा नहीं रहेगी । इससे मेरा छिपा ही क्या है, यह एक पलभर में मेरा सर्वनाश कर सकता है अब तो इसके साथ पीना ही उचित है । (प्रगट) बहुत अच्छा ! मित्र यदि तुम्हारा इसी बात पर हठ है तो मैं एक तुच्छ बात पर अपने बाल्यमित्र का हृदय नहीं दुखाना चाहता । (दोनों मिलकर एक बोतल उड़ा जाते हैं ।)

फौजदार—दोस्त ! मुझे आज निहायत खुशी है, और मैं एक खुश खबर सुनाने आया हूं, तुम को अच्छी तरह याद होगा कि तुमने एक दफा मुझसे दो लड़कियों का जिक्र किया था, मैं उसी दिन से उनकी तलाश में था, और आज आखिर-कार मेरी मुरादें पूरी होने का दिन आ ही गया ।

चिरानंद- (खुशी से उछलकर) क्या कहाँ क्या तुमने उनको पकड़ मँगाया ? अब तो वे पूर्ण युवती हो गई होंगी ।

फौजदार– दोस्त, मैंने उनको गिरफ्तार करवा लिया है, वे इस वक्त मेरे घर पर ही हैं, बड़ा कड़ा पहरा डलवा दिया है, किसी तरह से चंगुल में से नहीं निकल सकतीं, ओहो ! उनकी खुबसूरती का क्या हाल पूछते हो ? चाँद को भी शर्मिन्दा कर रही हैं, लेकिन मेरे घर पर आकर शायद मुझको मुसलमान जानकर एकदम डर गईं और किसी खास जवान में मुझ से न जाने क्या कहने लगीं । हां, वह जवान तुम्हारी जवान से मिलती थी, मगर फिर भी मैं न जाने क्यों न समझा, मैं तो सिर्फ उनकी आँखों ही की ओर देख रहा था, मैंने कुछ नहीं सुना, जब मैं चलने लगा तो देखा कि वे दोनों रो रही हैं, या खुदा, आँखों से आँसू क्या गिर रहे थे, गोया मोती की लड़ें टूटकर गिर रही थीं ।

चिरानंद- (झूमते हुए) वाह मित्र, तुम धन्य हो ! जो तुमने प्राण प्रियों के एक बार हृदय भरके दर्शन तो कर लिये । अब चलो मैं चलता हूं । देखो, मुझे देखकर कैसे नहीं रीझती हैं ? और फिर मैं उनकी जाति का हूं, वाह, वाह ! मैं हिन्दू हूं, क्यों मित्र ! हिन्दू होना कैसे सौभाग्य की बात है, वह मुझे देखते ही मेरे गले लग जायेंगी, चलो अभी चलो ।

(हाथ पकड़कर प्रस्थान)

दृश्य तीसरा—(समय रात्रि)

स्थान—कारागृह ।

(गंगाबाई यमुना बाई अकेली)

यमुना – क्यों बहिन ! उसने हमको आज ऐसे संकुचित घर में क्यों बंद किया है ? इससे तो वही अच्छा था । कम से कम सूर्य का प्रकाश तो आता था, यहाँ तो बिलकुल अंधकार है ।

गंगा— तुम इन बातों को क्या समझो बालिके ! वह हमसे डरता था कि हम कहीं भाग न जाय, इसी से उसने हमको ऐसे सुदृढ़ मकान में बन्द कर रक्खा है और बाहर सिपाही नंगी तलवार लिये हम पर पहरा दे रहे हैं ।

यमुना— नंगी तलवार लिये पहरा दे रहे हैं, यह क्यों बहिन ?

गंगा— इसीलिये कि हम भाग न जांय ।

यमुना— आहा हा हा ! कैसा पागल है ? भला उस मूर्ख से पूछो तो कि हम भागेंगी कैसे ? हमारे दोनों हाथ बँध रहे हैं, ऐसे भयानक घर में बंद हैं, फिर हमारे पर भी तो नहीं हैं, जो उड़ भी जायँ । नहीं जीजी ! उसकी कोई और ही चाल होगी ।

गंगा— (चोंककर) कोई आरहा है चुप रहो !

(अजीज वेग चिरानंद और एक सिपाही का प्रवेश)

गंगा— (स्वगत) यह तो कोई हिन्दू ज्ञात होता है । कदाचित् यह मुझको बचाने आया है, परन्तु इसको तो मैंने कहीं देखा है, याद आता है कि यह तो वही नर पिशाच है, जिसके हाथों से मुझे बाबा मनोहर दास जी ने बचाया था । यह दुष्ट यहाँ किस आशा से आया है ।

अजीज— क्या समझे दोस्त ! जानमन किस पर नाराज हो रही है, मुझ पर या तुम पर ?

चिरानंद— आहा ! मित्र खूब कहा, भला मुझ पर क्यों कुपित होने लगी, मैंने उनका क्या बिगाड़ा है । मैं तो उनकी जाति का हूँ । देखो ! वह तो मेरे गले लगना चाहती हैं । मेरी ओर कैसी स्नेह दृष्टि से घूर रही हैं ।

गंगा— नीच, पाखंडी, तू हिन्दू है, तू हमारी जाति का है ! जभी तू हमारा सर्वनाश करना चाहता है । विचार तो सही कि किसी समय तूने हमको बेटी कहकर सम्बोधित किया था, और पापी ! तू आज हमको किस दृष्टि से देख रहा है । भगवान् ! तू जन्मान्ध ही क्यों न हुआ तू माता के गर्भ में टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया ।

अजीज— जानमन क्या फरमा रही है, क्या समझे दोस्त ?

चिरानंद— मित्र ! तुमने इनके स्वभाव को तनिक चिड़ाचिड़ा कर दिया है (धीरे से) पहले जरा शर्माती हैं, धैर्य रक्खो अभी सब काम ठीक किये देता हूँ। (गंगा से) इतनी व्याकुलता का क्या कारण है प्रिये ! चलो, आनंद से चलकर नबाब साहब के महलों में भोग विलास करो। मुझे ज्ञात हुआ है कि तुम किसी वैष्णव के चक्र में पड़ गयी हो, सोचो तो सही कि क्या यह रूप, यह यौवन, यह सौदर्न्य, तप में नष्ट करने योग्य है। भला वे असमझ लोग इसका क्या मूल्य जानें, आओ प्रिये ! मेरे हृदय से लग जाओ। (आगे बढ़ता है)

गंगा— नीच ! नारकी ! तेरा इतना साहस ? चल हट सामने से ! (गिरा देती है)

अजीज— (तलवार निकालकर) क्या करती है औरत ? अभी एक हाथ हो में तेरा सर जमीन पर लेटता हुआ नजर आयेगा।

गंगा— (हंसकर) मेरे ऊपर तलवार चलाओगे, यवनराज ! जाओ जाओ अपने राज्य कार्य को देखो, अभी तुमने इतना तप नहीं किया कि मेरे ऊपर वार कर सको। व्यर्थ में क्यों समय नष्ट करते हो, फिर कहती हूँ कि मुझे मारने का प्रयास करना निष्फल है।

(गायन)

जेहि ने पकड़ राख्यौ आंचल प्रिया को,
ताहि वापुर कुचाली चक्र कहा डरपाय है।
पाय है अनेक कष्ट शरण न पैहै कहूँ,
नाम के सुनत चहुँ लोक थर्राय है।।
राय है त्रिलोक की सु आदि शक्ति राधिका जू,
ललित कृपा की दृष्टि कृष्ण हू उछाय है।
छाय है सदा ही कृपा छत्र निज भक्तन पै,
तैही दुख दुर्गम में भक्त को बचाय है।।

अजीज— जानमन ! इन सब वे मजे की बातों को जाने दो। मैं तुम्हारे लिये एक खास मंदिर बनवादूँगा। वहाँ बैठकर तुम इनको रटा करना। अब तो जो कुछ मैं पूछता हूँ उसका साफ-साफ जबाब दो, नहीं तो मैं पहिले ही अर्ज कर चुका हूं कि एक लहमे के अन्दर............

गंगा— यवनराज ! मुझको डराना वृथा है, मैं तुम्हारी इन घुड़कियों में नहीं आऊँगी, जो तुम्हें करना है, सो करो।

अजीज— बहुत अच्छा ! अब भी सँभल जाओ, खूब ख्याल कर लो एक ओर है ऐशो आराम, जिन्दगी के लुत्फ और दूसरी ओर है मौत की ठंडी नींद, बोलो क्या पसन्द है ?

गंगा— बार-बार क्यों पूछते हो, मैंने पहले ही कह दिया, कि इस घोर नरक से तो मृत्यु का परमानन्द ही श्रेय है ।

अजीज— बहुत अच्छा, तो तुम किसी तरह न मानोगी ?

गंगा— कभी नहीं ! जब तक शरीर में प्राण हैं तब तक कभी नहीं मानेंगी ।

(अजीजबेग का इशारा पाकर दो सिपाही हाथ में नंगी तलवार लिए दोनों के केश पकड़ लेते हैं ।)

(दोनों हाथ जोड़कर गाती हैं)

(गायन)

हे घनश्याम ! बचाओ लाज ।
द्रुपद सुता जब टेर सुनाई, पहुँचे श्रीव्रजराज ।
हे घनश्याम बचाओ लाज ।।
घेर लई अबला गौ राक्षस गिरन चाहत है गाज ।
हे घनश्याम बचाओ लाज ।।
यवन मत्त मदिरा में ठाड़ो, ताकत जिमि शठ बाज ।
हे घनश्याम बचाओ लाज ।।
आओ ललित राधिकावल्लभ होवे काज अकाज ।
हे घनश्याम बचाओ लाज ।।

(सिपाही तलवार उठाते हैं । सहसा गम्भीर गर्जना । सिंह का प्रगट होना, अजीजवेग और चिरानंद का काँपते हुए हाथ जोड़ना ।)

(परदा गिरता है)

दृश्य चौथा—समय (संध्या के ३ बजे)

(श्रीहितजी शिष्य मण्डली में बैठे हैं)

(सामने गंगाबाई-यमुना बाई गा रही हैं)

राग बहार

जय जयति जयति हित प्रभु दयाल ।
मोचत भव बन्ध प्रणतपाल ॥
जय सौख्य सिन्धु, रस सार बिन्दु ।
जय व्रजमण्डल नव सरस इन्दु ॥
जिहि छटा प्रकाशित चहूं लोक ।
नर सुर मुनि किन्नर चकित कोक ॥
जेहि अघट अमन्द विकार हीन ।
रस सिन्धु अगम को चतुर मीन ॥
प्रगटायो श्री हित धर्म चारु ।
श्रुति स्मृति, निगम, पुराण सारु ॥
होवे चरणों में रति अपार ।
हो पाप ललित जरि छार - छार ॥

श्रीहितजी—भक्तो ! जिस महान् आपत्ति में यह दोनों अबोध कोकिलायें फँस गई थीं वह तुम लोगों से छिपा नहीं है। परन्तु वहाँ जाकर भी भक्त.वत्सल भगवान् ने इनकी रक्षा की थी और मृगराज के रूप में दर्शन दिया, यह बात इन बालिकाओं की अनन्य अविचल भक्ति की स्पष्ट पुष्ट प्रमाण है।

परमानंद—श्री महाराज ! मुझे ज्ञात हुआ है कि उन बालिकाओं के पकड़नेवाले उन दो नरपिशाचों को अपने इस अमानुषिक कृत्य पर ग्लानि हो गई है और वे इस पर पश्चात्ताप कर रहे हैं।

(चिरानन्द और अजीजवेग का प्रवेश)

चिरानंद—(हाथ जोड़कर) श्री महाराज ! हम दोनों पापी आपकी सेवा में अपत्य कृत कर्म का दण्ड भोगने के लिये उपस्थित हुए हैं। महाराज ! हमें दण्ड दीजिये ।

(अजीजवेग के साथ चरणों में गिर पड़ता है)

श्रीहितजी–राधे, राधे, कैसी बातें करते हो महन्तजी ! तुम लोगों को दण्ड देने वाला मैं कौन हूँ ? जो इन बालिकाओं की टेर सुनकर तुच्छ मृगराज का रूप धरकर इनको बचाने आये थे, वही तुम लोगों के इस कर्म पर विचार करने वाले हैं। मैंने तो तुम लोगों को उसी समय क्षमा कर दिया जिस समय मुझे यह ज्ञात हुआ कि तुम लोग अपने कृत कार्य पर पश्चाताप कर रहे हो, क्योंकि संसार में ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं, जिनसे अपने जीवन में कभी न कभी किसी न किसी प्रकार की भूलें न हुई हों। परन्तु भाग्यवान वही है जो अपनी भूल पर वास्तविक पश्चात्ताप करता है। जाओ, यवनराज ! तुम भी निश्चिन्त होकर अपने राज कार्य को सम्हालो। मैंने तुमको हृदय मे क्षमा कर दिया।

अजीजवेग–नहीं, परवरदिगार ! मैं अब आपको पाकर कभी नहीं छोड़ सकता। मुझे अब इस दुनियाँ से बड़ी नफरत हो गई है। मुझे तो अपने पैरों के नजदीक ही जगह दीजिये। और मुझे वह मंतर बतलाइये जिसके जपने से इन्सान की रूह इतनी पाक होकर इस आला दर्जे पर पहुँच जाती है। मुझे अब इस वेरहमी से मत ठुकराइये।

श्रीहितजी—वत्स ! तुम्हारे मुख से यह शब्द शोभा नहीं देते। प्रत्येक धर्म में तुमको ऐसी बातें अवश्य मिलेंगी। जिनका लक्ष किसी परम तत्त्व पर है। फिर सबों से मुख्य वस्तु विश्वास है, इसी विश्वास के कारण ही तुम्हारे कारागृह की ईटों से सिंह उत्पन्न हो गया, अतएव प्रिय वत्स ! मेरा तो तुम्हारे लिये यही आदेश है कि, धर्म गुरु के बतलाये हुए मन्त्र पर विश्वास और श्रद्धा करना सीखो। बस तुम्हारा उद्धार हो गया।

अजीजवेग—(गद्गद् होकर) वाह महाराज ! मेरी समझ में यह बात आज आई कि क्यों, हजारों मुसलमानी, मंगोली और यूनानी हमले होने पर भी आपका हिन्दू मजहब सर ऊँचा किये हुए खड़ा है। राजपूतानियों के जौहर का असली मतलब मैंने आज ही समझा है। महाराज ! आप-से पैगम्बरों के वजह से ही यह मजहब जोर पकड़ रहा है। सच पूछिये तो मेरा उद्धार उसी रोज हो गया, जिस रोज मैंने आपको पहिचान लिया (गंगाबाई यमुनाबाई से) बहिनो ! और कोई गाना गाओ। हम सब तुम्हारा साथ देंगे। मुझे तुम्हारे मजहबी गानों में बड़ा मजा आता है।

(सब गाते हैं)

हर घड़ी हरदम हृदय में ध्यान राधा मय रहे।
भक्त को भगवान् तेरी शक्ति का परिचय रहे॥
हिल-मिल बढें सब बन्धुजन, हित धर्म कार्य प्रचार में।
जिससे सदा यह पुण्य उज्ज्वल भूमि गौरवमय रहे॥

हो धर्म भीरु अजात रिपु, संतान भारतवर्ष की ।
भगवान् हिन्दु जाति पर, हिन्दुत्व की ही जय रहे ।।
चाहें प्रलय का दृश्य भी हो, धर्मच्युत होवें नहीं ।
वन्धु के प्रतिघात से, नहीं बन्धु का ही क्षय रहे ।।
संसार सारा 'हित' चरण में लीन हो हे राधिकेश ।
गोपाल हो फिर अवतरित, श्रीकृष्ण का अभिनव रहे ।।
अन्तिम विनय यह है ललित की राधिका वल्लभ हरे ।
संसार में तव भक्त जन, सर्वत्र ही निर्भय रहे ।।

दृश्य पञ्चम ।

(भरत मुनि)

राधें तेरी कृपा ते, पूर्ण भयो यह काम ।
सब की बाधा मेटियो, छैल छबीले श्याम ।।

(यवनिका पतन)

पहेली

(एकांकी नाटक)

प्रथम प्रवेश

समय—सूर्यास्त से कुछ पूर्व

स्थल—बम्बई में नैपियनसी रोड पर बाबू कैलाशचन्द्र के बँगले का दीवानखाना।

(बाबू साहब कानपुर के रहनेवाले हैं और बम्बई कारपोरेशन के एक उच्च पदाधिकारी हैं। दीवानखाने को देखने से पूर्व और पश्चिम का एक विलक्षण सम्मिश्रण प्रतीत होता है। अप-टु-डेट सोफों के ऊपर मृगचर्म बहार दे रहे हैं, पेरिस के बने उम्दा गलीचे के ऊपर असली चन्दन की खूबसूरत खड़ाऊँ की जोड़ी रखी है, दीवार पर यूरोप के प्रख्यात नट-नटियों के चित्रों के बीच में श्रीराधाकृष्ण का बंगाली शैली का शृङ्गारात्मक चित्र दमक रहा है और रूस के प्रसिद्ध बोलशेबिक नेताओं के बीच में श्रीचैतन्य महाप्रभु की भावनात्मक तस्वीर लगी है। संक्षेप में, फर्नीचर देखने से कैलाश बाबू उन मनुष्यों में से प्रतीत होते हैं, जो जटायु की तरह किसी असम्भव और अप्राकृत आदर्श की प्राप्ति के प्रत्यक्ष में अपनी शक्तियों को झुलसा चुके हैं और अब उस उच्च उड़ान के प्रसाद-रूप ही सांसारिक सुखों को भोग रहे हैं।)

(नवीनचन्द्र का प्रवेश)

(नवीनचन्द्र लम्बे कद और पुष्ट शरीर के गौर वर्ण सुन्दर नवयुवक हैं; उनके मुंह की काट यूरोपियनों-जैसी है; किन्तु उनकी बड़ी-बड़ी काली आँखें उस पर पूर्व की छाप लगाती हैं। वे यूरोपियन ड्रेस पहने हैं—अवस्था २२ वर्ष के लगभग हैं और अंगों में नवयौवन की आँधी भरी है। दीवानखाने में आकर वे समुद्र की ओर की खिड़की खोल देते हैं उनका गौर मुख अस्तोन्मुख सूर्य की रक्तवर्ण किरणों में दमक उठता है; जेब से रूमाल निकालकर बड़ी उत्सुकतापूर्वक उसे समुद्र की ओर हिलाते हैं; ऐसा मालूम होता है कि वे किसी नौका या जहाज को संकेत कर रहे हैं; किन्तु वहाँ उदासीन जल-तरंगों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे झुंझलाकर सोफेपर बैठ जाते हैं, इतने में उनकी दृष्टि मृगचर्म पर पड़ती है; वे उसे उठाकर जोर से एक कोने में फेंक देते है और सोफे पर बैठ जाते हैं। धीरे-धीरे उनकी मुखाकृति शान्त हो जाती है, उनकी दृष्टि डूबते हुए सूर्य की ओर पड़ती है, और वे बड़े चाव से फिर खिड़की के पास खड़े हो जाते हैं। उनके मुख पर किसी विचित्र रहस्य की छाया पड़ जाती है।)

नवीन—पूर्व और पश्चिम— प्रातःकाल पूर्व में ही किस उज्ज्वल सौन्दर्य के साथ बाल-सूर्य का आविर्भाव होता है ! अन्धकार के काले परदे पर जैसे मैजिक लैन्टर्न की रोशनी पड़ गई हो ! जहाँ कुछ नहीं था, वहाँ एक दुनिया ! एक अविरल गति—अविरल प्रयास—दम लेने का भी अवसर नहीं प्राप्त होता । आगे वाले चिल्लाते हैं—'चले आओ; पीछे वाले कहते हैं—'बढ़े चलो,' डगमगाता देखकर लोग डाटते हैं—'हट जाओ ।' अन्त में प-श्चिम सूर्य का एक बार फिर वही उज्ज्वल सौन्दर्य ! परन्तु अब उसके मुख पर युद्ध के लिए सन्नद्ध-योद्धाका यौवन-रक्त नहीं,वरन् प्रतिसरोन्मुख नायिका की रक्तिमा है--शान्ति-अन्धकार—बिजली का प्रकाश—पृथिवी और आकाश का एकाकार—जड़ और चेतन की भिन्नता का विनाश–प्रतीक्षा–स्वप्नों का सारभूत साम्राज्य····

(सरला का प्रवेश)

(सरला नवीनचन्द्र की सुशिक्षिता नवोढ़ा स्त्री है, अवस्था लगभग १८ वर्ष, कद ऊँचा और रंग अति उज्ज्वल है, उसकी आँखें भूरी हैं, माथे पर बेंदी है और माँग में सिन्दूर भरा है, बह बहुत संकोच के साथ धीरे-धीरे आकर नवीनचन्द्र के पास खड़ी हो जाती है ।)

नवीन—कौन ? सरला ?

सरला—(नम्रतापूर्वक) जी हाँ ।

(नवीनचन्द्र उसकी ओर देखते हैं, वह और भी सहम जाती है ।)

नवीनचन्द्र—(पास जाकर सहसा) सरला ! तुम मुझे प्यार करती हो ?

सरला—(धीरे से) जी हाँ ।

नवीनचन्द्र—(दयाभरी दृष्टि से देखकर) तुम इतने दिन से अकेली थीं ?

सरला—(उसी स्वर में) जी हाँ ।

नवीनचन्द्र—(अकुलाकर) आह ! 'जी हाँ', 'जी हाँ', 'जी हाँ'; सरला ! तुम 'जी नहीं' नहीं पढ़ी, तुम्हारी जी हाँ' में तो विश्व की कोई भावना नहीं, हृदय की कोई वेदना नहीं ···

सरला—(कुछ न समझकर नवीन की ओर देखती रहती है ।)

नवीनचन्द्र—(श्रम प्रतीत करते हुए) सरला ! मैं तुम्हारा कौन हूँ ?

सरला—(भोलेपन से) पतिदेव !

नवीनचंद्र—(अकुलाकर) और तुम मेरी कौन हो ?

सरला—(उसी स्वर में) दासी ।

नवीनचंद्र—(निराश होकर) तुम नहीं सीख सकतीं ! तुम्हारा रोग असाध्य है ! स्त्रियों के इस नवीन युग में तुम अब भी उसी बाबा आदम के जमाने का

स्वप्न देख रही हो ! (मुँह बनाकर) देव और दासी तुम्हारे अन्दर कोई रोमान्स (Romance) नहीं...... मैं चाहता हूं कि तुम मेरे साथ आकाश में विहार करो, (लहरों की ओर इशारा करके) इन लहरों पर होकर वहाँ—वहाँ दूर पश्चिम में चलो बोलो, चल सकोगी ?

सरला—(कुछ-कुछ डरते हुए) जी हाँ।

नवीनचन्द्र परन्तु मुझे देव बनाकर नहीं और न स्वयं दासी बनकर।

सरला—(कुछ आश्चर्य के साथ) तब

नवीनचंद्र—(स्वर्ग) सहचरी बनकर– देखो जिस तरह वे दो पक्षी एक-दूसरे से पंख मिलाकर एक ही स्वर में बोलते हुए—एक ही दिशा में उड़े चले जाते हैं, उसी तरह –

सरला—(बाहर की ओर देखकर हँस देती है।)

नवीनचंद्र—(कुछ झेंपकर विषय बदलते हुए) सरला, तुम मेरी मनोनीत पत्नी हो ?

सरला—(कुछ-कुछ समझकर) हाँ, आपने मुझे देखकर ही विवाह किया था।

नवीनचंद्र—मुझे देखकर तुमने विवाह के लिए निषेध क्यों नहीं कर दिया ?

सरला—(आश्चर्य से) मैंने ? मैं तो आपको पहले से ही ···

नवीनचंद्र—(अकुलाकर) हाँ-हाँ, वह तो है ही, परन्तु फिर मैं तुमको मनाता—तुम मान जातीं— मैं आत्म-समर्पण करने को तैयार होता—तुम फिर मना कर देतीं—मैं फिर मनाता इसी प्रकार कुछ समय तो प्रतीक्षा करानी थी।

सरला— (कुछ न समझकर) मुझे मालूम नहीं था।

नवीनचंद्र—ओह ! मालूम नहीं था कि तमीज न थी ! सरला ! मैंने तुम्हारी मूर्ति को अपने मन-मन्दिर में बहुत थोड़े समय पूजा था कि वर-प्राप्ति हो गई ! मैं ऐसे सहज में प्रसन्न होने वाले देवता का उपासक नहीं रह सकता ! सरल प्राप्ति ने मेरे प्रेम को हिला दिया है !

सरला— (संकोच छोड़कर) परन्तु मैं तो इसी कारण तुम्हें अधिक प्यार करती हूं, तुम्हारे प्रेम को मैं देवता के आशीर्वादरूप अखंड पुण्यों के फलरूप समझती हूं—सहज मिलन को तो विश्व पर आत्मा की प्रेम की—विजय मानती हूँ।

नवीनचंद्र (प्रसंशापूर्ण दृष्टि से देखकर) सरला ! तुम अपने विचारों को खूब प्रगट करती हो—परन्तु तुम्हारे विचार एक शताब्दी पूर्व के हैं। सरला ! तुम इस बात को कब समझ सकोगी कि जमाना बदल गया है और हम लोगोंके प्रेम के विचार भी बदल गये हैं।

सरला— (आश्चर्य) क्या प्रेम भी बदला करता है ? याद है, एक बार तुम्हीं ने तो कहा था कि वह अखंड, अचल और सार्वकालिक नियमों से शासित है।

नवीनचन्द्र—(निरुत्तर होकर) यह तो है ही—परन्तु अब जमाना प्रतिद्वन्द्विता का है, मैंने अपनी यूरोप यात्रा में देखा है कि वाणिज्य, विज्ञान, राजनीति सब-के-सब प्रतिद्वन्द्विता से ही उन्नतिशील हैं और यही भाव प्रेम में भी प्रवेश कर रहा है। घर की रमणी को विश्व-भर की रमणियों से प्रतिद्वन्द्विता करके बाजी मार ले जाना है—परन्तु तुम इसमें कितनी दुर्बल हो ?

सरला— (हँसकर) यह तो कोई नई बात नहीं है, पुराने सत्य को नये रूप में रख दिया है—भारतीय रमणी विश्व से तो क्या, तीनों लोक और स्वयं ईश्वर से भी प्रतिद्वन्द्विता करने को तैयार है। शर्त यही है कि पति उसका देव हो और वह उसकी दासी। सहचरी तो वह उसकी आत्मा की है, शरीर की नहीं—हाँ, समय पड़ने पर वह उसका शरीरस्त्राण हो सकती है।

नवीन— (अकुलाकर) परन्तु मैं तुम्हारे इस आत्मा के सहचरत्व को लेकर क्या करूँ ? यह तो मुझ तक ही सीमित रहेगा न ? मैं चाहता हूँ कि मेरी उपास्य देवी विश्व पूज्य हो; जब सारा संसार एक मुख से उसकी प्रशंसा करे, जब लोग उसके प्रभाव से चौंधिया जायँ, तब मैं समझूँ कि यह है मेरी पत्नी।

सरला— (ढीठता से) परन्तु यह तो आर्य-संस्कारों के विरुद्ध है।

नवीन— (उत्तेजित होकर) आर्य-संस्कार ? उसे तुम क्या समझ सकती हो ? यही एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम आर्य नहीं समझते ! पहली आर्य रमणियों के चरित्र को ही देखो, स्वयंवर की प्रथा को ही देखो, क्या थी वह ? और कुछ नहीं, केवल पुरुष पर प्रकृति की विजय—ईश्वर पर शक्ति की सत्ता और उसी में ईश्वरत्व। स्त्री-स्वतन्त्रता में ही पुरुष की व्यापकता है, पश्चिम ने इसी को जान लिया है, और वहाँ की स्त्रियाँ यहाँ की तरह भेड़ नहीं होतीं—वे सदैव स्वतन्त्र हैं, और इसी से वहाँ की सभ्यता, संस्कृति और मानवता व्यापक है।

सरला— (गम्भीर होकर) परन्तु पुरुष के प्रति प्रकृति की उद्दंडता और बगावत का नाम ही हमारे शास्त्रों में प्रलय है। (हँसकर) पश्चिम प्रलय के द्वार पर है।

नवीन— (चिढ़कर) प्रलय के द्वार पर पश्चिम नहीं है, पूर्व है—पश्चिम की सर्वतो-मुखी सफलता ही उसके सिद्धान्तों की कसौटी है, हमारी गुलामी ही हमारी असत्यता का प्रभाण है

सरला— (हँसकर) गुलाम होकर भी अपनी संस्कृति को न बेचना ही हमारे मनुष्यत्व की जीत है।

नवीन— (अकुलाकर) तुम्हारी विजय घर में घुसकर मर जाने से नहीं हो सकती; केवल अपने पति पर ही आत्मा के सहचरत्व को डालने में तुम्हारी श्रेष्ठता नहीं; जो स्त्री विश्व-पूज्य नहीं, वह पति-पूज्य नहीं हो सकती। (विवाद को समाप्त करते हुए) पहले जन-समाज को अपनी प्रतिभा से रंजित करो, फिर पति के हृदय को करना !

सरला— (थोड़ी देर तक नवीनचन्द्र की ओर विलक्षण दृश्य देखकर) हूँ........

नवीन— (सकौतुक) इस 'हूँ' का क्या अर्थ है ?

सरला— (चौंककर) ऐं, मुझे मालुम नहीं !

नवीन— (प्रसन्न होकर) सरला ! तुम भी एक पहेली हो—और—और इसी में तुम्हारे उद्धार की आशा है !

सरका— (फिर उसी दृष्टि से नवीन को देखती है, दोनों की आँखें मिलती हैं, नवीनचन्द्र सहम जाते हैं; धीरे से) हूँ....

(दरवान का प्रवेश)

दरवान—मिस लिली।

(नवीनचन्द्र कुछ उत्तर न देकर सरला की ओर देखते हैं।)

सरला— (मानो किसी स्वप्न से जागकर) ऐं, अच्छा, आने दो।

(दरबान का प्रस्थान)

(सरला उठने लगती है)

नवीन— (पल्ला पकड़कर हँसते हुए) इसी पर विश्व के साथ प्रतिद्वन्द्विता करोगी ?

सरला— (जल्दी से) परन्तु यह तो विश्व नहीं, हमारा विश्व तो वह (अन्दर की ओर इशारा करके।) है ! (पल्ला खींचकर चली जाती है।)

नवीन— (सन्तोष के साथ) पहेली है !

(मिस लिली का प्रवेश)

(मिस लिली एक अंग्रेज महिला है; अवस्था लगभग बीस वर्ष, कद मझोला और शरीर गठा हुआ है। वे बम्बई के एक पुराने अंग्रेज व्यापारी की अविवाहिता पुत्री हैं। उनका जन्म भी बम्बई में ही हुआ है और हिन्दी बहुत बोलती है। उन्होंने अपना जीवन हिन्दू-समाज के लिए उत्सर्ग करने का प्रण किया है और कुछ दिन पूर्व हिन्दू-धर्म भी स्वीकार कर लिया है। पोशाक वे अंग्रेजी ही पहनती हैं। उनका विचार है कि आदिम आर्य रमणियों की यही पोशाक थी। इंग्लैण्ड से उनका इतना ही सम्बन्ध है कि प्रतिवर्ष वसन्त ऋतु

वे वहीं व्यतीत करती हैं। पिछले वर्ष उन्होंने नवीन बाबू के साथ ही यात्रा की थी।)

मिस लिली–(हाथ मिलाते हुए) नमस्ते ! कहिये, आज किस द्विविधा में हैं ?

नवीन— ओह, कुछ नहीं; (सम्हलकर) आनन्द तो है न ?

लिली— धन्यवाद, कल रात को ड्रामा देखने नहीं आये; प्लाट, ऐक्टिंग और सेटिंग–प्रत्येक दृष्टि से नाटक बड़ा सफल रहा।

नवीन— (विशेष ध्यान न देते हुए) प्लाट क्या था !

लिली— वही हमारे सामाजिक जीवन का चित्र। एक हिन्दू देवीजी ने अपने देवता को विलायत नहीं जाने दिया; वे उन्हें किसी से मिलने भी न देती थीं; बेचारे का जीवन भार हो गया, और उसने आत्म-हत्या करली।

नवीन— ओह, बड़ा दर्दनाक; परन्तु मूर्ख ने आत्म-हत्या क्यों कर ली ?

लिली— इतना आत्म-बल नहीं था कि देवीजी के फन्दे से निकल जायँ ! (मुसकरा देती हैं।)

नवीन— (हँसकर) और भी रहो ! भारतीय स्त्रियों का फन्दा ही क्या ? केवल एक तमाशा, शराबी की मस्तिष्क से आविष्कृत स्वयं फँस जाने का एक जाल, (कुछ स्मरण आ जाता है) आत्मा के साथ सहचरत्व, प्रकृति और पुरुष की कहानी, ईश्वर के साथ प्रतिद्वन्द्विता ······ (सहसा) मिस लिली—कमलिनी देवी ! तुम स्थूलता को मानती हो या भावना को ?

लिली – (गम्भीर होकर) मैं दोनों को नहीं मानती। मैं मानती हूँ भावनामय स्थूलता को।

नवीन— (एकदम खड़े होकर लिली का हाथ पकड़ लेते हैं।) बस देवी, तुम मेरा हृदय पकड़ लेती हो ! भारतीय स्त्रियों में इसी भावनामय स्थूलता की कमी है। जब वे स्थूलता का पल्ला पकड़ेंगी, तो यहाँ तक बढ़ेंगी कि म ष्य को अपनी आत्मा के दिव्यत्व पर से ही विश्वास उठ जाय और जब वे भावना पर कृपा करने लगेंगी, तो यहाँ तक कि मानव-कल्पना का दम घुटने लग जाय ! कमलिनी, पश्चिम का क्या आदर्श है ?

लिली— यही भावनामय स्थूलता। वह देखो पश्चिम में डूबा हुआ सूर्य, प्रकाश और अन्धकार का विलास, जाग्रत और स्वप्न की पुण्यभिसन्धि, भावना और स्थूलता की क्रीड़ा (कुछ देर ठहरकर किसी महान रहस्य का उद्घाटन करते हुए) बाबू नवीनचन्द्र ! समझते हैं ? यही प्राचीन भारतीय आदर्श है, जिसे वह भूल गया है और पश्चिम ने उससे ही सीखकर उसे याद रखा है।

भारत को अपनी प्राचीन संस्कृति का भान कराने के लिए ही मैंने अपने धर्म, राष्ट्र, देश और सभ्यता को लात मार दी है।

नवीन— (प्रशंसा पूर्वक) देवी, तुम्हारा यह उद्देश्य पुण्यस्कर है। मैं तन-मन-धन से तुम्हारी सहायता करूँगा।

लिली— (प्रसन्न होकर) आप केवल अपनी लेखनी और प्रतिभा से ही मुझे सहायता दीजिए—भारत महान है, गुरु है—परन्तु वह सो रहा है; पश्चिम उसका शिष्य है, और अब वही उसको जाग्रत करेगा, वही उसको अपने प्राचीन गौरव का स्मरण करायेगा और यही उसकी गुरु दक्षिणा है। मैंने इस कार्य में भाई रमणलाल से सहायता माँगी है।

नवीन— (साश्चर्य) कौन ? रमणलाल ? (कुछ देर ठहरकर) वह तो अच्छा आदमी नहीं है; समाज में भी उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं।

लिली— (तपाक से) और वह इसलिए न कि वे अपने विचारों में समाज से बहुत आगे हैं—वे समाज की हाँ में हाँ नहीं मिलाते।

नवीन— (दबी जबान से) उनका चरित्र भी अच्छा नहीं है, वे ...

लिली— वे स्त्री-स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं—पत्नी पर पति का ही सर्वाधिकार नहीं मानते।

नवीन— (साहस करके) परन्तु वे तो उनकी पवित्रता पर हस्तक्षेप करते हैं !

लिली— (हँसकर) यह भी उनकी दुर्बलता नहीं, समाज की ही है। वह अपने अन्दर स्त्री की पवित्रता के ऐसे बेतुके विचार ही क्यों रखता है ? यहाँ का स्त्री-चरित्र इतना संकुचित क्यों है ? रमणभाई उदाराशय व्यक्ति हैं। वे स्त्री जाति के शुभचिन्तक और प्रगतिवादी हैं।

नवीन— (निरुत्तर होकर) उन्होंने क्या सहायता देने का वचन दिया है ?

लिली— वे आप द्वारा लिखित नाटक 'Women a Raddle' (स्त्री—एक पहेली) का अभिनय करेंगे।

नवीन— (प्रसन्न होकर) ठीक है, बहुत प्रचार होगा। उनका 'देशोद्धारक नाटक समाज' भी बहुत अच्छा है। सभी नट-नटी कलाविज्ञ हैं।

लिली— इस तरफ से आप निश्चिन्त रहें, मैं सब ठीक कर लूंगी। (विषयान्तर करते हुए) नवीन बाबू ! हम लोगों को यूरोप से लौटे काफी समय हो गया; किन्तु आपकी पत्नीजी के दर्शन नहीं हुए। (दया पूर्वक) भाई, हमारे भारतवर्ष में दो प्रकार की स्त्रियाँ देखने में आती हैं—एक तो गुड़ियाएँ जैसी, जिनके साथ केवल खेल खेला जा सकता है, और दूसरी देवियां, जिनकी केवल पूजा की जा सकती है। (हँसकर) वे किसमें हैं ? गुड़िया-टाइपमें या देवी-टाइप में ?

नवीन— (हँसकर) वे दोनों का मिक्श्चर हैं। (गम्भीर होकर) स्त्री है काफी बुद्धिमान और सुसंस्कृत। केवल झूठी प्राचीनता का भूत सवार है। पश्चिमी सभ्यता को प्रलय के द्वार पर समझती है! बेचारी को यह नहीं मालूम कि पश्चिम की सहायता के बिना भारत की मुक्ति असम्भव है।

लिली— (गम्भीरता पूर्वक) मगर ऐसी आत्माएँ बहुत शीघ्र ही ठीक राह पर लाई जा सकती हैं। वे अवसर-विशेष की ही तलाश में रहती हैं। अवसर मिला कि धड़ाका।

नवीन— (साँस लेकर) बस, यही एक आशा है।

लिली— (हँसकर उठते हुए) कोशिश करते रहिये, आपके यहाँ साधना का बड़ा महत्त्व है। आपके द्वारा समाज का उद्धार हो, यही भगवान से प्रार्थना है।

नवीन— (उत्साह से) थैंक यू, थैंक यू! (भावावेश में लिली का हाथ चूम लेते हैं, फिर सहम जाते हैं। लिली उत्साह और सौम्यता की हँसी हँसती है।)

(मिस लिली का प्रस्थान)

नवीन— (प्रकृतिस्थ होकर धीरे-धीरे) मैं—रमणभाई—सरला—कमलिनी (साँस लेकर) समाज ··· ·· बड़ी भिन्न प्रकृति के तत्त्व एक पात्र में एकत्रित हो गये हैं। देखें, क्या रसायन तैयार होती है? (खिड़की के पास जाकर) एँ, पश्चिम में अन्धकार और पूर्व में चन्द्र का उदय ··· ······

(पटाक्षेप)

द्वितीय प्रवेश

समय—तृतीय पहर तीन बजे

स्थान— चिरगाँव बम्बई में देशोद्धारक नाटक-समाज का आफिस। आफिस छोटा-सा है; परन्तु रुचि पूर्वक सजाया गया है। प्रवेश-द्वार के सामने दीवार पर एक सुन्दर फ्रेम में कदे-आदम आईना लगा हुआ है। दीवारों पर जो चित्र लगे हैं, उनमें अधिकांश सुन्दर नटियों या यूरोप की सौन्दर्य-रानियों (Beauty Queens) के हैं। नाटक-समाज के मैनेजिंग-डाइरेक्टर रमणभाई बी० ए० बड़े कार्य कुशल व्यक्ति हैं। उन्होंने देश-विदेश में पर्यटन भी खूब किया है। हिन्दूसमाज के कल्याण को लक्ष्य में रखकर उन्होंने इस नाटक समाज की स्थापना की है। वे गेहुँए रङ्ग के छोटे-से आदमी हैं, परन्तु शरीर खूब गठा हुआ है। आँखों पर चश्मा और सर पर घुँघराले बाल हैं; अवस्था चालीस वर्ष से अधिक नहीं प्रतीत होती। उनके रूप में सजावट का भाग महत्त्व का है। इस समय वे किसी नाटक की पाण्डु-लिपि बाँचने में व्यस्त हैं। पढ़ते-पढ़ते

वे कभी बहुत उत्तेजित हो जाते हैं और कभी करुणा मे द्रवित हो जाते हैं। बाहर मोटर का शब्द--नवीनचन्द्र का प्रवेश; परन्तु रमणभाई नाटक के पढ़ने में मस्त हैं। नवीनचन्द्र चुपचाप दस-पन्द्रह सेकन्ड तक खड़े रहते हैं।

नवीन— (आगे बढ़ते हुए) हलो मि० रमणभाई, क्षमा कीजिए, मैंने आपके पड़ने में विघ्न डाला।

रमण— (आँखें फाड़कर देखते हुए) ओह शर्माजी! (प्रकृतिस्थ होकर) आइये, मैं आपकी ही कृति बाँच रहा था— इसमें तो आपने कमाल कर दिया है, भारतीय रमणियों का कैसा हृदयग्राही चित्र खींचा है और अन्त में उनके सामने कैसा दिव्य आदर्श उपस्थित किया है!

नव .— (लज्जा पूर्वक) ऐसा तो कुछ भी नहीं। यह नाटक तो मैंने बहुत शीघ्रता में लिखा है, एक अंग्रेज महिला की दिखलाई हुई ज्योति की इसमें झलक मात्र है। आप सरीखे कला मर्मज्ञ को यह पसन्द आ गया, यही आश्चर्य है!

रमण— वाह शर्माजी, खूब कहा! आप-से लोगों की कृति जिसे पसन्द न आये, वह मर्मज्ञ ही क्या? कमला के चरित्र-चित्रण में तो बस 'पूछवानी कँईं वातज न थी'!

नवीन— अब आप इसे स्टेज कब कीजिएगा?

रमण— बहुत जल्दी—एक सप्ताह के बाद; और इस सजधज तथा तैयारी के साथ कि सारा नगर चक्कर में आ जाय!

नवीन— (प्रशंसा करते हुए) इस विषय में तो मुझे सन्देह नहीं है। आप यदि इजाजत दें, तो मुझे वर्तमान भारतीय भावना की प्रतिनिधि सुशीला की तृतीय अंक के द्वितीय प्रवेश की सोलोलुकी (स्वगत) में ये शब्द और जोड़ने हैं। (कागज रमण भाई को देते हैं)

रमण-- (बड़े चाव से बाँचते हुए) 'भारतीय स्त्रियों का क्षेत्र बहिरंग नहीं, अन्तरंग है—हम लोग कुल विश्व का मुकाबला अपने कमरे की भीतरी चटखनी लगाकर कर सकती हैं - पति के साथ हमारा देह का महत्त्वत्व नहीं, आत्मा का है—हम दासी होकर भी उनकी देवी हैं।'

नवीन -- (दूसरा कागज देकर) और यह उसकी सहेली कमला का उत्तर।

रमण— (उसी झोंक में) 'भारतीय स्त्रियों का क्षेत्र न केवल बहिरंग है और न अन्तरंग, उनका क्षेत्र विश्व-भर है। स्त्री का जन्म संसार में शान्ति, सौन्दर्य और सरसता की सृष्टि करने को हुआ है। अपनी इस शक्ति को अपने पति तक ही सीमित रखना, घोर पक्षपात है—कूपमंडूकता है - अपने जन्मदाता

के प्रति अन्याय है। पति ?—पति तो हमारी विशाल साधना का आधार-मात्र है, हमारे कठिन योग का आसन मात्र है। पति को अपना देवता समझना प्रकृति का उपहास करना है। अपने को उसकी दासी समझना जगत की संचालक शक्ति का अपमान करना है!' वाह, वाह! (ताली बजाता) ह्वे शूँ बाको रह्यौ हूँ ?

नवीन-- (प्रसन्न होकर) अच्छा, तो अब मैं आपका अधिक समय न लूँगा। नमस्ते।

(प्रस्थान)

(रमण भाई फिर बड़े चाव से पढ़ने लगते हैं ।)

(सरला का प्रवेश—वह आज पारसी ड्रेस में है; पैरों में ऊँची ऐड़ी के जूते हैं और हाथ में चमडे का छोटा-सा वेग। वह प्रसन्न मुख रहने को चेष्टा कर रही है; परन्तु हृदय की वेदना उसकी लज्जाशील आँखों पर अपनी छाया डाल ही देती है। रमण भाई पढ़ने में व्यस्त हैं। सरला लौटना चाहती है कि रमण भाई पढ़ते-पढ़ते मुसकरा देते हैं। वह फिर खड़ी हो जाती है। रमण भाई फिर गम्भीरता से पढ़ने लगते लगते हैं। वह फिर लौटना चाहती है। रमण भाई जोर से आह भरते हैं। सरला काँप उठती है और उसके हाथ का वेग गिर पड़ता है।)

रमण— (चौंककर) कौन ? (गौर से देखकर) कौन, मिसेज बेराम ......

सरला— (बेग उठाकर सम्हलते हुए) नहीं, मैं हूं मिसेज नवीनचन्द्र शर्मा !

रमण - (साश्चर्य उठकर बड़े आदर के साथ) ओह, आइये, आइये, पधारिये ! मेरा तो ख्याल था कि कि ...

सरला— (हँसकर) हम लोग परदे में रहते हैं; (रमण भाई स्वीकार करते हैं) परन्तु अब जमाना परदे में रहने का नहीं है। शर्माजी ने (शरमा जाती है - सम्हलकर) अभी हाल में ही एक पुस्तक—नाटक—लिखी है।

रमण— (प्रसन्नता पूर्वक) हाँ, यह वही नाटक है। हम इसे एक सप्ताह में स्टेज करेंगे।

सरला— इसकी नायिका कौन है ?

रमण— कमला देवी। बड़ा अप-टू-डेट चरित्र है।

सरला— नाटक का नाम क्या है ?

रमण— 'स्त्री—एक पहेली' (Women—a Riddle)।

सरला— (सारी शक्तियों को एकत्रित करके) क्या मैं नायिका का पार्ट खेल सकती हूँ ?

रमण-- (साश्चर्य चश्मा ठीक करते हुए) आप ...पार्ट....क्यों ?

सरला-- (गम्भीर होकर) डाइरेक्टर साहब, इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। आप मुझे पार्ट दीजिए, आपका स्टेजिंग बिगड़ेगा नहीं। मैंने ...

रमण — (प्रसन्नतापूर्वक) बहन, आपकी भावुकता बिलकुल नाटक की स्पिरिट के अनुकूल है।

सरला— (लज्जित होकर) अच्छा, तो आप इस बात की खबर मि० शर्मा को न दें। विज्ञापन में केवल सरलादेवी ही छपवा दें। आज ही मेरे पास पार्ट भेज दें। नमस्ते !

(प्रस्थान)

रमण— (उत्तेजित होकर टहलते हुए) यह सौन्दर्य, यह यौवन, यह कलाविज्ञता—सफलता निर्दिष्ट है, परन्तु—परन्तु—'बात कहूँ'—इसके साथ नायक कौन होगा ! (चाव से) मैं, मि० शर्मा .. उँह देख लेगा।

(पटाक्षेप)

तृतीय प्रवेश

समय--रात्रि के सवा नौ बजे

स्थान—देशोद्धार नाटक समाज का थियेटर हॉल। हॉल खूब भर रहा है।—लोग अब भी बराबर आ रहे हैं। मिस लिली और नवीनचन्द्र स्पेशल क्लास में बैठे हैं। कुछ लोग उनकी तरफ देख-देखकर काना-फूंसी कर रहे हैं। नवीनचन्द्र लिली के साथ बातचीत करने में व्यस्त हैं। कभी-कभी शून्य दृष्टि से चारों तरफ देख लेते हैं। नाटक की पहली घंटी बजती है।

लिली— मि० शर्मा, सरला देवी हैं बड़ी बुद्धिमती और दूरदर्शी। उनसे बातचीत करके मुझे बड़ी शान्ति प्राप्त होती है। (गौरव से) मैंने कहा था न कि ऐसे लोग उचित शिक्षा और अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं। अब तो वह सबसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती हैं।

नवीनचंद्र—(प्रशंसा करते हुए) वास्तव में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। जो सरला कमरे की खिड़की खोलकर बाहर देखने में भी शरमाती थी, वह अब रोज शाम को अकेली ही टहलने जाती है। (सगर्व) अब मुझे भी इस बात का अनुभव हो गया है कि मैं समाज-सुधारक हूं !

लिली— (नवीन के कन्धे पर हाथ रखकर) इसमें क्या सन्देह है।

पारसी सज्जन—(पीछे से) हल्लो मि० शर्मा ! इस बार तो तुमने गजब कर दिया। Orthodox Section (कट्टर धार्मिक पक्ष) तो चक्कर में पड़ गया है....दुम ..

(मिस लिली की ओर देखकर चौंकता है। फिर नवीनचन्द्र की ओर आँखों से इशारा करता है। नवीन गम्भीर हो जाते हैं, वह भी सम्हल जाता है।) आ, बहिन कौण ?

नवीनचन्द्र—(गम्भीर होकर) आप हैं मिस लिली, लेकिन अब हैं कमलिनी देवी। आप अंगरेज महिला हैं। हिन्दुस्तान की आर्य-संस्कृति से खुश होकर आपने हिन्दू-धर्म स्वीकार किया है।

पारसी सज्जन—(न समझकर) हिन्दू-धरम ने क्या किया है ?

लिली— (गम्भीरता से) I have acc-pted Hinduism

पारसी सज्जन—आह माफ करना, मिस, मैं हिन्दुई अच्छी तरह नहीं समझता।

नवीनचन्द्र—(परिचय कराते हुए) आप यहाँ के प्रसिद्ध सेठ बैरामजी मानिकजी हैं।

लिली— (हाथ मिलाते हुए) आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

नवीनचंद्र—(लिली की ओर संकेत करके) मैंने यह नाटक आपके inspiration (प्रेरणा) से ही लिखा है।

बैरामजी—(रसपूर्ण नेत्रों से लिली की ओर देखकर) Oh, she is inspiration incarnate (ये तो स्वयं मूर्तिमती प्रेरणा हैं।)

लिली— (झेंपकर बैरामजी की ओर कनखियों से देखती हुई) थैंक्स, थैंक्स !

(तीसरी घण्टी बजती है, सीन खुलता है।)

(कमला की भूमिका में सरला का प्रवेश)

(जनता उसके सौन्दर्य को देखकर स्तब्ध हो जाती है, सरला एक बार दृष्टि घुमाकर चारों ओर देखती है सहसा उसकी दृष्टि नवीनचन्द्र की दृष्टि से टकरा जाती है, वह सिहर उठती है, उसके गालों पर लाली दौड़ जाती है, उसका चेहरा और भी सुन्दर हो उठता है, जनता जोर से ताली बजाती है, सरला सम्हल जाती है, उसके चेहरे पर दृढ़ता आ जाती है और वह मुसकरा देती है, लोग फिर ताली बजाते हैं।)

(नवीनचन्द्र आँखें फाड़कर देख रहे हैं)

नवीनचंद्र—(भर्राई हुई आवाज से) स—र—ला !

लिली—बधाई है, मि० शर्मा, बधाई ?

कमला— (सहज मधुर स्वर से) वृद्ध, दुर्बल, जीर्ण हिन्दू समाज ! जब तेरे अन्दर कोई रस नहीं, कोई भावना नहीं, कोई कवित्व नहीं, तब तू नवीन हृदयों को क्यों जन्म देता है ?

जनता :—

गुजराती—वाह-वाह, केवो मधुर स्वर !

मुसलमान—हाय जालिम !

मारवाड़ी—ई तो काँई मारवा कू डोलै !

एक पारसी—(नवीनचन्द्र के बिलकुल पास) I will give one thousand for one kiss on her lips (मैं इसके अधर के एक चुम्बन का एक हजार रुपया दूंगा ।

(नवीनचन्द्र उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखते हैं ।)

एक पारसी—Excuse me Mr. Writer, it was meant for the actress, not for your character (मैंने यह बात नटी को लक्ष्य में रखकर कही थी, आपके पात्र के प्रति ये शब्द नहीं थे ।)

नवीनचंद्र—(झेंपकर) कोई बात नहीं, धन्यवाद !

जनता— हामरो, शुणो, शुणो, शान्ति, खामोश, हश अप, ब्यूटी स्पीक्स ।

कमला— तेरा बन्धन, (क्रोध से) आग लगे ऐसे बन्धन में, हृदय की दैवी शक्तियों के स्वतन्त्र विकास में बाधा डालता है। (स्नेहपूर्ण आँखों से देखकर) शशिकांत (दीर्घनिश्वास लेती है) प्रेम में भी नियत समय की प्रतीक्षा करते हैं !

(शशिकान्त की भूमिका में रमणभाई का प्रवेश)

नवीनचंद्र—(घबराकर) रमणभाई !

शशिकान्त—(प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखकर) क्या कल की प्रार्थना व्यर्थ गई ? आज फिर प्रारम्भ करूँ ? प्रिये····

कमला— (हँसकर) प्रेम का जीवन नित्य प्रारम्भ होता है और कभी अन्त नहीं होता। किसी खास दिन प्रारम्भ करोगे, तो ध्यान रहे (कटाक्ष से) कि किसी खास दिन अन्त भी हो जायगा !

शशिकान्त—(निकट जाकर) प्रियतमे ! (आलिंगन करता है ।)

नवीनचंद्र—(अधीर होकर) कमलिनी देवी, मेरी तबीयत ठीक नहीं है, मुझे एकदम चक्कर आने लगे हैं। मैं बाहर जाना चाहता हूँ। (सीट पर अपना टोप रखकर प्रस्थान, थोड़ी देर बाद मोटर के स्टार्ट होने का शब्द, कमलिनीदेवी मुसकरा देती हैं ।)

चतुर्थ प्रवेश

समय—प्रातःकाल पाँच बजे ।

स्थान—नैपियनसी रोड पर बाबू कैलाशचन्द्र के बँगले का दीवानखाना। नवीनचन्द्र बेचैनी के साथ कमरे में टहल रहे हैं। उनकी पोशाक अस्त-व्यस्त व्यवस्था में हैं। उनकी आँखें लाल हैं, और ऐसा मालूम होता है कि वे रात-भर नहीं सोये ।

नवीनचंद्र—सरला और रमणभाई ·· पब्लिक में आलिंगन · ओह ! (मोटर का शब्द—नवीनचंद्र सम्हल जाते हैं—दरवान का प्रवेश ।)

दरवान—(दबी जबान से) बहूजी ···

नवीनचंद्र—(क्रोध से) बहूजी क्या ? सरलादेवी कहो !

दरवान—(भय से) श्री सरला देवीजी ।

नवीनचन्द्र—(हँसकर) उनके साथ और कौन है ?

दरवान—मिस लिली ।

नवीनचंद्र—हूं····अच्छा आने दो ।

(सरला और मिस लिली का प्रवेश, सरला प्रसन्न है और बहुत सुन्दर प्रतीत होती है, लिली उसकी प्रशंसा करती है ।)

लिली—(नवीनचन्द्र का हाथ पकड़कर) Oh, many congratulations (अनेक बधाई) सरला देवी ने तो रात्रि को गजब कर दिया । सारा थियेटर इनकी प्रशंसा से गूंज रहा था । अब तो मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आप इनकी इस प्रवृत्ति को न रोकें, यह शीघ्र ही नाट्य-क्षेत्र की रानी हो जायँगी । नाट्य-कला की उच्च शिक्षा के लिए हम लोग शीघ्र ही इंग्लैण्ड भी जाने वाली हैं !

नवीनचंद्र—(अकुलाकर) हूँ····

लिली—(गम्भीर होकर) मि० शर्मा, भारतीय रमणियों के स्वातन्त्र्य और विकास के लिए भारतीय पुरुषों को आत्म-सुख का कुछ त्याग करना पड़ेगा । (नवीनचन्द्र के ही विचारों का अनुवाद करते हुए) स्त्रीत्व का सृजन पुरुष-विशेष के आमोद के लिए नहीं, वरन् समस्त संसार के आत्मिक विकास के लिए हुआ है । स्त्री को तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष से प्रतियोगिता करके एक नवीन सृष्टि, एक नवीन भावना, एक नवीन सौन्दर्य की स्थापना करनी है । (नवीनचन्द्र के अधिक पास जाकर बहुत ही भावनामय स्वर में) मि० नवीनचन्द्र, क्या आप भी इस कार्य में हमारी सहायता नहीं करेंगे !

नवीनचंद्र—(कुछ सहमकर) अवश्य, परन्तु सरला··· क्या सरला इसके लिए तैयार है ?

(सरला अर्धनिमीलित नेत्रों से समुद्र की ओर देख रही है और नाटक में गाया हुआ कोई गायन धीरे-धीरे गुनगुना रही है । वह अपना नाम सुनकर कुछ चौंकती है, परन्तु उसी प्रकार समुद्र की ओर मुँह किये बैठी रहती है ।)

लिली—(सरला की ओर देखकर) सरला देवी इस प्रतियोगिता के लिए केवल तैयार ही नहीं, कटिबद्ध हैं । केवल आपकी अनुमति की अपेक्षा है ।

नवीनचन्द्र—(घबराकर) मैं- मैं—मेरी— मैं एक बार सरला की अनुमति चाहता हूँ। सरला, क्या तुम इस कार्य में सहमत हो ?

सरला— (समुद्र की ओर ही देखते हुए दृढ़ गम्भीर स्वर में) जी हाँ !

(नवीनचंद्र अत्यन्त आश्चर्य से सरला की ओर देखते हैं, उनकी समझ में कुछ नहीं आता। वे घबराकर सोफे पर पीठ के सहारे बैठ जाते हैं। सरला उसी प्रकार समुद्र की ओर देखती रहती है। मिस लिली अपनी सफलता के बाद सन्तोष का अनुभव करती हुई समुद्र की ओर वाली खिड़की के सहारे खड़ी हो जाती है और अत्यन्त उत्सुकता से समुद्र की ओर देखने लगती है।)

नवीनचंद्र—(अस्पष्ट स्वर में) सरला, तुम एक पहेली हो !

लिली--(धीरे-धीरे गुनगुनाती है)--

Oh, to be in England now
When it is spring there.

होवे अब इंग्लैण्ड- निवास,
जब है वहाँ वसन्त-विकास।

(पटाक्षेप)

प्रमाद

(एकांकी नाटक)

सृष्टि का उषःकाल

स्थान——पुराण कवि का तपोवन

पुराण कवि ब्रह्मदेव अपने तपोवन में ध्यानस्थ बैठे हैं। तपोवन के परिचय के लिए 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' में दिया हुआ कण्व के आश्रम का वर्णन देख लेना चाहिए. भेद इतना ही है कि यह तपोवन जनाकुल नहीं है। ब्रह्मदेव का मुखमंडल गम्भीर और शान्त है। प्रातःकाल की सुखद वायु उनके अंगों को स्पर्श कर रही है। ध्यान समाप्त होने पर वे धीरे-धीरे आंखें खोल देते हैं। एक नई उमंग से उनका मुखमंडल दमक उठता है।)

ब्रह्मदेव—(शान्त स्वर में) किसी पुरुष के नाभिकमल से जन्म लेने के पश्चात् न-जाने कितने दिन मैंने अस्तित्व के वाह्य शोध में व्यतीत कर दिये—कितना पुरुषार्थ, कितनी लगन, ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, यही क्रम वर्षों तक चलता रहा! देर में—बहुत देर में समझ में आया कि मैं एक वर्तुल का सिरा ढूंढ़ रहा हूं! फिर तो मैं जहाँ था, वहीं मैंने आसन जमा दिया, शेष शक्ति को एकत्रित करके अपने हृदय-प्रदेश को खोजने लगा। एक-दो-तीन अनेक कल्पों की अनेक सृष्टियों के अनेक भाव वहाँ बिखरे पाये! विचार आया कि क्या मैं इन सबसे पहले का हूं? क्या मैं अनादि हूँ? तब तो मेरा अनन्त होना अनिवार्य है। वाह्य शोध में खोई हुई शक्ति फिर लौट आई। विविध कल्पों के सुप्त भावों को एकत्रित करके मैं सर्जन-कार्य में प्रवृत्त हो गया, परन्तु····

(नारद का प्रवेश)

नारद— तात, नारद अभिवादन करता है।

ब्रह्मदेव—(स्वप्न में जागकर) आयुष्मान वत्स, कुशल तो है?

नारद— देव, कुशल है, परन्तु आर्य मरीचि आदिक हम सब लोग एक विचित्र उलझन में पड़ गये हैं।

ब्रह्मदेव— कैसी उलझन, वत्स ?

नारद— भगवन्, आपने जिस सर्जन-कार्य में हमको नियुक्त किया है, वह हम कैसे करें, यह समझ में नहीं आता।

ब्रह्मदेव— हा-हा-हा-हा, सर्जन-कार्य ? आत्म-मंथन करो, वत्स, आत्म-मंथन। तुम्हारे अन्दर ही नवीन सृष्टि की कल्पना – स्वप्न - वास्तविकता भरी हुई है। परन्तु ध्यान रहे, एक ही प्रयास में पूर्णता लाभ करने की चेष्टा न करना। प्रयोगों की परम्परा का नाम ही सृष्टि है। मैं स्वयं प्रयोगों में प्रवृत्त हूं!

नारद— (साश्चर्य) देव, आप त्रिकालज्ञ पुराण कवि हैं, आपके कार्य में अपूर्णता कैसी ? आप सृष्टिनायक हैं, आपको प्रयोगों की आवश्यकता कैसी ?

ब्रह्मदेव—(गम्भीर होकर) वत्स, पहले मेरा भी यही विचार था। मैं अनादि हूं, अनन्त हूँ— मेरे हृदय में अनन्त सृष्टियों की शृङ्खला भरी हुई है— तपःसाध्य अन्तर्दृष्टि की सहायता से मैं उस शृङ्खला के दर्शन कर सका हूं, परन्तु जब मैं वास्तविक रचना-कार्य में प्रवृत्त हुआ, तब असंख्य अन्तर्भावों की योजना करना मेरे लिए दुरूह हो गया ! नारद, भाव-समृद्धि मेरे लिए शाप हो गई ! अत्येक भावका सौन्दर्य मुझे मुग्ध करने लगा। सबसे पहले मैंने अनन्त सृष्टियों के उदात्ततम भावों को चुन लिया और सनक, सनन्दन आदिक चार परम शान्त तत्त्वों की सृष्टि कर दी, परन्तु मेरी वह सृष्टि अपनी भव्यता में स्वयं डूब गई। मेरा पहला प्रयोग व्यर्थ गया !

नारद— देव····

ब्रह्मदेव—ठहरो वत्स, मेरा प्रयोग व्यर्थ गया और मुझे क्रोध आया। क्रोध की तीव्रता ने मेरी सर्जनशक्ति का द्वार एक बार फिर खोल दिया—रुद्र की सृष्टि हो गई ! अखिल ब्रह्माण्ड रुदन और हा-हाकार से भर गया ! उसको शान्त करना मेरे लिए दुरूह हो गया मेरा दूसरा प्रयोग भी व्यर्थ गया।

नारद— भगवन्

ब्रह्मदेव—सुनो वत्स, मैंने तीसरा प्रयोग प्रारम्भ किया। इस बार मैंने योग का आश्रय लेकर अपने सम्पूर्ण हृदयव्यापी भाव-साम्राज्य को सुव्यवस्थित किया, विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित किया और फिर उस संचित ज्ञान को अपनी वाणी के रूप में—सरस्वती के रूप में—व्यक्त कर दिया। वत्स, मेरे हृदय को इस बार बड़ी शान्ति मिली। मैं महासत्त्वों की सृष्टि से ऊब गया था— घबरा गया था। मध्यमसत्त्व की कल्पना के लिए मेरी आत्मा तरस रही थी। मेरी सरस्वती थी निरीह, निष्कलंक, सृष्टि-सौन्दर्य का अधिष्ठान ! मुझे ऐसे सत्त्व की रचना करनी थी, जो इसका आदर कर सके, इसको ग्रहण करके इसकी रक्षा कर सके। मैंने मरीचि आदि तुम दस मानवों की सृष्टि की। नारद, मानव-सृष्टि मेरा तीसरा प्रयोग है, अन्तिम नहीं।

नारद— (घबराकर) भगवन्....

ब्रह्मदेव—(मुस्कराकर) घबराओ नहीं वत्स, तुम और मैं दो वस्तु नहीं हैं। मैंने अपने हृदय की सम्पूर्ण व्याकुलता, सम्पूर्ण शान्ति, सम्पूर्ण भाव समृद्धि, सम्पूर्ण सूनापन तुम्हारे अन्दर भर दिया है। नारद, तुम्हारे रूप में मेरा ही अवतरण है। भविष्य के प्रयोगों को सफलतापूर्वक कराने के लिए ही मैं एक से अनेक हुआ हूं।

नारद— (वीतचिन्त होकर) महानुभाव, आपका आत्मोत्सर्ग अनुपम है, आपका धैर्य अनुकरणीय है। देवी सरस्वती के प्रति श्रद्धा और अनुराग रखना तो हमने प्रारम्भ से ही सीख लिया था, परन्तु हमारे—मानव के—अस्तित्व के साथ उनका इतना गहन सम्बन्ध है, यह हम नहीं समझ पाये थे। देव, आशीर्वाद दें कि हम आपके महान कार्य में सहायक बन सकें।

ब्रह्मदेव—तथास्तु !

नारद का प्रस्थान

(ब्रह्मदेव ध्यानस्थ हो जाते हैं।)

द्वितीय प्रवेश

स्थान—सरस्वती का आश्रम

[परम सौन्दर्य की मूर्ति के समान भगवती सरस्वती एक शिलाखण्ड पर अकेली बैठी हैं। उनका मनोहर शरीर फूलों के शृङ्गार से ढँका है, माथे पर रक्त-पुष्पों का मुकुट सुशोभित हो रहा है। उनकी गोद में सुन्दर वीणा रखी हुई है, परन्तु वह मूक है। देवी सरस्वती शून्य दृष्टि से वनश्री की ओर देख रही हैं।]

(आश्रम-प्रान्त में वीणाधारी नारद का प्रवेश)

[नारद के शरीर में आज अपूर्व उमंग भरी है। वे धीरे-धीरे वीणा को छेड़ते चले आ रहे हैं। उनके अनभ्यस्त कर के स्पर्श से एक विश्रृंखल स्वर-लहरी उनकी वीणा में से उत्पन्न होकर वायुमण्डल को आन्दोलित कर देती है। उस स्वर-लहरी का योग पाकर सरस्वती की वीणा जाग्रत हो उठती है, और उसमें से उत्पन्न दिव्य स्वरों की मन्दाकिनी से सारी प्रकृति प्लावित हो जाती है। नारद मस्त हो जाते हैं, सरस्वती चौंक उठती हैं]

सरस्वती—(चारों ओर देखकर) कौन ?

नारद— (भयभीत भाव से सामने आकर) देवि, नारद का प्रणाम स्वीकृत हो।

सरस्वती—(प्रसन्नतापूर्वक) आयुष्मान वत्स, आज तो तुमने वाणी की वीणा को झंकृत कर दिया, स्वरसर्जन कर दिया।

नारद - (लज्जित होकर) मैं देवि मुझे तो अपनी वीणा का केवल स्पर्श करना ही आता है। मैं भगवती की दिव्य वाणी को किस प्रकार मूर्छित कर सकता हूँ ?

सरस्वती—(समझाते हुए) वत्स, अपनी वीणा के स्पर्शमात्र से ही वीणा की वाणी मुखरित हो उठती है। (सन्तोषपूर्वक) नारद, तुम्हारी उमंग ने मेरे भार को आज मेरा शृङ्गार बना दिया।

नारद— (कुछ न समझकर) देवि, कनिष्ठों के उत्साह की वृद्धि करने में ही गुरुजनों की शोभा है।

सरस्वती—(वात्सल्य भाव से) तुम नहीं समझ पा रहे हो, वत्स ! (कुछ विचार) अच्छा, पहले यह बतलाओ कि पुराण कवि की मानसी सृष्टि में मुझे स्त्रीत्व का भाव ही क्यों प्राप्त हुआ, तुम्हारी भाँति पुरुषत्व का क्यों नहीं ?

नारद— (अधिक उलझन में पड़कर) स्त्रीत्व ? देवि मैं स्त्रीतत्त्व को नहीं समझता।

सरस्वती—सुनो वत्स, जिसको तुम सृष्टि कहते हो, वह पुराण कवि के कभी न समाप्त होनेवाले आत्मसर्जन का एक क्रममात्र है। इस क्रम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उसने इन दो भावों—पुरुषत्व और स्त्रीत्व— की कल्पना की है। पुरुष स्रष्टा है और स्त्री सर्जन का आधार, पुरुष कर्ता है और स्त्री क्रिया का आश्रय—एक-दूसरे के बिना अपूर्ण और निरर्थक। स्त्रीत्व का सबसे पहले और परम शुद्ध प्रतीक मैं ही हूँ। अब समझे कि मैं स्त्री क्यों हूं ?

नारद—- (उत्साहपूर्वक) हाँ देवि, क्योंकि शुद्ध सर्जन की प्रेरणा तुम्हारा आश्रय लिए बिना कार्यान्वित नहीं हो सकती। भावों की परम्परा तुम्हारा आधार पाये बिना सुशृङ्खलित नहीं हो सकती।

सरस्वती—ठीक, परन्तु यह न भूल जाना, वत्स, कि प्रेरक पुरुष ही है। पुरुष की प्रेरणा के बिना मेरी वीणा सुप्त है —मेरी दृष्टि शून्य है।

नारद— देवि, पुरुष की प्रेरणा का रहस्य किस तत्त्व में निहित है ?

सरस्वती—आत्म-मंथन में, वत्स, आत्म-मंथन ही सर्जन का बीज है। तुमने उस दिन तातपाद की आज्ञा से आत्म-मंथन प्रारम्भ किया था और आज मेरी वीणा में से स्वर-ब्रह्म का अविष्करण कर दिया।

नारद— (विनीत भाव से) देवि, तुम्हारी कृपा से नारद आज अमर हो गया। भगवती····

नेपथ्य में—नारद ! वत्स

नारद— यह तो तातपाद का स्वर है ! (उठते हुए) देवि, क्षमा करें । (प्रस्थान)

[सरस्वती धीरे-धीरे वीणा को छेड़ने लगती हैं । प्रकृति की स्तब्धता एकान्त भाव से श्रवण करने लगती है ।]

(ब्रह्मदेव का प्रवेश)

[ब्रह्मदेव आज भावावेश में हैं । उनका मुखमण्डल रक्त वर्ण हो रहा है । वे अपने मनोभावों को दबाने की भरसक चेष्टा कर रहे हैं ।]

ब्रह्मदेय—(भावावेश में) वाणी !

सरस्वती—(शिलाखंड पर से एकदम उठकर) स्वागतम् भगवद् ! सरस्वती नमस्कार करती है ।

ब्रह्मदेव—(मुग्धभाव से) वाणी, आज युगों के बाद तुम्हारी वीणा प्रथम बार जाग्रत हुई है । आज युगों के बाद सर्जन की वेदना साकार हुई है । सरस्वती, किस भावुक की भावना ने तुम्हारी तन्त्री को झंकृत कर दिया है ?

सरस्वती—पुराण कवि के परिवार के अतिरिक्त और कौन सरस्वती की वीणा को मुखरित कर सकेगा, भगवन् !

ब्रह्मदेव—(विचार करके) ओह ! नारद—नारद के अतिरिक्त और कोई भी अभी तक सर्जन की कला को नहीं समझ सका है, परन्तु मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि वह प्रारम्भ में ही सृष्टि के सबसे मादक तत्त्व के सर्जन की प्रेरणा कर सकेगा । वाणी, तन्त्री को पुनः रसवर्षण में नियुक्त करो ।

सरस्वती—जैसी आज्ञा, देव !

[सरस्वती वीणा को पुनः छेड़ देती हैं । स्वरों का समाँ बँध जाता है । पुराण कवि का भावावेश बढ़ जाता है वे सरस्ती के बिलकुल पास आ जाते हैं ।]

ब्रह्मदेव—(व्याकुल भाव से) वाणी !

सरस्वती—(शान्ति से) आज्ञा देव !

ब्रह्मदेव—(सहसा) तुम्हारी सृष्टि मैंने क्यों की है ?

सरस्वती—(आश्चर्य से ब्रह्मदेव की ओर देखती रहती है ।)

ब्रह्मदेव—(उसी स्वर में) तुम्हारी सृष्टि मैंने क्यों की है, सरस्वती ?

सरस्वती—(संशयपूर्ण दृष्टि से देखते हुए) मेरी सृष्टि देव ! मेरी सृष्टि सामंजस्य का सर्जन करने को हुई है । मेरी सृष्टि उछृंखलता का दमन करने को हुई है । (ब्रह्मदेव की ओर सीधे देखते हुए) मेरी सृष्टि मध्यम मार्ग का दर्शन कराने के लिए हुई है ।

ब्रह्मदेव—परन्तु सुमुखि ! (सरस्वती फिर आश्चर्य से ब्रह्मदेव की ओर देखती है) मेरा विचार तो तुमको—नारी को समग्र आधार बनाने का है !

सरस्वती—(दृढ़ता से) इसके लिए आपको किसी विकृत नारीतत्त्व की सृष्टि करनी होगी, मैं तो विकार का शमन करने को उत्पन्न हुई हूँ, न कि सर्जन। तातपाद ! मुझ को मलिन भावों का आश्रय नहीं बनाया जा सकता।

ब्रह्मदेव—और यदि मैं बनाऊँ तो ?

सरस्वती - (उसी स्वर में) यह सम्भव नहीं है, तातपाद ! सरस्वती का दुरुपयोग करने का परिणाम कभी शुभ नहीं हो सकता। मेरा अपमान आपकी सृष्टि के लिए घातक सिद्ध होगा।

ब्रह्मदेव—(समझाते हुए) देवि ! स्रष्टा की अधीनता स्वीकार करने में ही तुम्हारा कल्याण है।

सरस्वती—भगवन्, आश्रय और अधीनता दो भिन्न भाव हैं। मैं स्रष्टा के आश्रित हूं, अधीन नहीं।

ब्रह्मदेव - (व्याकुल होकर) सुन्दरि ! मैं उन्मत्त भावों से पीड़ित हूँ, मुझ को आश्रय दो। (आगे बढ़ते हैं।)

सरस्वती—(दूर हटकर) भगवन्, शान्त हों, आज तक मैं आत्म-मंथन को ही सर्जन का बीज समझती आई हूं, आज समझने में आया कि आत्म-दमन भी सर्जन के लिए उतनी ही आवश्यक वस्तु है। देव, उन्मत्त भावों का शमन कीजिए। रुद्र की सृष्टि के अनुभव को न भूल जाइये। सरस्वती दान्त स्रष्टा को ही आश्रय दे सकेगी।

ब्रह्मदेव—(उसी स्वर में) चंडि ! कवि के लिए उत्ताल भावों के वेग को दमन कर लेना सरल नहीं है।

सरस्वती—(निराश होकर) ऐसी अवस्था में कवि के लिए सरस्वती का दर्शन पा लेना भी सम्भव नहीं है।

[ब्रह्मदेव सरस्वती का हाथ पकड़ना चाहते हैं। सरस्वती उनसे दूर भागने लगती हैं। ब्रह्मदेव पागल की भाँति उनके पीछे दौड़ते हैं। दूर पर्वत-शिखर पर मरीचि, नारद आदि दिखलाई देते हैं।]

मरीचि-–(हाथ उठाकर उच्च स्वर से) शान्तं पापम् शान्तं पापम्। वाणी के साथ बलात्कार ! भगवन्, रक्षा कीजिए, प्रलय हो जायगी।

[ब्रह्मदेव एकदम रुक जाते हैं। वाणी अदृश्य हो जाती है। लज्जा, ग्लानि, क्रोध से ब्रह्मदेव का सारा शरीर घोर श्याम वर्ण हो जाता है।]

❀

तृतीय प्रवेश

स्थान—पुराण कवि का तपोवन

समय--मध्याह्नोत्तर

[एक शिलाखण्ड पर ब्रह्मदेव अर्धमूर्च्छित अवस्था में पड़े हैं। उनका वर्ण अभी तक घोर श्याम है। उनका शरीर कम्पित हो रहा है]

(मरीचि और नारद का प्रवेश)

मरीचि--(ब्रह्मदेव की ओर करुणा दृष्टि से देखकर) नारद, आज तीन दिवस हो गये, परन्तु तातपाद की तीव्र वेदना शान्त नहीं हो सकी।

नारद-- देव, उन्मत्त भावों की प्रतिक्रिया भी कम तीव्र नहीं होती। भाव-परिवर्तन कठिन पुरुषार्थसाध्य है।

मरीचि—(खिन्न होकर) वत्स, पुराण कवि के इस विचित्र मनोभाव का रहस्य समझ में नहीं आता।

नारद-- (शान्त चित्त से) देव, पुराण कवि के व्यापक हृदय में बड़ी विशाल भाव-समृद्धि भरी है। स्रष्टा को किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक का उपयोग करना है, परन्तु इस उपयोग में—इस योजना में थोड़ा-सा प्रमाद हो जाने पर ऐसे ही उल्कापात उत्पन्न हो जाया करते हैं। उस दिन जब तातपाद देवी सरस्वती के आश्रम में पधारे, तो उनके हृदय में भावों की आँधी उठ रही थी। भगवती वाणी के दिव्य संगीत ने उसको द्विगुणित कर दिया। रुग्णा-वस्था में अमृत भी विष हो जाता है। स्रष्टा उसका शमन नहीं कर सके, परिणाम में आज महान कष्ट पा रहे हैं।

मरीचि—(द्रवित होकर) नारद, तातपाद का यह कष्ट देखा नहीं जाता।

नारद— (ब्रह्मदेव की ओर गौर से देखकर) देव, धैर्य धारण करें, पुराण कवि प्रकृतिस्थ हो रहे हैं।

[ब्रह्मदेव के शरीर का कम्पन धीरे-धीरे बिलकुल बन्द हो जाता है। वे आँखें खोल देते हैं और शिलाखण्ड पर बैठ जाते हैं।]

ब्रह्मदेव—(चारों ओर देखकर) शान्तं पापम्—शान्तं पापम्।

मरीचि—देव, मरीचि अभिवादन करता है।

नारद— भगवन्, नारद प्रणाम करता है।

ब्रह्मदेव—आयुष्मान् वत्स, (थोड़ी देर ठहर कर शान्ति से) वत्स, उस दिन वाणी ने और तुमने मेरी सृष्टि को एक महान विप्लव से बचा लिया। यदि सरस्वती

के प्रति मेरा दुर्भाग्य सफल हो जाता, तो मेरा यह तीसरा प्रयोग भी व्यर्थ जाता।

मरीचि—(निकट आकर) परन्तु—परन्तु भगवन्, आपके शरीर का यह घोर श्याम वर्ण असह्य हो रहा है।

ब्रह्मदेव—(अपने हाथों को देखकर) और, यह वर्ण ?—यह तो भाव प्राबल्य का परिणाम है। वत्स, मुझ को अपना प्रकृत वर्ण प्राप्त करने के लिए इस शरीर का त्याग करना पड़ेगा।

नारद-- (भयभीत होकर) भगवन् ......

ब्रह्मदेव--(मुसकराकर) घबराओ नहीं, वत्स ! मेरे शरीरत्याग में कोई भय की बात नहीं है। प्रश्न तो यह है कि मेरा यह भाव-शरीर मेरे त्याग करने के पश्चात् जाय कहाँ ? तुम जानते हो कि मेरी सृष्टि का कोई भी भाव एक बार स्रष्टा होने के बाद नष्ट नहीं हो सकता। बतलाओ वत्स कि मैं इस कलुषित भाव-शरीर का क्या करूँ ?

(मरीचि और नारद विचार में पड़ जाते हैं।)

(सरस्वती का प्रवेश)

सरस्वती–(शान्त भाव से) मैं बतलाऊँ भगवन् कि आप इस भाव-शरीर का क्या करें ? आप इस घोर श्यामवर्ण को—इस अन्धकार को दिशाओं को सौंप दीजिए। वे इसको अपने गर्भ में संचित रखें और जिस किसी देश या दिशा में भविष्य का कवि और स्रष्टा मेरा दुरुपयोग करे, मेरे प्रति अत्याचार करे, उसी देश या दिशा में यह संचित अंधकार-राशि व्याप्त हो जाय। कवि को और उसकी जन्मभूमि को वाणी का दुरुपयोग करने का फल मिल जाय।

ब्रह्मदेव--(प्रसन्न होकर) तथास्तु।

[ब्रह्मदेव अन्धकार-राशि को दिशाओं को दे देते हैं। उनको अपना पूर्ववर्ण प्राप्त हो जाता है।]

ब्रह्मदेव—(गद्गद् कण्ठ से) देवि, तुम्हारा सर्जन करके मैं कृतकृत्य हुआ।

सरस्वती—(विनीत भाव से) भगवन् ! आपका आश्रय पाकर वाणी धन्य हुई।

प्रतीक

[एकांकी नाटक]

काल— गाँधीजी के प्रसिद्ध दांडी-कूच का समय।

स्थल— अहमदाबाद शहर से पहले तीन मील के करीब साबरमती नदी के किनारे पर आजाद-विला।

[यह छोटी-सी बस्ती तीन विशाल बँगलों को घेरकर बसी हुई है। विला में कुल मिलाकर ४० से अधिक मनुष्य नहीं रहते, परन्तु साधारण दृष्टि से देखने पर वह स्वसम्पूर्ण मालूम होता है। तीनों बँगले अहमदाबाद की एक प्रसिद्ध स्वदेशी मिल के तीन उच्च पदाधिकारियों द्वारा बसे हुए हैं। बँगलों के आसपास की बस्ती में एक घर धोबी का, एक हजाम का, एक घोषी का तथा दो मालियों के हैं। आज से १० वर्ष पूर्व अहमदाबाद के एक सेठ ने शिष्ट वर्ग के उपयोग के लिए ये तीन बँगले बनवाये थे, तबसे अब तक उपर्युक्त तीन कुटुम्ब इनमें रहते चले आये हैं। इन लोगों की प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए ही धोबी वगैरह के उपर्युक्त पाँच कुटुम्ब इनके आसपास आ बसे हैं। बँगले के निवासियों में मैनेजर साहब यू० पी० के रहनेवाले अधेड़ वय के सज्जन हैं, इंजीनियर साहब अजमेरी हैं तथा ड्राइंग मास्टर गुजराती हैं। तीनों के पारस्परिक प्रेम ने प्रान्तीय सीमाओं को अनेक अंश में धो डाला है। विला के इतिहास में चिरस्मरणीय रहनेवाली एक संध्याकाल में मैनेजर साहब मि० शर्मा अपने बँगले के पिछदाड़े एक लॉन पर बैठे हुए हैं।]

मि० शर्मा—(व्याकुलतापूर्वक) यह अन्याय,, यह अत्याचार, यह दमन क्या इसी प्रकार चलता रहेगा? क्या इसी प्रकार देश के निरीह स्त्री और बच्चों पर लाठियाँ बरसती रहेंगी? क्या हम अपने ही देश में इसी प्रकार बन्दी बने रहेंगे? क्या आजाद होना हमारे नसीब में नहीं है? (जोर से अपना पैर जमीन पर पटकते हैं। उनका पैर पास में लेटे हुए उनके कुत्ते टॉमी पर पड़ता है, और वह चिल्लाता हुआ दूर खड़ा हो जाता है, सहमकर) कम आन टॉमी, आई डिडिन्ट मीन इट्!

इंजीनियर—(नदी के किनारे से तेजी से मैनेजर साहब की ओर आते हुए) क्या कर रहे हो, शर्मा! कल नदी की रेती में गरीब बच्चों पर नौकरशाही के एजेन्टों के घोड़े दौड़े थे, आज तुम गरीब टॉमी को मारे डाल रहे हो? (नजदीक आकर कुत्ते पर हाथ फेरते हुए) टामी डियर!

चौधरी—(पीछे हटकर) हुजूर, हुजूर, काट लिया ! (गुप्ता और शर्मा खिलखिला कर हँस उठते हैं)

शर्मा – बहादुर आदमी होकर घबराते हो, चौधरी ! कोई बात नहीं, हाथ को जाकर स्प्रिट से धो डालो, ठीक हो जायगा। गुप्ता, तुम जाकर अफसर को अन्दर लिवा लाओ। (हँसकर चौधरी से) घबराना नहीं !

(प्रस्थान)

चौधरी—(स्वाभाविकता) नहीं हुजूर ! (प्रस्थान)

शर्मा— मि० पटेल, तुम टॉमी को मेरे कमरे में पहुँचा दो, तुम तो फर्स्ट-एड जानते हो, इसकी जरा मलहम पट्टी कर देना।

पटेल— वह तो कर दूंगा, मगर पुलिस से जरा 'टैक्ट' से काम लेना।

(मि० शर्मा लापरवाही से सर हिला देते हैं)

(दरोगासाहब लम्बे कद के अधेड़ जवान हैं। वे इस वक्त अपनी पूरी ड्रेस में हैं और बड़े इत्मीनान के साथ दीवानखाने में प्रवेश करते हैं)

दरोगा—(एक कागज में नाम बाँचते हुए) मि० कृष्णचन्द्र शर्मा आपका ही नाम है ?)

शर्मा— (दरोगा की तरफ देखते हुए) जी हाँ, तशरीफ रखिये।

दरोगा— यह विला आपका ही है ?

शर्मा— जी नहीं, हम लोग यहाँ किरायेदार हैं।

दरोगा—(बैठकर कागज में लिखे मजमून को दुरुस्त करते हुए) माफ कीजिए, यह झंडा आपके ही हुक्म से लगाया गया है ?

शर्मा— (उसी प्रकार निरीक्षण करते हुए दृढ़तापूर्वक) जी हाँ।

दरोगा—(सीधी दृष्टि से सहमकर) मगर आपको तो यह पता होगा कि भारत-सरकार तिरंगे झण्डे को गैरकानूनी करार दे चुकी है, आप यूनियन जंक लगा सकते हैं।

शर्मा— (मुसकराकर) राय तो बड़ी माकूल है; मगर पहले तो यह बतलाइये कि आपको तिरंगे झण्डे से कब से नफरत हो गई है ?

दरोगा – (साश्चर्य शर्मा की ओर देखते रहते हैं।)

शर्मा— ताज्जुब हो रहा है, मि० रामसिंह !

दरोगा—(कुछ-कुछ पहचानकर) वाकई मि० शर्मा, मैं भी यही सोच रहा हूँ कि मैंने आपको कहीं देखा है।

शर्मा— (मुसकराकर) चलिये, आपको याद तो आने लगा, आइये मैं आपकी 'मेमोरी' को कुछ मदद कर दूं। सुनिये, कानपुर—कालेज—होस्टेल—(रामसिंह की आँखें चमकने लगती हैं) शैतानियत—

(मि० रामसिंह खिलखिलाकर हँस उठते हैं और प्रेमपूर्वक मि० शर्मा के साथ शेक-हैण्ड करते हैं।)

शर्मा— (गम्भीर होकर) अब कहो भाई, क्या कहना है? इस वक्त हम और तुम भिन्न परिस्थितियों में हैं. तुम अब अपना कर्तव्य करो?

राम— कर्तव्य—कर्तव्य तो कुछ नहीं है, भाई! मेटका यह तकाजा है कि देश के झंडे को देश में न फहराने दिया जाय; (सम्हलकर) मगर एक बात कहनी पड़ेगी कि इस वक्त जिस ढंग से इस लड़ाई को लड़ा जा रहा है, वह बड़ा बेहूदा और बेअसर है। ऐसे सेंटिमेंटल तरीकों से स्वतन्त्रता-जैसी ठोस चीज हासिल नहीं की जा सकती ..

(मि० शर्मा प्रशंसापूर्ण दृष्टि से गुप्ता की ओर देखते हैं। मि० गुप्ता की आँखों पर भी प्रशंसा छाई हुई है।)

राम— (उत्साहित होकर) इस वक्त 'माब मेंटलिटी' का बोलबाला है, और इतमीनान रखिये कि मौबोक्रेसी ब्यूरोक्रेसी से किसी अंश में भी अच्छी चीज नहीं है। ब्यूरोक्रेसी का लक्षण यदि सहानुभूतिशून्यता है, तो मौबो-क्रेसी का लक्षण है अति-सहानुभूतिशीलता; एक यदि भावनाहीनता के लिए बदनाम है, तो दूसरी-अति भावुकता के लिए। मौबोक्रेसी का उबाल भी ब्यूरोक्रेसी के उबाल से भयानक नहीं होता, और इस समय देश के आवरण में उसी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। बुद्धिमानों की बुद्धि की कसौटी ऐसी परिस्थितियों में ही हुआ करती है। मि० शर्मा, क्या झंडे का प्रश्न ऐसे ही उबाल का परिणाम नहीं है? तत्त्व के साथ-साथ उसके प्रतीकों की रक्षा का दुराग्रह मानव की पुरानी भूल है! क्या बुद्धिमान लोगों को भी इस बात को समझने में देर लगेगी?

शर्मा— (मि० रामसिंह से) यू विल एक्सक्यूज मी, प्लीज! (गुप्ता से) कहिये मि० गुप्ता, आज से ठीक एक सप्ताह पूर्व मैंने आपसे क्या कहा था? (गम्भीर होकर) भाई, मेरी राय में तो झंडा ही नहीं, नमक-सत्याग्रह भी स्वतन्त्रता के बाहरी प्रतीकों में ही आ जाता है। मेरी समझ में नहीं आता कि नमक-सत्याग्रह इस मामले को जरा नमकीन बना देने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है! (सब लोग मुक्त हास्य करते हैं।)

राम— (गम्भीर होकर) मुझे यह देखकर खुशी हो रही है. भाई, कि सेंटिमेंट् की इस आँधी में भी तुम अपने दिमाग को सही रख सके हो! अब यह बतलाओ कि झंडे की इस गड़बड़ में से निकलने का क्या तरीका सोच रखा है?

शर्मा— तरीके तो हजार हैं; मगर एक बार जब झंडा लग चुका है, तो अब उसके हट जाने से बड़ी बदनामी होगी। इस विला में मुँह दिखाने को जगह नहीं रहेगी!

राम — (मुक्त हास्य करते हुए) वाह भाई, खूब कहा ! क्या इस विला में ही अपनी सारी जिन्दगी काट देने की सोच चुके हो ? (गम्भीर होकर) मैं फिर एक बार याद दिलाऊँगा कि ऐसे मामलों में सेंटिमेंटल नहीं होना चाहिए ।

शर्मा— (गुप्ता की ओर देखकर) बात तो ठीक ही है, मि० गुप्ता ! इस विलामें तो हम लोगों के लिए अब पग-पग पर कांटे पैदा हो रहे हैं । शहर से दूर होने के कारण स्वातन्त्र्य युद्ध की अन्तरङ्ग प्रगति पर भी बारीक नजर नहीं रह सकती, और ऐसे प्रतीकों में उलझना पड़ता है !

गुप्ता— (सोत्साह) कैपिटल आइडिया में भी तंग आ गया हूँ, मि० शर्मा ! टामी के मामले ने तो मुझे इस जगह का दुश्मन बना दिया है !

शर्मा— अच्छा भाई रामसिंह. मैं . हम आपको कल सुबह तक अपना निर्णय सूचित कर देंगे । इस वक्त आप हमको माफ करें ।

राम— नेवर माइंड, मुझे कल फिर आपसे मिलकर बड़ी खुशी होगी । अब मुझे इजाजत दीजिए ।

(तीनों प्रेम पूर्वक शेकहैण्ड करते हैं)

(दारोगा का प्रस्थान)

शर्मा (लापरवाही से) इस मामले में पटेल की भी राय ले लेना, गुप्ता ! (दरवाजे की ओर बढ़ते हुए) इन सब बातों को करते हुए मेरा दिल तो टामी में ही लगा हुआ था ।

(तेजी से दाहिनी ओर के दरवाजे से प्रस्थान)

दृश्य चौथा

(अहमदाबाद शहरों में स्टेशन के नजदीक मि० शर्मा का मकान मि० शर्मा और मि० गुप्ता प्राइवेट रूम में बैठे चाय पी रहे हैं। बाईं ओर के दरवाजे से माँजी का प्रवेश । मि० शर्मा और गुप्ता उनको सादर नमस्कार करते हैं । वे जमीन पर पड़े हुए गलीचे पर बैठ जाती हैं ।)

माँजी— भैया, मेरा तो जी यहाँ दो दिन से किसी काम में भी नहीं लगता । वहाँ एकान्त में बैठकर भगवान के दो नाम ले लिया करती थी, यहाँ मोटर-लारियों की धड़धड़ में वह भी नहीं बनता । ऐसे शोरगुल में तुम अपने दिमागों को कैसे सही रख सकते हो, यह भी मैं नहीं समझ पाती !

शर्मा— (हँसकर) माँजी, हमको तो रोज मिल में हजारों चलती हुई मशीनों के बीच में काम करना पड़ता है । विला छोड़ते वक्त मुझे फिक्र आप ही के लिए

थी; मगर क्या करूँ, वहाँ रहना तो हम लोगों के लिए असम्भव हो गया था।

माँजी— भैया, मैं तो आज तक नहीं समझ सकी हूँ कि तुमको वहाँ ऐसी कौन-सी तकलीफ थी। एक टामी के लिए ऐसी शान्ति की जगह को छोड़ देना तो मेरी समझ में कभी नहीं आया। फिर दो-तीन गरीब परिवारों का अब वहाँ कोई धनी धोरी न रहा; कल चौधरी और सुन्दर की माँ मेरे पास आये थे।

शर्मा— (लापरवाही से) क्या कहते थे?

माँजी— यही कि हमने आप लोगों के लिए अपना देश छोड़ा है, अब हम कहाँ जायँ?

शर्मा— (दबे हुए गुस्से के साथ) हमने उनकी जिन्दगी का ठेका तो नहीं ले लिया था, वापस क्यों नहीं चले जाते। ज्यादा से ज्यादा हम उनको वापसी का किराया दे सकते हैं!

माँजी— (सूखी हँसी हँसकर) किशन, तुम इतने समझदार होकर भी ऐसी बातें करते हो! अगर रुपये-पैसों की ही बात होती, तो क्या इतने बड़े शहर में उनको रोटियाँ नहीं मिल सकतीं? वे सब-कुछ पा जायेंगे; मगर जो घरेलू ताल्लुक उन्होंने इतने परिश्रम के बाद अपने मालिकों के साथ पैदा कर लिया है, उसे वे अब कहाँ पा सकेंगे? बेटा....

शर्मा— (अकुलाकर) माँजी, माफ कीजिएगा; उनके घरेलू ताल्लुकों का ही यह नतीजा था कि टामी की एक टाँग हमेशा के लिए बेकार हो गई।

माँजी— (धैर्य के साथ) मगर बेटा, बूढ़े चौधरी ने तो इसी अपराध में कालिया को तथा उसके साथ में अपने इकलौते लड़के को भी घर से निकाल दिया है।

शर्मा— (अन्यमनस्क) इन सब बातों से हमें क्या मतलब?

माँजी— (साश्चर्य शर्मा की ओर देखती हैं, निराश होकर) मतलब क्यों नहीं है, बेटा! मगर जाने दो, मुझे तो एकान्त की जरूरत है, तुम यहीं रहो, मुझको विला में एक कोठरी किराये पर दिला दो, मैं सुबह शाम वहाँ जाकर भगवान के दो नाम तो ले लिया करूँगी।

शर्मा— (नम्र होकर) यह हो सकता है, माँजी! मैं दो चार दिन में ही इसका इन्तजाम कर दूंगा।

माँजी— (उठते हुए) तो अब मैं चलती हूँ। कृष्ण, कृष्ण!

(माँजी का बाईं ओर से प्रस्थान)

(दाहिनी ओर के दरवाजे से मि० पटेल का प्रवेश। उनके हाथ में 'सन्देश का विशेषांक है। वह कमरे में आकर धम से एक कुर्सी पर बैठ जाते हैं और पेपर को मि० शर्मा के सामने पटक देते हैं।)

(मि० शर्मा उत्सुकता से पेपर उठाकर पढ़ने लगते हैं, मुख पृष्ठ पर शीर्षक दिया हुआ है—

आजादविला मां सत्याग्रह
पोलिसनी दौड़धाम
प्रशंसनीय उत्साह।

(शर्माजी का चेहरा श्यामवर्ण हो जाता है)

गुप्ता— (सँभलकर) ओ, डोन्ट केयर ! मिथ्या प्रतीकोपासना ! माब मेन्टेलिटी !

(शर्माजी कुछ नहीं सुनते और शून्य दृष्टि से खिड़की के बाहर देखा करते हैं)

ड्रॉप

उलझन

(एकांकी नाटक)

दृश्य पहला

समय—वर्तमान।
स्थल—परलोक का एक उपवन।

(यह अपार्थिव उपवन समृद्ध और सुरेख है। इसकी सजावट यूरोपियन ढंग से की गई है। केवल इसके वातावरण में फैली हुई मृत्यु-जैसी शान्ति ही इसको किसी यूरोपीय शहर के पब्लिक गार्डन से भिन्न बनाये हुए है। उपवन में अनेक कुंज बने हुए हैं, जिनमें अनेक स्त्री-पुरुष शान्त-गम्भीर स्वर में किसी मनोद्‌भूत राजनीतिक स्थिति पर चर्चा कर रहे हैं। सबके चेहरों पर आत्म-सम्मान, स्वातन्त्र्य और धैर्य की रेखाँए खिंची हुई हैं। राजनीतिक विषयों पर कोलाहल शून्य चर्चाएँ हमारे पृथ्वी-लोक से इस लोक की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

उपवन के निर्जन प्रान्त में सहसा एक व्यक्ति का लड़खड़ाते हुए प्रवेश। इस व्यक्ति का कद मँझोले से कुछ ऊँचा, सीना चौड़ा और मुखमुद्रा दृढ़ तथा सौम्य है। इस समय वह अत्यन्त व्यथित ओर परेशान प्रतीत होता है। उसकी आँखें चढ़ी हुई, किन्तु संज्ञा शून्य हैं।)

व्यक्ति— (एक वृक्ष से टकराकर अपनी दृष्टिहीन आँखों से देखने का प्रयास करते हुए, काँपते हुए, फिर भी दृढ़ स्वर में) नहीं, कभी नहीं, जब तक मेरे शरीर में रक्त की एक बूँद भी बाकी है, मैं आस्ट्रिया की स्वतंत्र प्रजा को हिटलर की स्वातन्त्र्य-नाशक प्रवृत्तियों में सहायक बनने की राय कभी नहीं दूँगा.... ओह, तुम मुझको मार डालोगे ? पर मैंने मौत की परवाह कब की है ! तुम मुझको मारकर भी मुझ से देश द्रोही शब्द नहीं कहला सकोगे . लो, मारो.... मा (ऊपर हाथ उठाकर आगे की ओर बढ़ता है और एक दूसरे वृक्ष से टकरा जाता है।)

शोरगुल सुनकर निकट के कुंज में से निकलकर दौड़ता हुआ एक व्यक्ति इसके पास आता है और इसके कन्धे पर हाथ रखता है। आगन्तुक व्यक्ति लम्बा और इकहरे

बदन का है। स्वस्थ और तटस्थ वृत्ति से सान्त्वना देने का उसका ढंग उसका अंग्रेज जाति का होना बतलाता है। उसकी नजर पैनी और तलस्पर्शी है। मुस्कराकर बात करने का उसका स्वभाव उसको पत्रकार साबित कर रहा है।)

आगन्तुक व्यक्ति—(गौर से चेहरे की ओर देखकर) श...श. डा० शुशनिग, तुम जैसे व्यक्ति को इस प्रकार ऐसे स्थान में शोरगुल मचाना शोभा नहीं देता। (डा० शुशनिग की आँखों में धीरे-धीरे संज्ञा का उदय होने लगता है और उनके चेहरे पर भय और घृणा के स्थान पर आश्चर्य का भाव झलकने लगता है) घबराओ नहीं, अब तुम ऐसे स्थान पर हो, जहाँ नाजी अत्याचारियों की गोली नहीं पहुँच सकती।

शुशनिग– (साश्चर्य चारों ओर देखते हुए) तो क्या मैं बचा लिया गया ? क्या आस्ट्रिया एक बार फिर स्वतन्त्र

आगन्तुक–आस्ट्रिया के स्वतन्त्र होने में अभी देर है, डाक्टर ! किन्तु तुम सुरक्षित हो।

शुशनिग– (कुछ न समझते हुए जोश के साथ) आस्ट्रिया को परतन्त्र रखकर मैं सुरक्षित रहना नहीं चाहता। मारो, मारो, मुझे मार .. (आगन्तुक की ओर बढ़ते हैं)

आगन्तुक–(दृढ़ता से) ठहरो, शुशनिग ! तुम अभी सब समझ जाओगे। अपनी दुनिया की नजर में तो तुम मर चुके हो; मगर हमारी नजर में तुम केवल एक लोक की यात्रा समाप्त करके दूसरे लोक में आये हो।

शुशनिग– (चारों ओर देखकर) दूसरा लोक ! तो क्या नाजियों ने मेरी हत्या नहीं की ?

आगन्तुक–(मुसकराकर) अवश्य की है; मगर हत्या करने के मानी हैं तुमको उस लोक से निर्वासित करके यहाँ भेज देना।

शुशनिग– (घबराकर) तब ...तब तो वे लोग आस्ट्रिया को जबरदस्ती इस विग्रह में डाल देंगे ?

आगन्तुक–(उसी स्वर में) यह तो वे तुम्हारे वहाँ रहते हुए भी कर सकते थे। यहाँ रहकर अब तुम कदाचित् उनको अधिक सहायता दे सकोगे।

शुशनिग– (कुछ शान्त होकर) वह किस प्रकार ?

आगन्तुक–प्रेरणा के द्वारा। तुम्हारा बलिदान व्यर्थ नहीं जायगा।

शुशनिग– (हर्ष के साथ) तो क्या मैं अपने राष्ट्र की वेदी पर बलिदान हो चुका ? (हाथ उठाकर) लोकतन्त्र की जय !

आगन्तुक–(दुलार के साथ कन्धा थपथपाते हुए) शान्त, डाक्टर, शुशनिग, शान्त ! अभी तुम्हारे रक्त में भूलोक की गरमी भरी हुई है। यहाँ की शीतल हवा तुमको शीघ्र ही ठंडा कर देगी। आओ, इस वृक्ष के नीचे बैठें।

(दोनों एक वृक्ष के नीचे पड़ी हुई कुर्सियों के ऊपर बैठते हैं।)

शुशनिग—(स्वस्थ होते हुए) क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ ?

आगन्तुक–(नम्रता पूर्वक) अवश्य, मेरा नाम है विलियम स्टैड । मैं....

शुशनिग—(आदर के साथ हाथ मिलाते हुए) सचमुच ? मि० स्टैड ? विश्व-विख्यात अंग्रेज पत्रकार ! आपको मरे तो लगभग ४० वर्ष व्यतीत हो गये !

स्टैड— यों कहिए कि इस लोक में आये चालीस वर्ष हो गये । मैंने ब्रिटिश जहाज टिटैनिया के साथ जल-समाधि ली थी ।

शुशनिग—अवश्य ! अवश्य ! यह बात आज संसार के किस शिक्षित व्यक्ति से छिपी है ? आपने जल समाधि लेकर अपनी जाति का मुख सदैव के लिए उज्ज्वल कर दिया है ।

स्टैड— (मुसकराकर) इसी से मुझको इस लोक में आने का अधिकार मिला है न !

शुशनिग–(साश्चर्य) अधिकार ? क्या यहाँ आने के लिए किसी खास अधिकार की भी आवश्यकता होती है ?

स्टैड— अवश्य ! यहाँ भूलोक की भाँति एक ही स्थान में भिन्न अधिकार के व्यक्तियों को साथ-साथ रहने को बाध्य नहीं किया जाता, और इसीसे यहाँ जीवन-कलह नहीं के बराबर है । यहाँ पर वे ही लोग आ सकते हैं, जिनके विचार और सामर्थ्य में अधिक-से-अधिक साम्य है, और इसी से यह स्थान एक-से विचार के व्यक्तियों—लोकशासनवादियों के लिए बना हुआ है ।

शुशनिग–(प्रसन्नता पूर्वक) इस लोकतन्त्र का प्रेसीडेण्ट कौन है ?

स्टैड— इसके वर्तमान कर्णधार हैं प्रेसीडेण्ट विलसन !

शुशनिग–(अधिक प्रसन्न होकर) ओ हो, मि० स्टैड, तब तो वास्तव में यह ख्याल स्वर्ग ही है ! हमारे देश की स्वतन्त्रता भी प्रधानतः प्रेसीडेण्ट विलसन की ही आभारी है ।

स्टैड— (डा० शुशनिगकी ओर सीधा देखते हुए) किन्तु डा० शुशनिग, क्या आप यह नहीं मानते कि वर्तमान विश्व-युद्ध प्रेसीडेण्ट विलसन द्वारा अभिभावित बरसाई का ही परिणाम है ? (साँस लेकर) यदि मैं उस समय इग्लैण्ड में होता, तो यह सन्धि इस ढंग पर न होने पाती । क्या इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को जान-बूझकर कुचल नहीं दिया गया ?

शुशनिग—(विचार पूर्वक) अवश्य, किन्तु जर्मन प्रजा के इतिहास और मनोवृत्ति को नजर में रखकर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यदि बारसाई की सन्धि में जर्मनी के साथ सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव किया जाता, तो वह सन् उनतालीस

के बजाय सन् उनतीस में ही अपने उदार विजेताओं को उनकी सहृदयता का पुरस्कार दे देता ?

स्टैड— (विवाद को बढ़ता देखकर) सम्भव है, ऐसा ही होता; किन्तु यह बात उस लोक में भी कई बार मुझे प्रत्यक्ष हुई थी, और यहाँ तो यह सिद्ध हो चुका है कि राजनीति को केवल पाशविक तत्त्वों पर अवलम्बित करना संसार के लिए सदैव घातक सिद्ध हुआ है ।

शुशनिग– (उत्साह के साथ) और यही पाशविकता नाजी जर्मनी के लिए आज घातक सिद्ध हो रही है । और पाशविकता भी कैसी ? मानव पाशविकता जिसको देखकर असली पाशविकता को चक्कर आ जाय ! (अपनी अत्यधिक उत्तेजना से लज्जित होकर) क्षमा कीजिएगा, मि० स्टैड ! नाजियों ने मुझे पागल बना दिया है ।

स्टैड – (सान्त्वना देते हुए) कुछ नहीं, डा० शुशनिग ! आपने बहुत सहन किया है । आज यूरोप में रहकर पागल हो जाना आसान है । (गम्भीरता से) मैंने अपने जीवनकाल में अनेक राजनीतिक षड्यन्त्रों का भेदन करके उन्हें उनके नग्न रूप में संसार के आगे खड़ा कर दिया था; किन्तु आजकी राजकीय चालों के आगे मैं अपने को अक्षम पाता हूँ । (निराश होकर) हमारा वह पुराना खंड अपना स्वर्णकाल बिता चुका ।

शुशनिग– (सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए) सच है । जहाँ दिन और रात—प्रकाश और अन्धकार—एक क्षण में ही प्रणय-ग्रन्थि में बँध सकते हैं; जहाँ सिद्धान्त और आदर्श सम्बन्धी विचारों को देश की राजनीति से सर्वथा अलग किया जा सकता है, वहाँ की गति-विधि को समझने में कौन समर्थ हो सकेगा ? अवश्य आपको रशिया और जर्मनी की गिरोहबन्दी ही चक्कर में डाल रही है ।

स्टैड— (विचारों में विमग्न रहकर) यही बात है । मैं शीघ्र ही इस सम्बन्ध में यहाँ के प्रधान पुरुषों की राय जानना चाहता हूँ । सबसे पहले मेरा विचार लेनिन से मिलने का है ।

शुशनिग—(साश्चर्य) कौन ? रशियन साम्यवाद के जन्मदाता लेनिन ? क्या वे भी इसी लोक में रहते हैं ?

स्टैड— (शान्ति से) हाँ, यहाँ से थोड़ी दूर पर उन्होंने अपना स्वतन्त्र उपनिवेश स्थापित किया है । अनेक बार वे यहाँ के 'रिपब्लिकन होटल' में महज हम लोगों से विचार-विनिमय के लिए ही आ जाया करते हैं ।

शुशनिग—(उत्साह के साथ) अवश्य मिलिए । मुझे तो विश्वास है कि उनकी नजर से कोई बात छिपी न होगी । सम्भव है, उनकी प्रेरणा से उनके चेलों की आँखें खुल जायँ और संसार इस सर्वनाश से बच जाय !

स्टैड— (उसी स्वर में) यही मैं भी सोच रहा हूँ। (प्रेम पूर्वक) चलिये, डा० शुशनिग, थोड़ा जलपान करें। (हँसकर) राजनीतिक चर्चा क्षुधाप्रेरक तो होती ही है।

शुशनिग– (हँसकर) चलिये।

(प्रस्थान)

दृश्य दूसरा

उपर्युक्त घटना के दो दिन बाद

स्थान— रिपब्लिकन होटल का विशाल कमरा (कमरे में विलायती ढंग से लोगों के अलग-अलग बैठने का प्रबन्ध है। अस्थायी पार्टीशन से रक्षित एक छोटी-सी, किन्तु खूबसूरत मेज के चारों ओर ५-६ कुर्सिया हैं। इसी प्रकार के कई ब्लाक कमरे बने हुए हैं। एक ऐसे ही ब्लाक में डा० शुशनिग और विलियम स्टैड बैठे काफी पी रहे हैं।)

शुशनिग– (काफी पीते हुए) मि० स्टैड, कल मुझे प्रेसीडेण्ट विलसन से मिलकर बड़ी खुशी हुई—बड़े सहृदय हैं।

स्टैड— (मुसकराकर) तभी तो गत महायुद्ध के बाद फ्रेंच और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने उन्हें नचा डाला!

शुशनिग– मि० स्टैड, मालुम होता है, यहाँ आकर आपके हृदय से देश-प्रेम एकदम विदा हो गया है। जिन लोगों ने चार-चार वर्ष तक नरक की यातनाएँ सहनकर आक्रमणकारियों को परास्त किया और अपने देश तथा समग्र विश्व को शैतान की गुलामी से बचाया, उन लोगों के प्रति आपके ये विचार क्या अन्यायपूर्ण नहीं हैं?

स्टैड— आपका कहना सच है; किन्तु गौर फरमाएं कि मेरा देश-प्रेम ही मुझसे यह शब्द कहला रहा है। मैं संकुचित अर्थ में राष्ट्रवादी कभी नहीं रहा, यद्यपि इस बात पर मुझे सदैव विश्वास रहा, है कि ब्रिटेन के उदय में एक दैवी संकेत निहित है—उसका अपना एक उद्देश्य है और उसकी पूर्ति उसे करनी होगी!

शुशनिग–(प्रशंसापूर्ण दृष्टि से देखते हुए) आप तो सिर से पैर तक पत्रकार हैं! आपकी कला का रहस्य भी इसी साफ-खयाली में है। पर राजनीति है तो बड़ा फिसलना मार्ग!

स्टैड— (नम्रता पूर्वक) जी हाँ, प्लेटो ने इसी से केवल वीतराग पुरुषों को ही इससे सर मारने का अधिकार दिया है।

(वेटर का प्रवेश)

वेटर — मो० लेनिन !

(वेटर के पीछे-पीछे ही लेनिन का प्रवेश । लेनिन वैसे ही हैं, जैसा हम उन्हें उनके अन्तिम चित्रों में पाते हैं, केवल उनके ऊपर चिन्ताओं का भार कुछ अधिक बढ़ा हुआ-सा मालूम होता है । डा० शुशनिग और मि० स्टैंड खड़े होकर उनका अभिवादन करते हैं ।)

स्टैंड— (हाथ मिलाते हुए) आइए, हम लोग आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे । (बाहर की ओर देखकर) वेटर !

लेनिन— (बैठते हुए) मैं भी कई दिनों से तुम्हारी ही तलाश में था, तुम तो भला साम्यवादियों के उपनिवेश में क्यों आने लगे ? आखिर मैं ही....

(वेटर का प्रवेश)

स्टैंड— (वेटर से) कॉफी ।

वेटर— जी ! (प्रस्थान)

लेनिन— (डा० शुशनिग की ओर देखकर) आप तो इस लोक में पहली बार ही दिखलाई दे रहे हैं ।

स्टैंड— जी हाँ, आपको यहाँ आये अभी दो दिन ही हुए हैं । आप आस्ट्रिया के प्रेसीडेण्ट ...

लेनिन— (बीच में ही) डा० शुशनिग । (लेनिन और शुशनिग हाथ मिलाते हैं । वेटर काफी लाकर लेनिन के सामने रख देता है ।)

वेटर— कुछ और !

लेनिन — नहीं, धन्यवाद ! (काफी पीते हुए) सज्जनो, यूरोप में एक बार फिर भयंकर दावानल जग उठा है । इस सम्बन्ध में मैं आप लोगों की राय जानने को उत्सुक हूँ । (मि० स्टैंड की ओर देखकर) पहले मैं संसार के सबसे बड़े साम्राज्य के महान पत्रकार की राय जानना चाहता हूँ ।

स्टैंड— धन्यवाद ! किन्तु इस महायुद्ध के बारे में राय देने का पहला अधिकार डा० शुशनिग को है । आप इसकी प्रथम महान बलि हैं ।

लेनिन— (जल्दी से) ओह, डा० शुशनिग, क्षमा कीजिएगा, इतनी स्पष्ट बात भी मैं भूल गया । वास्तव में आप युद्ध के हर पहलू से वाकिफ होंगे ।

शुशनिग— मैं....जी....अभी तो युद्ध प्रारम्भ ही हुआ है, अभी इस सम्बन्ध में राय देना खतरे से खाली नहीं है । फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि यदि रूस की किसी

अंश में भी सहायता न मिलती, तो जर्मनी इस घोर कर्म में इतनी आसानी से प्रवृत्त न होता।

लनिन— ओ हो ! तब तो आप यह समझते हैं कि रूस और जर्मनी की सन्धि ही विश्व की शान्ति के लिए घातक सिद्ध हुई है !

स्टैड— जी हाँ, कुटुम्ब की भाँति राजनीतिक क्षेत्र में भी बे-मेल जोड़े सदैव कलह-कारक ही सिद्ध होते हैं !

लेनिन— तब क्या आप बता सकते हैं कि साम्यवादी रूस के अनुकूल संसार के पूँजी-वादी राष्ट्रों में कौन-सा जोड़ा है ?

स्टैड— कोई नहीं।

लेनिन— तो क्या आप यह चाहते हैं कि इतना बड़ा यह देश मानव-कल्याण की अपनी उदात्त आशाओं को लेकर एकांकी ही अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर दे ? उपयुक्त जोड़ा न मिलने पर कार्य-सिद्धि के लिए भी किसी से हाथ न मिलाये ? (अधिक गम्भीर होकर) मि० स्टैड, आपको मालुम है कि क्रान्तिकारी साम्यवाद ने सदैव अपने साध्य पर ही नजर रखी है—साधनों पर नहीं ?

स्टैड— यह तो ठीक है, साधन और साध्य के प्रश्न पर मैं फिलहाल झगड़ना नहीं चाहता। मैं तो अभी यह समझना चाहता हूँ कि क्या मानव-कल्याण की आधुनिक भावना धर्म-रक्षा की प्राचीन भावना की भाँति अन्ध और विनाशक वृत्ति नहीं बनती जा रही है ? जिस कल्याण-पथ का अनुसरण करके इस समय आपकी लाल सेना पोलैण्ड के विपन्न देशप्रेमियों के ऊपर बम बरसा चुकी है, उसी का अनुसरण करके क्या धर्मान्धों ने लाखों धर्महीनों को तलवार के घाट नहीं उतार दिया ? मो० लेनिन, आपको मार्क्स के सिद्धान्तों का कार्यक्रम बनाने का यश प्राप्त है, आपके ही कारण साम्यवाद आज एक जाग्रत सिद्धान्त है। देखिए, कहीं यह अन्ध-सिद्धान्त न बन जाय !

लेनिन— मि० स्टैड, अपने विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकट करने में आप प्रारम्भ से ही सिद्धहस्त हैं; किन्तु, क्षमा कीजिए, इस समय आप जीवन के महान प्रश्नों को एक भावुक की नजर से देख रहे हैं। आप ही बतलाइए कि करोड़ों गरीबों के कल्याण के लिए हमें यदि थोड़े-से मूर्ख देश-प्रेमियों का नाश भी करना पड़े, तो क्या आप इसे बुरा बतलायेंगे ?

स्टैड— आप प्रश्न के एक पक्ष पर ही नजर रख रहे हैं। क्या आप यह नहीं देखते कि इस महायुद्ध से प्रत्येक देश में धनवान और गरीब के बीच की खाई गहरी ही होगी ? युद्ध के कारण कोई देश आर्थिक संतुलन पर नजर नहीं रख

सकेगा। मुझे तो भय है कि स्वयं रूस में आर्थिक समानता अब एक आदर्श-मात्र रह जायगी। समानता और शान्ति परस्पर सापेक्ष भाव हैं....क्या आप मो० स्टैलिन की प्रत्येक नीति से सहमत हैं?

लेनिन— कौन? स्टैलिन? वह खामोश युवक सदैव मेरे लिए एक पहेली रहा है। मैंने अपने कार्यकाल में उसे कभी महत्व नहीं दिया। सत्ता में आने के बाद के उसके कई कार्यों से मुझे अत्यन्त ही कष्ट हुआ है; किन्तु न्याय के लिए, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसने रूस को कई विषम परिस्थितियों में से बेदाग निकाला है। मि० स्टैड, मैं आपकी उलझन को समझ रहा हूं। आप भी समझते हैं कि मेरी नजर में केवल दो बातें समा रही हैं—साम्यवाद के सिद्धान्तों का अधिक से अधिक प्रचार और साम्यवादी रूँस की प्रतिष्ठा और प्रभाव में दिनों दिन वृद्धि।

स्टैड – परन्तु प्रश्न तो यही है कि स्टैलिन-गवर्नमेण्ट के इस कार्य से रूस या साम्य-वाद की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी?

शुशनिग– माफ कीजियेगा, मैं तो इस निर्णय पर आ चुका हूँ कि नाजियों का साथ देकर रूस अपने आपको उनकी भाँति घृणित बना रहा है!

स्टैड— (डा० शुशनिग की अराजनीतिक भाषा से अकुलाकर) हो सकता हैं डा० शुशनिग, यह भी हो सकता है; किन्तु संसार के घृणा करने से ही यह मामला सुलझ तो नहीं जायगा। संसार ने सदैव सफलता की ही पूजा की है और करेगा।

लेनिन— (नम्रता से) प्रत्येक कार्य को उसके परिणाम से ही समझा जा सकता है, डा० शुशनिग! (मि० स्टैड से) मैं मानता हूँ कि यह विग्रह रूस की कसौटी का समय है। इस युद्ध में उसको अपने एक विरोधी का उपयोग दूसरे विरोधियों के खिलाफ करना पड़ रहा है। मुझे विश्वास है कि यदि वह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा, तो अन्त में विजय उसको ही मिलेगी और सारे संसार में श्रमजीवी-सरकार का मेरा स्वप्न सत्य हो सकेगा।

स्टैड— (उन्हीं के शब्दों को दोहराते हुए) 'यदि वह अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा', बस यही एक बात ऐसी है, जिस पर मुझे पूर्ण सन्देह है।

लेनिन— (हँसकर उठते हुए) धन्यवाद! दृष्टिकोणों में मौलिक भेद होते हुए भी हम लोग सहानुभूतिपूर्वक वार्तालाप कर सके हैं। डा० शुशनिग, अभी तो आपका मन यहाँ न लगता होगा; किन्तु सौभाग्य से आपको साथ अच्छा मिला है।

शुशनिग– (हाथ मिलाते हुए) धन्यवाद, धन्यवाद ! मि० स्टैंड की तो मेरे साथ आरंभ से ही हमदर्दी रही है, आपका पड़ोस भी कम मानप्रद नहीं है।

(लेलिन का मि० स्टैंड से हाथ मिलाकर प्रस्थान। डा० शुशनिग और मि० स्टैंड सिगार जलाकर धूम्र-रेखा के पेचों में अपने विचारों की उलझन को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा में व्यस्त हो जाते हैं।

दृश्य तीसरा

उपर्युक्त घटना के चार दिन बाद

धार्मिकों का परलोक

मि० स्टैंड ने जब महात्मा ईसा से मिलने की इजाजत माँगी, तो उनकी तरफ से इस शर्त पर स्वीकृति दी गई कि उनको अपनी बाह्य दृष्टि को बन्द करके इस लोक में आना पड़ेगा। कारण यह बतलाया गया कि मि० स्टैंड पत्रकार हैं, और पत्रकारों में किसी वस्तु की पवित्रता की रक्षा करने का माद्दा नहीं होता। कार्य पर नजर रखकर मि० स्टैंड ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया और आँखें बन्द करने के कुछ क्षण बाद ही अपने को डा० शुशनिग के साथ एक विशाल जलाशय के किनारे अति रमणीय वनस्थली में खड़ा पाया।)

स्टैंड— (चारों ओर देखकर) ऐसा मालुम होता है कि दो हजार वर्ष पूर्व का कोई स्वप्न-लोक पुनः जाग्रत हो उठा है !

शुशनिग– (धीरे से) मेरा हृदय यहाँ एक विशेष प्रकार की शान्ति का अनुभव कर रहा है।

स्टैंड— हमारे पूर्वजों ने इस लोक की प्राप्ति के लिए तभी तो कठिन-से-कठिन साधना से भी मुँह न मोड़ा था।

शुशनिग– (सन्तोष के साथ) वही आज हमें कुछ क्षण के लिए आखें बन्द करने पर ही प्राप्त हो गया !

स्टैंड— (हँसते हुए) यह तो पत्रकारों के धन्धे की शान है, जनाब ! (दूर से कुछ लोगों के हँसने की आवाज आती है) क्या हम लोग वहाँ आ सकते हैं, बन्धुओं !

आवाज—अवश्य !

(मि० स्टैंड और डा० शुशनिग उत्सुकतापूर्वक आवाज की दिशा में अग्रसर होते हैं।)

(एक सघन वृक्ष के नीचे महात्मा ईसा एक आसन पर नीची नजर किये बैठे हैं। उनके चारों ओर अनेकों स्त्री-पुरुष आदर पूर्वक खड़े हैं। वृक्ष के नीचे कई भेड़ के बच्चे स्वतन्त्रता पूर्वक घूम रहे हैं।

स्टैड— (ईसाइयों के ढंग से नमस्कार करके आदर पूर्वक) क्या मैं इस समय संसार के मसीहा के सामने खड़ा हूँ ?

एक व्यक्ति–हाँ, आप लोगों को जो पूछना हो, पूछ सकते हैं।

स्टैड— मैं अधिक समय नहीं लूँगा। मैं केवल वर्तमान यूरोपीय युद्ध के बारे में मसीहा की राय जानना चाहता हूँ।

म० ईसा–(गम्भीर स्वर में) इसके लिए आपको यहाँ तक कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी ? युद्ध-सम्बन्धी मेरे विचार बाइबिल में दर्ज हैं।

स्टैड— क्या आपका आशय आपकी उस आज्ञा से है, जिसमें एक गाल पर तमाचा मारने वालों के सामने दूसरा गाल कर देने को कहा गया ?

म० ईसा–(शान्ति से) हाँ।

स्टैड— (विनम्र भाव से) मगर इसका पालन तो आपके अनुयायियों में से बिरले ही कर सके हैं।

म० ईसा–जो इसका पालन न कर सके, वह नाम का ही मेरा अनुयायी है !

(डा० शुशनिग और मि० स्टैड एक दूसरे की ओर देखते हैं।)

शुशनिग–आप जानते हैं कि यह बात हमारे कठोर संसार में सम्भव नहीं है ?

म० ईसा–मगर संसार की कठोरता नष्ट करने का उपाय यही है।

स्टैड— क्या आप यूरोप की वर्तमान राजनीति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने की कृपा करेंगे ?

म० ईसा–यूरोप की वर्तमान राजनीति ? यह तो शैतान का कार्य है ! मेरी राजनीति का लक्ष्य तो संसार में ईश्वरीय राज्य की स्थापना करने का है; किन्तु निराश स्वर में) उसकी सम्भावना जितनी कम आज है, उतनी किसी युग में नहीं रहीं। (कुछ विचार करके) फिर भी आप यदि चाहें, तो इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण से मिल सकते हैं। उनको इसी प्रकार के एक महायुद्ध का व्यक्तिगत अनुभव है।

स्टैड— (याद करते हुए) श्रीकृष्ण....श्रीकृष्ण....उनका जन्म तो बहुत समय पूर्व भारतवर्ष में हुआ था न ? वे कहाँ रहते हैं ?

म० ईसा०–यहाँ से थोड़ी दूर पर ही उनका लोक है। आप जिस ढंग से यहाँ लाये गये हैं उसी ढंग से वहाँ भी भेजे जा सकते हैं।

स्टैड— धन्यवाद! हम आपको कष्ट देने के लिए क्षमा प्रार्थी हैं। (नमस्कार करते हैं)

मा० ईसा–अब आप लोग आँखें बन्द कर लें।

(दोनों व्यक्ति आँखें बन्द करके घोर निद्रा जैसी अवस्था में पहुँच जाते हैं और जागने पर अपने को एक विशाल प्रासाद के दरवाजे पर खड़ा पाते हैं। यह प्रासाद प्राचीन ढंग की एक भव्य इमारत है। सूर्य के प्रकाश में इसके शिखरों पर के विशाल सुवर्ण-कलश दूर-दूर तक चकाचौंध पैदा करते हैं। महल के प्रधान तोरण पर सशस्त्र योद्धा पहरा दे रहे हैं।

मि० स्टैड और डा० शुशनिग एक बारगी प्रभावित हो जाते हैं। मि० स्टैड कुछ बोलना ही चाहते हैं कि दरवाजे की ओर से आवाज आती है।)

आवाज— मि० स्टैड, राजाधिराज को आपके यहाँ आने की सूचना मिल चुकी है। आप अन्दर आकर सभा-गृह में विश्राम करें।

स्टैड— (सँभलकर) धन्यवाद!

(एक चोबदार उनको साथ लेकर सभा-गृह में पहुँचा देता है। यह सभा-गृह वैभव का धाम है। वे एक सुवर्ण-जड़ित सिंहासन पर बैठ जाते हैं। चोबदार आदर पूर्वक बाहर चला जाता है।)

शुशनिग– (धीरे से) यहाँ की शान-शौकत देखकर तो मेरी बुद्धि चक्कर खा रही है।

स्टैड— (सगर्व) यह हमारे भारतवर्ष के एक महान् राज-पुरुष का निवास-स्थान है। (धीरे से इसी से तो हम लोग भारतवर्ष को ब्रिटिश ताज का सर्वश्रेष्ठ रत्न मानते हैं!

शुशनिग– यह राज-पुरुष भारतवर्ष में कितने वर्ष पूर्व हुआ था?

स्टैड— (स्मरण करते हुए) यदि मैं भूल नहीं रहा हूँ तो आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व।

शुशनिग– ओ हो, तब तो यह सब उस समय के वैभव का चित्र है! अब तो वह देश इतना धनवान नहीं है।

स्टैड— यह है भी स्वाभाविक। अच्छे-से-अच्छा पर शासन स्वशासन का मुकाबला नहीं कर सकता, डा० शुशनिग! (डा० शुशनिग एक दीर्घ निश्वास छोड़ते हैं) सुना है, इस महापुरुष के समय में पृथ्वी के अधिकांश भाग पर भारत का एकाधिपत्य था।

(सभा-गृह के एक भाग से 'सावधान, सावधान' की आवाज आती है। मि० स्टैंड और डा० शुशनिग हड़बड़ाकर उठ बैठते हैं और सँभलकर आदर पूर्वक खड़े होते हैं।

दो राज-पुरुषों के साथ श्रीकृष्ण का प्रवेश—श्रीकृष्ण अपने सादे गोप वेष में हैं और उनकी चिरपरिचित वंशी कमर में लगी हुई है। वे प्रधान सिंहासन पर बैठ जाते हैं। मि० स्टैंड और डा० शुशनिग उन्हें नमस्कार करते हैं।)

श्रीकृष्ण—बैठिये मि० स्टैंड, बैठिये डा० शुशनिग ! (मुसकराकर) आपकी जिज्ञासा तो आपको बहुत दूर ले आई !

स्टैंड— (सादर) जी हाँ, मैं संसार में जीवन-भर पत्रकार रहा हूँ और अब भी उस आदत को नहीं छोड़ सकता। उसी से लाचार होकर आपकी सेवा में हाजिर हुआ हूँ।

श्रीकृष्ण—(सस्मित) आदत बुरी तो नहीं है। यदि आप लोग न हों, तो राज्य-कर्ताओं का जीवन उनके लिए भार हो जाय ! (शान्ति से) आप मुझसे क्या पूछना चाहते हैं ?

स्टैंड— (सम्भलकर) आपको मालूम होगा कि यूरोप में इस समय एक अत्यन्त दारुण युद्ध की आग भड़क रही है। मैं इस युद्ध के सम्बन्ध में आपकी राय जानना चाहता हूँ।

श्रीकृष्ण—(सरलता से) इसमें कोई क्या राय देगा भाई ! आप लोग वर्षों से अति उत्साह पूर्वक जिसके आगमन की तैयारी कर रहे थे, वही आज झोली पसारकर आपके द्वार पर खड़ा है। अब आप उससे मुँह नहीं छिपा सकेंगे !

स्टैंड— आपका तात्पर्य क्या है, यह मैं नहीं समझ सका हूँ। हमने सदैव शान्ति को ही आमन्त्रित किया है, यद्यपि तैयारी भयानक-से-भयानक परिस्थिति का सामना करने की कर रखी है।

श्रीकृष्ण—(सस्मित) शान्ति को आमन्त्रण और भयानक-से-भयानक युद्ध की तैयारी ! स्थिति की विषमता क्या इतने से ही स्पष्ट नहीं हो जाती, मि० स्टैंड ?

स्टैंड— (जल्दी से) मगर यह तो राजनीति है, राजाधिराज !

श्रीकृष्ण—तो इस राजनीति का यही परिणाम है। शान्ति की देवी को युद्ध-सामग्री के ढेर पर स्थापित नहीं किया जा सकता ! मि० स्टैंड, आपने महाभारत-युद्ध का वृत्तान्त पढ़ा है ?

स्टैंड— (उत्साह के साथ) जी हाँ !

श्रीकृष्ण—आपको पता है कि उस महायुद्ध का कारण क्या था ?

स्टैंड— (स्मरण करते हुए) जी हाँ, तत्कालीन भारत सम्राट का अन्याय और हठ।

श्रीकृष्ण—ओ हो, यह तो उसका तात्कालिक और राजनीतिक कारण था, इसके अतिरिक्त एक प्राकृतिक कारण भी था।

स्टैंड और शुश०—(एक साथ ही साश्चर्य) प्राकृतिक कारण !

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) हाँ, प्राकृतिक कारण। यह वह है, जिसको भारतवासी अपने लाक्षणिक ढंग से पृथ्वी का बढ़ जाना कहते हैं।

स्टैंड— (समझने की चेष्टा करते हुए) पृथ्वी का भार बढ़ जाना? यह तो Symbolism (सांकेतिक भाषा) जैसा मालूम होता है।

श्रीकृष्ण—जी हाँ, आप अभी समझ जायँगे। भारतीयों ने अपनी संस्कृति के उषःकाल में ही पार्थिवता के गर्भ में निहित देवत्व को समझने की चेष्टा की थी। गहन चिन्तन के बाद यह प्रकृति एक देवी के रूप में उनके सामने उपस्थित हो गई। साथ में उन्होंने यह भी समझ लिया कि मानव के अन्तर में भरे हुए चैतन्य और इस बाह्य देवत्व में निकट का सम्बन्ध है—क्रिया और प्रतिक्रिया का क्रम इन दोनों में अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। अर्जुन को उपदेश देते समय मैंने लोक-संग्राहक यज्ञ की भावना को इसी आधार पर खड़ा किया था। आप समझ रहे हैं न, मि० स्टैंड ?

स्टैंड— (अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनते हुए) जी हाँ !

श्रीकृष्ण—(सरलता) तब फिर यह स्पष्ट है कि जो बात मानव के चैतन्य गुणों को दबा देने में समर्थ हो सकेगी, उससे पृथ्वी भी भारान्वित हो जायगी। भारतीयों की मान्यता है कि सृष्टिक्रम की अक्षुण्णता के लिए यह भार शीघ्र से-शीघ्र दूर होना चाहिए।

शुशनिग– तब क्या आप यह मानते हैं कि इस समय हमारी पृथ्वी का भार बढ़ गया है ?

श्रीकृष्ण—आप इसका निर्णय स्वयं कर सकते हैं। मुझे तो आज जड़ता के भार से दबी हुई चेतनता की करुण और दुर्बल चीत्कार स्पष्ट सुनाई दे रही है; यान्त्रिक सेनाओं के भार से पीड़ित पृथ्वी की विषम वेदना मेरे हृदय को व्यथित कर रही है !

स्टैंड— (अत्यन्त विचार निमग्न रहकर) रूस....साम्यवादी रूस इस-विग्रह में अपने कट्टर शत्रु नाजी जर्मनी के साथ क्यों सहयोग कर रहा है ?

श्रीकृष्ण -- विनाश को पूर्ण बनाने के लिए। उसकी सहायता के बिना भार हटाने का यह कार्य अधूरा रह जाता। मि० स्टैंड, आप इस बात को नहीं समझ रहे हैं। महाभारत में भीष्म और दुर्योधन का योग भी इसी प्रकार का था; किन्तु उसके बिना महाभारत अपूर्ण रहता।

(श्रीकृष्ण की दृष्टि भूत और भविष्य के गर्भ में मानों दूर-दूर विचरण करने लगती है। मि० स्टैंड और डा० शुशनिग की आँखें नवीन प्रकाश से चमक उठती हैं।)

शुशनिग-- (सादर) राजाधिराज !

स्टैंड-- (डाक्टर शुशनिग का हाथ दबाकर) शान्त....

(यवनिका पतन)

卐

यह जु एक मन

(वृन्दावन में यमुना तट पर ध्यान-मग्न एक रसिक पद-गान कर रहे हैं। संगीत की मोहक लहरियों से वायुमण्डल रस-सिक्त है।)

रसिक—

आज नीकी बनी राधिका नागरी।
व्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई,
सील सिंगार गुन सबनि तें आगरी ॥
कमल दक्षिण भुजा वाम भुज अंस सखि,
गावती सरस मिल मधुर सुर राग री।
सकल विद्या विदित रहसि हरिवंश हित,
मिलत नव-कुञ्ज वर श्याम बड़ भाग री ॥

(गान के मध्य में एक व्यक्ति आकर रसिक के पीछे खड़ा हो जाता है और भाव-विभोर होकर सिर हिलाने लगता है।)

भगत— (दोहराता है) आहा, मिलत नव कुञ्ज वर श्याम बड़ भाग री।

रसिक— (चौंककर) कौन ? ओहो, भगतजी, बहुत दिनन में दिखाई दिये।

भगत— हाँ, महाराजजी, मैं अपने गाँव चल्यौ गयौ हौ। आज तौ महाराज बड़ौ सुख मिल्यौ।

रसिक— भैया, ये तौ रसिक महानुभावन की वाणी कौ प्रताप है। ये बताऔ कि गाँव में समय कैसे बिताते हे ?

भगत— महाराज, इन्हीं रसिकन की वाणी कौ सहारौ हुतौ। व्रजवासी तौ इन कूं गाय कैं ही दुस्तर भवसागर कूँ पार करैं हैं। महाराज, श्रीहित हरिवंशजी कौ एक पद और सुनायवे की कृपा करौ।

रसिक— सुनों भगतजी, मोकूं यह पद बहुत अच्छौ लगै है।

(गाता है)

पद—

सुन मेरौ वचन छबीली राधा ।
तैं पायौ रस सिन्धु अगाधा ।।

तू वृषभानु गोप की बेटी, मोहन लाल रसिक हँसि भेटी ।
जाहि विरञ्चि उमापति नाये, तापै तैं वनफूल बिनाये ।।
जो रस नेति-नेति श्रुति भाख्यौ, ताकौ तैं अधर सुधारस चाख्यौ ।
तेरौ रूप कहत नहिं आवै, हित हरिवंश कछुक जस गावै ।।

भगत— वाह महाराज, आनन्द आय गयौ । श्रीराधा के अनिर्वचनीय रूप कौ अति सीधौ सादौ वरनन है और तामें कितनौ दुलार और अपनपौ भर रह्यौ है । महाराज, इन महाप्रभु के जीवन की कोई कथा सुनाऔ तौ बड़ी दया होय ।

रसिक— अच्छौ, तो सुनौं भगतजी, सुनाऊँ हूँ । श्रीहित हरिवंशजी मूल में देवबन्द के निवासी हे और ३२ बरस की आयु में वृन्दावन आये हे ।

भगत— तौ महाराज ये तौ वहाँ भी भक्ति कौ प्रकाश करते होंगे ?

रसिक— हाँ, ये छोटेपन ते ही श्रीराधा के अनन्य भक्त हे ।

भगत— और पद रचना हू करत होंगे ?

रसिक— जरूर करत होंगे । जब ये वृन्दावन में रहन लगे तौ अनेक लोग इनके शिष्य बन गये ।

भगत— हाँ महाराज, इनके तौ दर्शन ते ही कल्यान ह्वै जातौ होयगौ ।

रसिक— ठीक कह रहे हौ भगतजी ! ये अवतारी पुरुष हे और या पृथ्वी पै श्रीराधा नाम फैलायवे कूँ आये हे । वा समय अनेक महानुभाव श्रीकृष्ण प्रेम कौ प्रचार कर रहे हे । याहीं तें श्रीहित हरिवंशजी नें सबन कूँ सुनाय कें यह पद गायौ हौ—

रहौ कोउ काहू मनहिं दिये ।
मेरे प्राननाथ श्रीश्यामा सपथ करौं तृन छिये ।।

भगत— साँची बात तौ ये है महाराज कै, श्रीराधा के बिना या ब्रजमण्डल की महिमा आधी रह जाती । पर महाराज, एक बात समझ में नाँय आवै है ।

रसिक— कौन सी बात भगतजी ?

भगत— मैंने आप जैसे रसिकन तेई सुनी है कि श्रीहित हरिवंशजी वृन्दावन ते कभी बाहर नाँय गये ।

रसिक— ये तौ साँची बात है। व्रज में हूं खाली राधाकुण्ड में उनकी बैठक मिलै है।

भगत— तौ फिर महाराज उननै वृन्दावन में बैठे-बैठे श्रीराधा नाम कौ इतनों प्रचार कैसे कर दियौ ?

रसिक — येतौ अभी मैंने तुमते कही न भगतजी, कं अनेक बड़े-बड़े भगत वृन्दावन में श्रीहित हरिवंशजी के सिष्य होइ गए और इन्हीं लोगन नें बाहर घूम-घूम कें श्रीराधा नाम कौ प्रकाश कियौ।

भगत— तौ महाराज, श्रीहित हरिवंशजी ने कोई सिद्धान्त-ग्रन्थ लिख्यौ होयगौ, नहीं तौ वे भगत लोग प्रचार कैसें कर लेते ?

रसिक — ये काम तौ श्रीहितजी के पद करत हुते। भगत लोग बाहर जाय कें इन पदन कौ गान करते और उनकूं सुन कें संस्कारी लोग घर बार छोड़ कें वृन्दावन की ओर दौड़ पड़ते।

भगत— या प्रकार तौ अनेक महानुभाव वृन्दावन आये होंगे ?

रसिक— सोई सुनाऊं हूँ। श्रीहित हरिवंशजी के एक शिष्य हुते नवलदासजी। एक बार वे बिचरत भये बुन्देलखण्ड की ओड़छा राजधानी में पहुँच गये।

भगत— अच्छौ ! बड़ी दूर पहुँचे ?

रसिक— वे का दूर पहुँचे। श्रीहित हरिवंशजी के एक दूसरे शिष्य पूरनदास सिन्ध की राजधानी ठठ्ठा में पहुँच गए और वहाँ राजा परमानन्ददास कूँ पद सुनाय कें कृतार्थ कियौ और फिर श्रीहित जू नें उनकूँ स्वप्न में मन्त्र देकें अपनाय लियौ।

भगत— ये तौ और हू आश्चर्य की बात भई।

रसिक— हाँ तौ, जब नवलदास ओड़छा पहुँचे तौ वहाँ के राजा के गुरु श्रीहरिराम व्यास कौ यश चारों ओर छाय रह्यौ हौ।

भगत— वे बड़े विद्वान होंगे, महाराज ?

रसिक— हाँ जी, वे काशी जीत कें आये हुते और राजा उनकौ बहुत अधिक मान करत हुतौ। पर वे अपने मन में दुखी रहते, उनकी विद्या और वैभव उनकूँ धूर के समान लगते।

भगत— ऐसी क्यों महाराज ?

रसिक— भगतजी, श्रीव्यासजी बहुत ऊँची कोटि के महापुरुष हुते। उननें सब शास्त्र टटोल कें देख लिये किन्तु कोई को गाँठ में वह वस्तु न हती जो वे चाहत हुते।

भगत— अच्छौ, तौ उनकी इच्छा का लैबे की ही ?

रसिक— वे रसघन मोहन मूर्ति श्रीश्यामाश्याम के चरनन की रति चाहत हुते।

भगत— अब समुझ्यौ महाराज, ये चीज तौ ब्रज की रज में ही मिल सकै।

रसिक— हाँ, तौ जब नवलदासजी ओड़छा पहुँचे तौ व्यासजी के चित्त की येई स्थिति चलत हुती और वे दुविधा में परे रहते।

भगत— फिर कहा भयौ, महाराज ?

रसिक— नवलदासजी नें ओड़छा में गाँव ते बाहर एकान्त जगह देख कें वहाँ अपनौं आसन लगाय दियौ और सेवा-पूजा, कथा-कीर्तन करन लगे। धीरे-धीरे अनेक भक्त लोग उनके सत्संग में आयबे लगे।

भगत— ये तौ महाराज जब कुआँ ही घर के द्वार पै आय गयौ तौ प्यासौ कौन रहतौ ?

रसिक— जब व्यासजी नें नवल बैरागी की चर्चा सारे गाँव में सुनी तौ एक दिन वेऊ अपने राजगुरु पने कौ अभिमान छोड़ कै उनते मिले।

भगत— धन्य है, बड़ेन की सब बात बड़ी होंय हैं।

रसिक— नवलदासजी कौ अद्भुत प्रेम-भाव और वैराग देखकें श्रीव्यासजी के तन-मन में आनन्द छाय गयौ। थोड़ो सत्संग करिवे के बाद नवलदास नें श्रीहितजी कौ एक पद उनकूं गाय कैं सुनायौ।

भगत— (उत्सुकतापूर्वक) कौन सौ पद महाराज ? कृपा करकैं ताहि सुनाय देओ।

रसिक— ऐसौ लगै कि दोनों भक्त सबेरे के समय मिले हुते, यातें नवलदासजी ने श्यामा-श्याम की प्रातःकालीन छबि कौ पद गायौ हुतौ।

सुनौ—

आज अति राजत दम्पति भोर।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि-नवल किशोर।।
अंसनि पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन विवि ओर।
करत पान रस मत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर।।
छूटी लटन लाल मन करष्यौ ये याके चितचोर।
परिरंभन चुम्बन मिल गावत सुर मंदर कल घोर।।
पग डगमगत चलत वन विहरत रुचिर-कुंज घन खोर।
हित हरिवंश लाल-ललना मिल हियो सिरावत मोर।।

भगत— (भाव विभोर होकर) ये तौ बड़ौ विचित्र पद है महाराज। जब मेरे जैसे अधम जीव कूँ या पद ने विचलित कर दियौ तौ व्यासजी की कहा दशा भई होयगी !

रसिक— दसा कहा भई भगतजी, व्यासजी तौ पद के भाव में पूरे-पूरे डूब गये और उन्मत्त होइकें बार-बार बोलन लगे, 'हित हरिवंश लाल ललना मिल हियौ सिरावत मोर।' हित हरिवंश लाल ललना।

भगत— जा तुक में ऐसी का बात है महाराज ?

रसिक— हाँ भैया, या तुक कूं सुनिकें व्यासजी कौ मन उनते पूछन लग्यौ कि ये कौन से रसिक महानुभाव हैं जिनके हृदय कूँ सीतल करिबे के हेतही लाल ललना श्रीश्यामा-श्याम रस बिलास करत रहैं हैं। ये तौ फिर उनते हू बड़े भये न और राधा श्यामसुन्दर इनके प्रेम के खिलौना भये न ?

भगत— धन्य है, रसिकन की बात रसिक ही समुझ सकै हैं। फिर कहा भयौ महाराज ?

रसिक— व्यासजी कूँ या प्रकार विकल देखिकै नवलदासजी नें उन्हें धीरज बँधाय कैं श्रीहित हरिवंशजी की रस-रीति समझाई और वृन्दावन जायकें उनते ही दीक्षा लेने की सलाह दीनी।

भगत— ये तो नवलदास जी नें बड़ौ उपकार कियौ।

रसिक— हां, श्रीव्यासजी तुरन्त वृन्दावन जायवे कूँ तैयार होइ गये और नवलदास कूँ संग लै कछू दिनन में ही वृन्दावन की सीमा पै जाय पहुँचे।

(फ्लेश)

(दृश्यान्तर)

(वृन्दावन की सीमा के निकट एक बैल गाड़ी में व्यास जी और नवलदासजी बैठे हैं। गाड़ी में बहुत-सी पोथियाँ लद रही हैं और वह वृन्दावन की ओर बढ़ रही है। बैलों के गले की घण्टियाँ बज रही हैं।)

व्यासजी– अब वृन्दावन कितनी दूर है, नवलदासजी ?

नवलदास–अब तौ आय पहुँचे व्यासजी, थोड़ी देर में जमना तट दीखन लगैगौ।

व्यासजी– (चारों ओर देखकर) या प्रदेश की भूमि तौ बड़ी ऊंची-नीची दीख रही है। ओरे गाड़ी वारे, सँभाल कैं हाँक रे, गाड़ी में भार ज्यादा लद रह्यौ है।

गाड़ीवाला–खूब ध्यान रख रह्यौं हूँ महाराज। तिक, तिक, तिक—बच, बच, बच, बड़ी बुरी जगह आये हजूर। ह्याँ तौ कहूँ गड़लीक हू नाँय दीसै है।

नवलदास—(चिल्लाकर) बचा रे बचा, गाड़ी औंधी भई जाय है। धत्ते रे को ! ये तौ तैनें गाड़ी कूँ गड्ढे में फंसाय दीनी। अब कैसे निकसैगी ?

गाड़ीवाला—(बैलों को रोकते हुए) हौ-हौ-हौ, अरी बधिया तेरौ नास जाय। कूद परौ हजूर। इन पोथीन कूँ सँभारौ सरकार। (कई बस्ते गढ़े में गिर जाते हैं)

व्यासजी— अरे मूरख, ये तैनें कहा कियौ ! मेरी पोथीन कूँ गड्ढे में डार दीनी, तोहि दिन में हू नाँय सूझै का ?

गाड़ीवाला—(गाड़ी को गढ़े में से निकालते हुए) कहा करूँ हजूर, ये भूमि ही ऐसी है। लीक नहीं, दगरौ नहीं, एक ओर गड्ढौ, दूसरी ओर झाड़ी, तामें मेरे बैल नये। (बस्तों को उठाकर गाड़ी में रखता है) बैठौ हजूर।

व्यासजी— (बैठकर बस्ते सँभालते हैं) इन बस्तान में कई दर्शन बँध रहे हैं, सबकौ चूरन है गयौ होयगौ। बड़े गँवार ते काम परयौ।

नवलदास—व्यास जी, ये लोग तौ गँवार हौंहि ही हैं। पर मैं आपते एक बात कई दिनन तै पूछनों चाहतौ हौ।

व्यासजी— पूछौ नवलदासजी !

नवलदास—मैं ये पूछूँ हूँ व्यासजी कि आप इतनो पोथीन कूं अपने संग क्यों लादें चल रहे हौ। आप काशी कूँ तौ जीत चुके हौ। या वन में तौ रसिक महानुभावन कौ निवास है और ये सब अपने कूँ तृण ते हू नीचौ मानैं हैं।

व्यासजी— ये तौ मैं समझूँ हूँ, नवलदासजी। तुमने ओड़छा में हितजी कौ पद सुनाय कें मेरे हृदय कूँ तौ प्रकाशित कर दियौ। पर अभी बुद्धि जा बात कूँ मानवे कूँ तैयार नाँय होय है और बुद्धि तो चर्चा करिकें ही शान्त होयगी।

नवलदास—पर महाराज, श्रीगुरुदेव कौं काहू विवाद में डालनौ तौ मोय सम्भव नाँय लगै है।

व्यासजी— (हँसकर) ये तौ अपनौ काम है। मैंने सुन राखी है कि श्रीहितजी महाराज संस्कृत के बड़े ऊँचे विद्वान हैं और कोई विद्वान चर्चा छिड़ जायबे पै चुप नाँय रह सकै। आज आप जा बात कूँ समझ जाओगे।

नवलदास—(मुसकराकर) श्रीराधे-श्रीराधे, अरे गाड़ी वारे, ये जो सामनै ऊँची ठौर दीसै है ताके नीचे गाड़ी कूँ लगाय दै।

गाड़ीवाला—अच्छौ हजूर, जान बची, हो, हौ-हौ, (गाड़ी को रोकता है)

नवलदास—उतरौ व्यासजी, या टेकरी के ऊपर ही श्रीगुरुराज विराजे हैं।

व्यासजी—(उतरकर) अरे गाड़ी वारे, इन पोथीन कूँ सँभार कें ऊपर पहुँचइयो, देख गमारपनौ मत करियौ।

नवलदास–अभी आप अकेले ही पधारौ। पोथीन की जरूरत होयगी तौ मैं आयकें लिवाय लै जाऊँगौ।

(दोनों टेकरी पर चढ़ने लगते हैं। ऊपर से संगीत की अस्पष्ट ध्वनि आ रही है)

व्यासजी– ये तौ अपन अच्छे मौके तें आय पहुँचे। ऊपर मन्दिर में पद-गान है रह्यौ है और तुम्हारे गुरुदेव भी समाज में विराज रहे होंगे।

नवलदास–ना महाराज, ये सिंगार आरती पीछे कौ समाज है रह्यौ है और या समय गुरुदेव ठाकुरजी के लिए भोग-सामग्री तैयार करें हैं।

व्यासजी– वाह, ये कैसी बात है ? तुम तौ कहत हुते कि उनकी पत्नी हूँ साथ में हैं, फिर स्वयं क्यों भोग बनावैं ?

नवलदास–महाराज, येई तौ गुरुदेव की विशेषता है। ठाकुरजी की छोटी बड़ी सब सेवा वे अपने हाथ ते ही करै हैं। अब तौ हम लोगन कूँ कछू देर प्रतीक्षा करनी परैगी।

व्यासजी—प्रतीक्षा मोपै न बनैगी। तुम जायकें खबर कर देओ कि ओड़छा के राजगुरु हरीराम व्यास याही समय आपतें मिलनौ चाहैं हैं।

नवलदास–जब आप ठहर ही नाँय सकौ तौ खबर का करनी है, पधारौ। (दोनों मन्दिर के बगल वाले कक्ष में पहुँचते हैं जहाँ श्रीहित जी रसोई बना रहे हैं। चूल्हे पर दाल की तपेली चढ़ रही है।)

श्रीहितजी—ओहो, आओ नवलदास, तुमतौ बुन्देलखण्ड गये हुते न ?

नवलदास–हाँ कृपानाथ, मैं वहीं तें आय रह्यौ हूँ, और मेरे संग ओड़छा के राजगुरु पधारे हैं। ये आपतें कछु चर्चा करनौं चाहैं हैं।

श्रीहितजी–भलें। तुम इनकूँ श्रीजी के दर्शन कराऔ और मैं तब तक अमनियाँ तैयार कर लऊँ। राजभोग कौ समय निकट है।

व्यासजी– श्रीमहाराज, मोकूँ आपके दरसन तें बड़ौ सुख मिल्यौ है। नवलदासजी के मुख तें आपकौ एक पद सुनकें मेरौ मन या ओर लरज्यौ है, पर मेरे मन में कई संकायें शेष हैं, उनकौ समाधान मैं याही समय करचौ चाहूँ हूँ।

श्रीहितजी–अच्छौ ! तौ मैं या तपेली कूं उतार कै आँच बुझाये दऊँ हूँ, फिर आपते बात करूँगौ।

(तपेली उतार कर आँच पर पानी डाल देते हैं)

व्यासजी– ये आपनें कहा कियौ महाराज ! आप मोते बात करत भये थोड़ौ ध्यान तपेली की ओर राख सकत हुते। महाराज, बात तौ मुख तें करी जाय है और भोग-सामग्री हाथन ते बनें है।

श्रीहितजी–आप अपनी दृष्टि ते ठीक ही कह रहे हौ व्यासजी ! पर मैं तौ ये मानूँ हूँ कि कोई काम पूरौ मन लगाये बिना सिद्ध नाँय होय है। ये तौ प्रभु की सेवा कौ काम हुतौ, ब्यौहार के काम में हू याही रीति सों सफलता मिलै है।

व्यासजी– पर महाराज ....

श्रीहितजी–सुनौ व्यासजी मैं तुम्हें एक पद सुनाऊँ हूँ। वाहि एकाग्र मन तें सुनौ और अर्थ कौ विचार करौ।

व्यसजी—सुनाऔ कृपानाथ ! आज मेरे संसयन के उच्छेद कौ समय आय गयौ लगै है।

श्रीहितजी–(गाकर) "यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनें सचु पायौ।"
(अर्थ करते हैं) या एक मन कूँ अनेक स्थान में लगाय कै कौन कूँ सुख मिल्यौ है।

श्रीहितजी–"जहं-तहँ विपत जार जुवती लौं प्रगट पिंगला गायौ।"

व्यासजी– धन्य है महाराज, मैंने श्रीमद् भागवत में पिंगला उपाख्यान बाँच्यौ है। वेश्या कूँ अनेक लोगन ते प्रीत करवे के कारन ही कष्ट होय है।

श्रीहितजी–दूसरौ उदाहरण सुनौं व्यास जी—

द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।

व्यासजी—वाह, दो घोड़न पै जबर्दस्ती चढ़िकें कौन दौड़ सक्यौ है।

श्रीहित जी–अब तीसरौ उदाहरण दै हैं—

कहि धौं कौंन अङ्क पै राखै जो गणिका सुत जायौ।

व्यासजी– साँची बात है, गणिका के—वेश्या—के—पुत्र कूँ कौन अपनौं बताय सकै है ? जब मन चारों ओर भटकतौ डोलै तौ कहूँ कौ नाँय रहै। कृपानाथ, अब तौ ये बताय देओ कि या मन कूँ एकान्त भाव सूँ कहाँ लगायौ चहिये ?

श्रीहितजी–'हित हरिवंश प्रपञ्च बंच सब काल व्याल कौ खायौ।'

व्यासजी—ठीक बात है, यह सब प्रपञ्च तौ जीव के ठगबे कूँ हैं और नस्वर हैं। यहाँ तौ कोई समझदार आदमी अपनौं पूरौ मन लगाय नाँय सकै है। फिर याकूँ कहाँ लगानौं चहिये ?

श्रीहितजी– 'यह जिय जानि श्याम-श्यामा पद कमल संगी सिर नायौ।'

व्यासजी—या बात कूँ समझ कैं श्याम-श्यामा के चरण कमलन कौ रात-दिन सङ्ग करिबे बारे रसिक भक्तन कूं मैं प्रणाम करूँ हूँ। याकौ कहा अर्थ भयौ गुरुदेव ?

श्रीहितजी-याकौ जेई अर्थ है व्यासजी, कि या एक मन कूं सब जगह तें हटाय के एक-मात्र रसिक भक्तन के चरनन में लगाय दैनों चहिए, तौ ये शाश्वत सुख कूं प्राप्त कर लेगौ।

व्यासजी श्याम-श्यामा के चरनन में या मन कूं न लगाय कें उनके भक्तन के चरनन में लगानौ चहिये, ये बात मेरी समझ में अच्छीं तरह नाँय आई।

श्रीहितजी-(मुसकाकर) व्यासजी, तुमतौ विद्वान् हौ सब शास्त्रन कूं जानिवे वारे हौ। भगवान् हैं, या बात कूं निर्विवाद रूप तें सिद्ध करिवे वारौ कोई ग्रन्थ तुमने देख्यौ है ?

व्यासजी- ना महाराज, ऐसो ग्रन्थ ही तौ मैं देखनौ चाहूँ हूँ, येई तौ मेरे मनमें संसय है और याही के लिए मैं देश-विदेश में भटकतौ रह्यौ हूँ।

श्रीहितजी-ऐसौ ग्रन्थ न कभी रच्यौ गयौ और न रच्यौ जायगौ। भगवान् मन और वाणी तें परे हैं और ये सबरे ग्रन्थ मन वाणी कौ ही विलास हैं। इनते कारज नाँय सरैगौ। भौत तें भौत ये भगवान् की सत्ता की ओर संकेत कर सकें हैं, वाहि प्रमाणित नांय कर सकें।

व्यासजी- तौ फिर ये प्रमाणित कैसे होय है, महाराज ?

श्रीहितजी-भगवान् हैं, या बात कूँ प्रत्यक्ष रूप तें प्रमाणित करिवे बारे उनके एकान्त भक्तगण हैं। ऐसे भक्त ही भगवान् के प्रगट प्रमाण होंय हैं और उन्हीं में भगवान् की मनोहारिणी छबि के दरसन होंय हैं। याही तें मैंने श्यामा-श्याम कूं प्रणाम न करिकैं या पद में उनके रसिक भक्तन कूं नमस्कार कियौ है।

व्यासजी- धन्य है महाराज, आज मेरे सब सन्देह दूर है गये। अब जीवन भर भक्तगण ही मेरे इष्ट रहेंगे।

नवलदासजी—साधु-साधु !

व्यासजी - नवलदासजी, ये सब आपकी कृपा कौ ही परसाद है कि गुरुदेव के दरसन मिल गये हैं। अब एक ही काम बाकी रह गयौ है। वा गाड़ी वारे तैं गाड़ी कूं जमना तट पै लै जायवे कूँ कह दें।

नवलदासजी-बु देखौ व्यासजी, गाड़ी जमना तट पै ही खड़ी है। गाड़ी वारौ बैलन कूँ जल पिवाय रह्यौ है।

व्यासजी- तब तौ काम बन गयौ। क्षमा करें गुरुदेव ! मैं अभी आऊँ हूँ।

नवलदासजी–कृपानाथ, व्यासजी इतनी जल्दी बदल जायेंगे, यह मोय आसा नाँय ही। आपके दरसन करने के थोड़े क्षण पहले ही वे शास्त्रार्थ करने की तयारी कर रहे हुते।

श्रीहितजी– (हँसकर) उननें हमकूँ भी तौ विवाद में डारनौं चाह्यौ हतौ। पर नवलदास, व्यासजी बहुत संस्कारी पुरुष हैं और उनते या वन की सोभा में और महिमा में वृद्धि होयगी। तुम समझे कै व्यासजी या समय कहाँ गये हैं?

नवलदासजी–ना महाराज, मैं आपते पूछन चाहत हुतौ।

श्रीहितजी– वे अपनी सब पोथिन कूँ जमनाजी के अर्पन करन गये हैं।

नवलदासजी–(चौंककर) ऐं! जाकी का जरूरत हुती? पोथी और काहू के काम आय जातीं।

श्रीहितजी– ये तौ ठीक है, किन्तु व्यासजी कौ सुभाव ही ऐसौ है कि वे जो कहैं हैं वाके अनुकूल ही आचरण करैं हैं। इनकी कहनी और करनी में कभी अन्तर नाँय परैगौ।

[पोथियों को पानी में फेंकने का शब्द सुनाई पड़ता है]

नवलदासजी–सुनिये कृपानाथ, व्यासजी पोथीन कूँ जमनाजी में फेंक रहे हैं।

श्रीहितजी– धन्य हो व्यासजी।

[दृश्यान्तर]

रसिक— ये सब देख-सुनिकें कहा समझे भगतजी?

भगत— महाराज यामें समझवे की तौ भौत-भौत बात हैं और मेरे मन के अनेक संसय आज दूर है गये हैं। पर जा बिरियाँ मैं एक बात विचारत हुतौ।

रसिक— कहा भगतजी?

भगत— मैं ये सोच रह्यौ हूँ महाराज कै ब्रज की अद्भुत रस-रीति और ह्याँ के अनुपम प्रेम-प्यार कूँ समझबे के लियें ह्याँ के बड़े-बड़े रसिक महानुभावन के पद ही एक मात्र अवलम्ब हैं, ये बात और कहूँ नाँय मिल सकै है। व्यासजी नें बड़ी समझदारी दिखायी जो अपनी सब पोथीन कूँ जमना में बहाय दीनी।

रसिक— ठीक समझे हौ भगतजी, इन पदन नें ही व्रजभूमि कूँ हरी-भरी बनाय राखी है और इनकूँ श्रवण करिकें आज हू अनेक संतप्त मन सीतल ह्वै रहे हैं। अब चलनौं चहिये भगतजी, सेवा कौ समय है गयौ।

भगत— हाँ महाराज, पर श्रीहितजी कौ एक पद और सुनायबे की कृपा करें। आपकूँ कष्ट तौ होयगौ।

रसिक— ना भगतजी, ये तौ बड़े सुख कौ काम है, सुनौं। (गाता है)

बनी वृषभानुनन्दिनी आज ।
भूषन वसन विविध पहिरे तन पिय मोहन हित साज ।।
हाव-भाव लावण्य भृकुटि लट हरत जुवति जन पाज ।
ताल भेद औघर सुर सूचत नूपुर किंकिन बाज ।।
नव निकुञ्ज अभिराम श्याम संग नीकौ बन्यौ समाज ।
जय श्रीहित हरिवंश विलास रासजुत जोरी अविचल राज ।।

भगत— धन्य है, धन्य है।

एकाङ्की नाटक—

अनन्य निष्ठा

प्रथम दृश्य

(वृन्दावन में यमुनाजी के तट पर नाहरमलजी रेती में बैठे हैं। उनकी अवस्था ३५ वर्ष के लगभग है। वे अत्यन्त खिन्न, कृशकाय और अस्तव्यस्त दिखलाई दे रहे हैं और शून्य दृष्टि से यमुनाजी की ओर देख रहे हैं। ठहर-ठहर कर वे विह्वल हो उठते हैं और उनकी आँखें भीग जाती हैं)

(पीछे की ओर से बीठलदासजी का प्रवेश। उनकी अवस्था ४० वर्ष के लगभग है। उनका वर्ण श्याम और शरीर पुष्ट है। वे चिन्तित दिखलाई दे रहे हैं)

बीठलदास- (धीरे से) नाहरमल-नाहरमल ! (नाहरमल कोई उत्तर नहीं देते) (ऊँचे स्वर में) यह कौन बैठा है ? नाहरमल !

नाहरमल—(चौंककर खड़े हो जाते हैं) कौन ? भाई साहब (बीठलदासजी के चरण स्पर्श करते हैं)

बीठलवास- (साश्चर्य) नाहरमल ! यह तुमको क्या हो गया है ? तुम इतने दुर्बल और दुखी क्यों दीख रहे हो ?

[नाहरमल गर्दन झुकाये चुप रहते हैं]

बीठलदास- (साग्रह) बोलो भाई, आनन्दघन श्रीवृन्दावन में शोक-संताप प्रवेश नहीं पाते। यहाँ तुम इतने कष्टातुर कैसे बन रहे हो ?

नाहरमल- (धीरे-धीरे) क्या बताऊँ भाई साहब ? भाग्यहीन को कल्पवृक्ष के नीचे भी कष्ट ही मिलता है। (सहसा विह्वल होकर अपना मुँह दोनों हाथों से

ढँक लेते हैं) मैं महा अधम हूँ। आप मेरा मुख न देखें, आपका भजन-तेज नष्ट हो जायगा।

(बीठलदासजी से दूर हटकर अधोमुख खड़े हो जाते हैं)

बीठलदास–(निकट जाकर नाहरमलजी के कन्धे पर हाथ रख देते हैं, सस्नेह) तुम कैसी बातें कर रहे हो, नाहरमल। तुम कई दिन से कुटिया पर भी नहीं पहुँचे। मालूम होता है, तुमने कई दिन से भोजन भी नहीं किया। आज अनायास तुम यहाँ मिले हो तो इस दशा में! बताओ तो तुम इतने दिनों से कहाँ थे और इतने दुखी क्यों हो?

नाहरमल—(थके हुये स्वर में) भाई साहब, मैं जब से आया हूँ यहीं हूँ, किन्तु ...। (थोड़ी देर ठहर कर विह्वलतापूर्वक) श्रीगुरुदेव श्रीगुरुदेव!

बीठलदास–(चौंककर) तो क्या तुम से गुरुदेव का कोई अपराध बन गया है? (नाहरमल चुप रहते हैं) किन्तु यह सम्भव कैसे हुआ? तुम्हारे ऊपर तो उनकी अनुपम कृपा है और तुम भी उनके चरणों में अगाध श्रद्धा-प्रेम रखते हो।

नाहरमल—(उसी स्वर में) आप ठीक कह रहे हैं, भाई साहब। गुरुदेव श्रीहरिवंशचन्द्र मूर्तिमान प्रेम हैं और मेरे प्रति उनका स्नेह भी अपार है, किन्तु मैं अपने भाग्य को क्या करूँ? पिछले वर्ष मैं जब श्रीवृन्दावन आया था तो एक दिन श्रीगुरुदेव को ढूँढ़ता हुआ उस जगह पहुँच गया जहाँ एकान्त स्थल में वे व्रजवासियों के बालकों को बाण चलाना सिखा रहे थे और आनन्दमग्न होकर उनके साथ क्रीड़ा कर रहे थे। मुझको देखकर वे संकोच में पड़ गये और अपनी क्रीड़ा बन्द कर दी। उस समय मैं आत्म-ग्लानि से झुलस गया था।

बीठलदास–(मुसकराकर) किन्तु इस घटना के दो-चार दिन बाद ही तो श्रीगुरुदेव तुमको मानसरोवर ले गये थे और वहाँ अनायास तुमको दिव्य सहचरी रूप के दर्शन कराकर अत्यन्त शीतल भी तो कर दिया था।

नाहरमल–(रूखी हँसी हंस कर) उनकी इस प्रकार की अहैतुक कृपाओं के कारण ही तो मैं इस बार ऐसा दुःसाहस कर बैठा जिसके कारण मैं आज इस दशा को प्राप्त हो रहा हूँ। (विह्वल होकर) श्रीगुरु श्रीगुरु ...... !

बीठलदास–(सस्नेह) अधीर मत बनो, नाहरमल। तुम इतने बड़े पद पर काम करते हो और कठिन से कठिन परिस्थिति में भी विचलित नहीं होते तो आज इतने विह्वल क्यों बने जा रहे हो? तुम मुझे सारी घटना बताओ। मैं सुनूँ तो सही कि तुम से ऐसा क्या अपराध बन गया है?

नाहरमल—(थकित स्वर में) ऐसा अपराध ? भाई साहब, गुरुदेव ने मेरा त्याग कर दिया है और (दृढ़तापूर्वक) मैंने भी यह निश्चय कर लिया है कि इस अधम शरीर का त्याग करके रहूँगा। यदि आप इस समय न आ गये होते तो मेरी यह दारुण वेदना अब तक शान्त हो गई होती और मैं श्रीयमुना की शीतल गोद में सो गया होता।

बीठलदास–(चिन्तित बनकर) यह तो कोई बड़ी गम्भीर बात मालूम देती है। (एक क्षण रुक कर) नाहरमल, तुम जानते हो कि गुरुदेव भगवद्द्वतार हैं और महापुरुषों का यह सामान्य लक्षण होता है कि वे एक साथ वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी मृदु होते हैं। तुम दुर्भाग्य से उनकी कठोरता से टकरा गये हो, किन्तु उनकी अपार मृदुता से भी तुम भली भाँति परिचित हो। तुम घबराओ नहीं और शीघ्र मुझे सारी घटना सुना दो।

नाहरमल—(धैर्य धारण करते हुए) भाई साहब, मैंने सोचा तो कुछ ओर था, किन्तु उसका परिणाम कुछ और ही निकला। इस बार जब मैं वृन्दावन आया तो मैंने सुना कि श्रीगुरुदेव श्रीजी की रसोई के लिये प्रतिदिन वन में से स्वयं लकड़ी बीन कर लाते हैं।

बीठलदास–यह तो वर्षों से उनका क्रम चला आ रहा है और इस सम्बन्ध में किसी का उनसे कुछ कहने का साहस नहीं होता।

नाहरमल—(दुखित होकर) वह साहस मैंने कर डाला ! मैं वन में उस स्थान पर पहुँच गया जहाँ श्रीगुरुदेव इंधन बीन कर अपने उत्तरीय में रख रहे थे। उनको यह कार्य करते देखकर मेरा हृदय काँप उठा और मैंने उनसे प्रार्थना की कि यह तो धीमर का काम है, आप आज्ञा दें तो कल से वह एक बँहगी ईंधन श्रीजी की रसोई के लिये नित्य पहुँचा दिया करेगा।

बीठलदास–(उत्सुकतापूर्वक) फिर-फिर क्या हुआ ?

नाहरमल–फिर तो मुझे ऐसा मालुम हुआ कि सारा आकाश अनन्त ग्रहों उपग्रहों के साथ टूटकर मेरे सिर पर गिर गया है ! श्रीगुरुदेव का सदैव प्रफुल्लित रहने वाला निसर्ग-सुन्दर मुख कमल एक बार तमतमाकर म्लान हो गया और उन्होंने अत्यन्त रूखेपन से मुझ से कई बातें कह दीं और अन्त में मेरा त्याग कर दिया। (विह्वल होकर) श्रीगुरु-श्रीगुरु !

बीठलदास–अब घबराने से कोई लाभ न होगा, नाहरमल ! पहिले मुझे श्रीगुरुदेव द्वारा कही गई बातें सुनाओ तब मैं उनके सन्तोष के लिये कोई उपाय सोच पाऊँगा।

नाहरमल—(कातरता से हाथ जोड़कर) भाई साहब, मुझे कुछ याद नहीं रहा है। केवल दो-एक बातें याद हैं और वे ही हृदय को विदीर्ण किये डाल रही हैं।

बीठलदास–जो याद रही हैं उन्हीं कूं धैर्य पूर्वक सुना दो, भाई !

नाहरमल– (सँभलकर) उन्होंने कहा कि जिस भक्ति को मैंने करोड़ों यत्न करके सन्तों के सङ्ग से पाया है, उसको तू छुड़ाने आया है। अरे मूर्ख ! जो लोग मन में कुछ कामना लेकर श्यामाश्याम की भक्ति करते हैं, उनको वे वरदान देकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं और विमलभक्ति नहीं देते। तू महारजोगुण लेकर श्रीवृन्दावन में आता है और मेरे सेवा-कार्य को धीमर का काम बतलाता है। यह तूने महा अपराध किया है। तू असाधु है और मेरे सामने से हटजा।

बीठलदास– (विचलित होकर) यह तो गजब हो गया, नाहरमल। श्रीगुरुदेव की मनोव्यथा को समझने के लिये मैंने तुमसे आग्रह पूर्वक यह बातें सुनी हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि तुम्हारे आचरण से श्रीगुरुदेव को मर्मान्तिक कष्ट हुआ है।

नाहरमल—(कातरतापूर्वक बीठलदास जी के पैर पकड़ लेते हैं) श्रीगुरुदेव प्रसन्न हो जांय, इसका कोई उपाय सोचिये, भाई साहब। अन्यथा मैं.... ....।

बीठलदास–(दृढ़तापूर्वक) इससे कुछ नहीं बनेगा, नाहरमल। तुम जानते हो कि श्रीगुरुदेव उपासना के मौलिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किसी भी स्थिति में किसी भी व्यक्ति के साथ समझौता करने को तैयार नहीं होते। इस दशा में प्रयास व्यर्थ है।

नाहरमल—(निराशा पूर्वक) तब तो मेरा कर्तव्य-पथ स्पष्ट है। (एक क्षण ठहर कर) किन्तु दुख इतना ही है कि यह जीवन श्रीगुरुदेव की अप्रसन्नता के साथ समाप्त हो रहा है।

बीठलदास–(गम्भीर होकर) यह तो ठीक है, भाई। श्रीगुरुदेव की अप्रसन्नता लेकर हम तीनों भाइयों में से कोई भी जीना नहीं चाहेगा किन्तु मुझे ऐसा लग रहा है कि किसी अज्ञात दिशा से तुमको सहायता मिल जायगी और तुम्हारी इस विकट समस्या का समाधान हो जायगा। अब तुम कुटिया पर चलो और श्रीजी का प्रसाद लेकर अपना अनशन समाप्त कर दो।

नाहरमल—(सूखी हँसी हँसकर) यह तो गुरुदेव की प्रसन्नता प्राप्त होने पर ही सम्भव है किन्तु मैं थोड़ी देर बाद कुटिया पर पहुँच जाऊँगा। आप तब तक अपना नित्य कर्म करलें।

[बीठलदास जी का चिन्तित मुद्रा में निष्क्रमण। नाहरमलजी वहीं बैठे रह जाते हैं]

द्वितीय दृश्य

(यमुना तट की ऊँची टेकरी पर श्रीराधावल्लभजी का लता-भवन। समय मध्याह्नोत्तर। मंदिर के पार्श्व में स्थित सघन वृक्ष के नीचे रज की वेदी पर श्रीहरिवंश

चन्द्र सिद्धासन में विराजमान हैं। उनके आकर्षक व्यक्तित्व की कमनीय गौर कान्ति चर्तुदिक फैल रही है और उनका मुखारविन्द मन्दमृदुस्मित से मंडित है। वे बैठे हुये भी काफी ऊँचे दिखलाई दे रहे हैं। उनके सामने बैठे हुए गाँगू, मेदा, रंगा आदि पार्षदगण निर्निमेष दृष्टि से उनकी ओर देख रहे हैं। एक ओर बीठलदासजी तथा अन्य कई लोग बैठे हैं)

श्रीहरिवंश–नाहरमल कूँ यहाँ से गये कई दिन होइ गये हैं। अब तो वे दिल्ली पहुँच गये होंइगे।

बीठलदास–हाँ, कृपानाथ ! उनके लिये बादशाह की ओर से सवारी आदि का ठीक प्रबन्ध हो गया था और उनको मार्ग में कोई कष्ट भी नहीं हुआ होगा।

श्रीहरिवंश--(हँसकर) नाहरमल जब-जब श्रीवृन्दावन आवैं हैं यहाँ अपनी थोड़ी-बहुत स्मृति छोड़ जाँय हैं।

रङ्ग— हाँ दीनबन्धु, अब की बेर तौ उननै हम सब सबन कूँ बड़ी चिन्ता में डार दिये। उनकी दीन दसा देखकै तौ श्रीवृन्दावन के लता, वृक्ष हू रौमन लगे हुते। हाँ कृपानाथ ! मोहि तौ उन दिनन में ऐसौ ही लागत हुतौ। एक ये बीठलदासजी ही धीरज राखें रहे और विचलित न भये।

बीठलदास--(मुसकराकर) रंगाजी, सच बात तो यह है कि मैं अन्दर से तो आप लोगों की तरह ही अधीर था, किन्तु यदि बाहर धैर्य प्रदर्शन करता तो नाहरमल श्रीगुरुदेव के हृदय में करुणा का उन्मेष होने से पूर्व ही अपने शरीर को नष्ट कर देते और इसमें तो सन्देह नहीं है कि इस बार उन्होंने बड़ी गलती कर डाली।

श्रीहरिवंश--तुम ठीक कह रहे हो, बीठलदास ! जिन लोगनते मैं आसा राखूँ हूँ कि मेरे पीछे या अनन्यधर्म की रक्षा करेंगे और यामें कोई प्रकार की मिलौंनी न होंन देंगे वे जब हम तेई वाकौ अतिक्रमण कराइबे कू तैयार होंइ तौ चित्त में निरासा और क्षोभ हौनों स्वाभाविक है।

बीठलदास--कृपानाथ, आपका आविर्भाव धर्म-संस्थापन के लिये हुआ है। हम क्षुद्र जीव इस बात को न समझकर अपनी मनमानी करने की चेष्टा करें तो हमें दण्ड मिलना ही चाहिए।

श्रीहरिवंश--तुम सब लोग जानौ हौ कि मेरे हृदय में श्रीजी की सेवा के प्रति कितनौ अधिक आग्रह है। हमने जिनकूँ अपने तन-मन-प्रान अर्पित करि राखे हैं उनकी टहल भाड़े के आदमीन ते कराइबे में कहा तौ दासता रही और कहा सेवा कौ सुख मिल्यौ।

(एक भृत्य का प्रवेश)

भृत्य— बीठलदासजी, दो घुड़सवार बादशाह कौ परवानौ लै कै आये हैं और आपसूं मिल्यौ चाहैं हैं।

बीठलदास--[चौंककर] बादशाह का परवाना ! वे लोग हिन्दू हैं या मुसलमान ?

भृत्य— दोऊ हिन्दू ही लगें हैं।

बीठलदास--(श्रीहिताचार्य से) यदि आज्ञा हो तो दोनों को यहीं बुला लूं।

श्रीहरिवंश--जैसी तुम्हारी इच्छा।

बीठलदास--[भृत्य से] उनको यहीं ले आओ [भृत्य जाता है] श्रीहिताचार्य से यह श्रीजी की क्या लीला हो रही है, कृपानाथ ! कहीं मेरा श्रीवृन्दावन वास तो नहीं छूट जायगा ?

श्रीहरिवंश--मुसकराकर] घबराओ मत, बीठलदास। श्रीजी की इच्छा में आगे-पीछे सदेव जीव कौ कल्यान ही रहै है।

बीठलदास--इस बात का तो मुझे आपकी कृपा से दृढ़ विश्वास है दीनबन्धु किन्तु न जाने किस कृपा के बल से मुझे इन चरणों का सान्निध्य मिल गया है और वह जीवन के अन्तिम क्षण तक बना रहे, यही एक अभिलाषा मन में बसी है।

[भृत्य के साथ दोनों घुड़सवारों का प्रवेश दोनों श्रीहिताचार्य के चरणों में प्रणाम करके एक ओर अदब से खड़े हो जाते हैं।]

बीठलदास--[घुड़सवारों से] कोई पत्र लाये हो, भाई ?

एक घुड़सवार--(आगे आकर परवाना निकालता है) हाँ हम लोग दिल्ली से आये हैं। बादशाह सलामत ने बीठलदास जी के नाम यह परवाना भेजा है।

बीठलदास--मेरा ही नाम बीठलदास है, लाओ। (घुड़सवारों से परवाना लेकर पढ़ते हैं) तुम लोग मेरी कुटिया पर आराम करो। मैं थोड़ी देर बाद वहाँ आकर इसका जबाब लिख दूंगा।

घुड़सवार—जो आज्ञा।

(घुड़सवारों का भृत्य के साथ प्रस्थान)

बीठलदासजी अत्यन्त खिन्न होकर परवाने की ओर देखते रहते हैं)

श्रीहरिवंश--जा बात कौ भय मानत हुते का सोई सामने आइ गई ?

बीठलदास--(खिन्नतापूर्वक) हाँ, कृपानाथ। बादशाह ने काठिया बाड़ के जूनागढ़ राज्य में अपना सूबा कायम किया है और मुझे उनके प्रधानमन्त्री पद नियुक्त किया है। किन्तु मैं इतनी दूर जाने को तैयार नहीं हूँ। वहाँ तो श्रीवृन्दावन की पवन भी नहीं लगेगी।

मेदा— पर बीठलदास जी मेरी समझ में तौ आपकू जि नौकरी कर लेनी चाहिए। आपके श्रीवृन्दावन वास करवे ते आपके गृहस्थ की हालत बहुत बिगर गई

है और आपके मैयन कूं बाकौ भार उठानौ पड़ रह्यौ है। आप तौ बुद्धिमना हौ। मैं तौ गँवार आदमी हूँ, आपते अधिक कहा कहूँ।

बीठलदास–आप ठीक कह रहे हो, मेदाजी। बाल-बच्चे और धनधाम तो मुझे प्रत्येक जन्म में मिलते ही रहेंगे किन्तु इन चरण-कमलों के निकट रहकर श्रीवृन्दावन का वास मिलना नितान्त असंभव है। अब आप ही बताओ इस लगे हुए दाव को हाथ से कैसे निकल जाने दूं?

मेदा— पर जि आपने कैसे जानी कि दाव उचट जायगौ?

बीठलदास–यह तो आँखों से साफ दिखलाई दे रहा है। कहाँ श्रीवृन्दावन और कहाँ जूनागढ़।

मेदा— पर, छिमा करियौं, आँखिन ते जो दिखाई देय है बुई सब कछू नाँय होय है और दाब कौ लगनौ-उचटनौ तौ श्रीगुरुदेव के हाथ की बात है न? इनकी कृपा ते जूनागढ़ हू वृन्दावन बन सकै है।

बीठलदास–(निरुत्तर होकर) तब तो ठीक है। मैं इस समस्या को श्रीगुरुचरणों में अर्पित किये देता हूं। आप जैसी आज्ञा दंगे वैसा ही करूँगा। (श्रीहिताचार्य से) आज्ञा करें कृपानाथ।

श्रीहरिवंश–यामें अधिक विचार कौ अवकास नाँय दीसै है। तुमने या नौकरी के लिए स्वयं तौ कछू चेष्टा करी नाँय, जि तौ प्रभु इच्छा ते प्राप्त भई है और उनने जो या प्रकार की इच्छा करी है सो अपने बल पर ही करी है। तुमकूँ यामें अधिक सोच विचार करनौ उचित नाँहि।

बीठलदास–(प्रसन्न होकर) जो आज्ञा, कृपानाथ। आप सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हैं। मेरी एक ही आकांक्षा है कि प्रभु इच्छा से मुझे कहीं भी रहना पड़े किन्तु इन चरण-कमलों की विस्मृति एक क्षण को भी न हो। फिर तो, मुझे दृढ़ विश्वास है कि नरक भी मेरे लिये नन्दन कानन बन जायगा।

श्रीहरिवंश–घबराऔ मत, बीठलदास। तुम प्रसन्नतापूर्वक बादशाह की आज्ञा कौ पालन करौ। श्रीवृन्दावन रानी तुम्हारे ऊपर सदैव कृपा राखेंगी।

बीठलदास–(महाप्रभुजी के चरणों में प्रणाम करते हैं) अब कोई चिन्ता नहीं है दीनबन्धु। मैं अभी बादशाह को अपनी स्वीकृति भेजे देता हूँ। किन्तु इन चरणों को छोड़ने में हृदय टूटा जा रहा है कुछ ऐसा कर दीजिये कि वहाँ मेरा धैर्य बना रहे।

श्रीहरिवंश–(सस्नेह) तुम्हारे वियोग की कल्पना तें मेरौ हृदय हू बेचैन होइ रह्यौ है। तुम कहा चाहौ हौ?

बीठलदास--मेरी यह इच्छा है कि आपका चित्र यदि मुझे मिल जाता तो मैं उसका दर्शन करके अपने समय को व्यतीत कर लेता। आप यदि आज्ञा दें तो मैं किसी अच्छे चित्रकार को बुलाकर चित्र तैयार करा लूँ।

श्रीहरिवंश--यामें हमकू तौ कोई आपत्ति नहीं है किन्तु तुमकू दिल्ली पहुँचने में बिलम्ब तौ नहीं होइ जायगौ ?

बीठलदास--कुछ बिलम्ब न होगा। यह तो सब स्वार्थ का संसार है कृपानाथ ! बादशाह को इस काम के लिये कोई उपयुक्त व्यक्ति मिल जाता तो वे मेरा स्मरण न करते। फिर भी मैं जल्दी से जल्दी जाने की चेष्टा करूंगा।

श्रीहरिवंश--(उठते हुए) अब तुम अपनी कुटिया पै जाइकै अश्वारोहियन के भोजनादिक की व्यवस्था करौ। मैं अब सेवा की तैयारी में लगूं हूँ।

बीठलदास--जो आज्ञा।

(सब लोग महाप्रभु जी को प्रणाम करते हैं। दाहिनी ओर से श्रीहिताचार्य एवं उनके साथ रङ्गा और गाँगू का प्रस्थान। बाईं ओर से बीठलदास और मेदा का निष्क्रमण। पर्दा गिरता है)

तृतीय दृश्य

(जूनागढ़ के राजमहल का मन्त्रणा भवन। भवन के फर्श पर बहुमूल्य गलीचे बिछे हुए हैं और उन पर बड़े-बड़े मसनद थोड़े अन्तर से रखे हुए हैं। दीवालों पर अनेक देवी-देवताओं के चित्र लगे हुए हैं। सामने की दीवाल के सहारे स्वर्ण सिंहासन रखा हुआ है जो फर्श से अधिक ऊँचा नहीं है। पर्दा उठते ही दो कर्मचारी भवन की वस्तुओं को व्यवस्थित करते हुए दिखलाई देते हैं)

एक कर्म०-- (सिंहासन को कपड़े से साफ करते हुए) क्यों भाई, नये प्रधान मन्त्रीजी के आ जाने के बाद सारे प्रदेश से सुख शान्ति फैली हुई है और शत्रु भी सब पराजित हो चुके हैं तो अब यह मन्त्रणा कैसी हो रही है ?

दूसराकर्म०--अरे यह तो राज दरबार है। यहाँ तो कोई न कोई विचारणीय बात पैदा होती ही रहती है।

एक कर्म०-- फिर भी तुमने कुछ सुना तो होगा।

दूसराकर्म०-- सुना तो कुछ नहीं है, किन्तु इतना मैं जानता हूं कि अपने अद्‌भुत गुणों के कारण ही प्रधानजी अपने उच्चपदस्थ सहयोगियों की ईर्ष्या के पात्र बनते जा रहे हैं। सम्भव है उनको लेकर ही कोई वितण्डा खड़ा कर लिया गया हो।

एक कर्म०– अरे उनके विरुद्ध कोई क्या बात खड़ी करेगा ! प्रधानजी जैसा धीरगम्भीर, निष्पक्ष, न्यायप्रिय, विनम्र एवं सुदृढ़ व्यक्ति मैंने आज तक नहीं देखा। उनके आने से इस प्रदेश का मानो सौभाग्य ही उदय हो गया।

दूसरा कर्म०–(पैरों की आहट सुनकर) चुप रहो, देखो कोई आ रहा है।

(बाँई ओर से तीन नागरिकों के साथ धर्माध्यक्ष का प्रवेश। सब लोग अधेड़ उम्र के सशक्त व्यक्ति हैं। धर्माध्यक्ष के माथे पर त्रिपुण्ड लगा हुआ है और वे हाथ में कुछ पुस्तकें लिये हुए हैं।)

धर्माध्यक्ष–(कर्मचारियों से) क्या महाराजासाहब के पधारने में कुछ विलम्ब होगा ?

एककर्म०–समय तो हो गया है, हुजूर ! आप लोग विराजें। यदि आज्ञा हो तो सरकार को सूचना दे दी जाय ?

धर्मा— नहीं, इसकी आवश्यकता नहीं है। हम प्रतीक्षा करेंगे, तुम अब जा सकते हो।

दूसराकर्म०–जो आज्ञा (आदाब बजाकर दोनों का प्रस्थान)

(सब लोग मसनदों के सहारे यथास्थान बैठ जाते हैं)

धर्मा— (सब लोगों की ओर देखकर) आज हम लोग जिस कार्य को लेकर यहाँ उपस्थित हुए हैं उसके सम्बन्ध में मैं आप लोगों को सब बातें समझा चुका हूँ। अब हम सबको मिलकर महाराजा साहब के सामने वही बात रखनी है और उसको कार्यान्वित करा लेना है। आप जानते हैं कि महाराजा साहब के ऊपर प्रधानमन्त्रीजी का बहुत अधिक प्रभाव है और वे उनके विरुद्ध कोई भी काम करने के लिये सरलता से तैयार नहीं होंगे। इसीलिये हमारे सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है।

एक नाग०–आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, शास्त्री जी। किन्तु यह मामला प्रधानजी की व्यक्तिगत धार्मिक मान्यता से सम्बन्ध रखता है और उसमें वे स्वतन्त्र हैं।

धर्मा— (खीझकर) आप यह कैसी बातें कर रहे हैं ! क्या आप यही सब कहने के लिए मेरे साथ आये हैं ?

एक नाग—(हँसकर) नहीं-नहीं, यह बात नहीं है। मैं अनुमोदन तो आपकी बात का ही करूंगा, किन्तु समझने के लिए यह पूछ रहा हूँ।

धर्मा— (निराशापूर्वक) मैं आपको शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सब कुछ समझा चुका हूँ। अब तो आप चुपचाप बैठे रहें और चेष्टाओं द्वारा मेरी बात का समर्थन करते रहें।

[एक कर्मचारी का प्रवेश]

क.मं०— (उच्चस्वर में) सरकार पधार रहे हैं।

(सेनाध्यक्ष, राजस्वमन्त्री एवं कई निजी सेवकों के साथ महाराज साहब का प्रवेश। उनका वर्ण गौर, कद पूरा ऊँचा, शरीर सुगठित एवं मुखाकृति भव्य है। उनकी आयु ४० वर्ष के लगभग है। वे आकर सिंहासन पर बैठ जाते हैं और सब लोग उनके सामने उपस्थित होकर आदाब बजाते हैं।

महाराजा-जय सोमनाथ ! आप सब लोग अपने स्थानों पर बैठ जाँय।

(सब लोग बैठ जाते हैं)

महाराजा-कहिये शास्त्री जी, आज की इस गोष्ठी का क्या हेतु है ? क्या कोई धर्म-संकट उपस्थित हो गया है ?

धर्मा— हाँ अनदाता ! किन्तु इस बार धर्म का अपलाप ऐसे व्यक्ति के द्वारा हुआ है जिसके विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं हो पा रहा है।

महाराजा-ऐसा वह कौन है ? आप निर्भय होकर अपनी बात कहिये। धर्म की दृष्टि में सब समान हैं।

धर्मा— धर्मावतार ! आपकी संरक्षता में सम्पूर्ण हिन्दू प्रजा अपने सनातन वैदिक धर्म का पालन निर्विघ्न कर रही है।

महाराजा-यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है, किन्तु इस समय आप क्या कहना चाहते हैं ?

धर्मा— वही निवेदन कर रहा हूँ, अनदाता ! इस बार आपकी कृपा से सेना के सम्पूर्ण लोगों को एवं आपके सब पदाधिकारियों को द्वारिका में श्रीरणछोड़ जी के देवदुर्लभ दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हो गया और सबने अपने जीवन को धन्य माना। किन्तु वहाँ जाकर भी एक व्यक्ति ने दर्शन नहीं किये।

महाराजा-(चौंककर) एँ, वह हिन्दू है या मुसलमान ?

धर्माध्यक्ष-(कुटिलतापूर्वक मुसकराकर) वे हिन्दू ही हैं और वे अपने प्रधानमन्त्रीजी बीठलदासजी हैं।

महाराजा-यह आप क्या कह रहे हैं, शास्त्रीजी ? प्रधानजी तो परमधार्मिक व्यक्ति हैं और राजकार्य से बचा हुआ सम्पूर्ण समय भजन-ध्यान में ही व्यतीत करते हैं। क्या उनको समय नहीं मिला।

धर्माध्यक्ष-समय न मिलने की वहाँ कोई बात न थी, अनदाता। वे तो जान-बूझकर दर्शनों के लिये नहीं गये।

महाराजा-तब तो आपको उनको समझाना चाहिये था।

धर्माध्यक्ष-मैंने चेष्टा की थी। जब मुझे सूचना मिली कि उनको छोड़कर सेना के अन्य सब हिन्दू दर्शन कर आये हैं तो मैं स्वयं उनके डेरे पर गया।

महाराजा-आपको उन्होंने क्या उत्तर दिया ?

धर्माध्यक्ष-दुःख है कि मैं उनके डेरे में प्रवेश न पा सका। उनके सेवकों ने मुझे बताया कि वे पूजा में बैठे हैं और ध्यानमग्न हैं। इस समय वे किसी से भी बातचीत करने में सर्वथा असमर्थ हैं। फलतः मैं उनसे कोई बात न कर सका और दूसरे दिन द्वारिका से आपकी सवारी उठ गई।

महाराजा-यह तो बड़ा विचित्र प्रसङ्ग है। धार्मिक होते हुए भी वे द्वारिका में द्वारिकेश भगवान् के दर्शनों को क्यों नहीं गये ? क्या उनकी धार्मिकता ब्याजमात्र है ?

एक सेवक-[हाथ जोड़कर] नहीं अन्नदाता ! प्रधान जी वास्तव में अत्यंत धार्मिक हैं। जूनागढ़ की सम्पूर्ण प्रजा इस बात से अवगत है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनका व्यवहार है।

महाराजा-उनके व्यवहार पर ही तो यहाँ आपत्ति उठाई जा रही है।

धर्माध्यक्ष-लोग उन्हें धार्मिक माना करें किन्तु उनका यह व्यवहार नितांत अधार्मिक है और सनातन वैदिक धर्म के सर्वथा प्रतिकूल है।

महाराजा-सेनाध्यक्ष जी, आप तो प्रधानजी के अन्तरंग मित्रों में से हैं। आपका उनकी धार्मिकता के विषय में क्या विचार है ?

सेनाध्यक्ष–अन्नदाता, जब से प्रधानजी जूनागढ़ पधारे हैं मैं उनके निकट सम्पर्क में रहा हूँ। उन्होंने एक बार मुझे बताया था कि यहाँ आने से पूर्व वे घरबार छोड़कर वृन्दावन में अपने गुरुजी के पास रह रहे थे। उनके अन्दर गुरु-निष्ठा हद दर्जे की है। उनकी सेवा में भी उनके गुरुजी का चित्र विराजमान है और उनका उच्छिष्ट लेने के बाद ही वे अन्न ग्रहण करते हैं।

महाराजा-यह तो विचित्र बात है। उनको यहाँ आये एक वर्ष से अधिक समय हो गया है। क्या वे अपने गुरुजी की बहुत सारी जूठन अपने साथ ले आये थे ?

सेनाध्यक्ष-नहीं अन्नदाता। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर रखा है कि प्रति सप्ताह एक गाड़ी यमुना-जल एवं जूठन लेकर वृन्दावन से जूनागढ़ पहुँच जाती है।

महाराजा-तब तो कमाल है। इसमें तो उनका व्यय भी काफी होता होगा।

धर्माध्यक्ष-[कुटिलतापूर्वक मुसकराकर] व्यय की उनको क्या चिन्ता है, अन्नदाता ! वे इतने बड़े राज्य के प्रधानमन्त्री जो हैं। उनके संकेत मात्र से सारी व्यवस्था हो जाती होगी।

सेनाध्यक्ष-[कुछ तमतमाकर] यह आप अन्याय कर रहे हैं, शास्त्रीजी ! मैंने उनको अपनी सत्ता का दुरुपयोग करते कभी नहीं देखा। इस काम में वे अपनी तनख्वाह का काफी बड़ा हिस्सा लगा देते हैं और स्वयं एक सामान्य व्यक्ति की भाँति जीवन निर्वाह करते हैं।

(धर्माध्यक्ष कुछ बोलना चाहते हैं किन्तु महाराजा हाथ के इशारे से उनको रोक देते हैं)

महाराजा-विषयान्तर न कीजिए ! आप वह बताईये सेनाध्यक्षजी, कि इतने धार्मिक होते हुए उन्होंने द्वारिका में धर्मविरुद्ध आचरण क्यों किया ?

सेनाध्यक्ष- यह तो वही बतलायेंगे, अन्नदाता, किन्तु इतना मैं जानता हूँ कि वे अपने अवकाश का प्रत्येक क्षण निजी भजन-पूजन में व्यतीत करते हैं और देवदर्शन आदि के लिए कहीं आते-जाते नहीं हैं।

धर्माध्यक्ष-(प्रसन्न होकर) यही तो बात है जिसका मैं तथा अन्य अनेक लोग विरोध कर रहे हैं। हमारे उदार हिन्दू धर्म में सब देवी-देवताओं का समान रूप से आदर-सम्मान करने का प्राचीन विधान है। धर्म के इस प्रारम्भिक अनुशासन को न मानकर कोई अपने को हिन्दू नहीं कह सकता।

महाराजा-यह तो ठीक ही है। तब क्या प्रधान जी किसी दूसरे धर्म को मानते हैं ?

(सब चुप रहते हैं)

महाराजा-(सेवकों की ओर देखकर) एक आदमी जाकर प्रधानमन्त्रीजी को शीघ्र यहाँ बुला लाओ।

सेवक— जो आज्ञा (जाता है)

धर्माध्यक्ष-अन्नदाता, इस समय हिन्दूधर्म बड़े संकट में है। मैंने सुना है कि उत्तर भारत में आजकल ऐसे कई धर्मसम्प्रदाय चल पड़े हैं जो न तो हमारी प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं, न शास्त्राज्ञा का आदर करते हैं और न भगवान् शङ्कराचार्य आदि के वचनों का सम्मान करते हैं। घोर कलिकाल उपस्थित है और धर्मावतार, अब तो आप लोग ही इस सनातन वैदिकधर्म को सर्वनाश से बचा सकते हैं।

महाराजा-(सान्त्वना देते हुए) घबराइए नहीं शास्त्रीजी ! जब तक मैं इस स्थान पर हूँ कोई भी व्यक्ति, फिर चाहे वह कितना ही बड़ा हो, सनातनधर्म का उल्लंघन नहीं कर सकेगा।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल– अन्नदाता द्वारिका से एक पण्डितजी आये हैं। सरकार से मिलना चाहते हैं।

महाराजा-ले आओ। (द्वारपाल जाता है)

महाराजा-मालूम होता है ये भी इसी मामले को लेकर आये हैं।

धर्माध्यक्ष-हो सकता है, अन्नदाता !

(द्वारपाल के साथ पण्डितजी का प्रवेश। वे सिंहासन के निकट जाकर द्वारकेश भगवान् का प्रसाद एवं माला चन्दन महाराजा को प्रदान करते हैं। महाराजा उठकर उसको ग्रहण करते हैं और माथे से लगाकर पास खड़े एक सेवक को दे देते हैं)

महाराजा-कहिये विप्रवर, कैसे आना हुआ ? द्वारिका में अमन चैन है न ?

पण्डित— आपकी छत्रछाया में सर्वत्र आनन्द मङ्गल है। मैं तो इस समय श्रीमान् की सेवा में एक अत्यन्त अधार्मिक आचरण के विरुद्ध शिकायत लेकर आया हूँ।

महाराजा-(मुसकराकर) क्या हमारे प्रधानमन्त्रीजी से सम्बन्धित कोई बात है ?

पण्डित— जी हाँ, सरकार ! इस बार आप अपने रिसाले सहित श्रीरणछोड़राइ के दर्शनों को पधारे इससे हम सब द्वारिकावासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई और हमारे तीर्थस्थान का गौरव बढ़ा। किन्तु प्रधानजी के आचरण ने हम सबको कलङ्कित कर दिया और श्रीद्वारकेश भगवान् का भी अपमान कर डाला।

महाराजा-किन्तु पण्डितजी, एक आदमी के दर्शन न करने से द्वारकापुरी का अथवा रणछोड़राइजी का क्या बनता बिगड़ता है ?

पण्डित— वह आदमी यदि आपका कोई साधारण कर्मचारी होता या सेना का कोई सामान्य सिपाही होता तो किसी का ध्यान इस ओर न जाता। किन्तु अपने भक्तिभाव के लिये विश्रुत आपके इन सर्वोच्च पदाधिकारी के आचरण की प्रतिक्रिया दूर-दूर तक हुई है और सौराष्ट्र का सम्पूर्ण धार्मिक समाज व्यथित हो उठा है। धर्मावतार, प्रधानजी को बड़े से बड़ा दण्ड मिलना चाहिए। धर्म की रक्षा तभी हो सकेगी।

महाराजा-आप धैर्य रखें। मैंने प्रधानजी को बुलाया है और वे आते होंगे।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल– अन्नदाता, प्रधानजी पधारे हैं।

महाराजा-आने दो।

(महाराजा सहित सब लोग सँभल कर बैठ जाते हैं। कर्मचारी के साथ बीठलदासजी का प्रवेश। वे कुछ दुर्बल और परिश्रान्त दिखलाई दे रहे हैं, किन्तु उनकी मुख-श्री वैसी ही शान्त और गम्भीर है जैसी वृन्दावन में थी। वे निकट जाकर महाराजा को प्रणाम करते हैं और एक ओर अदब से खड़े हो जाते हैं)

महाराजा-बैठिये प्रधानजी ! आपको आने में बहुत विलम्ब हुआ ?

बीठलदास-जी हाँ, हुजूर ! आज सुबह से ही मेरे सामने कुछ ऐसे पेचीदे मामले पेश थे कि उन्हें निपटाने में मुझे काफी समय लग गया। मैं अभी स्नान करके पूजा में बैठा ही था कि आपका सन्देश मिला। इस समय कैसे याद फरमाया ?

महाराजा-(गम्भीर होकर) यह सब लोग आपके विरुद्ध अभियोग लेकर एकत्रित हुए हैं।

बीठलदास-(शान्त-भाव से) मुझसे क्या गलती हो गई ?

महाराजा-अभी पिछले दिनों हम सब लोग श्रीरणछोड़जी के दर्शनों के लिये द्वारिकापुरी गये थे।

बीठलदास-जी हाँ, हुजूर।

महाराजा-वहाँ सबने भक्तिभावपूर्वक द्वारिकेश भगवान् के दर्शन किये किन्तु मैंने सुना है कि आप अपने डेरे में ही बैठे रहे और अन्त तक दर्शनों के लिये नहीं गये। क्या यह सच है ?

बीठलदास-सच है हुजूर।

महाराजा-(कुछ तमककर) हिन्दू होते हुए आपने ऐसा क्यों किया ? क्या आप श्रीरणछोड़जी को ठाकुर नहीं मानते ?

बीठलदास-मानता हूँ, हुजूर।

महाराजा-तब आपके इस धर्मविरुद्ध आचरण का क्या कारण था ?

बीठलदास-आप अपने पूरे लश्कर सहित द्वारिका पधारे थे और उसकी व्यवस्था में मेरा सारा दिन बीत जाता था। अपनी सेवापूजा भी मैं शाम के बाद ही कर पाता था।

महाराजा-किन्तु शाम को भी तो श्रीरणछोड़जी के दर्शन खुलते थे। आप चाहते तो उस समय कर सकते थे।

बीठलदास-वह समय तो मैंने अपनी निजी सेवापूजा के लिए छोड़ रखा था, हुजूर।

महाराजा-तब फिर यह बताइए कि श्रीरणछोड़जी के दर्शन क्या आपकी निजी सेवा में नहीं आते ? क्या आप राधाकृष्ण के उपासक नहीं हैं और श्रीरणछोड़जी क्या श्रीकृष्ण का ही स्वरूप नहीं हैं ?

धर्माध्यक्ष-(प्रसन्न होकर) धन्य हैं धर्मावतार ! यही तो मुख्य प्रश्न है।

बीठलदास-(धैर्य पूर्वक) मैं मानता हूँ कि श्रीरणछोड़जी स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, किन्तु उनके इस चतुर्भुज स्वरूप का सम्बन्ध उनकी द्वारिका लीला के साथ है। हम लोग उनकी ब्रज-वृन्दावनलीला के उपासक हैं। वहाँ उनका द्विभुज स्वरूप है और वही हमारा उपास्य है।

धर्माध्यक्ष-अपराध क्षमा हो अन्नदाता। प्रधानजी, मेरा सम्पूर्ण जीवन शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में ही बीता है। मैंने वैष्णवों और शैवों का भेद तो सुना है, रामोपासक और कृष्णोपासक भी सुने हैं किन्तु एक ही स्वरूप में भेद की बात मैं पहली बार सुन रहा हूँ।

महाराजा-(मुसकराकर आप सुनें कहाँ से शास्त्रीजी ! यह तो प्रधानजी का अपना मत है न !

धर्माध्यक्ष-किन्तु अन्नदाता, अपना स्वतन्त्र मत चलाकर किसी को धर्म की मर्यादा नष्ट करने का अधिकार नहीं है।

महाराजा-बिलकुल नहीं है। प्रधानजी, या तो आप इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर दें अन्यथा मुझे आपके विरुद्ध दण्ड-विधान करना होगा।

बीठलदास-(धैर्यपूर्वक) आप मालिक हैं, हुजूर, और मुझे जिस प्रकार चाहें दण्डित कर सकते हैं। किन्तु यह बात सत्य है कि यह मेरा स्वतन्त्र मत नहीं है और मैंने जो आचरण किया है वह उसके अनुकूल ही किया है।

महाराजा-तब आप किस धर्म को मानते हैं ?

बीठलदास-(दृढ़ता पूर्वक) मैं सनातन वैदिकधर्म की एक शाखा श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी हूँ। मेरे गुरु श्रीहितहरिवंशचन्द्र हैं, धाम श्रीवृन्दावन है और जीवन-सर्वस्व द्विभुज श्रीराधावल्लभलाल हैं, इनके रास-विलास का प्रकाश मेरे रोम-रोम में पूरित है। मेरे तन-मन में गौरश्याम बस रहे हैं और वहाँ चार भुजाओं के लिए अवकाश नहीं है।

महाराजा-(क्रुद्ध होकर) क्या बकते हो ! अवकाश नहीं है ? तुम्हारे जैसे पाखण्डी इसी प्रकार की बातें बनाया करते हैं। शास्त्रीजी, इनके कपड़े उतार लीजिये। देखें तो सही कि इनके तन में कहाँ तो वृन्दावन है और कहाँ रासविलास हो रहा है ?

(शास्त्रीजी उठकर बीठलदासजी के पास जाते हैं, किन्तु वे अपने अँगरखे की तनियाँ अपने हाथ से खोल देते हैं और उच्च स्वर में "श्रीहरिवंश" कहकर अर्धचेतनावस्था में मसनद के सहारे लेट जाते हैं)

धर्माध्यक्ष-(चौंककर दूर खड़े हो जाते हैं, साश्चर्य) अहाहा, इनके शरीर में से कैसी मोहक ध्वनि निकल रही है। अहाहा.अहाहा (आँखें बन्द करके दीवाल के सहारे खड़े रह जाते हैं)

(महाराजा सिंहासन से उठकर बीठलदास के पास जाते हैं)

महाराजा-(साश्चर्य) यह तो रास लीला का दिव्य सङ्गीत प्रस्फुटित हो रहा है ! अहाहा-अहाहा।

(ताली बजाने लगते हैं)

सेनाध्यक्ष-(निकट आकर साश्चर्य) सुनिए अन्नदाता, यह मृदङ्ग बज रहा है और उसके साथ नूपुर बज रहे हैं। अहाहा।

राजस्वमंत्री-(साश्चर्य) साथ में मुरली की कैसी मस्त ध्वनि निकल रही है। अहाहा, धन्य हो प्रधानजी !

महाराजा-(बीठलदासजी के निकट जाकर उनको जगाने की चेष्टा करते हैं) प्रधानजी ! प्रधानजी ! (एकदम चौंककर) अरे यह क्या ? इनके रोम-रोम में वृन्दावन के द्रुम-बेली, फूल-पत्ते दिखलाई दे रहे हैं ! (सहसा गद्गद् होकर बीठल-दास जी के चरणों में सिर रख देते हैं) मुझे क्षमा करो प्रधानजी, मुझसे बहुत बड़ा अपराध बन गया है। मैं आपको पहिचान नहीं सका, मुझे क्षमा करो।

(बीठलदासजी महाराजा के सिर को अपने पैरों पर से उठाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु वे नहीं उठते)

बीठलदास-(साग्रह) उठिए, उठिए, राजन् ! यह आप क्या कर रहे हैं ? मैं तो आपका एक तुच्छ सेवक हूँ। आपने कोई अपराध नहीं किया।

महाराजा-(चरणों पर सिर रखे हुए) नहीं मैंने अपराध किया है मुझे क्षमा कीजिये।

बीठलदास-(विवशता पूर्वक) उठिए महाराजा मैं आपसे सच कह रहा हूँ कि आपने कोई अपराध नहीं किया है, यह तो सब मेरे प्रभु की ही लीला थी। फिर भी आप कह रहे हैं तो मैं आपको क्षमा करता हूँ, उठिये।

(महाराजा धीरे-धीरे अपना सिर बीठलदासजी के चरणों से उठाकर साश्रुवदन उनके सामने हाथ जोड़कर बैठ जाते हैं)

बीठलदास-(महाराजा की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखकर) आप तो मुझे लज्जित कर रहे हैं महाराजा ! आप कृपा करके अपने सिंहासन पर बिराजिए। इस तरह बैठना आपको शोभा नहीं देता, उठिए। (हाथ पकड़कर उठाने की चेष्टा करते हैं)

महाराजा-(अपना हाथ छुड़ाकर) मैं अब आपके सामने सिंहासन पर कभी नहीं बैठूँगा। अब आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक।

बीठलदास-यह आप कैसी बातें कर रहे हैं, राजन् ?

महाराजा-मैं ठीक कह रहा हूँ। आज मैंने अपनी आँखों से सुदृढ़ अनन्यता का अद्भुत चमत्कार देख लिया है। आप धन्य हैं, प्रधानजी ! मैंने आप जैसा पूर्ण सुखी व्यक्ति अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखा। आपके गुरु धन्य हैं, इष्ट धन्य

हैं। अब तो आप मुझे दीक्षा देकर अपने अनुपम सुख का भागीदार बना लीजिए।

बीठलदास-धैर्य रखिए, महाराज! किसी को दीक्षा देने की क्षमता मेरे अन्दर नहीं है। यह तो मेरे गुरुदेव श्रीहित हरिवंश चन्द्र ही कर सकते हैं जिनकी कृपा ने आज मेरी लाज रख ली है।

महाराजा-[अधीरता पूर्वक] तो उनके चरण कमल मुझे कैसे प्राप्त होंगे ?

बीठलदास-वे वृन्दावन छोड़कर कहीं बाहर नहीं पधारते। आप उनके मङ्गलमय नाम जाप करिये। वे जब उचित अवसर समझेंगे तब आपको वहीं बुला लेंगे।

महाराजा-[भक्तिभावपूर्वक] श्रीहरिवंश, श्रीहरिवंश।

धर्माध्यक्ष-[खीझकर] अपराध क्षमा हो, अन्नदाता! आज तो आपने भावुकता में आकर राजधर्म की सारी मर्यादायें तोड़ दी हैं और अब अपने कुलदेव को छोड़ने की तैयारी कर रहे हैं!

महाराजा-[क्रुद्ध होकर] चुप रहिए! आपसे यह सब नहीं देखा जाता तोसारी मर्यादाओं को लेकर आप अपने घर चले जाईये। मुझे अब किसी की—इस राज्य की भी परवाह नहीं है। श्रीहरिवंश—श्रीहरिवंश!

धर्माध्यक्ष-[खीझकर] मैं जाता हूँ राजन्, किन्तु इतना कहे जाता हूँ कि इस राज्य के इतिहास में आज का दिन सबसे अधिक दुर्भाग्य पूर्ण सिद्ध होगा।

महाराजा-[दृढ़तापूर्वक] कुछ भी हो। मैंने अपने सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय कर लिया है, आप मेरी या इस राज्य की चिन्ता न करें। आप चले जाँय।

(धर्माध्यक्षजी का क्रुद्ध मुद्रा में निष्क्रमण)

नागरिकगण-हम लोग भी आज्ञा चाहते हैं, अन्नदाता।

महाराजा-अच्छा।

(सेनापति और राजस्वमन्त्री को छोड़कर सब का प्रस्थान)

बीठलदास-क्षमा करें, आपने आज शास्त्रीजी को नाराज करके अच्छा नहीं किया। अब ये धर्म का नाम लेकर लोगों को भड़कावेंगे और एक व्यर्थ का वितण्डा खड़ा कर देंगे।

सेनापति- (तमककर) मैं इसको राजद्रोह मानूंगा ओर इसका दमन करूंगा।

बीठलदास-तो इससे भी तो मेरी ही परेशानी बढ़ेगी। यह प्रश्न मेरी निजी भावना का है और यहीं समाप्त हो जाना चाहिए। मैं शास्त्रीजी को शान्त करने की पूरी चेष्टा करूँगा और मुझे सफलता की आशा है। अब महाराज, मुझे आज्ञा मिले मेरा सेवा का कार्य शेष है।

महाराजा-(हाथ जोड़कर) पधारें प्रधानजी ! भविष्य में मैं आपको यहाँ आने का कष्ट नहीं दूँगा और आवश्यकता होने पर स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हो जाया करूँगा । चलिए, हम लोग भी आपके साथ ही चल रहे हैं ।

[सब लोग जाते हैं । पर्दा गिरता है]

चौथा दृश्य

[वृन्दावन में यमुनातट की ऊँची टेकरी पर श्रीराधावल्लभजी का लता-मन्दिर । मन्दिर की बगल में सघन वृक्षावली के नीचे नवलदास जी, नरवाहनजी और नाहरमलजी बैठे बातचीत कर रहे हैं । नवलदासजी विरक्त वेष में हैं]

नवलदास-बीठलदासजी ने तो जूनागढ़ में अनन्यधर्म की ध्वजा ही फहरा दी । वास्तव में इस धर्म के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने का एकमात्र तरीका ही यह है । यहाँ की कई बातें ऐसी हैं जिनको तर्क द्वारा नहीं समझाया जा सकता, केवल उनका समर्थ आचरण ही लोगों को प्रभावित कर सकता है । मैंने सुना है कि इस घटना के बाद जूनागढ़ के राजा, उच्चपदाधिकारी तथा अनेक प्रजाजन एकनिष्ठ बनकर श्रीहरिवंश नाम का जाप कर रहे हैं ।

नाहरमल-यह तो ठीक है, किन्तु यह संसार बड़ा विचित्र है । इस घटना के थोड़े दिन बाद मैं और मोहनदास भाई साहब से मिलने के लिए जूनागढ़ गए थे । वहाँ एक ओर तो मैंने उसका जय-जयकार होता देखा और दूसरी ओर शाक्तों और स्मार्तों का एक प्रबल वर्ग उनको पाखण्डी, धूर्त और जादूगर बतलाता पाया । इन लोगों ने जूनागढ़ में अपनी दाल गलती न देखकर द्वारिका को अपना केन्द्र बनाया है और वहाँ से सौराष्ट्र के अन्य राज्यों में इस घटना के विरुद्ध जोरदार प्रचार कर रहे हैं । मैंने सुना था कि कुछ वैष्णव भी उनका साथ दे रहे हैं !

नरवाहन-(मुसकराकर) चलो, ऐसे लोगों को कुछ काम तो मिला ! इन बेचारों में धर्म की त्रिगुणातीत भूमिका को समझने की क्षमता ही नहीं होती और सामान्यता की परिधि में न आने वाली हर बात को वे शङ्कित दृष्टि से देखते हैं । अपने लौकिक स्वार्थों की रक्षा के लिए वे स्थापित रूढ़ियों से चिपके रहते हैं और उनके यन्त्रवत् पालन को ही अपना परम कर्तव्य समझते हैं !

नवलदास-आप ठीक कह रहे हैं, नरवाहनजी । श्रीगुरुदेव ने महाप्रसाद की अनन्य निष्ठा की रक्षा हेतु जब एकादशी-व्रत का त्याग किया था तब इस प्रेमधाम श्रीवृन्दावन का वैष्णव-समुदाय भी खिन्न बन गया था तो इस प्रकार के आचरणों को देख-सुनकर बाहर के लोग बौखला उठें तो क्या आश्चर्य है ?

नाहरमल–मुझे स्मरण आता है कि एक बार इसी स्थान पर बैठकर श्रीव्यासजी ने कहा था कि अपना यह रहस्यपूर्ण लोकातीत धर्म कभी भी भीड़ का धर्म नहीं बन सकेगा। इसको समझने वालों की संख्या सदैव कम रहेगी और इसका सर्वाङ्गीण पालन तो बिरले पुण्यशालीजन ही कर पायेंगे।

[एक पण्डितजी का प्रवेश। उनका कद लम्बा, वर्ण गौर और आयु पैंतालीस के लगभग है। उनके मुख पर यात्रा-जनित श्रम दिखलाई दे रहा है। उनके गले में दुपट्टा और सिर पर काठियावाड़ी पगड़ी है]

पण्डितजी–(विनम्रतापूर्वक) मैं श्रीगुसाईं जी के दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

नवलदास–बैठिए पण्डितजी, श्रीगुरुदेव सेवा से निवृत्त होकर इस समय आराम कर रहे हैं, अब पधारते ही होंगे। (पण्डित की ओर देखकर) आप तो बहुत श्रमित दिखलाई दे रहे हैं। क्या बहुत दूर से आ रहे हैं ?

पण्डित—[बैठते हुए] मैं द्वारिकापुरी से आया हूँ। लगभग एक मास पूर्व मैं वहाँ से चला था और प्रधानजी की कृपा से ही यहाँ तक पहुँच पाया हूँ।

नवलदास–कौन प्रधान जी ?

पण्डित—आपके श्रीबीठलदास जी।

नाहरमल–(उत्सुकतापूर्वक) आप भाई साहब से मिलकर आये हैं ? वे आनन्द में तो हैं न ?

नरवाहन–उनका स्वास्थ्य ठीक चल रहा है न ?

नवलदास–उनको अब कोई परेशानी तो नहीं रह गई है ?

पंडित— वे आनन्द में हैं, किन्तु धर्मध्वज लोग अभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ रहे हैं। उनसे तंग आकर उन्होंने मेरे पास आदेश भेजा था कि मैं वृन्दावन जाकर श्रीगुरुदेव से मिलूँ।

[श्रीहरिवंशचन्द्र का प्रवेश। वे आकर रज की वेदी पर बिछे हुए आसन पर बैठ जाते हैं और सब लोग उनको दण्डवत् प्रणाम करते हैं।]

नवलदास–जय कृपानाथ, ये पण्डितजी द्वारिकापुरी से पधारे हैं।

श्रीहरिवंश–[साश्चर्य] द्वारिकापुरी से ! आपकू बड़ौ श्रम भयौ होयगौ।

पण्डित—[निर्निमेष दृष्टि से श्रीमहाप्रभुजी की ओर देखते हुए] कृपानाथ, आपके देवदुर्लभ दर्शन पाकर आज मेरा श्रम सदैव के लिए दूर हो गया है। बीठलदासजी अकेले जिनके बल पर सम्पूर्ण सौराष्ट्र के साथ जूझ रहे हैं उन चरण कमलों का सान्निध्य पाकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो रहा है।

श्रीहरिवंश-आप बीठलदास का कोई सन्देश लाये हैं ?

पंडित— जी हाँ, महाराज ! बीठलदासजी ने द्वारिकापुरी जाकर वहाँ अन्य लोगों की भाँति श्रीरणछोड़ जी के दर्शन नहीं किये, इस कार्य को विरोधी वर्ग ने महान अपराध घोषित कर दिया है।

श्रीहरिवंश-(दृढ़तापूर्वक) बीठलदास के सब कार्यन कौ दायित्व मेरे ऊपर है, अन्य लोग याकी चिन्ता क्यों कर रहे हैं ?

नवलदास-धन्य है ! धन्य है !

पंडित— उन लोगों का कहना है कि इस प्रकार के आचरणों से धार्मिक समाज में उच्छृङ्खलता फैलती है और धर्म की मर्यादा नष्ट होती है।

श्रीहरिवंश-उनकी बात ठीक होइ सकै है। मैं तो इतनौ ही समझूँ हूँ कि जहाँ अनन्य प्रीति कौ विमल दीपक प्रज्ज्वलित होइ है वहाँ ते विधि-निषेध रूपी अन्धकार स्वतः दूर होइ जाय है।

पंडित— (विनम्रता पूर्वक) यह बिलकुल ठीक है, किन्तु विरोधियों को इस बात को कैसे समझाया जाय ? वे तो उस धर्म को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं जो इस प्रकार के आचरणों का अनुमोदन करता है।

श्रीहरिवंश-(एक क्षण रुककर) इनकू समुझाइबौ कठिन है। ये तौ याही प्रकार भक्त जनन कौ निरादर करत आये हैं और जहाँ इनकू अवसर मिल्यौ है इननैं भक्तन कू दण्डित भी कियौ है। किन्तु विचित्र बात यह है कि ये लोग अन्त में उन भक्तन कू ही अपनौं प्रकाश स्तम्भ बनावैं हैं और उनके दिये भये प्रकाश तें अपनो जीवन-मार्ग आलोकित करैं हैं।

नरवाहन—(प्रशंसा पूर्वक) धन्य है ! धन्य है !

श्रीहरिवंश-अब रही या प्रकार के आचरण कौ अनुमोदन करन हारे धर्म की बात सो बीठलदासजी था गुरुमार्ग कौ अनुसरण करैं हैं ताकी स्थापक श्रीवृन्दावनेश्वरी श्यामाजू हैं। वे स्वयं एवं उनकी अद्भुत निकुंजकेलि जैसे लोकवेदातीत हैं तैसौई उनके द्वारा स्थापित यह धर्म हू है। यामें केवल गुरु-मर्यादा ही सत्य है अन्य मर्यादान कौ कछु महत्व नाँहि। याते या मार्ग विषै जो सन्देह राखै ताकूं अज्ञानी समझनौ। बीठलदास या गुरु-मर्यादा कौ ही पालन कर रहे हैं और श्रीश्यामाजू की कृपा ते करत रहेंगे (ऊपर की ओर देखकर) अब मेरो श्रीयमुनास्नान कौ समय होत आवै है। तुमकू कछू सन्देह रह्यौ होय तौ पूछौ।

पंडित — मुझे कोई सन्देह नहीं हैं, कृपानाथ ! किन्तु मेरी एक प्रार्थना है कि आप एक छोटा-सा पत्र लिखवाकर मुझको देने की कृपा करें जिसमें आपके द्वारा कही

सब बातों का समावेश हो। इससे बीठलदासजी को तो अमित बल मिलेगा ही साथ ही चारों ओर फैला हुआ अज्ञानांधकार भी दूर हो जायगा।

श्रीहरिवंश–[नाहरमल की ओर देखकर] नाहरमल, कागज और लेखनी शीघ्र ले आओ।

नाहरमल– जो आज्ञा। (जाते हैं)

श्रीहरिवंश–[पंडित से] मोहनदास हू आजकल बीठलदास के पास ही हैं न ?

पण्डित— जी हाँ, कृपानाथ ! उनके वहाँ रहने से ही बीठलदासजी का भजन निर्विघ्न बन रहा है। वे इस विवाद की कोई बात उन तक पहुँचने नहीं देते। इन दोनों भाईयों पर आपकी पूर्ण कृपा है।

[नाहरमल का कागज लेखनी लेकर प्रवेश]

नाहरमल–आज्ञा करें, कृपानाथ।

श्रीहरिवंश–लिखो :

'श्रीवृषभानु नन्दिनी जयति। जोग्य लिखितं श्रीहरिवंश, बीठलदास के कोटि-कोटि अपराध मैं खेवी, आगले-पाछले। बीठलदास मेरे प्राण हैं। जो शास्त्र-मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसे ही सत्य है तौ ब्रज नव तरुणि कदम्ब-चूड़ामणि श्रीराधे ! तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौं होत है, तातै यह मर्याद राखनौ। तुम दोऊ सफल आनन्द बरसौ। बीठलदास कौ अही सीचनौ'।[1]

[पत्र पूरा करके नाहरमल जी उसे श्रीहिताचार्य को देते हैं और वे उसे पढ़कर पण्डित को दे देते हैं]

श्रीहरिवंश–या पत्री कूं तुम मोहनदास कूं दीजौं और यदि याहि काहू कौं दिखानौ होय तौ उनकी सलाह लैके दिखईयों। वे हमारे मन की बात समझें हैं।

पण्डित— (पत्र लेकर माथे से लगाते हैं) जो आज्ञा ! आपको अतिकाल हो रहा है और मैं भी रात्रि से पूर्व मथुरा पहुँच जाना चाहता हूँ।

श्रीहरिवंश–आप बड़ो लम्बी यात्रा करके आए हो। आज रात्रि विश्राम करो। कल प्रातः काल चले जईयौं।

पण्डित— (प्रसन्न होकर) जो आज्ञा।

श्रीहरिवंश–अब मैं चलूँ हूँ।

(सब लोग श्रद्धापूर्वक महाप्रभुजी के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करते हैं। पर्दा गिरता है।)

---

१ श्रीहितचार्य की दो पत्रियां प्राप्त हैं। उनमें से यह दूसरी है।

रसिकवर नरवाहनजी

प्रथम दृश्य

(परदा उठने के साथ सब नट फूल उछालते हैं और निम्नलिखित पद से वंदना करते हैं)

पद

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
राास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नन्दिनी ।
निर्तत युवती समूह राग रंग अति कुतूह,
बाजत रसमूल मुरलिका अनन्दिनी ।।
वंशीवट निकट जहाँ परम रवन भूमि तहाँ,
सकल सुखद मलय बहै वायु मन्दिनी ।
जाती ईषद विकास कानन अतिसय सुवास,
राका निसि सरद मास विमल चन्दिनी ।।
नरवाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि,
नख सिख सौन्दर्य काम दुख निकन्दिनी ।
विलसहु भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख सिंधु झेलि,
नवनिकुञ्ज श्याम केलि जगत वन्दिनी ।।

(वंदना के बाद सूत्रधार और नट को छोड़कर सबका प्रस्थान)

नट— आज हम कौनसा नाटक खेल रहे हैं, महाराज ?

सूत्रधार– (सोत्साह) आज हम भक्त शिरोमणि राजा नरवाहन जी के अद्भुत चरित्र का अभिनय कर रहे हैं ।

नट— यह राजा नरवाहनजी कौन थे और कब हुये थे ?

सूत्रधार—यह डाकुओं के एक महापराक्रमी सरदार थे। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यह सम्पूर्ण व्रजमण्डल के राजा बन बैठे थे। इनकी गढ़ी यमुना तट पर भैगाँव में थी जिसके भग्नावशेष आज भी वहाँ विद्यमान हैं।

नट— ऐसे व्यक्ति भक्त शिरोमणि कैसे बन गये ?

सूत्रधार- इनके पूर्वजन्म के पुण्यबल से श्रीहित हरिवंश गोस्वामी, इनके समय में, श्रीवृन्दावन में निवास करने के लिये पधारे और वहाँ श्रीहिताचार्य की इनके ऊपर सहज रूप से कृपा हो गई। फिर तो जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक प्रकट होता है, उसी प्रकार ये प्रकाशित हो उठे।

नट— इन भक्तराज का चरित्र कहाँ मिलता है ?

सूत्रधार—नाभाजी ने अपने भक्तमाल में नरवाहनजी का नामोल्लेख किया है किन्तु इनका विशद चरित्र नाभाजी से लगभग पचास वर्ष पीछे महात्मा भगवत् मुदित जी ने अपने 'रसिक अनन्य माल' में दिया है। हमने अपने नाटक की रचना 'रसिक अनन्य माल' के आधार पर की है और उसमें यथा सम्भव मूल चरित्र का ही अनुसरण किया है।

नट— रसिकअनन्यमाल में क्या नाभाजी की भक्तमाल में दिये हुये प्रत्येक चरित्र का विस्तार से वर्णन किया है ?

सूत्रधार- नहीं, रसिक अनन्य माल में केवल राधावल्लभीय रसिक भक्तों के विशद चरित्र दिये गये हैं। इसमें स्वयं श्रीमद् व्यासनन्दन के शिष्यों से लेकर उनके प्रपौत्र श्रीदामोदर चन्द्र गोस्वामी के शिष्यों तक के चरित्र हैं।

नट— यह श्रीव्यासनन्दन क्या श्रीहित हरिवंश गोस्वामी का ही नाम है ?

सूत्रधार—हाँ, श्रीहित प्रभु व्यास मिश्रजी के पुत्र थे और नाभाजी ने उनसे सम्बन्धित अपने छप्पय में उनको 'व्यास सुवन' ही कहा है। श्रीहित प्रभु के प्रेमियों को उनका यही नाम प्रिय है।

नट— श्रीहित प्रभु के चौरासी पदों में दो पद 'नरवाहन' की छाप वाले हैं। उनमें से एक पद से हम लोगों ने अभी वंदना की है। क्या यह 'नरवाहन' अपने चरित्र नायक राजा नरवाहनजी ही हैं ?

सूत्रधार—हाँ, यह नरवाहनजी वही हैं, किन्तु ये दोनों पद श्रीव्यासनन्दन की रचना हैं। उन्होंने नरवाहनजी की अद्भुत गुरु-निष्ठा पर रीझकर अपने दो पदों में उनका नाम रख दिया है।

नट— यह तो बड़ी विचित्र बात है। शिष्यों द्वारा अपने गुरु को पद भेंट करने के उदाहरण तो अनेक हैं किन्तु गुरु द्वारा अपने शिष्य को पद अर्पण करने की उलटी क्रिया कहीं देखने में नहीं आई !

सूत्रधार—(हँसकर) श्रीव्यासनंदन प्रेम के अवतार हैं और प्रेम की उलटी क्रियायें प्रसिद्ध हैं। प्रेम में गाली प्रिय लगती है और प्रशंसा सुनकर अनख आती है। प्रेम की दुनिया निराली है और प्रेमियों की रीति भाँति भी निराली होती है।

नट— ऐसे अद्भुत गुरु-शिष्य के जीवन से सम्बन्धित घटना का अभिनय करना भी परम सौभाग्य की बात है।

सूत्रधार—अवश्य। खूब सावधान और भक्ति भाव पूर्ण चित्त से काम करना तभी इन भक्तराजों के अद्भुत भावों को तुम अपने अभिनय में झलका सकोगे।

नट— जो आज्ञा।

(दोनों का प्रस्थान)

द्वितीय दृश्य

स्थान— भँगाँव में राजा नरवाहन की गढ़ी।
समय— रात्रि के नौ बजे।

(राजा नरवाहन अपने आराम-कक्ष में मसनद के सहारे आधे लेटे हुये हुक्का पी रहे हैं। उनका कद ऊँचा, रंग श्याम और चेहरा रौबदार है। उनके सामने चार व्यक्ति घुटने टेक कर अदब पूर्वक बैठे हैं)

नरवाहन—दीवान जी।

दीवान— जय हो, अन्नदाता।

नरवाहन-उधर कई महीनों में इलाके को बढ़ाने की चेष्टा में मुझे बड़े कठोर और भीषण कार्य करने पड़े। मैंने मुकाबिला करने वालों के गावों में आग लगवा दी और भागने वालों को उसी में धकेल दिया। वह सब इतना भयानक था कि मैं उसे देखकर स्वयं काँप उठा। आज गढ़ी में वापिस आकर मैं शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ। (हुक्के का कश खींचता है)।

दीवान— (उत्साह पूर्वक) अनदाता का इकबाल बुलन्द है। आज यह गढ़ी समस्त व्रज मंडल की राजधानी बनी हुई है। आज यहाँ किसी बादशाह की बादशाहत नहीं चलती।

नरवाहन-यह तो सब ठीक है, दीवानजी। (दूर कहीं देखते हुये) किन्तु....किन्तु अब तो मुझे लौटने का कोई मार्ग नहीं रह गया है। अब तो इस भयानकता में ही आगे बढ़ना है। मार-काट के उन भीषण दृश्यों को देखकर काँप उठना मेरी दुर्बलता थी। मैं इसी मार्ग पर आगे बढ़ूँगा। बढ़ना ही जीवन का लक्षण है और मैं जीकर रहना चाहता हूँ।

दीवान — अन्नदाता की कीर्ति चारों दिशाओं में फैल चुकी है और मैं समझता हूँ कि हुजूर को भविष्य में इतनी कठोरता का प्रयोग नहीं करना पड़ेगा।

नरवाहन–मुझको भी यही आशा है। रियासत की अन्तरङ्ग सुरक्षा का प्रबन्ध तुम्हारे ऊपर है, उसमें प्रमाद न करना। वृन्दावन का बन तो पूर्णतया सुरक्षित है न ?

दीवान— हुजूर को मालूम है कि कई वर्षों से बंगाल के कुछ भक्त लोग वृन्दावन में बसने की चेष्टा कर रहे हैं। हमारे कर्मचारी उनको वहाँ जमने नहीं देते किन्तु यह लोग बड़े निडर होते हैं और हमारा इतना आतङ्क होते हुये भी उस वन में चक्कर काटे बिना नहीं मानते।

नरवाहन–तुम उनको यह क्यों नहीं समझा देते कि वृन्दावन हमारा सुरक्षित प्रदेश है और हम उसमें किसी को बसने नहीं देना चाहते।

दीवान— हुजूर, मैंने इनमें से दो व्यक्तियों से स्वयं बातचीत की थी। मेरे कहने से वे वृन्दावन से बाहर चले गये किन्तु कुछ महीनों बाद फिर आ गये। यह दोनों अत्यन्त तेजस्वी होने के साथ अत्यन्त विनम्र और अकिंचन हैं। हमारे कर्मचारियों का कहना है कि हजार कोशिश करने पर भी इनके सामने क्रोध नहीं आता। इनको देखते ही हृदय आनन्द से भर जाता है।

नरवाहन–तुम किसकी बात कर रहे हो ? सनातन और रूप गोस्वामी की ? तुम जब स्वयं इनसे मिले थे तब तुमको क्या अनुभव हुआ था ?

दीवान— सरकार, मुझको उतनी बात तो महसूस नहीं हुई और मैंने दृढ़ता पूर्वक उनको अपना अभिप्राय सुना दिया किन्तु मेरा मन यह मान गया कि श्रीसनातन और श्रीरूप गोस्वामी अद्‌भुत व्यक्ति हैं। उनके दर्शनों में जादू है और उनके विरुद्ध बल प्रयोग करना कठिन काम है। अन्नदाता, मैंने सुना है कि यह दोनों राजपाट छोड़कर आये हैं।

नरवाहन– (मुस्काकर) यह सब कहने सुनने की बातें हैं। हर फकीर अपने को बादशाह का नवासा बतलाता है। दीवान जी, हमको इस दिशा में दृढ़ रहना चाहिये। समय का पाँसा पलटते देर नहीं लगती। हमारे निकट वृन्दावन ही ऐसा घना वन है जहाँ हम समय पड़ने पर छुप सकते हैं और अपना कीमती सामान छुपा सकते हैं।

दीवान— (नीचे को गरदन किये बैठा रहता है)

नरवाहन–क्या सोच रहे हो, दीवान जी ?

दीवान— अन्नदाता, मैं सोच रहा था कि हम इन पूर्वी साधुओं से तो सुलझ हो नहीं पाये हैं कि पश्चिम की ओर से एक महाशय अपनी पत्नी, सेवकों और ठाकुर

जी को साथ लेकर आये हैं और वृन्दावन में यमुना तट की एक टेकरी के ऊपर डेरा डाल दिया है। वृन्दावन के आसपास की बस्तियों में उनका प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है और अनेक लोग उनके ठाकुर जी के दर्शन करने नित्य आते हैं। मैं उनकी गति विधि पर ध्यान रख रहा हूँ।

नरवाहन—(दृढ़ता से) केवल ध्यान रखने से काम नहीं चलेगा। तुम उनसे कहलवा दो कि वे शीघ्र वृन्दावन से बाहर निकल जाँय वरना उनके साथ बुरा बर्ताव होगा।

दीवान — मैंने कल थानेदार साहब को उनके पास भेजा था किन्तु वहाँ पहुँचकर इनकी जो दशा हुई वह इनसे ही सुनिये।

नरवाहन–(कड़क कर) थानेदार !

थानेदार—(भयभीत होकर) अन्नदाता, सेवक अपराधी है। हुजूर जो दण्ड देना चाहें ....।

नरवाहन–घबराओ नहीं। दण्ड-विधान पीछे होगा पहिले वहाँ का हाल सुनाओ। उन महात्मा का नाम क्या है ?

थानेदार—(घबराये हुये याद करने की कोशिश करता है) अन्नदाता .... (सिर खुजाता है) हुजूर, इस समय याद नहीं आता। अपराध क्षमा हो।

नरवाहन–(मुसकरा कर) डरो नहीं। धीरे-धीरे याद कर लो। लो यह पान लो (थानेदार को तथा अन्य सबको पान देते हैं)।

थानेदार–(आश्वस्त होकर) अन्नदाता की जय हो। याद आ गया हुजूर ! उनका नाम हरिवंश गोस्वामी है।

नरवाहन–हरिवंश– हरिवंश, यह भी कोई नाम है ! दीवानजी, तब तो वृन्दावन में पूरब-पश्चिम दोनों तरफ से गोस्वामी चले आ रहे हैं ! पहिले सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी आये और अब हरिवंश गोस्वामी आ गये ! (जोर से हँसता है) बड़ा तमाशा हो रहा है यह। हाँ तो, थानेदार, तुम जब वहाँ पहुँचे तो क्या देखा ?

थानेदार–अन्नदाता, अपराध, क्षमा हो। मैं तो वहाँ कुछ देख ही नहीं पाया। यह लोग जादूगर होते हैं, हुजूर !

दीवान— थानेदार साहब, आरम्भ से ही बहकी बातें न करिये। मुझसे जो बातें आपने कहीं थीं वे अन्नदाता को सुनाइयें।

थानेदार– (दीवान से) जी हाँ। (नरवाहनजी) अन्नदाता, मैं वहाँ दीवान साहब के हुक्म से पाँच सिपाहियों को लेकर ही गया था। मुझको उस टेकरी पर से उन लोगों को हटा देने का हुक्म था।

नरवाहन--तुम जब वहाँ पहुँचे तो वे लोग क्या कर रहे थे ?

थानेदार—अन्नदाता, अपराध क्षमा हो। मैं जब उस टेकरी पर चढ़ने लगा तो मुझे एक अजीब तरह की घबराहट होने लगी। मैंने घूमकर सिपाहियों की ओर देखा तो वे भी घबरा रहे थे। हुजूर, वह विचित्र प्रकार की घबराहट थी। उसमें परेशानी होने के बजाय आराम मिलता था।

नरवाहन–(मुस्कराकर कर) तब तो आप उनसे बड़े आराम से मिले !

थानेदार– हुजूर, हम जब ऊपर पहुँचे तो देखा कि वह टेकरी काफी लम्बीचौड़ी है और उस पर जंगल भी घना नहीं है। हमने कुछ दूर पर बातचीत की आवाज सुनी और उसी ओर जाकर देखा कि एक अत्यन्त तेजस्वी तरुण व्यक्ति एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं और कुछ मुस्काकर सामने बैठे दो-तीन साधुओं से बातचीत कर रहे हैं। उनका शरीर पतला-दुबला और रङ्ग एकदम गोर था। वे पगड़ी, अंगरखी और धोती पहिने हुये थे। उनके दर्शन....... (चुप हो जाता है)

नरवाहन–(मुस्कराकर) तुम पर तो उनका जादू पूरा चल गया लगता है !

थानेदार–(हिम्मत बाँधकर) हुजूर, अपराध क्षमा हो। उनके दर्शन करते ही हम लोगों के मन से उनको वहाँ से हटाने की बात ही निकल गई और........।

नरवाहन–(व्यंग्य से) शाबास। अच्छा, कहते जाओ।

थानेदार–और हुजूर, हम वहाँ बैठकर उनकी बातचीत सुनने लगे।

नरवाहन–क्या बातचीत हो रही थी ?

थानेदार— अन्नदाता, बातचीत तो समझ में नहीं आती थी किन्तु उनके स्वर को सुनकर बड़ा आनन्द मिल रहा था। वे कुछ कह रहे थे और मुझे ऐसा मालूम होता था कि वहाँ-दूर-यमुना तट पर-कोई वंशी में मीठी तानें ले रहा है ! मैं ...।

नरवाहन–(बीच में काटकर, कड़ाई से) यह हकूमत है, शायरी नहीं है, थानेदार। तुम अपनी कायरता को इस शायरी के नीचे ढँकना चाहते हो। अब जाकर आराम करो। मैं स्वयं वहाँ जाकर देखूँगा और इसके बाद तुम्हारे लिये दण्ड-व्यवस्था करूँगा।

(नरवाहन जी उठकर खड़े हो जाते हैं। सब लोग झुककर सलाम करते हैं। नरवाहनजी का धीरे-धीरे प्रस्थान, परदा गिरता है)

तृतीय दृश्य

वृन्दावन में यमुना तट की एक टेकरी के ऊपर श्रीहितहरिवंश गोस्वामी का निवास-स्थल। श्रीहरिवंश चन्द्र एक वृक्ष के नीचे अपने स्वाभाविक आसन से बैठे हैं।

उन्होंने पगड़ी, छःबन्दी, दुपट्टा और पीताम्बर पहिन रखे हैं और सहज प्रसन्न मुद्रा में वन की ओर देख रहे हैं। उनके सामने नवलदास वैरागी, गाँगू, मेदा और रङ्गा बैठे हैं)।

श्रीहरिवंश–नवलदास, कुँवरि लाड़िली ने मेरे ऊपर यह महती कृपा करी कि मोकूं यहाँ श्रीवृन्दावन में बुलाय लियौ। (विमुग्ध नेत्रों से चारों ओर देखकर) मेरे नेत्र श्रीवृन्दावन कूं देखकें तृप्ति नहीं मानें हैं।

नवलदास–जय कृपा नाथ, आपका हृदय श्रीवृन्दावन की प्रभा से आलोकित है और अब यह श्रीवृन्दावन आपकी हृदय-प्रभा से प्रकाशित होने जा रहा है।

श्रीहरिवंश–(सहसा खिन्न होकर) किन्तु नवलदास, लोक में सर्वत्र श्रीराधा के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ी हलकी धारणायें फैल रही हैं और यहाँ आस पास के गामन में हू येई स्थिति है। यह देख कै मेरौ हृदय बहुत दुखी होय है।

नवलदास–(मुसकाकर) यही यो आपके प्रकट होने का प्रयोजन है। मैंने देख लिया है........।

श्रीहरिवंश–(बीच में बात काटकर उसी खिन्न स्वर में ब्रह्मा शिवादिक हू जिनकी चरण रेणु कूँ अपने मस्तक पर धारण करने कौ अधिकार प्राप्त नाहिं कर सकै हैं और जो प्रेम रस सागर की अपार निधि हैं, वे श्रीराधा हू काल गति तें साधारण जैसी बन गई हैं। हे बलवान दैव, तोकूँ नमस्कार है।

यत्पादांबुरुहैक रेणु कणिकां मूर्ध्नां निधातुं न हि,
प्रापुर्ब्रह्म शिवादयोप्यधिकृतिं गोप्यैक भावाश्रयाः।
सापि प्रेम सुधा रसाम्बुधिनिधी राधापि साधारणी-
भूता काल गति क्रमेण बलिना, हे दैव तुभ्यं नमः॥

नवलदास–स्थिति तो वैसी ही है जैसी आप आज्ञा कर रहे हैं किन्तु आप जैसी विभूतियाँ दैव का उपहास करके काल की गति को बदलती आई हैं। अन्यथा जड़ काल की यह अन्ध गति चेतन मनुष्य को न जाने कहाँ ले जाकर डालती। आपके नेत्र और वाणी में श्रीराधा का जो चरम गरिमा युक्त अद्‌भुत रूप प्रकाशित हो रहा है वह इतना सरस और सुन्दर है कि सहृदय भक्तों को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। काल की गति का बदलना आरम्भ हो गया है।

(नरवाहन जी का प्रवेश। वे नवलदास जी की बगल में कुछ पीछे हटकर बैठ जाते हैं। कोई उनकी ओर नहीं देखता)

श्रीहरिवंश–यह तौ ठीक है किन्तु देखौ तौ सही कहाँ तौ वेदन कूँ हू अगम्य श्रीराधा, और कहाँ उनके हृदय कमल में एकान्त निवास करवे वारे श्रीश्यामसुन्दर

और कहाँ परम अधम और तुच्छ मैं। तौहू मोकूँ जो श्रीराधा नाम को यह स्फुरण होय है सो या श्रीवृन्दावन की ही महिमा है।

क्वासौ राधा निगम पदवी दूरगा कुत्र चासौ-
कृष्णस्तस्या कुचकमलयोरन्तरैकान्त वासः।
क्वाहं तुच्छः परममधमः प्राण्यहो गर्ह्य कर्मा,
यत्तन्नाम स्फुरति महिमा एष वृन्दावनस्य ॥

नरवाहन-(साश्चर्य) तो क्या यह वृन्दावन इतना महिमाशाली है ? मैं यहाँ का राजा हूँ।

श्रीहरिवंश-(मुसकराकर) यहाँ की राजा श्रीराधारानी हैं। तुम तो यदि उनके तुच्छ सेवक बन के रह जाऔ तौ तुम्हारे कर्म-बन्धन टूट जाँय, तन और मन परमानन्द तें पूरित ह्वै जाँय और मनुष्य जीवन धन्य ह्वै जाय।

नरवाहन-(अत्यन्त चकित होकर, स्वगत) ऐं ... यह मेरे अन्दर क्या हुआ जा रहा है ! यह कौन हैं ? (हाथ जोड़कर) मैं अनेक दिनों से संतप्त हूँ। मैंने जीवनभर अत्यन्त क्रूर कर्म किये हैं। मैंने हजारों घर उजाड़े हैं, अनेक स्त्रियों को विधवा बनाया है। हजारों बच्चों को अनाथ बनाया है। मेरे जैसे महा अपराधी और महा तुच्छ को श्रीराधारानी सेवक के रूप में कैसे स्वीकार करेंगी ?

श्रीहरिवंश-घबड़ाऔ नहीं। वे करुणा की अपार सागर हैं और करुणा सदैव तुच्छन के ऊपर ही बरसै है। तुम अपने कूं महा तुच्छ मान गये हौ याही तें उनकी करुणा के अधिकारी बन गये हौ।

नरवाहन-मैं यहाँ आकर धन्य हो गया, दीनबन्धु ! मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में सुख की छाया भी नहीं देखी और आज (सिहर कर) आपकी कृपा से मेरे शरीर का कण-कण सुख सिंधु में डूबा जा रहा है। यह सब क्या है ? श्रीराधा कौन हैं ? मुझ अधम को बताने की कृपा करेंगे ?

श्रीहरिवंश-श्रीकृष्ण की भाँति श्रीराधा हू या लोक में अनेक रूपन में पूजित हैं। कोऊ उनकौं स्वतन्त्रा पराशक्ति मानत हैं, कोऊ महा सुख रूपा पार्वती और इन्द्राणी मानें हैं, और कोऊ उनकी पूजा श्रीकृष्ण विरहणी के रूप में करत हैं। किन्तु मेरी प्राणनाथ तौ वे श्रीराधा हैं जो श्रीवृन्दावन निकुञ्ज मन्दिर में अपने कोटि कन्दर्प विमोहन प्रियतम के साथ अनादि-अनन्त प्रेम क्रीड़ा में निमग्न हैं। वे परम प्रेम, परम सौन्दर्य, परम रस की सहज सीमा हैं। वे नित्य किशोरी हैं, नित्य रासेश्वरी हैं, नित्य वामा हैं। उनके प्रियतम के मन

तें यह सोच दूर नाहिं होय है कि प्रिया नें मेरी ओर कबहुँ पूर्ण प्रसन्न दृष्टि तें नाहि देख्यौ—

नैकु प्रसन्न दृष्टि पूरन करि नहिं मो तन चितयौ प्रमदा तैं।
हित हरिवंश हंस कल गामिनि भावै सो करहु प्रेम के नातैं ॥

(कुछ क्षणों के लिये भावाविष्ट हो जाते हैं। धीरे-धीरे सावधान होकर थकित स्वर में) श्रीराधा वर्णनातीत हैं।

नरवाहन–श्रीराधा का यह रूप तो बड़ा अद्‌भुत है। हम व्रजवासी लोग तो उनको व्रज की एक गोपिका और श्रीकृष्ण की परम प्रेमिका सुनते आये हैं।

श्रीहरिवंश–वे व्रज गोपिका ही हैं, वृषभानुनंदिनी ही हैं। किन्तु वृन्दावन निकुञ्ज मन्दिर में उनकौ बानक दूसरौ ही बन रह्यौ है। यहाँ वे श्रीकृष्ण की प्रेमिका, उनकी उपासिका होने के स्थान में उनकी एकमात्र आराध्या हैं, उपास्या हैं। या निकुञ्ज वन की उज्ज्वल छाया में उनकौ सहज प्रेम और माधुर्य कछु या प्रकार निखर आयौ है कै रसिक शेखर श्रीश्यामसुन्दर अपने सृष्टि-पालन आदि कार्यन कूं, अपने भक्तन और मित्रन कूँ, अपने माता-पिता कूँ भूल कै रात दिन निकुञ्ज गलिन की उपासना करत रहत हैं।

दूरे सृष्टयादि वार्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन्स्वभक्तान्।
श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्नमिलति हरति स्नेहवृद्धि स्वपित्रोः ॥
किन्तु प्रेमैक सीमां परम रस सुधा सिंधु सारैरगाधां,
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्ज-वीथी मुपास्ते ॥

नरवाहन–(कातर स्वर में) इन निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा की कृपा प्राप्त करने का साधन क्या है दीनबन्धु ?

श्रीहरिवंश–साधन ! अरे तुमतौ राजा हौ ! राजा-रानी की कृपा कैसे प्राप्त करी जाय है ?

नरवाहन–उनके दास-दासी बनकर।

श्रीहरिवंश–तौ तुम श्रीवृन्दावन रानी की एक अकिञ्चन दासी बन जाऔ। उनकी कृपा कौ द्वार खुल जायगौ और क्रमशः तुम एक ऐसी परम सुखमयी स्थिति में पहुँच जाओगे जाके आगें मुक्ति सुख फीकौ लगैगौ। अनेक लोग अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष नामक चार पुरुषार्थन की बात करत रहत हैं। मेरे मन कूँ तौ श्रीवृन्दावन की सीमा में वर्तमान परमाश्चर्यमयी नित्य किशोरी के दास्य रसामृत कूँ छाँड़ि कै अन्य कछू नाहिं भावै है।

धर्माद्यर्थ चतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथा वार्त्तया,
सैकान्तेश्वर भक्तियोग पदवी त्वारोपिता मूर्द्धनि।

यो वृन्दावन सोम्नि कश्चन घनाश्चर्य्यः किशोरीमणि-
स्तत्कैंकर्य रसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते ।।

नरवाहन–किन्तु.... .. किन्तु मैंने तो वृन्दावन रानी देखी नहीं। उनको देखे बिना उनकी दासता कैसे करूँ ?

श्रीहरिवंश–(एक क्षण के लिए चुप रहते हैं)

नवलदास –(श्रीहित प्रभु से) अपराध क्षमा हो। (नरवाहनजी से) राजन्, श्रीराधा दास्य प्राप्त करने के दो साधन हैं, एक तो स्वयं श्रीवृन्दावन रानी की कृपा, दूसरी उनकी अनन्य दासियों की कृपा। मोटे रूप में इसे यों समझ लीजिये कि एक तो भगवान् की कृपा दूसरी भक्त-कृपा। आपने वृन्दावन रानी तो नहीं देखीं, यदि कहीं उनकी अनन्य किङ्करी आपको दिखाई दे जायें तो उनकी कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करो। आपका काम बन जायगा।

नरवाहन–(चौंक कर) एें, क्या कहा ? तब तो मेरा काम बन गया, दीनबन्धु। (आगे बढ़ कर श्रीमन्महाप्रभु के चरण पकड़ लेते हैं) प्रभो, मुझ पर कृपा करो। मैं महा अधम जीव हूँ और न जाने कितने जन्मों से भवसागर में गोते खा रहा हूँ। मुझ पर दया करो।

[श्रीमहाप्रभु नरवाहनजी के झुके हुये सिर पर हाथ रख देते हैं]

रङ्गा— कृपानाथ, सन्ध्या-स्नान का समय हो गया।

श्रीहरिवंश--(आकाश की ओर देख कर) चलो।

[श्रीहरिवंश उठकर खड़े हो जाते हैं। सब लोग उनके चरणों में प्रणाम करते हैं। प्रस्थान]

चतुर्थ दृश्य

[भैंगाँव में राजा नरवाहन की गढ़ी का दीवान खाना। दीवान खाना बहुमूल्य वस्तुओं से सजा है। एक सिरे पर सोने के काम वाला चाँदी का सिंहासन है। उसके पीछे दो नङ्गी तलवारें धनुष के आकार में टँगी हैं। फर्श पर कालीन बिछा है जिस पर, सिंहासन के निकट, दीवान एवं चार अन्य उच्च राज कर्मचारी गम्भीर मुद्रा में बैठे हैं]

दीवान—(गम्भीरता से) मित्रो, अन्नदाता के पधारने में अभी थोड़ी देर है। मैंने आपको कुछ देर पहिले एक विशेष कार्य से बुलाया है। आप लोग देख रहे हैं कि अन्नदाता के स्वभाव में क्रमशः बड़ा परिवर्तन होता जा रहा है।

नायवदीवान-जी, वे तो इतने बदल गये हैं कि दूसरे-से दिखलाई देते हैं। उनके स्वभाव में एक अजीव-सी शिथिलता आ गई है, उनका वह प्रचण्ड ओज न जाने कहाँ चला गया ?

दीवान— स्वभाव में शिथिलता आ जाने से शासन में शिथिलता आ रही है। लोग अब राज कर्मचारियों से उतना नहीं डरते। ऐसी हालत में उनसे काम निकालना कठिन हो रहा है।

सेनापति—सेना में भी शिथिलता आ रही है। सिपाहियों की तनख्वाह महीनों तक रुकी रहती है और बड़ी मुश्किल से खजाना उसका भुगतान कर पाता है।

कोषाध्यक्ष--इसमें खजाना क्या करे? खजाने को भरने के सब बड़े-बड़े मार्ग बन्द कर दिये गये हैं।

सेनापति— जी हाँ, पहिले हम लोग मालदार गाँवों या राहगीरों को लूटकर खजाना भरते रहते थे। अब लूटपाट करने की सख्त मुमानियत है।

कोषाध्यक्ष--अब आमद का जरिया एक मात्र भूमिकर रह गया है या वह चुङ्गी है जो हम जमना की नावों से लेते हैं। यह दोनों मिल कर भी रियासत के खर्चे के लिये अपर्याप्त रहते हैं।

[वृन्दावन के थानेदार का प्रवेश)

थानेदार—(सब लोगों को बैठा देखकर, सहम कर) हुजूर, क्षमा करें। मुझे अन्नदाता को कुछ समाचार सुनाने थे। अभी वे नहीं पधारे हैं?

[वापस जाने को मुड़ता है]

दीवान— आओ थानेदार। हम लोग रियासत की वर्तमान स्थिति पर विचार कर रहे थे। इस सम्बन्ध में तुम्हारे विचार सुनने का मौका मिला।

थानेदार— (नम्रता से) हुजूर, मैं तो ताबेदार हूँ। मैं रियासत के मामले में क्या समझूँ?

दीवान— तुमको आजकल अन्नदाता का एकान्त संग प्राप्त होता है। कभी वे रियासत की कोई चर्चा करते हैं?

थानेदार— कभी नहीं।

दीवान— तब फिर इस रियासत का क्या हो? तुम आज इस प्रश्न को अन्नदाता के सामने रखना।

थानेदार – जो आज्ञा।

[चोबदार का प्रवेश]

चोबदार— अन्नदाता पधार रहे हैं।
(सब लोग उठकर खड़े हो जाते हैं। नरवाहनजी का प्रवेश। वे राजसी वेष में हैं किन्तु वह अस्त-व्यस्त ढंग से पहिना हुआ है। उनके मुख पर गम्भीर शान्ति है। वे सिंहासन के निकट तक जाते हैं)

नरवाहन—(दीवाल पर टँगी तलवार की ओर संकेत करके) दीवानजी, अब तो ये चीजें बड़ी हास्यापद बन गई हैं। मैंने इनके बल पर जीवन का सुख प्राप्त करना चाहा था, हा-हा-हा (हँसते हैं) इनको हटवा दीजिये।

दीवान—(झुककर) जो आज्ञा।

[नरवाहनजी सिंहासन पर बैठते हैं। सब लोग आदाब करके बैठ जाते हैं]

नरवाहन—(थानेदार की ओर देख कर, उत्सुकता से) श्रीवृन्दावन के क्या समाचार हैं, थानेदार जी ?

थानेदार—आपके प्रताप से वहाँ पूर्ण शान्ति है। किसी प्रकार का विघ्न न होने से सब महात्मा गण खूब आनन्द से भजन कर रहे हैं। पिछले महीनों में कई नये तेजस्वी महात्मा वहाँ आये हैं और कुटिया बनाकर सुख पूर्वक रह रहे हैं। श्रीव्यासजी नामक एक उच्चकोटि के महात्मा श्रीगुरुदेव के पास रहने लगे हैं और उनके कारण वहाँ सत्संग की धूम मची रहती है।

नरवाहन—तुम्हारा परम भाग्य है कि तुम श्रीवृन्दावन के थानेदार हो। सन्तों की सेवा करके इस सौभाग्य का पूरा लाभ उठाना। मुझे तो श्रीगुरुदेव की आज्ञा से इस जंजाल में रहना पड़ रहा है।

थानेदार--अन्नदाता, अपराध क्षमा हो, आपके पधारने से पूर्व यहाँ सब लोग रियासत की वर्तमान स्थिति पर विचार कर रहे थे।

नरवाहन—(दीवान से) कैसी स्थिति ? दीवान जी।

दीवान—अन्नदाता, अर्थ के अभाव में राज्यतन्त्र अस्त-व्यस्त हुआ जा रहा है।

नरवाहन–ओ हो ! अर्थ का अभाव तो हो ही गया है। तुम एक काम करो। फौज को आधी कर दो और जहाँ भी जरूरत से ज्यादा आदमी हों वहाँ कमी कर दो।

दीवान—अपराध क्षमा हो, इससे प्रजा का राज्याश्रय कम हो जायगा। अनेक लोग राज्य के विभिन्न महकमों में पल रहे हैं। वे सब बेकाम हो जायेंगे !

नरवाहन—तब यह करो कि कमी किये गये लोगों में से जिनके पास आमद का अन्य कोई साधन नहीं है, उनको सरकारी जमीन में बसा दो।

दीवान— इससे गढ़ी की अर्थ-व्यवस्था गड़बड़ा जायगी। गढ़ी के पास केवल सरकारी जमीन की आमद रह गई है।

नरवाहन–मैंने गढ़ी के अनाप-शनाप खर्च को बन्द कर दिया है। मैं उसमें और भी कमी कर दूंगा। राजा और प्रजा के जीवन-स्तर में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिये। मेरी प्रजा गरीब है।

दीवान— जो आज्ञा, मैं इसी प्रकार से व्यवस्था कर दूंगा।

नरवाहन—दीवान जी, पहिले मैं दूसरों की गरदन काटने में वीरता मानता था। अब मैं यह देखता हूँ कि अपनी गरदन काट कर भूमि पर रख देने में ही सच्चा पौरुष है। (थके हुये स्वर में) मुझ से अब यह शासन नहीं सँभलता किन्तु क्या करूँ, श्रीगुरुदेव की आज्ञा ही ऐसी है। अब तो वे ही इस रियासत के रक्षक हैं।

दीवान— अन्नदाता, आपका ध्यान इस ओर कम हो जाने से हम लोगों के सामने बड़ी विकट स्थितियाँ आती हैं किन्तु न जाने कैसे हर बार हमारी रक्षा हो जाती है। जमना की चुङ्गी.......(चुंगी के दरोगा का प्रवेश, दीवान चुप हो जाता है।)

दरोगा— अन्नदाता की जय हो। आज तो जमना पर एक खासा युद्ध हो गया।

नरवाहन—(चौंक कर) क्या हुआ ? क्या चुंगी माँगने पर झगड़ा हो गया ?

दरोगा— जी हाँ ! एक बड़ा व्यापारी अनेक सशस्त्र नावों में बहुत-सा बहुमूल्य सामान लादे जा रहा था। हमको पहिले से सूचना मिल गई थी कि उसने ऊपर भी कहीं चुंगी नहीं दी है और हर एक से लड़ता-भिड़ता चला आ रहा है।

सेनापति—तुमने सेना को सूचना क्यों नहीं दी ?

दरोगा— अन्नदाता के प्रताप से उसकी आवश्यकता नहीं हुई। उसके आने से पहिले मैंने अन्य कई नाकों से सशस्त्र वीरों को इकट्ठा कर लिया था।

नरवाहन—फिर क्या हुआ ?

दरोगा— हमारे चुंगी माँगने पर उसने तुपकों और जमूरों से हमारे ऊपर अग्नि वर्षा आरम्भ करदी और उसमें हमारे अनेक आदमी हताहत हो गये। इस पर हमारे वीरों को क्रोध आ गया और वे नंगी तलवारें अपने मुंह में दबाकर व्यापारी की नावों पर चढ़ गये।

नरवाहन—(प्रसन्न होकर) शाबाश।

दरोगा— व्यापारी के नाविकों ने कुछ देर मुकाबिला किया किन्तु टिक नहीं सके और जमना में कूद गये। हमारे वीरों ने व्यापारी की सब नावों पर कब्जा कर लिया और व्यापारी को गिरफ्तार कर लिया। थोड़ी देर में ही वह अन्नदाता के सामने उपस्थित किया जायगा।

नरवाहन—क्या तमाशा है ! लोग हमको बिना लड़े जीने नहीं देना चाहते। हमने लूट-पाट करना बन्द कर दिया है तो वे चुंगी भी नहीं देना चाहते। इस झगड़े में हमारे कितने आदमी मारे गये ?

दरोगा— अन्नदाता, इस युद्ध में हमारे बीस आदमी मारे गये और बीसियों घायल हो गये।

नरवाहन—ऊफ् जरा सी चुंगी पर इतना बड़ा नरसंहार हो गया। (क्रोध से) मैं .... ।

(चार सैनिकों का व्यापारी को लेकर प्रवेश। व्यापारी तरुण, सुन्दर और सशक्त है। उसकी दोनों बाहों में रस्सी बाँधकर दो सैनिक पीछे से पकड़े हुए हैं। उसके मुँह पर और बाँहों पर खून बहकर सूख गया है। वह अत्यन्त भयभीत है)

सैनिक— अन्नदाता की जय हो। अपराधी उपस्थित है।

नरवाहन–(क्रोध पूर्वक व्यापारी की ओर देखकर) क्यों रे, तैंने जरा-सी चुंगी पर इतने आदमी मार डाले। तू आदमी है-या शैतान ? बोलता क्यों नहीं है ?

व्यापारी– (हाथ जोड़कर) हुजूर, मैं एक गरीब जैनी बनियाँ हूँ।

नरवाहन–(व्यंग्य से) तब तो तू पूरा अहिंसक निकला ! तैंने आज निरीह ब्रज-वासियों के रक्त से जमुना के जल को लाल बना दिया। दीवान जी, इसको कैद में डाल दो और इसके सब माल असबाब को जब्त कर लो (व्यापारी से) तेरा माल कितने रुपये का है ?

व्यापारी – तीन लाख रुपये का, हुजूर।

नरवाहन—तब तो तेरी कीमत तीन लाख रुपये हो गई। तू तीन महीने के अन्दर इस रकम को अपने घर से मँगा दे अन्यथा समय पूरा होने पर तुझे फाँसी पर लटका दिया जायगा।

व्यापारी– (घबराकर) हुजूर........ सरकार, मैंने इन नावों पर अपने सर्वस्व का दाव लगाया था। अब मेरे घर पर कुछ नहीं है। मेरे बच्चे भूखों मर जायेंगे, सरकार।

नरवाहन—और जिन आदमियों को तैंने मार डाला है, उनके बच्चे अब क्या करेंगे ? यह तीन लाख रुपये उन्हीं के लिए तुझे मँगाने हैं। (व्यापारी चुप रहता है) (दीवान से) यह पूरा बदमाश मालुम होता है। इससे सीधी अँगुली से काम नहीं निकलेगा। (सैनिकों से) इस शैतान को ले जाओ और गढ़ी की काल कोठरी में डाल दो।

व्यापारी— (भय से काँपते हुए) हुजूर.... ....सरकार....क्षमा........ । (सैनिक धक्का देकर ले जाते हैं।)

नरवाहन–(खिन्न होकर) आज का दिन बड़ा अशुभ रहा। नाहक इतने आदमी मारे गये। दीवान जी, घायलों का रियासत की ओर से इलाज कराना और मृतों

के परिवारों को पूरा मुआबिजा देना। और देखो, इस घटना की खबर श्रीगुरुदेव के पास न पहुँचने पावे।

(नरवाहन जी का बाँई ओर से निष्क्रमण। दाहिनी ओर से अन्य सब लोग जाते हैं) (परदा उठता है)

पञ्चम दृश्य

(गढ़ी का कारागृह। एक तंग कच्ची कोठरी जिसके दरवाजे पर सींखचों के किवाड़ लगे हैं। अन्दर व्यापारी एक टाट पर पड़ा है। वह बहुत दुर्बल हो गया है और उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है। कारागृह के बाहर दो सैनिक मूढ़ों पर बैठे हैं। परदा खलते ही दोनों खड़े होकर अँगड़ाई लेते हैं और एक दूसरे के पास आ जाते हैं।)

मुसलमान-अरे यार, इस कैदी पर तो बड़ा रहम आता है। तीन महीने हो गये हैं, इस विचारे के प्राण भी तो नहीं निकलते हैं कि दुःखों से छूट जाय।

जाट— घबरावै मत कल याकौ काम है लेगौ।

मुसलमान-अच्छा तो कल इसे फाँसी पर लटका दिया जायेगा।

जाट— धीरे बोल। कहूँ जाग न रह्यौ होय। फाँसी कौ नाम सुनिकै कहूँ रोमन लग्यौ तौ डाटे न डटैगौ।

मुसलमान-तभी आज दरोगा आँख निकाल-निकाल कर कह रहा था, जागते रहना-जागते रहना। इन लोगों का जुबान हिलाने में क्या बिगड़ता है ? मूढ़ों पर बैठ कर रात भर जागना पड़े तो अक्ल ठिकाने आ जाय।

जाट— बकने दे यार ! यहाँ तौ दोऊ ज्वान आराम तें सोमत हैं। दरोगा तौ बेवकूफ हैं, हमपै तें कैदी निकसि जायगौ ?

मुसलमान-और यह जो इसे हथकड़ी-बेड़ी पहना रखी हैं और सीखचों में बन्द है सो हमारी आँख लगते ही तोड़ डालेगा क्या ?

जाट— बा दरोगा के बचचा तेई पूछ। पर एक बात है यार, कहीं चिरैया बनकै निकसि गयौ तौ ?

मुसलमान-तो दरोगा के बाप से भी नहीं रुकेगा। मुझ पर जादू आता होता तो इस कैदी को तो मैं चिड़िया बनाकर ही निकाल देता।

जाट— ज्यादा दया मत दिखावै। कोई सुन लेगौ तौ कैदी के संग तू भी कल लटकौ दीखैगौ।

मुसलमान-पर भाई, मेरा मन तो यह कहता है कि यह कैदी कल मरेगा नहीं।

जाट— क्यौं बाबरौ ह्वै रह्यौ है। राजा कौ हुक्म है—राजा कौ। (जँभाई लेकर) म्हौड़ौ फटन लग्यौ, तमाखू निकार। (दोनों तमाखू खाते हैं) यार तमाखू है बढ़िया चीज !

मुसलमान-(प्रसन्न होकर) बढ़िया चीज न होती तो फरिस्ते इसके लिये क्यों तरसते। (हँसकर) तुम्हारे कृष्ण भगवान् जब वैकुण्ठ जाने लगे तो मालूम है रुक्मिणी जी क्या बोलीं ?

जाट— न, का बोलीं ?

मुसलमान-कृष्ण चले वैकुण्ठ को रुक्मिणो पकरे पाँय।
यहाँ तमाखू खाय लेउ वहाँ तमाखू नाँय।।

(दोनों हँसते हैं)

जाट— तौ तू वा किस्सा कूँ और सुनाय दै जो तैनें वा दिना चौपार पै सुनायौ हौ।

मुसलमान-कौन-सा ?

जाट— वही जाट और मौलवी वारौ।

मुसलमान-(हँसता है) हा-हा-हा-वह ? वह बड़े मजे का है। सुनो! एक मौलवी साहब थे। उनके मकतब (स्कूल) में एक जाट का लड़का पढ़ता था। मौलवी साहब थे चटोरे, रोज मकतब के लड़कों से कहते कि अपने घर पर हमारी दावत करो। बनियों, ब्राह्मणों के लड़कों ने तो अपने माँ-बाप के पीछे पड़कर मौलवी साहब की दावत करदी पर उस जाट के लड़के की घर में पेश नहीं जाती थी।

जाट— जाटते कौन की पेश गई है ?

मुसलमान-हाँ। लड़का जब बाप से दावत करने को कहै तो उसकी माँ उसको धमकावे और जब माँ से कहे तो बाप उसको मारने दौड़े। लड़का गरीब बड़े चक्कर में फँसा। माँ-बाप सुनें नहीं और मौलवी साहब दावत की रट बन्द न करें।

जाट— यह तौ इत गिरौ तौ कुँआ और उत गिरौ तौ खाई बारी बात फँस गई।

मुसलमान--हाँ। एक दिन भगवान् ने लड़के की सुनली मावस का दिन था, जाटनी ने खीर बनाई। खीर तैयार होने पर जाटनी ने उसे चूल्हे पर से उतार कर जमीन पर रख दिया और खुद गोबर-कूड़ा उठाने चली गई। थोड़ी देर में एक कुत्ता खीर में आ लगा। जाटनी जब लौटकर आई तो उसने कुत्ते को खीर चाटते देखा। कुत्ते को भगाकर वह सीधी जाट के पास पहुँची। बोली—आज उस मौलवी को दावत करा दो। छोरा जान खाये जाता है। जाट ने जरा मुसकराकर पूछा आज क्या बात है ? बोली—बात क्या है ?

कुत्ता खीर बिगाड़ गया है अब उसे कौन खायेगा ? जाट की भी समझ में बात आगई । लड़के ने दौड़कर मौलवी साहब को खबर देदी और थोड़ी देर में कपड़े-लत्ते पहिन कर आँखों में सुरमा डालकर मौलवी साहब आ पहुँचे । जाटनी ने एक मिट्‌टी की थाली में खीर परोसी और बड़े चाव से खिलाने लगी । बीच-बीच में वह पूछती जाती थी कि मौलवी साहब खीर कैसी बनी है ? मौलवी तारीफ करते जाँय और खीर सपोटते जाँय । जब मौलवी साहब ने खीर की बहुत तारीफ की तो जाटनी भयभीत होकर बोली, क्या बताऊँ मौलवी साहब खीर तो और भी बढ़िया बनती नासपीटा कुत्ता आकर उसके ऊपर की सब मलाई चाट गया ।

जाट— (हँसता है) हा-हा-हा मौलवी लाल-तत्तौ है गयौ होयगौ ?

मुसलमान–अब खा तो मरा ही था । गुस्सा जो आया तो थाली उठाकर फेंकदी । मिट्‌टी की थाली, गिरते ही टुकड़े-टुकड़े हो गई । अब जाटनी को गुस्सा आया, वाह मौलवी साहब हमने तुम्हें दावत को बुलाया तो तुमने दूसरे की थाली तोड़ दी । यह तो मैं बुद्धा चमार के घर ते माँग कर लाई थी ।

जाट— (हँसता है) हा-हा-हा शाबास जाटनी !

मुसलमान– मौलवी को गुस्सा आ ही रहा था झल्लाकर बोले– कमबख्त तूने मेरा ईमान बिगाड़ दिया । तूने मुझे कुत्ते की जूठी खीर चमार की जूठी थाली में खिलादी । थू-थू-थू अरे मेरा तो जी मिचलाने लगा और मौलवी साहब अपने घर की तरफ भागे । बाहर अथाई पर जाट बैठा हुक्का पी रहा था । उसने मौलवी साहब को रोका और मिन्नतें करके अपने पास बैठा लिया । मौलवी साहब एक ही बात बार-बार कह रहे थे । मेरा जी मिचलाता है, मेरा जी मिचलाता है ! जाट को कुछ रहम आया और वह ताख में से एक सुपाड़ी उठा लाया और कहने लगा, मौलवी साहब इसे मुँह में डाल लो और धीरे-धीरे चूसो, मौलवी के पेट में सुपाड़ी का रस गया तो उनको जरा ढाँढस बँधा और जब वे उठने लगे तो जाट बोला—मौलवी साहब ! सुपाड़ी देते जाओ । मेरा जब जी मिचलाता है तब इसे ही मुंह में डाल लेता हूँ । अब तो मौलवी साहब बेबकूफों की तरह उसके मुँह की तरफ देखने लगे । जाट ने झुककर उनको सलाम की और मौलवी थू-थू-थू करते अपने घर पहुँचा ।

जाट— (जोर से हँसता है) हद्द है गई । फिर तौ मौलवी ने काहू छोरा ते दावत करवे की न कही होयगी ?

मुसलमान– (हँसकर) आप लोगों का मारा हुआ पानी नहीं माँगता है । जाट की एक तरकीब ने मौलवी साहब से सारे गाँव का पीछा छुड़ा दिया ।

(दरोगा का प्रवेश । दोनों उठकर खड़े हो जाते हैं)

दरोगा— जाग रहे हो न रे ?

दोनों पहरेदार—जी हाँ, हुजूर !

दरोगा— (सीखचों की ओर देखकर) बस, आज की ही बात और है ! खबरदार, जागते रहना । (जाता है)

जाट— लै लाला, कलेस कटि गयौ । अबतौ ये सबेरे तक आमत नाँय, अब मौजते सोऔ ।

(दोनों चादर बिछाकर सो जाते हैं)

(कारागृह के अन्दर दाहिनी ओर से दासी का प्रवेश—
दासी की अवस्था लगभग ४५ वर्ष की है, वह हाथ में दीपक लिये हुये है । बन्दी के निकट जाकर वह दीपक के प्रकाश में उसका मुख देखती है)

दासी— कैसा भोला मुख है ! कितनी छोटी उम्र है (साँस खींचकर) अभागा चैन से सो रहा है ! इसको क्या मालूम कि कल फांसी पर लटकना होगा । (उसका कन्धा पकड़कर हिलाती है)

व्यापारी– (चौंक कर उठता है) तुम कौन हो ? क्यों आई हो ?

दासी— (दपट कर) धीरे बोलो । मैं तुम्हारी हित चिंतक हूँ । कल तुम को फाँसी देने का हुक्म भरे दरबार में हो गया है ।

व्यपारी—(घबड़ाकर) ऐं.... .. कल ही.... मेरे घर पर कुछ नहीं है, मैं इतना रुपया कहाँ से मँगाऊँ ? मेरे तो बच्चे भूखों........

दासी— घबड़ाओ नहीं । तुम्हारा ही भाग्य कुछ ऐसा है, नहीं तो अन्नदाता अब किसी से कठोर वचन भी नहीं कहते । तुमने बीस पच्चीस आदमी मार दिये हैं, इस बात को अन्नदाता नहीं भूल पाते ।

व्यापारी– (घबड़ाकर) मेरे बचने का कोई उपाय नहीं है ?

दासी— उपाय है, पर तुम उसे कर सकोगे ?

व्यापारी– (गिड़ागिड़ाकर) अवश्य कर सकूँगा । तुम मुझे बता भर दो, मेरी माँ !

दासी— तो देखो, वृन्दावन में एक महात्मा पधारे हैं । उनका नाम श्रीहित हरिवंश गोस्वामी है । राजा उनके शिष्य हैं और उनकी कृपा से कुछ-कुछ बन गये हैं । वे अपने गुरु को भगवान् से भी अधिक मानते हैं और किसी के मुख से उनका नाम सुनकर प्रेम-विह्वल बन जाते हैं ।

व्यापारी–ऐसे भक्तराज मेरे ऊपर दया नहीं करेंगे ?

दासी— तुम तो पागल हो ! दया वैसे ही नहीं हो जाती, उसका कोई साधन होना चाहिये, कोई मार्ग होना चाहिये । राजा की दया होने का एक ही मार्ग है ।

व्यापारी- (उतावलेपन से) वह क्या है, माँ ।

दासी— उतावले मत बनो । तुम राजा के गुरुदेव के नाम—श्रीहरिवंश नाम—को धुन लगाओ । राजा थोड़ी देर में उठने वाले हैं । इतनी जोर से बोलो कि वे तुम्हारे मुख से इस नाम को सुनलैं तुम पर गाना आता है न ?

व्यापारी- थोड़ा सा आता है, माँ ! मुझे छोटेपन से ही गाने का शौक है ।

दासी— तब तुम अपने प्राणों की सारो वेदना को अपने सारे कष्टों को, अपने स्वर में भरकर श्रीहरिवंश नाम को गाने लगो । राजा तुम पर दया ही नहीं करेंगे, तुम्हारी दया के भिखारी बन जायेंगे । वे तुम्हारे बन्धनों को काटकर तुम्हारे पैरों पर लोटने लगेंगे ।

व्यापारी— किन्तु माँ, यदि वे मुझसे पूछें कि यह नाम तुमको कैसे मालूम हुआ तो मैं क्या बताऊँ ?

दासी— (मुसकाकर) यह कह देना कि आपकी एक दासी आकर मुझे बता गई ! क्यों ? मुझको मरवा कर ही जीना चाहते हो ? मेरा नाम भूलकर भी न लेना । कहना कि मैं श्रीहरिवंश चन्द्र का शिष्य हूँ, उनका पुराना सेवक हूँ । मैं सब तैयारी करके आई हूँ । लो, गले में कण्ठी पहिन लो और इस चन्दन से माथे पर तिलक लगा लो । (वैसा ही करता है) देखो शिष्य बताने से एक बड़ा लाभ तुमको यह होगा कि राजा तुमको अपना गुरु-भ्राता समझकर तुम्हारा धन भी नहीं रखैंगे, वह भी लौटा देंगे । किन्तु शिष्य होने की बात तुम हिम्मत से कहना ।

व्यापारी-(पैर पकड़ लेता है) माँ, तुम कहाँ से आगई ? तुमने मुझको ही नहीं, मेरे छोटे-छोटे बच्चों को भी जिला दिया । माँ, जिनके नाम के बल पर मुझको प्राण दान मिल रहा है, उन श्रीहरिवंशचन्द्र का शिष्य बनने में मेरा परम गौरव है । मैं इस बात को बड़ी हिम्मत से कहूँगा कि मैं उनका शिष्य हूँ— माँ....... (पैर छूकर माथे से लगाता है, दासी जाती है) । (व्यापारी पद्मासन से बैठकर श्रीहरिवंश नाम की धुन आरम्भ करता है । पहिले धीरे-धीरे और फिर ऊँचे स्वर में बोलने लगता है । दोनों पहरेदार चौंककर खड़े हो जाते हैं)

जाट— (चारों ओर देखकर) अरे यार जि कहा हल्ला है ?

मुसलमान-(कान लगाकर) यह आवाज तो अन्दर से आ रही है । (कोठरी के नजदीक जाकर) अरे, यह तो व्यौपारी राम धुन लगा रहा है !

जाट— (कोठरी में झाँककर) अरे बाहरे ज्वान, कैसौ मगन है रह्यौ है घबरावै मत, कल भगवान् के पास ही पहुँच जायगौ । साबास, अबहिते लग्गा लगाय दियौ !

(व्यापारी उच्च स्वर में धुन लगा रहा है। उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही हैं। दोनों पहिरेदार लाठी के सहारे खड़े होकर सुनते हैं) (नरवाहनजी का प्रवेश। वे पाजामा और कुरता पहिन रहे हैं और उनके बाल कुछ अस्त व्यस्त हैं)

नरवाहन—यह कौन हरिवंश नाम की धुन लगा रहा है ?

मुसलमान– अन्नदाता की जय हो। यह वही व्यापारी है। रोज तो यह चुप चाप पड़ा रहता था, आज न जाने इसको क्या हो गया है ?

राजा— कोठरी का ताला खोलो।

(राजा कोठरी में घसकर व्यापारी के पास खड़े हो जाते हैं, व्यापारी आँख बन्द करके गा रहा है। राजा उसका कन्धा पकड़कर हिलाते हैं और वह चौंक कर खड़ा हो जाता है)

व्यापारी–(हाथ जोड़कर) अन्नदाता।

राजा— (कन्धे पर हाथ रखकर घबड़ाओ नहीं। तुम श्रीगुरुदेव के नाम की धुन लगा रहे थे ?

व्यापारी— जी हाँ, अन्नदाता।

राजा— तुमको यह नाम कैसे मालुम हुआ ?

व्यापारी – सरकार, मैं उनका एक तुच्छ शिष्य हूँ। आज सहसा मुझे श्रीगुरुदेव की याद आ गई और मैंने उनके नाम की धुन लगा दी। मैं अपराधी हूँ, मेरी धुन से आपकी निद्रा भङ्ग हो गई।

राजा— (परम हर्ष से दौड़कर व्यापारी को हृदय से लगा लेते हैं) मेरी मोह निद्रा इस नाम से ही दूर हुई है, किन्तु तुमने गजब कर दिया कि इतने दिनों तक इस बात का मुझे पता ही नहीं होने दिया कि तुम गुरुदेव के शिष्य हो। (करुणार्द्र स्वर में) मेरे भाई, तुम व्यर्थ में इतना कष्ट पा गये और मुझे महा अपराधी बना दिया। (पहिरेदारों से) ऐ, इनके बन्धन खोल दो। (एक पहिरेदार हथकड़ी-बेड़ी खोल देता है) और देखो, एक आदमी दौड़कर दीवानजी को बुला लाओ। (दूसरा पहिरेदार दौड़कर जाता है। व्यापारी का हाथ पकड़कर) चलो भैया, यह जगह तुम्हारे जैसे पुण्यशालियों के योग्य नहीं है। यह तो न जाने प्रभु का खेल हो गया !

व्यापारी—(नरवाहन जी के साथ कोठरी से बाहर आकर) अन्नदाता ....

नरवाहन–(बीच में रोककर) अब तुम्हारे मुँह से अन्नदाता कहना अच्छा नहीं लगता। मैं तो तुम्हारा एक तुच्छ अपराधी भाई हूँ। मुझे क्षमा कर देना, भैया ! (पैरों में माथा रख देते हैं) (दीवान का प्रवेश, वह चकित बनकर खड़ा रह जाता है)

नरवाहन—(आँसू पौंछते हुये) दीवान जी, मुझसे बड़ा भारी अपराध बन गया है। मैंने अपने सहोदर भाई को काल कोठरी में डाल रखा था। श्रीगुरुदेव के कानों में जब यह बात पहुँचेगी तो उनका परम कोमल चित्त कितना दुःखी होगा। ओह, यह मैंने क्या कर डाला !

दीवान—(परिस्थिति को समझकर) अन्नदाता, आप दुःखी न हों। जो बात इन्होंने आज कही है, वह इनको चुङ्गी माँगते समय ही कह देनी थी तो इतना झगड़ा क्यों बढ़ता। आपने जो कुछ किया है वह सर्वथा अज्ञान में किया है। आप बिलकुल अपराधी नहीं हैं।

नरवाहन—(लम्बी साँस खींचकर) अब तो जो कुछ होना था सो होगया। मैं इनको कष्टों का बदला तो क्या दे सकता हूँ। तुम इनकी जब्त की गई सम्पूर्ण सम्पत्ति लौटा दो। मैं इनको अपने साथ लिये जाता हूँ। दिन निकलने पर उत्तम वस्त्रादिक पहिनाकर और कुछ सैनिक रक्षा के लिये साथ देकर इनको इनके घर भेज देंगे। (करुणार्द्र होकर) इनके बच्चे कितना कष्ट पा रहे होंगे !

व्यापारी – नहीं महाराज, घर जाने से पहिले मैं श्रीगुरुराज के दर्शन करूँगा। इस कलिकाल में आपने गुरु का नाता जैसा निभाया है, उसे देखकर मेरी आँखें खुल गई हैं। जब तक सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी रहेंगे, भक्त लोग आपका पुण्य यश गाते रहेंगे। आप धन्य हैं, परम धन्य हैं। (नरवाहन जी के चरणों में माथा रख देता है, वे उसको उठाकर हृदय से लगाते हैं। दोनों का हाथ पकड़कर निष्क्रमण। पीछे-पीछे दीवान जाता है)

मुसलमान–कहदे लाला, मैंने कहा था न कि यह व्यौपारी कल नहीं मरेगा।

जाट— हाँ, भैया, तेरी बात साँची निकरी। चलौ दौनौंन कौ पीछौ छूट गयौ। बैपारी मरिवे ते बच्यौ और हम जागवेते बचे !

(छठवाँ दृश्य)

(वृन्दावन में यमुना के निकट की टेकरी पर मन्दिर के बाहर के चबूतरे पर अपने स्वाभाविक आसन से श्रीहरिवंशचन्द्र बैठे हैं। उनके बगल में दाहिनी ओर कुछ हटकर श्रीव्यासजी बैठे हैं और बाँई ओर कुछ हटकर श्रीबीठलदासजी बैठे हैं। व्यासजी से कुछ हटकर श्रीनाहरमलजी बैठे हैं और उनके बगल में सारंगिया बैठा है। बीठलदासजी पंक्ति में उनके बाद श्रीमोहनदासजी बैठे हैं और उनके बाद पखावजी बैठा है)

बीठलदास–कृपानाथ, मुझे श्रीव्यासजी का एक पद बड़ा प्रिय लगता है मैं आज उसी का गान करता हूँ।

पद-राग सारंग

राधिका सम नागरी नवीन को प्रवीन सखी,
रूप-गुन सुहाग-भाग आगरी न नारि ।
वरुण ओक नाग भूमि देव लोक की कुमारि,
प्यारी जू के रोम ऊपर डारों सब वारि ।।
आनँद कंद नंद नंदन जाके रस रंग रच्यौ,
अंग भर सुधंग नच्यौ मानत हँसि हारि ।
ताके बल गर्व भरे रसिक व्यास से न डरे,
कर्म-धर्म-लोक-वेद छाँड़ि मुक्ति चारि ।।

(श्रीहितप्रभु पद के बीच में दो-एक बार 'अहा-हा' कहते हैं)

श्रीहितप्रभु-(पद की समाप्ति पर) बाह व्यासजी, आप पै श्रीवृषभानुनंदिनी की बड़ी कृपा है ।

श्रीव्यासजी-(हाथ जोड़कर) यह सब इन श्रीचरणों का ही प्रताप है । श्रीलाड़िलीजी आपका नाता मानकर ही मुझ पर कृपा रखती हैं ।

बीठलदास-व्यासजी, अब आप कोई पद गाने की कृपा करें ।

(व्यासजी तानपूरा लेकर पद गाते हैं)

पद

सुनि मेरौ बचन छबीली राधा,
तैं पायौ रस सिंधु अगाधा ।।
तू वृषभानु गोप की बेटी,
मोहन लाल रसिक हँसि भेटी ।।
जाहि विरञ्चि उमापति नाये,
तापै तैं बन फूल बिनाये,
जो रस नेति-नेति श्रुति भाख्यौ,
ताकौ तैं अधर-सुधा-रस चाख्यौं ।।
तेरौ रूप कहत नहिं आवै,
जय श्रीहितहरिवंश कछुक जस गावै ।।

(पद की समाप्ति से कुछ पूर्व व्यापारी का एक अनुचर के साथ प्रवेश । व्यापारी उत्तम वस्त्र पहिने हुए है और आकर्षक लग रहा है । पद की

समाप्ति पर वह श्रीहित प्रभु के निकट जाकर साष्टांग प्रणाम करता है)

श्रीव्यासजी–कहाँ से आये हो भाई ?

व्यापारी–(हाथ जोड़कर) दीनबन्धु' मैं भैगाँव से आया हूँ। मैंने वहाँ प्रीति की एक अद्‌भुत रीति देखी जो इन चरणों का ही प्रताप था (श्रीहित महाप्रभु की ओर इङ्गित करता है) मैं वहाँ राजा नरवाहनजी का महा अपराधी बन्दी था। मुझे फाँसी दूसरे दिन दी जाने वाली थी।

श्रीव्यासजी–क्या नरवाहनजी ने स्वयं फाँसी की सजा दी थी ?

व्यापारी–जी हाँ, खुले दरबार में मुझे फाँसी देने का निश्चय किया गया था। मैंने काम ही ऐसा किया था। मैंने बीस-पच्चीस व्रज-वासियों के रक्त से व्रज-भूमि को कलङ्कित बना दिया था।

श्रीव्यासजी–ओह .... फिर ?

व्यापारी–फिर मेरे भाग्य ने एकदम करवट बदली और परम माङ्गलिक श्रीहरिबंश नाम अचानक मेरी श्वासाओं में आया। राजा की एक दासी को न जाने कैसे मेरे ऊपर करुणा आ गई और उसने मुझे यह नाम दे दिया।

बीठलदास–फिर तुम कारागृह से कैसे छूटे ?

व्यापारी–मैंने श्रीहरिवंश नाम की धुन लगा दी। थोड़ी देर बाद ही राजा स्वयं दौड़े चले आये और मुझे अपना गुरुभ्राता जानकर अत्यन्त दीनता से मुझसे क्षमा माँगने लगे। दूसरे ही क्षण में मेरे बन्धन खुल गये और मेरा जब्त किया हुआ लाखों का धन मुझे अत्यन्त आदर पूर्वक वापस दे दिया गया।

व्यासजी–धन्य नरवाहनजी धन्य। सब (लोग धन्य-धन्य कहते हैं)

व्यापारी–दीनबन्धु, आश्चर्य तो यह है कि उन्होंने मेरे ऊपर जरा भी सन्देह नहीं किया। मैंने उनसे झूँठ-मूँठ कह दिया कि मैं श्रीहरिवंशचन्द्र का शिष्य हूँ और वे मेरे पैरों में लोटने लगे।

व्यासजी–धन्य-धन्य।

व्यापारी–श्रीहरिवंश नाम के बल से मैंने एक नया संसार देख लिया है जिसमें लौकिक नातों का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य है केवल'गुरुनाते का,इष्ट नातेका। इसीलिये उस संसार में केवल अपनपे का उत्सर्ग है, निष्ठा है, प्यार है। मैंने समझ लिया है कि लौकिक नाते मिथ्या हैं, बन्धन कारक हैं और पारमार्थिक नाते सत्य हैं, शाश्वत हैं, सुखदायक हैं। (श्रीहितप्रभु से) कृपा-नाथ ! अब मेरे इस कपट वैष्णव वेष को सत्य बनाइये, मुझे शरण में लीजिये। (चरणों में माथा रख देता है) श्रीहितप्रभु उसके माथे पर हाथ रख देते हैं।) (व्यापारी अपने

साथ के आदमी को इशारा करता है और वह श्रीहित प्रभु के चरणों में मोहरों की भरी साठ बासनियाँ (कमर में बाँधने की थैलियाँ) रख देता है)

व्यापारी–कृपानाथ, यह धन आपकी कृपा से मिला है अतः आपको ही समर्पित है।

श्रीहितप्रभु–(मुसकाकर) हम याकौ कहा करैंगे ? तुमने या धन के कारण ही यह सब घोर यातना झेली हैं। तुम्हारे कष्टन नें याकूँ पवित्र बनाय दियौ है। तुम या धन कौं साधु-वैष्णवन की सेवा में लगाय दीजौं।

व्यापारी–जो आज्ञा कृपानाथ।

श्रीहितप्रभु–देखौ, तुमने श्रीराधावल्लभ लाल की शरण लीनी है। ये ही अपने इष्ट हैं, प्रेमास्पद हैं, सर्वस्व हैं। अन्य सब त्रिगुण को प्रपञ्च है और भ्रम में डारिबे बारौ है। श्रीवृन्दावन नाथ ही एकमात्र सत्य हैं। या परम सुन्दर और परम सुखमय सत्य में तुम आज दीक्षित भये हौ। इष्ट-गुरु की कृपा मानते भये भजन करते रहनौं और भक्तनकों सदैव भगवान् के तुल्य माननौं। अब तुम अपने देश जाओ। तुम्हारे बालक कष्ट पाइ रहे होंगे।

व्यापारी–जो आज्ञा। श्रीगुरुराज, मेरा देश यहाँ से दूर है और आजकल सर्वत्र अराजकता फैल रही है। पता नहीं मैं इन परम मांगलिक चरणों के दर्शन अब कर सकूँगा या नहीं। एक भीख माँगता हूँ कि जब कभी माया मोह के अन्धकार में मैं पथ-भ्रष्ट होने लगूँ तो करुणा करके सँभाल लें और जहाँ का तहाँ अपने चरण-कमलों में स्थित कर दें।

श्रीहितप्रभु–तुम आनन्द तें अपने घर जाऔ। श्रीवृषभानुनन्दिनी तुम पै सदैव करुणा राखैंगी।

(व्यापारी का साष्टांग प्रणाम करके प्रस्थान)

बीठलदास–यह तो नरवाहन जी ने अपने अद्भुत आचरण से भक्ति की एक नई सीमा ही स्थापित कर दी और प्रेमा भक्ति के क्षेत्र में एक नया आदर्श उपस्थित कर दिया।

व्यासजी–हाँ अब तो भक्तजनों को भक्ति की नई-नई सीमाओं का ही प्रदर्शन करना होगा, नये-नये आदर्श स्थापित करने होंगे। भक्ति के प्रचार का एक मात्र साधन भक्ति का आचरण है। हम सब लोग श्यामा श्याम के नित्य विहार में दीक्षित हुये हैं। नित्य विहार में भक्ति के सब अङ्ग अपनी शुद्धतम स्थिति में प्रकाशित होते हैं। रसिक उपासकों को अपने व्यक्तित्व में इन सब अङ्गों का उज्ज्वलतम रूप प्रत्यक्ष करना है जो (श्रीमहाप्रभु की ओर इङ्गित करके) इन चरणों के बल से कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है।

श्रीहितप्रभु–वास्तव में, नरवाहन जी ने बड़ौ अद्भुत कार्य कियौ है। मेरौ मन उनतैं मिलबेकूँ उत्सुक होइ रह्यौ है। (आकाश की ओर देखकर) सेवाकौ समय होइ गयौ है। मैं अब श्रीयमुना स्नान करलऊँ।

(उठते हैं, उनके साथ अन्य सब लोग खड़े हो जाते हैं)

(नरवाहन जी का प्रवेश। वे तेजी से आकर हितप्रभु के चरणों में गिर जाते हैं और महाप्रभु उनको उठाकर हृदय से लगा लेते हैं। नरवाहन जी पुनः चरणों में माथा रख देते हैं)

श्रीहितप्रभु–उठौ नरवाहन, इतने कातर क्यों है रहे हौ

नरवाहन—(हाथ जोड़कर) मैं अपराधी हूँ, कृपानाथ। मुझसे एक बड़ी भारी भूल हो गई है। मुझे क्षमा करें।

श्रीहितप्रभु–(मुसकाकर) तुमतें का भूल है गई ?

नरवाहन—मेरा बताने का साहस नहीं हो रहा है, गुरुदेव ! किन्तु वह सब अज्ञान में बन गया, मुझे पता नहीं लगने पाया। मुझे क्षमा करें कृपानाथ !

श्रीहितप्रभु–(मुसकाकर) हमनैं सब सुन लियौ है। तुमने एक पारमार्थिक सम्बन्ध कौ इतनौं अद्भुत निर्वाह कियौ है कि तुम्हारे अन्य सब लौकिक सम्बन्ध अपने आप शिथिल ह्वै गये हैं। प्रेमा भक्ति मनुष्य कौं निर्भय और निर्बन्धन बनावै है और प्रसन्नता की बात यह है कि तुम सहज रूप तें जा ओर अग्रसर होइ गये हौ। प्रेमाभक्ति कौ येई स्वरूप है।

व्यासजी—नरवाहन जी, तुम्हारे इस आचरण से रस-भक्ति का गौरव बढ़ा है और संसार के सामने एक उज्ज्वल आदर्श खड़ा हो गया है जिसके कारण रसिक उपासना का मार्ग सरल बन गया है।

नरवाहन—(गद्गद् होकर व्यासजी से) दीनबन्धु, मैं यह क्या सुन रहा हूँ ! मैं यहाँ अपनी भूल के लिए भर्त्सना की भीति लेकर आया था और उससे मुझे शान्ति ही मिलती किन्तु श्रीगुरुराज ने मुझे आते ही हृदय से लगा लिया। मुझ जैसे अधम पर इस करुणा का कोई ठिकाना है ?

बीठलदास–नरवाहन जी, श्रीगुरुदेव तो प्रेम के अवतार ही हैं। तुम भी इन अद्भुत पारसमणि के स्पर्श से शुद्ध कञ्चन बन गये हो।

नरवाहन—महाराज, आपको मालूम है कि मैं तो एक महाक्रूर डाकू राजा था किन्तु—

यह करुणा की बान लखि मो हिय अति हुलसात।
बनत-बनत बन जायगी मेरी बिगड़ी बात ॥

(गद्गद् हो जाते हैं)

नाहरमलजी-धन्य, नरवाहन जी। आप परम कृपा पात्र हैं।

(नरवाहनजी हाथ जोड़कर मस्तक झुकाते हैं)

नरवाहन—श्रीगुरुदेव, मेरी सब भूलों का मूल कारण यह राज्य है। मुझे इससे मुक्त करिये और अपने चरण कमलों में स्थान दीजिये जिससे मुझे चिर शान्ति मिले।

श्रीहितप्रभु-मेरी हू ये इच्छा है कै तुम अब श्रीवृन्दावन वास करौ और मेरे निकट रहौ।

नरवाहन—(कृत कृत्य होकर) कृपानाथ, आज मैं धन्य हो गया। मेरे कर्म बन्धन टूट गये, मेरी बिगड़ी बन गई। मेरे हृदय में आनन्द समा नहीं रहा है। आज्ञा हो तो मैं एक पद गाकर श्रीचरण की वन्दना करलूँ ?

सब लोग-(सोत्साह) अवश्य, अवश्य।

श्रीव्यासजी-हम सब लोग तुम्हारा साथ देंगे।

(नरवाहन जी गाते हैं और सब लोग उनके बाद में पद की हर पंक्ति को दोहराते हैं)

॥ पद ॥

जिन्होंने हमें प्यार करना सिखाया'
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हुँ।

जिन्होंने लड़ैती-सी स्वामिनि हमें दी,
दिये लाल से नेह सागर छबीले॥
दिये फूंक प्राणों में वंशी के वे स्वर,
मिले जिनसे उन तक पहुँच के बसीले।
महा रंक को प्रेम-सा धन लुटाया
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूं॥१॥
विपिन वीथियों की डगर जिनने डाली,
दिखाई प्रणय की अनूठी प्रणाली।
जहाँ श्यामश्यामा के मिलने की राहैं,
वहाँ से विरह-भीति जिनने निकाली।
जिन्होंने प्रणय को संवारा-सजाया,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूँ॥२॥

कहानी कही उस नवल नेह तटकी,
जिसे छू के बहती है श्रृङ्गार धारा।
जहाँ मिलके नूपुर से बजती है बंशी,
जहाँ गोरे चरणों का ही इक सहारा॥
उन्हीं को हृदय हार जिनने बनाया,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूँ॥३॥
शरण जिसको देदी हृदय से लगाया,
उठाकर जगत से विपिन में रमाया।
हटाकर विषय पङ्क से धीरे-धीरे,
प्रियालाल के प्रेम-सर में न्हवाया॥
जिन्होंने ललित नेह नाता निभाया,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूं॥४॥

(पद की समाप्ति पर नरवाहन जी महाप्रभु के चरणों में गिर पड़ते हैं और महाप्रभु उनके माथे पर हाथ रखते हैं)

॥ पटाक्षेप ॥

卐

'आयौ व्रज में राज, रे भैया'

[प्रथम दृश्य]

(नारदजी का प्रवेश। वे अपने प्रसिद्ध वेष में हैं और अत्यन्त प्रसन्नचित्त से नृत्य करते हुये अष्टपदी गा रहे हैं)

प्रलय पयोधि जले धृतवानसि वेदम् ।
विहित बहित्र चरित्र मखेदम् ।
केशव धृत मीन शरीर, जय जगदीश हरे ॥१॥
क्षिति रति विपुल तरे तव तिष्ठति पृष्ठे ।
धरणि धरण किण चक्र गरिष्ठे ॥
केशव धृत कच्छप रूप, जय जगदोश हरे ॥२॥
तव कर कमल वरे नख मद्भुत शृङ्गम् ।
दलित हिरण्यकशिपु तनु भृङ्गम् ॥
केशव धृत नर हरि रूप, जय जगदीश हरे ॥३॥

(दीन, मलीन वेष में पृथ्वी का प्रवेश)

पृथ्वी— देवर्षि, आज तो आप बहुत प्रसन्न दिखलाई दे रहे हैं। क्या मेरे भाग्य का निर्णय हो गया ? क्या मेरी रक्षा हो सकेगी ?

नारदजी– (प्रसन्नता पूर्वक) हाँ धरित्री, तुम्हारी रक्षा ही नहीं होगी, तुम्हारे ऊपर हो रहे दुष्टों के उपद्रव का दमन ही नहीं होगा, तुम्हारे परम भाग्य का उदय भी होगा।

पृथ्वी— मेरे भाग्य का उदय ? देवर्षि, मेरा भाग्य तो तब उदय होगा जब धर्म की रक्षा होगी। धर्म को तो दुष्टों ने अङ्ग-भंग बना दिया है और वह उनके भय से वनों में भटकता घूम रहा है। (कृशकाय दीन हीन धर्म का लँगड़ाते हुये प्रवेश) वह देखिये देवर्षि, अभागा धर्म आ रहा है। (धर्म हाँफता हुआ आकर नारदजी को प्रणाम करता है)

धर्म— देवर्षि, मेरी रक्षा कीजिये। जगत में व्याप्त अन्धा धुन्धी और आपीधापी ने मेरा तो काम ही तमाम कर दिया है। मेरा शरीर ठठरी मात्र रह गया है और इसमें न जाने मेरे प्राण कहाँ अटक रहे हैं!

नारदजी— (दुखी होकर) भाई, तुम्हारी स्थिति तो बहुत ही शोचनीय बन गई है। किन्तु यह सब कैसे घटित हो गया? मैं देखता हूँ कि पृथ्वी पर अब भी अनेक श्रोत्रिय ब्राह्मण विद्यमान हैं और यत्र-तत्र यज्ञ-यागादिक होते रहते हैं।

धर्म— (कष्ट पूर्वक बोलते हुए) महाराज, यह सब पाखण्ड है। चारों ओर धार्मिक कहलाने वाले लोग मेरा नाम लेकर अपना उदर पोषण कर रहे हैं। उनकी सारी क्रियायें दिखावटी हैं और किसी में भी, अहिंसा, अस्तेय, शौच, आर्जव आदि वे सात्त्विक गुण नहीं हैं जिनसे मेरी तुष्टि-पुष्टि होती है। धर्म की हत्या करके धार्मिक बनना कितनी बड़ी विडम्बना है, देवर्षि!

नारदजी– तुम ठीक कह रहे हो, धर्म! किन्तु अब तुम निर्भय हो जाओ। करुणा-वरुणालय ने पृथ्वी की पुकार सुन ली है और वे यहाँ शीघ्र ही अवतरित होंगे। वे दुष्टों का विनाश और तुम्हारा रक्षण करेंगे।

धर्म— किन्तु महाराज, लम्बी अवधि तक समुचित पोषण न मिलने से मेरा शरीर इतना जीर्ण हो गया है कि वह मेरे लिये भार बन गया है। भगवान अवतीर्ण होकर मुझे नया कलेवर प्रदान कर दें तो मेरे प्राणों को चैन मिल जाय।

नारदजी– धर्म, वैसे तो भगवान ने अनेक बार अवतीर्ण होकर तुम्हारी रक्षा की है और तुमको नव जीवन प्रदान किया है। किन्तु इस बार तो वे अपने निखिल ऐश्वर्य और सम्पूर्ण माधुर्य के साथ अवतार ले रहे हैं और उनकी पूर्णता को तुम अपने अन्दर भली भाँति प्रतिविम्बित एवं क्रियान्वित कर सको, इसके लिये तुम्हारा नवीन रूप में स्थापन अनिवार्य है।

धर्म— (प्रसन्न होकर) तब तो मैं जी उठूँगा, देवर्षि, और पृथ्वी पर सुख-शान्ति बनाये रखने में भगवान की पूर्ण सहायता करूँगा।

पृथ्वी— ऋषिराज, मुझे आपकी बातों से बड़ा आनन्द और आश्वासन मिल रहा है। मुझे ऐसा लग रहा है कि भगवान का यह अवतार उनके अभी तक हुए अवतारों से विलक्षण होगा। उसमें क्या विशिष्टता होगी, देवर्षि?

नारदजी– इस अवतार की विशिष्टताओं को गिनाना मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। इतना समझ लो कि इस बार भगवान के जन्म और कर्म दोनों विलक्षण होंगे।

पृथ्वी— जन्म में क्या विलक्षणता होगी, महाराज?

नारदजी– (मुसकाकर) इस बार भगवान् एक साथ दो स्थानों में जन्म लेंगे। वसुदेव-पत्नी देवकी के गर्भ से वे मथुरा में अवतरित होंगे और गोकुल में वे नन्द पत्नी यशोदा के गर्भ से उत्पन्न माने जायेंगे।

पृथ्वी—(साश्चर्य) यह कैसे सम्भव होगा, महाराज ?

नारदजी—लोकोपकार के लक्ष्य से अवतरित होने वाले भगवान् द्वारा यह सम्भव बन जायगा। आरम्भ में उनका वसुदेवनन्दन रूप उनके नन्दनन्दन रूप में अन्तर्लीन रहेगा। अपने बाल्यकाल में वे अपने प्रथम रूप द्वारा दुष्टों का विनाश एवं द्वितीय नन्दनन्दन रूप द्वारा प्रेमी जनों का पोषण करेंगे। निश्चित अवधि के बाद वसुदेव नन्दन पृथक् होकर तुम्हारे भार का अवमोचन करेंगे और नन्दनन्दन ब्रज में ही रहकर वहाँ प्रेम की पावन मन्दाकिनी प्रवाहित करते रहेंगे।

पृथ्वी—यह सब तो बड़ा रहस्यमय प्रतीत हो रहा है, देवर्षि !

नारदजी—यह अवतार ही रहस्यमय हो रहा है। भौतिक दृष्टि से भगवान देवकी के गर्भ से जन्म लेंगे, नन्द यशोदा ब्रज में उनका पालन करेंगे और वहाँ से वे मथुरा और द्वारिका जाकर दुष्कृतों का विनाश और धर्म का संस्थापन करेंगे। किन्तु प्रेमियों की दृष्टि इससे भिन्न होगी। वे भगवान् के प्रेम-स्वरूप को उनका पूर्णतम रूप मानेंगे और उसको उनके ऐश्वर्य से सदैव पृथक रखेंगे।

धर्म—भगवान् के ऐश्वर्य और माधुर्य रूपों को साथ रखकर क्या उनका भजन-स्मरण नहीं किया जा सकता, महाराज ?

नारदजी—किया जा सकता है और कुछ लोग ऐसा करेंगे भी, किन्तु शुद्ध प्रेमी जन तो भगवान् के प्रेम-स्वरूप पर उनके ऐश्वर्य की सुदूर छाया भी सहन नहीं कर सकेंगे। उनकी दृष्टि में ऐश्वर्य के स्पर्श से माधुर्य आविल हो जाता है, मैला हो जाता है।

धर्म—किन्तु देवर्षि अपराध क्षमा हो, क्या दो स्थानों में जन्म मानने से सत्य का, वास्तविकता का, अपलाप नहीं होगा ?

नारदजी—नहीं होगा। देखो, भगवान् जब पृथ्वी पर अवतार लेते हैं तब देश-काल का बन्धन तो वे स्वीकार करते ही हैं किन्तु उनकी पूर्णता देश-काल में समा नहीं सकती और वह इन दोनों से बहुत परे बनी रहती है। भगवान् के प्रेमी भक्तों का सम्बन्ध उनकी उक्त दोनों स्थितियों के साथ होता है।

पृथ्वी—(बीच में धन्य है।)

नारदजी—इस स्थिति में भगवान् भक्त के प्रेम के अधीन होते हैं। वह उनको जिस रूप

में जिस प्रकार भजता है भगवान् उसी प्रकार उसके भाव का पोषण करते हैं उनके नंदनंदन रूप के साथ अनन्य प्रेम का निर्वाह करने वाले भक्तों के मोद के लिये वे यशोदा के गर्भ से जन्म लेंगे और उनका यह जन्म उनके देवकी के गर्भ से जन्म के समान ही और, वास्तव में, उससे कहीं अधिक सत्य होगा।

धर्म—भक्ति की अमित महिमा का परिचय पाकर मैं धन्य हो गया, देवर्षि !

नारदजी—भगवान् इस अवतार में तुमको भक्ति का ही नवीन कलेवर प्रदान करेंगे और उससे तुमको तुम्हारी सहज-स्थिति प्राप्त हो जायगी।

धर्म—देवर्षि, इससे बड़े भाग्य की मैं कल्पना नहीं कर सकता।

नारदजी—वे भागवत धर्म का स्थापन करेंगे जो आरम्भ में सात्वतों में, यादवों में, प्रचलित रहने के कारण सात्वत धर्म भी कहलावेगा। भगवान् अब शीघ्र ही जन्म लेंगे। तुम लोग जाकर उनके स्वागत की तैयारी करो।

पृथ्वी और धर्म—(सोल्लास) जो आज्ञा।

(दोनों प्रणाम करके जाने लगते हैं)

नारदजी—अरे ठहरो, तुम लोगों के आने से पूर्व मैं एक अष्टपदी के द्वारा भगवान् की वंदना कर रहा था। यह अधूरी रह गई है आओ, सब मिलकर उसे पूरा कर लें।

क्षत्रिय रुधिर मये जगदपगत पापम्।
स्नपयसि पयसि शमित भव तापम्॥
केशव धृत भृगुपति रूप, जय जगदीश हरे।
वितरसि दिक्षु रणे दिक्पति कमनीयम्॥
दशमुख मौलि बलिं रमणीयम्।
केशव धृत रघुपति रूप, जय जगदीश हरे॥

(अष्टपदी की समाप्ति पर तीनों फूल उछालते हैं)

(द्वितीय दृश्य)

(गोकुल की एक गली। गोपा का प्रवेश। वह प्राचीन व्रजवासी वेष में है, उम्र २८ के लगभग है। एक मकान के सामने रुक कर जोर से आवाज लगाता है)।

गोपा—ओरे पैमा। घर में ही घुसौ रहेगौ का ?
देख बाहर कैसे आनंद आय रहे हैं। ओरे पैमा..............[आँखें मीड़ते

हुए पैमा का प्रवेश। वह भी व्रजवासी वेष में है और उसकी आयु भी गोपा के समान है]

पैमा — अरे यार, तू जा बखत कहाँ ते आय निकस्यो ? तू बाहर हल्ला मचामतौ डोलै, ह्याँ तौ घर में ही बड़ी मौज आय रही हैं। जा दिन ते नंदराइ कैं वो अनौखौ ढोटा प्रगट्यौ है वा दिन ते ....

गोपा—(बात काट कर) वाकी बात ही तौ मैं कहत डोल रह्यौ हूँ। नेंक जमुना के किनारे तौ चल, तोय तमासौ दिखाऊँ।

प्रेमा --का तमासौ दिखावैगौ ?

गोपा—का बताऊँ भैया, जमुना के तौ ठाठ ही दूसरे है रहे हैं। एक तौ जमुना वैसेई कारी है और जा दिन ते ये साँवरौ लाला जनम्यौ है वा दिन ते एक साँवरी-सी जोत जमुना पै छाइ कै रह गई है और वाहि देखिबे कूँ ह्वाँ मेला लग रह्यौ है।

पैमा —जितौ सब बाबरे हैं ! सबन के घरन में हूँ तौ जेई साँवरी जोत भर रही है। या ब्रज में तौ कोई ऐसी ठौर बची न होयगी जहाँ ये जोत दिखाई न देंत होय। याई कूँ देख-देख कै तौ सब ब्रजवासी मस्त है रहे हैं। एक छन्द सुनैंगौ ?

जा दिन तें प्रगट्यौ गोकुल में सुन्दर कुँवर कन्हाई रे।
ता दिन तें कौतुकमय साँवल जोत सकल व्रज छाई रे।।

[गाता हुआ नाचने लगता है]

गोपा —(ताली बजाकर) अरे वाहरे वाह। तू औरन कूँ बाबरौ बतामत हतौ, सबते ज्यादा पागल तौ तू है रह्यौ है। और ये कविताई कबते कर निकर्‌यौ है ?

पैमा -कविताई तौ आजकल घर-घर में है रही है। जो एक बेर नन्दलाला कूँ देख आवै है बुई छन्द बनावन लगै है। तू तौ कछु सुनाय।

गोपा—(मुसकाकर) कहाँ सुनाऊँ यार !

जित देखौं तित श्याम मई है।
श्याम कुंज बन जमुना श्यामा, श्याम गगन घन घटा छई है।
सब रंगनि में श्याम भर्‌यौ है, लोग कहत यह बात नई है।।

पैमा—वाह रे गोपा वाह, तैनें तौ मोकूँ भी मात कर दियौ। देखत में तौ तू पूरौ गमार लगै। तू कभी पढ्यौ लिख्यौ हतौ का ?

गोपा—क्यों बाबरौ है रह्यौ है ? कौन पढ़्‌यौ है, कौन छन्द बनावै है ? जितौ जब मैं

नन्दलाला कूँ देखन भयौ तौ जा छन्द कूँ कोई मेरे भीतर तें बोल उठ्यौ। मोइजि बढ़िया लग्यौ सो मैंने तब ही याद कर लियौ। अब बताय छन्द कौन ने बनायौ ?

पैमा—छन्द काऊ ने बनायौ होय, पर गोपा एक बात पक्की करकें मानियौ जि लाला बहुत-बहुत सुन्दर है और जाकौ रूप काऊ छन्द में समाय नाँय सकै, समझ्यौ।

गोपा—समझ तौ गयौ, पर तेरे कहे ते एक फिकर मोय लग गई।

पैमा—अब फिकर क्यों करें ? या लाला कूँ देखकेंई सिगरे गाँव की चिन्ता दूर है गई है।

गोपा–मैं दूसरी बात कह रह्यौ हूँ, यार। जि लाला हम सबन के भाग ते बड़ौ तो होयगौ ही और याको व्याह हू करनौं परैगौ, पर जाके लायक दुल्हन कहाँ ते आवैगी ?

पैमा—(गम्भीर होकर सोचता रहता है)

गोपा—अरे कछू तौ बोल, बात अटक गई न ?

पैमा—अटक गई, जि कैसे सुरझैगी ?

(यमुना की ओर से एक पण्डितजी आते दिखलाई देते हैं। पञ्चाङ्ग धोती, अचकन, लटकता हुआ दुपट्टा और पगड़ी)

गोपा—जि जमना माऊँ ते कौन आइ रह्यौ है ?

पैमा—(देखकर) पण्डित-सौ लगै।
गोपा—जि चलि कैसौ रह्यौ है ? कहूँ गिर न परै।

पैमा—अरे गिरैगौ नाँय, बु तौ झूम रह्यौ है।

(पण्डितजी निकट आ जाते हैं। दोनों हाथ उठा कर यमुना की ओर संकेत करते हुए)

पण्डित—आ हा हा ! कालिन्दी वारि राशौ प्रसरति महा भास्वरो ध्वान्त राशि।

गोपा—पैमा, जि जमुना माऊँ ते आयौ है, वा करामात कूँ देख आयौ लगै। पालागन पण्डितजी महाराज कहाँ ते पधार रहे हौ ?

पण्डित—(गद्गद् कण्ठ से) भाई, मैं जमुना तट पर एक परम आश्चर्य देख कर आया हूँ जिसने मेरे सम्पूर्ण अस्तित्व को डगमगा दिया है (हाथ उठाकर) कालिन्दी वारि राशी प्रसरति महा भास्वरो ध्वान्त राशि !

पैमा—महाराज, जि जो आप मगन हैकें बोल रहे हौ जाकौ अर्थ तौ समझाऔ।

पण्डित—जमुना के जल पर एक महा प्रकाशमान घना अन्धकार फैल रहा है।

गोपा—पण्डितजी, मैं जा पैमा कूँ जेई तमासौ दिखाइवे कूँ लै जाय रह्यौ हौ।

पैमा—पर पण्डितजी, बुई तमासौ यहाँ नाँय फैल रह्यौ है का ? बु सिगरे ब्रज में फैल रह्यौ है।

पण्डित—यह तो ठीक है। परन्तु भाई, जमुना की सहज श्यामलता का योग पाकर यह प्रकाशमान अन्धकार द्विगुणित छवि मण्डित हो गया है। जमुना तट की छटा तो जमुना तट में ही है। (आकुलता पूर्वक) भाई, मैं अब नन्दद्वार पर जा रहा हूँ। मैं नन्दलाल को इस समय देख पाऊँगा ?

पैमा—देख लेओगे पण्डितजी, तुम जैसेन कूँ ह्वाँ रोक-टोक नाँय।
(पण्डित लपक कर दोनों के चरण स्पर्श करते हैं और तेजी से नन्दद्वार की ओर चले जाते हैं)

अरे जि पण्डित तौ गजब कर गयौ, हमारे पाँयन कौं छी गयौ।

गोपा—अरे छीमन दै मेरे यार, लाला के प्रताप ते जे बखत दीख्यौ है। अब चल तोकूँ जमुना पै लै चलूँ।

पैमा—चल उतकूँ ही चल रहे हैं। पर गोपा, लाला के ब्याह की बात तौ अटकी ही रह गई, जाकी जोरी कैसी मिलैगी ?

गोपा—अरे लाला, ब्रु देख बाबा आइ रहे हैं।

पैमा—तौ बाबा तेई न पूछ जि बात।

(दोनों बाबा के पास जाकर प्रणाम करते हैं)

गोपा—(पैमा की ओर संकेत करके) बाबा जि पैमा कछू पूछ रह्यौ हौ ?

बाबा—का पूछ रह्यौ, पैमा ?

पैमा—मैं काय कूँ पूछ रह्यौ हूँ।

गोपा—तू नाँय पूछ रह्यौ तौ का मैं पूछ रह्यौ हूँ। पूछ लै डरपै काय कूँ है ?

पैमा—डरपबे की का बात है ? बाबाऊ तौ जाई चक्कर में परे हुंगे।

गोपा—चक्कर तौ पूरौ है।

बाबा—अरे छोराऔ, जल्दी बोलौ नहीं तौ मैं जाय रह्यौ हूँ। मोय उपनन्द की एक ओसर कूँ रूखड़ी देनी है।

पैंमा—मैं तो कभी कौ पूछ लेतौ बाबा, पर जा गोपा ने चक्कर में डार दियौ।

नन्दबाबा—जि तौ भूपाली कौ बड़ौ छोरा है न ?

पैंमा—तभी तौ बाबा ये सिड़बिल्लौ-सौ है।

गोपा—सिड़बिल्लौ तौ जा बखत सिगरौ गाम है गयौ है।

पैंमा—अरे बाबा कूँ देर है रही है, तौ मैं पूछ लऊँ ?

बाबा—हाँ-हाँ तूई पूछ।

पैंमा—बाबा हम तिहारे लालाए रोज देख आमतें।

बाबा—कैसो है ?

पैंमा—ऐसौ है जैसौ आज लग देख्यौ नाँय।

बाबा—(आश्रु नेत्रों से मुसकाकर) लालाओ, जि सब तुम्हारे पुन्ननकौ ही प्रताप है।

गोपा—बाबा पुन्न-फुन्न तौ तुम जानौं, हम तौ दूसरेई चक्कर में परे हैं।

बाबा—ऐसौ का चक्कर है गोपा, सुनाय तौ सही।

गोपा—चक्कर जि है बाबा कि तिहारे लाला कूँ देख कें हमें जि फिकर लग गई है कि जाके लायक दुलहिन कहाँ ते लामेंगे ?

पैंमा—हाँ बाबा हम दोऊ याई सोच में परे हैं।

बाबा—(मुसकाकर) सोच है तौ पक्कौ, पैंमा ! अब तक जि मेरे मन में तौ नाँय हतौ, तुम दोनोंन नैं डार दियौ।

गोपा—तो बाबा काऊ पण्डित ते पूछनी चाहिये। जब तुमऊँ सोच में पर गये तौ बुई बताय सकै।

[नारद और ब्रह्मा का प्रवेश]

नारदजी—देखें भगवन, यह सामने ब्रजवासियों के बीच में श्रीनन्दराइ खड़े हैं।

ब्रह्माजी—(नन्दबाबा के निकट जाकर अत्यन्त हर्ष पूर्वक)

अहो भाग्य महो भाग्यं नंदगोप ब्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।

नन्दबाबा—(हाथ जोड़कर आप दोनोंन कूँ नमस्कार है।

ब्रह्माजी--आश्चर्य है, आप हमको नमस्कार कर रहे हैं। आप ब्रजवासियों से बढ़कर भाग्यशाली कौन हो सकता है, जिनके घर में परमानन्द स्वरूप सनातन पूर्ण-ब्रह्म ने जन्म लिया है। मेरे जैसे अनेक ब्रह्मा इनके एक रोम-कूप में समाये हुए हैं।

नन्दबाबा—(हाथ जोड़कर) यह सब आप जैसेन कौई प्रताप है, नाँय तौ हम गँवार ब्रजवासीन के भाग में ऐसौ लाला कहाँ।

नारदजी—नन्दराइ, तुम्हारे अमित भाग्य के परिपाक स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम तुम्हारे घर में प्रकट हुये हैं। इनका लालन-पालन इनके महान गौरव को ध्यान में रखकर करना।

नन्दराइ—(भोलेपन से) महाराज, आपको जि बात मैं समझ न सक्यौ, समझाय देओ।

नारदजी—देखो, भगवान तुम्हारे घर में पुत्र रूप में अवतीर्ण हुये हैं। तुम अपनी तरफ से इनको अपना पुत्र मानकर भी इनका अनादर या अवज्ञा न करना और इनकी महत्ता एवं कृपा का स्मरण सदैव बनाये रखना।

नन्दराइ--महाराज, आपु की आज्ञा सिर माथे है, पर या लाला कूँ देख कै कछु ऐसौ सनेह उमगै है कि सिगरौ ज्ञान जानै कहाँ चलौ जाय !

गोपा—(नारदजी से महाराज, जि लाला औतारी होयगौ तब की तब देखी जायेगी। अबै तौ कछु दिना जाकौ लाड़-दुलार कर लैन देओ। (हाथ जोड़कर) कछू दिनान के लिये तौ या बातकू म्हौं ते निकासौई मत।

पैमा--जितौ गँवार है महाराज, पर जि बात तौ साँची है कै लाला कैसौऊ बड़ौ परमेसुर होय, पर या ब्रज में आय कैं शोभाई पावैगौ। हम सबन नें जा लाला कूँ देखतेई अपनौं सब कछु यापै न्यौछाबर कर राख्यौ है।

नन्दराइ--(नारदजी से हाथ जोड़कर) महाराज एसौ आशीर्वाद देओ कि लाला खूब फलै-फूलै और बड़ौ है कै आप जैसे महात्मान कौ आदर करै।

ब्रह्माजी--(हँसकर नारद, इन प्रेमी व्रजवासियों की बात समझ रहे हो न ? ये भगवान् को कभी अपने से बड़ा नहीं मानेंगे और इनको अपने से छोटा एवं अपना पालित ही समझते रहेंगे। ऐसा लगता है कि अपने बड़प्पन से ऊब कर ही भगवान् ने इन ब्रजवासियों के बीच जन्म लिया है।

नारदजी—भगवन् आप ठीक आज्ञा कर रहे हैं। ब्रजवासियों की इस दृष्टि के कारण ही ब्रज में प्रेम की एक परम पावन धारा बह उठी है। इनसे प्रेम की दो बातें सुनने के लिये ही मैंने इनको भगवान् की महत्ता का उपदेश दिया था।

ब्रह्माजी--नारद, इन सहज प्रेमियों को देखकर ब्रज में जन्म न पाने का भारी परेखा मन में रह गया है। वह यहाँ बार-बार आकर श्यामसुन्दर के दर्शन करते रहने से कुछ कम हो सकेगा। चलो पहिले यह कार्य कर लें।

नारदजी– जो आज्ञा, (नन्दराइ से) आप भी चल रहे हैं न ?

नन्दराइ– आप पधारौ महाराज, आपकौई घर है । मोय उपनन्द की एक बछिया कूँ दवा देनी है। बाय देकै मैं अभी आऊँ ।

(नारद और ब्रह्मा जाने को उद्यत होते हैं)

गोपा— नेंक ठहरौ महाराज (बाबा से) बाबा बु बात तौ अटकी ही रह गई ।

नन्दराइ– तौ वाकूँ इनतेई पूंछ लै । इनते बड़ौ और को मिलैगौ ।

गोपा— तुम्ही पूंछौ बाबा, मोय तौ जि पैमा गँवार बतावै ।

ब्रह्माजी—पूछिये नन्दराइ, आप लोग तो जो कुछ कहेंगे वह श्यामसुन्दर के सम्बन्ध में ही होगा ।

नन्दराइ– हाँ महाराज, लाला की ही बात है। मैं जब या ठौर पै आयौ तौ जि गोपा और पैमा जि चिन्ता कर रहे कि ऐसे सुन्दर लाला की जोरी कैसे मिलैगी, जाके जैसी लौनी दुलहिन कहाँ ते आवैगी ?

ब्रह्माजी—(जोर से हँसकर) हा-हा-हा, धन्य हो व्रजवासियो ! लाला अभी कुछ ही दिन के हुये हैं कि तुम लोगों को उनके विवाह की भी चिन्ता लग गई !

गोपा— (गम्भीरता से) चिन्ता तौ रखनी परै, महाराज ! लाला इतनौ सुन्दर न होतौ तौ कोई बात नाँय ही । अब जि बताय देओ कि जा जैसी दुलहन मिलैगी कि जाइ क्वारौ ही राखनौं परैगौ ? जोरी मिले बिना तौ हम जाकौ ब्याह न हौंन दैंगे। च्यौंरे पैमा, बोलै च्यौं नाँय ?

पैमा— तू बोल तौ रह्यौ है। पर जि बात साँची है कि जोरी मिले बिना जा गाम कौ तौ कोई लाला की बरात में जायगौ नाँय महाराज, बाबा अकेले ब्याह लामैंगे ।

बाबा— (मुसकाकर) अरे बाबरेऔ, तुम्हारे बिना ब्याह है कैसें जायगौ ? (ब्रह्माजी से) महाराज, जाकी बात कौ बेग उत्तर दै देओ ।

ब्रह्मा— महा प्रेमियो, घबराओ नहीं तुम्हारे लाला की जोड़ी मिल जायेगी और उनके विवाह में पौरोहित्य मैं करूँगा । किन्तु मैं एक बात सोच रहा था ।

नन्दराइ– का, महाराज ।

ब्रह्मा— मैं सोच रहा था कि श्रीश्यामसुन्दर के जन्म से ही जब व्रज में सर्वत्र अद्भुत सुषमा फैल गई है और प्रेम की उद्दाम तरंगें उठ रही हैं तो इनकी अनुपम दुलहिन के प्राकट्य के साथ क्या होगा, इसकी कल्पना हम से तो नहीं हो रही है ।

गोपा —तौ महाराज, लाला की दुलहिन लाला तेऊ ज्यादा सुन्दर होयगी ?

ब्रह्माजी—इतनी सुन्दर कि त्रिभुवन मोहन तुम्हारे लाला उसके चरणों पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करके अपने को धन्य मानेंगे ।

पैमा—(अधीरता से) तौ ऐसी लाली कब जनम लेयगी महाराज ? तिहारी बात सुनकें मेरी लौ तौ अब उतकूँई लग गई है । च्यौं गोपा तू कहा कहै ?

गोपा—मेरी पीछे सुन लीजौं पहिले (धीरे से) बाबा माऊँ तौ देख ।

(नन्दराइ की आँखों से आँसू बह रहे हैं और वे अपनी लठिया के सहारे कठिनता से खड़े हैं)

पैमा—अरे मोय दिखाय रह्यौ है ! बाबा कूँ सभाँल तौ सही ।

(दोनों जाकर बाबा को सहारा देते हैं)

नंदराइ—(गद्गद् होकर) मेरौ भाग का ऐसौ जागैगौ महाराज ? लाला की दुलहन लाला तेऊ सुन्दर आवैगी ? मेरी छाती में खुसी समावै नाँय । (छाती पकड़ लेते हैं)

ब्रह्माजी—(नंदराइ के कन्धे पर हाथ रख कर) नंदराइ, विह्वल न बनें । यह तो आरम्भ हो रहा है । आप ब्रजवासियों को तो अभी न जाने कितने सुख-सिन्धुओं का अवगाहन करना है । सावधान हों ।

नंदराइ—(आँसू पोंछ कर) महाराज, तौ जि महाभागा कब जनमेंगी ?

गोपा—बेग बताय देओ महाराज, हम सब तौ वाके द्वार पैई जाइ परैंगे ।

ब्रह्माजी—घबड़ाओ नहीं बन्धुओ ! थोड़े दिन बाद ही शुक्ला अष्टमी को श्रीवृषभानु भवन में श्रीश्यामसुन्दर की दुलहिन जन्म ले लेंगी ।

गोपा—आज कौन सी तिथि है, महाराज ?

नारदजी—आज तृतीया है ।

गोपा—(कुछ न समझकर) तौ आज ते कँ दिन रह गये महाराज ?

नारदजी—आज से छठे दिन अरुणोदय काल में इस पृथ्वी पर परम मांगलिक सौन्दर्य-राशि का अवतरण हो जायगा ।

नंदराइ—(हाथ जोड़कर) धन्य हो महाराज, आपने हम सब की बात राखि लई । अब कोई चिन्ता नाँय ।

नारदजी—(हँस कर) धन्य तो तुम हो, नंदराइ । तुम चिन्तामणि की चिन्ता रख रहे हो । जिसकी चरण-नखप्रभा के हृदय में यत् किञ्चित उद्भासित होते ही

सम्पूर्ण चिन्ताओं को विश्रांति मिल जाती है, तुम उनकी चिन्ता में व्यग्र हो (ब्रह्माजी से) पधारें भगवन्, अतिकाल हो रहा है। श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन कर लें।

नंदराइ—हाँ महाराज, पधारौ, मैं भी अभी आइ रह्यौ हूँ।
(ब्रह्माजी और नारदजी का बाँई ओर से, और नंदराइ जी का दाहिनी ओर से प्रस्थान)

गोपा—चल, पैंमा पहले जमुना के ठाठ देखि आमें फिर गाम में जि बात कहनी है।

पैंमा—कुन सी ?

गोपा—जेई जो महात्मा लोग बताइ गये हैं, लाला की दुलहन की।

पैंमा—चल वेग चल, या बात कूँ सुन कें तौ सिगरौ गाम खुसी के मारें नाच उठैगौ।

गोपा—चल, जा पास की डगर ते निकस चलैं।

(दोनों का प्रस्थान)

तृतीय दृश्य

(बरसाने के निकट का मार्ग। गोपा, पैंमा और रूपा का प्रवेश। तीनों समवयस्क हैं और तीनों ने उत्तम प्रकार के वस्त्र पहन रखें हैं-दुलङ्गी धोती, घुटने तक का अँगरखा, दुपट्टा और साफा। माथे पर चन्दन की खौर हाथों में कान तक ऊँची लाठी)

गोपा—अरे रूपा, तू बड़ौ गँवार है।

रूपा—च्यौं कहा भयौ ?

गोपा—भयौ कहा, तैंने हम चक्कर में डार दये। महात्मा जौ ने छठे दिन लाला की दुल्हन कौ जनम बतायौ हौ और आज ......

रूपा—(हँस कर) आज तौ पाँचमौ दिन है। तू च्यौं घबराइ रह्यौ है।

पैंमा—घबरामें कैसे न ? (दूर पर सहनाई की आवाज सुनाई देतो है) लै सुन लै, वृषभानु बाबा के यहाँ सहनाई बज रही है, लाली कौ जनम है गयौ।

रूपा—(हँसकर) अरे यौं जनम नाँय होय। बड़े घरन में शहनाई बजती ही रहै।

गोपा—जेई तौ तेरी बात है, तू काऊ की लगन नाँय देय। पैंमा ठीक कह रह्यौ है, लाली कौ जनम..........

पैंमा—देख गोपा, सामने ते कोई आइ रह्यौ है। अब काम बन गयौ, इनते पक्की खबर मिल जायगी।

गोपा--(देखकर) द्वै छोरा से लगें (दूर से 'हेरी-हेरी रे भैया, हेरी-हेरी रे,' की ध्वनि सुनाई देती है)

पैमा—अरे जि तौ बड़े मगन है कै हेरी गाइ रहे हैं ।
(दो तरुण गोपों का गाते हुए प्रवेश । दोनों ने परस्पर गलबाँही दे रखी है और झूम-झूम कर गा रहे हैं)

दोनौं गोप—हेरी हेरी रे भैया, हेरी हेरी रे
हेरी दै क्यौं न गावहू हो भलौ बन्यौ है काज ।
कीरत कन्या है जनी आयौ ब्रज में राज रे भैया, हेरी री रे ।।

गोपा—च्यों भैया, बरसाने माऊँ ते आइ...........?

एक गोप—चुप रह, बीच में मत बोल ।

(दोनों फिर गाने लगते हैं)

दोनौं गोप—वृषभानु धरनि कन्या जनी हो तन मन बढ़्यौ आनन्द । निरखि-निरखि फूले सबै पून्यौ कौ-सौ चन्द रे भैया हेरी-हेरी रे भैया ।।
(हर्षातिरेक से गोपा और पैमा दोनों गोपों से लिपट जाते हैं और सब एक दूसरे का आलिंगन करते हैं)

(सब मिलकर गाते हैं)

हेरी हेरी रे भैया-
हेरी दै क्यौं न गावहू भलौ बन्यौ है काज ।
कीरत कन्या है जनी, आयौ ब्रज में राज रे भैया ।।

गोपा—च्यौं भैया, वृषभान राइ कें बहुत सुन्दर लाली जनमी है ।

एक गोप—अरे का बताऊँ यार ! लाली का जनमी है, एक तमासौ-सौ है गयौ है । यौं समझ लै कै सवेरे ते सिगरौ गाम लाली कूँ देखन उलट पर्‌यौ है । पर लाली पूरी देखी काऊ ने नाँय ।

पैमा—च्यौं एसी का बात है ?

दूसरा गोप—बात का है, लाली पै आँख टिकेई नाँय । तैने नन्दबाबा कौ लाला देख्यौ है ?

पैमा—देख्यौ है, हम वाई गाँव के हैं !

दूसरा गोप—हम हूँ तिहारे लालाए देख आये हैं । वाकूँ भी देखत ही आँखन में चकचौंधी आवै पर बु नैक कारे रङ्ग पै है सो थोरी देर में आँख टिक जाय ।

हमारी लाली तौ एकदम गोरी है—गोरी। (धीरे से) वाके सरीर में ते किरन-सी निकसें चारों ओर तें, बाय कोई सहज में कैसे देख लेगौ ?

गोपा—किरन सी निकसें ? तब तो हमारे लाला जैसौ हाल है। जि किरन तौ सिगरे गाँव में छाइ गई होंगी।

दूसरा गोप—तोइ दीसै नांय का ? पेड़न माऊँ देख।
(चारों ओर के वृक्षों पर एक अत्यन्त मृदुल पीत प्रकाश झलमलाता दिखलाई देता है और सब लोग कुछ क्षणों तक अवाक् देखते रहते हैं)

पैमा—(देखते हुए) भाई गोपा, जि तौ बड़ौ जोरदार मामलौ है। हमारौ लाला तौ जाके आगे फीको पर्‌यौ ही चाहै। तैंने कहीं ऐसी चाँदनी देखी है ?

दूसरा गोप — अरे जि का बतावैगौ। जाकूँ देख कैं तौ बड़े-बड़े चक्कर खाय रहे हैं। बता, तैंनें कहूँ चार म्हौं कौ आदमी देख्यौ है ?

पैमा—(मुसकरा कर) हाँ, देख्यौ है। हमारे लाला के दरसनन कूँ आयौ हौ।

एक गोप—और कहूँ आकाश में ते फूल बरसते देखे हैं ? हमारी लाली जब जनमी बाबा की पौर फूलन ते पट गई।

गोपा—(मुसकाकर) हमारे लाला के जनम के बखत हू खूब फूल बरसे। पर जि बात साँची है कि ऐसी चाँदनी हमने कहूँ नाँहि देखी। हमारे लाला की हू चमक-दमक बड़ी भारी है पर जि तौ कछू बात ही और है।

एक गोप—जेई तौ मैं सुन्यौ चाँहूँ। हमारी लाली में का बात ज्यादा है ?

पैमा—मोते पूछ। देख, पक्की बात तौ लाली कूँ देख कैं बताऊँगो पर यौं समझलै कि लाला में जो तेज निकसै बु है तौ बड़ौ ठण्डौ पर रहैगौ तौ तेज ही और जितौ चाँदनी है-हजार चाँदनीन की एक चाँदनी है। जाकी ठण्डक कूँ को पावैगौ ?

दूसरा गोप—वाहरे पैमा, जि कही तैंने। और कहूँ ऐसे लाला-लालीन की जोरी बन जाय तो बात कैसी लगै ?

पैमा—(मुसकाकर) ऐसी लगै जैसे पानी भरे बादर के संग दमकती बीजुरी होय। लाला, जि जोरी तौ बनैगी ही।

एक गोप—तेरौ भलौ होय भैया, जि बानक बन जाय तौ बड़े आनन्द आमैं।

गोपा—जि तौ बन्यौ बनायौ है। हमारे गाँव में द्वै महात्मा जा बात कूँ ठोक-ठोक कै कह गये हैं, तू घबरावै मत। चल पैमा, लाली कूँ देख आमैं।

दूसरा गोप—लालीकूं देखबे चलौ तौ हम हूँ संग चलें। पर यार, हमैं तौ आज सबेरे तेई गबास लग रही है, कछू गामत चलौ।

पैमा—बहुत बढ़िया, जेई हमनें सोच राखी ही। (गाता है)

चलौ वृषभान गोप के द्वार।
जनम लियौ मोहन हित श्यामा आनंद निधि सुकुमार॥

(सब का गाते हुए प्रस्थान)

(चतुर्थ दृश्य)

(बरसाने में वृषभानुराइ का भवन। मुख्य द्वार से लगे हुए विशाल चबूतरे पर वृषभानुराइ तथा उनके बन्धुगण राजसी ठाठ में बैठे हैं। सब लोग अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में हैं। वृषभानुराइ के बगल में वस्त्र और आभूषणों का ढेर लग रहा है जिनका वितरण वे वधाई देने वालों को कर रहे हैं)

वृषभानु—भैया, जब ते लाली जनमी है तब ते एक विलच्छन बात है रही है। सबते पहिले तौ पौर में रखी नौबत अपने आप बज उठी और सिगरे गैया-बछरा खिरकन कूँ तोर कै इकठौरे है गये। बड़ी मुसकिल ते उन्हें यहाँ ते हटाये हैं।

उपभानु—अपने यहाँ तौ नौबत ही बजी भैया, गाँव में और गोपन के यहाँ तौ जितनी थारी-परात हीं वे सब लाली के जनमत ही अपने आप बज उठीं और गैयान के थनन ते दूध की धार बिना बछरान के चलन लगीं ! गाँव की सिगरी के के धरती दूध ते धौरी है गयी है और कहूँ-कहूँ तौ कीच मच गयी है।

वृषभानु—जि छिद्दा अभी गोकुल ते आयौ है, जाते ह्वाँ कौ हाल तौ सुनौ (छिद्दा से) बताय रे छिद्दा।

छिद्दा—(खड़े होकर) महाराज, मैं लाला कूँ देखन कल गोकुल गयौ हौ। आज सबेरे पौ फटते ही नंद द्वार की सब नौबत एक संग बज उठीं और सारे गाम में कोलाहल-सौ मच गयौ। मैं दौर कै नंद भवन पहुँच्यौ तौ महाराजा, ह्वाँ कौ हाल चाल देख कै तौ मैं बाबरौ ही है गयौ। (चुप हो जाता है)

वृषभानु—अरे बीच में चुप्प है गयौ, पूरी बात तौ सुनाय।

छिद्दा—कहा सुनाऊँ महाराज, एक ओर तौ नंदबाबा और जशोदा मैया खुशी के मारे नाचैं और दूसरी ओर उनकौ बु साँवरौ ढोटा पलना में ते किलक-किलक कै निकस्यौ परै ! महाराज, लाला की वा छवि कूं कैसे बताऊं ? मैं तौ चकाचौंधी-सी खाय कै ह्वाँ ते भाज्यौ, मोय ऐसौ लगै कि थोरी देर में नंद बाबा हू आमत होंगे।

वृषभानु—आमन दे भैया, उनके पधारवे ते तौ यहाँ कौ आनन्द दूनौ है जायगौ।

(एक गोप का प्रवेश)

गोप—अनदाता, अपने कुलगुरु गौतम ऋषि पधारे हैं ।

(गौतम ऋषि का प्रवेश)

(सब उठकर खड़े हो जाते हैं, वृषभानुराइ एवं अन्य लोग उनका चरण स्पर्श करते हैं तथा उनको उच्च आसन प्रदान करते हैं)

वृषभानु —(हाथ जोड़कर) महाराज, आज मेरौ भाग सब प्रकार ते अनुकूल लगें है। आपनौ पधारनों सदा मङ्गलमय होय है ।

गौतम—व्रजराज, सम्पूर्ण मङ्गलों का मूल तो तुम्हारे यहाँ कन्या रूप में अवतरित है। इसका नामकरण-संस्कार करके अपने को धन्य बनाने के लिये मैं यहाँ उपस्थिति हुआ हूँ । (सब लोग उत्सुकता पूर्वक निकट आ जाते हैं ।)

वृषभानु—(उत्सुकता से) महाराज, लाली कौ कहा नाम निकस्यौ है ।

गौतम—वृषभानुराइ, सम्पूर्ण सौन्दर्य और माधुर्य की अनुपम निधि, इस पृथ्वी के भाग्य से, तुम्हारे घरमें प्रकट हुई हैं। त्रिभुवन मोहन प्रेम-स्वरूप नन्द-नन्दन को प्रेम-मत्त बनाने के लिए इस अद्भुत कन्या का जन्म हुआ है। वे इसका आराधन करेंगे और ये उनका, इसलिए इसका नाम 'राधा' होगा ।

वृषभानु—(प्रसन्न होकर) राधा-राधा कैसौ अच्छौ नाम है। या नाम में तौ लाली कौ अनौखौ रूप झलक उठचौ है, राधा-राधा । महाराज, कृपा करके लाली कौ कछु भाग-फल तौ कहौ ।

[गाँव के ज्योतिषियों का प्रवेश]

ज्यौतिषी—जय हो वृषभानुराइ की। आज लाली के जनम ते मेरी सब विद्या सफल है गयी । या कन्या की जन्म कुण्डली बनाय कै मेरी आगे-पीछे की सब पीढ़ी तर गयीं ।

गौतम—ज्योतिषीजी, वृषभानुराइ अभी मुझसे कन्या का भाग्य फल पूछ रहे थे । उसे आपके मुख से सुनकर मुझको प्रसन्नता होगी ।

ज्योतिषी—महाराज, जन्म फल तौ आप ही कहते तौ अच्छौ रहतौ, पर आपकी आज्ञा है तौ मैं वाय गाय कै सुनाऊँ हूँ । सुनौ राजन् !

(गाता है ।)

अब जनमत याके रूप कुल की ताप हरी ।
रिधि-निधि-सिधि तुम्हरे द्वार रहि हैं सहज परी ।।

नित अचल पदारथ चार सेवत चरन रहै ।
सुर किन्नर मुनि गंधर्व तुव जस अमल कहैं ।
ये बड़ड़े नृपति समूह तुव पद आन गहैं ।।
या कन्या प्रबल प्रताप व्रज सुख सिंधु बहैं ।।

गौतम—धन्य हो ज्योतिषीजी, ऐसे सुन्दर ढङ्ग से तुम ब्रजबासी लोग ही बात कह सकते हो। वृषभानुराइ, परात्पर रस की जो निर्मल ज्योति तुम्हारे यहाँ प्रकट हुई है वह नित्य वर्तमान तत्त्व है- उसमें न भूत है, न भविष्य। फिर भी इनकी संपूर्ण लीला लोकवत् होगी और जब तक सूर्य चन्द्र रहेंगे, तब तक रसिक भक्त इनके पावन चरित्रों का गान करके आनन्दित होते रहेंगे।

वृषभानु—महाराज, लाली कौ रूप देख कै हम सब ब्रजवासी अकबके है रहे हैं। और अचरज में पर गये हैं। मैं तौ अभी जि सोच रह्यौ कि ऐसी लाली कौ लाड़ चाव हम कैसे कर पायेंगे ? आपकी बात सुनकैं मोय डर-सौ लग गयौ है।

गौतम—(हँसकर) डरो मत, वृषभानुराइ ! तुम्हारी कन्या के नामोच्चार मात्र से असंख्य जीवों का भव- नष्ट होगा। तुम इस प्रेम-लक्ष्मी का खूब प्यार-दुलार करो। संसार के प्रेमी जन तुम्हारे प्रेम का ही अनुसरण करेंगे। कई पीढ़ियों से हमारे कुल ने तुम्हारा पौरोहित्य किया है। उसके फलस्वरूप यह अद्भुत कन्या श्रीराधा मुझको अपना अ गाध अमृत रस भरित दास्य प्रदान करें।

(भावाविष्ट होकर)

पूर्णानुराग रसमूर्ति तडिल्लताभं
ज्योतिः पराः भगवतो रतिमद्रहस्यम् ।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानु ग्रेहे
स्यात् किंकरी भवितुमेव ममाभिलाषः ।।

(वृषभानु-द्वार को हाथ जोड़ते हैं)

छिद्दा—(हाथ जोड़कर) पर महाराज, जाकौ अर्थ कहनौ चहिए।

गौतम – जो पूर्ण अनुराग रस की मूर्ति हैं, जो 'विद्युल्लता-सी कान्ति वाली हैं, जो परात्पर प्रकाश रूपा हैं और जो कृपा-परवश बनकर आज वृषभानु गृह में प्रादुर्भूत हैं, उन श्रीराधा के दास्य में मेरी रुचि हो। (चारों ओर देखकर) अब समय हो गया है राजन्! मैं तुमको आशीर्वाद देकर और तुम्हारी कृपा मना कर अब चलता हूँ। (सब लोग खड़े होकर प्रणाम करते हैं)

(गौतम ऋषि का प्रस्थान)

(नैपथ्य में—'चलौ वृषभानु गोप के द्वार' का घोष, एक गोप का हड़बड़ी से प्रवेश)

गोप—अनदाता, गोकुल के नन्दराइ नाचत-गामत पधार रहे हैं ।

(सब लोग खड़े होकर स्वागत के लिए आगे बढ़ते हैं)

गोपा, पैमा आदि के साथ नन्दराइ का 'चलौ वृषभान के गोप द्वार' गाते हुए प्रवेश । वृषभानुराइ दौड़कर प्रेमपूर्वक उनका आलिगन करते हैं और उनको हाथ पकड़ कर अपनी गद्दी पर बैठाते हैं और स्वयं उनकी दाहिनी ओर बैठ जाते हैं)

नन्दराइ—भैया, तिहारी लाली के जनम की खुशी मोय मेरे लाला के जनम तेऊ ज्यादा भई है । जाके जनम ते हमारे सब बानक बन गये ।

वृषभानु—तुम सब भईयन की असीस मोकूं फल गई है, नन्दराइ । जा औसर पै तिहारे पधारबे ते, कहा कहूँ, आनन्द बहुत बढ़ि गयौ है । हमारौ लाला तौ खूब मौज में है न ?

नन्दराइ—(हँसकर) वाके बराबर और मौज में कौन ? ? बु तौ खुसी के मारे समाय नाय रह्यौ है (गम्भीर होकर) भैया, मोहि तौ वाहि देखि कै अचरज-सौ लगै । जो कछु भी नांय समझें बु जा औसर कूँ कैसें समझ गयौ ।

ज्योतिषी—महाराज, जि तौ एक ही तत्त्व द्वै रूपन में प्रगट भयौ है, जैसे जल और वाकी तरङ्ग, वैसेई जि दौनों एक हैं । फिर एक के जनम ते दूसरे कूं ज्यादा खुसी होयगी ही ।

छिद्दा—पण्डित जी, लाला-लालीन में एक बात तौ मैंने देखी है । जि दोऊ एक से सुन्दर हैं । सिगरौ गाम जाई झगरे में परचौ है कि इनमें ज्यादा सुन्दर कौन-सौ है ।

ज्योतिषी—(प्रसन्न होकर) जि तैंने साँची कही ।

छिद्दा—इनमें ते कोई से कू एक बखत देख लेओ फिर बु नजर कू हटन न देगौ और ऐसौ लगैगौ कि जाते ज्यादा सुन्दर होय नाँय सकै, फिर दूसरे कूं देखौ तौ ज्यौं की त्यौं बई बात कि जाते ज्यादा सुन्दर अब कछु है नाँय ।

वृषभानु—वाह रे छिद्दा, जि तैंने बहुत ठीक कही ।

ज्योतिषी—तभी तौ महाराज, आज सबेरे ते मेरे मन में आइ रही है ।

माई री सहज जोरी प्रगट भई,
रङ्ग की गौर श्याम घन-दामिनि जैसे ।

नन्दराइ—बाह पण्डित जी, जब जि दोऊ भगवान् की दया ते बड़े है कैं पास-पास खड़े होंगे तो घन-दामिनी सेई लगेंगे।

ज्योतिषी—हाँ, बाबा वा समैं तौ सुन्दरता के दो महा छबीले सागर मिल जाँयगे। घन की शोभा दामिनी ते होयगी और दामिनी की शोभा घन बढ़ावैगौ।

(नेपथ्य में बधाई है, बधाई है, की ध्वनि। सुसज्जित वेष में मागध और मागधी का प्रवेश)

मागध—बधाई है अन्नदाता, (गाकर)
सात साल कौ मेरौ राजा ताकें बजत बधाई।
कुँवरि भई वृषभानु बड़े घर अष्ट सिद्धि ब्रज आई।।

मागधी—महाराज वृषभानुराइ जू कीरतजी वर पाये जू,
प्रथमहीं सुभग सुघर सुन्दर अति श्रीदामा सुत जाये जू,
साधु सुभग बड़ सील चतुर वर सखा कृष्ण कौ प्यारी जू,
ताके जनम दान बहु पायौ भवन-भवन ते न्यारौ जू।।

मागध—अब प्रगटी श्रीकुँवरि लाड़िली सुन्दरता की एना जू,
नख सिख आनंद पुंज अङ्ग अङ्ग अमृत श्रवत मुख बैना जू।

मागधी—कोटि-कोटि लक्ष्मी कर जोरैं सन्मुख रूप निहारैं जू,
निरखि-निरखि मुख प्रान प्रिया कौ तन-मन सर्वसु वारैं जू,
पूरन पुरुष पुरान भयौ पुरुषोत्तम नाम कहायौ जू,
राधा-राधा नाम रटत ही नव किशोर पद पायौ जू।।

(सब लोग वाह-वाह करते हैं। नन्दराइ उठकर मागधी को पट-भूषण प्रदान करते हैं। इसके बाद दोनों वृषभानुराइ के पास जाते हैं और वे भी उनको वस्त्रा-भूषण देते हैं।

गोपा—(नन्दराइ से) बाबा मोय भी इन मागध-मागधी की बात बहुत अच्छी लगी। पर पीछे ते जि का कह गये सो समझ न परी।

पैमा—(आगे आकर) बाबा मैं गोपाए समझाए दऊँ। देख सास्त्रन में एक पुराण पुरुष कौ नाम आवै। बु सबते बडौ है।

गोपा—पर जि तौ बताय कि पुरान पुरुष कौन ते कहैं?

पैमा—पुरानौ आदमी, और कहा? जि सबते पुरानौ है।

गोपा—तब तौ बहुत डोकरा होयगौ, लाली के जनम की मौज-बहार में बाकौ कहा काम?

पैमा—अरे सुन तौ सई, बीच में तेई लिये भगै। तू वाय डोकरा ही मान लै। तौ, बानें जब लाली कौ राधा नाम मन लगाय कै रटचौ तौ नाम के प्रताप ते पुराण पुरुष कूँ १४ वर्ष की उमर कौ नव किशोर पद मिल गयौ। जि नव किशोर ही हमारौ लाला है। अब समझ्यौ मागधी की बात ?

गोपा—समझ गयौ। पर पैमा, मोहि तौ ऐसौ लगै कि इन दोउन के गुनन कौ ओर-छोर नाँय।

मागधी—जितौ तू साँची कहै भैया तिहारे लाला के गुननकूँ सेष-महेस हू नाँय गिनाय सकैं और हमारो लाली के गुनन कौ पार लाला नाँय गिनाय सकै। (वृषभानुराइ से) अन्नदाता हम बहुत पीढ़ीन दे तिहारे वंश कौ गुणगानकरत आमें और तिहारी कृपा ते हमारे भण्डार सदा भरेई रहैं हैं, पर या लाली कूँ देख कै तौ अब घर लौटवे कूं मन नाँय करै। (हाथ जोड़ कर) अब तौ हमें या पौरि पैई बसाय लेओ।

वृषभानु—(हँसकर) हाँ मागध, अब तू यहीं पर्‌यौ रह, और लाली के गुन गामत रह।

मागध—(प्रसन्न होकर) जय हो बड़े दरबार की, जय होय राधा कुँवरि की, महाराज, आपकूँ एक असीस सुनाय दऊँ।

ललो चिरजीवी तेरी।
अब या ब्रज सुख सिंधु बढ़ैगौ सुन असीस मेरी।
हौं हूँ मचल पर्‌यौ या पौरी मुख देखौं रहौं नेरी।
वृन्दावन हित रूप भाग फल दैव दयौ एरी॥

(भाँड़ और उसकी बीबी का प्रवेश)

भाँड़—अनदाता की जय हो। बधाई है हुजूर, हम भाँड़ लोग तशरीफ लाए हैं।

वृषभानु—(हँसकर) आओ-आओ, तुम्हारी कसर और ही।

[सब लोग हँसते हैं]

भागौ रे मागध जन और सब गवैया लोग-
दाल न गलैगी अब आये यहाँ भाँड़ हैं।

जानौ न ऐसे वैसे गाम गोठ भूमि वारे-
नाम लै धनी का घूमें जैसे छूटे साँड़ हैं।
गावैं फटैं आसमान, नाचैं धरती धसक जात-
नवैं झुकैं ऐसे जैसे पालकी के डाँड़ हैं।
खाने में गुल गुला जैसे पानी में सर्वत जैसे-
देखने में उज्ज्वल मानों चावलों के माँड़ हैं।

(सब लोग जोर से हंसते हैं)

छिद्दा—(मुसकाकर) अरे तुम लोग कैसे आ गये। यहाँ कोई बिहा सादी थोरेई है।

भाँड़—आपके मुंह में बताशा। आज तौ यहाँ करोड़ों शादियों की एक शादी है।

छिद्दा—अरे तुम्हें कोई ने बहकाय दियौ हैं। जाओ दिन रहते घर पहुँच जाओ।

बीबी—हम वापस लौटने को नहीं आये हैं। अब तो हम नन्दनन्दन और वृषभानु नन्दिनी का नाम जपेंगे और नाच-कूद कर इन्हीं को हँसावेंगे।

एहो ब्रजवासी क्यों ठट्ठा करो हम से, सुनों-
सोंह तुम्हें मेरी बात कहियौ परमान की।
आज मन चीतौ भयौ मेरे बड़ भागन सों,
छवि पै निछावर करि देहों इन प्रान की।
हेरत हों वाट जुग बीते अनेक अब,
पूरी भई लालसा इन दुखिया अँखियान की।
साँची तो बताओ ये रचे हैं कौन विधना ने,
कुँवर नंद जू के और बेटी वृषभानु की।।

(सब लोग वाह-वाह करते हैं)

गोपा—अरे जि बीबी तौ बड़ी चटपटी लगै (पैमा से) जाकी आँखन कूं तौ देख, घूंघट के भीतर तैर-सी रही हैं। नैंक म्हौं उघारै तौ आनन्द आवै।

बीबी—हँसकर,

बैठी अट्टे पै पान-पट्टे चबाया करें,
समुझौ न वैसी श्याम रङ्ग में रँगानी हैं।
वासर बितावें ज्ञानी गुननि की चर्चा में,
सुनैं प्रेम कथा हाथ भक्तन बिकानी हैं।
सेयौ करें द्रुम बेली वृन्दावन वीथिन की,
सपनेहु न जानै कौन रमा औ शिवानी हैं।
गामैं रिझावें कूख जच्चा की मल्हावें,
खूब तालियाँ बजावें हम राधा गुन गानी हैं।

नन्दबाबा—[प्रसन्न होकर] अरी, यहाँ आरी भाँड़ की बहू।

छिद्दा—अरे दौर कै जा, तेरौ काम बन गयौ।

[भाँड़ की बीबी नन्दबाबा के पास इठलाती पहुँचती है और उनके सामने मुखरा करती है। नन्दबाबा उसको सोने के आभूषण प्रदान करते हैं।

भाँड़—[हंसकर] हुजूर, यह हर जगह मुझसे पहले इनाम पाती है।
पैमा—अरे, तोहि को पूछै, अपनी सूरत तौ देख।

(सब लोग हंसते हैं)

भाँड़—सरदार, अभी तक तौ मेरी शक्ल वैसी ही थी जैसी आप फरमा रहे हैं, मगर इस राजकुमारी के पैदा होने के बाद तौ यह चाँद को शर्मिन्दा कर रही है, गौर से देखें।

ज्योतिषी—जि तैनै साँची कही। लाली कौ रूप जो देखै बुई रूपवान है जाय।

भाँड़—(वृषभानुराइ से)

रहे आबाद ये गुलशन तेरा और तू हमेशा ही,
करम कर दो यहीं बन जाइ इक बारादरी अपनी।

छिद्दा—शाबास, बाबा की पौर पैई बारंदरी बनबावैगौ ? मागद तौ जम गयौ है, तू भी यहीं बसती लगै।

ज्योतिषी—बस जान दै छिद्दा, बाबा के द्वार पै सिगरौ संसार आइ बसै तौऊ कछू कमी न परैगी। भगवान की सब शक्ति जाकौ मुख ताकती रहैं, एसी राधा कुँवरि नैं जनम लियौ है।

वृषभानु—तिहारे आशीर्वाद कौ फल है, जोसी जी।

ज्योतिषी—महाराज, अब ब्रज में रस कौ सागर बहैगौ। संसार के सिगरे रसिक जन इन्द्रिन के झूठे रस में परे हुते। राधा-श्याम सुन्दर अब उन्हें साँचे रसिक बनावेंगे और रस की उपासना कौ मारग बतावेंगे।

कियौ अनुग्रह एक रस विस्तारबे कौं,
साँचे किये रसिक वपु रसमय दिखायौ है।
निगमन में गूढ़ कह्यौ गरुवौ जो महारस,
ब्रज अनुरागिन सोई धापि कै पिबायौ है।
ब्रह्म कह्यौ एकाकी, को रस कहै विवेकी,
ईश्वरता मरजादा किनधौं रस पायौ है ?
वृन्दावन हित रूप सब ही कों पाछे राखि,
राधा-श्याम प्रगटे, रस वारिधि बहायौ है।

(सब लोग वाह-वाह करते हैं)

पटाक्षेप)
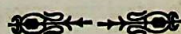
निज सुख निरख्यौ नैन

(काल—विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का मध्य। समय–तृतीय प्रहर, स्थान–श्रीवृन्दावन में यमुना तट। दो वैष्णव यमुना स्नान करने के बाद बातचीत कर रहे हैं। एक विरक्त वेष में है और उसकी आयु ४५ के लगभग है। दूसरा गृहस्थ वेष में है और वह ५० के लगभग है। साधु का नाम युगलदास है और गृहस्थ भगतजी के नाम से प्रसिद्ध हैं।)

युगलदास—भगतजी, श्रीहितजी महाराज के इस धर्म का क्या होने जा रहा है?

भगतजी—(साश्चर्य) क्यों क्या हुआ महाराज ?

युगलदास—हुआ क्या ! अब तो इस धर्म में बड़े अनन्य प्रेमी आने लगे हैं। जहाँ देखो वहाँ कोई रो रहा है कोई गा रहा है तो कोई नाच रहा है ! किसी का चित्त ठिकाने पर दिखलाई नहीं देता।

भगतजी—(मुसकाकर) तो इसमें क्या बुराई है बाबा, यह तो श्रीहितजी महाराज का प्रताप है।

युगलदास—(विद्रूप हँसकर) किन्तु इस प्रताप को देखकर सेवकजी[1] तो घबरा उठे थे। और ऐसे लोगों को ठिकाने पर लाने के लिये ही उन्होंने अपनी वाणी में 'काचे धर्मी' प्रकरण रखा है। [गम्भीर होकर] भगतजी, प्रेम की ध्वजा मानी जाने वाली गोपीजनों को भी दुर्लभ इस रस-मार्ग में हजारों कच्चे लोगों की भीड़ घुस पड़ी है। उससे सेवकजी का चिन्तित होना स्वाभाविक था।

भगतजी—उस प्रकरण में उन्होंने क्या लिखा है बाबा ?

युगलदास—ऐसे कच्चे धर्मियों के लिये उन्होंने लिखा है कि ये लोग अनेक प्रकार की लीलायें दिखलाते रहते हैं और जब ये रोने लगते हैं तो नाक और मुँह से निकलने वाली गन्दगी को भी संभाल नहीं पाते।

१–राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ 'सेवकवाणी' के रचयिता।

युगलदास—ऐसे कच्चे धर्मियों के लिये उन्होंने लिखा है कि ये लोग अनेक प्रकार की लीलायें दिखलाते रहते हैं और जब ये रोने लगते हैं तो नाक और मुँह से निकलने वाली गन्दगी को भी संभाल नहीं पाते।

भगतजी—किन्तु महाराज, सेवक जी ने अपने ग्रन्थ के 'पाके धर्मी प्रकरण' में कृपापात्र रसिकों के लक्षण भी तो लगभग यही बताये हैं। उन्होंने कहा है कि ये कृपा-पात्र लोग क्षण क्षण में रोते हैं, कभी गाते हैं और कभी ठठाकर हंसने लगते हैं।

युगलदास—(झुंझलाकर) तुम बड़े भोले हो भगत जी, तुमने तो कच्चे धर्मी तथा कृपा-पात्र धर्मियों को एक ही कर डाला ! यदि यही बात है तो फिर 'काचे धर्मी प्रकरण में इतने विस्तार से उन्होंने इन लोगों का वर्णन क्यों किया है ?

भगतजी—(मुसकराकर) अलग से वर्णन तो इसलिए करना पड़ा है कि कृपापात्र धर्मी तो असली सिंह होते हैं और कच्चे धर्मी मिट्टी के शेर हैं दोनों की शक्ल तो एक जैसी होती है किन्तु उनमें अंतर धरती और आकाश का होता है।
युगलदास—वह अन्तर क्या होता है ?

भगतजी—अन्तर आपको मालूम है बाबा, आप तो मेरी परीक्षा ले रहे हैं !

युगलदास—यह बात नहीं है भगतजी, तुम पुराने रसिक हो। तुमने बड़े-बड़े रसिकों का संग किया है। मैं आज इस बात का निर्णय तुमसे ही कराना चाहता हूँ।
भगतजी—बाबा, इस बात का निर्णय तो स्वयं सेवक जी ने ही अपने ग्रन्थ में कर दिया है।

युगलदास—क्या निर्णय किया है ?

भगतजी—उन्होंने जहाँ कृपापात्र और कच्चे रसिकों के रुदन और नृत्य-गान का उल्लेख किया है वहाँ दोनों के स्वभाव और रहन-सहन का भी वर्णन कर दिया है। रोते-गाते तो दोनों ही हैं किन्तु कृपापात्र रसिकों का रहन-सहन कच्चे धर्मियों से सर्वथा भिन्न होता है।
युगलदास—यह भेद ही तो मैं जानना चाहता हूँ।

भगतजी—महाराज, कृपापात्र जन श्रीश्यामाश्याम के पवित्र यश का वर्णन सदैव करता रहता है और उसके चित्त में सदैव प्रेम भाव स्थिर बना रहता है। वह शत्रु-मित्र, मान-अपमान दुःख-सुख एवं लाभ-हानि को समान मानता है। वह सदैव रसिक वैष्णवों का ही संग करता है जिससे उसके प्रेमभाव में वृद्धि होती है। ऐसा भाग्यशाली रसिक श्रीश्यामाश्याम के नित्य विहार को देख-कर पुलकित होता रहता है और उसके नेत्रों से आनन्द जल प्रवाहित होता रहता है।

युगलदास—भगतजी, ऐसे रसिक तुमने देखे होंगे, मुझे तो चारों ओर कच्चे ही दिखलाई दे रहे हैं।

भगतजी—(हाथ जोड़कर) ऐसी बात मत कहो बाबा, आज कल तो श्रीहरिवंश चन्द्र और उनके ही स्वरूप श्रीगुरुदेव (श्रीहिताचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द्र गोस्वामी) की कृपा चारों ओर बरस रही है। (कुछ ठहरकर) कुछ लोग कच्चे होंगे भी तो कृपा बल से पक्के हो जायेंगे। निराश होने की कोई बात नहीं है, बाबा।

युगलदास—(निरास होकर) भगतजी, तुमसे श्रद्धालुओं के कारण ही कच्चे धर्मियों को बल मिल रहा है और वे श्रीवृन्दावन में प्रकाण्ड तांडव करते घूम रहे हैं। कुछ दिन से ओरछा के राजा के भाई-बन्धु यहाँ पधारे हैं उन्होंने श्रीगुरुदेव से दीक्षा ले ली है और उनसे नागरीदास नाम भी पा लिया है। उन्होंने आज कल सबको धो डाला है और श्रीगुरुदेव के नाक के बाल बन रहे हैं। भगतजी, सीधे आदमी का वक्त नहीं है। हम भी कुछ ढोंग जानते होते तो आज रसिक शिरोमणि कहलाते।

भगतजी—(दुखी होकर) बाबा, जिनके दर्शनमात्र से महा ढोंगियों का भी ढोंग भाग जाता है उनको ढोंगी बताकर आप बड़ा अपराध कर रहे हैं।

युगलदास—(उत्तेजित होकर) तुम भगत हो या राक्षस! जो साधुओं को अपराधी बताते हो।

भगतजी—क्षमा करो बाबा, मेरे लिये तो आप और वे दोनों ही वन्दनीय हो। किन्तु नागरीदास जी यदि भजन में इसी गति से बढ़ते रहे तो कुछ दिनों में ही वे श्रीहित-धर्म के भूषण बन जायेंगे। महाराज, उनसे ईर्ष्या न करके उनको पहचानने की चेष्टा करनी चाहिये और उनके भजन-भाव का अनुकरण करना चाहिए।

युगलदास—अरे, तुम पुराने साधुओं से दो दिन के मुँडे हुओं का अनुकरण करने को कह रहे हो! तुम्हारे विवेक को धिक्कार है।

भगतजी—(हाथ जोड़कर) बाबा, मैं तो अज्ञानी जीव हूँ। मेरा आशय आपकी अवज्ञा करने का कदापि नहीं है। (चौंककर) सुनो बाबा, मन्दिर की ओर से कोई गाता हुआ आ रहा है। (ध्यान से सुनकर) अहा-हा कैसा मधुर और मस्त स्वर है (गौर से देखकर) अरे ये तो नागरीदास जी मालूम होते हैं। कैसा उज्ज्वल स्वरूप है, अहाहा।

युगलदास—(कुढ़कर) तो जाकर उसके पैरों में गिर पड़ो।

भगतजी- (ध्यान न देकर) सुनो-सुनो बाबा नागरीदास जी गा रहे हैं—
'कनक पत्रावली झूमत घूंघट'

श्री वृन्दावन रानी के मुखारविन्द पर सहचरियों ने सुनहरी पत्रावली चित्रित की है और उस पर घूंघट झूम रहा है ! अहा हा, कैसी अद्भुत छवि है।

युगलदास–(मुँह बनाकर) यह पद श्रीहिताचार्य की किसी रचना में तो है नहीं ?

भगतजी—ये तो बाबा नागरीदासजी की ही रचना मालूम होती है।

युगलदास–(क्रोध पूर्वक) तब तो तुम्हीं सुनो ! मैं तो कुटिया पर जा रहा हूँ।

भगतजी—(अनुनय पूर्वक) ठहरो बाबा, नागरीदास जी आगे की पंक्ति बोल रहे हैं— 'लहँगा पीत कसूँभी कंचुकी तैसौई गोरे तन लसत नील पट' श्रीप्रिया ने पीले रंग का लहँगा और लाल रंग की कंचुकी धारण कर रखी है और उनके गोरे अंगों पर नीली साड़ी शोभा पा रही है। अहाहा, सहचरियों ने श्रीप्रिया के वस्त्रों के रंगों की योजना कितनी उत्तम की है ! (प्रसन्न होकर) देखो बाबा, नागरीदासजी यहाँ आ पहुँचे। (कुछ दूरी पर रसमत्त स्थिति में पदगान करते हुये नागरीदासजी का प्रवेश।) उनका वर्ण गेहुआँ, कद ऊँचा एवं शरीर रचना–क्षत्रियोचित सुदृढ़ है। उन्होंने घुटनों से ऊपर तक का कटिवस्त्र पहन रखा है। उनके नेत्र अर्धनिमीलित हैं और वे डगमगाती चाल से श्रीयमुनाजी की ओर बढ़ रहे हैं। उनके कपोल आँसुओं से भीगे हुए हैं और उनके भव्य ललाट पर पसीने की बूँदें चमक रही हैं। उनकी आयु चालीस के लगभग है।

युगलदास–(विद्रूप अट्टहास करके) शाबास ! स्वाँग बनाने में तो कोई कसर छोड़ी नहीं है ! भगतजी, ये नये मुंडे हुये साधु श्रीहरिवंश धर्म को ले डूबेंगे।

भगतजी—(मर्माहत होकर, हाथ जोड़ते हुए) बाबा थोड़ी देर चुप रहो। मुझे पद सुन लेने दो। आहा हा—

'केसर की आड़ जराय कौ बेंदा
तेसीये मुख पर रुरत ललित लट'

धन्य हो, नागरीदास जी। श्रीप्रिया के मस्तक पर केसर की आड़ी लकीर और जड़ाऊ बेंदा सुशोभित है और इनके समान ही सुन्दर बालों की एक पतली लट मस्तक पर झूल रही है।

युगलदास—(कुढ़कर) इस तुकबंदी का अर्थ करके क्यों मगन हो रहे हो भगतजी ? जाओ, अपने घर जाकर 'हित चौरासी' में मन लगाओ।

भगतजी— (निराशा पूर्वक) महाराज, आपको मैं कैसे समझाऊं कि ऐसे पद ही चौरासी जी में मनका प्रवेश कराने वाले हैं। सुनों बाबा नागरीदास जी गा रहे हैं—

'वर वानिक छवि रही पिय नैनन नागरीदास धीरज न रह्यौ घट'

श्रीप्रिया की इस अनुपम सजधज की छवि उनके प्रियतम के नेत्रों में छा गई है और उनका धैर्य नष्ट हो गया है।

(नागरीदास जी इस पंक्ति को कई बार बोलते हैं और पछाड़ खाकर यमुना पुलिन में गिर जाते हैं)।

भगतजी—(चौंककर) संभालो-संभालो बाबा नागरीदास जी का धैर्य छूट गया। [दौड़ कर नागरीदासजी की ओर प्रस्थान]

युगलदास—(असूयापूर्ण नेत्रों से नागरीदास जी की ओर देखकर) ढौंग की हद ही गई! (ऊपर की ओर देखकर) चलूँ समय हो गया। (बस्ती की ओर प्रस्थान)

पटाक्षेप

(द्वितीय दृश्य)

[स्थान—श्रीराधाजी का मन्दिर, समय-संध्या। सामने एक ऊँची चौकी पर आसन बिछा हुआ है और उसके आगे एक छोटी चौकी पर श्रीमद्भागवत रखी है। आसन के अभिमुख अनेक श्रोता बैठे हैं जिनमें विरक्त लोग आगे की पंक्ति में हैं। कथा के वक्ता श्रीनागरवर गोस्वामी अभी पधारे नहीं हैं। श्रोताओं में अनेक प्रकार की चर्चायें चल रही हैं।]

एक साधु—आजकल तो वृन्दावन में नागरीदास के ठाठ हैं!

दूसरा साधू—ठाठ क्यों न होंगे बाबा? जिस दिन से आये हैं मन्दिर में उत्सवों की और पंगतों की धूम मचा रखी है।

तीसरा साधु—बाबा, इतना तो मानना पड़ेगा कि इस समय ऐसा त्यागी और तेजस्वी साधु दूसरा ढूंढ़ने से ही मिलेगा।

युगलदास—(कुढ़कर) बाबा, सब तेज पैसे का है! नागरीदास राजपरिवार के हैं। जब वे यहाँ पधारे थे कई छकड़े भरकर सामान आया था और उससे भी अधिक उनकी भाभी रानी भागमती लाई थीं। उस सब को लुटा कर ही उन्होंने यहाँ प्रतिष्ठा पाई है!

तीसरा साधु—(दुःखी होकर) बाबा, द्रव्य से प्रतिष्ठा वैश्य की होती है। साधु का गौरव तो भजन से बढ़ता है।

युगलदास—(तपाक से) भजन क्या अनोखे ये ही करते हैं? अन्य लोग क्या यहाँ घास छील रहे हैं?

तीसरा साधु—घास छीलने की बात नहीं है बाबा! भजन तो सभी करते हैं किन्तु श्री-हरिवंश चन्द्र की वाणी और रस रीति पर अनन्य निष्ठा सब किसी में नहीं होती।

युगलदास—(व्यंगपूर्वक) ठीक है बाबा, वैष्णवों के सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत का अपमान किये बिना अनन्य निष्ठा हो भी तो नहीं सकती !

गृहस्थ वैष्णव—यह बात समझ में नहीं आई महाराज ।

युगलदास—इसमें न समझ में आने की कौन सी बात है ? आज महिनों से श्रीगुरु-पुत्र मन्दिर में कथा कह रहे हैं और सम्पूर्ण वृन्दावन के रसिक जन आनन्द ले रहे हैं । किन्तु तुमने कभी नागरीदास को यहाँ आते देखा है ?

भगतजी—(डरते हुए धीरे से) दीखें कहाँ से महाराज, वे तो इस वक्त यमुना पुलिन में चौरासी के पदों की भावना में लीन रहते हैं ।

युगलदास—(कुढ़कर) देख लिये लीन रहने वाले ! गुरु-पुत्र की अवज्ञा करके गुरुवाणी में लीन रहना केवल ढोंग है !

भगतजी—परन्तु बाबा, आज से नागरीदासजी कथा में पधारेंगे ।

एक वैष्णव–सुना तो मैंने भी है । श्रीनागरवर जी ने स्वयं उनसे आग्रह किया है कि अब दशम स्कन्ध की कथा चल रही है और श्रीकृष्ण-चरित्र तो उनको भी अवश्य सुनना चाहिये । नागरीदास जी ने यह आज्ञा सादर शिरोधार्य कर ली है और वे कदाचित कुँवर जी (श्रीनागरवर जी) के साथ ही आवेंगे ।

युगलदास—(व्यंग पूर्वक) भगत जी ! राजघराने के लोग आज कथा में आ रहे हैं । विशेष आसन का प्रबन्ध किया है न ?

भगतजी—(दुखी होकर) बाबा, तुम्हें क्या हो गया है, श्रीहिताचार्य ने स्पष्ट कहा है कि मुझको भक्तों का भजन करने वाले अच्छे लगते हैं—

"मोकों तौ भावै माई जगत भगत-भजनी ।"

श्रीहिताचार्य के चरण कमलों के आश्रय से भजन करने वाले हम लोगों को क्या उनकी रुचि का काम नहीं करना चाहिए ?

युगलदास—(उत्तेजित होकर) भक्त तो दो ही हैं—एक तुम और दूसरा नागरीदास । इन सबसे कहो कि तुम दोनों का भजन करें ! तभी श्रीहित जी महाराज के कृपापात्र बनेंगे । (ऊँचे स्वर में) मैं तो तुम दोनों को महा धूर्त और पाखण्डी मानता हूँ ।

(सब लोग चौंककर युगलदास की ओर देखने लगते हैं । दूर से श्रीनागरवर जी आते दिखाई देते हैं । उनके पीछे नत मस्तक नागरीदास जी चले आ रहे हैं । श्री नागरवर जी की आयु २४-२५ के लगभग है । उनका कद ऊँचा, वर्ण गौर और मुख-मण्डल तेजस्वी है । वे आकर व्यास आसन पर बैठ जाते हैं और नागरीदास जी को आगे की पंक्ति में बैठने का संकेत करते हैं । नागरीदास जी प्रणाम करके संकोच पूर्वक बैठ जाते हैं) ।

(मङ्गलाचरण करने के बाद श्रीनागरवर जी ओजस्वी स्वर में कथा आरम्भ करते हैं और श्रोतागण के मुखों पर हर्ष, आश्चर्य और भय के भाव प्रकट होते चलते हैं। नागरीदास जी नीचे को गर्दन झुकाये ध्यान मग्न हैं)।

नागरवरजी—(कथा कहते हुये) इस प्रकार जब गर्दभ रूप केशी दानव ने अपने महा-भयंकर नाद के द्वारा पृथ्वी और आकाश को कपायमान कर दिया तो व्रज में चारों ओर भय व्याप्त हो गया। ब्रजवासियों को दुखी देखकर साधु जनों के परित्राता भगावान् मुकुन्द सिंह के समान गर्जना करते हुये उस महाविकट आकार वाले गर्दभ के सामने खड़े हो गये। दुष्ट केशी ने जब भगवान् की गर्जना सुनी तो वह मुँह फाड़कर उनकी ओर दौड़ा और कमल लोचन श्री-हरि पर बड़े वेग से अपने पीछे के पैरों द्वारा प्रहार किया। (श्रोतागण भय के कारण सहसा हाय-हाय चिल्ला उठते हैं) अधोक्षज भगवान् ने उसकी दुलत्ती बचाकर उसके दोनों पैर अपने हाथ से पकड़ लिये और जैसे गरुड़जी सर्प को फेंकते हैं वैसे उसको बहुत दूर फेंक दिया।

श्लोक——तद् बञ्चवित्वा तमघोक्षजोरुषा प्रगृह्य दोर्भ्यांपरिविध्य पादयोः।
सावज्ञमुत्सृज्यधनुःशतान्तरे यथोरगस्ताक्ष्यं सुतो व्यवस्थितः॥

(सब लोग आश्वस्त होकर 'धन्य-धन्य कहने लगते हैं। उधर नागरीदास जी उक्त श्लोक को सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और उठकर कथा से बाहर जाने लगते हैं)।

नागरवरजी—(ऊँचे स्वर) में नागरीदास जी, नागरीदास जी! (नागरीदासजी रुक जाते हैं किन्तु वापिस नहीं लौटते। श्रीनागरवरजी उठकर उनके पास जाते हैं और उनका हाथ पकड़कर उनको वापिस ले आते हैं। नागरीदास जी नीचा सिर करके बैठ जाते हैं। उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है)।

श्रीनागरवरजी – (चिन्तित स्वर में) नागरीदास जी! ऐसी क्या बात हो गई जिससे आप इतने दुखी हो गये? मैं तो कथा कहने में लग रहा था। तुमसे किसी ने कुछ कह दिया क्या?

नागरीदास जी—(चुप रहते हैं)

श्रीनागरवरजी—(कुछ देर ठहर कर) बताओ तो सही कि तुम कथा के बीच में कैसे उठकर चल दिये थे?

नागरीदासजी—(चुप रहते हैं)

नागरवरजी—(कुछ देर ठहर कर) तुम्हें हमको तो अवश्य बताना चाहिये (अधीरता पूर्वक) तुम्हें हमारी शपथ है।

नागरीदासजी—(थके हुए स्वर में) कुंवर जी, क्षमा करें। आप जब कथा कह रहे थे तब मैं चौरासी जी के 'आज निकुञ्ज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी' पद की भावना कर रहा था और परम सुख में निमग्न था !

भगत जी तथा अन्य कुछ श्रोता—धन्य है-धन्य है !

नागरीदासजी—चौरासी के उक्त पद में बताया गया है कि प्रियतम के वक्षस्थल रूपी दर्पण में अपना प्रतिविम्ब देखकर नितांत भोली श्रीप्रिया उसको कोई अन्य रमणी समझकर मान कर बैठती हैं। उनके प्रियतम उनकी सुन्दर चिबुक को सहलाकर उनको समझाने की चेष्टा करते हैं। उसी समय आपने श्रीमद्-भागवत का वह श्लोक बोला जिसमें श्रीनन्दनन्दन केशी के पैर पकड़ कर उसे दूर फेंक देते हैं ! कृपानाथ, श्रीहिताचार्य की रस रीति में यह कैसे बन सकता है ?

श्रीनागरवरजी—क्यों इसमें क्या कठिनाई है ?

नागरीदास—(गद्‌गद्‌ स्वर में) कुँवरजी, जो श्रीश्यामघन प्रेम-सौन्दर्य की परावधि श्री वृन्दावन रानी की सुन्दर चिबुक को सहला कर उनके मान को छुड़ाते हैं उनके कर कमलों में गधे के पैर कैसे शोभा देंगे ?

चिबुक सुचारु प्रलोय प्रबोधत।
तिन कर गदहन पग क्यों सोहत॥

(कुछ श्रोता धन्य है, कहकर उल्लसित हो उठते हैं और कुछ स्तब्ध बैठे रहत हैं। श्रीनागरवर जी अत्यन्त हर्षित होकर अपने आसन से उतर आते हैं और नागरी-दास जी को हृदय से लगा लेते हैं।)

श्रीनागरवरजी—(अपने आसन पर बैठकर, आँसू पोंछते हुये) आज हम कथा यहीं समाप्त करते हैं, आगे का प्रसङ्ग कल कहेंगे।

युगलदास—(खड़े होकर क्रोध दबाते हुये) क्षमा करें कृपानाथ, यह दो दिन का मुँडा साधु श्रीमद्‌ भागवत जैसे सर्वोपरि वैष्णव ग्रन्थ का अपमान कर रहा है और साथ में श्रीहिताचार्य की दुहाई दे रहा है। आश्चर्य यह है कि कुछ अज्ञानी वैष्णव इसकी बात पर 'धन्य-धन्य' कह रहे हैं ! क्या हित धर्मियों को श्रीमद्‌भागवत नहीं सुननी चाहिये ? तब फिर मन्दिर में इसका नित्य पाठ क्यों होता है ?

श्रीनागरवरजी—(शान्ति पूर्वक) बाबा! वैष्णव उपासना में श्रीमद्‌भागवत का महत्व अतुलनीय है—कोई अन्य ग्रन्थ इसकी समता नहीं करता। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रीपितृ चरण ने मन्दिर में इसके नित्य पाठ की व्यवस्था की

है और श्रीजी की कृपा से यह होता हो रहेगा ! (सहसा) नागरीदासजी की ओर देखकर) बाबा, आपने कभी श्रीमद्‌भागवत का पाठ किया है ?

नागरीदासजी—(सँभलकर) कृपानाथ, यहाँ आने से पूर्व मैं श्रीमद्‌भागवत का ही अनुशीलन करता था और श्री राधानाम एवं श्री वृन्दावन धाम की प्राप्ति उसी का फल मानता हूँ।

युगलदास—तब फिर आपको यहाँ आकर इस ग्रन्थ से इतनी चिढ़ क्यों हो गई ?

नागरीदासजी—(कुछ उत्तर न देकर श्रीनागरवर जी की ओर देखते रहते हैं। श्री नागरवर जी को भी चुप देखकर श्रोताओं में बेचैनी फैलने लगती है और उनके साथ बैठे हुए एक पंडित जी खड़े हो जाते हैं।)

पण्डित जी—श्री महाराज, बाबा युगलदास जी ने जो प्रश्न उठाया है वह बहुत महत्वपूर्ण है और उसका पूर्ण रूप से निराकरण होना चाहिये। ये नवीन साधु कहते हैं कि इनको श्रीमद्‌भागवत से श्री राधानाम की प्राप्ति हुई है। किन्तु श्रीमद्‌भागवत में श्री राधा नाम का कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता है, और आज तक किसी महानुभाव ने भी यह नहीं कहा है कि श्रीमद्‌भागवत के द्वारा श्री राधा-चरणों की प्राप्ति होती है। आपके भ्राता श्रीवृन्दावन दास जी ने अपने ग्रन्थ 'अध्वविनिर्णय' में श्रीमद्‌भागवत की वन्दना करते हुये उसका फल नन्दनन्दन को बतलाया है—

'श्रीमद्‌भागवतं वंदे यत्फलं नन्दनन्दनः'

(श्रोताओं में उत्सुकता फैल जाती है और सब लोग श्रीनागरवर जी की ओर देखने लगते हैं।)

श्रीनागरवरजी—(मुसकराकर) पण्डित जी, मैं आपकी इस बात से पूर्णतया सहमत हूँ कि श्रीमद्‌भागवत का फल श्रीनन्दनन्दन ही हैं और यह भी मैं मानता हूँ कि श्रीमद्‌भागवत में श्री राधानाम का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु आपने कभी यह भी विचार किया है कि श्रीकृष्ण नाम का फल क्या है ?

पण्डित जी—कृपानाथ, अपराध क्षमा हो। यदि फल का भी फल माना गया तो अनवस्था दोष आ जायगा और फिर यह पूछा जा सकेगा कि श्रीराधानाम का फल क्या है ?

श्रीनागरवरजी—आपकी बात बिलकुल ठीक है। मैं भी फलों की परम्परा को अनावश्यक रूप से लम्बी नहीं बनाना चाहता। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि जिस प्रकार हमारे यहाँ श्रीमद्‌भागवत का फल श्री कृष्णनाम बताया गया है, उसी प्रकार श्रीहिताचार्य ने श्री कृष्णनाम का फल श्रीराधा नाम माना है और यदि कोई उनसे यह पूछे कि श्री राधानाम का फल क्या है तो

उन्होंने वह श्रीकृष्ण नाम बताया है और इस प्रकार फलों की परम्परा को समाप्त कर दिया है।

पण्डित जी—यह सब उन्होंने कहाँ कहा है ?

श्रीनागरवरजी—आप श्रीमद् राधासुधानिधि का तो पाठ करते ही होंगे (पण्डित जी स्वीकृति सूचक गर्दन हिलाते हैं) श्रीहिताचार्य ने अपने इस ग्रन्थ के ११४ वें श्लोक में श्रीगोविन्द की कथा के श्रवण, उनके गुणों के कीर्तन एवं उनके अर्चनका फल उनकी जीवन-प्रणयिनी श्रीराधिका की कृपा प्राप्ति माँगा है,

श्लोक--'यद्गोविन्दकथासुधारसहृदे चेतो मया जृम्भितं,
यद्वा तद्गुणकीर्तनार्चन विभूषाद्यै र्दिनं प्रापितम् ।
यद्यत्प्रीतिरकारि तत्प्रियजनेष्वात्यन्तिकी तेन मे,
गोपेन्द्रात्मजजीवनप्रणयिनी श्रीराधिका तुष्यतु ।।

दूसरी ओर इस ग्रन्थ के १४१ वें श्लोक में उन्होंने अपने सहज श्रीराधा-प्रेम के फलस्वरूप उनके प्राणनाथ श्रीश्यामसुन्दर में अपनी प्रीति की कामना की है,

श्लोक--राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला,
पादौ तत्पदकांकितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु ।
तत्कर्मैव करः करोतु हृदयं तस्याः पदं ध्यायता-
त्तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः ।।

पण्डित जी—(मुसकराकर) श्रीहिताचार्य की यह योजना बड़ी विचित्र है और इसमें तर्कशास्त्र तो बिलकुल निरस्त हो जाता है।

श्रीनागरवरजी—(मुसकाकर) आप जानते हैं कि ये प्रेम राज्य की बातें हैं और इनमें तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है।

पण्डित जी—किन्तु इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि श्रीमद्भागवत और श्रीहिताचार्य की रचनायें एक दूसरे की सहयोगी और पूरक हैं।

श्रीनागवरजी—यही सोचकर श्रीपितृचरण ने अपने यहाँ श्रीमद्भागवत के नित्य पाठ की व्यवस्था की है। पहिले नवधा भक्ति का स्वरूप समझे और उसका आचरण करे तभी दसवीं प्रेमलक्षणा उदित होती है। उसके बाद श्रीहिताचार्य के अनन्य प्रेम धर्म में प्रवेश सरल बन जाता है।

पण्डित जी—तो फिर इन नये बाबा को श्रीमद्भागवत की कथा से इतना परहेज क्यों है ? (युगलदास तथा उनके साथियों के मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है।)

श्रीनागरवरजी—पण्डित जी, आपने जिस ग्रन्थ का उद्धरण देकर इस चर्चा का आरम्भ किया है उसी 'अध्व विनिर्णय' में श्रीमद्‌भागवत के यशगान के बाद ही यह कहा गया है कि—

'यस्मै संस्कार वशतो यद्वा महदनुग्रहात् ।
न रोचते निजेष्टस्य ॅवृत्तादन्यन्नमामितम् ।।'

एक श्रोता—कृपानाथ, इस का अर्थ होना चाहिये। हम लोगों की समझ में कुछ नहीं आया।

श्रीनागरवरजी—(अर्थ करते हुये) पूर्वजन्म के संस्कारों फलस्वरूप अथवा महत् पुरुषों के अनुग्रह से जिनको अपने इष्ट के लीला-चरित्रों को छोड़कर अन्य कुछ अच्छा नहीं लगता, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

पण्डित जी—कृपानाथ, श्रीमद्‌भाभवत के दशम स्कन्ध में तो इष्ट के ही लीला चरित्रों का वर्णन हुआ है न ?

नागरवरजी-(मुसकराकर) हुआ है। किन्तु श्रीहिताचार्य के चरणाश्रित अनन्य रसिकों के इष्ट न केवल श्रीकृष्ण हैं, न अकेली श्रीराधा और न उनका गोपीभाव से ही कोई सम्बन्ध है। उनके इष्ट श्रीराधा कृष्णात्मक युगल हैं जो नित्य श्री वृन्दावन में अनादि अनन्त प्रेम कीड़ा में निमग्न हैं। इनकी प्राप्ति सखी भाव से होती है।

युगलदास—यह तो सब ठीक है कृपानाथ ! किन्तु यदि आप गुरुजन नये मुण्डितों को इस प्रकार नमस्कार करने लगे तो सम्प्रदाय की सारी मर्यादा और व्यवस्था नष्ट हो जायगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति अपने को कृपा पात्र बतलाकर मनमाने आचरण करने लगेगा। इन नागरीदास का ही उदाहरण लीजिये तो अनेक लोग इनको ढोंगी और धूर्त मानते हैं। (श्रोताओं में से 'यह ठीक है-यह ठीक है, नागरीदास धूर्त है।' इस प्रकार की आवाजें आती हैं। अनेकों के मुख पर कष्ट की गहरी रेखायें स्पष्ट हो उठती हैं)

नागरीदासजी-(दृढ़ता पूर्वक) दीनबन्धु। आप तथा मुझ पर कृपा रखने वाले अन्य उपस्थित महानुभाव मेरे विरुद्ध कही गई बातों से दुखी न हों। मैं हूँ ही ऐसा अभागा कि जिस दिन से श्रीवृन्दावन में आया हूँ मुझको लेकर एक कटु विवाद खड़ा हो गया है जिजमें दोनों पक्ष दुखी हो रहे हैं।

नागरवरजी—(सान्त्वना देते हुये) यह तो होता ही रहता है। यह सब मत्सर जनित है और मत्सर संसार से दूर हो नहीं सकता।

नागरीदासजी-आप ठीक आज्ञा कर रहे हैं। मैं मानता हूँ कि यह दूर नहीं हो सकता किन्तु मैं तो इससे दूर हो सकता हूँ और आपकी तथा इन सब वृन्दावन वासियों की कृपा प्राप्त रहने पर अन्यत्र कहीं रहकर भी भजनकर सकता हूँ।

श्रीनागरवरजी—(साश्चर्य) तो क्या आप श्रीवृन्दावन वास छोड़ देंगे ?

नागरीदासजी—(मुसकराकर) आपकी उपासना में श्रीवृन्दावन वास तो छूट ही नहीं सकता। श्रीवृन्दावन इस भजन का मेरुदण्ड है—इसके बिना यह खड़ा ही नहीं रह सकता। मैंने सोचा है कि बरसाने में श्रीलाड़िली जी की शरण में रहकर श्री वृन्दावन वास करता रहूँ।

युगलदास—(कुटिलतापूर्ण मुसकराकर) आप सुन रहे हैं न कृपानाथ! सिद्ध लोगों के लिये श्री वृन्दावन सर्वत्र उपस्थित रहता है, किन्तु इनसे यह तो पूछिये कि श्री हित प्रभु ने श्रीवृन्दावन वास छोड़कर ब्रज में अन्यत्र कहीं रहने की आज्ञा दी है क्या ?

श्रीनागरीदासजी—(शाँति पूर्वक) हाँ, दी है। उन्होंने श्रीश्यामा-श्याम की केलि का विस्तार बताते हुये श्री चौरासी जी में कहा है कि—

ये दोऊ खोरि खिरक गिरि गहवर विहरत कुँवर कंठ भुज मेलि'

मैंने बरसाने में गहवर वन में ही रहने का निश्चय किया है।
(सब लोग स्तब्ध रह जाते हैं नागरीदास जी श्रीनागरवरजी को दण्डवत प्रणाम करके अन्य सब उपस्थित लोगों को प्रणाम करते हैं और धीरे-धीरे मन्दिर से बाहर चले जाते हैं।)

पटाक्षेप

तृतीय दृश्य

(बरसाने में भान सरोवर (भानोखर) के तट पर सघन वृक्षों की छाया में एक चबूतरे पर आठ-दस व्यक्ति बैठकर बातें कह रहे हैं तथा अन्य आकर बैठते जाते हैं। इन लोगों की वेशभूषा एवं बातचीत से मालूम होता है कि इनमें सब वर्गों के लोग हैं। कुछ लोगों के ब्रजवासियों की पुरानी पोषाक-धोती और मिर्जई-पहन रखी है, कुछ लोगों ने केवल धोती तथा अन्य ने एक कपड़ा ही कमर से लपेट रखा है।)

एक नवागंतुक—भैयाऔ, आज यहाँ कहाँ हौन कहै है ? तुम सब काहे कौं इकठौरे भये हौ ?

फत्ते—अरे जितौ छिद्दा-सौ लगै। क्यौंरे तू इतेक दिनन ते कहाँ हुतौ ?

छिद्दा—तुम तौ जानौ महाराज, मेरी भटकवे की आदत है। याते कहा बताऊं कि कहाँ हुतौ !

फत्ते—अरे तैनें तौ अपनी जिन्दगी यौं ही बिगारी ! तेरी बहू भागमान् ही जो थोरे दिनन में ही मर गई। नातर तू तौ वाय भूखौ मार लेतौ।

छिद्दा—हाँ महाराज, भागमान् तौ हम दोऊ निकरे। वानें मरकें दुनिया छोड़ दई और वाके मरबेते मोकूँ दुनियाँ अपने आप छोड़ गई!

फत्ते—तौ अब तेरौ कहा विचार है? कछु दिना यहाँ टिकैगौ का?

छिद्दा—हाँ महाराज, तिहारी कृपा है जाय तौ कछु दिना श्रीलाड़िली जी की सेवा कर्‌यौ चाहूँ।

जीवन गुसाईं- (प्रसन्न होकर) तू धुन कौ तौ पूरौ है। तेरे मन में आय गई है तौ यहीं डट जा। तेरौ सब इन्तजाम है जायगौ।

छिद्दा—बस महाराज, मोकूँ एक बखत लाड़िली की जूठन मिल जाय तौ जो सेवा तुम बताओगे बु करत रहूँगौ। यहाँ रहबेते नागरीदास जी के हू दरसन होत रहैंगे।

कारे—जि बात तौ ठीक है। पर एक बात ख्याल में रखियो अपनों भलौ चाहै तौ कभी बाबा की कुटिया पै मत जइयौ।

छिद्दा—क्यों, ऐसी का बात है?

कारे—बात कहा है। ह्वाँ एक सिंह रहै और वाकी पहिचान हू तोकूँ दऊँ वाकी आँख दूर तेई चमकें!

(सब हँसते हैं)

कारे—क्योंजी, बाबा नें जि आफत काय कूँ पाल लीनी है?

बल्लो—बाबा नें काय कूँ पाली है? जितो चोट्टान नें उनके पीछे लगाय दीनी है न चौट्टा[1] आमते और न जि सिंह बाबा के पीछे लगतौ।

कारे—तौ जा सिंह ते बाबा की जान-पहचान होयगी?

फत्ते—अरे तू तौ निरौ गँवार है? सिंहन ते कोई जान पहचान राखतौ होयगौ?

कारे—(कुछ न समझते हुये) तौ बाबा कछू मंतर जानत होंगे। बिना मंतर के सिंह एकदम प्रगट कैसे है गयौ?

फत्ते—अरे बाबरे, चोट्टा जब आये तब बाबा तौ सोय रहे हे। उन्नें मंतर कब मार दियौ?

कारे—तौ का चोट्टा जा सिंह ते कह आये हे कै हम जाय रहे हैं, तू हमें भगायबेकूँ आय जईयो!

(सब लोग हँसते हैं)

जीवन गुसाईं—(हँसते हुये) अरे फत्ते, तू कौन के म्हौं लग रह्यौ है, जि तौ पूरौ गमार है!

१-चोर.

फत्ते—जाकी बात तौ जान देओ, पर जि बात तौ मेरी हू समझ में नांय आई कै सिंह बाबा के पास अचानक आय कैसे गयौ ?

जीवन—अरे यामें समझ वे की का बात है ? जितौ बाबा के ऊपर राधारानी की कृपा है। इननें ही बाबा की रखवारी के ताईं जाय भेज दियौ है।

फत्ते—राधारानी बाबा की रखवारी हम तुमते नांय कराय सकैं हीं, जो या बबाल कूँ भेज दियौ ?

जीवन—तोते करामतौं तौ तोय खायबे कूं न दैनी परतौ ? जि सिंह तौ दिन में बन में जाय कै खाय आवै और रात कूँ बाबा की कुटिया की रखवारी करै।

बल्लो—अरे एक दिना तौ मैंनें देख्यौ कै बाबा जा सिंह के ऊपर बहुत सौ सीधौ-सामान लाद कै लै जाय रहे हे। बाबा आगे चल रहे हे और जि कूकर की भाँति उनके पीछैं चल्यौ जाय रह्यौ हौ !

छिद्दा—तौ का बाबा नें अब मधूकरी माँगनौ छोड़ दियौ ?

जीवन गुसाईं—हाँ वे अब चून की चुटकी लैंय हैं।

छिद्दा—(विचार में पड़कर) तब तौ बाबा कू पूरी गिरस्ती जोरनी परी ह्वेयगी ? पर जि बात बन कैसे गई ?

जीवन गुसाईं—सुन, बाबा एक दिन रात में अपनी मोरकुटी में बैठे भजन कर रहे हुते। उननें देख्यौ कि नीचे गहवर वन में बड़े जोर की रोसनी है रही है और पेड़न में हजारन दीपक झलमलाय रहे हैं।

छिद्दा—तौ वा बखत रात के बारह बजे हौंगे ?

जीवन—क्यों तोहि कैसे मालुम परी ?

छिद्दा—(नीचे को गर्दन झुकाकर चुप रह जाता है, सँभलकर) हाँ तो महाराज आगैं कहा भयौ ?

जीवन—फिर गहवर बन में बाबा कू अनेक प्रकार के बाजे बजते सुनाई दिये और नूपुरन की और किंकनीन की झनकार सुनाई दई।

छिद्दा—(आँखें बन्द करके) आ हा.............................

जीवन—तब तौ बाबा खड़े है गये और कुटिया ते बाहिर निकसि आये।

छिद्दा—हाँ महाराज, ऐसे में का कोई बैठौ रह सकै ! फिर कहा भयौ ?

जीवन— बाबा ने देख्यौ कि गहवर में सैंकड़ान सखी घूम रही हैं और उनके सरीरन ते बिजलीन जैसौ प्रकाश निकसि रह्यौ है।

छिद्दा—धन्य हो बाबा, जि उनकूँ ही दिखाई दै सकै ! फिर कहा भयौ ?

जीवन—फिर कहा होतौ ? बाबा मूर्छित ह्वैकै धड़ाम ते कुटिया के बाहर जाय परे !

(छिद्दा सहित सब लोग करुणा-द्रवित 'श्रीराधे-श्रीराधे, कह उठते हैं ।)

छिद्दा—(सँभलकर) यामें हाथ ते रोटी बनायवे की बात तौ न आई ।

जीवन—धीरज राख, अब बु बात ही कहूँ हूँ । वा मूर्छित अवस्था में बाबा कूँ सखीन के संग में श्रीश्यामा-श्याम के दर्शन भये और श्रीलाड़िली जी बाबा ते बोलीं कि हम नित्त गहवर वन में खेलवे आमें हैं और आज तोहि सखियन के यूथ में दर्शन दिये हैं । खेलत में हमें भूख लगि आई है और जा बखत तूँ हम कूँ कछु खवावै तब चैन परै ।

छिद्दा—(आँख बन्द करके) आहा !

जीवन गुसाईं—बाबा ने वाई बखत अनेक प्रकार की सामग्री तैयार करीं और उनकूँ भोजन कराय दिये ।

छिद्दा – आ हा हा, धन्य हौ, बाबा !

मेघश्याम—चक्कर की बात जि है कि बाबा तो अपनी कुटिया में कछू राखें नाँय । मधूकरी हू एक ही बखत लैहैं और बची भई मोरन कूँ खवाय दैहैं । उननें अपनी लाड़िली कूं खवायौ कहा होयगौ ?

फत्ते—जि तौ मैं हूँ पूछचौ चाहूँ, गुसाईं जी ।

जीवन—(असमंजस में पड़कर) फिर तौ बाबा अपने पास कछू राखत हौंइगे । साधु-सन्तन की बात कहा समझ परै !

फत्ते पर कितेक राखत हौंइगे? लाड़िली जी के संग उनकी सेंकड़ान सखी हू तौ हुतीं । उन्हें का बाबा ने भूखी राखी हौंइगीं ?

जीवन (समझकर) तैंने तौ यार और चक्कर डार दियौ !

(सब लोग विचार में पड़ जाते हैं)

जीवनलाल--अब तौ जा बात कौ जबाब बाबा दिंगे ।
(सहसा छिद्दा की तरफ देखकर) क्यों रे छिद्दा, तेरी समझ में कछु आय रही है का ?

छिद्दा –(गम्भीर होकर) कछु-कछु आय तौ रही है ।

फत्ते—तौ चुप क्यों बैठ्यौ है ? कह डार !

छिद्दा—एक बखत मैं वृन्दावन गयौ हुतौ ।

फत्ते—(बात काटकर) तू ह्वाँ तक पहुँचै का ?

छिद्दा—ह्वांकी तौ कण्ठी ही मैंने बांध राखी है ।

फत्ते—ऐसौ ह्वाँ कौन निकस आयौ जानें तोसे फक्कड़ कूँ हू कण्ठी दै डारी ?

छिद्दा—(विनम्रता पूर्वक) नागरीदास जी के गुरुन के पुत्र नें कृपा करकै मोहि शरण मैं राख लियौ है। एक दिन मेरे गुरु महाराज जमुना तट पै विराजमान हुते सतसंग चल रह्यौ हुतौ और मैं हू एक ओर बैठ्यौ हुतौ। सतसंग में भाव-शरीर की बात निकली।

मेघश्याम—जि का चीज होय है ?

छिद्दा भक्त लोग अनेक भावनते श्रीराधा श्यामसुन्दर कूं भजैं हैं। जाकौ जो भाव होय है वो भजन करकै बाकी ही पुष्टि करत रहै है। गोकुल-गोवर्धन में जो वैष्णव बस रहे हैं वे अपने सखा भाव कूँ पुष्ट करत रहैं हैं और श्री वृन्दावन के रसिक लोग सखी भाव कूं।

फत्ते—अरे तू तौ बाबा की बात बतामन कहतौ। जि सब काय कूं लै बैठ्यौ है।

छिद्दा—वाई बात कूँ बताऊँ महाराज, अपने बाबान कौ सखीभाव है और उनके गुरुन की कृपा ते जि भाव उन्हें सिद्ध है गयौ है।

मेघश्याम—सिद्ध है कै का वो सैंकड़न सखीन कौ पेट भर देगौ ?

छिद्दा—महाराज, सखी तो लाड़िली की दासी हौंय हैं न और उनते बड़ौ तीनौ लोकन में मोकूं तौ कोई दिखाई देय नाँय।

जीवन—जितौ तू साँची कहै ! बाबा कौ सखीरूप वा बखत जाग उठ्यौ होय तौ वानै तौ सबन कूं भोजन कराइ ही दिये हौंयगे।

छिद्दा हाँ महाराज, सखीन की आज्ञा में तौ श्री वृन्दावन के सब लता-पता हौंय हैं वे सब कल्पवृक्ष हैं। अब समझ लेओ कि वे तौ सखी की इच्छा कूँ छिन भर में पूरी कर ही देंगे ! बाबा ने वा दिना याही ते श्री लाड़िली कूँ सखीन के संग भोजन कराय दियौ। पर महाराज, जितौ बताऔ कि बाबा मधूकरी ते चून की चुटकी माँगवे पै कैसे आय गये ?

जीवन—यौं आय गये कि जा कौतुक के पाछै दूसरे दिन ते ही वे अपने ठाकुर जी कूँ रात के बारह बजे विशेष भोग लगावन लगे। या आधी रात के भोग की तैयारी वे सबेरे ते ही करन लगें हैं और जा भोग में कई तरह के सामान बनाय कै राखें हैं।

छिद्दा—तौ अब जि बताऔ महाराज, कै सब लोग जा बखत यहाँ काय कूं इक ठौरे भये हैं।

फत्ते—बताय देओ गुसाईं जी, जानै जि बात तौ आमत ही पूछी हुती !

जीवन—मैं तौ जाय पहिलै ही बताय देतौ पर जितौ बात कूलम्बी करत चल्यौ गयौ !

सुनरे, बाबा आज यहाँ पधार रहे हैं। तोय जितौ मालूम है न कि बाबा ने यहां लाड़िली जी को मन्दिर बनवायौ है और जाके लिये उननें स्वयं बाबा कूँ आज्ञा दीनी हुती !

छिद्दा—मन्दिर पहाड़ी के नीचे बन्यौ है कं ऊपर ?

जीवन—नीचे क्यों बनेगौ ? लाड़िली जी तौ ऊपर विराज रही हैं न ?

छिद्दा—(आश्चर्य पूर्वक) तौ महाराज, इतनी ऊँचाई पं पत्थर कौन नें चढ़ाये होंयगे !

जीवन—चढ़ावैगौ कौन ? लाड़िली नें हुकम दियौ और पत्थर ऊपर चढ़ गये।

छिद्दा—तौहू काहू नें चढ़ाये तौ होंयगे ही।

जीवन—लाड़िली कौ हुकम होत ही बाबा की भाभी रानी भागमती उनके पास आइ पहुँची और उनने सैंकड़ान मजदूर लगाय कं छे महीना ही में मन्दिर बनवाय दियौ।

फत्ते—(बीच में बोलते हुये) छिद्दा, तू उन दिनन में बाबा कू देखतौ तौ समझतौ कं बाबा कौन हैं ! उन दिनन में गाम के लोगन में कोऊ तौ उन्हें हनुमानजी कौ अवतार बतावतौ, और कोऊ भीम कौ !

छिद्दा—तौ का बाबा नें हूँ पत्थर ढोये हुते ?

फत्ते—अरे, सबते ज्यादा ! जा पत्थर कूँ चार मजूर हू नाय उठाय पामते बाय बाबा अकेले लैके भागते ! मजूर लोग रोज बीमार परते और काम छोड़ के भागते और उनकी जगह नये आमते और बाबा लगातार छः महीना तक काम करत रहे और उनकौ माथौ हू नाँय दूख्यौ !

छिद्दा—महाराज, जितौ प्रेम की महिमा है। प्रेमी अपनी पं आइ जाय तौ कहा नाय करि सकं ! हनुमान जी श्रीराम-प्रेम के जोर ते ही एक बूटी के लिये पूरौ पर्वत उखार लाये हुते। तौ बाबा अब का वा मन्दिर में कछू उच्छव कर्यौ चाहैं ?

जीवन—हाँ श्रीलाड़िली नें मन्दिर बनायबे की आज्ञा के संग अपनी जनम गाँठ मनायबे की हू कही हुती। अब दो दिन पाछै अष्टमी कूं बाबा बड़ी जोर ते जनम गाँठ मनामिंगे।

छिद्दा—तौ वे वृन्दावन याई काम कूं गये होंयगे। वे पाछे कब आमेंगे ?

जीवन—वे अब ही आइ रहे हैं और हम सब उनते मिलिबे कूं ही बैठे हैं !

छिद्दा—(चिन्ता पूर्वक) पर महाराज, जि गैल तौ आजकल मेवन नें बन्द कर राखी है और वे दिन दहाड़े ही लूटपाट करते रहैं। कोई उनते नैंक बोलै तौ वाइ

जानतैं मार डारैं। हाथ जोड़ कर) लाड़िली जी, बाबा कूँ सकुशल लैं आवैं !

जीवन—अरे तू बाबा की चिन्ता मत करै ! बाबा नैं ऐसे न जाने कितने मेव देखे हैं। (सहसा रास्ते की ओर देखकर) वो देख उनते धूर-सी उड़त आय रही है। (एक लड़के की ओर देखकर) ओरे छोरा, चढ़ जा वा पेड़ पै।

(लड़का तेजी से पेड़ पर चढ़ जाता है।)

लड़का—(चिल्लाकर घबराई आवाज में) ओ गुसाईंजी जितौ गैल[1] में गल्लेन[2] घुड़-सबार बढ़त आइ रहे हैं। मैं नीचे उतरि आऊँ ?

जीवन—अरे मरै मत, बैठ्यौ रह। देख, इनके पीछे बाबा आइ रहे हौंयगे।

लड़का—(देखकर) सवार के पाछैं तौ गल्लेन गाड़ी चली आइ रही हैं। बाबा तो कहूँ दीखैं नाँय। मैं नीचे उतर आऊँ ?

जीवन—हल्ला मत मचावै, देखै जा।

(एक सवार घोड़ा दौड़ाता हुआ आता है और सब लोगों को बैठा देखकर घोड़े से उतर पड़ता है।)

सवार—आप सब लोग बरसाने के व्रजवासी हैं ?

जीवन—(खड़े होकर) हाँजी, आप कहाँ ते पधार रहे हैं ?

सवार—हम रानी भागमती जी को लेकर श्री वृन्दावन से आ रहे हैं।

जीवन—(आश्वस्त होकर) और बाबा नागरीदास जी हू आ रहे हैं न ?

सवार—(रास्ते की ओर इशारा करके) वह देखिये बाबा नागरीदास जी घोड़े पर सवार हैं और उनके पीछे रानीसाहिबा की पालकी है।

फत्तो—तुम कितने जवान रानी सहिबा के संग आये हो ?

सवार—उनके साथ बीस घुड़सवार और आठ पबादे[3] हैं।

फत्तो—गैल में कोई झगड़ौ तौ नाय भयौ ?

सवार—(हँसकर) किसकी ताव है जो रानीसाहिबा को रोक सके ! हमारे अलावा कुछ व्रजवासी जवान भी हमारे साथ हैं जो हमको ठीक रास्ते से ले आये हैं।

लड़का—(पेड़ के ऊपर से) गुसाईं जी, अब तौ बाबा दिखाई दे रहे हैं। किलकारी दैके गाँव इकठौरो कर लऊँ ?

जीवन—कर लै और तू हू नीचै उतरि आ।

१-रास्ते में, २- सारे, ३-पैदल

(लड़का पेड़ पर से जोर से सीटी जैसी आवाज करता है और गाँव के लोग दौड़ते हुये चले आते हैं)

(बाबा नागरी दास जी का घोड़े पर सवार प्रवेश। वे व्रजवासियों को खड़ा देखकर घोड़े से उतर पड़ते हैं। उनके मुख पर वृद्धावस्था और थकावट स्पष्ट दिखलाई दे रही है। सब लोग दौड़कर उनके पास जाते हैं और उनको प्रणाम करते हैं। कुछ लोग उनके पैर छूने के लिये आगे बढ़ते हैं और बाबा चौंककर पीछे हट जाते हैं)

नागरीदास—अरे-अरे आप लोग क्या करने लगे! आप लोग अपने स्वरूप को भूलें तो भूलें किन्तु मैं कैसे भूल जाऊँ? (गद्‌गद्‌ होकर) आप के भाग्य की प्रशंसा तो स्वयं ब्रह्मा जी ने की है—

'अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

परमानन्द स्वरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म तो आपके गाँव के मित्र ही नहीं जामाता हैं। (मुसकराकर) बोलिये हैं या नहीं?

फत्ते—(कुछ न समझकर) बाबा, कौन की बात कर रहे हौ? हमारे गाँव कौ जमाई तौ नन्दगाँव कौ लाला है!

बाबा—(हँसकर) मैं उन्हीं की बात कर रहा हूँ। उन्हें आप सनातन ब्रह्म क्यों मानने लगे! अच्छा, यह बताइये कि गाँव में सब आनन्द है न?

जीवन—(हाथ जोड़कर) तिहारी कृपा है, बाबा

(रानी भागमती जी की पालकी आ पहुँचती है। रानी भागमती पालकी में से उतर कर भूमि पर माथा टेककर व्रजवासियों को प्रणाम करती हैं। उनका वर्ण गौर, मुख मण्डल तेजस्वी और अवस्था ६० के लगभग है।)

व्रजवासीगण—(चिल्लाकर) बाबा नागरीदास जी की जय-रानी भागमती की जय!

(बाबा और भागमती जी हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं। सामान से भरी हुयी लगभग पैंतीस गाड़ियाँ धीरे-धीरे आकर उनके पीछे खड़ी हो जाती हैं।

फत्ते—बाबा, इतनी गाड़ीन में कहा भरि रह्यौ है?

नागरीदास—इनमें उत्सव का सामान है! परसों श्रीलाड़िली का जन्म दिन है न?

फत्ते—तौ बाबा, जि सब सामान एक दिन में ही खरच कर देओगे का?

नागरीदास—(हँसकर यह कितना सामान है! श्रीराधारानी की चरण रज के ऊपर तो तीनों लोकों की संपत्ति न्यौछावर की जा सकती है तो यह तो उनका जन्मोत्सव है! इन गाड़ियों में से कई में तो सीधा-सामान ही लद रहा है। आपके गाँव की ज्यौनार जो होनी है।

मेघश्याम—(प्रसन्न होकर) तब तौ बाबा बड़े आनंद आमेंगे !

नागरीदास—जेवनार के सम्बन्ध में आप सब से एक प्रार्थना करनी है। श्रीलाड़िली के जन्म दिन की पंगत में आप लोग ऊँच-नीच, जाति कुजाति आदि का विचार न करें और बरसाना तथा नन्दगाँव के आबाल वृद्ध स्त्री पुरुषों को निमन्त्रण दें।

जीवन—तिहारी जैसी मरजी होयगी वैसौ कियौ जायगौ। दाता दे तौ भंडारी कौ पेट क्यों फटै !

नागरीदास—दूसरी प्रार्थना यह है कि भागमती जी उत्सव के दधिकाँदे में भूषणवस्त्र लुटावेंगी। यह चीजें हलकी जाति के ब्रजवासियों को कैसे मिलें ?

जीवन—तौ बाबा, मन्दिर में तौ हम हलको जात कूँ जान न दंगे। आगे बाबा, तिहारी मरजी ....।

नागरीदास—नहीं, यह तो मैं भी नहीं चाहता हूँ। मैंने सोचा है कि उन लोगों का दधिकाँदा मन्दिर के नीचे किसी स्थान पर करा दिया जाय।

जीवन—(प्रसन्न होकर) ये ठीक है, बाबा मन्दिर की मर्यादा हू रह जायगी और उन लोगन कौ आनंद हू है जायगौ। बाबा, लाड़िली के जनम कौ कौन-सौ समय रहैगौ ?

नागरीदास—श्रीवृषभानुनंदिनी अरुणोदय काल में प्रकट हुई थीं। आप उसी समय जन्म की विधि निष्पन्न करें।

जीवन—मैंनें सुनी है बाबा, कि वृन्दावन के कई मंदिरन में जन्म मध्याह्न कौ मान्यौ जाय है।

नागरीदास—यह ठीक है गुसाइँ जी, किन्तु हमारे यहाँ तो श्रीहितजी महाराज ने अरुणोदय काल ही माना है और उसी के अनुसार श्रीराधावल्लभजी के मन्दिर में उसी समय जन्म की विधि होती है।

जीवन—हम तौ बाबा, बोई समय मानेंगे जो तुमने मानि राख्यौ है। पर भोर कौ समय श्रीहित जी महाराज नै कछु सोच कै ही राख्यौ होयगौ ?

नागरीदास—यह तो मुझे नहीं मालूम कि उनका यह निर्णय किसी पौराणिक मान्यता पर आधारित है या उनके निजी अनुभव पर। किन्तु इतनी बात मेरी समझ में आती है कि श्रीलाड़िली जैसे परम सुकुमार और अरुण-गौर तत्त्व का प्राकट्य अरुणोदय काल में ही संभव है ! तुम्हारे श्याम वर्ण लाला कृष्ण पक्ष की मध्य रात्रि में प्रकट हुये थे न ?

फत्ते—(समझकर) ठीक कहो हो बाबा, हमारी सुकुमारी लाड़िली टीकाटीक[1] दुपहरी में प्रकट नाँय है सकै। दुपहरी को बात हम न मानिंगे।

नागरीदास—(सब की ओर देखकर) अब चलना चाहिये, काफी समय हो गया है। हम लोगों को यहाँ पहुंचने में कुछ अधिक विलम्ब हो गया, आप लोगों को बहुत कष्ट होगा ?

फत्ते—नाँय बाबा, जि छिद्दा आज न जानै कहाँ ते आइ टपक्यौ। हम तौ सब जाई ते माथौ मार रहे हुते।

नागरी—(प्रसन्न होकर) कौन. छिद्दा भी यही है क्या ? (चारों ओर देखते हैं।)
कई लोग - (एक साथ) ओरे छिद्दा, तोय बाबा बुलाय रहे हैं।
(छिद्दा सिकुड़ता हुआ आगे आता है और बाबा के चरणों में गिर पड़ता है। बाबा 'श्रीहरिवंश—श्रीहरिवंश, कहते हुये गद्गद होकर उसको उठाकर अपने हृदय से लगा लेते हैं। छिद्दा की आँखों से आँसुओं की धारा चल पड़ती है। सब ब्रजवासी बड़े आश्चर्य से इस दृश्य को देख रहे हैं)

नागरी—(सँभलकर) भैया, तुम इतने दिन से कहाँ थे ?

छिद्दा—(आँसू पोंछते हुये) कहा बताऊँ बाबा बेघर बार के आदमी कौ कहाँ ठिकानौ ! जहाँ छाँह देखी वहीं रम गयौ।

नागरी—भैया, श्रीलाड़िली का जन्मोत्सव करना है सो कुछ दिन कृपा करके हमारे पास रहो। चलो कुटिया पर चलें।
(बाबा छिद्दा के कन्धे पर हाथ रखकर चलने लगते हैं और सब लोग उनके पीछे हो लेते हैं।)

फत्ते—(चलते हुये) क्यों गुसाईं जी, जि छिद्दा ऐसौ है का ?

मेघश्याम - हाँ यार, मैं हू चक्कर में परि रह्यो हूँ !

(प्रस्थान)

(चतुर्थ दृश्य)

(श्रीलाड़िली जी का मंदिर। मंदिर के सामने वाले खुले मैदान में बहुत बेड़ा शामियाना लगा हुआ है और किनारे पर चारों ओर कनातें लगी हुई हैं। शामियाने के नीचे समाज (सामूहिक पद-गान) की तैयारी हो रही है और बीच में सारंगी, पखावज, सितार आदि रखे हैं। एक ओर वृन्दावन से आये हुये कुछ लोग बैठे हैं और दूसरी ओर बरसाने वाले।) (छिद्दा के कंधे पर हाथ रखकर नागरीदास जी का प्रवेश। वे इस समय अत्यन्त भाव-विभोर हैं। उनकी आँखों की पुतलियाँ स्थिर हैं और ऐसा लगता है कि वे

१. भरपूर।

किसी बाहरी दृश्य का ग्रहण नहीं कर रही हैं। छिद्दा उनको खींचता आ रहा है और बीच-बीच में उनको सावधान करता जाता है। बरसाने वाले उनको आता देखकर खड़े हो जाते हैं)

जीवन—(छिद्दा से) छिद्दा बाबा कूं हमारी ओर बैठाय दै।

भगतजी—(हँस कर ये बात कैसे बनेगी, गुसाईं जी बाबा हैं तो वृन्दावन के ही।

फत्ते—(हँस कर) होंयगे। मैंने तौ जब ते होस सँभारचौ है बाबा कूं यहीं देख रह्यौ हूं। पधारौ बाबा, हमारे पास बैठौ।

नागरी—(सावधान होकर, दोनों ओर हाथ जोड़ते हुये) आप लोगों की इस प्रेम-कलह में मेरे जैसे अधम के ऊपर आप दोनों की समान कृपा झलक रही है। मैंने तो जीवन-भर यह मानकर भजन किया है कि श्री वृन्दावन में बरसाना है और बरसाने में श्री वृन्दावन है। दोनों स्थानों में एक श्री वृषभानुनंदिनी सर्वस्व हैं)
दोनों ओर से 'धन्य है-धन्य है' की आवाजें आती हैं। बाबा दोनों पंक्तियों के मध्य में बैठ जाते हैं)

जीवन—बाबा अवार है रही है। समाजी लोग कितेक देर में आवेंगे ?

नागरी—अभी थोड़ा समय लगेगा। सब लोग वृन्दावन से कल ही आये थे और समाजियों ने पूरी रात समाज किया है, जिससे सब बहुत थके हुये हैं।

फत्ते—बाबा, रात कूं पद तौ हमारी समझ में कम ही आये पर ढाँढी ढाँढिन की लीला में आनन्द आय गयौ। उनने आपस में जो बातचीत करी वो कभी न भूलैगी। जा बखत का फिर वोई लीला होयगी ?

नागरीदास--नहीं महाराज, इस समय तो केवल बधाईयाँ गाई जायेंगी।

फत्ते—पर बाबा हमारी समझ में जि कैसे आमिगी ?

नागरीदास—इनको अनेक बार सुनने से यह समझ में आने लगती हैं। इस बार तो यहाँ श्रीलाड़िली का प्रथम जन्मोत्सव हो रहा है जब प्रति वर्ष होता रहेगा और आप इन बधाईयों को हर वर्ष सुनेंगे और गावेंगे तो इनका अर्थ आपकी समझ में आने लगेगा।

जीवन—जितौ आगै की बात भई बाबा, पर आज हमकूं आनन्द कैसे आवै ?

नागरीदास--महाराज ! आप तो ब्रजवासी हैं और सब बधाईयाँ व्रजभाषा में ही रची हुई हैं। हो सकता है आप लोग उनकी कोई बात न समझते हों तो वह कोई भी जानकार बता सकता है।

जीवनलाल—आज जा बखत कै बधाई होंयगो ?

भगतजी—इस समय दो बधाईयाँ होंगी-एक श्री हितजी महाराज की और दूसरी स्वयं श्री नागरीदास जी की

जीवनलाल—तौ बाबा की बधाई तौ हमारी समझ में आनी नाँय। इनके बनाये पदन में तौ अच्छे-अच्छेन के पल्ले कछू नाँय परै।

भगतजी महाराज, इनके पदों से इनकी बधाई सरल है और उसका बहुत बड़ा भाग निश्चित रूप से आपकी समझ में आयेगा।

जीवनलाल—तुम्हारे पास बधाई होय तौ हमें वैसे ही बाँच के सुनाय देओ न, जो बात समझ में नाय आवेगी पूछ लेंगे। (नागरीदास जी की ओर देखकर) बाबा, जि महात्मा गाँव में आये भये हैं। जि लगें तौ अनुरागी हैं पर बातचीत में निगुन-सगुन को कछु झगरौसौ डारत रहैं हैं। उत्सव पाछे इन्हें तिहारे पास लेकै आऊँगौ।

सन्यासी—(बाबा की ओर देखकर) गुसाईं जी, मेरे मन का समाधान तौ बाबा के दर्शन मात्र से हो गया है और अब बुद्धि रही है सो वह भी बाबा के पद का अर्थ सुनकर, शायद शान्त हो जाय।

जीवन—हाँ तौ भगतजी, अब पद सुनामन लगौ। समाजी आइ गये तौ बीच में ही रह जायगौ।

भगतजी—सुनो महाराज,
'आजु लली कौ सोहिलो, कुँवरि मेरी प्रगटी है आनन्द कंद। आज श्री वृषभानु नंदिनी का जन्म दिन है। आनंद की मूल मेरी कुँवरि प्रकट हुई है।

जीवन—आ हा !

भगतजी— 'धन्य कूख कीरतिदा रानी कीन्हौ कुल परकास।
कौतुक अवधि कुँवरि यह जाई सफल भयौ ब्रजवास'॥
कीर्तिरानी की कूख को धन्य है जिसने आश्चर्य की अवधि इस कन्या को जन्म देकर अपने कुल को सफल बनाया है।

फत्ते—जि बात बिल्कुल साँची है। लाड़िली न होती तौ यहाँ रहकै कोऊ कहा करतौ ?

भगतजी— 'जग उद्यौत ललित मुख सुन्दर है सोभा कौ धाम।
देखी सुनी न ऐसी कन्या अंग-अंग-अंग अति अभिराम॥
संसार में प्रकाश फैलाने वाला इस कन्या का सुन्दर मुख शोभा का धाम है। इस कन्या जैसी अन्य कोई कन्या न तौ देखी गई है और न सुनी गई है।

'आज उदौ वृषभान भवन कौ निज सुख निरख्यौ नैन ।
सब सुकृतन की संपति पाई कहत बनै नहीं बैंन ।।

इस कन्या के जन्म के साथ श्रीवृषभानु के भवन का उदय कुछ इस प्रकार से हुआ है कि इस घर के आश्रित जीवों के अन्दर रहा हुआ उनका सहज सुख उनके नेत्रों का विषय बन गया है और उनको संपूर्ण पुण्यों की फल-रूपा वह प्रेमा-भक्ति मिल गई है जिसका सुख अवर्णनीय है।

स्वामीजी—(विचार में पड़कर) इसका अर्थ तो यह हुआ कि श्रीराधा मूर्तिमान सहजानन्द किंवा आत्मानन्द है। (कुछ रुककर) और श्रीश्यामसुन्दर क्या हैं ?

भगतजी—उनको भी श्रीहिताचार्य ने 'मोहन मुनि सघन प्रगट परमानन्द' कहा है; अर्थात् श्रीमदन मोहन मुनीश्वरों के हृदय में रहे हुये सघन परमानन्द की प्रकट मूर्ति हैं।

स्वामीजी भगतजी, मैंने कई वैष्णव—सिद्धान्त देखे हैं किन्तु श्रीराधाकृष्ण का जो स्वरूप अपार यहाँ माना गया है वह हमारे अद्वैत वेदान्त में बताये गये आत्मा किंवा ब्रह्म के स्वरूप के अधिक निकट हैं। मुझे समझने में एक ही कठिनाई हो रही है कि सहजानन्द किंवा ब्रह्मानन्द तो अनुभूति मात्र होता है। यह नेत्रों का विषय कैसे बन सकता है ?

भगतजी—(मुस्कराकर) भाव के द्वारा। ज्ञान निर्विषय बन सकता है और ज्ञप्ति मात्र रह सकता है किन्तु भावकी प्रकृति ही ऐसी है कि वह अपनी किसी स्थिति में भी विषय शून्य नहीं हो सकता। वास्तव में ज्ञान जितना निर्विषय होता है उतना ही शुद्ध और आनन्ददायक होता है। इसके विपरीत भाव का विषय जितना स्पष्ट और समृद्ध होता है उतना ही वह आह्लाद कारक बनता है। प्रेमभाव का आश्रय ग्रहण करने से ही इस बात को समझा जा सकता है। तर्क के द्वारा इसको नहीं समझा जा सकता।

स्वामीजी—परतत्त्व बुद्धिगम्य अथवा तर्क सिद्ध है–यह बात तो कोई भी वैदिक धर्म नहीं मानता। प्रेमाभक्ति का अवगाहन करने के लिये ही मैंने बरसाने का आश्रय लिया है। बाबा की कृपा से मेरी बुद्धि का भी अब परितोष हो गया है, आप बधाई आगे सुनाईये।

भगतजी—इसके बाद बाबा ने जन्म—महोत्सव का वर्णन किया है मुझे आशा है कि उसको समझने में आप लोगों को कोई कठिनाई नहीं होगी।

'होत कुलाहल गावत मंगल घोस बधाये आयौ ।
पुण्य पुंज वृषभान नृपतिकौ, पायौ मन कौ भायौ ।।

मोतिन चौक माल मणिबंदन, गली सुगन्ध सँवारी ।
राबल रमित रवानी राजत जनमी है सुकुमारी ।।

जीवन—स्वामी जी, बाबा नें या बधाई में जो कछु लिख्यौ है सो करके दिखाय दियौ है आज सबेरे पौ फटने के पहले ही बरसाने की गलीन में गुलाब जल कौ छिड़काव है गयौ ।

स्वामीजी—हाँ महाराज मैं उन्हीं में से निकलकर आया हूँ सारा गाँव सुगन्धित हो रहा है ।

भगतजी—'रतन जटित बहु भाँति पताका, मारग छाये फूल ।
माणिक चौकन दिपत दुआरे रोपे हैं कदली मूल ।।
महा महोत्सव गोप राज घर दूध दही कौ कादौं ।
कुम-कुम चोबा चन्दन छिरकत, झर लायौ भर भादौं ।।
(स्वामीजी, कादों कर्दम का ब्रजभाषा रूप है ।)
गोरस माट लुढ़ाबत आँगन नाचत मगन भये ।
वल्लवराज हिता चिरजोरी, उपजत चोज नये' ।।

स्वामीजी—वल्लवराज हिता से क्या तात्पर्य है ?

भगतजी—वल्लवराज से मतलब श्री वृषभानुजी से है और हिता हैं श्री कीर्ति जी जिनके द्वारा जगत का ही नहीं तीनों लोकों का हित हुआ है ।

भगतजी—'दधि घृत माखन झिले गिरारे, अजिर मुदित नव बाला ।
नर नारी हँसि भरत परस्पर मानौ मत्त मराला ।।
गोपी ग्वाल मिले मधि निर्तत लटकत मगन भये ।
भूषण बसन गिरत नहीं जानत, कबरिनु कुसुम ढये ।।
गद्गद स्वर तन पुलक हरख वर, झूमत ग्रीवा बाहु ।
अति आवेश सुदेश सोभियत, उमग्यौ प्रेम प्रबाहु ।।

स्वामीजी—इन पंक्तियों को जरा स्पष्ट करिये ।

भगतजी—मतलब यह है कि श्रीराधा के जन्मोत्सव में दूध दही और माखन इतना अधिक लुटाया गया कि वह नालियों में बहने लगा । नर और नारी हंस-हँस कर एक दूसरे को इस प्रकार आलिंगन कर रहे हैं मानों मत्त हंस हों । प्रेम मत्तता यहाँ तक बढ़ी हुई है कि किसी को अपने वस्त्रों और आभूषणों के गिरने का ध्यान नहीं है तथा स्त्रीजनों की चोटियों में गुंथे हुये फूल गिर रहे है । अत्यन्त प्रसन्नता के कारण सबके स्वर गदगद और शरीर रोमांचित

हो रहे हैं तथा वे एक दूसरे की ग्रीवा में बाहु डालकर झूम रहे हैं। चारों ओर प्रेम का प्रवाह उमड़ पड़ा है और प्रेमावेश के कारण सबके शरीर अत्यन्त सुन्दर दिखलाई दे रहे हैं।

स्वामीजी—वाह-वाह धन्य है।

भगतजी—'तबहि हरखि रावल रानेजू हाटकहीर मँगाये।
चीर अमोल विविध नाना रँग बधू पहिराये'।।

फत्ते—(प्रसन्न होकर) स्वामी जी, आज सगरौ गाँव बराती बन्यौ डोल रह्यौ है! जि सब कपड़ा और जेवर बाबा ने ही दीने हैं। (सब लोग हँसते हैं)

भगतजी—'भूषन वसन बंधु बधू पहिरे फिरि तब पाँइ गहे।
यह सुख सुकृत सुहृद हो तिहारौ लोचन बारि बहे।।

स्वामीजी—इसको स्पष्ट करिये।

भगतजी—वृषभानराय ने स्वजनों को वस्त्राभूषण पहिनाकर फिर उनके पैरों को पकड़ लिया और उनसे बोले कि हे भाईयो, मुझको यह सुख तुम्हारे पुण्यों के फल से ही मिला है, और यह कहते हुये उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। (कुछ देर ठहरकर) स्वामी जी, प्रेमी अपने भाग्य बल से प्राप्त सुख को भी किसी की कृपा के फलरूप में ही ग्रहण करता है। इससे उसके अहंकार का क्षय होकर उसके प्रेम की वृद्धि होती है।

छिद्दा—भगतजी, या बधाई में अभी तक हमसे भिखारीन कू तौ कछू तिलबे की बात आई नाँय!

भगतजी—अब वही आ रही है नागरीदास जी ने बताया कि—

'तब मागद बंदेजन समदे? जाचक धनिक करे।
भवन भंडार उखेर सौंज सब कसे हैं सकट भरे'।।

वृषभानजी ने गोपकुल का यशगान करने वाले मागध बंदीजन आदि याचकों को अपने दान के द्वारा धनवान बना दिया और अपनी गड़ी हुई संपत्ति निकालकर छकड़े भर-भर कर दान कर दिये।

छिद्दा—(आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है)

जीवनलाल—तौ भगतजी, इतनौ धन तौ उनकी कई पीढ़ीन तक चल्यौ होयगौ?

भगतजी—(मुसकराकर) गुसाइँ जी, यह तौ श्रीलाड़िली के चरण कमलों की प्राप्ति रूपी धन है न? यह सम्पत्ति एक बार प्राप्त होने पर बढ़ती ही रहती है।

स्वामीजी—धन्य है!

उपहार दिये।

भगतजी— आग्रसु भयौ खरिक लखद्वै कौ ग्वाल हँकार लये ।
महाराज राजन के राजा लहर बिडार दये ।।

इसके बाद राजाधिराज श्रीवृषभानु ने दो लक्ष गायों का दान करने की आज्ञा दी और लहर बिडार नामक बहुमूल्य आभूषण सब को बाँट दिये ।

फत्ते—(प्रसन्न होकर) स्वामी जी, वृषभानराय ने श्रीलाड़िली के जन्म पै दो लाख गैया बाँट दीनी तौ हमारे बाबा नें हूँ दोसौ गैयाँ खरीद राखी हैं और आज वे सब दान कर दीनी जायेंगी ।

स्वामीजी— धन्य है ।

भगतजी—बधाई के अन्त में बाबा ने कहा है,

पूरन करी कामना सब विधि रसिक सुरस आनन्दे ।
नागरीदास वास बरसाने गौर चरन रज बन्दे ।।

श्री प्रिया के प्राकट्य से रसिक प्रेमियों की कामनायें सब प्रकार से पूर्ण हो गयीं । नागरीदास जी कहते हैं कि इसलिये मैं बरसाने में वास करके गौर चरणों की रज की वंदना करता रहता हूँ ।

स्वामीजी—(सहसा उठकर नागरीदास जी के पैर पकड़ लेते हैं) बाबा, मैं भी गौर चरण की आशा लेकर बरसाने आया हूँ किन्तु मुझे विश्वास हो गया है कि आपकी कृपा के बिना मेरी आशा फलवती नहीं होगी । (गदगद होकर) बाबा, मुझ पर कृपा करिये । (स्वामी जी की आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है और वे विह्वल होकर नागरीदास जी उनका हाथ पकड़कर उनको उठाने की चेष्टा करते हैं । सब लोग स्तब्ध रहकर इस दृश्य को देख रहे हैं ।)

(शोर मचाते हुये १५-२० बच्चों का प्रवेश । सब लोग चौंककर उनकी ओर देखने लगते हैं ।)

जीवन—(डपटकर) अरे छोराऔ, हल्ला क्यों मचाय रहे हौ ?

लड़के—(एक साथ) वृन्दावन वारे आय रहे हैं ।

जीवन—कहाँ हैं ?

लड़के—जि आइ गये ।

(स्वामी जी सँभलकर आँसू पोंछते हुये बैठ जाते हैं तथा सब लोग मन्दिर के मुख्य द्वार की ओर देखने लगते हैं ।)

(नागरीदास जी के गुरु श्रीवनचन्द्र गोस्वामी के चारों पुत्रों श्रीसुन्दरवर जी, श्रीराधावल्लभदास जी, श्री नागरवरजी एवं श्रीव्रजभूषण जी का तीन-चार

सेवकों तथा समाजियों (कीर्तनियों) के साथ प्रवेश। चारों गोस्वामियों ने धोती, अचकन और पगड़ी पहिन रखी हैं। उनका वर्णगौर, कद ऊंचा और मुखाकृति भव्य है। उनके साथ बाबा युगलदास भी हैं जो अब बहुत वृद्ध हो गये हैं किन्तु सशक्त हैं।)
(उनको आता देखकर नागरीदास जी सहित सब लोग उठकर खड़े हो जाते हैं। उनके पीछे उनके सेवक तथा पहिले ते उपस्थित वृन्दावन के अन्य लोग बैठते हैं। उनके सामने वाली पंक्ति में बरसाने तथा नन्दगाँव के लोग बैठते हैं। दोनों पंक्तियों के बीच में समाजी लोग अपने साजों के निकट बैठ जाते हैं।)

श्री सुन्दरवरजी—(चारों ओर देखकर) मन्दिर निर्माण के लिये यह स्थान बहुत अनुकूल रहा और इतनी ऊँचाई पर मन्दिर भी सुन्दर बन गया!

जीवन—यह सब आपकी कृपा का फल है। बाबा यहाँ न पधारते तौ जि कछू न होतौ!

श्री सुन्दर—सब कार्य श्रीलाड़िली की 'इच्छानुसार होते हैं। नागरीदास जी का बरसाने आने का तो कोई विचार ही नहीं था किन्तु श्री प्रिया को अपनी इस जन्मस्थली में अपना यश विस्तार करना था। इससे इनके सामने श्रीवृन्दावन में ऐसी परिस्थिति आ गई जिससे विवश होकर यहाँ आना पड़ा।

फत्ते - हाँ महाराज। हमने हू सुन राखी है कि कछु महात्मा लोग वृन्दावन में इनके पीछे परि गये और उनके डरते बाबा यहाँ भाजि आये। उनमें ते कोई महात्मा यहाँ पधारे हौय तौ हम उनके दर्शन करचौ चाहैं।

श्रीनागरीवरजी—आये तौ है और नागरीदास जी के अत्यन्त आग्रह पर आये हैं। किन्तु यह बात अब बहुत पुरानी हो चुकी है और इसको उठाने में नीरसता ही बढ़ेगी। बाबा युगलदास जी के मन में अब कोई बात नहीं रही है और वे रास्ते भर नागरीदास जी की प्रशंसा करते आये हैं।

युगलदास—(क्रोध पूर्वक) उस बात को उठाने दीजिये, कुँवर जी अपने साथियों से मेरा अपमान कराने के लिये ही नागरीदास ने मुझे यहाँ बुलाया है। मैं किसी से डरने वाला नहीं हूँ।

जीवन—(हँसकर) या में डरबे की बात का है बाबा? हमारी इच्छा तौ तिहारे दरसन की हुती सो है गये। हम तो बाबा तिहारे हाथ जोड़ैं नाराज मत होऔ। (हाथ जोड़ता है।)

युगलदास—(क्रोध पूर्वक) मैं सब समझता हूँ। मैं (उठने की चेष्टा करते हैं और उनके साथ के अन्य दो महात्मा उठकर खड़े हो जाते हैं।)

नागरी—(उठकर उनको रोकते हैं। हाथ जोड़ते हुये) बाबा आप तो जानते हैं कि ब्रजवासी लोग सहज रूप से विनोदी होते हैं। यह इनका विनोद ही था। अब समाज आरम्भ हो रहा है। आप लोग विराजिये और आनन्द लीजिये। समाजी लोग अपने साज मिलाने लगते हैं बाबा युगलदास और उनके साथी बैठ जाते हैं किन्तु उनकी मुख मुद्रा वैसी ही कठोर बनी रहती है।)

फत्ते—(धीरे से) जि महात्मा तौ बड़ौ तेज लगै !

जीवन—(धीरे से जि ह्यां टिक जाय तौ हम सबन पै गाँव खालो करायले !

(समाज में श्रीहिताचार्य का पद 'चलौ वृषभान गोप के द्वार' आरम्भ होता है और सब लोग एकाग्रचित्त से श्रवण करने लगते हैं। उक्त पद की द्वितीय पंक्ति 'जनम लियौ मोहन हित श्यामा आनंद निधि सुकुमार' को श्रवण करते ही नागरीदास जी अचेत हो जाते हैं। श्रीसुन्दरवर जी उनको एक तरफ लिटा देने का संकेत करते हैं और छिद्दा तथा जीवन लाल उनको उठाकर एक ओर लिटा देते हैं। छिद्दा उनके पास बैठकर पंखा झलने लगता है।)

(श्री हितजी महा० की बधाई के बाद नागरीदास जी की बधाई आरम्भ होती है। सब लोग बड़े चाव पूर्वक उसको सुनते हैं। वृन्दावनीय गोस्वामी गण के साथ अनेक लोगों के नेत्रों से अश्रुपात होने लगता है किन्तु युगलदास और उनके साथी अविकृत भाव से बैठे रहते हैं।)

(बधाई गान समाप्त होते ही सब लोग प्रेमोन्मत्त होकर 'राधा प्यारी ने जन्म लियौ है' 'कुंवरि किशोरी ने जन्म लियौ है, आदि कहते हुये नृत्य करने लगते हैं। कुछ क्षणों के बाद नागरीदास जी भी उनमें सम्मिलित हो जाते हैं और उनके आते ही नृत्य की उन्मत्तता बढ़ जाती है। नृत्य करते हुये श्रीसुन्दरवरजी नागरीदास जी को हृदय से लगा लेते हैं और नागरीदास जी विह्वल होकर उनके चरणों में गिर जाते हैं।)

(पटाक्षेप)

ललित काव्य समीक्षा

—प्रो० गोविन्द शर्मा

कविता भावों की सीधी सम्वाहिका है ।

हमारा समस्त भक्तिकाव्य प्रायः कविता में ही है । भक्ति का संगीत से भी विशेष नाता रहा है—सम्भवतः "मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद" इस भगवद् वाक्य के कारण । फिर कृष्णभक्ति का तो कहना ही क्या । स्वामी श्रीहरिदासजी के शब्दों में श्रीश्यामाश्याम संगीत-संगी हैं । श्रीहित महाप्रभु के अनुसार जब श्रीश्यामा जू गायन करती हैं तो राग-रागिनियों के यूथ के यूथ प्रकट हो जाते हैं ।

वृषभानु नन्दिनी मधुर कल गावै ।
विकट औघर तान चर्चरी ताल सौं नंदनंदन मनसि मोद उपजावै ॥

इसीलिए व्रज की उपासना और सेवा पद्धतियों में भोग-राग की प्रधानता है । उत्तम भोग और मनोहर गान दोनों से ही प्रिय युगल को लाड़ लड़ाया जाता है । यही कारण है कि व्रज के भक्तिकाव्य में पद-साहित्य की प्रचुरता है ।

गोस्वामी श्रीललिताचरणजी अत्यन्त भावुक थे और संगीत प्रेमी भी ऐसा व्यक्ति कविता की रचना न करे यह असम्भव ही है । महाराजश्री की रचनाओं में कुछ कवितायें भी प्राप्त हुई हैं, जिन्हें संकलित करके यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है । ये संख्या में अधिक नहीं हैं शायद पूरी भी नहीं हैं । जै-जै महाराज की कुछ प्रारम्भिक कविताएं "विशाल भारत" तथा "हंस" मासिकों में प्रकाशित हुयीं थीं । उनमें से दो-एक तो प्राप्त हो गयीं, शेष अनुपलब्ध हैं । 'हंस' की प्रारम्भिक पुरानी फाइलें खोजी जायें तो शायद उनमें से कुछ की प्राप्ति हो सके । ये फाइलें दुर्लभ सी ही हैं और काम भी श्रम तथा समय साध्य ।

पाँच-छह को छोड़कर इस ग्रन्थ में संगृहीत सभी कवितायें व्रजभाषा में हैं । खड़ी बोली की रचनायें "विशाल भारत" में प्रकाशित हुईं थीं । 'हंस' में प्रकाशित कवितायें भी 'खड़ी बोली' में ही होंगी, क्योंकि हंस प्रगतिशील विचारधारा का मासिक-पत्र था और उसके सम्पादक उपन्यास-सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द थे । जै-जै महाराज की इन कविताओं में विषयवस्तु, भाषा और शैली सभी बातों में वैविध्य है । यह उनकी विभिन्न मनःस्थितियों का परिचायक है ।

उस युग में जब आपने कविता लिखना आरम्भ किया होगा, हिन्दी के कवि प्रायः ब्रजभाषा में कविता लिखने का श्रीगणेश करते थे। बाद में खड़ी बोली पर आते थे। तो यह सम्भावना की जा सकती है कि जै-जै महाराज ने भी जन्म-जात वृन्दावनवासी और व्रजभाषी होने के कारण प्रारम्भिक कवितायें व्रजभाषा में ही लिखो होंगी, जो अब अप्राप्य ही हैं। बाद में खड़ी बोली का प्रयोग किया होगा। खड़ी बोली के जो दो कवित्त प्राप्त हैं, उनमें एकांगी प्रेम की झलक है। यह प्रेम किसके प्रति है स्पष्ट नहीं। प्रियतम सगुण है या निर्गुण, इसका स्पष्ट आभास नहीं होता। ये सम-सामयिक उन रहस्यवादी कविताओं के समान हैं जैसी श्रीजयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, तथा अन्य कवियों द्वारा लिखी जा रही थीं। "जाल यह कैसा बिछाया" गीत कवि के मानस में उठने वाली उन जिज्ञासाओं एवं विचार-तरंगों को प्रतिध्वनित करता है, जो प्रत्येक भावुक विचारशील मानव को आन्दोलित करती हैं, संसार की गति उसे डराती है। विश्व का यह विरोधाभास मय स्वरूप, ये गम्भीर दार्शनिक प्रश्न प्रत्येक प्रबुद्ध बुद्धिजीवी को परेशान करते रहते हैं। सार्त्र के अस्तित्ववाद की अनुगूँज इनमें सुनाई देती है—

> कौन है वह क्रूर जिसने ला हमें इसमें फँसाया।
> क्यों व्यथा की सृष्टि की फिर क्यों मधुर उसको बनाया ?

'कामायनी' के 'इडा' सर्ग में भी ऐसे गीत मिलते हैं, जै-जै के एकांकियों में भी ऐसी बातों के संकेत प्राप्त हैं। बाद के गीत और कवितायें विशुद्ध धार्मिक हैं। ऐसा लगता है कि व्यर्थ की उलझनों और भूल-भुलैयों से निकलकर कवि अपनी परम्परा के सरल, सुगम और निश्चित राजपथ पर आ पहुँचा है। अब वह अपने मनोराज्य में विचरण कर रहा है। वृन्दावन के चिरवास, श्रीश्यामाश्याम युगल की कृपा प्राप्ति की कामनायें इन पदों में व्यंजित हैं। श्रीहित हरिवंश की महिमा एवं बधाईयों के भी अनेक पद हैं। प्रतीत होता है ये बधाइयाँ श्रीहितोत्सव के उल्लासपूर्ण भावुक अवसर पर गाने के लिए रची गईं होंगीं। इसी प्रकार श्रीराधाकृष्ण के जन्म की भी बधाइयाँ हैं। मध्यकालीन व्रजभाषा काव्य की भाँति कुछ पद ऋतु वर्णन के भी हैं। इनमें पावस, शरद तथा वसन्त ऋतुओं के उद्दीपन रूप का चित्रण है। भजन करने की प्रगाढ़ आकांक्षा की अभिव्यंजना करने वाले पद भी हैं। एक पद 'सेवकजी' की प्रशंसा का है और एक छन्द "हित भोरीसखी" की। सभी पदों में "ललित" नाम की छाप है।

जै-जै महाराज की भाषा बड़ी ललित है, उनके नाम के अनुरूप। वह अधिक अलंकारों के प्रयोग से बोझिल भी नहीं होने पाई। साफ सुथरी, व्याकरण-सम्मत, सरल भाषा है। छन्दों की भी विविधता है। रोला, कवित्त, पद, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। कुछ कविताएँ उर्दू गजल की शैली में भी हैं। ये समस्त कृतियाँ स्वान्तः सुखाय ही सर्जित हुई थीं क्योंकि इनमें से अधिकांश तो प्रकाशन ही नहीं हुईं। भक्त शिष्यों की डायरियों से ही उनका संग्रह किया गया है। इनमें से अनेक पद तो ब्रज-भाषा के श्रेष्ठ कवियों की पदावली की टक्कर के हैं। ★

ललित काव्य

बधाई

श्रीगुरुराज जनम दिन भैया आवौ मंगल गावें।
आयौ दिन निज भाग्य उदय कौ गहगहे मृदंग बजावें॥
श्रीहरिवंश कृपा धन भैया इन चरनन बल पायौ।
राधानाम धाम वृन्दावन रसिकन संग मन भायौ॥
हृदय ग्रन्थि छूटी इनके बल माया बन्धन टूटे।
जे सुख सनकादिक दुर्लभ बन बस हँसि-हँसि लूटे॥
मन-मतंग गुरुराज चरन पर प्रेम प्रसून चढ़ावै।
श्रीललित कृपा की दृष्टि चहै गुन गाय-गाय जिय ज्यावै॥१॥

जिन्होंने हमें प्यार करना सिखाया,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूँ।
जिन्होंने लड़ैती सी स्वामिनि हमें दी,
दिये लाल से नेह सागर छबीले॥
दिये फूँक प्राणों में वंशी के वे स्वर,
मिले जिनसे उन तक पहुँच के वसीले।
महारंक को प्रेम साधन लुटाया,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूँ॥
विपिन वीथियों की डगर जिसने डाली,
सिखाई प्रणय की अनूठी प्रणाली।
जहाँ श्याम-शयमा के मिलने की राहें,
वहाँ से विरह भीत जिनने निकाली॥

जिन्होंने प्रणय को सजाया सँवारा,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूँ ।
कहानी कही उस नवल नेह तट की,
जिसे छू के बहती है शृङ्गार धारा ।।
जहाँ मिलके नूपर से बजती है वंशी,
तहाँ गौर चरणों का ही एक सहारा ।।
उन्हीं को हृदय हार जिसने बनाया,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूँ ।
शरण जिसको दे दी हृदय से लगाया,
उठाकर जगत से विपिन में रमाया ।।
हटाकर विषय पंक से धीरे-धीरे,
प्रिया लाल के प्रेम सर में न्हवाया ।
जिन्होंने ललित नेह नाता निभाया,
उन्हीं व्यासनन्दन की जय बोलता हूँ ।।२।।

अपने व्यास कुमार की बलिहारी जईये ।
धासों सब सुख पायो ताही के गुण गईये ।।
तारा कूख-उदधि सों यह शशि प्रगट भयौ है ।
नित्य हिबहार प्रकाश अवनि पर फैल गयौ है ।।
नैनन में झलक्यौ सुखमय मंजुल वंशीवट ।
रास-विलास हुलास भर्‌यो दरस्यौ यमुना तट ।।
श्रीराधा सुहाग मणि की दीपति अधिकाई ।
हरख्यौ नन्दसुवन प्रानन को देत बधाई ।।
नेह गली रस रली भली फूलन सों फूली ।
आये मत्त मधुप सब तजि तिनकौं अनुकूली ।।
चौक परी द्विज जुवतिन मंगल साज सजाये ।
बाजन लगे बधाये जनु घर साजन आये ।।
व्यास सुवन मद मत्त नैन लखि आनन्द छायौ ।
जान्यौ सुख सान्यौ हित जग उद्धारण आयौ ।।

इक आवत इक जात एक गह्हि बैठी कौनो ।
एक गह्यौ मुख मौन निरखि तारा सुत लौनो ।।
बारौ हित अवलोक एक नैनन को वारैं ।
एक विचारैं याहि निरखि अब कहाँ निहारैं ।।
एक कहैं री तारा कूख फली सुख फूलन ।
महक उठ्यौ बन सघन उठी रस की नव झूलन ।।
एकनि के मन व्यास सुकृत कौ फल यह बालक ।
नेहिन कुल को पालक नीरसता दुःख घालक ।।
एक कहैं इन राधापद आराधन कीन्हौ ।
गौरी कुंवरि किशोरी कंचन तन सुत दीनौं ।।
किलक्यौ व्यास कुमार दृगति अद्भुत छवि बाढ़ी ।
जुवतिन लई बलाय लखी रति अति की गाढ़ी ।।
भई मुदित द्विजरानी सब कौं दई बधाई ।
तिन मधि ललित सभागिन पीत झंगुलिया पाई ।।३।।

बधाई माई व्यास मिश्र घर बाजें ।
जहाँ ऐसौ सुत जनम्यौ जो रंकनि कौ नेह निवाजें ।।
रसिक जननि कौ सुकृत सिंधु मर्याद छाँड़ि जहाँ गाजें ।
श्रीराधाजुग चरण कमल की छाया जहाँ विराजै ।।
कहनी अनकहनी होनी अनहोनी सब जहाँ छाजै ।
ललित गुनिनु की भीर द्वार पै नित नव मंगल साजै ।।४।।

युगल को नवल अनुराग जग अवतर्यौ ।
मुदित भई भूमि उलहे नवल फूल दल,
कोकिलनि कूकि मृदु नाद नभ में भर्यौ ।।
अंब की डार लहकी सरस भार सौं,
निंब हूँ उमगि सौरभ सरस विस्तर्यौ ।
सरनि विकसे कमल अमल छवि भीर सौं,
मत्त मधुकरनि मधुपान व्रत आदर्यौ ।।

माधवो ग्यास फूल्यौ सुकृत व्यास कौ,
रसिक जन चकित ह्वै चख वदन कर्‌यौ ।
सजत घर द्वार बाजत बधाई भली,
निरखि मंगल नवल सबनि को मन हर्‌यौ ।।
बटत बहु दान इत होत जस गान,
उत भिक्षुकनि वृन्द आनन्द रस में ढर्‌यो ।
ललित बलिहार श्रीव्यास के लाल की,
आस लै पोरि पै रहत निसदिन पर्‌यो ।।५।।

बधाई माई बाजत आजु भली ।
अनुरागी ब्रज जन मिलि टेरैं जसुमति कूँखि फली ।।
माखन चाखन हार अवतर्‌यौ सब भव भीति दली ।
रूपे प्रीति के पैंडे गरुवे कुल मर्याद टली ।।
श्रीराधा सुहाग को अंकुर उपज्यौ महाबली ।
ललित-निकुंज में अब नित ह्वै हैं रंग रली ।।६।।

पद

सेवक-सौ को सुकृती लायक ।
श्रीवृषभानु-भवन-भूषण के सहज रूप कौ मर्मी गायक ।।
आगम-निगम-पुराण अगोचर सहज माधुरी को परिचायक ।
श्रीहरिवंश प्रेम कुँजन वृन्दावन कुञ्जन को रति दायक ।।
रस-सागर लहरात सरित तट अद्‌भुत बानिक कह्यो अमायक ।
धर्मी-धर्म ललित कुञ्जन में दरसाये जय भजन विधायक ।।७।।

पावस

नवल रति उनई मेघनि संग ।
उन्मद सजल जलद संग उलही दामिनि तरंग ।।
हरी-हरी भूमि भरी-भरी सरिता नई-नई बढ़त उमंग ।
लपटी ललकि लता विटपनि सौं उझलत वह अभंग ।।

दादुर मोर पपीहा गावत पावस प्रीति उतंग।
चलत पवन पुरवाई जागत प्राननि प्रबल अनंग।
श्रीराधा सुहाग सर पूरित विकस्यौ कमल सुरंग ।।
भ्रमत तहाँ विथकित निसि वासर ललित लाल दृग भृङ्ग ।।८।।

देखि सखि बरसनि लाग्यौ मेह।
परसनि लगी दामिनी भुवतल सरसनि लाग्यौ नेह ।।
भीजन लगे सघन कुंजनि में एक प्राण द्वै देह।
ललित पपीहा पिउ-पिउ टेरत परन देत नहिं छेह ।।९।।

देख सखि उमगनि के दिन आये।
उमगी नेह लता कुंजनि में जल थल नभ उमगाये ।।
लपटी जाय गौर श्यामल अंग निरखि ललित सचु पाये ।।१०।।

देखि सखि पावस रितु रस बरसै।
श्रीवृन्दावन नभ में दामिनी सजल मेघ संग सरसै ।।
उमगि चले सर सरिता निर्झर नाद-मुनिन मन-परसै।
निरवधि रटत रहत पिउ-पिउ तनु ललित पपीहा तरसै ।।११।।

शरद

आज रासेश्वरी रास में ढरी।
विकट गहि ताल नंदलाल सौं होड़ करि ।।
ठुमकि पग धरत अनुराग मद सौं भरी।
उमगि कैं नूपुरनि राग प्रगट्यौ नवल,
किंकिनी वलय रव रंग भीनौ ।।
लटकि कटि मटकि कर पटकि गौरंग नें,
काम कौ कटक सजि संग लीनौ।
नील पट फरहर्यौ थरहरी चन्द्रिका,
अलप सुठि अलक छुटि वदन आई।
स्वेदकन झलमल्यौ कलमल्यौ सखिन उर,
ललित लै वारनै दै बधाई ।।१२।।

बसंत

खेलत बसंत मन भई फूल ।
जहाँ रतन खचित रवि तनया कूल ।।
जहाँ शीतल सुरभि मलय पौन ।
मंथर गति सौं करि रह्यौ गौन ।।
मनौं थकित निरखि युग नव किशोर ।
सींचत मृदु अंगनि सुख निहोर ।।
जहाँ बहु विधि फल्यौ विपिन बाग ।
फूल्यौ तरु बेलिन कौ सुहाग ।।
फूले चहुँदिस कमलनि के पुञ्ज ।
फूली कुंजनि मधुपनि को गुञ्ज ।।
रितुराज हुलास बढ़्यौ न थोर ।
जहाँ विहरत रसिक छबीली जोर ।।
डारत गुलाल हँस पिय पै बाल ।
नख सिख रंजित श्यामल तमाल ।।
पिय पिचकनि तैं रंगनि की धार ।
गोरे अंगनि कौ करै सिंगार ।।
झिझकत कुलकत नैननि की कोर ।
छवि वर्णत भौहनि की मरोर ।।
जहाँ चौंप बढ़ी मन - मन रसाल ।
उरझत सुरझत दोउ स्वरूप जाल ।।
लखि सखिन दिये अंचल पसार ।
युग-युग विलसौ सुख अति उदार ।।
जहाँ श्रीहरिवंश दृगनि कौ मोद ।
हित ललित कह्यौ कछु वन विनोद ।।१३।।

महिमा

जिनही श्री व्यास सुवन सौं लहनों ।
श्यामा-श्याम मिले सुख सागर रसिक जनन दृग गहनों ।।
श्री वृन्दावन सहज माधुरी तरल तरंगन बहनों ।
ललित इकौसे बैठ पुलिन में नाम धनी को कहनों ।।१४।।

व्यास सुवन जस अमित अगाधा ।
अद्भुत प्रेम सिन्धु विस्तारयौ जामें मज्जत हरि श्रीराधा ।।
जाको शरन दई रंचक हू ताकी मेंट दई भव बाधा ।
वृन्दावन रस फुरै अर्हनिश पुजवहु यहै ललित मन साधा ।।१५।।

सेवक सौ को सुकृती लायक ।
श्रीवृषभानु भवन भूषण के सहज रूप कौ मर्मी गायक ।।
आगम निगम पुराण अगोचर सहज माधुरी कौ परिचायक ।
श्रीहरिवंश प्रेम पुँजन वृन्दावन कुंजन की रतिदायक ।।
रस सागर लहरात सरित तट अद्भुत बानिक कह्यो अमायक ।
धर्मी धर्म ललित कुंजन में दरसाये जय भजन सहायक ।।१६।।

श्रीवृन्दावन महिमा

हौं वन कुंजन की बलिहारी ।
जेहैं पुञ्जीभूत महारस, कुसमित फलित सदारी ।।
सुन्दरता की सींवा राधा, रूप समुद्र विहारी ।
लटकि-लटकि विहरत जिनके तर, पावत मोद महारी ।।
सींचत वर यमुना जल जिनको, राजत रुचिर छटारी ।
देखन को अकुलात ललित हित, हे वृषभानु दुलारी ।।१७।।

परेखवा

मन की मन ही माँहि रही ।
दुलराई न लाड़िली श्यामा रसिकन रीति न गही ।।
ब्रत अनन्य धारयौ न बाँकुरो प्रीति प्रतीति न लही ।
गहि अलि भाय बिकाय चाय सों ललित दृष्टि नहिं चही ।।१८।।

थके से रसिक जन रहत निशदिन परे,
धाम वृन्दाविपिन धूरि अभिराम है ।
सुभग यमुना पुलिन नलिन विकसित जहाँ,
तहाँ पहुँचत नहीं त्रिगुण की घाम है ।।
सखी ललितादि फूली फिरति चाव सौं,
सबनि जीवनि सुधन कुँवरि वर बाम है ।।
ललित हरिवंश हित नाम मंगल जहाँ,
सुघर घनश्याम के काम सौं काम है ।।१९।।

रसिक स्वरूप

सींचत रहैं जो इन्हें नेह जल रैन दिन,
स्वामिनी उदार श्यामा लाड़िली नवेली हैं ।
सहज किशोरी भोरी प्राणप्रिय प्राणन की,
सींव करुणा और ममता की अलबेली हैं ।।
तैसेई ललित लाल रहत कृपाल सदा,
बनी आलाबाल रहैं सुखद सहेली हैं ।
रोपी व्यासनन्द की और लहत रस ओपी नित,
वृन्दावन बाग की सभाग हित बेली हैं ।।२०।।

श्रीप्रियाजू की महिमा

कुल देवी वृषभानु सुता घन विपिन विलासी ।
रति रंभा कमला सी नवला जाकी दासी ।।
नखमणि तरणि प्रकाश भरचौ वृन्दावन सोहै ।
दृग छवि सौं मोहित नंदनंदन मन कों मोहै ।।
जाकी जग में चली सुधा सी सुजस कहानी ।
मंगल भवन दवन दुःख श्री वृन्दावन रानी ।।२१।।

मन:प्रबोध

कुँवरि गौरंग सौं प्रीति करि रे मना ।

शुद्ध रस रीति बल जीति रतिराज कौं,

सेइ वृन्दाविपिन छाँड़ि सब जल्पना ।।

महा उज्ज्वल सुरंग प्रेम घन ऊनयौ,

निपट आधीन बन धारि चातकपना ।

ललित गुन गान करि मगन रहौ बावरे,

व्यासनंदन दियौ उमँगि अद्भुत धना ।।२२।।

अभिलाषा

करहु करुणा गहौं रीति बन की ।

कुँवर श्री राधिका चरण रज शीश धरि,

लखौं लीला सुघर तड़ित-घन की ।।

कुँज सुख पुँज में गुँज मधुकरन की,

रची सुख सेज किसलय दलन की ।।

जहाँ रस रूप बन भूप विलसत रहें,

मंद मुसकान मनमथ छलन की ।।

तरनि तनया तीर भीर आनंद की,

बहन अति सुखद सुरभित पवन की ।।

अलिन के नलिन-दृग पुलिन सेवत तहाँ,

जहाँ अति द्रुरन राधारवन की ।।

नवल रस-रीति नव प्रीति हुलसत रहै,

मधुर धुनि वेणु, नूपुर नदन की ।।

नवल रति ललित हित नित्य जांचत रहत,

नवल श्री राधिका रति सदन की ।।२३।।

लाड़िली हम दीन हैं हम दीन हैं।
कृपा जल ही में जियें वे मीन हैं ।।
लाड़िली हम तौ तुम्हारे दास हैं।
और रहना चाहते अब पास हैं ।।
लाड़िली तुम सौं लगी कछु प्रीति है।
प्रीति प्रतिपालन तुम्हारी रीति है ।।
लाड़िली सींचौ सदा नव नेहरा।
लाल पर बरसौ सुखन कौ मेहरा ।।
लाड़िली त्यौं ही कृपा कछु कीजियौ।
जानिकैं अपनौं ललित सुख दीजियौ ।।२४।।

श्री वृन्दावन रानी श्यामा यह रजधानी तेरी।
यामें नित अपने पिय के संग विलसौ प्रीति अनेरी ।।
रसिकन के हिय में सरसावै यह रस रासि घनेरी।
यामें निहचल वास आस यह कब पुजवोगी मेरी ।।
चरण कमल दरसन कौ हिय में कब चटपटी लगैगी।
राधालाल ललित चरितन में कब मो सुरत पगैगी ।।
कब श्री वृन्दावन अपनैहैं कब रस दीठ जगैगी।
मो मति रूप सुधा रस में कब विलसि हुलसि उमगैगी ।।
चरण कमल छवि कब दरसैगी कब मो भाग जगैंगे।
कब यह दीन अभागे तन मन तुव रस रूप पगैंगे ।।
कब तुव ललित चरित चिंतन में नैना उलटि लगैंगे।
कब हे नाथ मलिन मन कल्पित भव भय दूर भगैंगे ।।२५।।

श्यामा जू के चरण कमल मन भाये।
जिनमें रसिक पुरन्दर निज कर जावक चित्र बनाये ।।
जिन कारण श्री वृन्दावन में रहत प्रेमन्घन छाये।
बरसत सरस अथोर कृपा जल कोटिन रंक जिवाये ।।
जिन्हिं परसि पुलकित बंशीवट रास रंग दरसाये।
भाग सुहाग ललित दासिनु के गुरु प्रताप बल पाये ।।२६।।

मांझ

ऐसी करौ कबहुँ पतितनि कौं चरण कमल छवि दरसै ।
नीरस मूढ़ अभागनि हू पैं नेह कृपाजल बरसै ।।
जे हिय सूख रहे तापनि सौं तिनहूँ में रस सरसै ।
करुणासिन्धु कबहुँ करुणा की लहर हमहुँ कौं परसै ।।
नेकु कृपा की कोर लहौं तो उमँगि-उमँगि जस गाऊँ ।
नेह भरी नव नागरि के रस भाइनि कौं दुलराऊँ ।।
रास विलास हुलासनि में अपनो मति कौं विरमाऊँ ।
छाइ रहूँ सुख के घन सौं जकि कैं थकि कैं सचु पाऊँ ।।
तुमसौं कहा कहौं मैं अपनी दुःखमय कठिन कहानी ।
तुम तो सदा सुखी ही रहियौ श्री वृन्दावन-रानी ।।
बसहुँ बिपुल सुहाग विपिन में करहु केलि मन-मानी ।
भरहु मनोरथ सिन्धु सखिन के ललित लाल सुखदानी ।।२७।।

विनय

अहो कुँवरि यह मेरौ मन मोही कौं मारै ।
कंज दलन सौं खैंच मोहि काँटन में डारै ।।
तुम हो कुशल किशोरी भोरी याकों बरजो ।
ललित कृपा की दृष्टि करो दीनन दिसि लरजो ।।२८।।

मोहि तौ इष्ट श्री विपिन रानी चरन ।
शरण तिनकी तकत रहत है नित सोई,
जाहि सब कहत घनश्याम अशरण शरण ।।
सुभग सुख सिंधु के विमल वारिज दोऊ,
झरत मकरन्द पुनि हरत जिय की जरन ।
छबिनु कौ जार सौ छाय उर भौन में,
ललित जगमगत रहौ अमित सुषमा धरन ।।२९।।

चरण वन्दना

प्रेम की दुनियाँ जिन्हें पाकर बनी छवि धाम है ।
लाड़िली के उन चरण कमलों में नित्य प्रणाम है ।।
प्यार से जिनको हृदय में धारता घनश्याम है ।
लाड़िली के उन चरण कमलों में नित्य प्रणाम है ।।
प्रेमियों की प्यास को मिलता जहाँ विश्राम है ।
लाड़िली के उन चरण कमलों में नित्य प्रणाम है ।।
जो कृपा मकरन्द से भरपूर आठों - याम हैं ।
लाड़िली के उन चरण कमलों में नित्य प्रणाम है ।।
ललित से भी पतित का जिनसे निकलता काम है ।
लाड़िली के उन चरण कमलों में नित्य प्रणाम है ।।३०।।

उपालम्भ (कवित्त)

जानता हूँ तेरे पद कंज को न पाऊँगा मैं,
तू है कहाँ मैं हूँ कहाँ इसका खूब ज्ञान है ।
मानता हूँ तेरा मेरा मिलना चकोर और,
शशि के असंभव मिलाप के समान है ।।
फिर भी कांप उठते हैं प्राण तेरा नाम सुन,
होता मन मन्दिर में नित्य तेरा गान है ।
जान कर भी अजान बनना पड़ता है यही,
निष्ठुर प्रेम का अनोखा विज्ञान है ।।३१।।

कृपा स्वरूप

जिनने इनसों प्रीति करी ।
कृपा कोर करि चितयौ, तन मन की सब ताप हरी ।।
अद्भुत वृन्दावन रजधानी, तिनकों सूझ परी ।
पुलिन स्थली भरी रस रंगन, रहत सुढार ढरी ।।
कोटि काम छबि ललित बिहारी, तिनकी भुज पकरी ।
अति प्रबीन वनरानी, सब विधि, दई बनाय बिगरी ।।३२।।

बरसानौ-नंदगाम

❀ दोहा ❀

रस विलास उल्लास कौं प्रगटे द्वै छवि धाम।
रसिकनि जीवनि मूरिये बरसानौं नंदगाम ॥१॥
जहाँ लाड़िली-लाल सौं मानत नातौ लोग।
सहज नेह की रीति सौं करत प्रीति कौ भोग ॥२॥
रस सिंगार वात्सल्य की जहाँ अनूठी लाग।
लालत पालत हू डुहुन गावत गीत सुहाग ॥३॥
छके थके से तरु-लता राजत रुचिर अनूप।
लाल - लाड़िली कौ लख्यौ प्रीति अनमनौं रूप ॥४॥
विहगावलि बहु भाँति सौं कुलकत विकल विभोर।
इनके प्राणनि में गड़ी उन नैननि की कोर ॥५॥
ढरकि भरचौ भरि-भरि ढरचौ जहाँ नेह रस झूमि।
मन की जड़ समता हरै ऊँचो नीचो भूमि ॥६॥
कुँजनि में खेल्यौ जहाँ दुहुनि प्रीति कौ फाग।
विथिनु में बगरचौ फिरचौ चाव भरचौ अनुराग ॥७॥
जहाँ नेह चटसार में मदन मोद मद जीति।
पढ़ी पढ़ाई दुहुनि मिलि उज्ज्वल रस की रीति ॥८॥
जहाँ लाड़िली कुँवरि कौ फूल्यौ बाग सुहाग।
हरि मधुकर फूल्यौ जहाँ गनत आपनौं भाग ॥९॥
इत उत के जे रसिक जन ओटत विधि तन गोद।
ललित लाल अरु नव कुँवरि नित मिलि करहु विनोद ॥१०॥३३॥

अशीष

युग-युग जीयहु प्राणाधार।
नवल मोहन लाल के संग बढ़हु प्रेम अपार॥
विपिन सार विहार सूचहु अमित लाड़ दुलार।
ललित जन कौं प्रीति कन दै हरहु विषय विकार ॥३४॥

चिरजीवहु बलि जाऊँ आज ।
कृपा लह्यो अद्भुत यमुना तट विपिन समाज ।।
मेटचौ रस वीथिन में औचक साँवल भूप जहाज ।
ललिता चरण बहुत सुख पायो कुँवरि तिहारे राज ।।२५।।

दोहा

यह करुणा की बानि लखि मो हिय अति हुलसात ।
बनत-बनत बन जाय कछु मेरी बिगरी बात ।।१।।

व्यासनंद के गल परा सोवत पाँव पसार ।
इनकी सहज सँभार में उनकी मौज अपार ।।२।।

व्यासनंद मृदु मंद हँसि जब पकड़ेंगे बाँह ।
राखेंगे अति हेत सौं सघन विपिन की छाँह ।।३।।

वृन्दाविपिन प्रकाश सौ जब आंजेगे नैंन ।
शोभा लखि लुटि जायेंगे रति युत कोटिक मैंन ।।४।।

जय-जय श्री हित सहचरी भरी विपुल मन मोद ।
श्री बनरानी पिय सहित राजत जिनकी गोद ।।५।।

एक भरोसौ लाड़िली तुव चरनन कौ मोहि ।
मोसौं विलग न मानियो बाबा की सौं तोहि ।।६।।

जीवन धन श्री लाड़िली जीवन तुम बिन जाय ।
यह असमंजस ह्वै रही कैसे कह्यौ सुहाय ।।७।।

जिन दरसाये हीय में गौर नील छबि ऐंन ।
मो नैंनन में सो बसहु रसिक जनन के नैंन ।।८।।

ब्रह्मादिक वाँछत रहैं जाके पद की ओट ।
कुंज भवन सोइ खसि परचौ प्रवल प्रेम की चोट ।।९।।२६।।

कह दिया भूल जाओ, किन्तु कैसे जाऊँ भूल,
खुद को न भूलूँ ऐसा, भूलना बताओ तो।

भूल की भुलैया में पड़ा हूँ आज वर्षों से,
जीवन ही भूल है इसे न भूल जाओ तो।।

यदि तुम चाहो खैर जाऊँगा तुम्हें भी भूल,
छोटी सी भूल भला तुम भी कर दिखाओ तो।

जग को ही भुलाते हो, या जाते हो स्वयं ही भूल,
प्रेमियों के प्राणों में समाना भूल जाओ तो ।।३७।।

...गति डराती !

आज जग की गति डराती !

आज मानव विगत-ज्वर भी
हो रहा है क्षीण-तर ही !
आज क्यों उसकी प्रबलता
क्षीणता को भी लजाती ?

गगन में संचार भी है
जलधि पर अधिकार भी है
किन्तु, मानव-जाति सुख से
भूमि पर रहने न पाती !

आज अपने भार से डर
हो रही है बुद्धि कातर !
विश्व-जयिनी आज किसके
सामने नत-शिर दिखाती ?

प्रकृति प्रतिदिन दीन बनती
प्रकृति आभाहीन बनती
आज मानव-प्रकृति संवादी–
स्वरों को भी गँवाती !

पल्लवित भी जो हुई है
पददलित भी जो हुई है
आज वह मृदुता भड़ककर
क्रूरता से रुख मिलाती

भार है हर ओर गति का
छोर-हीन प्रबल प्रगति का
किन्तु मानवता न-जाने
किस दिशा की ओर जाती !

।।३८।।

संप्रश्न

जाल यह कैसा बिछाया ?
विश्व क्या ? इसका प्रयोजन क्या ? समझ यह कौन पाया ?
जाल................
कौन है वह क्रूर जिसमें ला हमें इसमें फँसाया ?
क्यों व्यथा की सृष्टि ? की फिर क्यों मधुर उसको बनाया ?
क्यों गरल का बन सहोदर अमृत ने जम को सताया ?
क्यों हुआ पहिचान का संचार मानव - बुद्धि में यह ?
क्यों न फिरि वह अन्य मानव को तनिक पहिचान पाया ?
क्यों परस्पर प्रेम से उत्पत्ति मानव की हुई है ?
क्यों परस्पर प्रेम की उत्पत्ति को उसने दबाया ?
क्यों हुई हैं विजित सीमायें प्रबल विज्ञान से अब ?
क्यों प्रबल विज्ञान ने जन हृदय मति सीमित बनाया ?
प्रश्न का उत्तर सदा जब प्रश्न से मिलता रहा है ?
पूर्ण उत्तर प्राप्ति आशाको हृदय में क्यों जगाया ॥३९॥

जाके प्रानन संग प्रेम की पीड़ा आई।
प्रानन ही में रमी कछुक नैनन में छाई ॥
पीड़ा ही में प्राणनाथ के दशरन पाये।
जुग-जुग के प्यासे नैना छवि देखि सिहाये ॥
सहो सराहि-सराहि कै, कठिन प्रेम की पीर।
बिक जान्यौ बिन मोल ही हित भोरी मति धीर ॥४०॥

आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी : अपने पत्राचार के आलोक में

—डॉ० भगवान सहाय पचौरी

पत्राचार पत्र लेखक की अन्तरंग-बहिरंग की तरंगायित वैचारिकता का वातायन हुआ करता है। इसी प्रकार उसका हस्तलेख भी लेखक के व्यक्तित्व की अदृश्य विशेषताओं का खुला मनोवैज्ञानिक पटल होता है। पत्र लेखन में दो प्रकार के भाव पत्र लेखक के चित्त की स्थिति के अनुसार अभिव्यक्त होते हैं। एक तो सहज आत्मीयता और अकृत्रिमता के साक्षी होते हैं और दूसरे असहजता और कृत्रिमता को लिये हुए। एक की भाषा और शैली दूसरे प्रकार की भाषा-शैली से पृथक् होती है। यहाँ जिन बारह पत्रों का सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है उनके लेखक हैं प्रतिभा के बहुत धनी आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी। सभी धर्मों के आचार्य और विद्वान् उनकी लेखन प्रतिभा से परिज्ञप्त हैं। ऐसे महानुभाव के हस्तलिखित पत्रों के आलोक में उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं का आकलन कम जोखिम का काम नहीं।

इनमें एक पत्र श्रीश्रवणकुमार खेमका को दिनांक १४-७-१९५२ को लिखा गया है। पाँच पत्र सन्तोष देवी को लिखे गये हैं। इन पत्रों में सबसे ऊपर 'श्रीजी' विराज रही हैं। तत्पश्चात् श्रीवृन्दावन, तिथि। सम्बोधन हेतु सब पत्रों में सन्तोषदेवी/सन्तोषबाई के पूर्व अखंड सौभाग्यवती' लिखा मिलता है और बाद में 'स्नेहाशीर्वाद मालुम हो' अंकित हुआ है। पत्रान्त में 'हितचिन्तक श्रीललिताचरण गोस्वामी' लिखा गया है। जहाँ तक पत्रों की विषय वस्तु का प्रश्न है ये लेखक की आत्मीयता के द्योतक और श्रीजी की कृपा और उनके नाम-भजन में लगे रहने की प्रेरणा देने के व्यंजक हैं।

एक पत्र 'परम प्रिय गोविन्द बाबू' को 'सस्नेह' है। पत्र तीन पृष्ठ का है। गोविन्द बाबू ने अपने पूर्व पत्र में हितधर्म विषयक कुछ जिज्ञासाएँ की हैं, जिनका समाधान चार बिन्दु डालकर पृथक्-पृथक् लेखक द्वारा किया गया है। इसमें आचार्य-लेखनी से बड़ी महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ प्रस्तुत हुई हैं।

तीन पत्र 'परम प्रिय ज्ञानचन्दजी को स्नेहाशीर्वाद मालुम हो' के सम्बोधन से लिखे गये हैं और दो 'परम प्रिय प्रियाशरण को स्नेहाशीर्वाद' सहित सम्बोधित हैं। ज्ञानचन्दजी को लिखे पहले पत्र के नीचे स्वहस्ताक्षरों के बाद लेखक ने स्वरचित दो

गजल लिखी हैं। ज्ञानचन्दजी को लेखक का सुझाव है कि भौतिक कष्टों के निवारणार्थ उन्हें नाम स्मरण वाणी पाठ और श्रीराधावल्लभ लाल की चित्र-पूजा प्रीतिपूर्वक करनी चाहिए तथा अनेकधा उन्हें सान्त्वना दी हैं। प्रियाशरण खेमरिया को लेखक ने व्यक्तिगत राय दी है कि 'युक्ति युक्तता की दृष्टि से शास्त्र मर्यादा उन्हीं भगवत् विग्रहों पर लागू होनी चाहिए' जिनकी पूजा अर्चना आगमतांत्रिक पद्धति से होती है।

पत्रों में लेखक की तत्परता, सोद्देश्यता, मनसा-वाचा-कर्मणा परदुख कातरता, तत्सुख-सुखी भाव और सुधर्म तथा स्वधर्म के प्रति समर्पण भावना व्यंजित होती है। धर्माध्यक्ष होते हुए भी स्वलिखित पत्राचार उनकी कार्यशैली की विशेषता का द्योतन तो करता ही है, परिश्रम, क्षमता और लेखन-पटुता का भी सुपरिचायक है। पत्राचार द्वारा धर्मगत सिद्धान्तों की सद्य व्याख्या करना कष्टसाध्य है, स्वकर्तव्य पालन के मार्ग में लेखक को यह कष्ट व्यापता नहीं। उदारता, सदाशयता, विनयशीलता तथा मनोवैज्ञानिकता पत्रों की भाषा से छनकर लेखक की विशाल हृदयता का शंखनाद कर रही हैं। पात्रानुसार लेखक की लेखनी भी इसका प्रमाण प्रस्तुत करती है। लेखक का हस्तलेख उनकी आत्मीयता को तो रेखांकित करता ही है, संयम, सत्यनिष्ठा और कर्तव्यनिष्ठाको परिपुष्ट करनेके लिये पर्याप्त है। सहजता वाक्य-वाक्य में झलकती है। कृत्रिमता शब्दाडंबर को वहाँ कोई स्थान नहीं दीखता। जिसके अनुयायियों की संख्या अपार हो और जिसका समय वर्ष भर धर्मानुसरण के नैत्यिक कार्यों-उत्सवों में अतिव्यस्त रहता हो, उसके धैर्य और विवेक की आशंसा होनी ही चाहिए कि निजी पत्रों को लिख भेजने को अवकाश वह कैसे निकालता रहा होगा। उनके लिखे ऐसे पत्रों की संख्या सहस्त्रोपरि हो सकती है। इस ग्रन्थ में उनके कुछ पत्रों के सारांश प्रकाशित किये जा रहे हैं।

२५ कृष्णापुरी, मथुरा

पत्र–सारांश

श्रीश्रवणकुमार जी को दिनांक १४-७-१९५२ को लिखा गया पत्र—

परमप्रिय चि० श्रवणकुमार स्नेहाशीर्वाद !

……मेरी समझ में आता है कि तुम किसी प्रकार की विफलता का अनुभव करके उद्विग्न हो रहे हो किन्तु संसार में सभी बातें मन के अनुकूल घटित नहीं होतीं और यहाँ सुखी वही लोग रहते हैं जो संसार की घटनाओं के प्रति अधिक मोह न रखकर अपने मार्ग पर डटे रहते हैं।……

इसके अतिरिक्त तुममें और साधारण जीवों में एक बड़ा भारी भेद यह है कि तुम करुणावरुणालय श्रीजी म० की शरण हो। अनेक बार वे अपने शरणागतों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उनके मोह का भंजन करते रहते हैं और कौन जान सकता है कि इस समय की तुम्हारी अशान्ति में तुम्हारे नव-निर्माण का बीज पनप रहा है।

तुम शान्ति पूर्वक भजन में अपने मन को स्थिर करो, चलते-फिरते 'श्रीराधावल्लभ श्रीहरिवंश' नाम का जाप करो, गीता, भागवत आदि ग्रन्थों का पाठ करो और इस संसार की व्यर्थता पर अधिक ध्यान न देकर शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए उत्साह पूर्वक कार्य करते रहो। मुझे विश्वास है कि परम कृपालु श्रीजी म० तुम्हारी सर्वत्र सहायता करेंगे।

सौभाग्यवती सन्तोषदेवी को दिनांक १६-१-१९५८ को लिखा गया पत्र--

……श्रीराधावल्लभ लाल के चरणों में तुम्हारे बढ़ते हुए अनुराग को देखकर मुझे बड़ा हर्ष होता है। यह प्रेम का मार्ग है और इसमें जैसे-जैसे प्रवेश होता है, वैसे-वैसे ही विकलता और बेचैनी बढ़ती है। अतः इस मार्ग में बड़े धीरज की आवश्यकता होती है और कठिनाई यह है कि धीरज कैसे भी बँधता नहीं है। मैं स्वयं इस आफत में फँसा हुआ हूँ अतः तुम सबको क्या धीरज बँधाऊँ ! नाम का अधिक से आश्रय रखना यही धीरज बँधायेगा और यही आग लगावेगा।……

सौ० सन्तोषदेवी को दिनांक २६-३-१९५८ को लिखा गया पत्र--

……श्रीजी की करुणा का ही आधार है और यह निर्विवाद है कि—वे करुणा के अथाह सागर हैं। तुम वहाँ इसी करुणा का आधार पकड़कर अपनी नैया को

उनके चरण-कम लोंकी ओर खेती चलो। मेरी पुस्तक "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" में से उपासना मार्ग वाले अंश को अच्छी तरह से ध्यान में करलो और अपना रहन-सहन तथा भजन इसी के अनुसार बनालो। वे अपने भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष हैं।........

सौ० सन्तोषदेवी बंका को दिनांक ३१-५-१९५८ को लिखा गया पत्र--

........श्रीजी की इच्छा ही काम आती है। उनकी इच्छा जिस दिन हो जायेगी, उस दिन सारी अनुकूलतायें प्राप्त हो जायेंगी। अभी तो तुम नाम और वाणी को दृढ़ता से पकड़े रहो और गृहस्थ के कार्यों से जितना समय बचे वह सब भजन में ही लगाती रहो। श्रीराधावल्लभ लाल मृदुता, दयालुता, कृपालुता की राशि हैं और उनको कृपा करते देर नहीं लगती।........

सौ० सन्तोषदेवी बंका को दिनांक १६-६-१९५८ को लिखा गया पत्र--

........उनको अपने यहाँ के भजन की रीति-भाँति समझाती रहना तथा उनके साथ बैठकर श्रीमद्व्यासनन्दन के गुण गाती रहना। इस रस में प्रवेश करने के लिए उनके चरणों के अतिरिक्त अन्य कोई अवलम्ब नहीं है।........

सौ० सन्तोषदेवी बंका को दिनांक २६-११-१९५९ को लिखा गया पत्र-

........मुझे विश्वास है कि उन (श्रीजी) का प्रत्येक कार्य अपने चरणाश्रितों के कल्याण के लिए ही होता है और इसमें तुम्हारा परम मंगल ही होगा। तुम वहाँ बेचैन हो और जो यहाँ रह रहे हैं, वे (श्रीश्यामा-श्याम) तुमसे अधिक बेचैन हैं। जहाँ स्वयं श्रीश्याम-श्यामा बेचैन हैं, वहाँ उनके भजने वालों की स्थिति दूसरी कैसे हो सकती है ? इस बेचैनी में ही जिनको चैन मिलता है, वे परम भाग्यशाली हैं। अतः धैर्यपूर्वक इसको सहन करो और यह बेचैनी बढ़ती ही चली जाय ऐसी श्रीजी से प्रार्थना करो। भोलानाथ जी ने अपने एक पद में श्रीजी से इतना ही माँगा है—

"जियरा टूक-टूक ह्वै जावै इतनौ जाँचत भोरी"

तुम सब लोग नियम पूर्वक भजन और पाठ करती रहना श्रीजी महाराज के चरणकमलों की आशा के अतिरिक्त अन्य किसी आशा में अपने मन को न उलझाना।

प्रो० गोविन्द शर्मा को दिनांक १४-६-१९६२ को लिखा गया पत्र—

........'नित्य विहार' शब्द का प्रयोग सेवक वाणी प्रकरण ४ के प्रथम छन्द में मिलता है, 'श्रीहरिवंश नाम उच्चार, नित्य विहार रस कह्यौ अपार'। श्रीहरिराम व्यास ने भी अपनी रास पंचाध्यायी के अन्त में उक्त शब्द का प्रयोग किया है "हरिवंशी हरिदासी जहाँ हरि करुणा करि राखौ तहाँ, नित्य विहार अधार है।"

अभिनव गुप्त के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे जितने बड़े आलंकारिक थे उससे

भी बड़े दार्शनिक थे। भावों का विवेचन उन्होंने एवं उनके बाद के भट्ट लोल्लट, कुन्तक आदि आलंकारिकों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से किया है। इसीलिए अभिनव गुप्त भोक्ता को एक्टिव (Active) और भोग्य को पैसिव (Passive) मानते हैं। वास्तव में यह स्थिति सांख्य के पुरुष और प्रकृति की है। शृंगारमय प्रेम में 'अबला' ही 'बलराशि' होती है। हित चतुरासी के एक पद में यही बात कही गई है—

'देखो माई अबला कै बल रासि।
अति गजमत्त निरंकुस मोहन निरखि बँधे लट पासि॥'

जहाँ भोक्ता सर्वथा भोग्य के अधीन हो, वहाँ उसकी प्रधानता कैसे स्वीकार की जा सकती है? परतन्त्र की प्रधानता क्या एक विरोधाभास नहीं है? मेरी राय में भावों की अपनी निराली दुनिया होती है, जिसको भावों के सहज मार्ग का अवलम्ब लेकर ही ठीक से समझा जा सकता है।

तंत्र-साहित्य और भक्ति-साहित्य में हंस-हंसिनी आदि की समानता को मैं केवल प्रतीकों की समानता मानता हूँ। तंत्र-साहित्य 'ज्ञान' पर आधारित है, भक्ति-साहित्य भाव पर। तंत्र-साहित्य में दिव्य, वीर और पशुभाव प्रसिद्ध हैं किन्तु हमारे भाव-संस्थान में इनका कोई पता नहीं लगता। तंत्र में 'भाव' भी ज्ञान-मार्ग का ही एक अंग है। इसी प्रकार शक्ति-शक्तिमान् की योजना को भी मैं भाव की दृष्टि से विजातीय मानता हूँ। इस सम्बन्ध में मैंने कुछ विस्तार से अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है। प्रेमी और प्रेम-पात्र के बीच में प्रेम सम्बन्ध से अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मानने से प्रेमभाव संकुचित हो जाता है और अनेक ऐसी उलझनें पैदा हो जाती हैं, जिनको सुलझाने में भाव की स्वाभाविक परिपाटी हाथ से छूट जाती है। रही दोनों साहित्यों में प्रतीकों की समानता की बात सो यह मानव अभिव्यक्ति की मर्यादाओं को लेकर है। दोनों साहित्यों में यह प्रतीक जिस 'वस्तु' का प्रतिनिधित्व करते हैं, वह एक दूसरे से भिन्न है। तंत्र में 'हंस-हंसिनी' सतोगुण के प्रतीक हैं, हित चतुरासी में उज्ज्वल रस के।........

श्रीज्ञानचन्द को दिनांक १८-१२-१९७२ को लिखा गया पत्र—

............प्राचीन महात्माओं के पद ध्यान पूर्वक देखते रहें। इससे शब्द सम्पत्ति बढ़ेगी तथा विभिन्न छन्दों का वजन भी ध्यान में आ जायेगा। "प्रेम की पीर" आपने ले ली होगी, उसको बराबर देखते रहें। इसके साथ श्रीध्रुवदासजी की 'बयालीस लीला' भी लें। श्रीहरिवंशचन्द्र के भजन को समझने के लिए इस ग्रंथ का मनन नितांत आवश्यक है। इस भजन को आज तक जो कोई भी समझा है वह 'बयालीस लीला' की कृपा से ही समझा है। बयालीस लीला में जब मन का प्रवेश हो जाता है, तभी वह चौरासी के पदों को समझ पाता है। वाणी-पाठ के साथ-साथ नाम-जप अधिक से अधिक करते रहें जिससे वाणी में रुचि बढ़ती रहे।............

श्रीज्ञानचन्द को दिनांक ६-१०-१९७३ को लिखा गया पत्र--

............मनुष्य के जीवन में समय के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, यहाँ तक कि स्वयं श्रीराम एवं श्रीकृष्ण भी जब यहाँ पधारे थे तो उनको भी यह सब सहन करना पड़ा था। समय की विचित्र गति को तो नहीं रोका जा सकता किन्तु भजन के द्वारा इसके प्रभाव को अपने चित्त पर कम किया जा सकता है अथवा सर्वथा नष्ट किया जा सकता है। मनुष्य के जीवन में भजन का यह सबसे बड़ा उपयोग है। अतः परिस्थिति में धैर्य पूर्वक भजन को बढ़ाते चलना चाहिये।

आपके मन में श्रीप्रिया के चरणों में स्वाभाविक-प्रेम है। नाम स्मरण, वाणी पाठ, श्रीराधावल्लभलाल के चित्र की प्रीति-पूर्वक सेवा यह तीनों मिलकर प्रेम की वृद्धि करते हैं। इनमें से नाम-स्मरण का तो अधिक से अधिक आश्रय रखना चाहिये।........

श्रीज्ञानचन्द को दिनांक २८-११-१९७४ को लिखा गया पत्र--

............अगली बार जब आपको पद रचना के लिए उत्साह हो तो श्रीप्रिया के चरण-कमलों के सम्बन्ध में रचना कीजिये।

अपना मुख्य आदि और अन्तिम-संबंध इन गोरे चरण कमलों के साथ ही है। अपना ही नहीं श्रीश्यामघन के सर्वस्व भी यही चरण-कमल हैं।

यदि आप भजन में अधिक समय नहीं लगा पाते हैं, तो इसकी चिन्ता नहीं है। चलते-फिरते तथा आफिस में काम करते समय नाम उच्चारण होता रहना चाहिये तथा चरण-कमलों में ध्यान रहना चाहिये। आपको ध्यान करने पर श्रीप्रिय लाल की छवि झलक आती है, यह कल्पना नहीं है। इसको आप परम भाग्य मानकर निश्चित और प्रसन्न रहें। श्रीवृन्दावनरानी तो भक्त की सच्ची प्रीति पर रीझती हैं।

श्रीप्रियाशरण खिरूरिया को दिनांक ७-७-१९७८ को लिखा गया पत्र-

.... श्रीगोपालजी के मन्दिर के विग्रह के साथ दुर्घटना होने के समाचार के सम्बन्ध में मेरी व्यक्तिगत राय तो श्रीगोपालजी के पुराने सेवक तथा उनको लाड़ चाव करने वाले मन्दिर वालों के साथ ही है। मेरी राय में इसमें शास्त्र मर्यादा का ध्यान न रखकर प्रेमाभक्ति का ध्यान रखना अधिक उचित है। आगरा में ऐसा प्लास्टर मिलता है। उसको मँगाकर उसका उपयोग औषधि की भाँति करके उससे श्रीगोपालजी का हाथ ठीक कर देना चाहिये। मैं भी इस प्लास्टर का एक बार उपयोग कर चुका हूँ। यह श्रीगोपालजी के हस्त-कमल की स्थायी चिकित्सा कर देगा।........

श्रीप्रियाशरण खिमरिया को दिनांक ८-७-१९७८ को लिखा गया पत्र–

....." युक्ति-युक्तता की दृष्टि से. शास्त्र-मर्यादा उन्हीं भगवद् विग्रहों पर लागू होनी चाहिये जिनकी पूजा अर्चना आगम-तांत्रिक पद्धति से होती है और होती रही है। किन्तु जिन भगवद्द् स्वरूपों की सेवा आरम्भ से ही प्रेम-पद्धति से होती चली आई है, उनके ऊपर कोई संकट आ जाने पर शास्त्रीय मर्यादा को पकड़ना युक्ति-संगत नहीं लगता। ऐसे स्वरूपों में जो शक्ति होती है, वह प्रेमजनित होती है, शास्त्र-जनित नहीं। इस युक्ति पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है।

श्रीमती सुधारानी शर्मा [लालीजी] को लिखा एक प्रेरक पत्र–

श्रीजी श्रीवृन्दावन

दिनांक १५-७-६१

परम प्रिय सुधा को स्नेहाशीर्वाद मालूम हो !

तुम वहाँ खुश हो यह जानकर प्रसन्नता हुई। तुमने लिखा है कि श्रीव्यास-नन्दन का स्वरूप मुझे समझाकर लिखें। मैं संक्षेप में लिख रहा हूँ। 'श्रीसेवकवाणी में हित प्रभु के स्वरूप का सम्पूर्ण दर्शन कराया गया है। एक जगह लिखा है—'श्याम-श्यामा प्रगट-प्रगट अक्षर निकट प्रगट रस श्रवत अति मधुर वानी।' श्रीहित प्रभु की वाणी के अक्षर-अक्षर के पास श्याम-श्यामा प्रगट हैं। इससे यह व्यक्त हुआ कि हित प्रभु कितने महान् हैं कि जिनकी वाणी प्राणी प्रत्येक अक्षर के पास श्रीश्याम-श्यामा प्रगट रहते हैं।

श्रीहित प्रभु के दूसरे पुत्र श्रीकृष्णचन्द्रजी लिखते हैं—"जिनमें थोड़ी सी श्रद्धा हो जाने पर सुन्दर हृदय हो जाता है और तत्त्व को सरलता से जाना जाता है, उस उस हरि की मैं वन्दना करता हूँ, जो तारा उदर-सिंधु के रत्न हैं।—'यच्छ्रद्धा लव ललितं हृदयं, जानाति तत्त्व भक्तिष्टम्। तस्य हरेः पद कमलं वंदे तारोदराब्धिरत्नस्य।''

श्रीव्यासजी ने श्रीहित प्रभु के विरह में दो पद कहे हैं—पैनी छबि कोउ कवि ना बखानें और दूसरा पद—हुतौ रस रसिकन कौ आधार। ये दोनों पद मेरी पुस्तक में पढ़ लेना।

एक जगह श्रीसहचरि सुख ने श्रीहित बधाई में लिखा है—'इष्ट अष्ट अलि श्रुतिन ते मथ सार दिखायौ।' श्यामा-श्याम तथा आठों सखी, जो वेद ऋचा हैं, उनको मथ करके सार रूप श्रीव्यासनन्दन हुये। एक तो श्यामा-श्याम फिर सखियाँ, जिन सखियों के पद-नख की बराबरी में महालक्ष्मी भी नहीं होती, उन सबका सार श्रीव्यासनन्दन हैं। तो कितने महान् हुये ? यह समझ लो। सेवकवाणी का नित्य पाठ करते रहना। यहाँ श्रीजी की कृपा है। मेरा स्वास्थ्य ठीक चल रहा है। अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना। कुशलता लिखना।

श्रीश्रवणकुमार जी खेमका को समय-समय पर लिखे गये पत्र—

दिनांक ११-७-५३

परम प्रिय चि० श्रवणकुमार जी को स्नेहाशीर्वाद !

.... तुम आनन्द से होओगे। नियम पूर्वक भजन करते रहना।

दिनांक १६-१२-५४

पत्र मिला, प्रसन्नता हुई। आजकल भजन में मन नहीं लग रहा है, यह जाना किन्तु मुझे श्रीवाणियों का पाठ चालू कर रखा है यही मन को भजन में नियुक्त कर देगा।

सेवक शरण सदा रहै, अनत नहीं विश्राम।
वाणी श्रीहरिवंश की, कै हरिवंशहि नाम॥

यदि तुम्हारा मन चतुरासी जी के पदों की ओर आकृष्ट होता है तो पाठ करना प्रारम्भ कर दो किन्तु सेवकवाणी को नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि चतुरासीजी के पदों का वास्तविक रूप सेवकवाणी के पाठ द्वारा ही उपलब्ध होता है।

श्रीसेवकवाणी के तेरहवें और चौदहनें प्रकरणों में तेरहवाँ तो बड़े काम का है। चौहदवें में भी कई काम की बातें हैं अतः इनको पाठ में से नहीं निकालना चाहिये। .... ब्याहुले के मनसूबों में मगन रहना, बड़ा सुन्दर भजन है।

दिनांक २३-६-५५

तुमने जैसी अपने चित्त की स्थिति लिखी है वैसी लगभग प्रत्येक उपासक की भाग्य-दोष से बनती रहती है। श्रीध्रुवदासजी ने लिखा है कि कभी तो खूब भजन बनता है और कभी एकदम कम हो जाता है। कम होने की हालत में उपासक को यह सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं उसका मन भजन-विरोधी-कार्यों में फँस न जाय। ऐसे समय में उसको धैर्य रखकर सुदिन आने की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

कबहूँ तौ थोरौ भजन, कबहूँ होत विशाल।
मन कौ धीरज छुटै नहीं, गहै न दूजी चाल॥

यह विपत्ति तो सभी उपासकों पर आती रहती है, इस बात को समझकर मनमें धैर्य रखना चाहिये। ...... ऐसी स्थिति में एकान्त का सेवन एवं वाणियों का पाठ बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। यह विश्वास रखो कि तुमने जिन चरण-कमलों में अपने प्राणों को अर्पित किया है वे करुणा के अपार समुद्र हैं और उनसे अपने दासों का कष्ट अधिक समय तक नहीं देखा जाता।

दिनांक १-१२-५६

एकान्त सेवन करते रहना। तुम्हारे जैसे कार्य व्यस्त जीवन में अमुक संख्या पूरी करने का नियम लेकर भजन करने से अधिक लाभ होगा। इसी प्रकार पाठ का नियम लेना चाहिये और फिर दोनों का पालन कड़ाई पूर्वक करना चाहिए। जो लोग

संसार से निवृत्ति लेकर श्रीवृन्दावनवास करते हैं और जिनका सम्पूर्ण समय या अधिकांश समय भजन में व्यतीत होता है, उनको नियम लेकर भजन करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रवृत्ति में रहकर जो लोग नियमपूर्वक भजन नहीं करते उनके हाथ से भजन की डोर छूट जाती है और भजन के बिना प्रेम का उदय नहीं होता क्योंकि श्रीध्रुवदासजी ने बतलाया है कि 'भजन नसैनी प्रेमकी'।

दिनांक १३-१०-५७

तुम्हारा पत्र यथासमय मिल गया था। पत्र में जो तुमने अपनी चित्त की स्थिति का सुन्दर वर्णन किया है वह मेरी खूब परिचित है। भावना प्रधान चित्तों का यह सामान्य लक्षण है—यही उनका अभिप्राय है, यही वरदान है। चित्त की यही स्थिति विभिन्न स्वभावों और संयोगों के अनुसार साहित्य, संगीत, कला और भावना प्रधान धर्मों की जननी बनती है। पूर्व संस्कारों का परिणाम होने के कारण इससे बचने का कोई उपाय भी नहीं है और न कोई आवश्यकता ही है। यह स्थिति जब हुआ करे तो पद रचना में मन लगाया करो। धीरे-धीरे भजन बढ़ाते चलो और चतुरासीजी तथा बयालिस लीला का अनुशीलन अधिक करते चलो तो एक दिन तुम्हारा चित महासुख की सृष्टि कर लेगा।

दिनांक १२-६-५८

भजन की ओर मन को प्रेरित करते रहना। बड़े महात्माओं को भी यह कार्य करना पड़ा है। श्रीनागरीदासजी का एक पद है—

व्यास सुवन……… निधने कौ धन।

क्रम-क्रम कष्ट-कष्ट करि पायौ, जतन-जतन कै लगायो जब मन॥

दिनांक ११-१०-६०

श्रीजी के चारों ओर माया का सुदृढ़ आवरण पड़ा हुआ है जो श्रीजी के चरण-कमल दृढ़ता से पकड़ लेते हैं वही इस माया से तरते हैं। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'

—श्रीमद्भागवद्गीता, अध्याय ७, श्लोक सं० १४

दिनांक १०-१२-६०

……… धैर्य से पीछे लगे रहने से सब बिगड़े काम ठीक हो जाते हैं। अतः जो घबड़ाने पर भी हिम्मत नहीं टूटती।

दिनांक ३०-१-६१

'उभय गुण मात' का अर्थ है एक दूसरे के गुण से पराजित। श्रीजी महाराज यह कह रहे हैं कि मेरे नेत्रों और मन में जो जोरी बहस रही है वह रूप और गुण में समान है। यह दोनों अपने रूप और गुण से एक दूसरे को मात (पराजित) किये हुए है अर्थात् इनके रूप और गुण समान बलशाली हैं।

दिनांक १८-९-६५

...... जीवन में इस प्रकार की घटनायें ही श्रीजी के चरणों में विश्वाश की कसौटी होती है और मुझे विश्वास है कि श्रीराधावल्लभलाल के सुकुमार चरण-कमलों में तुम्हारी सहज निष्ठा ही तुमको इस अवसर पर सहायक होगी। सब कुछ करते हुए मन को अलग रखो और मस्त बने रहो।

दिनांक ४-१०-६५

........भक्तों के लिए भावुकता वरदान स्वरूप होती हैं किन्तु लौकिक व्यवहार में यह दुःख का मूल बन जाती है। अतः व्यवहार के क्षेत्र में मन को अधिक सम्वेदनशील नहीं होने देना चाहिये। तुमको कष्ट पाता देखकर मेरा मन व्याकुल बन जाता है अतः श्रीजी के चरण-कमलों का भरोसा रखे रहो और इस दृश्यमान तमाशे में दुःख का अनुभव न करो।

दिनांक १०-११-६५

........मैं हानि-लाभ से नहीं घबराता क्योंकि आरम्भ में तो यह सब होता ही है, किन्तु तुम्हें दुःखी देखकर मैं दुःखी हो जाता हूँ। इस समय तुम्हारी सहज भावुकता ही तुम्हारे कष्ट का कारण बन रही है। तुम अब स्वतन्त्र हुए हो और स्वतन्त्रता के साथ एक नई दुनिया तुम्हारे सामने आई है। जिससे तुम अभी परिचित नहीं हो। थोड़ा हृदय को कड़ा बनकर रहो, श्रीजी की कृपा तो यथावत् है ही।

...... जो कुछ करो पूर्ण धैर्य और श्रद्धापूर्वक करो और अधिक से अधिक मगन रहो।

दिनांक १२-१-६६

........जहाँ तक बन सके इनको पीड़ा पहुँचाये बिना अपना काम निकाल लो। वाणी पर संयम कर लो तो व्यर्थ के अनेक झगड़ों से बच जाओ। ....अपने काम का विस्तार अपने शारीरिक एवं आर्थिक साधनों को देखकर करो।

हित चिन्तक

श्री ललिता चरण गोस्वामी

आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी के प्रवचन का एक अंश—

श्रीसेवक जी कहते हैं—

सहज केलि नित-नित नवल सहज रंग सुख-चैन ।

सहज केलि—श्रीप्रिया की केलि सहज और नित्य नवीन है एवं उनके प्रेम रंग-पूर्ण सुख-चैन सहज हैं। इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम यह जानना आवश्यक है कि सहज केलि कहते किसे हैं और श्रीश्यामाश्याम की निकुंज केलि के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की अन्य क्रीड़ायें सहज क्यों नहीं हैं?

शुद्ध प्रेम की सहज प्रकृति के अनुकूल होने वाली केलि ही सहज केलि है। श्रीप्रिया की प्रेम क्रीड़ा इसलिये सहज केलि है कि उसमें प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की मिलावट नहीं है। श्रीसेवकजी के शब्दों में—

अब यामें मिलौनी मिलै न कछू जब खेलत रास सदा वन में ।

अर्थात् नित्य निरन्तर एक रस विशुद्ध प्रेम की जो क्रीड़ा श्रीवृन्दावन में हो रही है, उसमें किसी मिलावट का अवकाश ही नहीं है।

पुराणों में श्रीकृष्ण की जिन लीलाओं का वर्णन है, वे सहज केलि इसलिये नहीं कही जा सकतीं कि उनका विकास प्रेम की प्रकृति के अनुकूल नहीं हुआ है। उनमें भगवत्ता और देश-काल का बन्धन प्रेम के शुद्ध विकास में आड़े आ जाते हैं। उदाहरण के लिए यह लीला ले लीजिये। वात्सल्य प्रेम से अभिभूत माँ यशोदा पुत्र के सुख के लिये उससे पूछ रही है कि तूने मिट्टी तो नहीं खाई? मुँह खोलकर दिखा। उस समय यशोदानन्दन ने अपना मुँह खोलकर अपनी भगवत्ता अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड अपने मुख में दिखला दिया। माँ का प्रेम गायब हो गया और उनके स्थान में आश्चर्य एवं भय प्रकट हो गये। यह प्रेम की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसी प्रकार गोपियाँ रास में प्रेम में बेसुध होकर आयीं और त्रिभुवन मोहन के दर्शन करके प्रेम-प्रवाह में डूबने-उतारने लगी थीं कि भगवत्ता उभर आई और श्यामसुन्दर अन्तर्धान हो गये, बेचारी गोपियाँ रोने-बिलखने लगीं। रस में विरस हो गया—

रस में विरस जु अन्तर्धान (व्यासजी)

यह भी प्रेम की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः यह लीलायें प्रेम के सम्पूर्ण अनुशासन में नहीं होती हैं, इनमें मिलावट है अतः इन्हें प्रेम केलि तो कह सकते हैं, परन्तु प्रेम की सहज केलि नहीं कहा जा सकता है।

श्रीहरिवंश महाप्रभु ने जो प्रेम की केलि गाई है वह भगवत्ता व देश-काल के बन्धन से रहित विशुद्ध प्रेम के अनुसार है। इस सहज केलि की एक विलक्षता यह है कि इसके वर्णन लम्बे नहीं चलते हैं। हित-चौरासी के सहज केलि के पदों में दो-चार पद ही लम्बे कहे जा सकते सकते हैं और वे भी अपेक्षाकृत ही—अन्य सब छोटे हैं। उदाहरणार्थ एक पद देखिये—

आजु देख ब्रज सुन्दरी मोहन बनी केलि

आज देखो ! ब्रज सुन्दरी श्रीराधा और मदनमोहन की प्रेम केलि कैसी सुन्दर फब गई है। क्या केलि हो रही है, यह बता रहे हैं—

अंस-अंस बाहु दै किशोर जोर रूप राशि,
मानो तमाल अरुझि रही सरस कनक बेलि ।

रूप राशि किशोर-किशोरी परस्पर कंधों पर भुजायें रखे हुये ऐसे लग रहे हैं मानो तमाल के साथ सरस कनक-बेलि उलझी हुई हो ! आगे कहते हैं –

नव निकुञ्ज भ्रमर गुंज मंजु घोष प्रेम पुंज,
गान करन मोर पिकन अपने सुर सों मेलि ।

नव निकुञ्ज में भ्रमरों की गुञ्जार से प्रेम का पुञ्ज मंजुल स्वर उत्पन्न हो रहा है और श्रीश्यामसुन्मर मोर और कोयलों के स्वरों के साथ स्वर मिलाकर गान कर रहे हैं—

मदन मुदित अङ्ग-अङ्ग, बीच-बीच सुरत रंग,
पल-पल हरिवंश पिवत, नैन चषक मेलि ।
(हि० चौ०—१७)

उन दोनों के अंगों में मदन फूल रहा है और गान के बीच-बीच में सुरत रंग में प्रवृत्त हो रहे हैं। श्रीहितजी महाराज कहते हैं कि उनके इस प्रेम-विहार में जो अद्भुत रस उत्पन्न हो रहा है, उसको मैं अपने नेत्रों के पात्र से पान कर रहा हूँ ।

रसिकों को छोड़कर कोई भी इस लीला को पढ़कर या सुनकर यही कहेगा कि इसमें लीला हुई ही क्या ? परन्तु रसिकों के लिये पूर्ण लीला हो गई और उन्होंने पूर्ण सुख पा लिया। अतः चौरासीजी के सहज केलि के पदों में मन का प्रवेश बड़ा ही कठिन है। इस प्रकार की सहज केलियों में वही सुख ले सकता है जिसके हृदय में सहज रूप, सहज प्रेम और सहजानन्द स्पर्श कर रहा हो ।

सहज केलि का एक और उदाहरण देखिये—

लड़ैती जू के नैननि नींद घुरी ।
आलस वश यौवन वश मधुवश, पिय के अंश ढुरी ।।
पिय कर परस्यौ सहज चिबुक वर, बाँकी भौंह मुरी ।
बावरी सखी हित व्यास सुवन बल, देखत लतन दुरी ।।

'श्रीप्रिया के नेत्रों में नींद भर गई है और वे आलस्य के भार से, यौवन के भार से और प्रेम-मधुपान के भार से प्रियतम के कन्धे पर झुक गई हैं। प्रियतम ने सहज प्रेम वश होकर प्रिया के चिबुक का स्पर्श कर दिया तो प्रिया की बाँकी भौंह भङ्ग हो गई।' बस, श्रीप्रिया की उस समय की अद्भुत छवि छटा की ओर संकेत करने के बाद पद पूरा हो गया और केलि समाप्त हो गई ।

यह विशुद्ध प्रेम की सहज केलि के उदाहरण हैं। इस प्रकार की केलि का विस्तार नहीं हो सकता है। अवतार काल की व्रज लीलाओं में विस्तार इसलिये सम्भव हो सका है कि वहाँ लीला में कुछ प्रेम है, कुछ भगवत्ता है और कुछ देशकाल है ।

श्रीहित भक्तगाथा : संक्षिप्त परिचय

—प्रो० गोविन्द शर्मा

आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी की बहुआयामी प्रतिभा ने साहित्य की प्रायः समस्त विधाओं का सर्जन किया था, इनमें चरित्र लेखन भी एक है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य" के साहित्य खण्ड में श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य का परिचयात्मक इतिहास प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अनेक कवियों और लेखकों के जीवन चरित्र तथा साहित्यिक योगदान का उल्लेख किया था। अभी कुछ वर्षों पूर्व श्रीकृष्ण जन्म स्थान, मथुरा से प्रकाशित 'श्रीराधा-कृष्ण भक्तकोश' के मनीषी सम्पादक डॉ० भगवती प्रसाद सिंह के आग्रह पर आचार्य श्री ने उक्त कोश के लिए राधावल्लभ सम्प्रदाय के कुछ भक्तों के जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में लिखा था। यह सम्पूर्ण सामग्री "श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश" के चतुर्थ एवं पञ्चम खण्डों में प्रकाशित की गई। इन दोनों खण्डों में ९१ भक्तों के जीवन और साहित्य का संक्षिप्त परिचय तथा विवेचन आचार्य श्री द्वारा किया गया है। श्रीराधामोहनदास गुप्त ने इन्हें संकलित करके प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ बनाकर एक सराहनीय सेवा की है, अन्यथा यह समस्त सामग्री इतस्ततः बिखरी रहती। इसी को यहाँ "श्रीहित भक्तगाथा" शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया जा रहा है।

भक्ति के क्षेत्र में भक्त का बड़ा महत्त्व है। सच कहा जाय तो भगवान् को भगवान् बनाने वाला उनका भक्त ही है। भक्त न हो तो उनके ऐश्वर्य और माधुर्य का अनुभव तथा आस्वादन एवं महिमा का प्रकाशन कौन करेगा? भगवान् भी अपनी समस्त लीलाओं का विस्तार भक्तों को सुख देने के लिए करते हैं। अकेले में उनकी लीलाओं का आनन्द कौन लेगा भला। इसीलिए भक्त और भगवान्, उपासक एवं उपास्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। भक्तमालकार श्रीनाभाजी ने कहा भी है—

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुरनाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये नासैं विघ्न अनेक॥

भगवान् भी भक्तों को अपना हृदयहार बनाये रहते हैं। "न मे भक्तः प्रणश्यति" हम भक्तन के भक्त हमारे। सुन अर्जुन प्रतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे" आदि अनेक भगवद् वाक्य इसकी पुष्टि करते हैं। कहा तो यह भी जाता है—

मोरे मन प्रभु अस विश्वासा।
रामते अधिक राम कर दासा॥

भगवान् ने भी इसका समर्थन किया है—"मोते सन्त अधिक करि लेखा।"
भक्त-चरित्रों का लेखन कब से प्रारम्भ हुआ यह कहना बड़ा कठिन है। इनके

आरम्भ का मूल वेदों में खोजा जा सकता है, यद्यपि वह है सूत्र रूप में ही-समस्त पुराण-साहित्य में तो अनेक भक्तों के चरित्र प्रभूत परिमाण में प्राप्त होते हैं। सृष्टि-कर्ता ब्रह्माजी और संहारकर्ता भगवान् शिव भी परम वैष्णव हैं और भगवद्भक्तों में अग्रगण्य। यहाँ तक कि खग-मृगों के चरित्र भी भगवान् के भक्तों के रूप में अंकित किये गये हैं।

भक्ति आन्दोलन के आरम्भ के साथ ही भक्तों की महिमा बढ़ती चली गई। श्रीनाभादासजी ने "भक्तमाल" की रचना करके अनेक भक्तों की निष्ठागत तथा चरित्रगत विशेषताएँ सूत्र शैली में प्रस्तुत कीं। यह ग्रन्थ अपनी श्रद्धाभावना तथा साम्प्रदायिक समभाव के कारण वैष्णवों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गईं। इनमें गुजरातवासी गौड़ीय सन्त प्रियादासजी कृत ब्रजभाषा रचना "भक्ति रस बोधिनी" सर्वोपरि है। इसमें कवित्त छन्द में यमक और अनुप्रासपूर्ण भाषा में भक्तों के चरित्र की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख कुछ विस्तार के साथ किया गया। "भक्तदाम चित्रणी" आदि टिप्पणियाँ इन टीकाओं पर लिखी गईं। श्रीध्रुवदास ने "भक्त नामावली" लिखी। भक्तों के नामस्मरण हेतु प्रियादासजी ने एक "भक्तसुमरिणी की रचना की। स्वामी भगवत रसिक जी ने "भक्तनामावली" और उनके शिष्य श्रीबिहारीवल्लभ ने "भगवद्भक्त नामावली" लिखी। आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने श्रीनाभाजी की शैली में छप्पय छन्दों में "भक्तमाल उत्तरार्द्ध" में अधिकतर उन भक्तों का चरित्रांकन िकया जो "भक्तमाल" की रचना के पश्चात् हुए। श्रीराधाचरण गोस्वामी ने इसी प्रकार "नवभक्तमाल" तथा श्रीयमुनावल्लभ गोस्वामी ने "रसिक भक्तमाल" का सर्जन किया। हित सम्प्रदाय के भक्तों के चरित्र श्रीभगवत-मुदितजी द्वारा "रसिक अनन्यमाल", चाचा वृन्दावनदासजी द्वारा "रसिक अनन्य परिचई" और उत्तमदासजी कृत "हित परिचई" एवं अनन्यअलिजी के "अनन्य भक्त-गाथा" में प्रस्तुत किये गये। ये सभी कृतियाँ ब्रजभाषा कविता में हैं।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य में हित-सम्प्रदाय के भक्तों के चरित्र लिखे थे किन्तु उनका दृष्टिकोण साहित्यिक अधिक था।" श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश" में यह दृष्टिकोण मात्र साहित्यिक न रहकर भक्तिपूर्ण भी हो गया है। साथ ही उनकी अन्वेषक दृष्टि भी सदैव सजग रही है। समस्त उपलब्ध अन्तर्बहिर्साक्ष्यों का सम्यक् विवेचन-विश्लेषण करके तथ्यों को निर्भ्रान्त रूप में उपस्थित करने की भरसक चेष्टा की गई है। केवल चमत्कारिक चरित्र या घटनाओं के अंकन में विशेष रुचि नहीं दिखायी गई, जो 'भक्त चरित्र' लेखकों की एक सामान्य दुर्बलता है। इन चरित्रों में साम्प्रदायिकता का भी कोई आग्रह नहीं। आचार्य श्री की भाषा बड़ी प्रवाह पूर्ण, तथ्यगर्भित तथा शैली गम्भीर एवं विवेचनात्मक है। कोशों में प्रायः 'सूत्रशैली' का प्रयोग किया जाता है। मात्र आवश्यक अनिवार्य तथ्य या प्रसंग ही प्रस्तुत किये जाते हैं। यह उनकी एक बंधी सीमा है, जिसके भीतर चरित्र लेखक को रहना ही होता है। ★

श्रीहित भक्तगाथा

अतिवल्लभ

अतिवल्लभ अठारहवीं शती के एक प्रमुख रसिक सन्त और वाणीकार थे। ये श्री कमलनयन गोस्वामी (सं० १६९२-१७५४) के शिष्य थे। आश्चर्य है कि चाचा वृन्दावनदासजी ने अपनी 'रसिक-अनन्यपरचावली' तथा गोविन्दअलिजी ने अपनी 'रसिक अनन्य-गाथा' में इनका नामोल्लेख तक नहीं किया है। चाचा हितवृन्दावनदास तो इनके समकालीन भी थे। इसी कारण सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थों में अतिवल्लभजी के जीवन-वृत्त से सम्बद्ध किसी बात का उल्लेख नहीं है। केवल इनके मित्र तथा हित चौरासी के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीप्रेमदास ने अपनी टीका (रचना-काल, सं १७९१) के मंगलाचरण में इनका स्मरण बड़े प्रेम और आदर के साथ किया है। उन्होंने लिखा है–

> अतिवल्लभ अतिरसिकवर दुर्लभ तिनकौ संग।
> श्री वैयासकि कृपा तें सुलभ जु भयौ अभंग॥
> वे बरनत रसरीति यौं ज्यौं उमड़त निधिवार।
> मो मति जैसे चंचुखग भरी आपु अनुसारि॥

इन दो दोहों से अतिवल्लभजी के सम्बन्ध में दो तथ्य ज्ञात होते हैं। एक यह कि ये अत्यन्त एकान्त सेवी थे और कुछ चुने हुए रसिकों को छोड़कर किसी से मिलते नहीं थे। दूसरी बात यह है कि इनको श्रीहिताचार्य की रसरीति का तल स्पर्शी अनुभव तो था ही, साथ ही उसके वर्णन में भी ये अत्यन्त कुशल थे। ये जब उसे समझाने लगते थे तो भावनाओं का समुद्र उमड़ पड़ता था और श्रोता-वक्ता दोनों ही उसमें डूबने उतराने लगते थे।

वस्तुतः अतिवल्लभजी उन मौलिक चिन्तकों में से हैं, जो सम्प्रदाय के सामान्य ढाँचे के अन्दर रहकर सिद्धान्त-कथन की नई पगडण्डियाँ बनाते हैं। इन्होंने अधिक नहीं लिखा है, किन्तु जो कुछ भी कहा है वह अनूठा, अनुपम और रहस्यगर्भित है। उदाहरण के लिये सम्प्रदाय के साहित्य में अनेक 'समय-प्रबन्ध' किंवा अष्टयाम सेवा-विधि उपलब्ध हैं। श्रीअतिवल्लभजी का भी एक 'समय-प्रबन्ध' प्राप्त है, किन्तु यह

अष्टयामों से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें सेवा के रहस्य को मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

सेवा ये द्वै भाँति की, नैमित्तिक अरु नित्त।
प्यारी प्रियतम सहचरी, इनही की यह वृत्ति।।
वृत्ति अंग अंगनि विषै, व्यापि रही अनुकूल।
सूक्षम अरु स्थूल कौ, अङ्ग अङ्ग ही मूल।।
सेव्य प्रिया सेवा सखी, सेवक प्रीतम संग।
त्रिधा रूप राजत सदा, अरु सब इनके अङ्ग।।
सूक्ष्म स्थूल समान हैं, अङ्गी अङ्गी तिहि भाँति।
सदा एक रस रूप जुत, बाल रूप गुन जाति।।
बात बचन तन रूप गुन, ऐश्वर्यादिक नित्त।
जाति एक माधुर्य रस, तद् अनुगत सब वृत्ति।।
वृत्ति समय लखि होत है, समय प्रिया-प्रिय चित्त।
चित्त बसत हित में सदा, हित भावक में नित।।
भावक नित सब भावना, सेवा बिन नहि सोइ।
सेवक सेवा दोऊ मिलैं, सेव्य उपासन होइ।।
—समय-प्रबन्ध १८-२४

इस उद्धरण में अतिवल्लभजी ने नित्य-नैमित्तिक सेवाओं को 'प्यारी-प्रियतम और सहचरियों' की चित्तवृत्ति बतलाकर बड़ी विदग्धता से भावुक (उपासक) के हृदय में स्थित श्रीश्यामा-श्याम के प्रति उसके सहज प्रेम के साथ संलग्न कर दिया है। इस प्रकार दोनों सेवायें उपासक के प्रेम की अन्तरंग और अनिवार्य वृत्तियाँ सिद्ध होती हैं।

इस रचना के अन्त में अतिवल्लभजी ने रसिकों की प्रकट उपासना के आधार-रूप प्रकट भावों का वर्ण विभाग दिया है। इन्होंने बताया है—

प्रथम प्रेम कौ पीत रङ्ग, पके अरुन अनुराग।
प्यारौ रूप सिंगार कौ, उज्ज्वल मिल्यौ सुहाग।।
स्वेत बरन है रूप कौ, स्याम बरन सिंगार।
पीत अरुन दोऊ प्रेम हैं, बरन हिये में धार।।

रूप मिलै सिंगार कौं, तब सिंगार छबि होय।
प्रेम दृगनि बिन ता छबिहि, कहु देखेगो कोय ।।
रूप-रूप में छबि नई, रूप-रूप कर लेय।
उज्ज्वलता सबमें मिले, सबको सब छबि देय ।।
पूरब-उत्तर भागकर, पीत अरुण रंग प्रेम।
मिल्यो रूप शृङ्गार कौं, जुगल प्रेम के नेम ।।
मिलन सिखावे प्रेम नित, मिलें रूप शृंगार।
अलट-पलट के रूप कों, जाने सखी संभार ।।

— समय-प्रबन्ध २०१–२०६

अतिवल्लभजी की एक अन्य छोटी-सी रचना 'मंत्र-ध्यान-पद्धति' है। उसमें इन्होंने रसिकों के ध्यान करने के लिये श्री श्यामा-श्याम तथा श्रीवृन्दावन के अनुपम शब्द-चित्र दिये हैं। उनसे इनकी मार्मिक रसिकता एवं समर्थ काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

कोटिक दामिनी दुति छबि लीनी।
अगनित चन्द्र चन्द्रिका छीनी ।।
अमृत माधुरी अमित मिलाई।
कंचन सुरस पराग रलाई ।।
कोटि मदन रति सुन्दरताई।
चन्द्र कान्ति मणि की रुचिराई ।।
रूप - रूप कौ अतुल सुहाग।
पूरन आनन्द प्रिय अनुराग ।।
ये सब मिलै गौर तन कर्‌यौ।
मनों नेह के सांचे ढर्‌यौ ।।
ता स्वरूप सों पिय चख लगे।
कोटिक विरह नाम सुनि भगे ।।
हौं लघुमति कैसे करि कहौं।
श्रीअम्बुज दृग मुख ते लहौं ।।

इस उद्धरण में अतिवल्लभजी ने सौन्दर्य के अनेक उपादानों को एक करके उनमें प्रियतम के अनुराग का अरुण रंग डाला है और सबको मिलाकर नेह के साँचे में ढाल

दिया है। इल ढली हुई अनुपम सौन्दर्यमूर्ति श्रीराधा से त्रैलोक्य-सुन्दर मदन मोहन के नेत्र इस प्रकार उलझ गये हैं कि विरह की संभावना ही पलायन कर गई है।

प्रस्तुत प्रसंग में श्रीअम्बुज दृग से अतिवल्लभजी का तात्पर्य उनके गुरु श्रीकमल-नयन गोस्वामी से है।

ऊपर उद्धृत 'समय-प्रबन्ध' और मंत्र-ध्यान-पद्धति' के अतिरिक्त अतिवल्लजी की अन्य प्राप्त रचनायें हैं—'श्रीवृन्दावनाष्टक' 'श्री यमुनाष्टक', 'हितवंशावली' और 'हित-चौरासी' के एक पद (५४) की विस्तृत व्याख्या। इन रचनाओं में भी श्रीअति-वल्लभजी ने श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की रसिकता को नवीन दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा की है। उनकी नव नवोन्मेषकारिणी प्रतिभा का चमत्कार इनमें भी दिखलाई देता है।

हित-चौरासी में मलार (वर्षा-वर्णन) का एक बहुत सुन्दर पद है जिसमें श्रीहिताचार्य ने वर्षा से भींगकर निखरी हुई श्रीवृन्दावन एवं श्रीवृन्दावनाधीश्वर की नवीन छबि का वर्णन अपनी अनुपम शैली में किया है। उक्त सुन्दर पद को उद्धृत करने का प्रलोभन संवरण नहीं हो रहा है।

नयो नेह नव रंग नयो रस,
नवल श्याम वृषभान किशोरी।
नव पीताम्बर नवल चूनरी,
नयी-नयी बूँदन भीजत गोरी॥
नव वृन्दावन हरित मनोहर,
नव चातक बोलत मोर-मोरी।
नव मुरली जु मलार नई गति,
स्रवन सुनत आये घन घोरी॥
नव भूषन नव मुकुट विराजत,
नई-नई उरप लेत थोरि-थोरी।
(जैश्री) हित हरिवंश असीस देत मुख,
चिरजीवौ भूतल यह जोरी॥

इस पद में श्रीवृन्दावन एवं श्रीश्यामा-श्याम से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक क्रिया को नवीन बताया गया है। श्रीअतिवल्लभजी ने अपनी व्याख्या में इस नवीनता को बड़ी विदग्धता से स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिये–'नयो नेह' शृङ्गार रस के द्वै विभाग, एक संयोग एक वियोग। यह नयो नेह ऐसो जो संयोग में सदा रहै अरु बढ़न वियोग सों नाहीं देखन सों है ज्यौ-ज्यौं देखैं त्यों-त्यों बढ़े, नित्य नयौ रहै—बढ़न निघटै नांहीं।'

'नयौ रस'—रस कहे ते शृङ्गार रस। ताकौ स्थायी भाव रति है, यह शृङ्गार रस लाल जू कौ स्वरूप है। या स्वरूप की स्थायी प्रियाजी के रूप में है। हित संधित नांही। याते नयौ रस है।'

★

अनन्यअलि

'रसिक अनन्य परिचई' में अनन्यअलि के सम्बन्ध में कहा गया है—

श्री गुरु गोविन्द लाल धाम लीला जब कीनी।
लाइक सब विधि जानि टहल प्रभु गृह की दीनी ।।
सो आज्ञा प्रतिपाल करी अति भक्ति सचाई।
देह अन्त परजन्त बंक गति सौं रसिकाई ।।
हित पद्धति के भजन बिनु,
सुमति न रंचक जाहि चलि।
श्रीव्यास सुवन पथ बाँकुरे बाँकी,
अति निपट अनन्य अलि ।।

चाचा हित वृन्दावनदासजी कहते हैं कि अनन्यअलि के गुरु श्रीगोविन्दलाल गोस्वामी ने अपने लीला प्रवेश के समय इनको पूर्ण योग्य समझकर अपने परिवार की सेवा में नियुक्त किया था। अनन्यअलि ने इस गुरु-आज्ञा का अपने जीवन के अंत तक भक्ति भावपूर्वक पालन किया। ये अपने भजन में श्रीहित-पद्धति का पूर्ण रूप से अनुसरण करते थे। श्रीअनन्यअलि श्रीहिताचार्य के भक्ति-पथ के अनन्य अनुयायी थे।

इनके प्रारंभिक जीवन का कुछ परिचय इनको एक रचना 'स्वप्न-प्रसंग' से प्राप्त होता है। इसमें इनके 'पन्द्रह 'स्वप्न' संगृहीत हैं। इनमें से प्रथम नौ प्रसंगों में इन्होंने अपने सम्बन्ध में चर्चा की है। प्रथम प्रसंग में इन्होंने बताया है कि ये आठ वर्ष की अवस्था में अपने देश में ही श्रीगोस्वामी गोविन्दलालजी के शिष्य हो गये थे और इन्होंने श्रीहित चौरासी के पद उस अल्प आयु में ही कण्ठ कर लिये थे। ये पाँचों पद रास के हैं—'व्रेनु माई बाजे वंशीवट' (पद सं० ६४), 'मोहन मदन त्रिभंगी' (पद सं० ६३), 'आज नागरी किशोर भाँवती विचित्र जोर कहा कहौं अङ्ग-अङ्ग परम माधुरी' (पद सं० १०), 'आज देख ब्रज सुन्दरी मोहन बनी केलि' (पद सं० १७), 'मदन मथन घन निकुंज खेलत हरि राधा रुचिर' (पद सं० ६५)। इन्होंने एक पद स्फुटवाणी का कंठस्थ किया था—'रहौ कोऊ काहू मनहि दिये' (पद सं० २०) इन्होंने लिखा है

कि 'यही पद सब बालकन संग हम गावें और गवावें—खेलत में, डोलत में, बैठत में, उठत में यही गावें और पढ़ने का जाऊँ वहाँ यही गाऊँ—गवाऊँ, यही लिखो, यही पढ़ो, यही पढ़ाऊँ।'

द्वितीय प्रसंग में इन्होंने बताया है कि इसके बाद इन्होंने श्रीध्रुवदासजी की 'बयालिस लीला' में से 'श्रीवृन्दावनशत' कण्ठ किया और सोते-जागते, उठते-बैठते उसी को रटते रहे। इस स्थिति में दो वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन स्वप्न में इनको किसी ने आवाज देकर जगाया और कहा कि भगवानदास, श्रीवृन्दावन चल। उसके बाद यह स्वप्न इनको बार-बार दिखाई, देने लगा। स्वप्न में कोई इनकी कोठरी के किवाड़ों पर दस्तक देकर इन्हें जगाता। ये चौंककर जाग उठते और किवाड़ खोल देते ऐसी घटना प्रतिदिन होते देखकर इनकी माता और भ्राता को चिन्ता हो गयी। भगवानदासजी ने उनको बताया कि प्रतिदिन मुझसे कोई वृन्दावन चलने को कहता है। किन्तु इनकी माता को विश्वास नहीं हुआ और वे यह मानने लगीं कि उनका लड़का पागल हो गया है। किन्तु इनके बड़े भाई श्रीजी के कृपापात्र थे। वे इनकी दशा देखकर शान्त बने रहे और इन पर श्रीजी की कृपा मानते रहे। अनन्यअलिजी ने लिखा है कि जब तक ये श्रीवृन्दावन नहीं पहुँच गये, तब तक इन्हें इस प्रकार के स्वप्न बराबर आते रहे।

तीसरे प्रसंग में अनन्यअलिजी ने बताया है कि 'मेरे भाई ने मुझे पूरी 'हित-चौरासी' कण्ठ करायी, किन्तु चौरासीजी का एक पद 'चलहिं किन मानिनि कुंज कुटीर' (पद सं० ३७) मुझे किसी तरह भी कण्ठ नहीं हुआ। जब तक मैं बीस बरस का हुआ, तब तक ८३ पदों का ही पाठ करता रहा।

मेरी आयु के बीसवें वर्ष में मेरे भाई ने शरीर छोड़ा। जब मेरे भाई का शरीर छूटने का समय आया तब उनके शिष्यों ने उनसे पूछा कि भगवानदास से कुछ कहेंगे ? भाई ने कहा कि मैं उससे क्या कहूँ, मैं सिर्फ इतना ही कहता हूँ कि वह श्रीजी का भजन करता रहे। अर्धरात्रि के समय भाई ने मुझे जगाकर कहा कि मुझे हित चौरासी जी का पाठ सुनाओ। मैं धीरे-धीरे पाठ करने लगा और सबेरे तक पाठ करता रहा। सबेरा होते ही भाई ने मुझसे कहा कि मेरा शरीर अब छूटने वाला है। यह कहकर वे खाट पर से नीचे उतरे, स्नान किया, महाप्रसाद लिया और मुझसे कहा कि तुम ध्रुव-दासजी की धमार—'देख सखी नवकुंज राधा लाल बने री' मुझे गाकर सुनाओ। यह धमार उन्होंने स्वयं भी गाई और अपने कृपापात्रों से भी गवाई। इस धमार को गाते-गाते उनका शरीर छूट गया और वे सखीस्वरूप प्राप्त करके निकुंज महल में प्रवेश कर गये।

सब लोग भाई के पार्थिव शरीर को ले जाकर उसका दाह-संस्कार कर आये। उनके सब कृपापात्र उस दिन हमारे घर ही रहे और अर्धरात्रि तक सबने मिलकर नाम-संकीर्तन किया। उसके बाद सब लोग सो गये और उनके साथ मैं भी सो गया।

जब रात्रि एक पहर शेष रही तब आठ सखियों ने आकर मुझे जगाया। मैंने स्वप्न में ही उनसे कहा कि तुम लोग कौन हो और कहाँ से आयी हो ? उनमें से एक सखी हँसकर बोली कि मैं तो तेरा भाई हूँ। मैंने उनसे पूछा कि तुम्हारा ऐसा स्वरूप कैसे हो गया तो उन्होंने कहा कि अब हमारा यही स्वरूप है। तू उठ बैठ। मैं तुझे चौरासीजी का यह पद याद कराता हूँ जो तुझे किसी तरह याद नहीं हो रहा था। यह कहकर उन्होंने 'चलहिं किन मानिनि कुंज कुटीर' वाला पद मुझे कंठ करा दिया। उसके बाद मैं जाग उठा और रुदन करने लगा। कृपापात्रों ने मुझसे पूछा कि भाई, तुम रोते क्यों हो ? तुम्हारे भाई जब मरे तब तो तुम रोये नहीं किन्तु अब क्यों रो रहे हो ? जैसे-जैसे सब लोग मुझसे रोने का कारण पूछते थे, वैसे-वैसे ही मेरी छाती फटी जाती थी और मैं रोते-रोते श्वास भी नहीं लें पा रहा था। मेरी यह दशा देखकर सब लोगों ने कहा कि अब ये भी बचेंगे नहीं। मैंने उन लोगों से कहा कि न तो तुम मुझसे बोलो और न ही मेरे पास आओ। मैं इसी तरह तीन दिन तक रोता रहा और कुछ खाया-पिया नहीं। चौथे दिन मेरा भावावेश कुछ कम हुआ और सब लोगों को शान्ति मिली।'

चतुर्थ प्रसंग में श्रीअनन्यअलिजी ने बताया है कि 'भाई की मृत्यु के बाद मुझे फिर वही स्वप्न आने लगा जिसमें कोई मुझसे श्रीवृन्दावन चलने को कहता था। अपने देश में ही एक दिन मुझे स्वप्न में श्रीहितजी महाराज के समाधि मंडल तथा श्रीजी के मन्दिर और यमुनाजी के दर्शन हुए। थोड़े दिनों के बाद हमारे गुरुचरण श्रीगोस्वामी गोविन्दलालजी महाराज हमारे गाँव में पधारे। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम अपना विवाह मत होने देना, हम तुम्हें श्रीवृन्दावन ले जायेंगे और वे मुझे श्रीवृन्दावन ले आये।'

पंचम प्रसंग में इन्होंने बताया है कि ये सं० १७५६ ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया को श्रीवृन्दावन पहुँचे थे। उस समय श्रीराधावल्लभलाल आजानगढ़ (कामवन) में विराजते थे। अनन्यअलिजी के श्रीवृन्दावन पहुँचने के लगभग २५-२६ वर्ष पूर्व बादशाह औरंगजेब की आज्ञा से श्रीराधावल्लभजी का मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। कामवन में इन्होंने देखा कि 'सेवा में केवल श्रीश्यामसुन्दर का स्वरूप विराजमान है और उनके निकट केवल एक गादी बता रही है। 'सम्प्रदाय में श्रीराधा की प्रधानता होते हुए भी सेवा में उनका प्रकट रूप न देखकर मैं द्विविधा में पड़ गया। उस दिन रात्रि को जब मैं सोया तब मैंने देखा कि मैं मन्दिर के जगमोहन में खड़ा हुआ दर्शन कर रहा हूँ। दूसरे क्षण में ही मैंने देखा कि श्रीराधा की गादी से कोटि-कोटि दामिनी को लज्जित करने वाला श्रीप्रिया का स्वरूप प्रकट हो गया। श्रीलाड़िलीजी ने मुझे, हँसते हुए संकेत करके, अपने पास बुला लिया और मैं निज मन्दिर (गर्भ मन्दिर) में सिंहासन के पास जाकर खड़ा हो गया। मैंने अन्दर जाकर देखा कि मेरे भाई भी सखी रूप में वहीं पर खड़े हुए हैं। उन्होंने मुझे डाँटते हुए कहा कि तू मन्दिर के के अन्दर क्यों आ गया ? मैंने कहा कि मैं तो लड़ैतीजी के बुलाने से आया हूँ। लड़ैतीजी

ने भी मन्द-मन्द मुस्कराकर कहा कि यह तो हमारा है। सबेरे जब मैं सोकर उठा तो डेढ़-दो घण्टे तक रोता रहा।'

एक बार ये सेवाकुंज में अन्न-जल त्यागकर तीन दिन तक सघन वृक्षों के नीचे बैठे रहे। चौथे दिन रात्रि को स्वप्न में श्रीराधा ने इनसे कहा कि, 'तू हठ मत कर, हम तो तेरे हृदय में नित्यक्रीड़ा करते रहते हैं। तू अपनी कुटी में जाकर प्रसाद ग्रहण कर।' इसके बाद ये जाग उठे और अपने को कृपा का अनधिकारी समझकर रुदन करने लगे। प्रातःकाल होने पर कुछ रसिक भक्त इनको ढूँढ़ते हुए सेवाकुंज में पहुँचे और उन्होंने भी इनसे यही कहा कि इस धर्म में हठ करने से कोई काम नहीं बनता है। इस तरह से इनको समझा-बुझाकर वे वहाँ से उठा लाये।

दसवें और ग्यारहवें प्रसंग में अनन्यअलिजी ने दुष्ट अन्नभक्षण के कुप्रभाव का एक उदाहरण दिया है। इनके गुरु श्रीगोविन्दलाल गोस्वामीजी की एक वैश्याणी शिष्या थी। उसके पिता और भाई बादशाह औरंगजेब की नौकरी में थे। वैश्याणी अनन्यअलि जी से कुछ भेंट स्वीकार करने का आग्रह करती रहती थी किन्तु ये उसके घर में म्लेच्छों का धान्य समझकर स्वीकार नहीं करते थे। ये उससे कहते रहते थे कि 'बीबी, तेरे यहाँ म्लेच्छों का धान्य है। उसको खाने से हृदय मलिन होता है, भजन-भावना क्षीण होती है और इष्ट से विमुखता हो जाती है' किन्तु वह वैश्याणी इनके पीछे पड़ी ही रही और निरन्तर आग्रह करती रही। निरुपाय होकर उसने एक दिन अपनी गुरु-माता के यहाँ खीर की रसोई कराई और उनको शपथ दिला दी कि भगवानदास को यह न बतावें कि यह खीर मैंने भोग लगाई है और उसको प्रसाद खिला दें। अनन्य-अलिजी जब माताजी के पास प्रसाद ग्रहण करने पहुँचे तो उन्होंने इनको खीर भी परोसी। अनन्यअलिजी ने पूछा कि यह किसका मनोरथ है तो माताजी ने कह दिया कि यह मेरे द्वारा ही बनाई गई है। तुम कोई विचार न करके आनन्दपूर्वक प्रसाद ग्रहण करो।

रात्रि को जब ये सोये तो स्वप्न में देखा कि ये दिल्ली के कोट के एक द्वार पर खड़े हैं और इनके हाथ में शौच जाने के लिये मिट्टी का पात्र है। थोड़ी ही देर में इनको इक सवारी सामने से आती दिखाई दी। इन्होंने लोगों से पूछा कि यह किसकी सवारी है तो उन्होंने कहा कि तुम पहचानते नहीं हो—ये बादशाह औरंगजेब हैं। इन्होंने देखा कि चारों ओर से फौज चली आ रही है और बादशाह एक पालकी में बैठा हुआ है। उसकी सफेद लम्बी दाढ़ी है, भारी गर्दन है और उसने सफेद सादे वस्त्र पहन रखे हैं। उसके सामने कुरान की प्रति रखी है जिसको वह पढ़ता जा रहा है। यह सब देकर ये घबड़ा गये और इनकी आँख खुल गयी।

दूसरे दिन जब ये गुरुजी के यहाँ प्रसाद पाने गये तब इन्होंने माँजी से पूछा कि आप मुझे सच-सच बतलाइये कि खीर किसने बनवायी थी? माँजी ने कहा कि पहले तुम यह बतलाओ कि तुम्हें उसका क्या प्रभाव दिखलायी दिया? इन्होंने उनको

औरंगजेब वाला पूरा स्वप्न सुना दिया। उसे सुनकर माँजी को बहुत कष्ट हुआ और उनके नेत्रों में जल भर आया। उन्होंने वैश्याणी को बुलाकर बहुत डाँटा और उससे कहा कि तू अपने अपराध के लिये क्षमा माँग। वैश्याणी घबड़ा गयी और भविष्य में ऐसा कोई कार्य न करने की शपथ ली।

ग्यारहवें प्रसंग में इन्होंने अन्न-दोष का एक अन्य उदाहरण दिया है।

बारहवें प्रसंग में अनन्यअलिजी ने कठोर वचन बोलने के दुष्परिणाम को अपने जीवन की एक घटना से उदाहृत किया है। इन्होंने बताया है कि 'एक दिन मैंने श्रीजी के कृपापात्र श्यामदास गुजराती से बहुत कर्कश वचन कहे। मैंने उसको डाँटते हुए कहा कि तू दिनभर सोता रहता है, भजन बिलकुल नहीं करता है। यह बड़ी अनुचित बात है। तुझे श्रीजी का नाम लेना चाहिये, वाणी का पाठ करना चाहिये और सोना नहीं चाहिये। मेरे डाँटने से श्यामदास के मन में बड़ा कष्ट हुआ और इस अपराध से मुझे रात्रि में यमराज के दर्शन हुए। मैंने एक महाभयानक स्वरूप को आकाश से धनुष-बाण लिये हुए अपनी ओर दौड़ते हुए देखा। मैं बहुत डरा और उससे बचने के लिये भागने लगा। मैं जितना दौड़ता था, उसको अपने सामने पाता था। घबड़ाहट में मेरी आँख खुल गयी। मैं उठकर सीधा श्यामदास के पास गया और उसके चरणों में अपना मस्तक रखकर अपने अपराध की क्षमा माँगी।

पन्द्रहवें और अन्तिम प्रसंग में अनन्यअलिजी ने बताया कि एक दिन इनको बहुत जोर से ज्वर आया और ये अचेत हो गये। ये मानसी सेवा किया करते थे। अचेतावस्था में उस दिन रात के समय श्रीलड़ैतीलाल को मानसी सेवा में ब्यालू करवाना भूल गये। अर्द्धरात्रि के बाद किसी ने इनकी कुटी में पुकारकर कहा कि 'अनन्यअलि, तू उठ और हमें ब्यालू करा। हम बहुत देर से बैठे-बैठे तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' स्वप्न में यह बात सुनकर ये जाग उठे और मन को सावधान करके मानसी में शयन-भोग अर्पण किया।

उपर्युक्त स्वप्नों से अनन्यअलि जी के जीवन से सम्बद्ध निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

१—अनन्यअलिजी का पूर्वनाम भगवानदास था।

२—इनके घर में पहले से ही श्रीराधावल्लभीय उपासना चली आ रही थी।

३—इनके बड़े भाई श्रीहितजी महाराज की भजन-पद्धति का आश्रय लेकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुए थे।

४—इनके बड़े भाई के अनेक शिष्य भी थे। इससे सिद्ध होता है कि इनका वंश ब्राह्मणों का था। अनन्यअलिजी ने अपने स्वप्न में जो अपनी वणिक्वृत्ति का उल्लेख किया है, वह केवल उदरपोषण के लिये प्रतीत होती है।

५—अनन्यअलिजी संवत् १७५९ में श्रीवृन्दावन आये थे। उस समय इनकी आयु २० वर्ष की थी। अतः इनका जन्म संवत् १७४० के आसपास माना जा सकता है।

६—श्रीवृन्दावन में ये श्रीध्रुवदासजी की कुटी के समीप रहते थे और जीवन के अन्त तक वहीं रहकर भजन करते रहे।

७—ये स्वभाव से अक्खड़ थे और अपने सिद्धान्तों के साथ किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं थे।

८—ये श्रीहिताचार्य के द्वितीय पुत्र श्रीकृष्णचन्द्र गोस्वामी के वंशज गोस्वामी गोविन्दलालजी के शिष्य थे।

श्रीअनन्यअलि की वाणी का विपुल विस्तार है। इनकी छोटी बड़ी ८० रचनायें प्राप्त हैं। इनमें से सबसे छोटी 'जीविका को नेम' चार छन्दों वाली है तथा सबसे बड़ी 'श्रीहित हरिवंश जू की नामावली' में ३५१ दोहे हैं। उनकी वाणी के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

जुगल भजन की हाट करि, ऐसी विधि व्यौहार।
रसिकन सौं सौदा बनै, चर्चा नित्यविहार॥
चित डाँडी पलरा नयन, प्रेम डोर सौं बानि।
हियौ तराजू लेहु कर, तौल रूप मन सानि॥

जल-विहार

लाड़िली लाल सहेलि महा, उनमत्त रसासव खेल मचावैं।
बेलिनुं छत्रिन पै चढ़ि कूदत, नीर गंभीर सुपार न पावैं॥
दूर किसी निकसंत हसंत, लसंत उभै उर मोद बढ़ावैं।
श्रीहरिवंश कृपाबल तैं, सर खेल अनन्यअली दरसावैं॥

पावस-विहार

पावस की रितु आइ सुहाई, घटा रँग वितानन ताने।
कौंधत है चपला चहुँ ओर, मनो पिय के हिय आइ छिपाने॥
भाँतिन भाँति बलाकन पाँति, सुराग मलार विलास बखाने।
श्रीहरिवंश कृपाबल तैं, बन वानि अनन्यअली हरसाने॥
वदन चंद की माधुरी, निरखत नवल किशोर।
पान करत छवि की सुधा, तृपित न होत चकोर॥

पगतल कल की माधुरी, नवल बिमल चमकन्त ।
तिन में सुन्दर श्याम मुख, प्रतिबिंबत दमकन्त ।।
परसन कौं कर तरसहीं, दरसन दृग चपलाइ ।
होड़ परी भुज नैन सौं, लम्पट अति तरलाइ ।।
ये भोंरी वे बावरे, दोऊ एक हवाल ।
निरखि-निरखि निज सखी सब, कहत निहाल-निहाल ।।
श्रीराधा के पद कमल, विमल नवल सुखदाइ ।
श्याम भृङ्ग जिनमें बसे, लै मकरन्द अघाइ ।।
श्रीफल कंचन गिरि किधौं, कुन्दन कलस अनूप ।
उपमा सब फिसली परै, सुनिकै इनकौ रूप ।।

आनन्दीबाई (प्रथम)

आनन्दीबाई गोस्वामी रसिकानन्दलालजी की शिष्या थीं । इनको 'इष्टवस्तु' दनकोरवाले प्रियादासजी के संग से प्राप्त हुई थी । प्रियादासजी ने इनके सम्बन्ध में लिखा है कि आनन्दीबाईजी ने अपना तन तो श्रीराधावल्लभलाल की टहल में लगा दिया, धन उनके भोग-राग में व्यय कर दिया और मन को निकुञ्ज महल के रस में डुबो दिया । रसलीन स्थिति में सहज रूप से दीन बनी हुई ये निकुञ्ज महल की परिचर्या में तन्मय रहती थीं । इन्होंने हितजी महाराज के सम्प्रदाय में बड़े समारोह पूर्वक प्रवेश किया था—

तन लगाय टहलै दियौ, धन लगाय दियो भोग ।
मन लगाय महलैं दियो, हित-पद-रति-संजोग ।।
रहत छकी अटकी महल, नमित दीन रस लीन ।
श्रीव्याससुवन पथ रीत में, ब्रज धौंसा पग दीन ।।

इन्होंने श्रीप्रियादास के सम्बन्ध में लिखा है कि 'आप हमसे अमंगली जीवन कौं लीला रस उपयोगी किये हैं सो तो आप ही कौं यह अतुलित सामर्थ हैं सो हमसे जीव कहा तुमरे स्वरूप को जानेंगे जहाँ इन्द्र ब्रह्मा महेश हू की गम नाहीं है ।'

प्रियादासजी के समान ही आनन्दीबाई भी अनुभवी सन्त थीं। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से इनकी वाणी का अधिक महत्त्व नहीं है, किन्तु उसमें इनके प्रत्यक्ष अनुभव की आभा जहाँ-तहाँ झलक उठती है। इनकी सम्पूर्ण रचना दोहा, चौपाई और छप्पयों में इनका 'निजभाव विचार श्रीहित शेष प्रकाश' नामक एक समय-प्रबन्ध एवं कुछ फुटकर रचनाएँ प्राप्त हैं। 'निजुभाव विचार' सं० १८४० में पूर्ण हुआ था।

अठारह सै चालीसिया संवत माधौ मास।
यह प्रबन्ध पूरन भयौ कृष्ण पञ्चमी सनोवास।।

इनके कुछ चुने हुए छन्द नीचे दिये जाते हैं—

रूप प्रेमरस गहर में, बूड़े ललना लाल।
मदन मुदित मुख खिलि रहे, पानिप बढ़ी रसाल।।
सुहृद अली करि आरती, जगमग-जगमग होति।
श्रीमुख लखौं कि आरती, कै जुग मुख छवि जोति।।
महक सुगन्ध सने विवि अंगा।
छवि पर वारौं कोटि अनंगा।।
स्याम तमाल प्रिय कञ्चन बेली।
बिच लपटी हित नेह नवेली।।

ऊधौदास

ऊधौदास के जीवनवृत्त तथा कृतित्व के सम्बन्ध में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। 'परचावली' के अनुसार ये गोस्वामी कमलनयनजी के शिष्य थे। उन्हीं की सत्कृपा द्वारा इनके हृदय में भक्ति का आविर्भाव हुआ था। ये विरक्त भक्त थे। भिक्षाटन द्वारा जो कुछ भी प्राप्त होता था उसे राधा-वल्लभ की सेवा में अर्पित कर देते थे। अखण्ड भजन एवं अनन्यव्रत का पालन करने वाले तथा गुरु-इष्ट में दृढ़ आस्था रखने वाले ऊधौदास एक विनम्र भक्त थे। इनके सम्बन्ध में 'परचावली' का निम्नांकित छन्द

रामत करिके दर्ब लाइ प्रभु मन्दिर अर्पहिं।
मानहिं अपुनौ भाग कृत्य सब प्रभु कौ थर्पहिं।।
नवें प्रेम के भाइ संत पदरज तन मण्डित।
सत्य वचन आलाप भजन व्रत धरैं अखण्डित।।
श्रीकमलनैन गुरुकृपा मानि, प्रबल भक्ति उर जगनि।।
श्रीऊधौदास अनन्य व्रत, दृढ़ गुरु इष्ट टहल लगनि।

कन्हड़ स्वामी/हरे कृष्ण स्वामी

कन्हड़ स्वामी और हरेकृष्ण स्वामी श्रीराधावल्लभजी के अङ्गसेवी थे। श्रीकल्याणपुजारी (इनका चरित अन्यत्र दिया गया है) के बाद इन दोनों ने श्रीराधावल्लभलाल की अङ्ग-सेवा अत्यंत प्रेमपूर्वक की। ये लोग मन्दिर से कुछ नहीं लेते थे और अपना भोग अलग लगाकर उस प्रसाद को साधु-सन्तों के साथ मिलकर ग्रहण करते थे। जिस प्रकार कल्याणजी संतों का उच्छिष्ट लेते थे उसी प्रकार ये भी लेते थे और सेवा से बचे हुए समय में वाणी-पाठ तथा नाम-स्मरण करते थे।

कन्हड़ स्वामी तथा हरेकृष्ण स्वामी ने अपने इष्ट के प्रसाद के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं का प्रसाद नहीं लिया। इसका कारण पूछने पर ये कहते थे कि "हमने बड़े-बड़े ठाकुरद्वारों में एकादशी और सामान्य दिनों के प्रसाद में भेद करते देखा है। जिन लोगों की प्रसाद पर प्रेम-प्रतीति नहीं है उनके हाथ से प्रसाद लेने में निष्ठा की हानि होती है। यदि उनकी प्रसाद में निष्ठा होती तो दुविधा छोड़कर एक रस रूप से प्रसाद लेते रहते। वे लोग अपने ही प्रभु के प्रसाद में भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार करते रहते हैं। वे अपने इष्ट को स्वयं ही भोग अर्पित करते हैं और फिर स्वयं ही उसमें अन्न-बुद्धि कर लेते हैं। वे लोग निर्गुण वस्तु को गुणमय मानते हैं और इष्ट के प्रसाद का प्रताप नहीं जानते।"

श्रीराधावल्लभलाल के ये दोनों अङ्गसेवी व्यवहार में पूर्ण साधुता का निर्वाह करते थे। जिन लोगों को ये काम-क्रोध के वश में देखते थे उनमें भी प्रभु की सत्तका अनुभव करके उनका आदर करते रहते थे। ये स्वयं कभी कर्कश वचन नहीं कहते थे और जो कोई इनसे कठोर वचन कहता था उसको शान्तपूर्वक सहन कर लेते थे।

कमलनयन गोस्वामी

आपका परिचय देते हुए चाचा हित वृन्दावनदास ने लिखा है—

कोमल मधुर अलाप सकल संतन सुखदाई।
गिरा प्रेम रस सनी भावना दृग दरसाई।।
सभा सिरोमनि रसिक प्रीति सबसौं प्रति पारत।
सुजनन उर आनंद देत रसरीति उचारत।।
चरन सरन जे अनुसरे, जन ते सब भये प्रबीन।
कमल नैन सुख दैन कौं, प्रगट कियौ आनन्द तन।।

—रसिक-अनन्य-परचावली ६५

'कमलनयनजी मधुरभाषी एवं सभी संतजनों को सुख देने वाले थे। उनके द्वारा रचित वाणी प्रेमरस में सनी हुई है एवं उसमें अभिव्यक्त भावना श्रोता के नेत्रों में प्रत्यक्ष होती चलती है। वे रसिक-सभा के शिरोमणि थे। सबके साथ उनका व्यवहार प्रेमपूर्ण रहता था। वे जब रसरीति का कथन करते थे तो विज्ञ रसिकजनों के हृदय आनन्दित हो जाते थे। जिन्होंने उनकी शरण ग्रहण की वे सब प्रेम-पंथ में प्रवीण हो गये। वस्तुतः श्रीकमलनयनजी का प्राकट्य ही संसार को सुख देने को हुआ था।'

कमलनयनजी श्रीहिताचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम श्रीरासदास था। इनका जन्म सं० १६९२ को आषाढ़ कृष्ण ५ को श्रीवृन्दावन में हुआ था। वाणीकार श्रीकुंजलाल गोस्वामी इनके कनिष्ठ भ्राता थे। कमलनयन के रचे प्राय: प्रत्येक उत्सव के पद मिलते हैं। इनके द्वारा रचित कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनके कुछ पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

(१)

बसन्त

श्रीवृन्दावन पूजन वसंत। मनोरथ बैठे दम्पति लसंत।।
इत धुजा पताका फरहरैं। उत कदलि आदि तेहि अनुरूरैं।।
इत कंचन मणि-मुक्ता दुकूल। उत हेम खचित रवि तनया कूल।।
इत नाना धुनि सुनि भई भीर। उत कोकिल पिक तहाँ नदित कीर।।

इत भाजन कुंकुम धरे पूरि। उत पराग जुत उड़त धूरि॥
इत पिचकारी भरत रंग। उत केसरि वह सुमन अंग॥
इत चंदन बंदन गुलाल। उत हरषत बन राज पाल॥
जहाँ अष्टसखी वर सुखद गान। जै श्रीकमलनयन हित करत पान॥

पद — राग मलार

देखो माई सुन्दर-कुंज बनी।
बैठे नवल नागरी - नागर छवि नहि जात भनी॥
दादुर मोर पपीहा बोलत बरसत घन सजनी।
(जै श्री) कमलनैन हित अति सचुपायौ जागे सब रजनी॥

अपरिहार्य कारणों से "श्रीहित भक्तगाथा" के केवल छह भक्तों की गाथाएं ही यहाँ प्रकाशित की जा रही हैं। इन सभी भक्तों की नामावली यहाँ निम्नलिखित दी जा रही है। जिज्ञासु पाठक शेष गाथाएँ श्रीकृष्णजन्म सेवा संस्थान, मथुरा से प्रकाशित "श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश" के चतुर्थ और पंचम खण्डों में देख सकते हैं।

'श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश' चतुर्थ खण्ड में प्रकाशित

श्रीहितभक्तगाथा

'श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश' पंचमखण्ड में प्रकाशित

श्रीहितभक्तगाथा

साहित्य समीक्षा खंड

इत भाजन कुंकुम धरे पूरि । उत पराग जुत उड़त धूरि ।।
इत पिचकारी भरत रंग । उत केसरि वह सुमन अंग ।।
इत चंदन बंदन गुलाल । उत हरषत बन राज पाल ।।
जहाँ अष्टसखी वर सुखद गान । जै श्रीकमलनयन हित करत पान ।।

पद — राग मलार

देखो माई सुन्दर-कुंज बनी ।
बैठे नवल नागरी - नागर छवि नहि जात भनी ।।
दादुर मोर पपोहा बोलत बरसत घन सजनी ।
(जै श्री) कमलनैन हित अति सचुपायौ जागे सब रजनी ।।

अपरिहार्य कारणों से "श्रीहित भक्तगाथा" के केवल छह भक्तों की गाथाएं ही यहाँ प्रकाशित की जा रही हैं । इन सभी भक्तों की नामावली यहाँ निम्नलिखित दी जा रही है । जिज्ञासु पाठक शेष गाथाएँ श्रीकृष्णजन्म सेवा संस्थान, मथुरा से प्रकाशित "श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश" के चतुर्थ और पंचम खण्डों में देख सकते हैं ।

'श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश' चतुर्थ खण्ड में प्रकाशित

श्रीहितभक्तगाथा

'श्रीराधाकृष्ण भक्तकोश' पंचमखण्ड में प्रकाशित

श्रीहितभक्तगाथा

□

'श्रीहितचौरासी' का सम्पादन करके लेखक ने हित महाप्रभु की वाणी का आधिकारिक पाठ तो प्रस्तुत किया ही है, उसका वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। ग्रंथारंभ में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की सारगर्भित, इतिहास सम्मत, विवेचना पूर्ण, गम्भीर भूमिका दी गई है। तत्पश्चात् ग्रन्थ और ग्रन्थकार शीर्षक से ग्रन्थ का उद्देश्य, विषय वस्तु और रस पद्धति का सारगर्भित लेखन हुआ है। इसके अनन्तर हितमहाप्रभु की मंजुल वाणी के पदों का सम्पादन प्रस्तुत हुआ है। रस सिद्धान्त के इस ग्रन्थ माहात्म्य को सम्पूर्णता और आधिकारिकता प्रदान करने के लिये अन्त में लेखक ने परिशिष्ट में हित चौरासी का कला पक्ष पर्याप्त विस्तार के साथ विवेचित किया है। रस निष्पत्ति, भाषा, शैली, संगीतात्मकता, लाक्षणिक प्रयोग और ध्वनि, अलंकार, हित चौरासी और सूरसागर के पदों में साम्य आदि उपशीर्षकों में विभाजित करके लेखक ने गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करके अपने गम्भीर वैदुष्य की छाप छोड़ी है। हित महाप्रभु के दो प्यारे-प्यारे गद्यपत्रों का सम्पादन कर लेखक ने ग्रन्थ को और भी मनोहरता प्रदान की है।

धार्मिक उपयोगिता की दृष्टि से लेखक का प्रयास यही रहा है कि हित सम्प्रदाय और महाप्रभु की वाणी के आलोक में प्रेमाभक्ति का तत्सुखी भाव सर्वसाधारण को आनन्दातिरेक से अभिभूत कर ब्रह्मानन्द सहोदर में निमज्जित करा सके। इसमें लेखक को अभीष्ट सफलता भी मिली है। राधाकृष्ण की अद्वयता के दिव्य तत्सुखसुखित्व भाव के उद्दीपन का कोना-कोना लेखक ने हितचौरासी में झाँका है। झाँकियों में भक्त को सर्वस्व प्राप्त होता है। विवेचन स्वच्छ हुआ है। लेखक की जी तोड़ कोशिश रही है कि सम्प्रदाय के सिद्धान्त सुस्थिर स्पष्ट और सर्वबोध्य हो सकें।

जहाँ तक 'हित चौरासी' के साहित्यिक महत्त्वांकन का सम्बन्ध है लेखक ने जिस पटुता, सूक्ष्मता और गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। महाप्रभु की वाणी का भाव पक्ष लेखक के 'ग्रन्थ परिचय' में सम्पूर्णता के साथ उजागर हुआ है। 'कला पक्ष' में बड़ी ही बारीकी और बड़े करीने से पदों का बाह्य सौन्दर्य स्पष्ट रूप से विवेचित हुआ है। 'हित चौरासी' और 'सूरसागर' के पदों के साम्य की खोज आचार्य ललिताचरण गोस्वामी के अतिरिक्त और कौन कर सकता था? इस साम्य विवेचन में वे सर्वथा एक तटस्थ खोजी-जिज्ञासुभाव सुस्थिर किये हुए दिखते हैं। कोई आग्रह नहीं। सम्प्रदाय का आचार्य जैसा तटस्थ, आग्रह हीन और नीर क्षीर विवेकी अपेक्षित है, ऐसे ही आचार्य हैं श्रीललिताचरणजी गोस्वामी।

भक्ति साहित्य के अध्येता के लिये ग्रन्थ बेजोड़ है।

श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम्

[हिन्दी व्याख्या सहित]

[प्रकाशक : वेणु प्रकाशन, वृन्दावन, सं० २०४८ वि०, आकार : डिमाई, पृ० सं० १०८, मूल्य १० रुपया]।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम् की हिन्दी व्याख्या को समर्पित है। संस्कृत के 'श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम्' पर संस्कृत और हिन्दी में अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। उनमें कुछ वृहदाकार भी हैं। गोस्वामी श्रीललिताचरणजी का उद्देश्य इस पुस्तक के माध्यम से यह रहा कि संस्कृत के उक्त ग्रन्थ का आधिकारिक पाठ प्रस्तुत करते हुए उसकी संक्षिप्त, सरल, सरस और सर्वजन-सुबोध व्याख्या प्रस्तुत की जाय। यत्र-तत्र कुछ पाठभेद देखने में आया और कुछ श्लोकों के पाठ राधावल्लभ-सम्प्रदाय की रस रीति से बेमेल से लगे। अतः लेखक को यह आवश्यक जान पड़ा कि उनको शुद्ध किया जाय। प्राक्कथन से यह स्पष्ट होता है। श्रीराधा ही हित महाप्रभु की इष्ट हैं, वे ही उनके संप्रदान की प्रवर्त्तक आचार्य हैं, उनकी मन्त्रदाता भी राधा ही हैं। अतः उनके वंशधर आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी का अधिकार था कि वे बेमेल से दिखने वाले पाठ का संशोधन करते। ऐसा करके लेखक ने बड़ा उपकार किया है।

श्लोकों की व्याख्या करते समय ध्यान रखा गया है कि समास गुंफित शैली के उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के किसी शब्द का अर्थ न छूटे और न हिन्दी का मुहावरा ही बिगड़े व्याख्या का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

संस्कृत पाठ—

क्वाहं मूढ़ मतिः क्व नाम परमानन्दैक सारं रसः
श्रीराधा चरणानुभावकथया निस्यन्दमाना गिरः।
लग्ना कोमल कुंजपुंज विलसद् वृन्दाटवी मण्डले
क्रीडच्छ्रीवृषभानुजा पदनखज्योतिश्छटा प्रायशः॥

हिन्दी व्याख्या—

कहाँ मन्दबुद्धि मैं और कहाँ श्रीराधाचरणों के प्रभाव की कथा द्वारा निश्चित रूप से नाम परमानन्द के एकमात्र सार-रस को प्रवाहित करने वाली (मेरी) वाणी। (जो वाणी) कोमल कुंज समूह से शोभायमान श्रीवृन्दावन मंडल में संलग्न है (और जिसमें) विहार-परायण श्रीवृषभानुनन्दिनी के चरण नख की ज्योति की छटा प्रायः विद्यमान रहती है।

★

'श्रीहितचौरासी' का सम्पादन करके लेखक ने हित महाप्रभु की वाणी का आधिकारिक पाठ तो प्रस्तुत किया ही है, उसका वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है । ग्रंथारंभ में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की सारगर्भित, इतिहास सम्मत, विवेचना पूर्ण, गम्भीर भूमिका दी गई हैं । तत्पश्चात् ग्रन्थ और ग्रन्थकार शीर्षक से ग्रन्थ का उद्देश्य, विषय वस्तु और रस पद्धति का सारगर्भित लेखन हुआ है । इसके अनन्तर हितमहाप्रभु की मंजुल वाणी के पदों का सम्पादन प्रस्तुत हुआ है । रस सिद्धान्त के इस ग्रन्थ माहात्म्य को सम्पूर्णता और आधिकारिकता प्रदान करने के लिये अन्त में लेखक ने परिशिष्ट में हित चौरासी का कला पक्ष पर्याप्त विस्तार के साथ विवेचित किया है । रस निष्पत्ति, भाषा. शैली, संगीतात्मकता, लाक्षणिक प्रयोग और ध्वनि, अलंकार, हित चौरासी और सूरसागर के पदों में साम्य आदि उपशीर्षकों में विभाजित करके लेखक ने गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करके अपने गम्भीर वैदुष्य की छाप छोड़ी है । हित महाप्रभु के दो प्यारे-प्यारे गद्यपत्रों का सम्पादन कर लेखक ने ग्रन्थ को और भी मनोहरता प्रदान की है ।

धार्मिक उपयोगिता की दृष्टि से लेखक का प्रयास यही रहा है कि हित सम्प्रदाय और महाप्रभु की वाणी के आलोक में प्रेमाभक्ति का तत्सुखी भाव सर्वसाधारण को आनन्दातिरेक से अभिभूत कर ब्रह्मानन्द सहोदर में निमज्जित करा सके । इसमें लेखक को अभीष्ट सफलता भी मिली है । राधाकृष्ण की अद्वयता के दिव्य तत्सुखसुखित्व भाव के उद्दीपन का कोना-कोना लेखक ने हितचौरासी में झाँका है । झांकियों में भक्त को सर्वस्व प्राप्त होता है । विवेचन स्वच्छ हुआ है । लेखक की जी तोड़ कोशिश रही है कि सम्प्रदाय के सिद्धान्त सुस्थिर स्पष्ट और सर्वबोध्य हो सकें ।

जहाँ तक 'हित चौरासी' के साहित्यिक महत्त्वांकन का सम्बन्ध है लेखक ने जिस पटुता, सूक्ष्मता और गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । महाप्रभु की वाणी का भाव पक्ष लेखक के 'ग्रन्थ परिचय' में सम्पूर्णता के साथ उजागर हुआ है । 'कला पक्ष' में बड़ी ही बारीकी और बड़े करीने से पदों का बाह्य सौन्दर्य स्पष्ट रूप से विवेचित हुआ है । 'हित चौरासी' और 'सूरसागर' के पदों के साम्य की खोज आचार्य ललिताचरण गोस्वामी के अतिरिक्त और कौन कर सकता था ? इस साम्य विवेचन में वे सर्वथा एक तटस्थ खोजी-जिज्ञासुभाव सुस्थिर किये हुए दिखते हैं । कोई आग्रह नहीं । सम्प्रदाय का आचार्य जैसा तटस्थ, आग्रह हीन और नीर क्षीर विवेकी अपेक्षित है, ऐसे ही आचार्य हैं श्रीललिताचरणजी गोस्वामी ।

भक्ति साहित्य के अध्येता के लिये ग्रन्थ बेजोड़ है ।

श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम्

[हिन्दी व्याख्या सहित]

[प्रकाशक : वेणु प्रकाशन, वृन्दावन, सं० २०४८ वि०, आकार : डिमाई, पृ० सं० १०८, मूल्य १० रुपया]।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, प्रस्तुत पुस्तक श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम् की हिन्दी व्याख्या को समर्पित है। संस्कृत के 'श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम्' पर संस्कृत और हिन्दी में अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। उनमें कुछ वृहदाकार भी हैं। गोस्वामी श्रीललिता-चरणजी का उद्देश्य इस पुस्तक के माध्यम से यह रहा कि संस्कृत के उक्त ग्रन्थ का आधिकारिक पाठ प्रस्तुत करते हुए उसकी संक्षिप्त, सरल, सरस और सर्वजन-सुबोध व्याख्या प्रस्तुत की जाय। यत्र-तत्र कुछ पाठभेद देखने में आया और कुछ श्लोकों के पाठ राधावल्लभ-सम्प्रदाय की रस रीति से बेमेल से लगे। अतः लेखक को यह आवश्यक जान पड़ा कि उनको शुद्ध किया जाय। प्राक्कथन से यह स्पष्ट होता है। श्रीराधा ही हित महाप्रभु की इष्ट हैं, वे ही उनके संप्रदान की प्रवर्त्तक आचार्य हैं, उनकी मन्त्रदाता भी राधा ही हैं। अतः उनके वंशधर आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी का अधिकार था कि वे बेमेल से दिखने वाले पाठ का संशोधन करते। ऐसा करके लेखक ने बड़ा उपकार किया है।

श्लोकों की व्याख्या करते समय ध्यान रखा गया है कि समास गुंफित शैली के उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के किसी शब्द का अर्थ न छूटे और न हिन्दी का मुहावरा ही बिगड़े व्याख्या का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

संस्कृत पाठ—

क्वाहं मूढ़ मतिः क्व नाम परमानन्दैक सारं रसः
श्रीराधा चरणानुभावकथया निस्यन्दमाना गिरः।
लग्ना कोमल कुंजपुंज विलसद् वृन्दाटवी मण्डले
क्रीडछ्रीवृषभानुजा पदनखज्योतिश्छटा प्रायशः॥

हिन्दी व्याख्या—

कहाँ मन्दबुद्धि मैं और कहाँ श्रीराधाचरणों के प्रभाव की कथा द्वारा निश्चित रूप से नाम परमानन्द के एकमात्र सार-रस को प्रवाहित करने वाली (मेरी) वाणी। (जो वाणी) कोमल कुंज समूह से शोभायमान श्रीवृन्दावन मंडल में संलग्न है (और जिसमें) विहार-परायण श्रीवृषभानुनन्दिनी के चरण नख की ज्योति की छटा प्रायः विद्यमान रहती है।

☆

श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम्

लेखक महाप्रभु श्रीहितहरिवंश गोस्वामी, अंग्रेजी अनुवादक : श्रीललिताचरण गोस्वामी, प्रकाशक : भारतीय विद्याभवन, कुलपति मुँशीमार्ग, बम्बई–७, प्रथम संस्करण सन् १९९१, मूल्य रु० ७०.००, आकार डिमाई अठपेजी, पृ० १४४.

प्रस्तुत ग्रन्थ महाप्रभु श्रीहितहरिवंश गोस्वामी, संस्थापक राधावल्लभ-संप्रदाय के संस्कृत ग्रंथ 'श्रीराधासुधानिधि' का अंग्रेजी अनुवाद है। महाप्रभु संस्कृत के प्रकांड उद्‌भट पंडित थे और वे ब्रजभाषा के जयदेव कहे जाते हैं, यद्यपि ब्रजभाषा उनकी मातृभाषा नहीं थी। 'श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम्' में २७० श्लोक हैं, जिनमें श्रीराधा की महिमा और सर्वोपरिता स्थापित की गई है। यह पहला संस्कृत काव्य-मुक्तक है, जिसमें मंगलाचरण में श्रीराधा की वन्दना है और आद्योपान्त श्रीराधा की दिव्य छवियों का अभिनव भाषा में रूपांकन करके उसकी अनुकम्पा प्रार्थित हुई है। प्रेमाभक्ति में यह अभिनव प्रयोग है। राधा और कृष्ण के दिव्य प्रेम में राधा प्रथम स्थापित हैं, यद्यपि दोनों अभिन्न हैं, अद्वय हैं, सदा एकरस, एकरूप हैं जैसे घन और दामिनी ! राधा का यही स्वरूप राधावल्लभ-संप्रदाय में मान्य और वंद्य है। महाप्रभु श्रीहरिवंश गोस्वामी की राधोपासना और उनके दिव्यातिदिव्य गुणों की अवधारणा और अवतारणा अनूठी और अभूतपूर्व है।

प्रेमाभक्ति में राधाकृष्ण दिव्य हैं। यह दिव्यता भौतिक चक्षुओं से परे है। इसे सराहने और दिव्य प्रेमरस सागर में डूबने उतराने को विशेष दृष्टि चाहिए। इसके लिए स्तोत्रम् के प्रत्येक श्लोक का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन और मनन करना आवश्यक है। श्रीराधासुधानिधि स्तोत्रम् के श्लोक स्वयं में एक-एक मन्त्र हैं। हिन्दी में गो० तुलसीदास की विनयपत्रिका के पदों में विविध देवी-देवताओं के गुणगान किये गये हैं और प्रत्येक देवता से गोस्वामीजी ने एकमात्र आकांक्षा की है कि उनके इष्टदेव राम उन पर करुणा करें। 'स्तोत्रम्' में महाप्रभु ने २७० श्लोकों में श्रीराधा के दिव्य गुणगान किये हैं और प्रत्येक में अन्तिम पंक्ति में उनसे कृपया भक्तपर कृपा-वर्षा करने को अभ्यर्थना की है। यह अद्‌भुत 'विनयपत्रिका' है, जिसका अँग्रेजी अनुवाद लेखक ने मनोहारी शब्दों में किया है।

अंग्रेजी जानने वाले भक्तों के लिए यह अनुवाद बड़ा उपयोगी है। यहाँ प्रस्तुत है स्तोत्रम् का प्रथम श्लोक और उसका अँग्रेजी अनुवाद।
संस्कृत श्लोक :

यस्या कदापि वसनाङ्चलखेलनोत्थ
धन्याति धन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि ।।

अंग्रेजी अनुवाद—

ईविन मधुसूदन,
हूज कोर्स इज अटर्ली इनकंसीवेबिल
टु एसैटिक्स ऑफ दी हाइयैस्ट ऑर्डर,
फील्स ग्रेटीफाइड विद ए टच
ऑफ दी मोस्ट ब्लैसैड ब्रीज
एनी टाइम जैनरेटैड
बाइ दी मूवमेंट ऑफ बॉर्डर ऑफ गार्मेंट
ऑफ दैट श्री वृषभानुनन्दिनी (श्रीराधा)
सो, आइ रैस्पैक्टफुली बाउ
ईविन टु दी साइड
ग्रेस्ड बाइ हर प्रेजैन्स।

कहना नहीं होगा कि संस्कृत पदों के लिए अंग्रेजी के सर्वोपयुक्त समानार्थी शब्दों को अनुवाद में नियोजित किया गया है। अनुवादन एक अत्यन्त निष्णात-तापेक्षिणी कला है, जिसमें शब्दानुवाद के स्थान पर भावानुवाद देना अधिक सार्थक रहता है। शब्दानुवाद में कभी-कभी भाव का तिरोहण होना संभव है। कवितानुवाद में तो और भी यह स्वाभाविक है। 'वसनांचल' के लिए 'बोर्डर ऑफ गारमेंट' के अतिरिक्त दूसरा अंग्रेजी शब्द आ ही नहीं सकता। इसी प्रकार इसे देखना चाहिए। गोस्वामी जी की कितनी गहरी पैठ थी अंग्रेजी में भी, इसका निदर्शन इस अनुवाद ग्रन्थ से भली-भाँति जाना जा सकता ।

श्री सेवक वाणी

ले० श्रीदामोदरदास सेवक, व्याख्या-श्रीललिताचरण गोस्वामी, सन् १९६१ ई०, द्वितीय संस्करण, आकार—डिमाई, पृ० सं० १४८, मूल्य रु० दस मात्र, प्रकाशक : वेणु प्रकाशन, वृन्दावन।

श्री सेवकवाणी के कर्त्ता श्रीदामोदरदास सेवक हित-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक-गोस्वामी श्रीहितहरिवंश की उपासना और भजन रसरीति के आधिकारिक ज्ञाता और उनके अनन्य भक्त थे। श्रीसेवकजी ने अपनी वाणी में उक्त 'भजन रसरीति' का सम्पूर्ण और मनोवैज्ञानिक परिचय उद्घाटित किया है, जो अन्यथा अप्राप्त था। कहना ना होगा कि उक्त सम्प्रदाय के सिद्धान्त पृथक् से हिताचार्यजी ने प्रतिपादित, नहीं किये थे। 'हित चौरासी' में सन्निहित उन सिद्धान्तों को चुनकर श्रीसेवकवाणी में उदाहृत और व्याख्यायित करके सेवकजी ने इस अभाव की पूर्ति की थी। अतः इस वाणी का संप्रदाय में बड़ा महत्त्व है। कहा गया है कि "सेवक वाणी जो नहिं जानैं। ताकी बात रसिक नहीं मानं।" गो० हिताचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द्र गोस्वामी का मानना था कि इसी कारण हितचौरासी के साथ-साथ श्रीसेवक वाणी को पढ़ना आवश्यक है। श्री सेवक-वाणी की कई टीकाएँ लिखी गईं। सर्व श्रीहरिलाल व्यास और सर्वसुखदास इसके प्रसिद्ध टीकाकार थे। रसिक जनों के आग्रह और सतत अनुरोध पर गोस्वामी श्रीललिताचरण जी ने सेवकवाणी की व्याख्या लिखाई। इसने सम्प्रदाय का यथेष्ट हित साधन किया और यह अत्यन्त लोकप्रिय रही।

प्रस्तुत व्याख्या ग्रन्थ में १६ प्रकरण हैं। इनमें क्रमशः १४, ८, १०, १६, ४, १५, ६, १३, १०, २२, ५, ४, ११, १८, ८ तथा ९ पद हैं। पुस्तकान्त में ८ पदों में फल-स्तुति दी गई है।

व्याख्याकार ने अपनी भूमिका में श्रीसेवकवाणी का महत्त्व और सेवकजी की योजना के लाभों का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् मूल पाठ देकर व्याख्या आरम्भ की है। व्याख्या इतनी स्वच्छ, स्पष्ट और निर्भ्रान्त है कि सामान्यजन, भी उसे हृदयंगम कर सकता है। भाषा स्वच्छ,स्पष्ट और सुबोध है।

एक उदाहरण—

श्रीहरिवंश सुरीति सुनाऊँ। श्यामाश्याम एक संग गाऊँ।
छिन इन कबहुँ न अन्तर होई। प्राण सु एक देह हैं दोई॥

राधा - संग बिना नहिं श्याम । श्याम बिना नहिं राधानाम ।
छिन-छिन प्रति आराधत रहहीं । राधानाम श्याम तब कहहीं ।
ललितादिकनि संग सचु पावैं । श्रीहरिवंश सुरति रति गावैं ।।७।।

व्याख्या—

(पिछले छन्द में श्रीहरिवंश द्वारा गाई गई प्रेम-रति का परिचय लीला के आधार पर दिया गया है । प्रस्तुत छन्द में उसी का वर्णन सिद्धान्त के रूप में करते हुए सेवकजी कहते हैं) अब मैं श्रीहरिवंश की रसोपासना की सुन्दर परिपाटी सुनाता हूँ, जिसमें श्यामाश्याम का एक साथ गान किया जाता है । इन दोनों में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता । इन दोनों के प्राण तो एक ही हैं और देह दो हैं । श्रीराधा के संग के बिना कभी भी श्यामसुन्दर नहीं रहते और श्यामसुन्दर के बिना श्रीराधा नाम नहीं लिया जाता क्योंकि श्रीराधानाम का उच्चारण श्रीश्यामसुन्दर तभी करते हैं, जब वे क्षण-क्षण में इस नाम का आराधन करते रहते हैं । (जब श्यामसुन्दर के आराधन से ही राधानाम की सार्थकता है तो स्वभावतः श्याम के बिना राधानाम नहीं लिया जा सकता । उपासना के क्षेत्र में श्रीराधानाम की दो व्युत्पत्तियाँ प्रचलित हैं । एक तो 'आराधयति इति राधा' अर्थात् जो आराधन करे वह राधा । श्रीराधानाम का यह अर्थ अधिकांश उपासना मार्गों में स्वीकृत है । दूसरा अर्थ है कि 'आराध्यतेति राधा' अर्थात् जिसका आराधन किया जाय वह राधा । निकुञ्ज रसोपासना सम्प्रदायों में श्रीराधा-नाम का यह अर्थ गृहीत है ।) ये श्रीराधाश्यामसुन्दर ललितादिक सहचरियों के साथ में सुख पाते हैं अर्थात् ललितादिक सहचरियों के सहयोग से इन दोनों की परस्पर प्रेम-लीला में सुख की वृद्धि होती है और श्रीहरिवंश सहचरि रूप से इनकी लीला में सम्मिलित होकर इनकी सुरत-रति (शृङ्गाररसमयी प्रेम रति) का गान करते हैं ।

प्रेम की पीर

ले० श्री भोलानाथ (भोरी सखी) प्रकाशक : वेणु प्रकाशन, वृन्दावन, तृतीय आवृत्ति सं० २०४४ वि०, पृ० सं० १६४, आकार : डिमाई अठपेजी, मूल्य–सात रुपये ।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तिम सुकवि श्रीभोलानाथ (भोरी सखी) के सुललित पदों का संग्रह प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। सम्पादक का नाम नहीं लिखा गया परन्तु अनुमानतः वे श्रीललिताचरण गोस्वामी ही हैं। ग्रंथकार परिचय में लिखा है कि 'उस काल के लगभग ६०० पद लेखक को कोलारस से प्राप्त हुए हैं।' यह लेखक कौन है, इस विषय में ग्रन्थ मौन है। ग्रन्थ में अधिकांश पद विनय के हैं और इनमें भक्त हृदय की गहरी व्याकुलता ओतप्रोत है। पदों में प्रेम की नैसर्गिक पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है। इन पदों में प्रेम की तृप्ति भी है और अतृप्ति भी। यह नित्य संयोग और नित्य अतृप्ति राधावल्लभीय उपासना का मेरुदण्ड है। कवि स्वयं एक भावुक भक्त थे। उनके पद-पद में भक्तसुलभ भावुकता के साथ प्रेम की पीर की पवित्र धारा प्रवाहित हो रही है। लेखक ने पद रचना का उद्देश्य स्वयं इस प्रकार लिखा है—

> श्रीजी सन्मुख कहत जे, विनयगीत प्रति द्यौस ।
> तेई इत संग्रह करौं, करुणा कोर भरोस ॥ ५ ॥

कोलारस के गोपाल जी के मन्दिर के अन्यतम सेवाधिकारी श्रीगोपीलाल इनके दीक्षागुरु थे। ग्रन्थारंभ के ६ दोहे और दो पद इन्हीं गुरु की वन्दना को समर्पित हुए हैं। ११ पद श्रीहित हरिवंश वन्दना के हैं। १२ पदों में श्रीराधावल्लभलाल और चार पदों में श्रीप्रियाजी की वन्दना है। तत्पश्चात् प्रिया स्वभाव, श्रीप्रियाकरकमल, श्रीप्रियामुखकमल, श्रीप्रियानयनकमल, सुरतांत, स्फुटलीला, शयन, चौसर, वेणी, जावक, अभिसार, स्वप्न, सखी, नखसिख, सेवा अभिलाषा, व्रज-वृन्दावनवास, यमुना पुलिन, नवलनिकुंज, रसिकसंग एवं कृपाबल, रसिक चित्त-स्थिति, आत्मनिवेदन, शरणागति, श्रीराधानाम, सोहनी, महिमा, हितोत्सव की बधाइयां, होली, आदि शीर्षकों से मार्मिक पद संकलित हुए हैं। कवि की लेखनी 'आत्मनिवेदन' में सर्वाधिक रमी है। इस शीर्षक में २३० लम्बे-लम्बे पद हैं, जो ग्रन्थ के ७४ पृष्ठों में समाहित हैं। पदों में 'भोरी' की

छाप है। भाषा अत्यन्त सुबोध, सरल और सहज बोधगम्य है। 'आत्मनिवेदन' का शुभारंभ देखें—

हरिवंश हित जोरी उमगि, ऐसी कृपा मोपै करौ।
परिजाय यह जु सुभाव सहजहि, कबहुँ अन्तर जनि परौ ।।
जे नाम मुखसौं लेहिं तुम्हरो, उमगि तिन पांयन परौं।
तिन सौं सदा आधीन बनौं, दीन वाणी उच्चरौं ।। (१८६)

पदों में भावाकुल अनन्य भक्त की प्रेम-पुकार है, मार्मिकता है, सहजता है। दोहा और पद शैली का अनुगमन हुआ है। भक्तों, साधकों और हितेच्छुओं हेतु 'प्रेम की पीर' निःसन्देह पठनीय, माननीय और उपासनीय है।

□

भजन मार्ग

पृ० सं० ११२, आकार डिमाई अठपेजी, द्वितीय संस्करण सं० २०४१ वि०, मूल्य रु० ४=०० मात्र, प्रकाशक : वेणु प्रकाशन, वृन्दावन।

अनन्य रसिकों की पारम्परिक भजन प्रणाली का संक्षिप्त परिचय इस पुस्तक का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इस उपासनापद्धति में प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य है। प्रेम एक भाव है और भाव की स्वाभाविक रीति यह है कि वह एक बिन्दु पर केन्द्रित होकर पुष्ट होता है। रासलीला इसका उदाहरण है, जिसमें व्रजमण्डल की समस्त गोपियों का प्रेम ब्रजेन्द्रनन्दन से है और वे एकनिष्ठ रूप से सभी गोपियों से प्रेम-तत्पर हैं और अनेक रूप धारण करके सबके साथ रास-रत थे। यही अनन्य प्रेम है और यही प्रेम का अनन्य मार्ग। इसी 'अनन्य मार्ग' का सम्पादन श्रीललिताचरण गोस्वामी ने प्रस्तुत पुस्तक में किया है।

पुस्तक को सात अध्यायों में बाँटा गया है। पहले अध्याय का शीर्षक है— भजन भूमिका। इसमें वैष्णव सम्प्रदाय की भक्ति भावना का अनुशीलन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हुए सम्पादक ने प्रेम भाव की विद्यमानता का विवेचन भक्ति के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। श्रद्धा और प्रेम का संयोग 'भक्ति' को जन्म देता है। इसी प्रेम सम्बन्ध को राधावल्लभ-सम्प्रदाय में 'हितसन्धि' की संज्ञा दी गई है। लेखक का कथन है कि सखीगण एवं श्रीवृन्दावन इस हितसन्धि के मूर्त्तस्वरूप हैं। श्रीश्यामगौर का अद्भुत पारस्परिक प्रेम सम्बन्ध सहचरीगण एवं वृन्दावन के रूप में नित्य प्रकट रहकर श्रीश्यामाश्याम के नित्य प्रेमविहार में सहायक बनता रहता है। सब सखियाँ श्रीराधा की दासी हैं, जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य श्रीराधा स्वामिनी और उनके प्रियतम को अपनी सहज प्रेममयी सेवा और लाड़चाव से सुख पहुँचाना है एवं उनको सुखी देखकर सुखी रहना है। यही उन सखियों का प्रसिद्ध 'तत्सुखसुखी भाव' सम्प्रदाय में भजन के लिए अनुसरणीय है। सम्पूर्ण भजन पद्धति सखीभाव के इसी साँचे में ढली हुई है।

द्वितीय अध्याय 'श्रीहरिवंश चरित्र' में हिताचार्य की जीवनी तथा उनकी विलक्षण भजन पद्धति का व्याख्यायन हुआ है। उनके बालचरित्र को पाँच उदाहरण देकर उनकी समर्पण भावना का रहस्योद्घाटन किया गया है।

'भजन मार्ग' के तीसरे अध्याय में भजन मार्ग के आधारभूत कुछ मौलिक तत्त्वों—प्रकट सेवा, भावना किंवा मानसिक सेवा, नाम, नित्यविहार सेवा, वाणी—के स्वरूप का बोध कराया गया है।

'उत्सव बोध' शीर्षक में सम्प्रदाय में आयोजित होने वाले वर्ष भर के उत्सवों का विवरण दिया गया है।

पाँचवे अध्याय का नाम है 'प्रेम का स्वरूप'। इस अध्याय में दोहों को टीका करते हुए लेखक ने व्याख्या लिखी है।

'प्रेम भजन का स्वरूप' छठे अध्याय का शीर्षक है। इसे भी दोहों और उनकी टीका के माध्यम से समझाया गया है।

सातवाँ और अन्तिम अध्याय है 'हित उपदेश'। लौकिक प्रेम और भगवद् प्रेम की विविध सरणियों को समझाते हुए इस अध्याय में हित-भाव को उजागर किया गया है।

श्रीराधा की जन्म बधाइयाँ

पृ० सं० ३२, आकार डिमाई अठपेजी, द्वितीय संस्करण सन् १९९१ ई०, मूल्य रु० २.५० मात्र। व्याख्याकार : आचार्य श्रीललिताचरण गोस्वामी।

व्रज के अन्य प्रधान सम्प्रदायों में युगल-उपासना स्वीकार की गई है। किन्तु श्रीराधावल्लभ किंवा हित-सम्प्रदाय में श्रीराधा की प्रधानता मानने के कारण इस सम्प्रदाय की उपासना पद्धति और रस पद्धति का विकास अन्य सम्प्रदायों से भिन्न प्रकार का है। इसी कारण हित-सम्प्रदाय में श्रीराधा-जन्मोत्सव श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव की अपेक्षा अधिक धूमधाम एवं लाड़चाव के साथ मनाया जाता है। श्रीहितमहाप्रभु ने श्यामाश्याम दोनों की ही जन्म बधाइयाँ गाई हैं किन्तु श्रीराधा की बधाई में वे सब प्रेमीजनों से वृषभान गोप के द्वार चलने और बधाई के अन्त में भक्त समुदाय के ऊपर हल्दी मिश्रित दूध, दही छिड़कते हुए दिखाई देते हैं—

'जय श्रीहितहरिवंश दुग्ध दधि छिड़कत मध्य हरिद्रागार।'

श्रीराधावल्लभ-मन्दिर में श्रीराधा की जन्म बधाइयों का गायन भाद्र कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि से प्रारम्भ होकर १५ दिन तक होता रहता है। इनमें से भाद्र शुक्ल सप्तमी और अष्टमी को गाई जाने वाली बधाइयों को अर्थ सहित प्रस्तुत पुस्तक में दिया गया है।

अन्त में ढाँढ़ी (यश गायक) के आलाप के चार दोहे, और वंशावली गान के पद दिये गये हैं, इसमें ११ दोहे हैं। चौपाइयाँ देकर पुस्तक समाप्त की गई हैं।

विहावले उत्सव का समाज

[लेखक—श्रीध्रुवदास, व्याख्याकार, श्री प्रियाशरण जी, आकार—डिमाई अठपेजी, पृ० सं० १२, मूल्य १ रुपया मात्र, प्रकाशन : वेणु प्रकाशन वृन्दावन]

रसिकों की उपासना ही श्यामाश्याम के वर-बधू रूप की है। प्रेमोत्सवों के शुभ अवसरों पर श्यामाश्याम के विवाहोत्सव के पदों का गायन करके अनन्य रसिक समाज सहज रूप से अनायास ही चित्त को एकाग्र कर लेता है और इस प्रकार प्रेम को परम तत्त्वरूप में ग्रहण करता है। रस भजन रीति में विहावले के पद गायन का सम्प्रदाय में बड़ा महत्त्व है। अनन्य रसिक समाज के लिए जन्म से अवसान तक का पूरा जीवन ही इस प्रेमाभक्ति के परम तत्त्व को समर्पित है।

श्रीध्रुवदासजी ने विहावले के दो पद लिखे हैं प्रथम पद में विहावले का मुहूर्त्त बताते हुए कहा है कि रसिकजनों की विहावला करने की इच्छा ही उसका सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त्त है। इसमें किसी शुभ दिन या शुभग्रह देखकर एक अलौकिक वस्तु को लौकिक प्रपंच में नहीं डालना चाहिए।

नव बधू और नव दूलह श्यामाश्याम का परिचय देकर उसके अंगों को सोलह श्रृङ्गारों से मंडित किया गया, दोनों के चेहरों पर मोतियों, फूलों, रत्नों और हीरों से बने सेहरे सजाये, शोभा का मण्डप छाया, सखियों ने प्रेम की बन्दनबारें बाँधीं, कुञ्ज का आँगन रोली से लीपा और अद्भुत मोतियों के चौकूँ की रचना की। इस प्रकार विविध वाद्य-यन्त्रों द्वारा मधुर-मधुर राग-रागनियों में पद गायन होने लगे। ध्रुवदासजी ने विहावले की सारी औपचारिक तैयारियों का विवरण दिया है। पुस्तक बड़े काम की है और रसिकजनों के प्रेम को उत्साह देने वाली है।

सखियन के उर ऐसी आई,
ब्याह विनोद रचैं सुखदाई।
यहै बात सबके मन भाई,
आनन्द मोद बढ़्यौ अधिकाई ॥
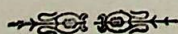
सुधर्म बोधिनी सार

पृ० सं० ३८, आकार : डिमाई अठपेजी, प्र० सं० २०४५ वि०, मूल्य रु० २.५० मात्र । व्याख्याकार—श्रीललिताचरण गोस्वामी ।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय का प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ है । इसके लेखक हैं महात्मा लाड़लीदास । इसे 'सेवकवाणी' का भाष्य भी कहा जाता है । मूल पुस्तक में ब्रजभाषा के ७५० दोहे हैं । इसके दोहे सुसम्बद्ध न होने से सिद्धान्त को समझना कठिन था । इस उलझन को दूर किया लाड़लीदास जी की इस १६४ दोहों की पुस्तक ने । सम्पूर्ण ग्रन्थ के सार को तीन शीर्षकों में समाहित किया गया है । 'हितधर्म का स्वरूप' नामक पहले शीर्षक में ७२, दूसरे 'रसिकों की रसरीति' में ७२ और तीसरे 'भक्ति सिद्धान्त' में २२ दोहे दिये गये हैं । हित-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को जानने के लिये यह ग्रन्थ परम उपयोगी है । हितधर्म का स्वरूप, अनन्य रसिकों की रसरीति और भक्ति सिद्धान्त वही जान सकता है और इस धर्म में वही प्रवृत्त हो सकता है, जो गुरुमुख से शिक्षा लेकर चींटी और युगल तक से 'तत्सुखहित निष्काम भाव' भजन सेवा कर सकने का अभ्यासी बन सके । यह पुस्तक इस कारण बड़े काम की है ।

'तत्सुख हित' की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

'इत चेंटी उत युगल सौं, तत्सुख हित निष्काम ।
यह सुधर्म हरिबंश को, नाम गिरा विश्राम ।।२।।
प्रकट भाव सेवा प्रकट, यह सुधर्म पहचान ।
धामी धाम समाज अलि, अगम सुगम भये आन ।।३।।

सुधर्म की पद्धति में निष्काम भाव से दूसरे के सुख से सुखी होना सीखना है । चींटी के सुख से लेकर युगल तक के सुख से स्वयं को सुखी अनुभव करना, नाम, वाणीं, प्रकट सेवा, प्रकट भाव से प्रेमा भक्ति को अपनाना हितधर्म का मूल सिद्धान्त मन्त्र है । सबको सुख देने का चाव, सबकी निष्काम सेवा का शुभारम्भ श्यामाश्याम की सेवा से ही होता है । वहाँ पहुँच कर फिर कुछ जानना सीखना शेष नहीं रह जाता ।

अन्तिम शीर्षक में दस उत्सवों के नाम भी आगये हैं—फाग, डोल, चन्दन, बसन्त, तीज, हिंडोला, शरद, पाटोत्सव, गुरु-पूजा, दीपमालिका की प्रतिपदा को व्याहुला, वनविहार, खिचड़ी, वसन्तोत्सव ।

व्याख्या की भाषा और शैली सहज, सरल और सुबोध है ।
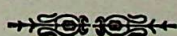
श्रीराधावल्लभ अष्टयाम

प्रस्तुत पुस्तक ३६ पृष्ठ की डिमाई अठपेजी आकार की है। बिना व्याख्या की इस पुस्तक में पहले श्रीदामोदर दास 'सेवक' का 'श्रीहित हरिवंश जू कौ मंगल' दिया गया है। मंगल समय', 'मंगला भोग के पद', 'मंगल आरती', 'वन विहार के पद', 'शृङ्गार समय', 'धूप आरती के पद', 'शृंगार आरती के पद', 'स्तुति श्रीयुगल', 'राजभोग समय', 'संध्या समय धूप आरती', 'संध्या भोग के पद', 'नामध्वनि', 'संध्या आरती के पद' और 'स्तुति के दोहा' देकर श्रीहितहरिवंशचन्द्राचार्य महाप्रभु जो कृत श्रीमद्राधासुधानिधि स्तोत्र से उद्धृ २० श्लोक तथा 'श्रीहरिवंशाष्टक' के ८ श्लोक दिये गये हैं। 'संध्या पश्चात् रास के पद', 'शयन भोग के पद', 'शयन आरती', 'शयन के पद', देकर अष्टयाम सेवा के पद पूर्ण किये गये हैं।

इसके बाद 'राधारानी की आरती,' 'रसिक नामध्वनि' देकर श्रीयमुनाष्टकम्' को व्याख्यासहित स्थान दिया गया है। इस प्रकार हित-सम्प्रदाय के इस महत्त्वपूर्ण अष्टयाम को सर्वांग सम्पूर्णता प्रदान की गई है।

प्रेमसरिता

पृ० सं० ७६ आकार डिमाई अठपेजी, पृ० सं० सं० २०४१ वि०, मूल्य रु० ३ मात्र, प्रकाशन : वेणुप्रकाशन, वृन्दावन ।

श्रीध्रुवदास जी द्वारा रचित बयालीस लीलाओं में से पाँच चुनी हुई लीलाएं इस पुस्तक में संगृहीत की गई हैं। श्री ललिताचरण गोस्वामी इन लीलाओं के व्याख्याकार हैं। श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की प्रेम भजन पद्धति को समझने-समझाने में इन पाँच लीलाओं का महत्त्व बताया गया है। पुस्तक में संगृहीत लीलाओं के नाम हैं—(१) मनशिक्षा लीला (२) श्रीवृन्दावन शत लीला (३) भजनाष्टक लीला (४) प्रीति चौवनी लीला और (५) प्रेमावली लीला।

मनशिक्षा लीला में ६३ दोहे व्याख्या सहित संगृहीत हुए हैं। अन्त में श्रीध्रुवदास जी के दो पद भी दिये गये हैं। इन दोहों में मन को श्रीहरि की ओर लगाने के मन्त्र हैं। मन की गति अति तीव्र है, निःसीम है। वेगगामी तुरंगों को पकड़ना सम्भव है, किन्तु मन को बाँधना असम्भव कहा गया है। मन पर जब नियन्त्रण हो तब भगवान् का भजन हो। इसी उद्देश्य से इन दोहों में समझाने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य किस प्रकार से धीरे-धीरे मन को वशीभूत करके प्रेम-भजन में लीन हो सकता है। कवि बिहारीलाल ने लिखा है कि 'भजन कह्यौ ताते भज्यौ।' भौतिक संसार के लुभावने विषयवासनाओं के भ्रमजाल में उलझे मानव मन को भजन में लगाने के लिए मनीषियों ने सदैव ही साहित्यिक प्रयास किये हैं। यह लीला इसी दिशा में एक सराहनीय पदक्रम है।

'श्रीवृन्दावन शत लीला' में ११६ दोहे हैं। इस लीला का सदुद्देश्य कवि के ही शब्दों में वृन्दावन के सुख रंग का वर्णन करना है—

वृन्दाबन सत करन को, कीन्हों मन उत्साह।
नवल राधिका कृपा बिनु, कैसे होत निबाह ।।३।।
यह आशा धरि चित्त में, कहत यथामति मोर।
वृन्दावन सुख रंग को, काहु न पायो ओर ।।४।।

'भजनाष्टक लीला' में ९ दोहे हैं। इसमें साहित्य के रसों के ऊपर 'मधुर' रस को सर्वोपरि बताया गया है, जो सब सुखों का सिरमौर है।

'प्रीति चौवनी लीला' में एक कुण्डलिया सहित ५५ दोहे हैं। वृन्दावन रस रीति को समझने के लिये इस पुस्तक का पारायण आवश्यक बताया गया है। यह हित-रस का उद्गम है।

'प्रेमावली लीला' में १३० दोहे व्याख्या सहित दिये गये हैं। इसमें पुस्तक का महत्त्वांकन करते हुए कवि लिखता है कि—

प्रेम सार ध्रुव कछु कह्यौ, अपनी मति अनुमान।
अति अगाध सुख सिन्धु रस, ताकौ नांहि प्रमान ।।१२८।।
मन बच जो उर धारि है, प्रेमावलि कौं नित्त।
प्रेम छटा ध्रुव सहज ही, उपजैगी तेहि चित्त ।।१२९।।

श्रीराधावल्लभीय रस रीति का मनोवैज्ञानिक परिचय

प्रवचनकर्त्ता—श्रीललिताचरण गोस्वामी, संकलनकर्त्ता- श्रीप्रियाशरणजी, पृ० सं० ७५, आकार : डिमाई अठपेजी, द्वितीय आवृति सं० २०४२ वि०, मूल्य–४ रुपये, प्रकाशक : वेणु प्रकाशन, वृन्दावन

प्रेम को लेकर अनेक उपासनाएँ प्रचलित हैं। उनमें और श्रीराधावल्लभीय उपासना में क्या अन्तर है, बाबा प्रियाशरणजी की इसी जिज्ञासा के समाधान स्वरूप इन प्रवचनों का प्रादुर्भाव हुआ और प्रस्तुत पुस्तक प्रकाश में आई। सम्प्रदाय की रस-रीति के सिद्धान्तों और उसकी उपासना पद्धति का बड़ी सूक्ष्मता के साथ श्रीललिताचरण गोस्वामी द्वारा विवेचन हुआ है।

श्री प्रिया स्वरूप, साधना, अनन्यता, साधारण गति, असाधारण गति नामक पाँच शीर्षकों में विभक्त करके इस मनोवैज्ञानिक रस-रीति पद्धति का उद्‌घाटन किया गया है।

गोस्वामी जी की शैली मनोवैज्ञानिक होते हुए भी बड़ी साहित्यिक और लुभावनी बन गई है और इसी से सहज, सुग्राह्य हो जाती है। दृष्टान्त देकर तथा रूपक बाँध कर बारीकियों को स्पष्ट किया गया है।

उदाहरण प्रस्तुत है—

"भक्ति एक स्फुलिंग है, एक चिनगारी है, एक स्पार्क है। यह चिनगारी परात्पर प्रीति का एक कण है। भक्तिमार्ग में कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं जो जन्म से ही इस चिनगारी को लेकर आते हैं और यदि ऐसे लोगों को अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होती जाती हैं तो उनकी प्रीति का यह कण एक महाज्वाला के रूप में परिवर्तित होकर इस भवसागर को दग्ध कर देता है और वे इसे सरलता से पार कर जाते हैं।"

विवेचन यथेष्ट विशदता और स्पष्टता लिए है। गोस्वामी जी ने प्रथम बार अपनी बात का वैज्ञानिक विवेचन बड़ी सूझबूझ के साथ किया है। अपने प्रयास में विदेशी मनोविश्लेषकों के मतों का प्रयोग भी उन्होंने किया है, जो सर्वमान्य कहा जा सकता है।